जैनेन्द्र
रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के एक ऐसे विरल एवं विदग्ध रचनाकार हैं, जिन्होंने भाषा और साहित्य को अपनी मौलिकता, सहजता व दार्शनिकता से समृद्ध किया। हिन्दी के विराट आकाश में जैनेन्द्र कुमार का रचनात्मक आलोक तेज पुंज के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। उन्होंने प्रेमचन्द के समय में ही समानान्तर कथा-परम्परा का प्रखर प्रस्थान निर्मित किया। अभिव्यक्ति की अनेक इकाइयों के प्रचलित स्वरूप में मौलिक परिवर्तन करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने कथ्य, विचार, संवेदना व संरचना के नवीन पथ प्रशस्त किए। परतन्त्रता और जड़ता के अनेकानेक सामयिक व सनातन प्रश्नों से संवाद करते हुए उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, ललित निबन्ध और चिन्तनपरक लेखन में युगान्तर किया। वस्तुत: जैनेन्द्र कुमार स्वयं एक कालजयी शब्द-साधना के प्रतीक बन चुके हैं। एक गूढ़ अर्थ में उनका साहित्य व्यक्ति व समाज की नई नैतिकता का उपनिषद है। उन्होंने धर्म, अध्यात्म, अस्तित्व, जीवन-मूल्य तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि को अपनी क्रान्तिदर्शिता से पुन: व्याख्यायित किया। पराधीन भारत के क्रान्तिकारी अहिंसावादी से स्वतन्त्र भारत के मनीषी रचनाकार तक की उनकी यात्रा जीवन और साहित्य में अनेक प्रतिमान स्थापित करती है।

'जैनेन्द्र रचनावली' भारतीय ज्ञानपीठ का एक महत्त्वाकांक्षी आयोजन है। रचनावली के बारह खण्डों में जैनेन्द्र कुमार के विपुल लेखन को संयोजित किया गया है। प्रथम तीन खण्डों में उनके समस्त उपन्यास संग्रहीत हैं। खण्ड चार और पाँच में जैनेन्द्र कुमार के दस कहानी संग्रहों में प्रकाशित समग्र कहानियाँ प्रस्तुत की गई हैं। खण्ड छ:, सात, आठ, नौ व दस में सैद्धान्तिक, वैचारिक व दार्शनिक निबन्ध संकलित हैं। खण्ड ग्यारह में ललित निबन्ध तथा संस्मरण और खण्ड बारह में साहित्यिक-सामाजिक-सांस्कृतिक निबन्ध उपस्थित हैं। जैनेन्द्र रचनावली के बारह खण्डों के 8100 पृष्ठों में सर्जना का एक स्वायत्त संसार जगमगा रहा है। प्रत्येक दृष्टि से विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय।

ISBN 978-81-263-1490-4 (Set)
978-81-263-1456-0 (Vol. 1)
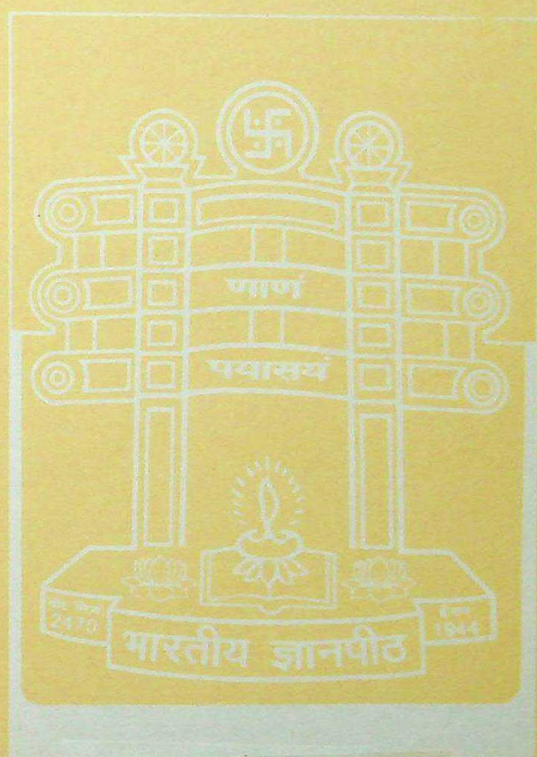
रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली : खण्ड-1

(उपन्यास)

रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली

खण्ड–1

जैनेन्द्र कुमार

सम्पादक

निर्मला जैन

सहयोग

प्रदीप कुमार
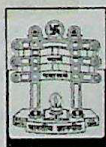
भारतीय ज्ञानपीठ

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 907

ग्रन्थमाला सम्पादक

रवीन्द्र कालिया

सह-सम्पादक

गुलाबचन्द्र जैन

ISBN : 978-81-263-1490-4 (Set)
: 978-81-263-1456-0 (Vol. 1)

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003
ई-मेल : *jnanpith@satyam.net.in, sales@jnanpith.net*
वेब-साइट : *www.jnanpith.net*

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण-चित्र : राधेश्याम अग्रवाल
आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

पहला संस्करण : 2008
मूल्य : 750 रुपये (खंड : 1)
: 9000 रुपये (बारह खंडों का सेट)

JAINENDRA RACHNAVALI (Vol. 1)
(Novels)
by Jainendra Kumar
Edited by : Dr. Nirmala Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2008
Price : Rs. 750 (Vol. 1)
: Rs. 9000 (One set of Twelve Vols)

भूमिका

जैनेन्द्र ने विधिवत और नियमित रूप से बिना कलम उठाए जो रचा, वह बारह खण्डों में पाठकों के सामने है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि जैनेन्द्र जी सिर्फ बोलते थे, लिखते उनके लिए और लोग थे। इन औरों में प्रसिद्ध हिन्दी-सेवी और हास्य कवि गोपालप्रसाद व्यास से लेकर अनेक युवतर रचनाकार, लिपिक और यदा-कदा पारिवारिक जन भी शामिल रहे होंगे। गोपालप्रसाद व्यास ने अपनी आत्मकथा में उस अनुभव की विस्तार से चर्चा की है। हो सकता है कि कुछ और लोगों ने भी की हो जिसकी जानकारी इस रचनावली के सम्पादक को नहीं है। पर उनकी विलक्षण गद्य-लय की निर्मिति में इस तथ्य की कितनी और कैसी भूमिका रही होगी, इसका अध्ययन दिलचस्प होगा, इसमें सन्देह नहीं। लगभग आठ हज़ार पृष्ठों में कलमबन्द सर्जनात्मक और वैचारिक साहित्य की वाचिक अभिव्यक्ति का आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह अद्वितीय उदाहरण है। कई मायनों में अनोखा भी।

कुछ नया, अनोखा, लीक से हटकर, ऐसा करते चलना जो तुरन्त ध्यान आकर्षित करे, जैनेन्द्र की रचनात्मक बनावट में बद्धमूल है—सायास या अनायास, शायद दोनों, पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कथा-साहित्य के इतिहास का स्मरण करें, तो तोता-मैना और बैताल पंचविंशति जैसी 'कहन' की किस्सागोई की परम्परा से 'सेवासदन' तक की कथा-यात्रा मौखिक परम्परा से लिखित परम्परा की यात्रा है। किस्सागोई की कल्पनाधर्मी रोचकता से सामाजिक जीवन की ठोस धरती पर पैर टिकाने का उपक्रम है। जैनेन्द्र से पहले, इस पड़ाव पर प्रेमचन्द के उपन्यासों में कुछ 'मॉडल' निर्मित होते हैं—छोटे-बड़े सब तरह के। 'सेवासदन' (1916) और 'कायाकल्प' (1928) के बीच प्रेमचन्द के तीन और उल्लेखनीय उपन्यास 'प्रेमाश्रम' (1922), 'रंगभूमि' (1924-25) और 'निर्मला' (1927) का प्रकाशन हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है।

कुल मिलाकर इन उपन्यासों का फलक व्यापक है। तरह-तरह के सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक और स्त्री-जीवन सम्बन्धी सरोकार यथावश्यक विभावन-व्यापार के माध्यम से इनमें अभिव्यक्ति पाते हैं। वैचारिक स्तर पर 'गाँधीवाद', यथार्थ

बनाम आदर्श, नगर और ग्राम-जीवन के बीच पारस्परिक सम्पर्क से उत्पन्न स्थितियाँ—जैसे और तमाम सन्दर्भों से भी प्रेमचन्द टकराते चलते हैं। बिना किसी दुराव-छिपाव के, सतह पर खुले-खजाने। इन उपन्यासों में निश्चित कथा-क्रम हैं, घटनाएँ हैं, कार्य-व्यापार है, संवाद हैं, इस सबकी एक विन्यास में प्रस्तुति है। कथ्य के लिए 'कथा' और 'कथानक' को प्रेमचन्द जरूरी समझते हैं। कथा के आग्रह के कारण, एक हद तक किस्सागोई को भी। जिसका हवाला प्रायः प्रेमचन्द के उपन्यासों की रोचकता के पक्ष में बराबर दिया जाता है। यह ऐसी विशेषता है जो 'कथा' की रंजनकारी परम्परा से भी उनके कथा-साहित्य का सम्बन्ध जोड़ती है।

यह परिदृश्य जैनेन्द्र के लिए 'मॉडल' भी है, चुनौती भी और इससे अलगाव उनके लिए ऐतिहासिक आवश्यकता भी। वस्तुकेन्द्रित, सामाजिक उपन्यास का जो ढाँचा उन्हें तैयार मिलता है, उसी परम्परा से तालमेल बैठाकर, उसे आगे बढ़ाने का ढब जैनेन्द्र का नहीं है। वे उसमें कुछ तरमीम करने, या प्रतिस्पर्धी भाव से एक दूसरा 'मॉडल' खड़ा करने की जरूरत भी नहीं समझते। सहज भाव से वे एक समानान्तर रेखा खींचकर उन बहुत-सी विशेषताओं से मुक्ति पा लेते हैं जो उस समय कथा-साहित्य की रचना के लिए जरूरी समझी जाने लगी थीं।

जैनेन्द्र ने जिस आरम्भिक उपन्यास त्रयी—परख (1929), सुनीता (1935) और त्यागपत्र (1937) से कथाकार के रूप में अपनी पहचान कायम की उसका अनोखापन, एक नया संस्कार, प्रेमचन्द के विरोध में नहीं, उनसे अलगाव में दिखायी पड़ा। एक ऐसा वैशिष्ट्य जिसके बारे में स्वयं प्रेमचन्द ने कहा था, ''उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढँग से कहने की शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी *भाषा* में एक *खास लोच* है, एक खास *अन्दाज़* है।...परख है तो छोटी किताब पर *हिन्दी में एक चीज़ है।*'' (विविध प्रसंग नीर-क्षीर विवेचन, 1930)। इतना ही नहीं, उन्होंने कथा-प्रेमियों से सिफारिश की कि वे इसे जरूर पढ़ें।

ज़ाहिर है, बात महज कहने के ढँग की या भाषा के लोच और अन्दाज़ भर की नहीं थी। गोकि आरम्भ में सहृदय समालोचक की नज़र भी उनकी अभिव्यक्ति की, 'नवीन कारीगरी', 'नवीन उपस्थापन कौशल', 'नए पहलुओं के उद्घाटन' पर ही पड़ी। (हजारी प्रसाद द्विवेदी)। प्रकाशन के साथ ही मंगलाप्रसाद पारितोषिक ने 'परख' पर व्यापक स्वीकृति की मुहर लगा दी (उस समय ऐसे पुरस्कारों का मान और मूल्य हुआ करता था)। क्रमशः पाठकों ने उनके इस अनोखेपन की व्याख्या कुछ इस रूप में कर ली कि जैनेन्द्र घटनाओं के, जीवन-जगत के नहीं, पात्रों की वैयक्तिकताओं के उपन्यासकार माने जाने लगे। कारण यह था कि उनके पात्रों की चरितार्थता उनकी सामाजिकता में नहीं निजता में प्रतिफलित होती है। इस रूप में उन्हें 'सामाजिकता' के मूल्यवाचक प्रतिमन के विलोम अनजाने ही में उसके 'अन्य' के

निर्माता कथाकार का दर्जा दे दिया गया और काफी समय तक उनकी व्याख्या और ख्याति 'मनोविश्लेषणवादी कथाकार' के रूप में होती रही।

कथाकार जैनेन्द्र की इस सरलीकृत व्याख्या का बीज कारण स्वयं रचनाकार के आरम्भिक वक्तव्यों में मौजूद है। सुनीता की प्रस्तावना में उन्होंने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कहा था : ''पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है, अत: तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है, इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं, जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवास की जरूरत मुझे नहीं हुई। थोड़े में समग्रता क्यों न दिखाई जा सके?''

यह आरम्भिक वक्तव्य, रचनाकार के उस प्रस्थान-बिन्दु का खुलासा करता है जो उनकी रचनाओं में उत्तरोत्तर विकसित होकर प्रसार पाता रहा है। उन्होंने कथा-कृतियों की रचना भले ही वाचिक रूप में की हो, पर उनमें न 'कहन' परम्परा की किस्सागोई की रोचकता है, न कथा-तत्व की रंजकता। कथा को ठोस आधार देकर कहानी का पल्लवन करना भी उनका उद्देश्य नहीं है। घटनाएँ और गिनती के व्यक्ति उनके काम चलाने—यानी अपना चित्र बनाकर उसमें सत्य के दर्शन कराने के लिए काफी होते हैं। सीमित कैनवास में समग्रता का दर्शन, पिंड में ब्रह्मांड की खोज उनका लक्ष्य है। कहना न होगा कि ऐसे लक्ष्य के प्रति ऐसी प्रतिबद्धता रचनाकार से अधिक चिन्तक की ही हो सकती है।

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में बराबर घटनाओं और चरित्रों की भरी-पूरी वास्तविक दुनिया में पैर टिकाकर खड़े होने के बजाय उनके परे, उनके भीतर, उनके इतर कुछ खोज पाने की व्यग्रता देखी जा सकती है। सही कहा गया है कि ''जैनेन्द्र धरती का उतना ही टुकड़ा लेते हैं जिस पर खड़ा हुआ जा सके—वह भी बेहद संकोच, लगभग क्षमा-प्रार्थना के भाव से।'' रंजनकारी कथा से अलग होकर आधुनिक कला-माध्यम के रूप में ऐसे उपन्यास को सम्भव करने के प्रयास में जैनेन्द्र कुछ अतिरिक्त शिल्प-सजग कथाकार मालूम होने लगते हैं।

समय के साथ जैनेन्द्र के रचनाकार पर उनके चिन्तक की पकड़ मजबूत होती गयी और सरोकारों का दायरा व्यापक। उनकी पहली रचना से ही स्पष्ट है कि जैसे ही उपन्यास शुरू होता है, कथा छूटती जाती है। यथास्थिति से उनके पात्र विद्रोह करते दीखते हैं। कुछ ऐसा विद्रोह जिसके प्रतिफलन में वे स्वयं टूटते हैं, क्योंकि मनुष्य जहाँ स्वतन्त्र है वहीं निश्चित ऐतिहासिक दौर में फँसा हुआ भी है। कथा में कुछ प्रसंग जोड़-घटाकर विद्रोह का सफल प्रतिफलन साधा जा सकता था, पर वैसा होता नहीं है। वैसा होता तो जैनेन्द्र, जैनेन्द्र नहीं होते।

मुख्य बात है विचार! प्रश्नशीलता! जैनेन्द्र के प्रश्न मूलतः भारतीय समाज के प्रश्न हैं। भारतीय सामाजिक ढाँचा उनका उत्स है। ये मुख्य रूप से समाज में स्त्री की स्थिति और नियति के सवाल हैं। ये सवाल उस तरह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों से नहीं जुड़े हैं जिन पर उनसे पहले और बाद में तमाम लेखकों ने लिखा और लिख रहे हैं। वे स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध की सोपाधिता को ही प्रश्नांकित करते हैं। सुनीता के हरिप्रसन्न की चिन्ता तात्विक है। वह सोचने लगा कि "स्त्री क्या है, पुरुष क्या? इस जीवन में चलकर पहुँचना कहाँ है? किससे भागना है, और किस ओर भागना है? नाते क्या हैं और विवाह क्या है? और यह कम्बख्त क्या चीज़ है जिसको प्रेम का नाम देकर आदमी ने चाहा है बाँध दे, पर जो वैसे ही न बँध सका जैसे वृक्ष से आँधी नहीं बँध सकती...वह क्या है, कौन है?" (सुनीता, पृ. 60)

सारी समस्या इसी बाँधने की है। उपाधि देकर बाँधने की। स्त्री केवल 'स्त्री' हो, यह समाज को स्वीकार्य नहीं—"स्त्री को 'स्त्री' संज्ञा देकर पुरुष को न छुटकारा है, न होगा, उसे कुछ-न-कुछ और भी कहना होगा। माता कहो, बहन कहो, पत्नी कहो, उपपत्नी कहो—कुछ न-कुछ अपनत्व जतलाए बिना मात्र 'स्त्री' संज्ञा का प्रयोग करके उस स्त्री *द्रव्य* से छुट्टी तुमको नहीं मिलेगी।" (सुनीता, पृ. 13)। ये उपाधियाँ, सम्बन्ध-भावना ही बन्धन का कारण है। पर जो 'द्रव्य' है, द्रवणशीलता उसका गुण-धर्म है, ये उपाधियाँ उसे कहाँ और कैसे बाँधेगी?

'परख' की भूमिका में जैनेन्द्र ने कहा था, "स्वतन्त्रता बड़ी कीमती चीज़ है"— उस दौर में बेशक स्वतन्त्रता बड़ी कीमती चीज़ थी। स्वाधीनता आन्दोलन औपनिवेशिक शासन से मुक्ति की तरफ बढ़ रहा था और समाज निर्जीव रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्षशील था। निराला 'वीणा-वादिनी' से परतन्त्रता के बन्धन-स्तर काटने का वरदान माँग रहे थे। पंत, 'पल्लव' की भूमिका में व्याकरण और छन्द के बन्धन से काव्य-भाषा की मुक्ति की राह दिखा चुके थे। और मुकुटधर पाण्डेय 'कवि-स्वातन्त्र्य' शीर्षक से चार लेखों में कवि की बन्धन-मुक्ति का ऐलान कर चुके थे।

इस पृष्ठभूमि में यह आकस्मिक नहीं है कि जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों के केन्द्र में ऐसी स्त्री है जो पराधीनता की वास्तविकता और स्वतन्त्रता की आकांक्षा के द्वन्द्व में जीती है। आरम्भिक उपन्यासों के बाद भी जैनेन्द्र कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, अनन्तर, दशार्क, सभी उपन्यासों में स्त्री-स्वाधीनता की समस्या को वैयक्तिक और सांस्थानिक सन्दर्भों की जटिलता में देखते-परखते रहे। प्रश्न स्त्री की सामाजिक हैसियत का, उसके अस्तित्व की अर्थवत्ता का हो, तो विवाह और परिवार उसका अनिवार्य सन्दर्भ होगा। जैनेन्द्र ने इस सवाल को 'सुनीता' में ही उस भाषा में उठाया है, जो बहुत बाद में नारीवादी मुहावरे में सुनायी पड़ी : "विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु है कि स्त्री अपना नाम भी खो दे और अमुक एक पुरुष के नाम को अपने

ऊपर छत्र की भाँति लेकर उसके नीचे उसकी सम्पत्ति हो रहे?'' (सुनीता, पृ. 34)

यह बात अलग है कि बाद में सोपाधिक सम्बन्ध को वे ऐसा बन्धन मानने लगे जो *मनुष्य मात्र* को 'उत्सर्ग की, मुक्ति और स्वाधीन जीवन की, महिमा से दूर बनाता है।' ऐसा 'पति' और 'पिता' बनकर अपने को बाँधने पर, यानी पुरुष के साथ भी होता है।

घटनाओं और पात्रों की भीड़ के अभाव में भी जैनेन्द्र इने-गिने पात्रों के माध्यम से जीवन-समीक्षा, सामाजिकता में करते हैं। उन्होंने विवाह को सिर्फ दो के बीच की बात के रूप में नहीं देखा। उनकी दृष्टि में ''विवाह बिल्कुल एक सामाजिक समस्या है, सामाजिक तत्त्व है।...उन कुछ उत्तरदायित्वों से जो जीवन के साथ बँधे हैं, उऋण होने के लिए यह विवाह का विधान है। दुनिया में क्या करना है, उसकी दृष्टि से लाभपूर्ण क्या होगा, क्या नहीं, कुटुम्बियों की प्रसन्नता किस ओर है और अपना स्वार्थ किस ओर है—ये सभी बातें विवाह के प्रश्न से संश्लिष्ट हैं।'' (परख, पृ. 63)

विवाह को उसकी कौटुम्बिक संश्लिष्टता से, सामाजिकता से अलग करना जैनेन्द्र को स्वीकार्य नहीं। 'परख' से '*त्यागपत्र*' तक और अपने परवर्ती चिन्तन में भी वे अपने इस मन्तव्य पर कायम हैं : ''विवाह की ग्रन्थि दो के बीच की ग्रन्थि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह क्या टूटती है? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है? वह गाँठ है जो बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाए, पर टूटना कब किसका श्रेयस्कर है?'' (त्यागपत्र, पृ. 22)

विवाह नाम की इस संस्था के निर्वाह का जैनेन्द्र ने बराबर समर्थन किया है। इसके पक्ष में वे जो तर्क देते हैं, वे उत्तर-आधुनिक समाजों में कुछ पिछड़े, कुछ बेमानी या कम से कम अव्यावहारिक मालूम हो सकते हैं। संयुक्त परिवारों के विघटन, और विवाहित युग्मों की बीच बढ़ते तलाकों के वर्तमान दौर में, जहाँ पति-पत्नी के बीच विच्छेद के लिए अनुकूलता (दैहिक हो या मानसिक) का तर्क पर्याप्त माना जाता हो, जैनेन्द्र की यह धारणा बहुतों को काफी बेठिकाने लग सकती है : ''विवाह निबाहने योग्य संस्था है। समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले, यदि जीवन परीक्षण के लिए ही समझ लिया जाए और कानून तोड़ने के लिए? क्या, सच, मानवता नहीं कायम है, उस *रूढ़ संस्था* के सहारे जिसे '*कुटुम्ब*' कहते हैं, जो विवाह पर टिकी है?'' (सुनीता, पृ. 10)

जाहिर है जिन्हें सामाजिक तन्त्र में परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं की भूमिका पर विचार करना आज पिछड़ापन या अप्रासंगिक लगता हो, जैनेन्द्र का चिन्तन उनके लिए बहुत काम का नहीं है। पर समाज में पसरता विघटन, संवेदन-शून्यता, विशृंखलता जिनकी चिन्ता या कम से कम सरोकार का विषय है, उन्हें इन टूटती हुई

संस्थाओं के बचाव और संरक्षणशील भूमिका पर विचार करने के लिए जैनेन्द्र में उपयोगी सूत्रों की कमी नहीं मिलेगी।

'सुनीता' में जैनेन्द्र ने दाम्पत्य जीवन के कुछ और पक्षों पर भी ध्यान दिया है। जिससे इस पूरे प्रसंग के प्रति उनकी उदार और खुली दृष्टि का बोध होता है। वे इस बात से बेखबर नहीं हैं कि इस सम्बन्ध की एक वास्तविकता होती है—इसका व्यावहारिक पक्ष, नितान्त अनुभव की निजता का—जिसमें दैनन्दिन की दिनचर्या के रूप में इस सम्बन्ध का निर्वाह इसे एकरस, उबाऊ और बोझिल बना देता है—यह जीवन्त सम्बन्ध, मात्र 'नून-तेल-लकड़ी' की चिन्ता करते, और एक-दूसरे के प्रति और फिर मिलकर या अलग-अलग दूसरे कुटुम्बियों के प्रति रोजमर्रा की फर्ज़ अदायगी भर न रह जाए, जैनेन्द्र ने इस पर भी ध्यान दिया : "बात यह है कि पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है, उसे खुलना चाहिए, जीवन को कुछ बहिर्गमन मिले, और घर के भीतर की गृहस्थी को घर के बाहर की दुनिया का और अधिक संसर्ग, और अधिक संघर्ष मिले तो शायद कुछ इसकी सृष्टि हो, चैतन्य जागे। बद्ध परिमाण, एक ही ढँग के रहने से नई समस्याएँ कहाँ से उठेंगी।" यह बहिर्गमन, बाहर की ओर खोलना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि "दुनिया में बाहर आकर एक को दूसरे की आवश्यकता की कीमत लगती है, *संयुक्तता का स्वाद घर से बाहर मालूम होता है।*" (सुनीता, पृ. 15)

जैनेन्द्र में जैसा खुलापन, जो उदारता विवाह, परिवारगृहस्थ-धर्म, दाम्पत्य-सम्बन्ध जैसे विषयों पर विचार करते हुए दिखायी पड़ती है उतनी ही आधुनिकता, संजीदगी और संवेदनशीलता से वे प्रेम जैसे गम्भीर विषय पर विचार करते हैं। सम्बन्ध दो के बीच हो, और बाँधने वाला सूत्र विवाह जैसा बन्धन हो, तो भावना के धरातल पर 'प्रेम' की भूमिका का सवाल उठना स्वाभाविक है। प्रेम, विवाह और जीवन की आपसी सम्बद्धता और महत्त्व-क्रम जैनेन्द्र की दृष्टि में कुछ ऐसा है : "प्रेम जीवन को बहलाने की वस्तु तो बन सकती है, लेकिन जीवन उसके लिए स्वाहा नहीं किया जा सकता। जीवन तो दायित्व है और विवाह वास्तव में उसकी पूर्णता की राह—उसकी शर्त।...प्रेम को इस दायित्वपूर्ण विवाह की बात में कैसे दखल देने दिया जाय? *जीवन-प्रेम ज्यादे महत्व की— ज्यादे ऊँची और पवित्र चीज है*। प्रेम, जो अन्त में केवल एक *आवेग*-एक भाव है, उस पर जीवन को कैसे निछावर कर दिया जाय?"..."और वह दायित्व है किसके प्रति? संसार के प्रति, समाज के प्रति, समाज संसार की उन्नति के प्रति।" (परख, पृ. 64-65)

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बीच 'प्रेम' की सामान्य स्वीकृत व्यावहारिक अवधारणा की दृष्टि से जैनेन्द्र अपने समय से कितने आगे थे, यह बात वर्तमान समय में, उनके रचना-समय की अपेक्षा कहीं आसानी से समझ में आती है। प्रेम बाँधता नहीं मुक्त

करता है और उसकी सार्थकता आत्मदान में है, यह रोमानी दृष्टि जीवन-व्यवहार से ज्यादा जीवन-दर्शन की बात लगती है। इसकी पूरी संगति छायावादी कविता की विरह-संकुल, एकपक्षीय, प्रतिदान-निरपेक्ष प्रेमानुभूति से बैठायी जा सकती है। पर जैनेन्द्र उतने पर नहीं रुकते। वे न वेदना-विलासी हैं न इस प्रश्न से जुड़े नैतिक निहितार्थों से आँख बचाकर निकलने की चेष्टा करते हैं। उन्होंने बड़े साहस और निष्ठा से इस स्थिति का सामना किया है। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बीच तीसरे व्यक्ति के प्रवेश से उत्पन्न स्थिति की जटिलता का साहित्य में चित्रण क्रान्तिकारी बात मानी जायेगी। गोकि यह देश-काल-निरपेक्ष ऐसी वास्तविकता है जिसकी सम्भावना बराबर बनी रहती है।

जैनेन्द्र ने समाज में नैतिकता की औसत ढँग से मान्य और प्रचलित अवधारणाओं के विरुद्ध ऐसी असामान्य स्थितियों की अवतारणा की। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, नैतिकता को पुन: परिभाषित किया, वह भी बिना किसी अपराध बोध के—यह बड़ी बात थी। विवाह की व्यवस्था के बीच उनके पात्रों को प्रेम की स्वतन्त्रता है। वहाँ परिवार में पर-पुरुष का प्रवेश अपराध नहीं माना जाता। 'प्रेम' उनके सारे उपन्यासों के केन्द्र में है। इस सवाल से वे लगभग मनोग्रस्त हैं—'सुनीता' से 'जयवर्धन' तक नारी और पुरुष दोनों को तयशुदा चौखटे से बाहर लाने वाला तत्त्व 'प्रेम' ही है।

'सुनीता' में यह प्रेम बाँधता नहीं मुक्त करता है। उसकी सार्थकता एक ओर आत्मदान में है, और दूसरी ओर अपरिग्रह में। परीक्षा के क्षण में सुनीता का समर्पण हरिप्रसन्न को उद्वेलन से, आवेग से छुटकारा दिलाता है। समर्पण के लिए प्रस्तुत निर्वसना 'सुनीता' उसे उद्वेग-मुक्त करती है। स्त्री के साहस के सामने हतप्रभ, सर्वथा पराभूत हरिप्रसन्न पर सुनीता के आत्मार्पण का प्रभाव विरेचक है और हरिप्रसन्न की स्थिति ''विश्व-ग्रन्थ में उलट गए हुए एक अर्द्धविराम के चिह्न की भाँति।'' इस अपरिग्रहजन्य शुचिता की एक झलक पाठक को 'परख' के कट्टो-बिहारी प्रसंग में पहले भी मिल चुकी है।

परम्परागत मूल्यों और रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ यह प्रेम जैनेन्द्र के यहाँ स्त्री-स्वातन्त्र्य का नियामक हो जाता है। जो घटित होता है उसके संचालन की डोर बराबर उनके स्त्री-पात्र थामे रखते हैं। द्वन्द्व वहाँ लोकमत बनाम भीतरी सत्य के बीच है। आत्मा के अनुरोध से, ये सारे निर्णय पूरे आत्मविश्वास से लिए गए व्यक्ति के निर्णय हैं। अपराध-बोध से एकदम मुक्त, क्योंकि वे सत्यनिष्ठता से प्रेरित हैं, स्वार्थ से नहीं।

स्त्री-विमर्श की सबसे बड़ी कसौटी आत्मनिर्णय की यही स्वतन्त्रता और अधिकार है, जो जैनेन्द्र ने अपने स्त्री-पात्रों को दिया। सुनीता और श्रीकांत के सम्बन्ध, निर्वसना होकर प्रस्तुत होने का प्रसंग सब सुनीता के निर्णय पर केन्द्रित है। 'त्यागपत्र'

की मृणाल, भाग्यहीना नहीं, अपने भविष्य की स्वयं नियन्ता है। उसका परित्यक्ता होना भर पुरुष का अत्याचार है, शेष सब उसका अपना सोचा-समझा, करा-धरा है। स्वतन्त्रता के उस अधिकार के तहत, जो उसने औरों की सहमति/असहमति की चिन्ता किए बगैर पा लिया। उसके व्यक्तित्व की कुंजी इस वाक्य में है : ''मैं नहीं बुआ होना चाहती। बुआ। छी: देख, चिड़िया कितनी ऊँची उड़ जाती है। मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।'' ऐसा उसे जैनेन्द्र ने बनाया है, कुछ वैसे ही जैसा बाद में यशपाल ने 'दिव्या' को बनाया था। सामाजिक मूल्यों, मर्यादाओं की आड़ में होने वाले पाखंड को लक्ष्य कर उसने भी अपने भविष्य का चयन किया था : ''मैं वेश्या होना चाहती हूँ।'' नारी की स्वतन्त्रता के अभियान में अलग किस्म की नैतिकता प्रस्तावित करने वाले जैनेन्द्र पहले कथाकार थे। स्त्री को केन्द्र में रखकर उन्होंने अलग-अलग कोणों से नैतिकता का प्रश्न उठाया।

जीवन में विवाह और प्रेम दोनों को साधने के लिए उन्होंने पातिव्रत्य और सतीत्व में अन्तर किया। विवाह समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक भले हो, पर उनकी दृष्टि में आदर्श पत्नी होने भर से स्त्री-धर्म पूरा नहीं होता। इसी बोध से प्रेरित उनके स्त्री-पात्रों को विवाहेतर सम्बन्ध बनाने में न संकोच होता है, न अपराध-बोध। पर स्त्री के पक्ष में यौन-शुचिता की परम्परागत अवधारणा से ग्रस्त जैनेन्द्र के नारी-पात्र अपने प्रेमी की अनिवार्य उपस्थिति स्वीकार करके भी शारीरिक सम्बन्धों को बचाकर रखने के द्वन्द्व में जीते हैं। जैनेन्द्र की मजबूरी यह है कि उनके अनुसार स्त्री पर-पुरुष से प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र भले ही हो, यह प्रेम भाव स्तर से आगे बढ़कर यदि दैहिक स्तर पर अपनी अभिव्यक्ति चाहता है तो उससे समाज के टूटने का खतरा पैदा होता है। इसी कारण 'सुखदा', 'कल्याणी', 'विवर्त' में तीसरे के प्रवेश से विघटन, जीवन में टूटन और अशान्ति पैदा होती है।

जो स्त्री सदियों से, पुरुष के पर-स्त्री सम्बन्धों को झेलती आयी है, किसी हद तक स्वीकार भी करती रही है, उसे पुरुष के बराबर स्वतन्त्रता देने में जैनेन्द्र के परम्परावादी पुरुष को खतरा महसूस होने लगता है। स्त्रियों को जैनेन्द्र अनेक अवसरों पर 'परिवार की रक्षा' और उसकी 'मर्यादा' का पाठ पढ़ाते हैं, पर जब उसकी स्वतन्त्रता का सवाल आता है, तो वे उसकी नैतिकता को 'सती' और 'पतिव्रता' के बीच भेद करके सुलझाने की राह निकालते हैं। उनके अनुसार परम्परा से प्राप्त इन दो शब्दों में से 'पतिव्रता' में सामाजिक ध्वनि मानी जा सकती है और 'सती' में आत्मिक। वे इन शब्दों को पर्यायवाची रूप में नहीं देखते, जो ये हैं भी नहीं। पर इनमें सुझाए अन्तर के बारे में स्वयं कितने आश्वस्त हैं इसका अन्दाज उनके इस कथन से लगाया जा सकता है : '' 'सामाजिक' और 'आत्मिक' कहकर मैंने जो इन दोनों में अन्तर सुझाया है-हो सकता है वो मेरी अपनी आविष्कृत अवधारणा हो। लेकिन मैंने अपनी

रचनाओं में *पतिव्रता के ऊपर सतीत्व को प्रतिष्ठा दी है।''* जैनेन्द्र की दृष्टि में नारी का चरम आदर्श यही सतीत्व है। 'सतीत्व' की इस अवधारणा में स्त्री के लिए विवाहेतर सम्बन्धों में दैहिकता का निषेध करके जैनेन्द्र ने उसकी स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक मान्यता चाही है। वे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के तरह-तरह के संयोजनों की सृष्टि कर उनके माध्यम से अलग किस्म की नैतिकता प्रस्तावित करते हैं और उसे वैधता देना चाहते हैं।

अन्तर्विरोधों से ग्रस्त ये ऐसी दृष्टि है, जिसमें प्रस्तावित नैतिकता का द्वैत समाज समर्थित नहीं है। 'विवर्त' तक पहुँचकर नैतिकता का यह प्रश्न इतना तीव्र हो जाता है कि यथार्थ जीवन व्यवहार में वैसे सम्बन्धों को जायज ठहराने में कठिनाई होना स्वाभाविक है। ब्याहता होकर भी नायिका अपने पूर्व प्रेमी के प्रति समर्पित रहती है। उससे विवाह न कर पाने का अपराध-बोध इस सम्बन्ध को बनाए रखने का बड़ा लचर तर्क है, और इस परिस्थिति में उसके पति का साथ देना और भी विचित्र अव्यावहारिक स्थिति पैदा करता है। कुल मिलाकर शायद ऐसी स्त्रियों को जैनेन्द्र 'सती' की कोटि में रखना चाहते हों। पर उन्होंने सतीत्व की दो टूक स्पष्ट परिभाषा न देकर पाठक के लिए असमंजस ही खड़ा किया है। ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थितियों के माध्यम से स्त्री की पारम्परिक छवि को तोड़ना क्या जैनेन्द्र का इष्ट था? क्या वे अपने समय से बहुत आगे भविष्य की सम्भावनाओं की ओर देख रहे थे? क्या ये स्त्री की नियति को परिभाषित करने की ऐसी कोशिश है जिसके बारे में कभी श्रीकांत वर्मा ने कहा था कि ''जैनेन्द्र के उपन्यासों में न केवल यह कोशिश है बल्कि यह मुद्दा है, यह एक मुकदमा है, जिसको लेकर जैनेन्द्र कुमार पिछले साठ साल से हर अदालत में और हर जगह जाकर लड़ रहे हैं। उनका हर उपन्यास दस्तावेज है, एक फाइल है, जो पेश किया गया है।'' (जैनेन्द्र की आवाज, पृ. 41)

हो सकता है यह टिप्पणी एक हद तक सही हो। पर आरम्भ में जैनेन्द्र स्त्री का पक्ष 'गृहिणी धर्म' के भीतर उसकी छवि को बनाए रखकर ही प्रस्तुत करते हैं। वरना ऐसी दलील को कैसे समझा जाए : ''दूसरी कोई स्वतन्त्रता स्त्री के लिए भ्रम है। आर्थिक जैसी किसी स्वतन्त्रता में से वह अपने को सार्थक नहीं पा सकती। *गृहिणी धर्म* में ही उसकी सचमुच परितृप्ति है।'' (सुखदा, पृ. 87)

सवाल उठ सकता है कि जिस 'गृहिणी धर्म' के पालन में वे स्त्री की परितृप्ति की वकालत करते हैं उसका व्याख्याता और नियन्ता कौन है? इसकी हदें कौन निर्धारित करता है। उन्होंने 'परख' में इसका दायित्व जैसे स्त्री के कन्धों पर ही रख दिया है : ''पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को, कुटुम्ब को बनाती है। फिर उन्हें बिगाड़ती भी वही है। हर्ष भी वही और विमर्श भी। ठहराव भी और उजाड़ भी। दूध भी और

खून भी। रोटी भी और स्कीमें भी। और फिर आपकी मरम्मत और श्रेष्ठता भी—सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है, और फैशन की जड़ भी वही है। बात क्यों बढ़ाओ, एक शब्द में कहो—दुनिया स्त्री पर टिकी है।''

स्त्री की सामर्थ्य में यह आस्था किसकी है। उसे यह अधिकार दिया किसने है। अपेक्षाएँ किसकी हैं? जिन्हें पूरा करना स्त्री की नियति है, विवशता है, हक है या उसका चुनाव है? अगर वह इस दायित्व से विचलित होती है, तो विकल्प क्या है? 'सुनीता' के हरिप्रसन्न के पास इसका उत्तर कुछ ऐसा है—''तुम यदि पुरुष की अधीश्वरी नहीं हो सकती, तो पुरुष लाचार होगा कि तुमको अपनी दासी बनाए, दासी भी नहीं, पैर की जूती बनाए, लेकिन तुम उसकी अधीश्वरी बनने के अधिकार से भागने वाली हो कौन? यह मेरा हक है कि मैं तुमसे कहूँ कि तुम मुझे स्फूर्ति दो, मुझे स्नेह दो, नहीं? तो हट जाओ मेरे सामने से—यह हर पुरुष एक स्त्री से कह सकता है।'' (पृ. 138)

अगर पुरुष की अधीश्वरी बनना न बनना स्त्री की सामर्थ्य, उसके विवेक, उसके अपने निर्णय पर निर्भर है, तो विवाह मुक्त यौनाचार, व्यभिचार की कोटि में किस तर्क से आयेगा। जैनेन्द्र विवाह की सामाजिकता और प्रेम की मुक्तता के बीच तालमेल बैठाने का प्रयत्न लगातार करते रहे। वे बार-बार विवाह को सामाजिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य बताते हैं। पर प्रेम को ऐसा 'मुक्त' भाव स्वीकार करते हैं जिस पर समाज की कोई मर्यादा लागू नहीं होती। तब कहाँ यह 'मुक्तता' स्वेच्छाचार में बदल जायेगी, इसका निर्णय कौन और कैसे करेगा? 'सुखदा' और 'कल्याणी' अपने को मुक्त मानकर अपने 'परिवार' का विनाश करती हैं और अन्त में पछताती हैं। उधर सारे यथास्थितिवाद के विरोध में खड़ी 'मृणाल' को जैनेन्द्र पूरे मन से समर्थन देते हैं। वहाँ न उनके मन में कोई असमंजस है न किसी संस्थाबद्ध नैतिकता का बोझ। कहना न होगा 'मृणाल' उनके रचना-संसार की अमूल्य सृष्टि है।

जैनेन्द्र के स्त्री-पात्र उसी भारतीय पारिवारिकता के अस्तित्व को चुनौती देते हैं जिसे व्यवस्था का प्रश्न कहकर जैनेन्द्र खुद उसके पक्ष में खड़े दिखायी देते हैं। 'दशार्क' तक पहुँचकर पाठक का सामना एक ऐसी स्त्री से होता है जिसके सारे रिश्ते-नाते टूट गये हैं। अपनी राह खोजने और अपनी मर्यादा का स्वयं निर्माण करने का दायित्व स्वयं उसका है। कठिनाई तब आती है जब स्त्री के प्रति सारे सम्मान, और सारी सहानुभूति उसकी क्षमता में पूरे विश्वास के बावजूद वे सनातनी भारतीय मानसिकता का निर्वाह करते हुए कहते हैं : ''जो स्त्री प्रतिकूलता रहते हुए भी पति की सेवा से विरत नहीं होती उस स्त्री को मैं अवश्य पूजार्ह समझ सकता हूँ।'' (काम, प्रेम और परिवार, पृ. 111)। इस पंक्ति में जैनेन्द्र के संस्कार में बद्धमूल तुलसीदास

की अनुगूँज सुनायी पड़ती है : ''सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।'' सवाल लौटकर फिर वहीं आ खड़ा होता है कि स्त्री की बेहतरी पति-सेविका, पूजा का आलम्बन होने में है या उसकी 'अधीश्वरी' होकर अपनी राहों का खुद अन्वेषण करने में। वस्तुत: वे स्त्री को सारे अधिकार, सारी स्वतन्त्रता—व्यवस्था के भीतर, एक दायरे में रखकर देना चाहते हैं।

जैनेन्द्र बराबर जूझते हैं—वादी और प्रतिवादी दोनों उनके अपने ही भीतर मौजूद हैं। यह मुकदमा वे समाज में नहीं, अपनी ही अन्तश्चेतना में लड़ रहे हैं, समाज और व्यक्ति, दोनों की सापेक्षता में। सरोकारों के दायरे में विपरीतों के तमाम युग्म हैं—आमने-सामने। दो के बीच से उन्हें रास्ता बनाना है, वह भी कुछ ऐसा जिसमें यथासम्भव टूटना किसी का न हो। पर यदि ऐसा अनिवार्य हो जाये तो टूटना भी व्यक्ति को ही होगा—क्योंकि, ''समाज टूटा कि हम फिर किसके भीतर बनेंगे या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।'' यह 'टूटना', भले ही समाज के गलनशील ढाँचे को तोड़ने के संकल्प से कहीं अधिक उज्ज्वल, नैतिक और हीरोइक प्रतीक हो, पर पुष्ट तो उसी आत्मदान वाली दृष्टि को करता है, जो मूलत: बुद्धि-विरोधी है। जिसकी अनुगूँज 'त्यागपत्र' के प्रमोद में सुनायी देती है : ''सच्चाई तो छोटा बनने में है। बलि बनने में है।'' समाज की जड़ों में सींच देने में। जजी से त्यागपत्र यही कुछ न कर पाने की विवशता का प्रायश्चित्त भी है और व्यवस्था का अस्वीकार भी है।

इस अपरिग्रह/आत्मार्पण की परिणति वेदना और दर्द में होती है। उसी वेदना में जिसे ''मन का दर्द अमृत है'' मानकर छायावादी कवि भी गले लगाये रहे और बाद में अज्ञेय ने 'दुख सबको माँजता' कहकर इसका विस्तार किया। आत्मपीड़न, समर्पण, वेदना के महिमामंडन की इस मनोवृत्ति का सम्बन्ध तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य से, गाँधी के अहिंसावाद और नैतिकता की अवधारणा से है। 'त्यागपत्र' के अन्त में 'प्रमोद' की पश्चाताप व्यंजक वाणी में 'दर्द' के महिमामंडन की पराकाष्ठा हुई है। वह बूँद-बूँद दर्द जो इकट्ठा होकर मानव के भीतर भरता जाता है—''वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव का मानस-मणि है, उसके प्रकाश में मानव का गति-पथ उज्ज्वल होगा।'' उसे वे लोग प्रणम्य लगते हैं जो ''जगत की कठोरता का बोझ स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर उठाकर चुपचाप चले चलते हैं और फिर समय आने पर इस धरती माता से लगकर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं—मैं उनको प्रणाम करता हूँ।'' दूसरों के किए का बोझ ढोने में सार्थकता खोजने वाली यह ईसा-गाँधी वाली नैतिकता यथार्थ जीवन में कितनी व्यवहार्य है—यह अलग बात है। जीवन में अन्याय होते देखना, हस्तक्षेप न करके उसे नियति के रूप में स्वीकार कर लेने की इस घटना में नामवर सिंह ने उपनिषदों की परम्परा से प्राप्त खालिस अस्तित्ववाद देखा। क्या

पश्चाताप के रूप में प्रमोद का 'त्यागपत्र' अकर्मण्य व्यक्ति का अपनी विफलताओं पर परदा डालने के लिए ऐसा चुनाव नहीं है जिसके पीछे केवल सुविधा की दृष्टि काम कर रही है।

ऐसे तमाम सवाल जैनेन्द्र के उपन्यासों को लेकर उठते रहे हैं। वस्तुतः उनकी कथा-कृतियों की विशिष्टता समाधान या समाहार प्रस्तुत करने में नहीं, प्रश्न उठाने में ही है। पाठकों को उनसे अविश्वसनीयता की शिकायत रही। पात्रों के व्यवहार और प्रतिक्रियाएँ निरुद्देश्य और अप्रत्याशित प्रतीत हुईं—कुछ-कुछ पहेली बुझाने के से आग्रह से युक्त। उनके पात्र अक्सर व्यवहार की परिचित सामान्य-पद्धतियों, कार्य-कारण सम्बन्ध की तार्किकता से विलक्षण-असामान्य (abnormal) नहीं असाधारण (extraordinary) मालूम होते हैं। ऐसा न होता आश्चर्य तो तब होना चाहिए था। क्योंकि उनका तो यह मानना ही है कि : ''उपन्यास में जैसी दुनिया है वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया का कुछ उन्नत, कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं, जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है। उपन्यास का काम है, कुछ आगे की भविष्य की सम्भावनाओं की जरा झाँकी दिखाना और जो कुछ अब है, *उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना*।''

उनके उपन्यासों की बनावट के बारे में एक बार अज्ञेय ने उनसे प्रश्न किया था कि : ''मुझे लगता है कि आपके उपन्यासों में ऐसा रहा है कि पहले आपके सामने एक नैतिक समस्या आती है या कि उनका एक खास तरह का समाधान का रूप आता है और फिर उस दृष्टान्त को सार्थक करने के लिए आप एक चरित्र गढ़ते हैं। क्या ऐसा मानना ठीक है ?'' इसके उत्तर में जैनेन्द्र ने स्वीकार किया : ''ठीक है, यही है। यानी समस्या से भी आगे एक निष्कर्ष रहना चाहिए। निष्कर्ष का बिन्दु और उस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये समस्या में से गुजरना पड़ता है। तो वही उपन्यास बन जाता है।'' (सारिका, जनवरी, 1989)।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की यह एकदम सटीक व्याख्या है। जैनेन्द्र यहीं प्रेमचन्द से अलग हो जाते हैं। प्रेमचन्द जो सतह पर है, उसे नाना रूपों में पकड़ते पेश करते रहे—अपनी दृष्टि के अनुसार भविष्य की सम्भावनाओं की झाँकी भी दिखाते रहे। जैनेन्द्र ने सतह 'पर' की जगह तह के 'भीतर' जाकर वहाँ छिपे सूत्रों के सहारे जीवन का वह रूप पेश करने की कोशिश की, ''जो जीवन से मिलता जुलता है, फिर भी *अनोखा* है।''

अनोखेपन का यही आग्रह उन्हें साधारण से असाधारण की ओर ले गया। यह ''नया संस्कार—एक नई बात का धीरे-धीरे उगना—जो उपदेशात्मक नहीं, विवेचनगम्य नहीं। मस्तिष्क की बहुत कम पकड़ में आने वाली—सीधे अनुभूति में जाकर चुभने वाली।'' विडम्बना यह कि यह नई बात जिसका उद्गम सर्जक जैनेन्द्र की मनोरचना

में ग्रथित चिन्तक जैनेन्द्र से होता है, उसे वे स्वयं विवेचन के लिये अगम्य, और मस्तिष्क की बहुत कम पकड़ में आने वाली कहें। जैनेन्द्र की नजर में सोद्देश्यता का यह नया ढंग है। जिसे : ''विद्वान चाहे कितना ही उसे पहेली कहें, विद्वत्ता उसका मतलब समझने में कितनी ही अकृतकार्य रहे, और वहाँ उद्देश्य का कितना ही अभाव दीखे—वह सच्ची चीज़ है, उपादेय है, और वह जीने जिलाने के लिये आई है। *वह कला* है। अर्थ-अर्थी जगत् अपनी उद्देश्य-पूर्णता की परिभाषा के घेरे में उसकी उपयोगिता को बाँध न पाये, इसमें अचरज नहीं।''—प्रेमचन्द की नैतिक सोद्देश्यता से भिन्न कला की सोद्देश्यता की यह नयी परिभाषा थी। जैनेन्द्र का कहना था कि अपने पात्रों को उन्होंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ ऐसा नहीं हो सका, वहाँ उन्हें लगा कि उनसे चूक हुई। 'आदमियों' की यह पात्र-सृष्टि जैनेन्द्र के अनुसार—''देवता से कम ही, और पशु से ऊपर ही'' है। ऐसे में लेखक ''किसे अपनी सहानुभूति देने से इंकार करे?''

'सुनीता' की प्रस्तावना में गोकि जैनेन्द्र ने अपनी सृष्टि के बीच से खुद ओझल हो जाने की बात कही है : ''स्थान और पात्रों को सामने करके, मैं ओट हो जाता हूँ—हर सृष्टि स्रष्टा को व्यक्त करती है। स्रष्टा कहाँ दिखता है। कोई बात मेरी नहीं रह जाती, क्योंकि मेरी कहाँ वह तो उनकी है।'' पर यह बेनियाजी, मुद्रा भर है, कहने की भंगिमा मात्र। क्योंकि जैनेन्द्र तो अपनी सृष्टि में हर जगह हैं—एकदम सजग, चौकस, उस 'स्वतन्त्रता' के बारे में भी जिसके लिये वे 'परख' में कह आये थे : ''मैंने इस में काफी स्वतन्त्रता से काम लिया है। पर *विश्वास* है उसका दुरुपयोग नहीं किया—क्या कहूँ और कैसे कहूँ—इन दोनों बातों में मैंने किसी नियम को सामने नहीं रक्खा है। मैंने सदा ध्यान रखा है, जो दूँ उसमें अपने को धोखा न दूँ, और दुनिया को धोखा न दूँ। लेखक का काम बड़ा जोखिम का है।'' कहना न होगा कि जैनेन्द्र ने यह जोखिम उठाया। उनका 'क्या' और 'कैसे' दोनों नियम से ही स्वतन्त्र नहीं हुए, चली आती उस लीक से भी अलग हो गये जो प्रेमचन्द ने बनायी थी। यह अलग होना एक नये किस्म की पाठकीय अभिरुचि का आह्वान था। साहित्य के प्रतिमानों में बदलाव (पैराडाइम शिफ्ट) की पेशकश थी। जरूरी थी रचना के चले आते विधि-विधान से मुक्ति। जैनेन्द्र ने बड़ी निर्भीकता से घोषणा की : ''न भाषा का शिकंजा है, न भाव का। दोनों किसी *कोड* के नियम में बँधकर नहीं रह सकते।...हिन्दी भाषा-भाषियों और भाषा लेखकों को यह सत्य पूरे हर्ष से और बिना ईर्ष्या के मान लेना चाहिए। भाषा और दुनिया का हित इसी में है।''

व्याकरण और पिंगल के नियमों से ऐसी ही मुक्ति का आह्वान, काव्य-भाषा के सन्दर्भ में सुमित्रानन्दन पन्त 'पल्लव' की भूमिका में कर चुके थे। उन्होंने भी नियममुक्त सर्जनात्मक भाषा के पक्ष में तर्क देते हुए विचलन को अनिवार्य ठहराया

था। जैनेन्द्र ने भी अपनी रचना-प्रक्रिया का खुलासा किया :

"मैने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है।...कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा-रिक्त (gap) छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से। मैं समझता हूँ, यह सब कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिये जरूरी हो पड़ता है। यह कम ज्यादे रंग की शोभा रंग-बिरंगे पन में और स्वाद देती है।"

यह आवाज आरम्भिक जैनेन्द्र की है। इस मायने में हैरत में डालने वाली कि तब जैनेन्द्र केवल 24 वर्ष के थे ('परख' के प्रकाशन काल में)। 'त्यागपत्र' भी 31 वर्ष की आयु में प्रकाशित हो गया था। अपनी रचना-यात्रा के आरम्भ में ही इस तरह की 'अनेक-स्वरीय' आवाज बना या पा लेना अत्यन्त असाधारण उपलब्धि है। यह आवाज अनुभव के मर्म को उसकी सम्पूर्ण जटिलता में पकड़ने में सक्षम है। उपन्यासों में ही नहीं, कहानियों में भी। पाठकों का एक वर्ग तो उनके कहानीकार को उपन्यासकार की तुलना में ज्यादा केन्द्रित मानता है। दिलचस्प बात यह है कि वे उपन्यासों के समानान्तर लगातार कहानियाँ भी लिखते रहे। एक बार निजी बातचीत के दौरान उन्होंने कहा था कि कहानियाँ वही अमर हो सकती हैं "जो असम्भव की रेखा को छूती हैं और जो स्थूल भौतिक जगत की सम्भावना की सीमाओं से पराजित नहीं है।" क्योंकि 'यथार्थता का आबन्धन और अवलेप जिस पर जितना कम है वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे' तो जैनेन्द्र को अचरज नहीं होता।

यह बातचीत उनसे बहुत बाद में हुई थी। तब तक चिन्तक जैनेन्द्र उन पर पूरी तरह काबू कर चुका था। जब उन्होंने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया, तब देश-कालातीत होने का यह आग्रह, यह वैचारिकता उन पर हावी नहीं थी। कम-से-कम उनकी आरम्भिक कहानियों से यह प्रमाणित नहीं होता। शुरुआती दौर की उनकी कहानियाँ प्रेमचन्द की तुलना में, कहीं अधिक सहज व्यक्ति की, लिहाजा ज्यादा अपनी कहानियाँ लगती थीं। उनके पात्र न टाइप या प्रतिनिधि मालूम होते थे, न किसी वाद या फार्मूला से प्रेरित। वे हर तरह के नैतिक बोध के दबाव से मुक्त थे—एकदम सहज मानव। यहाँ तक कि उनका यथार्थ, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थवादी लगने वाले प्रेमचन्द से कुछ अलग किस्म का था। एक नये कहानीकार ने इस अन्तर की पहचान बताते हुए कहा था कि, "प्रेमचन्द की सामाजिक व्यापक विविधता के बीच जैनेन्द्र की यह सहज व्यक्ति और अज्ञेय की विशिष्ट व्यक्ति वाली दृष्टि अधिक नयी, अपनी और गहरी लगती थी—इनकी कहानियाँ भीतर से बाहर की ओर नहीं, बाहर से भीतर से ओर घटित होने लगी थीं।" यानी जैनेन्द्र को उस दौर में घटना से

परहेज नहीं रहा, अलबत्ता प्रक्रिया उल्टी, अतः अधिक आत्मीय हो गयी थी।

कहानीकार के रूप में जैनेन्द्र की आरम्भिक सफलता का कारण यह भी रहा, कि वे जहाँ के लिये कथा-यात्रा शुरू करते हैं अक्सर ठीक वहीं नहीं पहुँचते। भीतरी अनुरोध से कहानी उन्हें खुद-ब-खुद कहीं ले जाती है। कहानी की रचना-प्रक्रिया के बारे में जैनेन्द्र ने खुद स्वीकार किया है "कथा का आत्म-निर्माण अर्थात् आन्तरिक भाव-बोध और कथा का बाह्य कलेवर ये दोनों युगपत् साथ चलते हैं। इसमें आगे-पीछे होने में उलझन हो जाती है।" यानी पूर्व-निर्धारित कुछ नहीं होता। क्योंकि "हठ-पूर्वकता से किया गया संयोजन कहानी के स्वरूप को दबोचने वाला होता है।"

घटना की सतह को भेद कर उसमें छिपी सूक्ष्म परतों की जाँच-पड़ताल करने की प्रवृत्ति जैनेन्द्र में आरम्भ से ही मिलती है। यूँ उनका कहना है कि "शुरू में जो कहानियाँ लिखी गयीं, वे मेरे उस समय के जीवन से जुड़ी-सी देखी जा सकती हैं।" जीवन से जुड़ी हुई कहानियाँ प्रेमचन्द की भी हैं। पर जैनेन्द्र के इस जुड़ने की खासियत कुछ अलग ढँग की है।

मानव-सम्बन्धों की कहानियाँ दोनों ने लिखीं। जैनेन्द्र ने नातों में सबसे ज्यादा महत्ता स्त्री पुरुष के आपसी रिश्ते को दी। खास बात यह थी कि प्रेमचन्द की समूची नैतिकता के रहते, उन्होंने जिस तरह इस रिश्ते से उत्पन्न द्वन्द्व और नारी की पीड़ा को समझने का, उसे कहने योग्य बनाने का प्रयत्न किया, वह साहस का काम था। भले ही उनकी कहानियों के स्त्री-पात्र व्यवहार-धर्म की कसौटी पर पूरे न उतरें, उनकी परिणति हमेशा पाठक को आश्वस्त न करे—पर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को विषय बनाकर जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में जो पहल की, उससे जैसे एक पूरा क्षेत्र प्रयोग के लिये खुल गया।

प्रेमचन्द की कहानियों में व्यक्त यथार्थ के बारे में जैनेन्द्र का कहना था कि उनकी "कहानियों के चौखटे आस-पास के यथार्थ पर से उठाकर लिये गये हैं। उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है।" जैनेन्द्र की कहानियों का यथार्थ इस मायने में प्रेमचन्द से अलग है कि वहाँ चौखटा घटना का नहीं, सूक्ष्म सम्वेदन या विचार का है। वे प्रायः व्यक्त से अव्यक्त, बाहर से भीतर के धरातल पर संक्रमण करते हैं। व्यवहार धर्म से प्रेरित होकर सम्वेदन-धर्म या फिर विचार-धर्म को पकड़ने की प्रक्रिया में वे जाने-अनजाने प्रेमचन्द के पात्रों के औसतपन को भी लाँघने की कोशिश करते हैं। घटनाओं में छितरे व्यक्तित्व से घटना के रंग अलग कर उसे एक अपना, निजी व्यक्तित्व प्रदान करना—यही जैनेन्द्र की पात्र-सृष्टि है। इस प्रक्रिया में चरित्रों की विविधता और रंगीनी भले ही कम हो जाए, पर उसे घनत्व और व्यक्तित्व मिल जाता है, और एक हद तक उसका औसतपन भी छूटने लगता है।

जैनेन्द्र ने 'नयी कहानी' की बनावट में घटना के घटाटोप के कम होते हुए आग्रह

और सूक्ष्म सम्वेदनाओं के आकलन की प्रवृत्ति को कहानी का शुभ लक्षण माना था। कहीं-न-कहीं उनकी कहानियों का प्रेरक बिन्दु भी यही रहा है। जैनेन्द्र की कहानियों का प्रस्थान-बिन्दु कोई घटना या यथार्थ भी हो सकता है जैसे 'अंधे का भेद' कहानी में, नहीं भी—जैसे 'स्पर्धा' में, जो 'एकदम विचार से बना ली गयी रचना' है। जैनेन्द्र की कहानियों में उत्तरोत्तर इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ है। इसका कारण यह था कि जैनेन्द्र कहानी को ठेठ कल्पना की सृष्टि मानते हैं। उनके लिये मूल वस्तु विचार है। कहानी तब बनती है जब घटना घटती नहीं बल्कि किसी घटना में मोड़ आता है। बस इसी मोड़ पर नजर टिकाकर जैनेन्द्र उसका मनोवैज्ञानिक कारण ढूँढ़ते हैं। उसके आगे-पीछे की घटनाओं की कल्पना करते हैं और उसी बिन्दु पर टिकाकर कहानी बुन देते हैं। बल घटना पर नहीं, बड़ी-से-बड़ी घटना में निजी तथ्यों को ढूँढ़ने पर रहता है। उनकी दृष्टि में जो निदान समस्या को बाहर से देखता है, देश और काल में रखता है, वह रोग के लक्षणों को पकड़ता है, मूल तक नहीं जा पाता। इसलिए वे जब उस मूल को पकड़ने की कोशिश करते हैं जो व्यक्त लक्षण के आवरण में अव्यक्त है, तो कहानी अक्सर निदान में या मूल की पकड़ में नहीं, बल्कि 'रहस्य' में आकर समाप्त होती है।

जैनेन्द्र की अधिकांश कहानियों का उत्स विचार है, और विचार किसी समस्या के निदान की ओर ले जाए, यह एकदम जरूरी नहीं। इसीलिए उनकी कहानी का धरातल संशय और प्रश्न का होता है, उत्तर और समाधान का नहीं। उत्तर खोजने के आग्रह से कहानी में जो एक प्रयोजनीयता आती है, उसके तल पर साहित्य को उतारने में उन्हें खतरा महसूस होता है। किसी आवश्यकता के दबाव में जो साहित्य लिखा जाता है वह काम निकलने पर बेकार हो जाता है। समस्या न रहेगी तो निदान से जुड़ी कहानी, कहानी कैसे रहेगी। और जिस कहानी का यह भाग्य होगा, उसे कहानी कैसे कहा जाएगा। 'स्पर्धा' कहानी की रचना इस विचार-सूत्र को प्रमाणित करने के लिये की गयी : 'महत्वाकांक्षा से अगर चलें और एक बार में कहीं आदर्श प्रतिष्ठित कर लें, तो अन्त व्यर्थता में होगा, पूर्णता हाथ नहीं लग सकती।'

'घटना जो जगत में घटती है, वही समय से बँधी होती और पुरानी पड़ा करती है।' इसीलिए जैनेन्द्र अपनी कहानी की घटना को 'जागतिक और सामयिक' न बनाकर मानसिक बनाने का प्रयास करते हैं ताकि वे सनातन बन सकें। इस मानसिकता के आवरण के लिये वे रूपक-कथाओं या फैंटेसी का प्रयोग करने से भी परहेज नहीं करते। भले ही पूरा माहौल एकदम बनावटी दिखायी देने लगे, जैसे 'तत्सत' में। यह आकस्मिक नहीं है कि 'नीलम देश की राजकन्या' को जैनेन्द्र ने 'अपनी मूल वृत्ति की परिचायिका' कहा है। उन्हें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि ''अधिकांश रचनाएँ अमूर्त सिद्धान्त को अपने निकट मूर्त्त करने की प्रेरणा से बनी है।

मेरी अधिकांश *रचनाएँ* सोचता हूँ साठ प्रतिशत ऐसी होंगी।''

बात इतनी भर नहीं है। जैनेन्द्र ने जिसे मूर्त्त करना कहा है, वह भी अनुभूति की प्रक्रिया से होकर गुजरना नहीं है। बल्कि अक्सर कल्पना के सहारे एक जटिल तर्कजाल को बुनते चलना होता है। इस बुनावट में अनुभूति की ऋजुता न रहकर विचार की पेचीदगी ही अधिक रहती है।

यह बाद की बात है। शुरू के जैनेन्द्र, चिन्तक के बोझ से मुक्त जैनेन्द्र, देश और क्रान्ति की पृष्ठभूमि में, अपने अहं के प्रति अत्यन्त सजग पर कहीं पर अत्यन्त सहज जैनेन्द्र, जब प्रेमचन्द की तुलना में सामने आये, तो वे अधिक आत्मीय प्रतीत हुए। उनकी कहानियों का नायक प्राय: 'मैं का प्रतिरूप', जो जमाने की फिक्र से नहीं अपनी उलझनों से घिरा है। यह उलझन हममें से किसी की भी हो सकती है, पर नितान्त व्यक्तिगत। जैसे वह चुपके से अपनी बात हमसे ही कह रहा हो—एकदम विश्वासी मुद्रा में। प्रेमचन्द की कहानियों की सार्वजनिक मुद्रा की तुलना में जैनेन्द्र की यह एकान्त, अन्तरंग मुद्रा जैसे सहज ही उस समय के एक पाठक वर्ग का विश्वास जीतती-सी लगी। उनकी कहानियों के नायक अनजाने ही पाठक को हमराज जैसे लगने लगे।

बाद में अज्ञेय की कहानियों के मूल में भी व्यक्ति बना रहा पर उनका व्यक्ति ऐसा विशिष्ट था, जिसने अपनी विशिष्टता कभी नहीं खोयी। इसलिए वह पाठक में वह आत्मीय-बोध पैदा नहीं कर सका जो जैनेन्द्र की कहानियों के सहज व्यक्ति ने किया था। राजेन्द्र यादव ने इस 'व्यक्तिगत साधारण' के बाने को प्रेमचन्द, प्रसाद और अज्ञेय की तुलना में बहुत ही 'असाधारण सहज' कहा है। गोकि इस सहजता के पीछे उन्हें 'भोला होने' की जगह 'भोला बनने' की सादगी दिखाई पड़ी। राजेन्द्र यादव को जैनेन्द्र की कहानी एक ऐसे कन्फैशन के समान लगती है जो ''कचहरी में मजिस्ट्रेट के सामने कहीं कुछ तैयारी के साथ किया गया हो। जिसमें अपने को 'घटना' या 'वारदात' से निरपेक्ष रखने की भावना छिपी होती है। वह शायद बहुत ही सधे आदमी का कन्फैशन था जिसमें किसी 'प्लाट' और 'कहानीपन' जैसी चीज का पता नहीं चलता बल्कि उनके न होने का भ्रम ही बना रहता है।'' शायद प्रेमचन्द के प्लाटवाद की तुलना में, जो कहानी का 'कहानीपन' बन चुका था, जैनेन्द्र की कहानियों की इसी विशेषता ने उस समय के पाठक को कायल किया था।

जैनेन्द्र ने कहानी को उसके परम्परागत 'कहानीपन' से हर धरातल पर मुक्त किया। वे मानते थे कि ''सृजन-कर्म के लिये शास्त्रीय बोध की जो निर्भरता है, अच्छी नहीं है, सहायक नहीं है।'' रचना के पूर्व स्वीकृत विधि-विधान को उन्होंने बेखबरी की सीमा तक नकारा : ''मैं कहानी के शिल्प अथवा कि नये-पुराने शिल्प के बारे में बेखबर हूँ और रहना में बाधा पड़ने का

भी डर है। ज्ञान सृजन के काम में अक्सर बाधक हुआ करता है।'' बेखबरी की इसी अदा ने जैनेन्द्र की कहानियों को उन्मुक्तता दी। ऐसी उन्मुक्तता जो अनायास एक सहज-स्वाभाविक मार्ग बनाकर, बड़ी मासूसियत से पूछे : 'अच्छा यह क्या कुछ नया हो गया? आप कहते हैं तो जरूर होगा।' यह सहजता जैनेन्द्र की भाषा और भंगिमा दोनों में ही दिखाई पड़ी। शायद इसलिए और भी कि उनकी तुलना में अज्ञेय की व्यक्ति-केन्द्रित कहानियाँ कहीं अधिक सावधानी से तराशी गयी कला-कृतियों का बोध जगाती थीं। इसी कारण समय के साथ अज्ञेय की कहानियों की बुनावट जटिलतर होती गयी। ठीक वैसे ही जैसे सूक्ष्म सम्वेदनों की सहज कहानियाँ लिखते-लिखते जैनेन्द्र पर विचारक जैनेन्द्र हावी होता गया। कुछ समय तो उनका आग्रह विचार का आधार देकर कहानी बनाने पर रहा—'तत्सत्', 'फाँसी', 'नीलम देश की राजकन्या' जैसी कहानियों में। वैसी इस प्रवृत्ति के बीज उनकी पहली कहानी 'खेल' में ही देखे जा सकते हैं। पर वहाँ कहानीपन पर वैचारिकता हावी नहीं होती। आगे चलकर वे कहानी का ढाँचा विचार की अभिव्यक्ति के लिये खड़ा करने लगे। पहले वे विचार के आगे-पीछे घटनाएँ जुटाया करते थे। बाद में घटनाओं के नाम पर वे फैण्टेसी और रूपक कथाओं का जाल फैलाने लगे। इस हद तक कि 'विज्ञान' और 'अविज्ञान' जैसी कहानियों तक पहुँचकर यह जाल भी विचार को अर्थवत्ता देने में असमर्थ हो गया और कहानी के नाम पर सिर्फ विचार बच रहा। प्रेमचन्द के चौखटे 'प्लाट' के थे, तो जैनेन्द्र की कहानी के चौखटे विचार के हो गये। कहानी की जमीन विचार के नीचे से खिसकती जान पड़ने लगी। यहाँ तक कि जो भाषा-शैली कभी अत्यन्त आत्मीय निकटता का बोध कराती थी, उसमें एक तरह के मैनरिज्म और दोहराव का आभास होने लगा।

जैनेन्द्र की दो कहानियों पर ध्यान दें तो जैनेन्द्र की कहानी कला के विकास की दिशा और स्वरूप का ग्राफ साफ दिखायी पड़ता है। 'बाहुबली' और 'समाप्ति' कहानियों की रचना के बीच सत्रह वर्ष का अन्तराल है। 'बाहुबली' की वैचारिकता उसकी घटनात्मकता को जरा भी अप्रधान नहीं बनाती। कहानी में अनेक घटनाएँ हैं, जिनकी घटनात्मकता कुशल नियोजन के कारण अक्षुण्ण बनी रहती है। इसके ठीक विपरीत 'समाप्ति' में जो घटना है, उसकी घटनात्मकता कहीं कुछ नहीं है। कहानी, कहानी न होकर एक मित्र-मंडली के बीच बहस है। विडम्बना यह है कि इस बहस की जो 'समाप्ति' है, वह पूरी बहस की निरर्थकता (एब्सर्डिटी) को एंटी क्लाइमेक्स के रूप में समाप्त करके छोड़ देती है।

जैनेन्द्र की कहानियों में उत्तरोत्तर इसी प्रवृत्ति का आग्रह बढ़ता गया। कहानी में घटना कुछ न रहे, केवल वह शेष रहे जिसके लिये कहानी लिखी गयी है, यानी विचार, तभी वह अपनी देशकालबद्ध घटनात्मकता को लाँघकर देशकालातीत होगी।

उन्मुक्त और अमर होगी। तभी 'यथार्थता का आबंटन और अवलेप' कम से कम होगा। पर बुनियादी सवाल तो यह है कि अपने समय के यथार्थ को लाँघकर, अमरता साधने वाली यह प्रक्रिया सार्थक कितनी होगी?

जैसे-जैसे जैनेन्द्र रचना-यात्रा तय करते गये उनकी रचनात्मकता पर चिन्तक कब इतना हावी हो गया कि पूर्ववर्ती और परवर्ती जैनेन्द्र के बीच फाँक आ गयी, इसका पूरा अन्दाज शायद उन्हें खुद भी नहीं हुआ। इस हद तक कि उनके पाठकों को शिकायत होने लगी कि वे 'परवर्ती जैनेन्द्र के साथ दो कदम भी नहीं चल पाते।' यह शिकायत पूरी तरह वाजिब है या नहीं, यह अलग बात है। सवाल यह भी है कि सीमा किसकी है। कदम-ताल मिलाकर चलने की जिम्मेदारी दोनों की होती है। पर इस वाक्य से इतना तो जाहिर होता ही है कि जैनेन्द्र एक नहीं दो हैं। शायद कई हैं जिनमें फर्क प्रौढ़-अप्रौढ़ जैनेन्द्र का नहीं है। क्योंकि आवाज की वह अनेक-स्वरीयता तो उन्होंने आरम्भ से ही सिद्ध कर ली थी जिसके सम्मोहन में तब से आज तक एक बड़ा पाठक-वर्ग बँधा है। इस आवाज के प्रभाव का बयान कृष्ण बलदेव वैद ने ऐसे किया है :

''जैनेन्द्र को पढ़ते समय मेरे मन में कई तरह की कैफ़ियतें पैदा होती हैं— विस्मय होता है, मस्ती मिलती है, उत्तेजना उत्पन्न होती है। झुँझलाहट महसूस होती है, आराम मिलता है, उजाला उतरता हुआ दिखाई देता है, अनेक संशयों का उदय और अनेक पूर्वाग्रहों का दमन होता है, ज्ञान में वृद्धि हो न हो, ध्यान बँधा रहता है, सम्मोहन बना रहता है, कभी वे किसी महान पूर्ववर्ती की तरह परिपक्व और सनातन सुनायी देते हैं, कभी किसी प्रयोगरत समकालीन की तरह कच्चे और नूतन। कैफ़ियतें और भी पैदा होती हैं, आनन्द और भी आते हैं। और इन सारी कैफ़ियतों का उत्स, मेरी नजर में, जैनेन्द्र की वह विशिष्ट आवाज है जिसे न जाने कैसे और कहाँ-कहाँ से लेकर ही वे साहित्य-क्षेत्र में आविर्भूत हुए।''

जैनेन्द्र की आवाज की यह विविध-स्वरीयता, तरह-तरह की संयोजनाओं और अनुपात में अनुभव और विचार के संश्लेषण से पैदा हुई है। तरल अनुभूति में सूक्ष्म गहरे दार्शनिक विचार के अनुबेध को, सादगी से व्यक्त करने के प्रयास में जैनेन्द्र, प्रसाद और अज्ञेय जैसे समानधर्मा रचनाकारों से अपनी अलग पहचान कायम करते हैं। पर 'परख' से 'दशार्क' तक की यात्रा में विचारगर्भिता इतनी अधिक होती गयी कि उनके प्रतीक और बिम्ब भी दृक-प्रतीति से अधिक भाव-प्रतीति कराने लगे। इस वैचारिकता ने सम्प्रेषण में कठिनता और मन्द्रता ही पैदा की। 'जयवर्धन' तक पहुँचते-पहुँचते जैनेन्द्र के पाठकों की विशेष रुचि उनके कथा-संसार में नहीं रह जाती। मानवीय-सम्बन्ध वहाँ अवधारणाओं में रिड्यूस हो गये और 'कथा' टुकड़े-टुकड़े निष्प्राण संभाषणों का संग्रह भर होकर कर गयी।

दरअसल 'समय और हम' के बाद की रचनाएँ तो साहित्य नहीं, चिन्तन ही हैं। उन्होंने उन्हें स्वयं भी रचनात्मक साहित्य नहीं कहा। यूँ तो रचनात्मक साहित्य में भी आरम्भ से ही जैनेन्द्र के विचारों का प्रतिफलन होता रहा। उन्हें भले ही अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी कलाकार माना जाता रहा है, पर वस्तुत: उनमें सर्जक की प्रतिभा और सामाजिक की प्रतिभा, परस्पर कुछ ऐसे अभिन्न हो गयी हैं, जैसे सर्जक की मनीषा अपने परिवेश की गतिविधियों से एकाकार हो।

इस प्रसंग में एक ऐसी घटना, जिसका जिक्र स्वयं जैनेन्द्र जी ने ही किया है याद आ रही है। वे बहुत अरसे से लिखने की चाह के बावजूद लिख नहीं पा रहे थे। भीतर एक जड़ता, लिखने की बेचैनी तो थी प्रेरणा नहीं थी। इसी मन:स्थिति में वे एक दिन बाहर निकले और स्वयंसेवकों की टोली में नाम लिखा आये। यह निर्णय लेते ही उनकी कलम चल निकली और रचना का अवरुद्ध स्रोत प्रवाहित हो गया। वे अक्सर कहते भी रहे हैं कि 'मेरा लिखने का निमित्त हमेशा बाहर से ही आता है।' यही उनकी रचना के मूल में निविड़ सामाजिक आग्रह का कारण है।

सामाजिक जीवनानुभूति ने ही उन्हें सर्जक भी बनाया और विचारक भी। वे रचनाकार होने से विचारक होने की दिशा में बढ़े। मानो रचनाकार की भूमिका से वे पूरी तरह सन्तुष्ट न हों। उपन्यास और कहानी का माध्यम उन्हें अपने चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिये जैसे नाकाफी लगता हो। अपने भीतर की दार्शनिक आकांक्षा का दमन करने का प्रयास उन्होंने नहीं किया। यह बात अलग है कि दार्शनिक समस्याओं पर उन्होंने कोई स्वतन्त्र, सुनियोजित, स्वत: सम्पूर्ण ग्रन्थ भी नहीं लिखा। उनका अधिकांश चिन्तन, जिज्ञासा से उठाए गए प्रश्नों के उत्तर के रूप में कलमबन्द किया गया है। स्वभावत: वह ऐसे विचार-खण्डों के रूप में सामने आया है जिनमें न निश्चित तारतमिकता है, न सावयव सम्बन्ध। पर इससे उसका महत्व कम नहीं होता। उनके चिन्तन की शक्ति इस बात में है कि वह किताबी ज्ञान पर आधारित नहीं है, अनुभव-प्रेरित है। वे शास्त्रज्ञ की तरह नहीं सामाजिक की तरह बोलते हैं। एक ऐसा सामाजिक जिसने जीवन की खुली किताब से कहीं अधिक सीखा है। वे तर्क-कर्कश नहीं अनुभव-समृद्ध भाषा में बोलते हैं जिसकी अनगढ़ता की अपनी मोहकता है। यह सहज विवेक से सस्वर चिन्तन की लय में बोलना है। इसलिए वे न चमत्कृत करते हैं न आतंकित। हठाग्रही तो वे हैं ही नहीं। इसलिए उनके स्वर में पांडित्य का पाखंड नहीं आत्मीयता का आह्वान सुनायी पड़ता है। 'मेरा ऐसा मानना है' उनका प्रिय वाक्य है, जिसका प्रयोग वे अपनी बात कहने से पहले कुछ इस भंगिमा से करते हैं, मानों जोड़ना चाहते हों कि 'आप मानने न मानने के लिए स्वतन्त्र हैं।'

चिन्तक जैनेन्द्र ने अपनी पहचान भारतीय *परम्परा के व्याख्याकार* के रूप में

बनायी। उनके विचारों की जड़ें भारतीय मनीषा की धरती में है। वे ठेठ *जातीय विचारधारा* के प्रतिनिधि हैं। पर वे परम्परा के अन्ध भक्त नहीं हैं। न ही वे भारतीय सभ्यता को ऐसी एकाश्म अचल सत्ता के रूप में देखते हैं जिसने दूसरी छोटी-छोटी सत्ताओं को अपने भीतर कर निःशेष कर दिया हो। वे सांस्कृतिक संविलयन की हिमायत नहीं करते। भारत के विराट ऐतिहासिक-सांस्कृतिक स्वरूप के निर्माण में उन्होंने विविधता का ऐसा समाकलन स्वीकारा है जिसमें एक प्रबल मुख्य धारा अन्य धाराओं को निगलकर अपना पोषण नहीं करती।

वे न भारतीय 'अस्मिता' से मुग्ध है, न पश्चिमी सोच के प्रति असहिष्णु। वे बौद्धिकों के उस वर्ग से भी अलग खड़े हैं, जो भारतीयता की दुहाई देते हुए भीतर-भीतर पश्चिम के बौद्धिक वर्चस्व को मान्यता देते हैं। वे परम्परा के ऐसे भक्त भी नहीं हैं कि उससे जुड़े मूल्यों की विसंगतियों को न पहचान सकें।

जैनेन्द्र इस अर्थ में परिवर्तनकामी विचारक हैं कि वे लगातार विवेक को रूढ़ियों के ऊपर तरजीह देते चलते हैं। सामाजिक जड़ता को सामाजिक सक्रियता में बदलने की उनकी व्यग्रता, स्त्री के प्रति उनके दृष्टिकोण में सबसे अधिक दिखायी पड़ती है। जो उन्हें सही नहीं लगता वे बराबर उसके विकल्प की तलाश करते हैं। ऐसा करते हुए किसी प्रकार की पक्षधरता या हठाग्रह उन्हें नहीं घेरता। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के प्रति यदि वे श्रद्धावान हैं, तो फ्रायड और मार्क्स के प्रति उतने ही ग्रहणशील। यह खुलापन उन्हें आधुनिक भी बनाता है और अपने समय से आगे भी ले जाता है। इस अर्थ में जैनेन्द्र ठेठ *अपने समय में स्थित चिन्तक* हैं कि समकालीन समस्याओं के निदान की तलाश वे न पुरानी पोथियों में करते हैं न युटोपियाओं की भविष्योन्मुखी रंगीन 'फैंटेसी' में। समाज-पीड़ित वर्गों के प्रति वे संवेदनशील हैं और औद्योगिक और उत्तर औद्योगिक सभ्यता की विसंगतियों से बाखबर।

जैनेन्द्र के रचनात्मक लेखन की तरह उनके चिन्तन की भी कोई सपाट, सरल रूपरेखा नहीं बनायी जा सकती। उसमें भी एक द्वैतमूलक प्रश्नशीलता, गुत्थियाँ, परम्परा से जुड़े रहकर भी उससे आगे बढ़कर कुछ देखने-पाने की बेचैनी ने ही उनके व्यक्तित्व को कुछ अलग, कुछ विशिष्ट बनाया है। इस मानसिकता को प्रसाद के बारे में जैनेन्द्र की राय के आधार पर समझा जा सकता है। प्रसाद में उन्हें जो पसन्द आता था उसके बारे में जैनेन्द्र का कहना था कि 'प्रसाद ने हर मत-मान्यता को, सामाजिक हो कि नैतिक हो, धार्मिक हो कि राजनैतिक, प्रश्नवाचक के साथ लिया।' 'कंकाल' इसी से इतना भयंकर हो उठा है—शल्य क्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित को बाहर ला बिखेरने में प्रसाद को हिचक नहीं है।

जैनेन्द्र के साहित्य का मूल स्वर भी तो प्रश्नवाचकता ही है। जिसके कारण

उनकी रचनाओं में बराबर आस्था और संशय के सृजनात्मक सम्बन्ध की ''अबूझ और असूझ'' लीला दिखायी पड़ती है। 'नैतिकता' और 'प्रेम' तक ही बात को सीमित करके देखें तो जैनेन्द्र के भीतर सहज व्याप्त द्वन्द्व पाठक को भूलभुलैया में भरमाने लगता है। नैतिकता को लेकर उनका असमंजस पोथीबन्द नैतिकता और उसके व्यावहारिक रूप के बीच है। वे नैतिकता को स्वीकार करते हैं पर उसकी प्रचलित धारणा से उनकी सहमति कम है। वे नैतिकता को देशकाल निरपेक्ष अवधारणा नहीं मानते: ''नैतिकता अपने आप में कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। वह नैतिकता बदलती रहती है और देशकाल पर निर्भर करती है।'' (परिप्रेक्ष, पृ. 90) अपने असमंजस के बारे में उनका कहना है: ''यद्यपि नैतिक शब्द मुझे प्रिय है और नैतिकता का मैं कायल हूँ, पर बाहर दुनिया में नीति की रेखा कहाँ और कैसे खींची जाये कि नैतिक एक तरफ हो जाये और अनैतिक दूसरी तरफ रह जाये, *यह मेरी समझ नहीं आता।* और शायद नैतिक शब्द के प्रयोग का आशय यही है कि वैसी रेखा हो और गहरी हो।'' (परिप्रेक्ष, पृ. 89)

'अनीति' और 'सुनीति' के प्रभाव-भेद के बारे में भी उनकी धारणा स्पष्ट है और यह भी कि अगर इन दोनों के बारे में उनके मन में कोई भ्रम पैदा भी होगा तो ''अनुभव से वह दुनिया मिट जाएगी और नीति-अनीति का भेद मुझमें जागकर स्पष्ट हो जाएगा।'' (वही, पृ. 90)। निष्कर्ष यह कि असमंजस से वे देश-काल के सन्दर्भ में अनुभव के साक्ष्य पर उबरते हैं। नैतिकता के सवाल को लेकर जहाँ द्वन्द्व की सम्भावना हो सकती थी वहाँ जैनेन्द्र ने कुछ ऐसे हल निकाले हैं, जिनसे सिद्धान्त के स्तर पर सहमति भले हो जाए, पर उनकी व्यवहार्यता प्रश्नातीत हो, यह जरूरी नहीं। ऐसा सबसे महत्वपूर्ण सवाल यौन-सम्बन्धों को लेकर उनके स्त्री-पात्रों की सोच के बारे में उठता है। आश्चर्य की बात है कि उनकी स्त्रियों के लिए नैतिकता का प्रश्न कोई संकट पैदा नहीं करता। वे प्रेम में मन को प्रमुखता देती हैं, शरीर को नहीं। मृणाल का चरित्र इस दृष्टि से अपवाद है। उनके साहित्य में, काम और प्रेम की व्याप्ति किसी न किसी रूप में लगभग हर जगह वर्तमान है। काम उन्हें वही स्वीकार्य है, जिसका आधार प्रेम है, जो निरा भोग नहीं है और भोग उन्हें वही समर्थन योग्य लगता है जिसमें विराग भाव हो।

उनकी सबसे बड़ी चिन्ता सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने की है। पर जहाँ द्वन्द्व समाज-व्यवस्था की जड़ यथास्थिति को बनाए रखने के लिए, व्यक्ति के टूटने के बीच हो, वहाँ जैनेन्द्र समाज की तत्कालीन संरचना को ध्वस्त करने की हिमायत करते दिखायी पड़ते हैं। पर ऐसी व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का समर्थन उनके यहाँ नहीं होता जो स्वेच्छाचार की हदें छूने लगे। जिसकी जड़ें व्यक्ति की समाज-निरपेक्ष

आकांक्षाओं से पोषित हों। इसीलिए वे यथाप्रसंग कभी व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते दिखायी पड़ते हैं, जैसे 'सुखदा' में और कभी समाज की जड़ता पर जैसे 'त्यागपत्र' में। जब समाज व्यक्ति को विवश कर दे, विरोध करना उसके लिए जरूरी हो जाये, तो उस स्थिति में समाज की अवज्ञा आपद्धर्म के रूप में होगी पर 'सविनय': "अवज्ञा धर्म नहीं है और यदि किसी विषम परिस्थिति में अवज्ञा करनी भी पड़े, अर्थात् वैसी अवज्ञा धर्म भी हो जाये, तो भी यह शर्त है कि वह सविनय ही होगी।" (प्रश्न और प्रश्न, पृ. 55)। व्यक्ति का, कोई भी निर्णय समाज-विरोधी नहीं होना चाहिए भले ही वह निर्णय उसके अपने टूटने की कीमत पर किया गया हो। यही, 'त्यागपत्र' की मृणाल का, समाज की मंगलाकांक्षा में खुद टूटने का निर्णय, उसे असामान्य, सर्वथा विलक्षण चरित्र बनाता है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में सामाजिक-व्यवस्था को बनाए रखने के प्रबल आग्रह के बावजूद जब नैतिकता का सवाल आता है तो व्यक्तिगत नैतिकता निर्णायक होती है। यदि व्यक्तिगत नैतिकता के कारण सामाजिक नैतिकता या सामाजिक मूल्यों की क्षति होती है तो जैनेन्द्र उससे विशेष चिन्तित नहीं होते। क्योंकि उनके अनुसार इस सन्दर्भ में न कोई बना-बनाया नियम कारगर होता है, न निश्चित रेखाएँ खींची जा सकती हैं: "यह प्रश्न सामाजिकता की ओर से निर्णीत होने वाला नहीं है। प्रश्न यह सामाजिक नहीं आत्मिक है, और इसका हल भी व्यक्ति अपने लिए करता है।" (काम, प्रेम और परिवार, पृ. 56)।

इसी दृष्टिकोण के कारण यह सम्भव हुआ कि जहाँ समाज ने स्त्रियों को उनके बुनियादी अधिकारों से वंचित करने की कोशिश की, वहीं जैनेन्द्र के स्त्री-पात्रों ने सामाजिक मर्यादा की परवाह न करते हुए उसे धता बता दी। स्त्रियों के अधिकारों, उनकी अस्मिता और उनके संघर्ष की जो लड़ाई आज स्त्री-लेखन के माध्यम से लड़ी जा रही है, उसकी जमीन तैयार करने में जैनेन्द्र का अप्रतिम योगदान है, विशेषकर इसलिए कि वे इस लड़ाई को स्त्री-भाव से, उसके पक्ष में खड़े होकर लड़ते रहे। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि वे इसे ठोस भारतीय जमीन पर उसके समाज की वास्तविकताओं के सन्दर्भ में लड़ते हैं। न उनके पास पश्चिम के नारीवादी आन्दोलन से उधार ली गयी शब्दावली का सहारा है न विद्रोह की अतिरंजित मुद्राएँ। उनके विद्रोह का अपने समय के सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य के साथ पूरा तालमेल है। वह भारतीयता को परिभाषित करने की बेकली का समय है। 'जयवर्धन' में जैनेन्द्र भी इस समस्या से जूझे हैं। वह जीवन के आधारभूत मूल्यों को रेखांकित करने, अपनी निजता को पाने, हर स्तर पर मुक्ति के लिए संघर्ष करने का दौर है। एक ऐसा दौर जो अपरिग्रह पर बल देता है, व्यक्ति से आत्मार्पण की अपेक्षा करता है। जो करुणा और

व्यथा का महत्त्व पहचानता है। जिसे ईसा और बुद्ध की प्रासंगिकता का बोध है। उस युग में आदर्शों की ओर बढ़ने की ललक भी है और उन आदर्शों को पाने की प्रक्रिया में सम्भावित तनावों को झेलने की धीरता भी।

यही युग-बोध जैनेन्द्र में वह माद्दा पैदा करता है जिसके कारण 'त्यागपत्र' और 'दशार्क' जैसे उपन्यासों में सब कुछ हार जाने की तत्परता दिखायी पड़ती है। इसी नज़रिये के कारण उन्होंने गाँधी को कठोर नैतिक शुद्धतावादी के रूप में नहीं, सर्वाश्लेषी और आत्म-बलिदानी प्रेम के प्रतिनिधि के रूप में देखा।

कुल मिलाकर जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में जो भी सवाल उठाए, जिन सम्भावित निदानों की तरफ इशारा किया वे भारतीय समाज के ही, भारतीय परम्परा के भीतर उठने वाले सवाल थे। उन्होंने उसी संकट को सामने रखा जो भारतीय ढाँचे के भीतर ही पैदा हो सकता था। उनके कुछ पाठकों को उनके कथा-साहित्य का यथार्थ वास्तविक कम मानसिक अधिक लगा, कुछ को अविश्वसनीय। दरअसल वे उस जगह खड़े हैं जो वास्तविक और मानसिक के बीच की धरती है जिससे कहीं भी आया जाया जा सकता है। यथार्थ और रचना के सम्बन्धों पर जैनेन्द्र ने टिप्पणी की थी, ''जो हो रहा है और जो हम चाहते हैं इन दोनों के मध्य व्यवधान रहता है। लेखन का सारा व्यापार इस व्यवधान में चलता है। यह कैसे हो सकता है कि यथार्थ में मैं सौ फीसदी सिद्ध अनुभव करूँ। कुछ है जो यथार्थ चित्रण से परे है—उसका संकेत साहित्य में अनिवार्य है।'' कभी-कभी जैनेन्द्र एक नहीं दो दिखाई पड़ते हैं यानी समय-प्रवाह में वे अपनी जमीन बदल लेते हैं। इस बदलाव को लक्ष्य करते हुए किसी समय प्रमोद वर्मा ने कहा था : ''कथानुभव की सघनता, जटिलता और एलुसिवनेस के कारण विशिष्ट जैनेन्द्र भी दो हैं। पूर्ववर्ती जैनेन्द्र मुझे इनोवेटर और परवर्ती मास्टर लगते हैं।'' देखा जाए तो जैनेन्द्र की एलुसिवनेस ने ही उन्हें दुर्ग्राह्य भी बनाया और अननुकरणीय भी। वे परवर्ती रचनाकारों के लिए मॉडल नहीं हो सके। यह बात उनकी विषयवस्तु, उसके ट्रीटमेंट और उससे भी ज्यादा उनकी गद्य-शैली के बारे में सही है।

जैनेन्द्र का गद्य निस्संदेह बहुत अर्थवान गद्य है। श्रीकान्त वर्मा ने सही लक्ष्य किया था : ''जैनेन्द्र ने एक ऐसे गद्य की शुरुआत की जिसकी सम्भावनाएँ ही बहुत सीमित हैं। वो एक या दो जैनेन्द्र ही पैदा कर सकता है। प्रेमचन्द और भी कई हो सकते हैं—छोटे-छोटे प्रेमचन्द, लेकिन जैनेन्द्र कुमार एक ही, बड़ा जैनेन्द्र कुमार होगा।'' (जैनेन्द्र की आवाज, पृ. 39)। जैनेन्द्र के अननुकरणीय होने के पीछे उनकी गद्य-शैली की बनावट का बहुत बड़ा हाथ है। जैनेन्द्र यथार्थ से रू-ब-रू होकर वहाँ टिक नहीं रहते उसके पार जाते हैं। यथार्थ उन्हें चिन्तन के लिए प्रेरित करता है। इसलिए उनकी

भाषा, कर्म की नहीं चिन्तन की भाषा होती है—सस्वर चिन्तन की। जिसकी अपनी लय होती है—एक साथ सोचने और बोलने की लय। ब्यौरों पर उनका आग्रह नहीं रहता इसलिए विस्तार करने की जरूरत नहीं पड़ती। कम-से-कम शब्दों में बहुत कुछ कहने की सामर्थ्य उनके पास है—बिना शब्दों की फिजूलखर्ची किए।

यह विशेषता उनके चिन्तनपरक गद्य की नहीं, उनके रचनात्मक साहित्य की भी है। इसका प्रमाण है उनके आरम्भिक उपन्यासों का आकार। उन्होंने कथ्य के विस्तार को जितने कम पृष्ठों में समेट लिया है वह आश्चर्य की बात है। श्रीकांत वर्मा ने सही कहा था कि ''जैनेन्द्र कुमार ने हिन्दी को यह बताया कि मौन, कम-से-कम शब्द, थोड़े से थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहना भी लेखक को आना चाहिए।'' प्राय: भाषा के प्रति अतिरिक्त सजगता या तो कवियों में या फिर उन रचनाकारों में दिखायी पड़ती है जिनके गद्य में कविता के गुण हों। जैनेन्द्र उन बिरले कथाकारों में है जो अपनी कथा-भाषा की अलग पहचान बनाने के बारे में आरम्भ से सजग थे। अपने पहले उपन्यास 'परख' की प्रस्तावना में ही उन्होंने भाषा को हर तरह के 'कोड' और शिकंजे से मुक्त करने की बात कही थी। शब्द प्रयोग में तो उन्होंने आरम्भ से ही उर्दू और अँग्रेजी से परहेज नहीं बरता। जो वाक् लय उन्होंने बनायी थी, उसके बारे में भी उनका कहना था : ''कहीं बारीकी से काम लिया गया है, कहीं वार्तालाप से, कहीं हल्की धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से। मैं समझता हूँ, यह सब कुछ *चित्र* में खूबी और असलियत लाने के लिए जरूरी हो पड़ता है। यह कम-ज्यादे रंग की शोभा रंग-बिरंगे-पन में और स्वाद देती है।'' यह उद्धरण उनकी आरम्भिक रचनाओं की भाषिक बनावट की व्याख्या तो करता ही है, यह भी स्पष्ट करता है कि वे कितने अवधानपूर्वक यह बात पैदा करते थे। आरम्भ में उनकी भाषा में जो सहजता और नाटकीयता है वह आगे चलकर कम हो गयी है। परख को उन्होंने लगभग दृश्यों में बाँधा है। वे सुनाते नहीं *दिखाते* हैं:

''आइए पढ़ाना *देखें*

लड़की तन-मन से पढ़ रही है, पर मास्टर जी तन-मन से नहीं पढ़ा रहे हैं। वह जाने क्या देखते हैं, और फिर क्या सोचते हैं।'' 'परख' तो संवादों में कुछ ऐसे बँधी है कि बड़ी सहजता से उसे 'पटकथा' में रूपान्तरित किया जा सकता है।

सफल गद्य की जैनेन्द्र की अपनी अवधारणा पर नज़र डालना दिलचस्प होगा। ''सफलता के लिए हर गद्य को वाग्मिता से *सरलता* और बनावट से *सहजता* की ओर बढ़ना होता है। *ज्ञान से जीवन की ओर,* या कहिए कि पाठशाला के अनुशासन से घर के *घरेलूपन* की ओर उसे आना होता है।'' इस मान्यता से असहमति की कोई गुंजाइश नहीं है। पर यह बात की बात है। शुरुआती दौर की बात है। उन प्रसंगों की यह सटीक

व्याख्या करती है जहाँ स्थितियाँ सहज हैं। वहीं यह घरेलूपन आत्मीय और सार्थक मालूम होता है। पर धीरे-धीरे उनकी भाषा पर तर्क और चिन्तन का दबाव बढ़ता जाता है और सहजता सिर्फ लहजे में बच रहती है और गद्य में सर्जनात्मक संवाद की जगह चिन्तन दर्प झलकने लगता है। वह तर्कशील और विवादी होता जाता है—विषय के दबाव से।

जैनेन्द्र में भाषा के अनेक रूप हैं। उसे किन्हीं समीकरणों में बाँधकर समझना-समझाना आसान न होगा। अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता को उन्होंने आरम्भ में ही साध लिया था। —बड़े अबोध से लहजे में। इन आरम्भिक कथाकृतियों में ही अलग-अलग प्रसंगों में पाठक को एक नई भाषिक बनावट जो एक खास तरह का प्रभाव छोड़ती है, एक जादुई सा आकर्षण बाँधने लगता है। हिन्दी में यह बनावट पहले नहीं थी। कहानी और उपन्यास का वातावरण एक नए भाषिक विन्यास में सामने आता है। आरम्भिक कथा-कृतियों में उनकी भाषा की अलग ढँग की सहजता और मासूमियत गहरा प्रभाव छोड़ती है। धीरे-धीरे यह उनका अभ्यास हो जाती है। एक ऐसा कौशल, जो छिपाए नहीं बनता। बाद में यही भाषा वैचारिक ऊहापोह को अभिव्यक्त करने का साधन बनती है।

उनकी आरम्भिक कथा-भाषा में एक तरह की ऐन्द्रिकता है, तरल संवेदना है, यथावश्यक भावोच्छ्वास भी है, जो कहीं-कहीं आलंकारिक प्रतीतियों का रूप भी ग्रहण कर लेता है। सतर्क पर्यवेक्षण के सहारे रूप और गति को मूर्त रूप देने में भी वह समर्थ है, और जहाँ अपेक्षा हो वहाँ वह संकेत-गर्भित भी हो जाती है। यह इसलिए हो पाता है कि संवेदनात्मक स्तर पर यथार्थ जीवन के साथ निकटता और दूरी की क्रीड़ा वहाँ चलती रहती है। जैसे-जैसे उनकी भाषा पर विचार और तर्क का दबाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे गद्य की संप्रेषणीयता और विश्वसनीयता का क्षरण होता जाता है। उनके विचार हमेशा भाषा की चमक और स्फूर्ति देते नहीं प्रतीत होते। उनकी कथा-भाषा में भी शब्दाडम्बर बढ़ने लगता है और वह कसाव और शब्दों की मितव्ययता भी अनुपस्थित होने लगती है जो उसका मुख्य आकर्षण हुआ करती थी।

'त्यागपत्र ' और 'अनाम स्वामी' और 'जयवर्धन' की भाषा की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'त्यागपत्र' की कथा में यथार्थ कभी ओझल या गौण नहीं होता। व्यक्ति का अन्तर्मन बराबर बाहरी यथार्थ से टकराता रहता है। इस संघर्ष में उसके क्षत व्यक्तित्व से जिस पीड़ा या वेदना के दर्शन का उद्‌गम होता है, वह उस दर्शन का विचार मात्र नहीं, अनुभव-प्रसूत विचार है। यह बात 'अनामस्वामी' और 'जयवर्धन' पर घटित नहीं होती। इसीलिए उनकी भाषा मानवीय यथार्थ को ठीक वैसे ही मूर्त्त आकार नहीं दे पाती। जिन कहानियों में परिचित यथार्थ अपने मार्मिक रूप में

प्रकट होता है। जहाँ वे भाषा का भँवरजाल बनाने की कोशिश नहीं करते, जिन कहानियों में परिचित यथार्थ को सांकेतिक या अपरिचित यथार्थ बनाने या रहस्य बुनने की कोशिश नहीं की गयी है—'जाह्नवी' और 'पत्नी' जैसी कहानियों में, वहाँ भाषिक बनत भी सहज विश्वसनीय, और प्रभावी बनी रहती है—सहज संप्रेषणीय, यथार्थ से पाठक के सम्बन्ध को प्रगाढ़ बनाती हुई।

बाद में जब जैनेन्द्र 'प्रेम', 'ब्रह्मचर्य' और 'काम विज्ञान' जैसे विषयों का विवेचन करते-करते उन्हें दुर्बोध और रहस्यमय बनाने लगते हैं तो अनुभव का क्षरण होता है और वह सर्जनात्मक विशिष्टता भी लुप्त होने लगती है जो उनकी कृतियों का प्राण थी। विषय का विवेचन करते हुए देह में देहोत्तर और लोक में लोकोत्तर की साधना करने के प्रयास में, भाषा में भी भाषा से परे जाना जैसे उनकी मजबूरी हो जाती है। जहाँ-जहाँ वे लगभग विशुद्ध विचार की ज़मीन पर बोलते हैं, वहीं ऐसा होता है। वरना उनकी उत्तरकालीन कथा-कृतियों में भी ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जहाँ सूक्ष्म गहन विचार तरल अनुभूति में लिपटकर बड़ी सादगी से, सूत्रमय शैली में अभिव्यक्ति पाते हैं। विचार और अनुभूति का मेल तो दूसरे कथाकारों में भी है, पर इस मेल को सादगी और सहजता से, लगभग सूत्रमय शैली में व्यक्त कर पाना जैनेन्द्र के बस की ही बात थी।

जैनेन्द्र और बहुत सी विशिष्टताओं के साथ, अपनी गद्य-लय, और भाषा की बनत के लिए भी याद रखे जाएँगे, जो सिर्फ उनकी थी, इतनी निजी कि उसका अनुकरण करना बाद में सम्भव न हो सका। 'दशार्क' के फ्लैप पर लिखे इस वाक्य की कि, ''हिन्दी के पास दूसरा जैनेन्द्र या जैनेन्द्र का विकल्प कोई नहीं है''—व्यंजनाएँ बहुत दूरगामी साबित होंगी इसमें सन्देह नहीं।

—निर्मला जैन

अनुक्रम

परख

दो शब्द

इस किताब के बारे में कुछ शब्द कहने हैं, खुद किताब से शायद ये शब्द ज्यादा कीमती हों, इसलिए ज्यादा सतर्क होकर और ज्यादा निश्चय से मैं उन्हें कहूँगा।

मैंने इसमें काफी स्वतन्त्रता से काम लिया है। पर, विश्वास है, उसका दुरुपयोग नहीं किया। जो दुरुपयोग नहीं करता उसके हाथ में मैं ज्यादा-से-ज्यादा स्वतन्त्रता देने से नहीं डरता। जो जानता है, स्वतन्त्रता बड़ी कीमती चीज है, उसका अपव्यय और उसका कदर्य उपयोग करना मानो उसकी हत्या करना है, वह स्वतन्त्रता अपनाएगा तो उसे कोई नहीं टोक सकेगा। मैं यही कहता हूँ।

क्या कहूँ, और कैसे कहूँ—इन दोनों बातों में मैंने किसी नियम को सामने नहीं रखा है। हाँ, लेखक के दायित्व को और स्वतन्त्रता के मूल्य को प्रत्येक क्षण सामने रखा है। मैंने सदा ध्यान रखा है, जो दूँ उसमें अपने को धोखा न दूँ, और दुनिया को धोखा न दूँ। लेखक का काम बड़ी जोखिम का है। मैं समझता हूँ, इस किताब में मैं उसे कहीं नहीं भूला हूँ।

न भाषा का शिकंजा है, न भाव का। दोनों किसी कोड के नियम में बँधकर नहीं रह सकते। जिसे बढ़ाना है, वैसी कोई भी चीज शिकंजे में कसी नहीं रह सकती। शिकंजे में कस दोगे तो वह नहीं बढ़ेगी, लुंज रह जाएगी। हम उसी को सुन्दरता मानने लग जाएँ तो बात दूसरी, पर दुनिया की स्पर्धा और दौड़ में वह कहीं की नहीं रह सकती, जैसे चीनी स्त्रियों के पैर। हिन्दी भाषा-भाषियों और भाषा-लेखकों को यह सत्य, पूरे हर्ष से और बिना ईर्ष्या के मान लेना और अपना लेना चाहिए। भाषा का और दुनिया का हित इसी में है।

उपन्यास में जैसी दुनिया है, वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया

का कुछ उठा हुआ उन्नत, कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं, जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है। काम से मतलब, वह दुनिया को आगे बढ़ाने और बढ़ने में जरा मदद नहीं देता। क्योंकि न वह इतिहास होता है, न उपन्यास ही। इतिहास का अपना मूल्य है। वह विश्व की प्रगति के मार्ग का नक्शा हमारे सामने रखता है। इसी तरह साहित्य के हर 'प्रकार' का अपना मूल्य है। उपन्यास का काम है, कुछ आगे की, भविष्य की सम्भावनाओं की जरा झाँकी दिखाना और जो कुछ अब है, उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना। उपन्यास एक नये, अजीब ही ढंग से रंगे और उपादेय जीवन का चित्र हमारे सामने रखता है। जीवन के साधारण कृत्य और उलझी गुत्थियों को सुलझाकर और खोल-खोलकर रख देता है। उपन्यास, इस तरह, सत्य में स्वप्न का पुट देकर, वास्तव में कल्पना मिलाकर, व्यवहार से आदर्श का साम्य और सामंजस्य स्थापित कर, और वर्तमान पर भविष्य का रंग चढ़ाकर जीवन का वह रूप पेश करता है जो जीवन से मिलता-जुलता है, फिर भी अनोखा है, जिससे मनोरंजन भी प्राप्त होता है और शिक्षा भी, और जिससे हठात एक नयी चीज हृदय में बैठ जाती है और हम जरा आगे बढ़ जाते हैं। हमें मालूम भी नहीं होता; पर एक संस्कार, एक नयी बात धीरे-धीरे उगना आरम्भ हो जाती है। वह शिक्षा और वह नयी चीज अमुक शब्दों और वाक्यों में नहीं होती। उपदेशात्मक नहीं होती, बहुत अधिक प्रकट और विवेचन-गम्य नहीं होती, और वह बहुत कम विश्लेषण और मस्तिष्क की पकड़ में आ पाती है। चित्र में भाव की तरह वह सारी कृति में रमी रहती है। मस्तिष्क की विवेचना को पार कर हृदय की अनुभूति में सीधी जाकर चुभती है कि चाहे मस्तिष्क बौखलाया ही रह जाए, हृदय हिल जाता है। मस्तिष्क उसका उद्देश्य ढूँढ़ने और पकड़ने में ही उलझा रह जाता है, उधर व्यक्ति को कुछ क्षण की तन्मयता, एक आनन्द, रस, एक शक्ति, एक प्रकार की आत्मानुभूति प्राप्त हो चुकी होती है। जो तीर की तरह अन्त तक जा लगे, बुद्धि के पटल और जाल को भेद कर मर्म में घुस जाए और हलचल उपस्थित कर दे, वह विद्वान चाहे कितना ही उसे पहेली कहें, विद्वत्ता उसका मतलब (What it means) समझने में कितनी ही अकृतकार्य रहे, और वहाँ उद्देश्य का कितना ही अभाव दिखे, वह सच्ची चीज है। उपादेय है, और वह जीने और जिलाने के लिए आयी है। वह कला है। अर्थ-अर्थी जगत् अपनी 'उद्देश्य-पूर्णता' की

परिभाषा के घेरे में उसकी उपयोगिता को बाँध पाए, इसमें अचरज नहीं; प्रत्युत यह तो बिलकुल स्वाभाविक और सम्भवनीय है। पर इससे जगत को चिढ़ना न चाहिए, न हठात उस कला को निर्वासित और संकुचित करने की कोशिश करनी चाहिए। इससे उसकी उपयोगिता न कम वेगवती होती है, न कम मूल्यवती और न ही कम आदरणीय।

कलाविदों और सम्पादक-कोविदों की छानबीन के लिए यह शब्द जरूरी समझकर और झिझकते मन से उनकी सेवा में अर्पित किये जा रहे हैं।

मैंने जगह-जगह कहानी के तौर की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है, और मैं समझता हूँ, पाठक के लिए यह थोड़ा आयास वांछनीय होता है, अच्छा ही लगता है।

कहीं एक साधारण भाव के वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा-सा रिक्त (Gap) छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम किया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से। मैं समझता हूँ, यह सब कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिए जरूरी हो पड़ता है। यह कम-ज्यादा रंग की शोभा रंग-बिरंगेपन में और स्वाद देती है।

एक और भी बात है। सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ यह नहीं कर पाया हूँ, उसी स्थल पर, समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा-ही-अच्छा है। न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम ही और पशु से ऊपर ही। इस तरह किसे अपनी सहानुभूति देने से इनकार कर दिया जाए?

पाठकों से एक विनय है। मुझे भी वह अपनी सहानुभूति देते रुकें नहीं। सफल हूँ तो, असफल हूँ तो, उनकी सहानुभूति मुझे चाहिए ही। क्योंकि मैं जानता हूँ, मैं क्या हूँ।

—जैनेन्द्र कुमार

पहाड़ी धीरज, दिल्ली

19.10.29

यह 'परख' कोई साठ बरस पहले लिखी गयी थी। प्रकाशन पर एक विद्वान ने पुस्तक की प्रशंसा की, पर लिखा कि यह भाषा हिन्दी नहीं है। कारण, लेखक की मातृभाषा हिन्दी नहीं है।

तो कृपया मेरी क्या मातृभाषा है ? मगर हिन्दी भाषा की यही विशेषता है। विद्वज्जनोचित ही वह नहीं रहेगी, उसे पूरे देश के, उसके जन-सामान्य के प्रति अधिकाधिक खुलते जाना है। उसमें नये-नये प्रयोग होंगे। नये रंग खिलेंगे, नये निखार आएँगे। उसके विकास में समूचे राष्ट्र का योग होगा; पढ़-अपढ़ का ही नहीं, इतर भाषा-भाषियों का भी। अमुक क्षेत्र के स्वत्व के नीचे सिमटी वह नहीं रहेगी।

साहित्य के इतिहास की दृष्टि से मुझे हक नहीं आता कि उससे मैं अब किसी तरह की स्वतन्त्रता लूँ। पर विद्यार्थियों के समक्ष उसे होना है, पाठ्य के रूप में। इससे सावधानी के तौर पर जहाँ-तहाँ मैंने वस्त्र को तनिक सँवार दिया है। अतिशयता को कहीं मध्यम हो जाने दिया है। पर सब ऐसे कि 'परख' रही वही की वही है।

जैनेन्द्र कुमार

29.7.96

1

वकालत पास तो की, पर शुरू न की। इसके दो कारण हुए। बी.ए. पास करने के बाद टाल्स्टाय, रस्किन, गाँधी या जाने किसका एक विचार-स्फुलिंग इनके जवानी के तेज खून में पड़ गया था। उस वक्त तो सामने एल.एल.बी. की पढ़ाई आ गयी। उसे पढ़ने और पास करने की फिक्र में लग जाना पड़ा। इससे कोई खास फल दिखायी न दिया। पर वकालत का इम्तहान देकर, शहर के कोलाहल और व्यस्तता से दूर, अपने गाँव में जब आये और जीवन क्षेत्र में कदम रखने की बातें सोचने लगे, तो वह स्फुलिंग भी चेता। अब तक भीतर-ही-भीतर वह इनके खून में अपना जहर काफी फैलाता रहा था। वक्त आया तो अपनी गर्मी से इन्हें दहका दिया। सोचा—वकालत में क्या है ? अपने देश का सत्यानाश है, और आत्मा का सत्यानाश है।

एक दूसरी बात और हो गयी जिसने इनके विचार पर मोहर का काम दिया। गाँव में इनकी थोड़ी जमींदारी थी, प्रतिष्ठा भी थी। इनकी सहृदयता से भी आसपास के लोग परिचित थे। अपने जी की सुनाने इनके पास आ जाया करते थे। एक दिन इन्होंने ऐसी बात सुनी कि तैश में आ गये और इन्हें एक जोखम का कर्तव्य सामने दिखाई देने लगा।

मुंशी होशियार बहादुर जिले के नामी-गिरामी वकील थे। आमदनी खूब थी। दबदबा भी खूब था। एक मुवक्किल ने आकर इनकी बदनीयती का हाल सुनाया।

फौजदारी का मुकद्दमा था। मुवक्किल बड़ी आफत में था। मुंशी जी ने आस बँधायी, ढाढस दिलाया और मेहनताना कस कर लिया। पीछे कहीं याद न रहे इससे मेहनताना पेशगी ही दे देना अच्छा होता है। कुल का कुल पेशगी दे दिया गया।

पर वकील साहब तारीख पर गैरहाजिर थे। तारीखें दो बदलीं, तीन बदलीं, पर वकील साहब को किसी पर मौजूद होने की फुर्सत न मिल सकी। आखिर एक तारीख और दी गयी। अब के वकील साहब जरूर पहुँचते, पर क्या किया जाए, एक पार्टी आ गयी। पार्टी में शरीक न हों तो कैसे हो।

वह तो खैर हुई कि मुवक्किल ने जाने क्या सोचकर एक और वकील कर लिया था, नहीं तो न जाने क्या होता।

जब मुवक्किल गिड़गिड़ाता वकील साहब की कोठी पर पहुँचा तो उसे निकलवा

दिया गया। कुछ कहा गया तो जवाब दिया गया, ''रुपये! अगर बन सके तो वसूल कर ले।''

पर वसूल कैसे कर ले? मगर से बैर कर तो जल में से वसूल किये नहीं जा सकते। और इस तरह जब अदालत की ही राह बन्द हो तो गरीब बेचारा क्या करे!

सुनकर हमारे इस महाशय ने निश्चय किया, वकील साहब होशियार बहादुर को सबक सिखाएँगे।

कुछ रोज बाद से, जिले के शहर में जाना हुआ। मुंशी होशियार बहादुर बार-रूम में आरामकुर्सी पर पड़े गप लड़ा रहे थे। वकील उन्हें घेरे बैठे थे।

सत्यधन घुसे। (हमारे महाशय ने आदर्श की झोंक में अपना नाम सत्यधन रख छोड़ा है।) पैरों में धूल से भरा चरमराता हुआ देसी जूता, मोटा टुकड़ी का कुर्ता, सर पर मटमैली बेढंग टोपी।

वकीलों ने सिर उठाया, ''कैसा बेहूदा-सा आदमी है!''

होशियार बहादुर को पहचानता तो सत्यधन था ही। सीधे फटकार बतानी शुरू की। जब आदमी अँग्रेजी बोल रहा है और निपट गँवार भेष में है, तब किसकी हिम्मत हो कि न अचकचाए। बात के अतिरिक्त, ऐसी हालत में, और कुछ उपाय हाथ में ले लेने का सूझ ही नहीं सकता। सत्यधन का भरा हुआ गुस्सा चुक चुकने पर होशियार बहादुर ने कहा, ''आप क्या हैं?''

सत्यधन ने तनकर कहा, ''मैं भी वकालत पास कर चुका हूँ।''

सत्यधन की आदर्श-भक्ति में शायद वकालत पास होने के अहंकार को स्थान था।

होशियार बहादुर ने मिठास से कहा, ''ओ हो, तो आप मेरे नजदीकी हैं। तैश में न आएँ। यह पेशा ऐसा ही है।''

''अपना कसूर पेशे पर मत टालिए।''

''ओ हो! तो आप ईमानदार वकील बनेंगे! तब तो म्यूजियम के लायक होंगे आप, क्योंकि अभी तक ऐसा जानवर देखा नहीं गया।''

सत्यधन का गुस्सा उबल रहा था और बल खा रहा था।

''मैं कहता हूँ!''

''देखो साहब, यह कहते हैं...।''

''मैं कहता हूँ...।'' बात झड़पकर सत्यधन ने कहा।

छँटे वकील ने उड़ाते हुए कह दिया, ''कहते हो, अपना सिर और क्या कहते हो!''

''मैं कहता हूँ...सच।''

''उससे वकील को ताल्लुक नहीं। तुम अभी जानते नहीं, बच्चे हो। या तो

युधिष्ठिर ही बन लो या वकील बन ही लो। सच बोलने की कहते हो तो झूठ कहते हो।''

''झूठ! ऐसा शब्द सत्यधन के खिलाफ!'' उसने एक ही झटके में बिना अटके कह दिया।

''झूठ के बिना वकालत नहीं, तो मैं वकालत करता ही नहीं। जाओ। मैं केस... !''

''बस काफी है। यह ठीक है।''

इतने बहुत-से लोगों में की प्रतिज्ञा उनके सिर पर पड़ गयी। तब अपने आदर्श के चिन्तन की धुन में किये कोरे विचार अपने आप निश्चय का रूप धरने और इस प्रतिज्ञा की जबर्दस्ती की मुहर लगवाकर बाजार में आने लगे।

वकालत न करने की बात जब टकसाली होकर बाजार में यों फैल गयी, तो अब क्या किया जाए? पढ़े-लिखे पेट के प्रश्न की ओर से थोड़े-बहुत निश्चिन्त इस युवक के लिए बस अब एक काम रह गया, आदर्श-आराधन।

तन-मन से यह आराधना उन्होंने आरम्भ की। सोचने का अपने पीछे व्यसन लगाया। उसके नशे में अपने को भूल जाने की क्षमता पैदा की।

कुछ पागल बनना भी शुरू किया। जैसे—

एक रोज बेकन की किताब पढ़ रहे थे। पढ़ते-पढ़ते रुके। जैसे विचारधारा को कहीं कुछ झटका लगा और उसका उलझा और रुका हुआ प्रवाह खुलकर वह थोड़ी देर बाद मानों फिर वह एक रोक पर आ गया। तब किताब का वह पन्ना उन्होंने फाड़ लिया।

फिर तो उस पन्ने पर काफी दिक्कत उठायी गयी। ढूँढ़-ढाँढ़कर एक सफेद कागज निकाला; नापकर उसके बराबर काटा; ज्यों-त्यों कर कहीं से लेही लाये; उसे फटे पन्ने पर चिपकाया और उस पर सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में लिखा—यह दुनिया एक है। अनेक, ऐसी-ऐसी असंख्य दुनियाओं में से एक है। मैं उस पर एक नगण्य बिन्दु हूँ—फिर अहंकार कैसा! यह काल कब से चला आ रहा है, कुछ आदि नहीं। कब तक चला चलेगा, कुछ अन्त नहीं। इस अनादि-अनन्त काल-सागर के विस्तार में मेरे आदि-सत जीवन-बुदबुद की भी क्या कुछ गणना है। इन 50-60-100 सालों की भी कुछ गिनती है!...फिर भी जीवन का मोह!...छिः। इन 50-60-100 सालों की, और मेरे अस्तित्व के इस नगण्य बिन्दु की क्या उपयोगिता है?...इस बे-ओर-छोर के ब्रह्माण्ड की स्कीम में इस मेरे तुच्छ अंहकार की क्या सार्थकता है?

इसके नीचे तनिक मोटे अक्षरों में लिखा—अपना सब कुछ मिटाकर इस स्कीम में विलय हो जाना जिससे मेरे जैसे और बुदबुदों को अवकाश मिले। धरती में गड़कर धरती के तल को जरा ऊँचा कर जाना। भविष्य की पुष्टि के लिए अपने जीवन और वर्तमान को स्वाहा कर जाना।

लिखकर उसे फिर पढ़ा। जितना ही पढ़ते उतना ही उन्हें उसका स्वाद आता। यह

लिखने के लिए मानों अपने को मन-ही-मन धन्यवाद देना चाहते थे।

सत्यधन के माँ-ही-माँ है। पिता नहीं है, न और कोई सगा है। बहन है बड़ी, जो बाल-बच्चेदार है। इस तरह वह लगभग सब ओरों के उत्तरदायित्व से निश्चिन्त है। शादी उसकी नहीं हुई। रिश्ते तो बहुत आये पर शेक्सपियर की नायिका बनने योग्य उनमें कोई न थी, इससे स्वीकार नहीं किये। इस तरह बी.ए. भी हो गया, एल.एल.बी. भी गुजर गया, और अब यह आदर्श-क्रान्ति का जमाना आ गया।

अब तक सजधज, ठाट-बाट और प्रतिष्ठा के एवरेस्ट पर पहुँचे हुए असाधारण जीवन के स्वप्न देखते थे। अब सोचने लगे—फूटे-टूटे, मैले, बेहाल, हीन, अपरिचित, अज्ञात और साधारण रहकर ही जीवन की क्यों न पूरी तुष्टि प्राप्त कर ली जाए! अब उन्होंने अपने मार्ग के किनारे खड़े 'पोष्टों' पर से 'उन्नति' मिटाया और 'उत्सर्ग' लिख लिया। अब शेक्सपियर की नायिका की जगह किसी सकुचायी-सी गँवई-किशोरिका को घर में ले आकर प्रतिष्ठित करना ज्यादा प्रिय लगने लगा, जो अभी जीवन के साथ शिक्षा की और सभ्यता की बहुत-सी व्यर्थताएँ लपेटना न सीखी हो; जो सीधी-सादी, सच्ची, भोली, तिरस्कृता हो; जिसे इनकी आवश्यकता हो और जिसे सुखी बनाकर यह समझें 'हाँ मैंने कुछ किया'। जिसे कुल का और पैसे का दर्प न हो, और जो अपने पतिदेव में अपना सारा दर्प और गौरव केन्द्रित कर उनकी पूजा कर सके।

विवाह सम्बन्धी विचार जब यह रुख पकड़ रहे थे, तभी एक लड़की अजीब ढंग से इनके जीवन में अनजाने में ही हिल-मिल जा रही थी।

यह लड़की इनके ही गाँव की है। पड़ोस में ही घर है। गाँव का पड़ोस शहर के पड़ोस जैसा तो होता नहीं, इसलिए यह मानों इनके घर की ही जैसी है।

जब से इन्होंने होश सँभाला है, तभी से वह इनके सामने आती रही है। इनकी आँखों के सामने यह नन्ही-सी बच्ची से अब चौदह बरस की हो गयी है। दिन थे, कभी इसे गोदी खिलाया था, बड़े चाव से थपकाकर उसे सुलाते थे। फिर दिन आये, वह खेलने-खिलाने और चिढ़ाने-मनाने के लायक हो गयी। तब उसके साथ यह कौतुक भी सब किया।

इसी बीच एक दुर्घटना घट गयी। उससे इनके इन खेलने-खिलाने के रस से भरे संयुक्त जीवन का अन्त ही हो गया होता। पर कहिए विधि का विधान ही उलटा पड़ा, या कहें कि अनुकूल पड़ा, क्योंकि चौथे वर्ष में उसका विवाह को गया और पाँच वर्ष की होते-न-होते वह विधवा हो गयी।

जब विधवा हो गयी तब यह तो कैसे होता कि आठवीं क्लास में पढ़ने वाले छात्र को पता न चलता। पता तो चला पर यह 'विधवा' विशेषण उन दोनों के बीच में आकर खड़ा न हो सका। भला उस एक जरा-सी घटना से उन दोनों को क्या मतलब जो एक दिन गाजे-बाजे से, लड्डू-पूरियों की ज्योंनार के साथ सम्पन्न कर दी गयी थी? और

न इन्हें एक दूर-दराज के श्रीमन्त वृद्ध के मर जाने से ही कोई खास सम्बन्ध जान पड़ा, इसलिए इन दोनों की दुनिया तो ज्यों-की-त्यों बनी रही। उल्टे इस 'विधवा' शब्द के विशेषण ने दोनों को और निकट ला दिया।

सरकारी स्कूल के दशम श्रेणी के यह छात्र महाशय जब पार न पाते तो लड़की से कहते, ''ओ हो, विधवा जी...!''

इस पर सात बरस की उस लड़की का चेहरा एकदम फुट-भर लम्बा और मन-भर भारी हो जाता।

इस कौतुक के लिए 'विधवाजी' का शब्दार्थ समझने की क्या आवश्यकता थी! क्या यह काफी नहीं था कि वह उसे चिढ़ाने के लिए कहा जा रहा है, और कभी-कभी रूठना क्या स्त्रीत्व का तकाजा नहीं?

इस तरह उस विधवा शब्द ने उन्हें रूठने-रूठाने और मानने-मनाने के बहुत-से अवसर देकर उन्हें एक-दूसरे के और निकट ला दिया।

किन्तु कालिज से अब वह दसवीं क्लास का लड़का बहुत होशियार बन आया है। वकील बन आया है और वकील के ऊपर फिलासफर बन गया है। अब वह भूलकर भी विधवा शब्द, मुँह में तो क्या दिमाग में भी नहीं आने देता। किन्तु इससे क्या?

पर जैसे जीवन के पहले रोज से हम हवा को अपने लिए आवश्यक और सहज सुलभ पाते और स्वीकार कर लेते हैं, उस ओर विशेष ध्यान नहीं देते, ऐसे ही वह भी लड़की के बारे में विशेष ध्यान नहीं देते थे। पर इससे क्या?

हर साल कालिज की गर्मी की छुट्टियों में वह लड़की को पढ़ाया करते थे। कोर्स खतम करने के बाद की छुट्टियों और उन छुट्टियों में लड़की कोई अन्तर न देख सकी। वह पढ़ने आने लगी। पर यह छुट्टियाँ कब और कैसे खतम की जाएँगी।

पढ़ने का काम आरम्भ तो कभी हुआ, पर वह बढ़ अभी जरा ही पाया है। बात यह कि साल-भर यह सिलसिला टूटा पड़ा रहता है, और फिर इन छुट्टियों में ही जुड़ता है। गाँव में वह पढ़े भी और किससे, और अपने आप तो पढ़ती रहे कैसे! पर इससे उत्साह तोड़ने का नाम न मास्टर साहब लेते हैं, न लड़की।

क्या यह उत्साह प्रशंसनीय नहीं है?

2

आइए, पढ़ाना देखें।

लड़की तन-मन से पढ़ रही है, पर मास्टर जी तन-मन से नहीं पढ़ा रहे हैं। वह

जाने क्या देखते हैं, और फिर क्या सोचते हैं।

लड़की अपनी सुलेख की कॉपी में बना-बनाकर लिखने में लगी थी कि उसकी इंग्लिश रीडर इन्होंने उठा ली। जो पाठ आज पढ़ना था उस सफे पर निगाह जमाते-जमाते लिखना शुरू कर दिया। छपी लाइनों के बीच-बीच में मोती-से अक्षरों में लिखा—

हमारी कट्टो पढ़ती है। ये लोग कहते हैं, वह विधवा है। हम कहते हैं, वह कट्टो है और दुनिया भर से अच्छी है। एक रोज हम चले जाएँगे। वह रह जाएगी। फिर वह भी चली जाएगी। दुनिया रह जाएगी। वाह! यह तो बड़ी बुरी बात होगी।

आखिर कट्टो का लिखना खतम हुआ और अब वह पढ़ने का समय आया।

किताब तो गुरुजी ने दुबका ली थी, उन्होंने कसूर किया था। किताब भी कुछ ऊट-पटाँग लिखने की चीज है! कट्टो ने अपने चारों तरफ किताब देख ली, पर न मिली।

गुरुजी ने पूछा, ''क्या बात है?''

उत्तर मिला, ''हमारी रीडर!''

''क्या हमने ले ली?''

''कहाँ गयी?

''देखो।''

कट्टो ने फिर देखना शुरू किया। हार-हूरकर आ खड़ी हुई।

''देख तो ली।''

''कोई फरिश्ते थोड़े ही ले जाएँगे। फिर देखो।'' गुरुजी ने कहा और किताब कोट की तह में सरका ली।

काफी ढूँढ़-ढाँढ़ के बाद कट्टो ने कहा—

''कोई सूई है! कितनी तो देख ली!''

''अच्छा, हम साथ-साथ चलते हैं, अब देखो।''

बहुत कुछ देखा तो उसी कमरे के एक कोने में औंधी पड़ी हुई वह किताब मिल गयी।

''कहीं तो पटक देती हो, फिर कहती हो कहाँ चली गयी?''

''मैंने तो सँभाल के रखी थी!''

''बड़ी अच्छी रखी थी!''

''अच्छा, अब सबक शुरू करो।''

सबक शुरू हुआ। वही पन्ना खुला—

''हैं! ये क्या कर दिया!''

''देखें!'' मास्टर साहब ने किताब लेकर बड़े गौर से देखी। कहा, ''कोई बड़ा

पागल आदमी है! यह तुम्हारा ही खेल तो नहीं है।''

''मैं सच कहती हूँ, मैंने नहीं किया।''

''सच तो बहुत कहती हो! फिर कौन कर गया?''

''तुमने करा होगा।''

''मैंने? हरे, राम राम।''

किन्तु इस तीव्र विस्मयबोधक से लड़की का सन्देह और पुष्ट ही हुआ। पूछा—

''नहीं तो किन्ने?''

''मैंने? देखो, मैं तुम्हारे सामने ही तो बैठा रहा हूँ।''

''हाँ, हाँ! चुपचाप किताब उठा ली होगी।''

''हरे हरे! मैं कोई बेवकूफ हूँ!''

''हम नहीं जानते। हम तो नहीं पढ़ते। हमें दूसरी किताब लाके दो।''

''कौन लाके दे?''

''तुम।''

''क्यों?''

''हम नहीं जानते।''

''तो हम भी नहीं जानते।''

''हम तो नहीं...।''

''तो हम भी नहीं...।''

''नहीं लाके देने के?''

''नहीं लाके देने के।''

''तो हम नहीं पढ़ते।''

''मत पढ़ो।''

इस पर चौदह बरस की विधवा कट्टो बिना जरा देर लगाए उस किताब को उठाकर सब बस्ता वहीं-का-वहीं छोड़कर चलती बनी।

''ओ पगली! कट्टो! सुन तो!''

उसने सुना, लेकिन वह बढ़ती ही रही। आँखों से ओझल न हो गयी, तब तक बढ़ती गयी। फिर दूसरे कमरे में आकर खड़ी हो गयी।

''अरी, ओ! पगली कहीं की!''

कट्टो चुप।

मास्टरजी को पूर्ण विश्वास था कि कट्टो जाएगी नहीं, आ जाएगी। इसी से दो-तीन-चार आवाजें दीं। कट्टो सबको पी गयी और दुबकी-दुबकी चुप खड़ी रही।

इस पर मास्टर साहब धड़धड़ाते हुए आये और सीधे बड़े दरवाजे पर पहुँचे। बाहर सड़क पर देखा तो कट्टो न थी। वह वहीं खड़े रह गये, कुछ सोचते रह गये। दो-

तीन मिनट बाद कहा, ''वाह! और लौट आये।''

इधर कट्टो मास्टर साहब के बाहर होते ही अपने क्लास रूम में दाखिल हो गयी थी और आते ही भली विद्यार्थिनी की भाँति सबक के मुश्किल शब्द किताब में से कॉपी में नकल करने लगी थी।

मास्टरजी आये। आते ही कहा, ''कौन? कट्टो!''

उसने कापी में से मुँह नहीं उठाया।

''बड़ी शैतान हो तुम!''

कट्टो को जैसे कापी के शब्द लिखने के सिवा दुनिया में किसी से मतलब ही नहीं।

''और ऐसी छिप कहाँ गयी थी?''

कट्टो ने ऊपर को देखा। जैसे उसकी आँखों में चुनौती भरी थी, कोई हमें हरा सकता है? उसने कहा—''तो नहीं दोगे लाके नयी किताब?''

''क्यों नहीं लाके दूँगा!''

इस पर वह सब कुछ भूल-भालकर, मास्टर साहब के मुँह के सामने एक बार मुँह बिचकाकर, खिलखिलाकर हँसने लगी।

मास्टरजी ने कहा, ''तो यह किताब तो मुझे दे दो।''

लड़की ने पूछा, ''तो इसमें ये तुम्हीं ने लिखा था न?''

मास्टर पकड़े गये। बोले, ''हाँ।''

लड़की ने कहा, ''तो हम नहीं देते यह तुम्हें।''

''तुम इसका क्या करोगी?''

''कुछ भी करें!''

''आखिर क्या?''

''फाड़ दूँगी!''

''अरे, नहीं, नहीं!''

किताब को दोनों हाथों में पकड़कर लड़की ने कहा—

''देखो, यह फाड़ी, यह! फाड़ूँ?''

''नहीं, देखो, नहीं!''

''फाड़ती हूँ!''

''नहीं, देखो, नहीं!''

लड़की ने देखा मास्टर साहब से यह नहीं होता कि उससे किताब छीन लें। यही तो वह चाहती है। उसने कहा, ''मैं तो फाड़ती हूँ।''

मास्टरजी ने देखा, लड़की के हाथ जैसे सचमुच किताब के साथ जोर कर रहे हैं।

वह उसकी तरफ झपटे। लड़की चौकन्नी थी, पलक मारते ही फुदककर दूर जा खड़ी हुई।

''वाह! ऐसे झपटे, फिर भी कुछ नहीं! देखो यह, फटी यह!''

मास्टरजी ने कहा, ''तुम्हारे हाथ जोड़ूँ, फाड़ो मत।''

लड़की ने कहा, ''अच्छा जोड़ो हाथ।''

मास्टर साहब ने हाथ जोड़ दिये।

बालिका ने अपने दोनों हाथों से उन जुड़े हुए हाथों को पकड़ लिया।

किताब देते हुए कहा, ''लो।'' फिर कहा—''अच्छा, अब सबक पढ़ाओ।''

मास्टरजी चुपचाप सबक पढ़ाने लगे।

3

जब पढ़ाई ऐसी हो, तो जी में खलबली मचे कैसे नहीं? मास्टरजी के जीवन में थोड़ा मिठास आने लगा।

समझते थे हम एक थिरता पर आ गये। विचारों और धारणाओं को पीट-पाटकर मजबूत करके, उनके ऊपर बैठकर, सोचने लगे थे कि अब डिगेंगे नहीं। जैसे जीवन भी सरल रेखाओं से घिरा कोई पिण्ड है जिसे नाप-तोलकर निश्चित कर लिया जाए।

पर यह क्या हो गया! पल-भर में यह कैसी गड़बड़ मच गयी! अब तक तो कुछ न था। अपने उस चबूतरे पर बैठकर जीवन को, संसार को पढ़ने और सुलझाते रहने में कोई मुश्किल नहीं जान पड़ी। पर जैसे अब सारा संसार और वह, और वह उनका चबूतरा—सब एक झूले में झूलने लग गया। एक लहर उठी और उनके सारे अस्तित्व को डुबाने-उतराने लगी। सभी कुछ मिट-मिटाकर सावन के इन्द्र-धनुष के रंगों में लय हो गया, और उन रंग-बिरंगे रंगों में झाँक-झाँककर देखती हुई दीखने लगी वह कट्टो! यह क्या माया थी!

जरा-सी कंकरी ने आकर सोये हुए विशाल जल-तल की स्थिरता भंग कर दी। हलकी-सी हवा का झोंका जैसे जल-तल को थपकता हुआ आता है, तो उस सारे तल में एक सिहरन-सी होती है, उसमें कँपकँपी उठ आती है; वैसे ही किसी आवेग के मीठे झोंके ने उनके सोये जीवन के तल पर एक सिहरन-सी फैला दी। कटोरे को जैसे किसी ने बाहर से छू दिया, और उसके भीतर का पानी यहाँ-से-वहाँ तक काँप गया।

जीवन की गहराई में से जो लहर उठी हो, उसको मनुष्य के बनाये हुए धारणा, संकल्पों के रेत के किनारे कहाँ तक, कब तक रोक सके हैं!

4

थोड़ा कट्टो से परिचय करें।

वह चार वर्ष की विधवा है। गरीब माँ-बाप की है। बाप है नहीं, माँ ही है। वह माँ के ऊपर बोझ है और माँ जब तनिक झींकती है, तो स्वर्ग में जा बैठे उसके निर्मोही बाप को याद करती हुई अमुक शब्दों में यह सत्य पड़ोसियों पर और अपनी उस लड़की पर प्रकट कर देती है। फिर कुछ सगे भी हैं, पर वे हर वक्त के लिए नहीं।

उसका नाम ? हमारे मास्टर ने उसका नाम कट्टो रखा है। लड़की बुरा माने तो माने, हमारे लिए यही नाम यथेष्ट है और यह नाम बिलकुल निरर्थक भी नहीं है। मास्टरजी ने रखा तो बहुत समझ-बूझकर नहीं है, पर बहुत उपयुक्त है। कट्टो गिलहरी को कहते हैं। उसकी ठोड़ी गिलहरी के मुँह जैसी है, वैसी ही नोकदार। उसके चेहरे से भी वही गिलहरी का भाव टपकता है, झटपट-झटपट, यहाँ दौड़, वहाँ दौड़। इधर देख, उधर देख—यह सब भाव उसमें हैं। गिलहरी जब किसी गोल मटर को लेकर, पिछले पैरों पर उचकी बैठकर अगले दोनों हाथों से मुँह में दस बार देकर खाती है और आपको ताकती रहती है, तो कैसी सुन्दर लगती है! ऐसी ही वह है। और जैसे कट्टो, जरा चुटकी बजाओ तो चट दरख्त की छत पर पहुँच जाती है। ऐसे ही मिनट भर में यह कट्टो कहाँ भाग जाएगी, कुछ पता नहीं।

पर, जगत का वैषम्य देखो। एक के लिए तो ये भाव दुनिया को खुश करते और प्यारे लगते हैं, दूसरी के लिए वे ही उसके पातक हैं। इस लड़की की इन बातों को देखकर लोग बड़े कुढ़ते और नाखुश होते हैं।

लोग कहते हैं—वह विधवा है, कमनसीब। लड़की जान गयी है, वह विधवा है, कमनसीब भी होगी। लेकिन फिर हँसने-खेलने, भागने-कूदने का अधिकार वह क्यों नहीं रखती, यह सब नहीं समझ पाती।

बालिका सुन्दर विशेष नहीं है। उसके होंठ जरा ज्यादा ताजे और ज्यादा खुले हैं और फैलते-फैलते यकायक रुक गये हैं। चेहरे के एक-एक अंग में और भी दोष निकाले जा सकते हैं। पर वह इन सबसे निश्चिन्त है, और समझती है वह असुन्दर नहीं है; रंग उतना उजला नहीं, जितना साँवला है।

लेकिन आँखें! जाने उनमें क्या है ? वे एक क्षण कहीं टिककर ठहरती नहीं, यहाँ-वहाँ तिरती रहती हैं। पर ठहरती हैं, तो जैसे उसके भीतर तक चली जाती हैं। उन आँखों में न जाने कैसा औत्सुक्य और जाने क्या है कि लगता है जैसे सब हरियाली है, सब निमन्त्रण है, सब चेतावनी है। उन आँखों में एक चमक है और जब पलकें उन पर झुकती हैं, तो यह चमक एक पतली-सी रेखा में आ इकट्ठी होती है और वहाँ जैसे आर्द्रता फैल जाती है।

वे आँखें उसकी बड़ी कुतूहलपूर्ण और बड़ी हिंसामय हैं। उसके कुतूहल में जैसे हिंसा है, और हिंसा में सिवा कुतूहल के कुछ नहीं है। वे आँखें जैसे कहती हैं कि सब देखती हैं, पर नहीं देखतीं। उनके लिए कुछ भी वर्ज्य नहीं है।

इन आँखों से ही कह सकते हो सुन्दर नहीं है और इनके कारण ही कहा जा सकता है कि अत्यन्त सुन्दर है, जैसे मानों स्त्रीत्व छनकर इन आँखों में भर गया है।

5

मास्टर साहब सोच में हैं। सोचते हैं—जो एक नया मीठा-सा उद्वेलन उठा है और जो मुझे झुँझलाता है, मैं उसे बहला-बहलाकर पोसना शुरू कर दूँ तो परिणाम अनिष्टकर हो सकता है।

तभी बस्ता लेकर कट्टो आ पहुँची।

''कट्टो आज पढ़ना नहीं होगा। आज से...।''

कट्टो का झट-से एक हाथ मास्टर साहब के माथे पर जा पहुँचा। यह हाथ थर्मामीटर है।

''क्यों, कैसी तबीयत है ?''

यह मन क्यों खिसकने लगा! यह बुरी बात है। बोले, ''तबीयत ठीक है। पर आज से...।''

कट्टो मास्टरजी के ऊपर छोटी-मोटी डाक्टरनी बन बैठी है। हाथ के स्पर्श ने बतला दिया, तबीयत सचमुच ठीक ही है। शारीरिक कोई शिकायत है नहीं। बाकी जो होगा, सो वह खुद ही देख लेगी। बोली—''आज वह फिशरमैन वाला सबक है। सी-शोअर मायने क्या, और और बिलोज...''

''सी-शोअर (किनारा)। बिलोज (लहर)। पर कट्टो, मुझे काम है। मैं जा रहा हूँ।''

''अच्छा जाना, मायने लिखा जाओ।''

''नहीं...।''

''नहीं कैसे!''

ऐसे जोर-जब्र का उल्लंघन कैसे हो ? पढ़ने वाला जब पढ़ के ही छोड़ेगा, तो पढ़ाने वाला क्या करे ? फिर भी बोले—''ऐसी कोई जबर्दस्ती है ?''

''जबर्दस्ती नहीं तो यों ही।''

कह तो गयी, पर ऐसी बड़ी बात कहकर ख्याल उसे जरूर हुआ। भला पूछो

इसकी जबर्दस्ती कैसी! उसने भी सोचा, भला मेरी जबर्दस्ती कैसी!

उसने अपनी उन्हीं भेदीली आँखों से ऊपर देखा, उन आँखों में कातर भाव में लिखा था। मानों तब तक ही जबर्दस्ती है, नहीं तो मैं कौन हूँ?

मास्टरजी ने देखा, कैसी ये आँखें हैं? सोचा उन्हीं को पाकर तो वह ऐसी बड़ी बात कर रही है। उसकी बात उन्हीं पर आ पड़ी है। नहीं मानें तो, मानें तो—सब उन्हीं के हाथ है। वही जज हैं, अभियोग की फरियाद और कहीं नहीं जाएगी, उन्हीं के पास आएगी। फिर वह अभियोग में हाथ कैसे डालें? बाला ने अपनी बात कहकर उसकी रक्षा का सारा भार उनके ही ऊपर डाल दिया। अब वह बड़े असमंजस में पड़ गये। इस सिलसिले को तोड़ना है ही, पर क्या इस तरह उनके आसरे जो जरा-सी बात कह डाली गयी है, उसकी रक्षा से विमुख होकर? नहीं। उन्होंने कहा, ''अच्छा, आज पढ़ लो, कल से...।''

बात झटपट मान ली गयी तो कट्टो समझ गयी, यह कोरा मान-मनौवल का तमाशा नहीं है। वह मास्टर साहब को खूब जानती है। मास्टरजी को देखकर और बात के ढंग को देखकर उसे रंचमात्र संशय नहीं रहा कि कल पढ़ाई नहीं होगी। आज का दिन उसकी पढ़ाई का, उसकी जबर्दस्ती का और उसके राज्य का अन्तिम दिन है। उसका उत्साह बुझ गया। बड़े कड़वेपन के साथ बोली—''ओह मैं क्या कह गयी! मैं कौन हूँ जो मेरी जबर्दस्ती हो!''

इस अप्रिय बात को संक्षिप्त करने के लिए मास्टरजी ने कहा—''अच्छा, पढ़ो-पढ़ो।''

पढ़ाई हुई। पर बिलकुल सूखी। वृत्तच्युत फूल की तरह उसका मन टूटकर धूल में लोट रहा है। मशीन की तरह किताब में आँखें गाड़े वह पढ़ रही है, पर क्या खाक-धूल पढ़ रही है, सो कौन जाने।

मास्टरजी का मन भी जैसे मिचला रहा है, जैसे रो उठने की तैयारी में हो।

''कट्टो, अब जाना भी तो होगा।''

''जाना होगा! क्यों, कहाँ? छुट्टियाँ खतम हो गयीं?''

छुट्टियाँ खतम नहीं हो गयीं, खतम की जा रही हैं। और इस तरह से कि वह अब लौटें ही नहीं। पर कट्टो से यह समझाकर कैसे कहा जाए?

''हाँ, छुट्टियाँ भी खतम होंगी ही।''

''पर अब के बड़ी जल्दी?''

''हाँ।''

यह दबा-सा 'हाँ' सुनकर कट्टो ने कहा—''यह क्या बात है! छुट्टियाँ खतम हो गयी हैं तो जाओ। ऐसे क्यों होते हो!''

सत्यधन ने सँभलने का यत्न करके कहा—''कहाँ? कैसा भी तो नहीं हो रहा!''

"तो कब जाओगे ? कल ?"

कल ही चल देना पड़ेगा, सो तो न सोचा था। पर अब देखा, 'नहीं' भी कैसे करें। बोले, "हाँ।"

"किस वक्त ? सवेरे या शाम को ?"

"तीसरे पहर।"

"अच्छा मैं न आऊँ, तब तक मत जाना। कहो, नहीं।"

"नहीं।"

कट्टो फिर चली गयी और मास्टर साहब पड़ गये। कट्टो का ध्यान आने लगा। सोचते-सोचते, प्रेम तो क्या कहें, पर कट्टो पर रह-रहकर करुणा उठ आती थी। वह कैसे अपने वर्तमान में मग्न है, जब कि भविष्य शून्य, निर्जन और अँधेरा है। जब इस भविष्य में कट्टो पहुँचेगी तो उसका क्या हाल होगा ! पर, देखो, कैसी लड़की है ! इसकी चिन्ता भी उसे छू नहीं गयी। क्या कुछ हो सकता है कि यह भविष्य उलट जाए ? क्या वह जीवन के अन्तिम दिन तक इसी तरह उनसे पढ़ने आती नहीं रह सकती ? उसकी खातिर वह खुद इसी तरह के बिन ब्याहे मास्टर बने रह सकें तो कैसा ? लेकिन...कल तो जाना है !

क्यों जाना है ! नहीं जाना। नहीं जाते। होने दो जो हो, भागकर क्यों जाएँ।

तभी डाकिया डाक दे गया। बिहारी की भी चिट्ठी आयी। वह फेल हो गया। उसके बाबूजी परिवार के साथ कश्मीर जा रहे हैं। बहुत जोर दे रहे हैं—तुम चलो। चलना पड़ेगा। टाल नहीं सकोगे। टालोगे तो कसम। गरिमा का भारी अनुरोध है। क्या उसकी भी रक्षा नहीं करोगे ! अमुक दिन जा रहे हैं, उससे पहले ही मिल जाओ।

यह चिट्ठी इसी वक्त क्यों आकर पहुँची ! क्या भाग्य के इशारे पर ! ऐसा है तो यही सही। लो कट्टो, मैं सचमुच चलता हूँ।

बिहारी को चिट्ठी लिख दी गयी। अगले दिन सवेरा हुआ, दोपहर भी टल गयी। चल देने का वक्त अब हुआ ही चाहता है—पर कट्टो नहीं आयी। भीतर-ही-भीतर उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे—न आयी तो जी मसोसने लगा। लेकिन सोचा, मुझसे तो पक्की वही है, फिर मैं ही क्यों कच्चा बना रहूँ ! हठात सूझा—आए-न-आए, वक्त से थोड़ा पहले ही चल दो।

इधर कट्टो को बहुत-सा काम करना था। पहले तो बहुत-सा रोना था, क्योंकि भीतर से जी को ऐंठता हुआ जो क्षोभ उठा है, उसे बहाये बिना वह और कुछ भी नहीं कर सकती। फिर एक तकिया बनाना था। अब एक तकिया बनाकर मास्टर साहब को देगी। काम छोटा-मोटा है नहीं, फिर बड़े यत्न से किया जा रहा है। दोपहर बीत रही है तो क्या, यह भी अब खतम हुआ। मेरे बगैर वह जा तो सकते नहीं। वह निश्चिन्त है और एक मोनोग्राम पर झट-झट सूई फेर रही है। उस मोनोग्राम का भी इतिहास है। पर उस

इतिहास को सुनाएगी तो देर हो जाएगी। और मास्टर साहब कहीं चले न जाएँ।

काम खतम हुआ। तकिये की तह करके, एक कागज में लपेटकर कट्टो उछलते मन से चली। घर पहुँची, पर मास्टर साहब कहाँ?

यह क्या हो गया! उसकी जबर्दस्ती के दिन क्या बीत गये—जरा-सी बात भी अब उसकी नहीं रखी गयी! अभी तो आ रही थी, ठहर जाते तो क्या होता! वह रोयी नहीं सुन्न हो गयी।

इधर मास्टर साहब की साहित्यिकता ने बीच में दखल दे डाला था। होना है वह तो होता ही है। पर कड़ुआपन क्यों आए? हँसी-खुशी सब क्यों न हो जाए? सोचा—ताँगे पर बिस्तर पहुँचा आएँ, आप घर से जरा दूर दुबके खड़े रहें और जब कट्टो सोच में मर रही हो तब परमात्मा की विभूति की तरह आविर्भूत हो जाएँ।

कट्टो लकड़ी के ठूँठ के नाईं काठ-मारी खड़ी थी। यह कैसी आवाज आयी, 'कट्टो!' और उसके साथ हँसी का ठहाका!

विद्युत् की तरह क्षण-भर में जीवन की चुहल की लहर उसके सारे शरीर में फैल गयी।

रोमांच हो आया, शरीर उछलने लगा।

"तुम बड़े दुष्ट हो!"

"यह कागज में क्या है?"

"नहीं दिखाती, नहीं देती।"

"मैं भी देखूँ कैसे नहीं दिखाती, कैसे नहीं देती?"

"मुझसे लड़ोगे! बड़े अर्जुन हो—लो!" देकर वह तो घर के भीतर भाग गयी।

खोल-खालकर देखा। ओहो, बड़ी कारीगरी का काम है। और यह मोनोग्राम तो कहीं मैंने ही बनाया था। अब यह रेशम के धागों से गूँथ-गाँथकर मुझे दिया जा रहा है। इस भयंकर चीज को अपने साथ कैसे रखूँ! इस गुँथने के साथ न जाने और क्या गूँथ दिया गया है—सो उसका अधिकारी मैं कैसे बन जाऊँ!

भीतर कमरे में कट्टो को ढूँढ़ पाया।

"लो अपनी कारीगरी लो। मैंने कुछ उचाट नहीं लिया।"

"मैं नहीं लेती?"

"मैं क्या करूँगा?"

"क्या करोगे! क्यों, पास रखोगे, अच्छी तरह रखोगे। नहीं, रख सको तो फेंक देना। यह फेर देने के लिए नहीं है।"

कॉमेडी तो गड़बड़ हुई जा रही है। यह विदा ट्रैजिक हो गयी तो सदा कसकेगी। कहा—"यही सही, साहब। रखेंगे। बस?"

लेकिन इन बातों में स्त्री की आँखों को धोखा देना सहज नहीं है।

"रखो तो, नहीं रखो तो।"

"फिर वही...रखेंगे, रखेंगे। लेकिन अब चला।"

"जाओ!"

इस 'जाओ' में यह व्यथित आह-सी क्या बजी! यह फिर गड़बड़। कहने के लिए कहा—"सबक पक्का करती रहना। आऊँगा तो इम्तहान लूँगा, भला?"

"अच्छा!"

"अच्छा तो कट्टो, चलूँ ही।" कहते हुए उसका एक हाथ अपने हाथों में ले लिया और कहा—

"कैसी अच्छी कट्टो हो। खूब सबक याद करोगी और मुझे भी याद करोगी, है न?"

ज्यादा देर लगाना ठीक नहीं। मन धँसता जा रहा है। जेब से सुनहरी जिल्द की एक छोटी-सी किताब निकालते हुए कहा—"लो अपने तकिये का इनाम!"

उन्होंने चुप-चुप दिया और लड़की ने चुप-चुप ले लिया।

वह चल दिये, वह खड़ी रही।

घर आयी। किवाड़ बन्द कर किताब खोली। भीतर वही मोनोग्राम बना है। यह कैसा सुन्दर है, मेरा कैसा भद्दा था!

ओह मास्टर, तुम कहाँ गये?

6

मास्टर साहब कश्मीर की राह में हैं। बिहारी साथ है, बिहारी की माँ और बाबूजी, छोटा भाई छह बरस का विपिन और गरिमा। गरिमा नाम भी हमारे साहब का ही रखा हुआ है, जैसे उस अपने गाँव की गँवई लड़की को देखकर इन्हें 'कट्टो' सूझा वैसे इसे देखकर पहले-ही-पहले गरिमा सूझा था। 'गरिमा' इनके मुँह से निकला कि इनके और बिहारी के बीच लड़की का वही नाम पड़ गया। फिर तो घर-भर के लिए नाम ही वह हो गया।

कालिज के दूसरे साल से ही बिहारी सहपाठी है। बिहारी को यह इतने भाये कि बिना देखे ही घर-भर इनको जान गया। शुरू बार ही जब घर में प्रवेश पाकर बाबूजी को प्रणाम किया, तभी इन्होंने अनुभव किया कि वह पहले से ही उनके आत्मीय बन गये हैं, दूसरे नहीं हैं। माँ के मुँह से जब निकला, 'बेटा' ही सम्बोधन निकला। विपिन तब नन्हा था और गरिमा खिलने पर आ रही थी।

बाबूजी वकील हैं। हैसियत के दुनियादार आदमी हैं। सत्यधन को जानकर गरिमा की चिन्ता करना उन्होंने छोड़ दिया। घर में एक बार कहा—''देखती हो। अब लड़की को खूब पढ़ने का काम ही रह गया है। आगे की चिन्ता परमात्मा ने हमारे ऊपर से उठा ली है।''

पर सत्यधन के क्या शेक्सपियर से कम आँखें हैं! जूलियट से कम का स्वप्न किसी तरह वह नहीं देख सकते। उनका मन किसी तरह नहीं मानता कि शकुन्तला होना अब बन्द हो गयी है। होती है, पर भाग्य चाहिए। और वह अपने भाग्य को हेय मानने को तैयार नहीं है।

गरिमा बड़ी अच्छी लड़की है। पढ़ने में तेज है, बात करने में चतुर, देखने में लुभावनी है। और जब खिलेगी तो बात ही क्या! लेकिन, लेकिन उँह!

बी. ए. करने के बाद बाबूजी ने बड़े चक्कर से इस बात को बाँधना शुरू किया।

''सत्य, अब क्या करोगे?''

''अभी तो वकालत ही पढ़ना है।''

''ठीक, तुम्हारी माँ की उमर अब काफी हो गयी होगी।''

''हाँ, जी।''

''तुम्हें अब उनकी चिन्ता करनी चाहिए।''

सत्य ने कुछ 'हाँ-हूँ' कर दिया। बाबूजी ने कहा—''गिरी का पढ़ना तुमने देखा?''

''सुनते हैं, खूब तेज है।''

''हाँ, अच्छी है। म्यूजिक में इनाम पाया है। अब नौवीं में है।''

सत्य ने यहाँ भाग छूटना चाहा।

''हो-न-हो, कभी-कभी उसे कुछ बता दिया करो। बिहारी तो बड़ा नटखट है। वह तो कुछ करता-धरता नहीं।''

''अच्छा!''

सत्य ने सोचा, जितनी देर लगती है, उतनी ही मेरी मुश्किल बढ़ती है। उसने मामला साफ कर देने के लिए कहा—''माँ ब्याह के लिए जोर दे रही है। मैं कह चुका हूँ, वकालत से पहले ब्याह करना पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। ये आखिरी साल है, इसमें पूरी मेहनत लगानी चाहिए।''

''सो तो ठीक,'' वकील साहब ने कहा, ''पर माँ का कहना भी गलत नहीं है। उन्हें भी तो सेवा के लिए कोई चाहिए न?''

''पर वकालत से पहले तो मैं कुछ कर सकता नहीं।''

''सो तुम्हारी मर्जी।''

जाल को इस तरह काटकर थोड़ी देर में वह विदा ले गया।

वकील साहब कभी युवा रहे हैं, और दुनिया देखी है। समझ गये, अभी लड़का स्वप्न देख रहा है। शेक्सपियर की पढ़ाई अभी बहुत ताजी है। जरा पढ़ाई ठण्डी होने दो, स्वप्न-जगत की जगह यह ठोस जगत आने दो, तब वह अपने-आप राह पर आ जाएगा। जल्दी की जरूरत क्या है ?

तब की निबटी-निबटी बात बाबूजी अब उठाना चाहते हैं। इसीलिए कश्मीर-प्रवास में उसे इस तरह आग्रहपूर्वक बुलाया गया। जब वह झट आ गया, तो बाबूजी ने देखा, लक्षण बुरे नहीं हैं। उन्हें क्या मालूम बीच में और कुछ घट चुका है।

गरिमा इण्ट्रैन्स भी पास कर चुकी है, और किशोरवय भी। अब यौवन-वसन्त की देहली पर खड़ी उस वसन्तोद्यान की झाँकी ले रही है। अभी देख रही है। वसन्त की वायु झोंके ले-लेकर आती और उसके शरीर पर अपना नशा फेंक जाती है। थोड़ी देर में दहलीज से उतरकर वह आगे बढ़ चलेगी, बह चलेगी। अभी तो वहीं चुपचाप खड़ी सब कुछ देख रही है। चलने से पहले वह अपने को चाह से भरपूर भर लेगी, जिससे यह चाह उसे यौवन के काल में उड़ाए ले चले, उड़ाए ले चले।

रेल उन्हें पहाड़ की हरियाली उपत्यकाओं से ले जा रही है। बिहारी और सत्य जागते हैं—बाकी सो रहे हैं। गरिमा सब कुछ अपनी पलकों में मीचे, पास वाली बेंच पर निश्चेष्ट सो रही है। साँस बँधे विराम से आ-जा रही है। परिधान बस कहीं-कहीं से तनिक ही अस्त-व्यस्त हुआ है। ऐसी सुख-स्पर्श वायु में नींद कैसी प्यारी लगती है ! और उस प्यारी नींद को जागते हुए चौकसी करना भी कैसा मीठा लगता है।

सत्य ने सोचा, एक यह है जिसका भविष्य कैसा निश्चिन्त, सुखी है; जिसने जीवन में आराम ही पाया और विलास ही देखा है। एक वह है, कट्टो, जिसे केवल नकार की मूर्ति बनी रहकर जीवन काट जाना है। यह कैसा वैषम्य है ! फिर सोचा, अब मैं क्या करूँगा ? क्या मैं इस वैषम्य को बढ़ाऊँगा ? या...या साम्य बढ़ाऊँगा ?

अब इस प्रकार तर्क से और पहले ठीक उल्टे कारण से सत्य ने देखा, उसका और गरिमा का योग न हो सकेगा।

फिर वह कट्टो के बारे में सोचने लगा। सोचा, क्या दुनिया के प्रति हम निश्चिन्तों का कोई कर्तव्य नहीं है ! क्या संसार का सारा सुख हथिया लेना अन्याय नहीं है, उनके प्रति जिन्हें जिसका कण भी नहीं मिल पाया है ! और कुछ नहीं तो उनके खातिर क्या हम अपना सुख कम नहीं कर सकते ? कट्टो को इसी तरह रहने देकर मैं खुद कैसे विलास-गर्त में डूब सकता हूँ ?

तभी उसे एक समाधान दीखा। वह प्रसन्न हुआ। अवश्य यही होना चाहिए। कट्टो को विधवा कहना 'विधवा' शब्द की विडम्बना है। विधवा हो भी तो क्या, उसका अवश्य विवाह होगा ?

इस समाधान से उसे चैन नहीं मिला। उसका विवाह हो चुकेगा, तभी मैं विवाह करूँगा, पहले नहीं।

7

कश्मीर आ गये। वहाँ उसने बिहारी को पकड़ा। बिहारी बड़ा निर्द्वन्द्व आदमी है। बचपन से ही उसे आराम और पैसा मिला है, इससे इन दोनों चीजों से उसका मन जैसे भरा हुआ है। वह इनकी जरा भी परवाह नहीं करता। वह जिन्दगी में मुकाबला चाहता है। जोखिम को वह प्यार करता है, ढूँढ़ता है कि जोखिम के काम उसे मिलें। उसके बाबूजी उसके इस स्वभाव से अप्रसन्न नहीं हैं। सीधी-भोली-चिकनी दुनियादारी, जहाँ गड्ढों से बच-बचकर सिर्फ पक्की बनी-बनाई सड़क पर ही चलकर सन्तोष मान लेना पड़ता है, कोई बहुत श्रेय की बात नहीं है—यह बाबूजी ने अपने सफल जीवन से समझ लिया है। इन्होंने प्रतिष्ठा भी बनायी, रुपया भी पैदा किया—पर कुछ नहीं। जीवन में कभी बड़ा रस नहीं पाया। इससे वह बिहारी को खूब रुपया उड़ाने देते हैं और खूब मनमानी करने देते हैं।

इसलिए बिहारी का ब्याह नहीं हुआ। पिता इसके सम्बन्ध में चिन्ता नहीं करना चाहते। आदमी की तरह दुनिया में बढ़कर वही खुद अपनी जीवन-संगिनी ढूँढ़ ले। उनका विश्वास है, बिहारी जैसे-तैसे एक ढंग के साथ दुनिया में अपनी राह तय कर जाएगा। उसके बारे में ज्यादा परेशान होने से काम न चलेगा। उसकी कोई बहू ला दी जाएगी तो उससे उसकी कभी न निभेगी, और खीझ-खीझकर वह अपनी जिन्दगी को लुंज कर लेगा।

लेकिन गरिमा के बारे में वह बड़ी सतर्कता और सोच-विचार के साथ आगे बढ़ते थे। इस तरह उसकी ओर से लापरवाह वह अपने को कभी न बना सके। समझते थे, व्यक्तित्व अलग-अलग तरह के होते हैं। उनको पूर्णता भी अलग राहों से ही मिलती है।

इसी तरह बिहारी पर सत्य ने अपनी आस बाँधी थी। बिहारी कुछ करना चाहे—अगर वह गलत न हुआ, फिर चाहे कितनी ही जोखिम का हो—तो बाबूजी उसमें कभी रुकावट नहीं डालेंगे, यह सत्य जानता था। उसने बिहारी के मन में सावधानी से कट्टो के लिए गुदगुदी पैदा की। बिहारी बड़ी जल्दी खिंच जाने को तैयार रहता है। बुराई उसमें नहीं होनी चाहिए, फिर तो बिहारी से जो चाहे करा लो। डूबते को बचाने के लिए वह किसी झिझक में पड़कर देर नहीं करेगा, फौरन कूद पड़ेगा। दस कदम दूर कूदने के लिए

सुगम किनारा होगा, तो भी वहाँ जाने को ठहरेगा नहीं। और जितना ही काम मुश्किल होता है, उतना ही तत्परता और आनन्द से वह उसमें कूद पड़ना चाहता है।

कट्टो की बात सुनकर उसका मन उछला। सत्य ने इस ढंग से बात रखी थी कि जैसे एक लड़की के उद्धार का सवाल है। परिणाम जो होगा सो हो, बिहारी तैयार है। बिहारी ने यह कह दिया। पर साथ ही पूछा—''तुम्हीं क्यों नहीं बढ़ते?''

सत्य अचकचाया।

''मैं! न-अ। मैं कैसे कर सकता हूँ। तुम जानते हो, हो सकता है मेरे सम्बन्ध में यह शुद्ध परमार्थ का काम न हो।''

बिहारी इस उत्तर से प्रसन्न हुआ। वह जानता था सत्य अब तक भी बहन गरिमा के सम्बन्ध में पूर्ण अनुकूल नहीं हुआ है। इस कारण सत्य की बात पर उसे विश्वास हुआ और उसके लिए सत्य को उसने धन्यवाद दिया।

8

सत्य के सिर से बोझ टला। उसे विश्वास था कि कट्टो को मनाना कठिन न होगा। और जब यह बात हो जाएगी, तो उसे अपने सुख से विमुख होने का मौका न रहेगा। वह भी फिर गरिमा से विवाह कर लेगा। और फिर...। लेकिन तब तक? तब तक नहीं।

आखिर एक दिन बाबूजी ने बात छेड़ी ही।

''सत्य, एक बात कहनी है। अब तुम्हें विवाह के लिए तैयार हो जाना चाहिए।''

बिना भूमिका के बात इस तरह दो-टूक सामने डाल दी गयी, तो वह अचकचाया। कहा—''पिताजी, मैं वकालत नहीं कर रहा हूँ।''

'पिताजी' सम्बोधन जीवन में बहुत कम बार उनके कानों में पड़ा है। सब 'बाबूजी' ही कहते हैं। इसलिए, वह बड़ा प्यारा लगा। सत्य न जाने किस झोंक से यह कह गया था। पिता बोले, ''जानता हूँ।''

सत्य को अचरज हुआ, ''आप जानते हैं?''

''होशियार बहादुर की बात मेरे कानों तक पहुँचती है।''

''फिर भी आप कहते हैं?''

''हाँ, कहता तो हूँ। क्या वकालत की वजह से मैं गिरी को तुम्हें देना चाहता हूँ? समझ लो, वकालत को नहीं, दूँगा तो मैं तुम्हें गिरी को। यह भी तो हो सकता है कि वकालत चले ही नहीं।''

बाबूजी के इस विश्वास पर सत्य का हृदय गद्गद हो गया। उसने भी अपना दिल

खोल देना चाहा—"एक बात है, पिताजी। गाँव में एक लड़की है। मेरे साथ-साथ पढ़ी है। उसका कुछ ठीक हो जाए तो, मैं शादी करूँ। मैं तो इधर यों विलास में पड़ जाऊँ और वह मेरे घर के पास झुरती-झुरती रहे। न, यह मुझसे न होगा।"

बाबूजी ऐसी बातों को पसन्द तो करते हैं, पर सनक समझते हैं। दुनिया में ऐसी साधुता कहाँ-कहाँ बरतोगे! जगह-जगह उसकी जरूरत है। और जहाँ पता चला नहीं कि तुम्हारी साधुता पर दावा करने वाले ढेरों लोग इकट्ठे हो जाएँगे। इससे अच्छा है, ऐसी मीठी-मीठी साधुताओं की बहक में आओ ही नहीं। यह बाबूजी की राय है। पर कोई अच्छी-सी बेवकूफी करना ही चाहता है तो करे। बोले—"तो उसके बारे में क्या करोगे?"

"कहीं उसका ब्याह हो-हुआ जाए तो ठीक है।"

"अच्छा।"

और अच्छा कहकर बाबूजी चुप हो गये। इस परमारथ के काम के लिए बिहारी को ही पकाया जा रहा दीखता है। बिहारी को इसमें सन्तोष मिलता है, तो इसमें भी कुछ हर्ज नहीं है। पर जान पड़ता है, मुझे थोड़ी देर और भुगतना है। लड़के का थोड़ा-सा पागलपन और ठण्डा होना बाकी है।

इसमें उन्हें शंका न थी कि लड़का घूम-घामकर आएगा वहीं, जहाँ वह समझते हैं। आँधी आती है, बड़ी जोर की आँधी। मालूम होता है, सारी दुनिया उड़ जाएगी लेकिन कुछ रेत और फूस के सिवाय कुछ नहीं उड़ता। आँधी आकर चली जाती है, और दुनिया अपने काम में लग जाती है। इसी तरह यह बिना पचे विचारों का तूफान आया है। आकर चला जाएगा, और सत्य ढंग से लग जाएगा।

9

कश्मीर स्वर्ग है और कश्मीर का शालीमार स्वर्गोद्यान। उसी स्वर्गोद्यान में बड़े-से चिनार के पेड़ के नीचे सब बैठे हैं। बाहर झील में उनका बजरा ठहरा है।

जहाँ बैठे हैं, मखमली-सी दूब का कालीन दूर तक फैला हुआ है। सामने ही नहर है। किलोल खाती बह रही है, मछलियाँ उसमें खेल रही हैं। वह नहर बहती-बहती फिर संगमरमर के प्रपात पर जा उतरती है, धीरे-धीरे बलखाती, इठलाती और खेलती हुई। मानों शहंशाह शाहजहाँ की सौन्दर्य-कल्पनाधारा जलमय होकर, लहरियों का शुभ्र-नील हलका वसन पहनकर, हमें अपनी अठखेलियाँ दिखला रही हो!

स्वर्ग की इस मनोरमता को गरिमा देख रही थी और आँखों की राह खींचकर

अपने हृदय पर चित्रित करती जाती थी। उसको ऐसा मनोरम चित्रपट कहाँ मिला होगा!

पानी उधर खेल रहा है, विपिन इधर इतनी दूर कैसे चैन से बैठा रह सके!

''दादा, हम सैर करेंगे।'' उसने सत्य से कहा। वह सब बात सत्य से ही कहता है, क्योंकि सत्य उसकी बात टालता नहीं।

उँगली पकड़कर सत्य उसे सैर कराने लगा। सब दिखलाया। जब लौटा तो विपिन की दोनों जेबें और हाथ पत्थरों, फूलों और पत्तों से भरे थे।

यह भरा खजाना दिखाने के लिए दौड़ा हुआ विपिन पेड़ के नीचे आया तो वहाँ कोई न था। इतने में सत्य भी आ पहुँचा। उसने इधर-उधर देखा। विपिन अपने खजाने को उस दूब-कालीन पर फैलाकर उसकी देखभाल में लग गया था।

सत्य को सहसा दीखा, पास ही गरिमा उस पेड़ की तरफ पीठ किये अकेली एक कुंज के पत्रों में उलझ रही है। बोला, ''विपिन, देखो, यह रही तुम्हारी जीजी!''

विपिन तो परमात्मा की लूटकर लायी हुई अपनी इस निधि को देखने में मग्न था और अचरज मना रहा था। आवाज सुनते ही चौंककर फिर अपना प्रशस्त खजाना बटोर-बटार, जीजी के नाम पर खुशी की एक चीख देकर विपिन उसी ओर भाग छूटा। सत्य भी चला।

वह मुड़ी। विपिन बेतहाशा अपनी जेबों को सँभालता भागा चला आ रहा है। पीछे सत्य है। क्या करे!

विपिन पहुँचा—

''यह क्या कूड़ा भर लाया रे!'' कहकर जेबों की तलाशी लेनी आरम्भ कर दी। चलो, यह अच्छा काम मिल गया।

''जीजी, यह देखो, ऐसा फूल तुमने देखा है? और इस पत्थर में कितने रंग हैं? एक-दो-तीन, नीला भी, सफेद भी...!''

''देखा तुमने इसका म्यूजियम!'' कहते हुए सत्य आ पहुँचा।

''देखो न कैसा पागल लड़का है!''

कहा तो, पर आगे क्या कहेगी सो सोचने में लग गयी। खजाने की जाँच-पड़ताल बन्द हो गयी।

अगर कोई उसके जमा किये खजाने की खूबी नहीं देखना चाहता, न सही, वह खुद क्यों न देख-देखकर खुश हो। विपिन वहीं बैठकर अपना अजायबघर सजाने और फैलाने लगा।

धानी साड़ी के ऊपर और कुछ नहीं है। वह साड़ी हवा में कभी-कभी स्वच्छन्दता से लहरें लेने का प्रयत्न कर रही है। और उसे दाब रखना पड़ता है। पैरों में जूती नहीं है, और बारीक-बारीक उँगलियाँ साड़ी से बाहर निकली हैं।

सत्य ने अभी इतना ही देखा। अब ऊपर मुँह उठाया। गरिमा का चेहरा अब उस तरह न रह सका। वह झुक गया। सिर पर का साड़ी का किनारा अस्त-व्यस्त हो पड़ा है, वेणी में लटें कुछ इधर-उधर बिखर गयी हैं, जहाँ-तहाँ एकाध सूखा पत्ता बालों के घोंसले में उलझ गया है।

शहरी, सभ्य, पढ़ी-लिखी लड़की का यह वन्य रूप बड़ा मनोमुग्धकर जान पड़ा।

''गरिमा!''

वह चौंकी।

''खड़ी क्यों हो? बैठ जाओ न।''

सत्य खुद बैठ गया तो वह भी बैठ गयी।

''बाबूजी कहाँ गये? और बिहारी?'' सत्य के स्वर में थोड़ी आन्तरिक मुस्कान की-सी ध्वनि थी।

गरिमा ने समझा वह व्यंग्य है। उसके अकेलेपन पर व्यंग्य है। उठकर वह चलने को हुई।

''क्यों?''

''बाबूजी यहीं कहीं होंगे, देखूँ।''

''नहीं, बैठो। बाबूजी इस अकेलेपन पर नाराज नहीं होंगे।''

गरिमा लजा गयी। सत्य ने भी देखा, यह कैसी बात निकल गयी!

''आओ, गरिमा, ये छोड़ो। ऐसे बातें कैसे होंगी। और हमें कुछ बातें कर लेने की जरूरत है। नहीं तो कहीं हम एक-दूसरे को गलत समझने लगें।''

गरिमा चुप बैठी है।

''गरिमा, मैं वकालत नहीं कर रहा हूँ। तुमसे यह कह देना जरूरी है। मेरा वकालत करने का इरादा नहीं है। क्या करूँगा, सो नहीं कह सकता। पर कभी बहुत-सा धन या मान कमा सकूँगा, ऐसी आशा नहीं। यह हम सब लोगों को समझ लेना चाहिए।''

''तो मैं इस बात से क्या करूँगी?''

''तुम्हारा तो उससे खास सम्बन्ध है।''

अब के फिर उसकी जुबान पर 'पिताजी' आ रहा है।

''पिताजी की क्या मंशा है, तुम जानती हो। पर, पर मैं तो अपने को बहुत ही अयोग्य पाता हूँ।''

''आप जो कहें, कह सकते हैं। पर मैं ऐसी बात नहीं सुनना चाहती।''

''नहीं, सुनना चाहिए, समझना चाहिए। तुम न करोगी, कौन करेगा और मेरा

साफ-साफ कह देना कर्तव्य है। अमीर नहीं हूँ, न हूँगा। पहली बात, मेरे-तुम्हारे जीवन-क्रम में बहुत अन्तर मालूम होता है। फिर एक और बात है।''

गरिमा, जो कहा, सुनने की प्रतीक्षा में है।

''वह बात यह है कि पिताजी को मैं अभी कुछ जवाब नहीं दे सकता। अभी कुछ भी न समझना ठीक है।''

इस पर तो वह चमक उठी—''आपको यह मेरा अपमान करने की कैसे हिम्मत होती है!''

''यह क्या!'' सत्य एकाएक समझा नहीं, चुप हो गया।

''मैंने आपको क्या समझा है? और आप क्यों यह सब बातें मुझसे कहने बैठे? मैं कहे रखती हूँ, मेरे अपमान की आपकी मंशा हो भी, तो भी अधिकार बिलकुल नहीं है।''

सत्य ने इस दृष्टि से कभी इस पर विचार किया ही नहीं था। पर गरिमा की भावनाओं को समझकर उसने देखा, सचमुच उससे बड़े अनौचित्य का कार्य हो गया। वह अब उसके प्रतिकार को उद्यत हुआ—''मैं...मैं...!''

किन्तु बीच में ही सुनना पड़ा—''देखिए आप यह न समझिए, आपका मुझ पर बिलकुल अधिकार है। इससे आप धोखे में पड़ सकते हैं।''

सत्य विरोध में गुनगुनाया पर क्या कहे! कि यकायक—

''अच्छा, अब आप अपनी कट्टो की कुछ बात कह सकते हैं?''

कट्टो! यह उसे क्या जाने! जरूर बिहारी की शरारत है। बोले, ''आप कट्टो को कैसे जानती हैं?''

''आप न कहिए। 'तुम' ही ठीक है। आखिर इतनी सभ्यता की क्या जरूरत? आप तो सभ्यता की जरूरत से अपने को ऊँचा पहुँचा मानते हैं। हाँ, कट्टो की बात कहिए। मैं कैसे जानी उसे, आपको इससे क्या?''

उसने देखा, कैसे एक शहरी लड़की उसे निरुत्तर कर सकती है। जब वे दोनों अकेले हैं, संसार का कोई नियम जब उनमें अन्तर डालने को उपस्थित नहीं है, तब कई बातों में यह लड़की ही उससे ऊपर है, यह सत्य ने देखा और उस पर विजय पाने की इच्छा हो आयी।

''वह गँवई लड़की है, बड़ी पगली है, उसका क्या सुनोगी?''

''बड़ी पगली है! सुनूँ तो उसका जरा पागलपन।''

''अहँ, छोड़िए।''

''वह तकिया भी तो उसका पागलपन है न?''

वह चौंका। देखा, बात बढ़ रही है। तो यह बात है! मेरा तो अधिकार कुछ है

नहीं, अपने अधिकार की सतर्कता से रक्षा भी करनी आरम्भ कर दी। पर अब वह बात में कहाँ तक झुकता जाए। बोला—''हाँ, है तो।''

''है तो? बड़े ठण्डे दिल से कहते हैं यह आप!''

''नहीं तो क्या।''

''अच्छा, जाने दो।'' गरिमा ने कहा और तभी एक ताजे उठे हुए भाव से उसका चेहरा चमक गया। पूछा, ''अच्छा, मैं वैसी ही बन जाऊँ तो कैसा! तुम्हें अच्छा लगेगा?''

''तुम बन नहीं सकतीं।''

''बन सकती हूँ, यही तो तुम जानते नहीं।''

'आप' से 'तुम' पर वह कब उतर आयी थी, सो उसे पता नहीं चला।

''कैसे?''

''ऐसे।''

कहकर वह झट से भाग छूटी और पास के दरख्त पर चढ़ गयी, जैसे बन्दर की आत्मा उसमें आ गयी हो। सत्य भी उस दरख्त के नीचे पहुँच गया। पहुँचना था कि उसके सिर पर सूखे पत्तों और छोटी-छोटी टहनियों की बारिश हो पड़ी।

''अब कैसा?''

''अब मैं पछताऊँगा।'' सत्य ने कहा।

''पछताना नहीं। कट्टो को दुनिया में सब कुछ न मानने लगना। तकिये की बात है तो आज एक मुझसे ले लेना। तैयार रखा है।''

सत्य को लगा जैसे अब वह यही करेगा। कट्टो को भूल जाएगा।

गरिमा उतरी। झटपट विपिन को साथ लिया। हँसती-खुशती एक हाथ से सत्य और दूसरे से विपिन को पकड़कर मानों उड़ाए ले चली। पर बाग के दरवाजे पर पहुँचकर एक उँगली मुँह पर रखकर बोली, ''बस, अब चुप!''

फिर वह भारी-भरकम गरिमा अपने बजरे में पहुँची। बाबूजी और बिहारी वहीं थे।

कश्मीर से लौटकर बिहारी का विवाह सम्पन्न करने की इच्छा से सत्य सीधा अपने गाँव पहुँचा।

10

आए देर नहीं हुई कि कट्टो भागी आयी। धोती मैली है, बाल बिखरे हैं, पसीना आ रहा है, हाँफ रही है। हाथ आटे में सने हैं।

"आ गये!"

"हाँ, आ गया।"

"बड़ी जल्दी आ गये। छुट्टी हो गयी ?"

"बस, अब छुट्टी ही है।"

"अच्छा तो मैं अभी आऊँगी, रोटी बनाकर। अम्माँ का जी अच्छा नहीं है। सो मैं ही कई रोज से रोटी बनाती हूँ। सुना, तो ऐसी ही भाग आयी।...बिगड़ो मत, अब की ठीक होके आऊँगी।"

कहकर रुकी नहीं, भाग गयी। मास्टरजी सोच में पड़ गये। मन में ही बोले—कट्टो, ऐसी तू कब तक रहेगी! नादान लड़की, क्या तू नहीं जानती तेरे आगे क्या है। नहीं जानती तब तक ही भला है, नहीं तो रोने के सिवाय तुझे कुछ काम नहीं रहेगा।

पर मास्टरजी ने बीड़ा उठाया है तो करके ही छोड़ेंगे। लेकिन बिहारी की चर्चा कैसे चलाएँ? सोच-सोच उन्हें लाज आती थी। बात कैसे बढ़ानी होगी?

थोड़ी ही देर में कट्टो फिर आ पहुँची। क्या निबट आयी? नहीं तो। कपड़े तो वैसे ही हैं, वही हाल है।

"चलो, आज हमारे यहाँ खाने चलो। माँ जी से कह आयी हूँ।"

कैसी लड़की है! माँ से पूछ आयी! न वक्त देखा, न अपना हाल! जो सूझा, कर डाला—न सोच, न विचार, न आगा, न पीछा।

मास्टरजी ने कहा, "चलो।"

मास्टरजी ने सोचा है अपनी बात के लिए इससे अनुकूल कोई अवसर न होगा, जब यह परोस रही होगी।

खाने को बैठे। बहुतों का आतिथ्य भुगता है, पर यहाँ तो आतिथ्य का नाम ही नहीं। ऐसा निमन्त्रण उन्होंने पहला ही देखा। अम्मा तो पड़ी हैं, कुछ मदद कर नहीं सकतीं। कट्टो सीधी चूल्हे के पास जा पहुँची। तवा थाम लिया था। चूल्हा सुलगाकर उस पर तवा रखते हुए कहा—"बैठो न, थाली ले लो।"

मास्टर साहब को अपने आप, जहाँ दीखे वहाँ से, थाली ले लेनी पड़ी और अपनी समझ के मुताबिक जगह पर जा बैठना पड़ा।

"देखो, वह पटड़ा है और यहाँ पानी रखा है।"

यह कसरत भी भुगती, पर वह सब बड़ा अच्छा लगा। ऐसा बेतकल्लुफी का बर्ताव, इच्छा रहते भी, कहीं न पा सके थे।

"देखो, मेरी रोटी जल जाएगी, नहीं तो मैं ही दे देती।"

"और मैंने जो ले लिया!"

"यही तो। जरा थाली आगे को लाना...और...अरे, नहीं, नहीं, चौके से दूर।"

"यहाँ बड़ी पाबन्दी है, कट्टो?"

"अम्माँ का चौका है, मेरा नहीं। मैं तो करती नहीं, पर जिसे बड़े चाहें तो कर देना अच्छा ही है।"

"मैं कब कहता हूँ, बुरा है।"

"हाँ, कभी मत कहना 'बुरा है'।"

इस लड़की की बात तो देखो। मास्टर से गुरुआनी-सी बात करती है। पर मास्टरजी को यह शिक्षा बड़ी मीठी लगी।

आलू का साग और पराँवठे दे दिये। उनके साथ नमक तो दिया, अचार भी, पर क्षमा याचना का एक भी शब्द नहीं—जैसे छत्तीस व्यंजन परोसकर सेठ लोग हाथ जोड़कर थमा दिया करते हैं।

"वक्त तो था नहीं और कुछ बनाती, और तुम्हें रोटी खिलानी थी जरूर...साग और दूँ? भूखे रहे तो मेरी कसम।"

मास्टरजी ने बड़े चाव से खाया। जो कहे, उन्हें स्वाद नहीं आया वह महा झूठा।

मास्टरजी अपनी बात शुरू करने की फिक्र में थे।

"कट्टो, हमारी भी बात सुनो।"

"सुनती हूँ। यह पराँवठा लो...क्या कहते हो?"

"यह पेट पर जुल्म ठीक नहीं। हाँ मेरा एक दोस्त है।"

"देखो, मैं सुनती हूँ। यह जल जाएगा तो?"

"अभी जो गया था मैं, तो वह मेरे साथ था।"

"कौन?"

"वही मेरा दोस्त।"

"कौन दोस्त? कहाँ, ठहरो, मेरा प— ।"

"तुम सुनती तो हो नहीं... ।"

"सुनती हूँ। निबटने के बाद मन लगाकर सुनूँगी। अभी तो देखो... ।"

पहले प्रयत्न में इस अजीब ढंग से निष्फल होना शुभ लक्षण नहीं जान पड़ा। अगर कृतकार्य न हुए तो... ।

निबट-निबटाकर वह आयी। नयी धोती पहने है, बाल सँवारे हुए हैं, सकुची-सकुची आ बैठी है। अब के अपने साथ थोड़ी-सी लाज लेती आयी है।

मास्टरजी ने भी देखा, यह भी मौका बेढंग हो गया है। ऐसे भारी-भारी वातावरण में बात का रुख बिगड़ न जाए! तो भी प्रयत्न तो करेंगे ही।

"तुम कुछ कहते थे," कट्टो ने ही शुरू किया।

"हाँ, कट्टो, एक बात कहनी है।"

मास्टरजी ने विचित्र दृष्टि से देखा। कट्टो जरा झेंपी।

"कट्टो, तुम्हारी सहेली सरमो कहाँ गयी?"

"उसका ब्याह हो गया। ससुराल में है।"

"और चिरोंजी?"

"उसका तो ब्याह अभी बैसाख में होके चुका—तुम्हें नहीं मालूम?"

"कट्टो...!"

कट्टो ने देखा, कुछ बात बड़ी देर से गले तक आयी है और वह अटक रही है। अब वह बात निकल ही आनी चाहिए। कहा, "क्या... ?"

आवाज गिर गयी। कहीं कोई सुन ले फिर मानों क्षमा माँगते से सत्य के मुँह से शब्द निकले—"कट्टो, तुम्हारा ब्याह... ?"

कट्टो के मर्म में दंश देना क्या उन्हीं के भाग्य में लिखा था!

कट्टो सुन्न, स्तब्ध बैठी रही। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे आँखें उठायीं। यही आँखें! पलकें उन पर झुकी हुई हैं, और वहाँ आर्द्रता फैली हुई है। फिर धीरे-धीरे उन्हें गिरा लिया।

"कट्टो, मेरा एक दोस्त है...।"

जो चाहे कहे जाओ—कट्टो को कुछ मतलब नहीं।

"कट्टो मेरा एक दोस्त है। मेरे जितना ही पढ़ा है। हम दोनों साथ रहे हैं। बड़ा अच्छा है। कट्टो, मेरी बात मानो बड़ा अच्छा है। बाप वकील है। पैसे वाले हैं, बड़े आदमी हैं। कट्टो, वह तुम्हें रानी बनाकर रखेगा। मैं इसका जामिन हूँ—कट्टो!....कट्टो मानो तो?"

कट्टो क्या कहे, कैसे कहे। उसके पास वही आँखें हैं जिन्हें उठा सकती है और गिरा सकती है। उन्हीं में पढ़ लो क्या लिखा है—वही उसका उत्तर है।

"कट्टो, मेरी बात नहीं मानोगी! मेरी एक बात, उसे टाल दोगी? मुझे फिर तुमसे कुछ कहना नहीं रह जाएगा।"

उत्तर में मिला मूक मौन और आँखों में भरी विवशता और आर्द्रता इन्हें पढ़ने में कौन भूल कर सकता है।

"अब तुम जानो। तुम नहीं जानतीं, तुम्हारे आगे क्या है। फिर कभी इस क्षण के लिए पछताओ तो मुझे दोष न देना!"

आँखों ने कहा, "मैं किसी को दोष नहीं देती। पर तुम मुझसे ऐसी बातें न कहो।"

"जैसी मर्जी। भगवान तुम्हारा भला करे।"

इसके बाद दोनों चुप बैठे रहे। फिर उस नीरव त्रास-भरे सन्नाटे को भंग कर कट्टो ने पूछा, "जाऊँ?"

"जाओ!"

"जाऊँ?"

"जाओ।"

"जाऊँ?"

"जाओ।"

वह चली गयी।

11

मन में एक बात उठी और गिरी, उठी और गिरी। बार-बार गिराया गया, लेकिन फिर-फिर वह उठ आती है।

कट्टो का शून्य, नष्ट भविष्य आँखों के सामने से हटकर नहीं जाता। कैसा वह हाहाकार से भरा हुआ है! और वह! आगे आते विलास को आमन्त्रण दे रहा है!

एक बार फिर बुलाकर चेष्टा कर देखें। बुलाया—वह आयी।

साँझ गाढ़ी होती जा रही है। प्रकाश मटमैला हो चला है। कमरे में सूनी घड़ियाँ सन्ध्या व अँधियारे में डोलती-डोलती मानों ठहर गयीं। सत्य एक कुर्सी पर बैठे हैं। वह भी जैसे जड़-जगत के ही पदार्थ हैं, ऐसे निश्चेष्ट और निस्पन्द हैं।

वायु जैसे प्रविष्ट हो, ऐसे चुपचुपाते निरपेक्ष भाव से कट्टो ने वहाँ प्रवेश किया। आकर खड़ी हो गयी।

तब उठकर सत्य ने कमरे का एक झरोखा खोल दिया। अस्तोन्मुख सूर्य की एक अरुण आभा कट्टो के चेहरे को उजला कर गयी। आसपास की और चीजों को देखते कट्टो का चेहरा जगमगाता दीखने लगा।

सत्य ने देखा—आँखें आँसुओं से खूब धोयी गयी हैं और फूल आयी हैं, जैसी फूली-फूली धुली कमल की दो लाल पंखुड़ियाँ हो। लेकिन उनके सारे भेद और सारे स्नेह को पलकें मजबूती से ढँके हुए हैं। सत्य की दृष्टि उन झपते हुए कपाटों तक पहुँचती है, भीतर नहीं पहुँच पाती और लौट आती है। आज सत्य उनके भेद को प्राप्त कर अपने हृदय के भीतर छिपा लेना चाहता है। कोई उसे नहीं देख पाएगा।

आज यह अमानव मूर्ति, इस अँधेरे वातावरण में, मानों सत्य की आत्मा को प्रकाश दिखलाने के लिए आयी है।

मूर्ति ने मुँह ऊपर को उठाया। तभी जैसे बादल सामने से फट गये हों, एक तेज चमकती हुई किरण भरपूर उस उठे हुए मुख पर पड़ी।

सत्य ने एक निगाह देखा और सहम गया। यह तो कट्टो का मुँह नहीं है—कुछ और ही है। चंचलता से नहीं, सुष्ठु गाम्भीर्य से भरा बालोचित औत्सुक्य की जगह स्नेहाभिषिक्त प्रणयाकांक्षा से खिलता हुआ विह्वलता बरसाता यह चेहरा कट्टो का नहीं।

उसी चेहरे ने कहा, ''क्या है ?''

''कट्टो, मेरी एक बात नहीं मानोगी ?''

''मानूँगी। बस, यही नहीं।''

''यही नहीं ? क्यों ?''

''क्यों ? सो मत पूछो। इसलिए कि मेरे भाग्य में नहीं है। मैं अभागिन हूँ।''

''कट्टो, देखो!''

कट्टो ने देखा। भरपूर देखा।

सत्य पर उस समय एक अलौकिक-सी दीप्ति छा गयी थी। कुछ भीतर हो गया है, जिसने इसकी देह को छिपा दिया है।

''कट्टो, मुझे देखो। देखती हो... ?''

''देखती हूँ।''

''जाने दो सब बात। मैंने तुम्हें बहुत दुःख पहुँचाया। अब उसका प्रतिकार करूँगा।''

''नहीं...नहीं...।''

''देख लिया ? अब बोलो, क्या कहती हो ? मुझे, मुझे क्या कहती हो ?''

कुछ नहीं कहती। सूरज छिप गया है। बस, वह अँधेरे में अपने मास्टर के पैर टटोल लेना चाहती है।

पैरों को पाकर कट्टो ने अश्रु-जल से उनका खूब ही अभिसिंचन किया।

12

सत्य वहाँ ठहर न सके। उनके प्राणों में जो एक ज्वार उठा है—मीठे दर्द का एक तूफान-सा—वह दीवारों से घिरे उस कमरे में झेला नहीं जा सकेगा। पैर आँसुओं से धोये जा रहे हैं, और मन देह के बन्धन में से फट निकलकर बह रहना चाहता है। कमरे में से निकल पड़े, सुध-बुध जैसे खो गयी, पता नहीं कहाँ जाकर क्या करेंगे! पास ही गंगा की नहर बहती है। वहीं पहुँचे। ऊपर चारों ओर बिना सीमा का आकाश फैला है, जैसे माँ

का आँचल फैला हो। हवा हल्की-हल्की बह रही है, मानों उसी माँ की ठण्डी उसाँसें हैं। पास ही में है गहन रोती जाती हुई जलधारा, मानों अपने बच्चों के छोटे सुखों और बड़े दु:खों पर उसी माँ के बहाए आँसुओं की धारा हो। माँ के इस अंक में आकर, जो अब सारी सृष्टि को थपकियाँ दे-देकर सुला रहा है, और उसके ऊपर अपना तारों से छिटका आँचल तानकर, निरन्तर जागरूक, उनकी नींद की चौकसी कर रहा है—इस अंक में आकर उसे कुछ चैन-सा मिला। आनन्द-व्यथा में बोध प्राप्त हुआ। उसकी सावधानता लौट आयी। मालूम हुआ, अब वह नींद चाहते हैं। जीवन के चूड़ान्त उत्कर्ष पर से खिसक आए हैं, तो थकान हो आयी है। घर आकर गाढ़ी नींद में सो रहे।

× × ×

इधर कट्टो सौभाग्य के पहाड़ के नीचे दबकर अचेतन-सी हो गयी। जिसके पास तक स्वप्न में भी पहुँचने की हिम्मत नहीं हुई थी, वही सौभाग्य जब एकदम इस तरह सिर पर बरस पड़ा तो कट्टो विह्वल हुई और फिर बेसुध हो गयी। सुध आयी तो मास्टर साहब जा चुके थे, वह अकेली ईंट के फर्श को भिगोती हुई पड़ी थी। उठी, अँधेरा था, अँधेरे में ही धोती का किनारा माथे के आगे तक सरका लिया और टटोलती-टटोलती दरवाजे की ओर बढ़ी।

कहीं कोई देख न ले! इस सौभाग्य को किसी की नजर न लगने पाएगी। आज उसमें न जाने कहाँ की लाज समा गयी है। धोती के बाहर अपना अँगूठा दिख जाता है, तो सिहर उठती है, सिमटकर वहीं बैठ जाने को जी होता है। आज वह अपने सौभाग्य को साथ लेकर, मन होता है, कहीं गड़कर सो जाए कि फिर उठे ही नहीं; कहीं दुबक जाए कि फिर दिखे ही नहीं। सिमटी-सिमटाई, सहमी-सहमी। अचक से घर में घुसी और बत्ती जलाकर खाट पर बैठ गयी।

रात भर नींद नहीं आयी। उसने भी व्यर्थ चेष्टा नहीं की। सारी रात न जाने कहाँ-कहाँ उड़ती रही, धरती पर तो एक क्षण भी टिककर ठहर सकी नहीं।

ओहो, आज उसका छोटा-सा मन फूलकर कैसा हो गया है! मानों सारे विश्व को अपने उछाह से और अपने प्रणय से प्लावित कर देगा। सारी रात जगकर उसने एक बात तय की। कल पर्वी के मेले में वह जरूर जाएगी। बहुत जरूरी तौर पर उसे कुछ चीजें खरीद लानी हैं। मँगा तो सकती नहीं, पता जो चल जाएगा!

बारह-एक बजे से इस बात की टोह में है कि कोई पर्वी जाने वाला जगे और यह अपने जाने की विधि ठीक कर ले।

क्या लाएगी!—दो चूड़ियाँ लाल, एक बिन्दी-टिकियों की डिबिया, एक...उहँ! वह कैसे बताए? याद नहीं। लाज आती है। कल देखा जाएगा।

और योग देखो। कैसी गंगा को पर्वी आयी है—ठीक जब कि उसके भी जीवन का पर्व अचानक ही आ पहुँचा है। उसके मन में सन्देह नहीं यह इस पर्वी का ही प्रसाद है।

आखिर रात कटी और औरतों की तैयारियों की धूम सुन पड़ी। पड़ोस में अग्रवाल बनियों के यहाँ से कई जा रही हैं। उन्हीं के साथ जाना उसने भी ठीक-ठाक कर लिया।

13

सत्य जागे तो नये लोक में जागे। कल बीत गया, आज नया दिन आया है। यह नया फटता हुआ दिन। रोज के नित्य-नियमित कार्य और आज के विशेष-विशिष्ट कार्य आदि उनके मस्तक पर कब्जा जमा बैठे हैं। कल शाम की घटना किसी भूले कोने में पड़ गयी है। कल कुछ हो तो गया है, पर वह उनके सामने धुँधला-सा है। अभी अवकाश नहीं है कि वह उसे स्पष्ट करके देखें। और कामों की भीड़ भी तो है जिसे निपटाना है। काम खत्म होते जा रहे हैं और वह नये-नये पैदा करते जा रहे हैं। बात यह है कि कल की घटना की स्मृति, जो और सब बातों को ठेल-ठालकर अपने-आप सबसे आगे आ खड़ा होना चाहती है—उसे सामने पाने और सामने लाने से सत्य डरते हैं। पर जबर्दस्ती की व्यस्तता नहीं टिक सकती। खाना खाकर अपने कमरे में आये, तो कल की घटना की एक-एक बात उठकर हठात् उनके सामने आ खड़ी होने लगी। सबको एक बार देख गये, कुछ समझ नहीं पाये कि यह सब क्या और कैसे हुआ, और कुछ-कुछ अपने पर शर्माये। उन्हें उसकी वास्तविकता पर सन्देह होने लगा।

यह क्या हुआ! बात तो बिहारी की करने चले थे। सो तो न हुआ, पर मैं कैसे सामने पड़ गया! बिहारी क्या सोचेगा? आखिर मैंने क्या कहा? यही कि वह मुझे स्वीकार करती है या नहीं। वह रो पड़ी, स्वीकार करती है। पर उसने ऐसा कहा तो नहीं! तो क्या मैं उसे अपनाऊँगा? क्या अपनाना होगा?

यह सोचकर देखा, बात कुछ ऐसी ही-सी प्रतीत होती है।

तब बहुत-सी बातें बढ़-बढ़कर विरोध में खड़ी होने लगीं। बाबूजी, गरिमा! बाबूजी भी कुछ नहीं। और गरिमा! गरिमा भी, खैर देखा जाएगा। लेकिन, लेकिन।

इस बहुत बड़े 'लेकिन' में कई बातें थीं। यह कैसी अजीब-सी बात होगी। लोग क्या कहेंगे। बिरादरी और गाँव में क्या हैसियत रह जाएगी! यह सब होगा कैसे! और कट्टो की माँ! फिर, फिर मेरी माँ!

यहाँ वह बिलकुल रुक गया। यहाँ मानों ऐसा प्रतिबन्ध मिला जिसके आगे गति नहीं, जिसे लाँघ सकता ही नहीं।

माँ यह कभी नहीं होने देगी। सुनेगी तो मर जाएगी। थोड़ी-सी बातों पर वह

जिन्दा रहती है। लड़के को इतनी तो छूट दी, पर यह अधर्म नहीं होने देगी। रोकेगी तो कैसे—अगर मैं अड़ जाऊँ—पर जान जरूर दे देगी, इसमें शक नहीं। मौत से जब वह कुछ वर्षों के अन्तर पर ही रह गयी है, तो क्या मैं ही उसकी बची-खुची जिन्दगी के ये बरस छीन लूँ और उसे अपने ही हाथ से मौत के मुँह में धकेल दूँ!

पर...पर कल क्या हो गया है, और कट्टो!

इस पर उसे ध्यान हुआ कि उसे सुबह से देखा नहीं। अभी जाकर वह कट्टो से सब बातें साफ कर लेगा। कट्टो के घर पर जाकर पुकारा, ''कट्टो!''

कट्टो की माँ की आवाज आयी, ''कौन है!''

''मैं हूँ, अम्मा।''

''आओ, बेटा!''

भीतर पता चला, कट्टो गंगा स्नान को गयी है। सत्य ने देखा माँ जिन्दगी के दूसरे किनारे के पास आती जा रही हैं। न जाने कब यह माँ भी छिन जाए।

''बैठो, बेटा! देखो, वह लड़की गंगा चली गयी है। मुझमें अब कस रह नहीं गया, काम नहीं होता। हाथ काँपते हैं। जिन्दगी-भर काम करते रहे हैं, अब काँपते हैं तो उनका क्या दोष। लड़की नहीं जाती तो क्या था। पर वह अपनी ही चलाती है। बार-बार कह चुकी हूँ, देख ऐसे दुःख देखेगी। दुनिया के नीचे होकर रहना अच्छा। मेरे पीछे तेरा कोई सहाई नहीं होगा। तब तू मेरी सीख याद करेगी। अब तो तेरी निभे चली जाती है। पर दुनिया में और माँ तेरे थोड़े ही बैठी है। इस पर वह रोने लगती है। कहती है, अम्माँ, तू ऐसा मत कह। मैं तेरे बाद बहुत थोड़ी जीऊँगी। तेरे सामने तो मैं अपनी चला लूँ, फिर चलाने को कब मिलेगा! बेटा, वह अजीब लड़की है। फिर फूट-फूटकर रोने लगती है। मेरे पैरों में सिर रख देती है। कहती है, इस सिर में मेरे एक ठोकर तो दे, माँ। मैं ठीक हो जाऊँगी। बेटा, मैं उसे दोष नहीं देती। अब दस दिन तो मैंने काम छुआ नहीं, वही सब करती है। नेक आलस नहीं, नेक्लेस नहीं, फिर ऊपर से मेरी टहल। ये उसके काम के दिन हैं, बेटा! और बच्ची इतनी पढ़ती, खेलती है और खाती है। पर इन बातों में क्या? काम ऐसी मुस्तैदी से करती है, बेटा, कि मैं क्या कहूँ। किसी घर में होती तो रानी ही होती। पर रोये से क्या? जो लिखा था, सो हुआ; जो लिखा था सो भुगता। बेटा, मैं उसे बिलकुल दोष न देती। गंगा गयी है, चलो सुस्थ हो आएगी। पहले इतने काम में नेक विश्राम भी चाहिए। आएगी तो फिर जुट जाएगी। बेटा, एक बात कहूँ? कहना बिरथा तो है ही, पर कहे बिना रहा नहीं जाता। बेटा, वह तेरी बड़ी तारीफ करती अघाती नहीं। सुपने में भी उससे वही सुन लो। बेटा, देख मेरे पीछे उसकी खबरदारी रखियो। मैं भी तेरी माँ ही सरीखी हूँ। तू नहीं होता तो...तो...मैं...उसे जहर ही देकर जाती। दुनिया ऐसी बुरी है, बेटा कि क्या कहा जाए। तेरे जैसे यहाँ विरले होते हैं, रतन होते हैं। उन पर ही यह टिकी है, नहीं तो डूब जाती। तेरे में ही मुझे धीरज है।''

विपदा की यह कहानी सत्य नतमस्तक हो कर्तव्य से विमुख होते हुए अपने मन के लिए उपदेश मन्त्र के रूप में स्वीकार कर रहा था। अपनी अकेली बेटी को, जो विधवा है और बच्ची है, इस चूसने की घात लगाये बैठी दुनिया में अकेले छोड़ जाने की तैयारी करती हुई दुखिया माँ के कलेजे से निकला यह दर्द सत्य ने वरदान के रूप में स्वीकार किया। प्रार्थना की कि परमात्मा उसे इस योग्य बनाए। प्रार्थना की कि उसे अपने संकल्प में स्थिरता और सामर्थ्य दे। जिस बात को उठाने के खयाल से यहाँ आया था, उसे बहा दिया।

माँ ने फिर कहा, ''अरे सत्य, तेरा ब्याह कब होगा? सुनते हैं, लड़की खूब पढ़-लिख गयी है। वह तो कह रहे हैं, पर तू ही मना कर रहा है। क्यों रे, यह क्यों?''

खीर के भोजन में नोन की यह अनी मुँह बिगाड़ गयी। कड़वापन फैल गया। उसी कड़वी मन:स्थिति से कड़वाहट के साथ कहा—''अम्माँ, उसने फिर यहाँ न आने दिया तो?''

''अरे, कैसी बात करता है रे?''

''अम्माँ! मैं तो गाँव का हूँ, वह शहर की है।''

''हिश-श्-त्!''

''अम्माँ! मैं तो अभी करता नहीं। करूँगा इसका भी क्या पता?''

''मैं तो अपने लिए कहती हूँ रे। कट्टो—एक बात कहूँ। तैने 'कट्टो' नाम बड़ा अच्छा रखा है। वह कट्टो ही है। कट्टो को एक जीजी मिल जाएगी। तू सदा उसे पढ़ाने को थोड़ा ही बैठा रहेगा, अपने काम पर लगेगा। बस, वह इसे पढ़ाया करेगी, शऊर सिखाएगी और यह उसकी टहल करेगी। मैं उसे सब समझा जाऊँगी। नेक बेअदबी करे, आना-कानी करे, उसे काट डालना। पर रखना उसे अच्छी तरह।''

''देखो, अम्मा, क्या होता है। जो होगा सो होगा। और सब अच्छा ही होगा। पर अम्मा, कहता हूँ, तुम्हारी कट्टो को कुछ मुश्किल नहीं पड़ने दूँगा।''

''नहीं। कट्टो तब तक खुश नहीं होगी, जब तक तू ब्याह न करेगा। वह अभी से कह रही है, जीजी आएगी तो वह उससे पढ़ा करेगी और उसकी सेवकाई करेगी।''

''अम्माँ...!''

वह इसकी बात का प्रतिकार करना चाहता है। क्या वह नहीं जानता कि इससे भी बड़ी खुशी उसके भाग्य में हो सकती है। क्या वह कट्टो को नहीं जानता कि उसकी बड़ी खुशी किस बात में होगी! और क्या वह उसी के लिए नहीं तैयार हो रहा है। पर उसने कहा, ''अम्माँ''—और वह रुक गया। जैसे किसी ने जबान को पकड़ लिया, यह क्या कहता है? अम्माँ इस बात पर क्या सोचेंगी?

लेकिन असमाप्त बात का ध्यान कर वह अपने से प्रसन्न हुआ। उसी के आवेश में अटकी बात को खतम करते हुए कुछ हँसकर बोला—''अम्माँ,...कट्टो की जीजी

आयी, और उसने कट्टो को प्यार नहीं किया तो मैं उसका सिर तोड़ दूँगा।''

''और कट्टो ने गड़बड़ की तो उसका भी सिर तोड़ देना, मैं कहे देती हूँ। कहीं भी हुई, मैं इससे बड़ी खुश हूँगी।''

माँ की बातों से उसने बहुत कुछ दृढ़ता पा ली और स्वस्थचित्तता भी। तब कुछ देर और ठहरकर और माँ को हँसा-हँसूकर वह घर आया।

14

पुरुष बनाता है, विधाता बिगाड़ देता है—अँग्रेजी की एक कहावत है। संशोधन कर यह भी किया जा सकता है—पुरुष बनाता है, स्त्री बिगाड़ देती है। तब भी कहावत में कम तथ्य या कम रस नहीं रहता। बात वास्तव में यह है कि पुरुष कम बनाता या कम बिगाड़ता है। नहीं, पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को, कुटुम्ब को बनाती है। जाति और देश को भी मैं कहता हूँ, स्त्री ही बनाती है। फिर उन्हें बिगाड़ती भी वही है। हर्ष भी वही और विमर्श भी। ठहराव भी और उजाड़ भी। दूध भी और खून भी। रोटी भी और स्कीमें भी। और फिर आपकी मरम्मत और श्रेष्ठता भी—सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है, और फैशन की जड़ भी वही है। बात क्यों बढ़ाओ, एक शब्द में कहो,...दुनिया स्त्री पर टिकी है। जो आँखों से देखते हैं, चुपचाप इस तथ्य को स्वीकार कर दुबके बैठे रहते हैं ज्यादा चूँ नहीं करते। जिनके आँखें ही नहीं वे मानें या न मानें, हमारी बला से।

सत्य कट्टो और गरिमा के बीच में इधर-से-उधर टकरा रहा है। अभी कुछ स्थिर कर पाया था कि कट्टो की माँ ने ढा दिया। वहाँ से कुछ स्थिर करके चला तो यहाँ अपनी माँ से मुकाबला हुआ।

खाना खिलाते-खिलाते माँ ने कहा, ''सत्य ब्याह अब और नहीं टल सकता।''

सत्य ने कुछ गुनगुन किया।

''नहीं। बहुत देखा। अब तुझे मेरी माननी पड़ेगी।''

''अम्माँ, मैं...।''

''मैं-वैं कुछ नहीं। जो कह दिया, बस।''

''मैं नहीं कर सकता माँ, तुम तो जानती नहीं।''

''क्या नहीं जानती ?''

''कुछ नहीं, लेकिन...।''

''क्या लड़की में कुछ है!''

''नहीं-नहीं, माँ। लेकिन...।''

''फिर वही। मैं जानती हूँ, लड़की बड़ी अच्छी है। तू भी उसे चाहता है। मैं और कुछ नहीं सुन सकती।''

''माँ, मैं नहीं कर सकता।''

''नहीं कर सकता! क्यों? सुनूँ तो।''

''मैं...मैं...।''

''कुछ बोलता है नहीं—कहता है, नहीं कर सकता!''

''मैं...मैं!''

''नहीं करता तो जी चाहा कर। यह माँ भी तेरी ज्यादे नहीं बैठी रहेगी।''

फिर उमड़न आयी। माँ का मुँह बिगड़ा, हिला। सत्य रोना नहीं झेल सकेगा। बोला, ''माँ...।''

''मैंने क्या किया जो अपनी बहू का मुँह नहीं देखा। हाय, ऐसे ही मर जाऊँगी!''

अब माँ फूट पड़ीं। सत्य चलने को हुआ, ठहरा कैसे रह सकता था! खाना छोड़ उठा, हाथ धोये, तब माँ ने एक चिट्ठी जो बराबर उनके हाथों में थी, सत्य के पास फेंक दी।

सत्य ने देखा, बिहारी की चिट्ठी है। माँ के नाम है। बिहारी दो-एक रोज में यहाँ पहुँच जाएगा। बाबूजी शादी का सब कुछ ठीक-ठाक कर लेना चाहते हैं। इसलिए बिहारी आ रहा है।

यह जानकर सत्य पर बर्फ-सा पड़ गया। बिहारी से किस मुँह से मिलेगा। और शादी का कैसे क्या होगा! सिर की पीड़ा को हाथों में लेकर खाट पर पड़ रहा और सो गया।

15

कट्टो गंगाजी से बड़ी-बड़ी चीजें लेकर लौट आयी है। अम्माँ के पास आयी, ''अम्माँ, मैं गंगा चली गयी, तुम बिगड़ी तो नहीं! तकलीफ तो हुई होगी। अम्माँ पर्वी अब के जरूर नहाना चाहती थी। अब कहीं नहीं जाऊँगी?''

''बेटा कुछ नहीं। पीछे तेरे मास्टर आये थे। मैंने तेरी बात कह दी?''

''क्या अम्माँ?''

''यही कि तेरी जीजी झटपट ले आएँ, तू अब उसी से पढ़ना चाहती है।''

ओहो! एक भेद की बात कट्टो के पास है। अम्माँ जानती भी नहीं। इस विशिष्ट-अधिकार पर कट्टो गर्व से भर रही। बोली—''अम्माँ, तो उन्होंने क्या कहा ?''

''कहा क्या! तेरा मास्टर अजीब है, कट्टो। बोला—देखा जाएगा, अभी जल्दी काहे की है। कट्टो, क्या पता वह शायद ऐसा ही रह जाए!''

हाँ, कट्टो का मास्टर अजीब है। पर यह माँ क्या जाने उसका अजीबपना!

''कट्टो, मेरी बात पर वह कहता था कि कभी तेरी जीजी आयी भी और उसने तुझे पढ़ाने में यह-वह किया तो सिर फोड़ दूँगा उसका।''

कट्टो बहुत सुन चुकी। आगे और कुछ सुनना नहीं चाहती। पूछा, ''अम्माँ, आज क्या राँधूँ? चावल ?''

''जो चाहे ?''

वह भाग गयी। भागकर चौके में नहीं गयी, अपने कमरे में आयी। वहाँ एक तेल से चिकने हो रहे आले में अभी-अभी ताजी-ताजी बिसाती से खरीदी एक टिकुली की डिबिया, एक छोटा-सा दर्पण, एक राधा-किसन की तसवीर, ऐसी ऊटपटाँग चीजें सजाकर रख दी हैं। यहाँ आकर उस छोटे से दर्पण को लेकर, दोनों भवों के बीचों-बीच, जरा ऊपर को, सींक से उस डिबिया में से, बड़ी नन्ही-सी एक टिकुली लगा ली। देखती रही, कि कैसी यह लाल-लाल बिन्दी काली पड़ती जा रही है।

तभी दर्पण को फेंक देना पड़ा और धोती के छोर को माथे के एकदम आगे खींचकर भागकर कमरे के एक कोने में सिमट बैठ गयी। हाय! लाज आती है!

मैं कैसी लगती हूँ, कैसी लगूँगी ? मास्टर देखेंगे तो क्या सोचेंगे ?

ऊँ! देखेंगे ही नहीं। मैं जाऊँगी ही नहीं। फिर याद जो करेंगे, करें, मेरा क्या ?...''मैं तो नहीं जाऊँगी। कैसे जाऊँगी ?

तभी एक बात उठी।

मैं गयी ही और उन्होंने 'कट्टो' कह दिया तो ? वह ऐसे ही हैं, समझते हैं नहीं, कुछ भी कह देंगे। उन्होंने कहा, तो—तो मेरा तो मरण हो जाएगा ?

इस बहस में सोचते-सोचते तीव्रता आ गयी। तभी वह कोने में से उठ आयी। हाथ के एक झटक से धोती का छोर पीछे जा पड़ा। सिर उघड़ गया। उघड़ा रहे, सो क्या हुआ! दवात, कलम, कागज ले आयी और खाट पर बैठकर लिखने लगी। बिन्दी वहीं माथे पर बैठी-बैठी ऊपर उघड़े सिर को देखकर और नीचे इस लिखी जाती हुई चिट्ठी को देखकर चुपचाप कैसी लाल-लाल हँसी हँस रही है।

16

सत्य सोकर उठा तो कुछ समझ नहीं पा रहा है। पास ही वह बिहारी की चिट्ठी सिकुड़ी-सिकुड़ाई पड़ी है। उसने अनमनाये मन से उसे उठाकर पढ़ा। जैसे पहली ही बार पढ़ा हो, वह चौंक उठा।

क्या होगा! वह क्या करे! माँ को मर जाने दूँ? बिहारी से क्या कहूँगा? उसे क्या सफाई दे सकूँगा! और वह मन में क्या समझेगा।

यह कट्टो ने बीच में आकर क्या गड़बड़ मचा दी है। वह कौन है! मेरी क्या लगती है! मुझे उसका क्या देना है! फिर वह मुझे क्यों इस तरह तंग करती है!

तभी किसी ने चुपके से कान में कहा—

वह कहाँ तंग करती है! इतने दिन से तुम्हारे पास आयी तक तो नहीं। वह तो तुमसे कुछ कहती नहीं। अपने चुपचाप दिन काट रही है। वैसे ही काट ले जाएगी।

सत्य बड़े झमेले में है। बड़े संकट में है। रह-रहकर सोचता है, मैं क्यों व्यर्थ अपने ऊपर ज्यादा जिम्मा लेकर विधाता के काम में अड़चन डालूँ! होने दो जो हो, मैं कुछ नहीं बोलता। लेकिन रह-रहकर मानस क्षेत्र में आँसुओं से पद-प्रक्षालन करती हुई उठ आती है वह कट्टो, जो कहती है, ''मैं कुछ नहीं कहती। मैं किस लायक हूँ! चाहे सो करो।''

यह गड़बड़ उससे खत्म होती नहीं होती, वह क्या करे? सोचा, अपने को निश्चेष्ट, ढीला छोड़ दूँ। जो होगा हो जाएगा।

लेकिन इस तरह देखा, निश्चेष्टता से कुछ नहीं होगा। यही होगा कि बाबूजी जीत जाएँगे, कट्टो हार जाएगी। जो हारता रहा है हारेगा, जीतता रहा है वह जीतेगा। और कट्टो इस हार को ही प्राण-प्रण से स्वीकार कर दूसरे की जीत को खट्टा बना देगी। कट्टो तो जीवन के इस खेल में हार का ही दाँव आगे बढ़ाकर चलती है। इसलिए जो मिलता है, उसी में उसकी जीत है।

सोचते-सोचते उसका सिर मानों धुन डाला गया है। एक ओर अपनी बात की रक्षा है और बेचारी कट्टो की रक्षा है। दूसरी ओर अपनी हैसियत की, अपनी माँ की, अपने सब कुछ की रक्षा का ख्याल है। और कट्टो, क्या सचमुच आवश्यक रूप में उसके ही द्वारा रक्षणीया है!

कट्टो, मैं अपनी माँ के पास जाता हूँ। पैरों में सिर रखकर कहूँगा, ''माँ, बहुत दु:ख दिया। अब और दु:ख न दूँगा। आज्ञा करो।'' यह सोचकर अपनी माँ के पास जाने के लिए वह संकल्प कमाने में लगा।

तभी मुँह पर नाक और धूल की लेही लपेटे अग्रवालों के घर की खीरा आ खड़ी हुई।

''क्यों, खीरा बेटी! क्या है ?''

''ये कागद,'' कहकर उसने हाथ की मुट्ठी खोल दी।

''किन्ने दिया... ?''

''उन्ने ही...।'' कहकर वह अपना बताशे का इनाम लेने चली गयी। बुरी तरह गुड़ीमुड़ी हुआ वह बदामी कागज खुला—

''मेरी...मेरी एक बात है। उड़ाना नहीं, बुरा होगा। मुझे अबसे कट्टो मत कहना। लाज आती है। ब्याह हो जाए तब चाहे जो कुछ कहना। उससे पहले नहीं—तुम्हें मेरी कसम। तुम्हारी कट्टो।''

''पीछे तुम अम्माँ के पास गये, मुझे पता चल गया। क्यों गये ? मेरे कारण सोच में मत पड़ना। कट्टो।''

खत पढ़कर उनका माँ के पास जाना रुक गया।

17

बिहारी को घर पर चैन नहीं पड़ा। भीतर जो कट्टो का कल्पना के सहारे बनाया हुआ एक चित्र बैठ गया है, दिल को गुदगुदाता रहता है। इसीलिए पिता को वह पत्र लिखाने के लिए उकसाया और इस तरह गाँव आने का बहाना प्राप्त किया। बाबूजी भी अब सचमुच बहुत बाट देखते बैठना नहीं चाहते। वह सत्य को खो देने को तैयार हैं; इस वर्ष से आगे गरिमा का ब्याह टालने को तैयार नहीं।

पिता की इन सब इच्छाओं को समझकर और कैसे क्या करना होगा, इस सबका भी खाका मन में बिठाकर बिहारी सत्य के गाँव के लिए रवाना हुआ।

कट्टो कैसे मिलेगी, कैसी होगी! इन सब सम्भावनाओं पर उसकी कल्पना दौड़ रही है और उसे चुटकियाँ ले रही हैं। वह अपनी कल्पनाओं को बहकाना चाहता है, पर वे न किताब में और न रेल के बाहर के खेत और जंगल के दृश्यों में ही अटक पाती हैं, वे तो छूट-छूटकर वहीं गाँव की कट्टो के पास भाग निकलती हैं।

वह गाँव में कभी नहीं आया है। तो भी उसे दिक्कत न होगी, वह सब ठीक-ठाक कर चुका है।

कट्टो पानी भर रही हो तो! तो मुझे क्या समझेगी, क्या करेगी ?

ओह! अगर कहीं मास्टर साहब के पास पढ़ती हुई मिली तो बड़ा मजा है।

भई, बड़ी अच्छी बात होगी। मैं गाँव में रहने लगूँगा। एक झोंपड़ी बनवा लूँगा। शहर में रहना कुछ नहीं, तमाम दुनिया की आफत। उसे तो मैं शहरी कभी नहीं

बनाऊँगा। देखी तो हैं शहर की, मानों आसमान पर चढ़ आएँगी। नहीं जी, गाँव में रहेंगे हम, मैं और कट्टो। बाबूजी कहेंगे तो कहें, मुझे नहीं पसन्द यह वकालत। मनहूसियत छा जाती है। जिन्दगी का मजा कुछ रहता ही नहीं। पैसा, अदालत, मुवक्किल और झूठ और फरेब, और नहीं बढ़िया किसान बनकर रहूँगा। फिर अपनी अँग्रेजी डिग्री को, चोगों और सनदों को खूँटी पर लटकाकर कहूँगा—लोगो, वह रही तुम्हारी वकालत और वह रही तुम्हारी अँग्रेजी! उन्हें हाथ जोड़ो, मुझे छोड़ दो। मुझे चुपचाप किसान बनकर रहने दो। कैसा मजा रहेगा! खुशी से भरी और फिक्र से खाली, मनुष्यता से भरी और बनावट से खाली—बड़ी सुख की जिन्दगी होगी वह। लोगों से कहूँगा,—सलामत रहें ये सनदें, इन्हें लटका रहने दो, (कभी-कभी झाड़न से उन्हें झाड़ दूँगा) पर मुझे तो मेरी किसानी भली और मेरी गाय, गाय एक जरूर रखूँगा और वह मेरी कट्टो।

इसी तरह की बहक में वह बेरोक बह चला। रेल में बैठे-बैठे इस तरह जो बाग-बगीचे उसने बनाये और किले खड़े किये, उन सबके बीच में प्रतिष्ठित होती थी, यही कट्टो!

तब वह सोचता था, बनी रहे यह तन्दुरुस्ती और यह शरीर, अपने झोंपड़े में मैं कट्टो को महारानी बनाकर रखूँगा। रुपया मुझे नहीं चाहिए। सब सत्य को दे दिया जाए तो ठीक। वह इसके काबिल भी है। मैं तो ऐसा ही ठीक रहूँगा।

गाँव में आखिर वह आया। लड़कियाँ राह में मिलीं, पर कट्टो तो कोई नहीं है। क्या वह उसके ताँगे को इस तरह देखती रह जाती! न जाने क्यों उसे विश्वास है, कट्टो को पहचानने में भूल वह कभी कर ही नहीं सकता।

सत्य के मकान पर पहुँचकर चिल्लाया, ''मास्टर साहब!''

सत्य सो रहा है। अपने से निबट नहीं सकता तो सोना ही उसका काम रह जाता है।

सत्य की माँ आयी। झिझकती हुई घूँघट आगे डालने को तैयार। देखा, कोई सत्य का समवयस्क है—बिहारी हो न हो!

''दिल्ली से आ रहे हो, भाई?''

''हाँ, जी।'' समझ गया वह माँजी के सामने है। झट से पैर छुए।

''मैं बिहारी हूँ।''

''सो ही तो मैं समझी।''

''सत्य दादा कहाँ है?''

''ऊपर सो रहा है।''

सामान रख-रखाकर कहा, ''माँजी, मैं ऊपर जाऊँ?''

''हाँ-हाँ, वह ज़ीना है।''

बिहारी को जल्दी है। कट्टो के कारण सत्य से मिलने की जल्दी है। झट ऊपर

पहुँच गया।

सत्य सो रहा है। जगाये या न जगाये! पाँच-सात मिनट बैठने के बाद बिना जगाये उससे रहा न गया।

''मास्टर साहब!''

मास्टर साहब को झकझोर के उठाना पड़ा, ''उठो जी।''

''बिहारी! बिहारी तुम!''

बिहारी ने कहा, ''हाँ, हाँ अभी टपका पड़ रहा हूँ। घबराओ नहीं, हौवा नहीं हूँ, सदेह बिहारी हूँ। यह प्रमाण लो।'' कहकर एक बार कन्धा पकड़कर फिर झकझोर दिया।

मास्टर साहब अपनेपन में आये।

''आओ बैठो।''

''आया भी हूँ, और बैठा भी हूँ। अब आदमी बन चलो, सुना! यों रोते-से मत बने रहो।''

दोनों फिर दो कुर्सियों पर बैठ गये। बात शुरू होने की ही देर थी, बिहारी बोला, ''हाँ, कट्टो...।''

मास्टर साहब ने चिहुँककर कहा, ''कट्टो।''

और उनकी दृष्टि उस दूर क्षितिज के ऊपर उड़ती हुई चील पर जा पड़ी!

18

जिस बात को कहना है उसको कब तक गले में अटकाये रखा जाए। लेकिन कहने में बड़ी कठिनाई है। जैसे आत्मग्लानि का घूँट जो उबककर मुँह में आता है, उसे फिर गले के नीचे उतार लेना पड़ता हो! सत्य दोनों के ही अपराधी हैं—कट्टो के भी और बिहारी के भी। दोनों को बढ़ाया, और अब दोनों को खोकर आप बच निकले जा रहे हैं। तो भी सारी कहानी सच-सच कह दी।

पर बिहारी मर्द है, सच्चा बिहारी है। इतनी मेहनत से अभी-अभी जिस भविष्य के स्वर्ग को खड़ा किया और जिसे अभी सजा ही रहा था, उसको सत्य ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है। और सत्य ही वह व्यक्ति है जिसने उसे उस भविष्य की दागबेल डालने को निमन्त्रित किया था। लेकिन अभी तो उस भविष्य के चकनाचूर ढेर के पास खड़ा होकर वह सिर सीधा रखकर मुस्करा ही देगा, पीछे फिर कितना ही कुछ और करे। वह अभी तक अपने से अलग खड़ी हुई निराशा के अँधेरे को छेद कर यह भी देखता है कि सच

पूछो तो इस जगत् में कहीं किसी विषय पर दोष रखने में अर्थ नहीं है। लेकिन सत्य एक बात कहकर उससे डिग रहा है, यह उसकी समझ में नहीं आता। उसने कहा—"चलो मेरा झगड़ा छोड़ो। लेकिन अब तुम क्या करोगे?"

"माँ को मार नहीं सकूँगा।"

बिहारी जानता है कि उसकी बहन का मामला है। पर बिहारी असमंजस को बहुत जल्दी काट फेंकता है। उसने अपने जीवन का आदर्श कुछ बहुत ही स्पष्ट और निर्णीत धारणाओं पर गढ़ रखा है। उसमें ज्यादे हेर-फेर और घुमाव-फिराव नहीं है। इसीलिए ऐसे मौकों पर वह संकट में नहीं पड़ता। इसलिए वह हल्का-फुल्का बना रह सकता है, क्योंकि वास्तव में वह खूब भारी है। उसके व्यक्तित्व का लंगर खूब गहराई में बड़ी मजबूती के साथ एकनिष्ठा से गड़ा हुआ है। इसलिए वह चाहे दुनिया के पानी पर कितना ही लहराता क्यों न रहे, ठनवल की तरह डिग नहीं सकता। एक ओर गरिमा और दूसरी ओर कट्टो—इन दोनों के बीच अपनी राह बूझते हुए सत्य को इसलिए बिहारी ठीक निर्णय दे सकता है। बिहारी ने कहा—"कुछ भी कहो। मैं होता तो अपने को छल न सकता।"

"यह बात नहीं है, बिहारी। लेकिन, कुछ और भी बात है।"

"मुझसे पूछते हो तुम? मैं तो यह कहूँगा कि तुम आत्म-प्रवंचन करते हो और उसके साथ चलने वाली जो आत्म-ग्लानि है, उसे अपनी और बाबूजी और गरिमा की ओट बैठकर बचा जाना चाहते हो। सो नहीं होगा सत्य।"

"तुम अन्याय करते हो, बिहारी।"

"ऐसा समझो, ऐसा ही सही। लेकिन, सत्य, तुम थोड़ा अन्याय नहीं कर रहे हो?"

"मैं बँधा हुआ हूँ।"

"वचन से नहीं?"

"उससे भी ज्यादे से, कर्तव्य से।"

"कर्तव्य से? ओहो, फिर तो आगे जुबान बन्द। इस शब्द के आगे तो मैं घुटने टेककर बैठ जाता हूँ। जी तो कुछ और होता है, पर इस शब्द की अद्‌भुत पवित्रता को याद कर हाथ ही जोड़ देने पड़ते हैं। अभी काली माई के पण्डों से कुछ कहूँ तो इसी थैली का एक शब्द सुन पड़ेगा, धर्म। जहाँ धर्म और कर्तव्य बहुत सुन पड़ते हैं, वहाँ मुझे कान पर हाथ रखने के अतिरिक्त कुछ काम नहीं रहता। सुना सत्य?"

बिहारी की यह वक्तृता सत्य पचा नहीं सका। अब तक वह अपने को बड़ा मानता था। लेकिन जब देखा कि बिहारी बिना प्रयास यह अन्तर लाँघ सकता है तो यह अनुभव सत्य को रुचिकर न हुआ। कहा—"बिहारी यह लेक्चर देना कब से सीख गये?"

"नहीं-नहीं, माफ करो। तो फिर क्या तुम निश्चय पर आ गये हो?" अभी

निश्चय से जरा-जरा दूर थे, पर बिहारी के शब्दों ने मानों धक्का देकर उन्हें वहाँ पहुँचा दिया।

"हाँ, अपनी माँ से आज ही कह देना होगा। तुमको तो इससे प्रसन्न होना चाहिए।"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं। मैं आया ही इसलिए हूँ। लेकिन एक बात बताओ, कट्टो से तुमने कह दिया न?"

"न।"

"न, कहा नहीं! बड़े सुस्त हो। जरा शंका थी, तभी यह बात उसे कह देनी थी। लेकिन अब न कहना, यह काम अब मुझे करना होगा पर एक काम करोगे?"

"बोलो?"

"एक बार कट्टो को बुलाना होगा, मेरा परिचय कराना होगा।"

19

दोनों मित्र बैठे हैं, अपने-अपने ध्यान में हैं, और प्रतीक्षा में हैं। कट्टो अब आना चाहती है। कट्टो आना चाहती है...कहीं खटका न हो, समय मानों रुक गया है, हवा ठहर गयी है। मित्रों की निकलती हुई साँस ही मानों वहाँ कमरे में सचल वस्तु है!

कट्टो आयी। छाया की तरह, चलती हुई मूर्ति की तरह।

'हें, य' कौन!' एकदम बहुत लम्बा घूँघट निकल आया और वह दरवाजे के पास ही, इधर पीठ करके, दोहरी होती हुई खड़ी हो गयी।

बिहारी के मन में हुआ—सत्य को शाप दे डाले।

सत्य के जी को जैसे कोई ऐंठकर निचोड़ने लगा।

सुन्न सन्नाटा रहा। किसी को बोल नहीं आया। तीनों के मन से न जाने क्या-क्या निकलकर अलक्षित और आयाहत रूप में उस कमरे की शून्यता में व्याप्त हो गया। एक भारी त्रास सारे कमरे में भरा-सा इन तीनों ही के जी को घोंटने लगा।

अब बिहारी जागा। सत्य की जीभ मानों जकड़ गयी है। वह मानों रो देगा, बोल नहीं सकेगा। ऐसे संकट में बिहारी ही त्राण देगा, उसने कहा—"भाभी?"

सत्य काँप उठा। कहीं वह अभी दया की भीख न माँग उठे।

कट्टो अगर हिल सके तो किवाड़ के पीछे वाली परछाईं में समा जाए। 'भाभी' इस शब्द के अर्थ ने मानों बिजली की तरह उसके शरीर में कौंधकर उसे सुन्न कर डाला।

"भाभी! यह नहीं होगा। मैं पर्दा नहीं करने दूँगा।" यह कहा और पास पहुँचकर

दोनों हाथों में दो छोरों को पकड़कर बिहारी ने घूँघट उलट दिया।

''ओ: बिहारी, यह न करो, लाज करो, तरस खाओ। देखो, वह काँप रही है, गड़ती जा रही है। सिन्दूर-सी पड़ी जा रही है! कहीं और कुछ न हो जाए!''

बिहारी ने देखा—माथे पर नन्ही-सी टिकुली है, बाल चिपटाकर सँवारे हुए हैं, हाथों की दो लाल चूड़ियाँ उँझककर अपने को दिखला देना चाहती हैं।

उसके जी में उठा कि हाय, सत्य! तू पशु है!

अब क्या सिन्दूरिया रंग वहाँ ठहरेगा! टिकुली क्या फिर लगेगी! क्या यह गाँव की लड़की दूसरी बार अपने को ऐसा सँवारने का अवसर पाएगी!

हाय, अगर बिहारी...लेकिन...

''भाभी। ऐसी नहीं खड़ी रह सकोगी। तुम्हारा नटखट बिहारी आया है। वह तुमको अपना परिचय देना चाहता है। चलो, उसकी सुनो।''

कलाई पकड़कर उस मुरझाती हुई बाला को निर्दयी बिहारी खदेड़ ले चला। ले जाकर कुर्सी पर प्रस्थापित कर दिया।

अब खून उसमें दौड़ रहा है। गड़ तो कहीं पायी नहीं, और अब अवसर निकल गया। अब हठात वही दरख्त वाली कट्टो बने बिना उससे नहीं रहा जाएगा। वैसे यह अपने को बिहारी कहने वाला निर्दयी भी उसे क्या यों ही छोड़ देगा!

अब कट्टो की गर्दन उठी। आँखें उठीं, फैलीं, कोरों में जरा स्निग्धता आयी। वही आँखें जिनमें छना हुआ स्त्रीत्व भरा है।

''देखो, अब मैं पराया नहीं हूँ! बताऊँ मैं कौन हूँ, क्यों आया हूँ?'' बिहारी उन आँखों में प्रोत्साहन पाकर बोलता ही रहा, ''बताऊँ! इन तुम्हारे मास्टरजी पर कुछ रोज से एक भूत आने लगा है...।''

होंठ फैले। जहाँ अभी गुलाबी-सी चमक थी गालों में, वहाँ अब एक छोटा-सा गड्ढा पड़ गया। वह मुस्करायी।

''उस भूत का नाम है गुम-सुम। जिस पर चढ़ता है उसे गुम-सुम कर देता है। मैं भूत उतारने में खूब होशियार हूँ। बरसों मैं इनके साथ पढ़ा हूँ, यह मेरी तारीफ जानते हैं। इस भूत की बात जानकर फौरन दौड़ आया हूँ। देखो भाभी, अब करता हूँ चेष्टा इनके भूत उतारने की।''

कट्टो हँसी—''चुप क्यों बैठे हो जी! नहीं तो यह शुरू करें उतारना तुम्हारा भूत।''

उनकी तो जीभ जैसे और भी ऐंठी जा रही है। बोलना चाहती है, पर जैसे वह जवाब दे रही है।

''ऐसे नहीं देखो, एक काम करो। तुम उधर जाओ, मैं इधर खड़ा होता हूँ। एक-दो-तीन कहूँगा, तीन पर एक साथ मैं भी और तुम भी, इनकी बगल के ठीक बीचों-

बीच बिन्दु पर गुलगुली मचा दें। ठीक बीचों-बीच बिन्दु पर, इधर-उधर नहीं, और ठीक तीन पर, आगे-पीछे नहीं। नहीं तो गुम्मा-सुम्मा और चढ़ जाएगा। समझती हो न ? ठीक...।''

''हाँ-हाँ, बिलकुल ठीक, लो बिलकुल...।''

''लो बोलता हूँ। ए...क, दो...ओ...ओ, देखो...ठीक...हाँ...बोलता हूँ, आगे ?''

''यह क्या तुम लोग तमाशा बना रहे हो ?'' सत्य झल्लाया।

बिहारी बोला, ''देखो, भागा वह भूत, भागा!''

''चुप रहो जी, शरारत बन्द करो।''

कट्टो की हँसी की फुहार उछल पड़ रही है।

बिहारी ने कहा, ''देखो, मैंने कहा था न! पर यहाँ तो दवा के नाम से ही काम चल गया।''

बिहारी पर डाँट पड़ी, ''बिहारी।''

कट्टो ने कहा, ''अब तो भाग गया भूत, बोलो।''

सत्य इधर झुका, बोला, ''कट्टो...।''

''कट्टो, दूसरे के सामने यह ?''

बोली, ''किसे कहते हो कट्टो, कौन है कट्टो ? तुम्हें शऊर नहीं है कि कौन है, क्या है...कट्टो, कट्टो।''

कट्टो की इस भड़कन पर बिहारी को हुआ कि यहाँ से छिपकर वह कहीं दूर जा सकता और रो लेता!

अपने साथ बहुत जोर लगाकर, ''अच्छा बिगड़ो मत। और कोई नाम भी तो नहीं मिलता। क्या कहूँ ?'' सत्य आखिर बोला।

''कुछ भी कहो, हम नहीं जानते।''

''अच्छा...यह मेरे साथी हैं। मैंने एक रोज तुमसे जिक्र किया था, यह वही हैं।''

बात खतम नहीं हो पायी थी कि कट्टो ने बिगड़कर बिहारी से कहा, ''तुम...।''

तभी कुछ हो गया कि उसने फिर घूँघट आगे बढ़ा लिया—पहले जितना नहीं, जरा कम।

''भाभी, मैं तुम्हें अब शरमाने न दूँगा।'' कहकर उसने घूँघट को वैसे ही उठा दिया।

लेकिन अब कट्टो अदब नहीं भूल सकती।

बिहारी ने कहा, ''एक मिनट में बड़ी-बूढ़ी हो जाना चाहती हो तो तुम्हारी मर्जी। लेकिन एक बात कहो। मैं तुम्हारे घर पर आऊँ तो भोजन दोगी न ?''

कट्टो ने अपने मास्टर साहब की ओर देखा, इस भाव से कि आज्ञा है ? फिर

कहा—"हाँ, कल सवेरे का निमन्त्रण है। याद रखना, भूलना नहीं। इन्हें भी साथ ले आना।"

20

इसी डाक से बाबूजी को दो पत्र गये हैं। बिहारी ने लिख दिया है—सब ठीक है, मुहूर्त निकलवा लें। सत्य को राजी समझिए। सत्य की माँ जल्दी ही चाहती हैं।

इधर बिहारी की शोखी देखकर सत्य फिर पल्टा खा गया। साथ ही समझता है—आनाकानी करते रहने में भी कुछ बात है। उसने बाबूजी को यह पत्र लिखा है—

"बाबूजी बिहारी आ गया है, प्रसन्न है। उसे लौटने में विलम्ब हो तो आप चिन्ता न करें। मैं उसे जल्दी नहीं लौटने दूँगा। कब तो आया है।

"मैंने आपको एक लड़की की बात कही थी। आप भूले न होंगे। पिछले दिनों कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उठ आयीं कि मुझे उसकी विशेष चिन्ता करनी पड़ी। वह बातें मैं आपको लिख नहीं सका, अभी भी खुलकर लिख नहीं सकता। शायद बिहारी ने आपको कुछ लिखा होगा। बिहारी को मैं अपना पूरा दिल कैसे दे सकता हूँ! मालूम नहीं, बिहारी ने क्या लिखा है। लेकिन मैं तो अभी पूरी तरह से 'हाँ' कर नहीं सकता। उस लड़की से कुछ बातों में बँध बैठा हूँ। वह मुझे न जाने किस ढंग से देखने लगी है। वह समझती है, मैं उसको अपनाऊँगा। या तो इस समझ को मुझे अपनी ओर से तोड़ना होगा या नहीं तो किसी तरह से उसी के दिल में यह भाव निकाल देना होगा। पहली बात मुझसे न होगी, दूसरी बात मालूम नहीं कैसे होगी। लेकिन जब तक यह न होगी, तब तक मैं अपने हाथों में नहीं हूँ, और आप कुछ निश्चित न समझें। गरिमा को नमस्ते दे दें और विपिन को प्यार।—आपका सत्य।"

जैसे मन उसका अस्थिर है, वैसे ही उसकी बात भी डगमगाती होती है। दो-टूक कहना नहीं जानता। इस चिट्ठी के बाद भी उसका मन डाँवाडोल है। सोचता है बाबूजी क्या जवाब देते हैं। जैसे अपना निर्णय वह आप नहीं बनाना चाहता—चाहता है दूसरे उसके लिए निर्णय करके दे दें। मनभाया निर्णय दूसरे से पाकर वह झट उसे मान लेगा। हमें बिहारी की बात ही ठीक जँचती हैं। वह दूसरों की ओट चाहता है, जिससे काम का सारा उत्तरदायित्व वह उन पर फेंक दे सके, और खुद अपने सामने अपराधी बनकर खड़े होने से बच जाए।

बिहारी नहर से नहाकर आया। अब वह कट्टो के निमन्त्रण पर जाएगा। सत्य मन-ही-मन सोच रहा है—अगर बाबूजी ने लिख दिया कि जो चाहे करो, मेरी और

गरिमा की चिन्ता न करो, गरिमा का इसी साल मैं कहीं और ब्याह कर दूँगा—तो! तब तो मैं कहीं का नहीं रह जाऊँगा। यह ठीक नहीं होगा। लेकिन देखें तो बाबूजी क्या लिखते हैं।

सत्य को अब जमीन पर हिसाब-किताब के साथ चलने की अकल सूझी है। अब वह चारों ओर ठोंक-बजाकर, जाँच-पड़ताल के बाद, नफे-नुकसान की सारी बातों का लेखा लगा चुकने पर आगे बढ़ना चाहता है। अब उसे हठात यह सूझ रहा है कि इधर क्या लाभ-हानि है और उधर कितनी है, यह सब देख-भाल लेने की जरूरत है। इस आमद-खर्च की हिसाबी सूक्ष्म-बुद्धि पर चढ़कर जब वह तोलने बैठता है तो देखता है, कट्टो की ओर आमद नहीं, खर्च-ही-खर्च है। दूसरी तरफ आमदनी की कई मदें हैं, खर्च लगभग है ही नहीं। प्रतिष्ठा बढ़ेगी, पैसा आएगा, सुख भी मिलेगा और भी बहुत कुछ। दूसरी तरफ सब कुछ खर्च होगा—मिलेगा क्या? यह नहीं कि सत्य खर्च से चूकता है, पर अब वह खर्च लेखा देखकर करना चाहता है। आमदनी देख ले, तब दान देगा। बिना पड़ता बिठाये उत्सर्ग करने से वह देखता है कुछ हाथ नहीं आता।

ऊहापोह में बहुत काल पड़े रहने पर एक दिन जब यह काम की बुद्धि सत्य में पैठी, तब देखा, वह अब तक कैसे बेलाभ आदर्श कल्पना के वीरान मैदान में फिरता रहा है। यह भी देखा, बाबूजी को वह चिट्ठी लिख चुका है, और सम्भव है, तीर वापस न आए। तो भी आशा है, काम बिलकुल नहीं बिगड़ा, देखें, बाबूजी क्या लिखते हैं।

इस कुर्सी पर बैठा सत्य कहाँ का बहका कहाँ पहुँच गया है, नहर से नहाया आया हुआ बिहारी इसकी बिलकुल कल्पना न कर सकता था। वह अब कट्टो के यहाँ जा रहा है। उसने पूछा, "सत्य, चलोगे? वह खास तौर से तुम्हें लाने को कह गयी है।"

"मैं नहीं जाता, तुम्हीं जाओ।"

"वह बिगड़ेगी मुझ पर।"

"कह देना, सिर में दर्द है।"

"तब तो वह मुझे थाली पर बैठा छोड़कर तुम्हारा सिर सँभालने दौड़ी आएगी।"

"कुछ कह देना, लेकिन मैं जा नहीं सकता।"

"क्या बात...?"

"बात नहीं। लेकिन...यूँ ही।"

"'अच्छी बात है...सत्य मैं सोच ही रहा था, तुमसे कहूँ कि तुम न जाओ, मुझे अकेला ही जाने दो।'

"सो ही तो...।"

सत्य खुद पलट चुका है, फिर भी कोई कट्टो की ओर खिंचे, यह उसे नहीं चाहिए। इसीलिए बेहद संक्षिप्त 'सो ही तो' के अलावा और कुछ न कह सका।

बिहारी ने धोती फैलायी, कंघा फेरा, नयी कमीज पहनी, धोती भी दूसरी बारीक

निकाल ली—यह सब सत्य देखता रहा। आज पहली बार सत्य को पता चला कि बिहारी के सभी कपड़े मुझसे अच्छे हैं, और कि बिहारी शक्ल-सूरत में बेहतर लगता है। बिहारी ने पैरों में स्लीपर डालकर कहा—''चलता हूँ। तुम्हारे लिए माफी माँग लूँगा लेकिन मैं भाभी के विनाश के लिए जा रहा हूँ। आज भाभी अन्तर्धान कर जाएँगी, कट्टो का पुनर्भव होगा। भाभी, यह बिहारी आता है, आज तुम्हारा संहार करने। यह तुम्हें जगत से लोप-विलोप-संलोप कर जाएगा और तुम्हारी जगह छोड़ जाएगा एक आलुलायित लोल-लोचन-कटाक्ष-संयुता, शुभ्राम्बर परिवेष्टिता, विधवविशेषयुक्ता, जगदम्ब स्वरूपा, मुक्तकेशी, सुहासिनी, गँवारिणी।'' यह कहकर दोनों पैर जोड़े 'एटैन्शन' खड़ा हो गया और बोला—''देखो, सत्य, मैं भी कैसी साहित्यिक भाषा बोलकर अभिनय कर सकता हूँ!''

कौन बताये, इस अभिनय के खिलवाड़ में और साहित्यिक व्यर्थता के आडम्बर में बिहारी किस गहरी उमड़न को छिपा डालना चाहता था।

जब चलने को मुड़ा तो आँखों के कोने में आयी दो नन्ही-सी खारी बूँदों को उसने झटपट पोंछ डाला। बिहारी तुम धन्य हो कि जब रोना आता है, तो हँसकर दुनिया को धोखे में डालकर बेजाने-बेदेखे आँसू पोंछने का अवसर निकाल लेते हो! पर बिहारी, यह तुम्हारा बिहार दुनिया को भुलावे में डाल दे, तुम्हें खुद को और इस लेखक को भुलावे में नहीं डाल सकता। यह देखो, ज़ीने से उतरकर कोने में तुम बहुत से मोती आँखों से डाल रहे हो। यह तुम्हारा लेखक तुम्हें देख रहा है और तुम्हें पढ़ा रहा है।

जाओ कट्टो के पास जाओ। वह तुम्हारे बहाने मास्टर का इन्तजार कर रही है।

21

हँसते हुए बिहारी कट्टो के घर में प्रविष्ट हुआ। सामने ही कट्टो की अम्माँ खाट पर बैठी हैं। वह कभी इस घर में नहीं आया है और अम्माँ उसे नहीं जानती।

सीधा आकर बिहारी ने कहा, ''अम्माँ, मुझे जानती हो?''

अम्माँ ने देखा, एक अच्छे कपड़े पहने खूब अच्छा दिखने वाला युवा सामने हँसता खड़ा है।

''नहीं, तो बेटा!''

''अच्छा बताता हूँ, पहले पैर छू लेने दो।'' कहकर पैर छुए और उसी खाट पर अम्माँ के पास बैठ गया।

''अम्माँ, मैं सत्य के यहाँ हूँ। कल आया था, दिल्ली से।''

"दिल्ली से ?"
"हाँ, अम्माँ।"
"दिल्ली में तो सत्य... ।"
"हाँ, हाँ वहीं से।"
"बड़ा अच्छा आया तू। सत्य तो... ।"
"अम्माँ मैं रोटी खाने आया हूँ। कट्टो कल मुझे न्यौता दे आयी है।"
"तू कट्टो को जान गया ?"
"उसके मास्टर साहब से जान गया हूँ।"
"सो वह तुझे न्यौता देकर आयी थी। तभी तो सवेरे से लगी है।"
"सो बात नहीं, अम्माँ! लग तो मास्टरजी की वजह से रही है। उन्हें भी न्यौता था। पर वह तो आये नहीं, आ नहीं सके। अब मैं ही दोनों के बदले का खाऊँगा।"
"है कट्टो बड़ी अच्छी। उसने मेरे मन की बात की। पहले तो तेरा हमारे ही यहाँ हक है।"
"कट्टो की अम्माँ, कट्टो की तारीफ इस बिहारी के सामने न करो। नहीं तो वह शुरू करेगा तो रात-दिन एक कर देगा। तुम नहीं सुन सकोगी, इसीलिए वह चुप है।"
"जा भाई, जा। उधर है चौका। कट्टो, देख तो तेरे मेहमान आये हैं।"
"कौन है!" जानती है, फिर भी पूछने के लिए कट्टो ने पूछा।
चौके में कदम रखते हुए बिहारी ने कहा—"दासानुदास बिहारी!"
"वह नहीं आये ?"
बिहारी शैतान है। उसने पूछा, "कौन ?"
कट्टो झेंपी—चुप।
बिहारी ने यहाँ सत्य को गाली दे डालने की इच्छा की।
"नहीं... ।"
स्वर में निराशा थी। बोली, "क्यों... ?"
"यों ही कुछ काम जरूरी लग गया, आ नहीं सके। कहा है, मेरे लिए माफी माँग लेना।"
"तबीयत तो कुछ खराब नहीं है ?"
"बिलकुल नहीं... ।"
आज बहुत-बहुत-सी चीजें बनायी गयी हैं। उस दिन जैसा खाना नहीं है—गिनती में सात-आठ चीजें होंगी। आज पहले से ही दो पटड़े रखे हैं, पानी भरा रखा है, सब बात ठीक है। लेकिन आज खाने वाला बिहारी ही है, और कोई नहीं है। मास्टर को सिर्फ एक ही दफै खिला सकी है, जब कि उन्हें अपना पटड़ा खुद बिछाना पड़ा था। और अपना पानी आप और लेना पड़ा था। यह कैसा दुर्देव है!
पर यह बिहारी, उसे दुर्देव की चिन्ता में पड़े रहने के लिए खाली नहीं छोड़ेगा।

आते ही बातचीत का सिलसिला छेड़ दिया है, और कट्टो के दुर्दैव की याद भागती जा रही है।

खाते-खाते बिहारी ने कहा—''भाभी, ऊँह, भाभी! मैं तुम्हें नहीं कहना चाहता। तुम बार-बार लजाती जो हो। हमारा तुम्हारा एक और रिश्ता भी है, बताऊँ?''

कट्टो ने देखा यह 'भाभी' कहकर शुरू करने वाला बिहारी बड़ा दुर्घट जीव है। न जाने अब कैसा मजाक करने वाला है। वह व्यस्तता से अपने रोटी के काम में लग गयी, जैसे बिहारी की बकवास पर उसे ध्यान देने की फुर्सत नहीं।

''वह फिर बताऊँगा। उसे सुनने के लिए तुम्हें तैयारी करनी पड़ेगी। अब तो 'कट्टो' कहना चाहता हूँ—ऐ, यों चौंको नहीं। 'कट्टो' कोई बुरी बात नहीं है।''

''तुम नहीं कह सकते कुछ मुझको!''

''मेरा रिश्ता सुनोगी, तो समझोगी कट्टो, मैं कह सकता हूँ।''

कट्टो अब झगड़ पड़ने को तैयार है। यह निर्दय उद्धत व्यक्ति आतिथ्य का दुर्लाभ उठाता है। जैसे कट्टो बिलकुल ही बच्ची है।

''तुम कुछ नहीं कह सकते—समझे?''

बात कहीं-की-कहीं जा पड़ी है। अपने को बिलकुल खोलकर रख देने से ही अब वह मोड़ी जा सकती है। नहीं तो समझो, बिहारी का आजन्म निर्वासन हो जाएगा। कट्टो की उपस्थिति में फिर वह कभी प्रवेश न पा सकेगा, वह सब बिहारी तुरन्त समझ गया। उसने कहा—''तुम बिहारी को नहीं समझतीं। अगर उसने तुम्हें जरा भी दुःख पहुँचाया है तो उस जैसा अभागा व्यक्ति दुनिया में कोई नहीं। वह तुमसे क्षमा चाहता है। उसकी बात सुनोगी तो उस पर बिगड़ नहीं सकोगी। तुम्हें तनिक दुःख पहुँचाने से पहले वह—खैर, तुम क्या समझती हो, वह भूत उतारने के लिए यहाँ आया है!''

''बिहारी बाबू, मैं कुछ नहीं जानती। पर मुझसे मजाक मत करो।''

''नहीं करूँगा। पर रोकर रोने से, हँसकर रोना अच्छा है। इसीलिए मजाक करता हूँ, क्योंकि भीतर से तुम्हें रुलाने की तैयारी कर रहा हूँ।''

''मुझे तुम्हारी बात समझ में नहीं आती। साफ क्यों नहीं कहते हो?''

''खाने से निबटकर सब कहूँगा, अभी तो एक रोटी दे दो, और वह साग...वह नहीं आलू का।''

फिर कोई कुछ नहीं बोला। खाना खाकर उठा तो पूछा, ''अपनी बात कब कह सकूँगा?''

''चौके से निबट लूँ, तब। जाओ नहीं, अम्माँ के पास बैठो।'' फिर थोड़ी देर रुककर कहा, ''बिहारी बाबू, तुम कोई हो, बड़े भले आदमी हो। इस बारे में मैं अब कभी भूल नहीं करूँगी। कोई अपराध बन गया हो तो भूल जाना। मैं, देखो, गँवारिन हूँ।''

बिहारी ऐसी आत्म-पीड़न-भरी क्षमा की आशा के सामने बिलकुल न ठहर सका।

''अम्माँ के पास बैठता हूँ, तभी जाऊँगा।''

चौके से बाहर होते ही 'अम्माँ-अम्माँ!' धूम मचाता हुआ बिहारी चला अम्माँ के पास।

''खा लिया रे!''

''इतनी चीजें बनायीं अम्माँ, कि खाते-खाते सब नहीं खा सका। सबको चखते-चखते ही पेट दूना भर गया। अब तो, अम्माँ, लेटे बगैर गुजारा न होगा, पेट जवाब दे देगा।''

अम्माँ ने अपनी खाट छोड़ पीढ़ा सँभाला, कहा—''धूप आ गयी है, खाट वहाँ जामन की छाँह में कर ले, और नेक सो जा।''

वह लेट गया। पेड़ पर अधपकी जामनें लग रही हैं। देखते-देखते बिहारी के सिर पर कट्ट से एक जामन पड़ी।

''अम्माँ, तुम्हारे घर में यों आकाश से बम्ब के गोले गिरते रहेंगे, तब तो मैं यहीं का हो रहूँगा। घर भी नहीं पहुँच पाऊँगा।''

''अरे, रो मत, सो जा। मर नहीं जाने का, जा, मैं कहती हूँ। दिल्ली में भी मिला है कभी ऐसे सोने को! वहाँ तो चाहे इसके लिए तरसता ही हो!''

''जाने दो, मेरा क्या, मैं तो सोये जाता हूँ। मेरा सिर फूट गया तो दूसरा अम्माँ को ही देना होगा।''

''हाँ, हाँ, दे देंगे। सो तू अब।''

बिहारी जामन के तले माँ के प्यार की छाँह में, कट्टो के इस गँवई स्वर्ग-गृह के आँगन में आँख मींचकर सो गया।

22

कट्टो के तेल से गीले हो रहे आले-वाले कमरे में।

''मैं दिल्ली से सत्य के लिए विवाह-प्रस्ताव लेकर आया हूँ।''

''तो?''

''तुम्हें इससे कुछ मतलब नहीं?''

''कुछ नहीं।''

''तुमने गरिमा का नाम सुना है?''

''नहीं।''

''मैं उसका भाई हूँ।''

''अच्छा।''

''अभी जो थोड़े दिन हुए सत्य गया था, तो हमारे ही साथ गया था।''

''हूँ।''

''मैं वहाँ से विवाह की बात पक्की करने आया हूँ।''

''पक्की हो गयी ?''

''बिलकुल तो नहीं। लेकिन।''

''झूठ बोलते हो।''

''झूठ क्या ?''

''यही कि विवाह की बात पक्की हो गयी। तुम वृथा आये हो। विवाह की बात पक्की नहीं कर सकोगे।''

''यह तुम कैसे कहती हो।''

''मैं कहती हूँ।''

''लेकिन तुम भूल में हो।''

''नहीं हो सकती।''

''हो तो— ?''

''हो नहीं सकती।''

इतना विश्वास! हाय, क्या सत्य इसके योग्य है! क्या सत्य ऐसे निश्चल विश्वास के साथ खेल करने चला है! ऐसे दिव्य विश्वास को फुसलाकर फिर उसके साथ छल करेगा!

आह! इस कट्टो पर वह छल फूटेगा तो क्या हाल होगा ?

बिहारी बोला, ''परमात्मा करे, मैं झूठ बोल रहा होऊँ। मालूम होता है, सत्य असमंजस में है। वह शायद मेरी बहन के साथ ही शादी करने को लाचार हो, मुझे यही दीखता है।''

''... ?''

''लेकिन मालूम होता है। वह बन्धन में है। तुम उसे खोल सकती हो।''

''ओह, क्या कहते हो ? मेरा बन्धन! मेरा कैसा बन्धन! लेकिन कब क्या बाँधा है जो खोल सकूँ! मैं क्या बाँध रखने लायक हूँ! लेकिन यह सब तुम क्या कह रहे हो। जानते हो, यह उससे कह रहे हो जिसके लिए यह बातें कही-न-कही सब बराबर हैं।''

''मैंने सत्य से पूछा है। बातें की हैं। उसने सारी बातें मुझसे खोलकर कह दी हैं। अगर उसे अपनी बात का ख्याल न हो तो उसकी खुशी, मैं जानता हूँ, किधर है।''

''उनकी खुशी के लिए मेरा तन ले लो। पर मुझसे ऐसी बात न करो।''

बिहारी यह किसे मनाने चला है, जो बिना शर्त, बिना कारण सुने, बिना माँगे सब कुछ दे डालने को,—सब कुछ मान लेने को पहले ही से तैयार है। फिर भी तफसील देना, सफाई देना, मानों काटकर फिर उसे नमक से भरने का प्रयत्न करना है। लेकिन

बिहारी कह ही रहा है—''सत्य का उतना दोष नहीं है। वह अपनी बात पूरी करे तो उसकी माँ मर जाएगी। उस...।''

कट्टो निरपेक्ष...चुप।

''उसकी क्या प्रतिष्ठा रह जाएगी ? लोग क्या कहेंगे ?''

कट्टो चुप—सुन्न।

''मेरे बाबूजी से उसे ऊँचे लोगों से सम्बन्ध और पैसे की सुविधा प्राप्त होगी। तुमसे... ?''

कट्टो सुन्न—मूर्तिवत्।

''मेरी बहन खूब पढ़ी है। अँग्रेजी जानती है, और बड़ी-बड़ी बातें जानती है। तुम... ?''

कट्टो सिल-सरीखी—जड़वत्।

''मेरी बहन उसे खूब सुख पहुँचा सकेगी। तुमसे उसे सन्तोष नहीं प्राप्त होगा। उसे खोल क्यों नहीं देतीं।''

कट्टो जड़वत्—अचेत।

बिहारी कहे जा रहा है—''सत्य की माँ, सत्य की बड़ाई, सुख, प्रतिष्ठा, सन्तोष और सत्य की भलाई...''

पर देखो, देखो, कट्टो अचेत, मूर्छित होकर गिरी जा रही है!

बिहारी ने झट-से सँभाल लिया। सत्य पर उसे बड़ा गुस्सा आ रहा है। सत्य यहाँ होता तो उसका सिर पकड़कर इस कट्टो के पैरों के पास धूल में इतना घिसता कि बाल सारे उड़ जाते। हाय, कम्बख्त स्वर्ग के इस अछूते पारिजात की गन्ध को जूठा करके छोड़े जा रहा है।

कट्टो को खाट पर लिटा दिया। कुछ उपचार से होश आया। कट्टो ने जागकर देखा कि बिहारी शुश्रूषा में लगा है।

''बिहारी बाबू, आप जाओ, उनसे कह देना कि अपने कामों में कट्टो की गिनती न करें। मेरे पीछे उन्हें थोड़ी भी चिन्ता भुगतनी पड़ी तो मैं अपने को क्षमा न कर सकूँगी। मैं क्या रही, जो मेरे पीछे उन्होंने दुःख भुगता! न हो तो मैं ही उनसे कहूँगी। अपनी कट्टो पर इतना एहसान का बोझ न डालो, मुझसे उठाया न जाएगा। मैं उसके नीचे सदा दुःखी रहूँगी। इससे मेरी गिनती छोड़ दो। तुम्हारे सुख से ज्यादा मुझे और कुछ नहीं चाहिए। उसी को नष्ट कर दूँगी तो कहीं की न रहूँगी। बिहारी बाबू, आप जाओ। बड़ा कष्ट पहुँचाया आपको। पर कट्टो बड़ी सुखी है। बहुत दिनों के बाद आज मालूम होता है, वह कुछ दे सकेगी जो उनकी खुशी की राह खोल दे। बड़ा सौभाग्य है कि आखिर मैं उनके किसी काम आऊँगी। उनसे कहना, कट्टो पर विश्वास रखें, वह उनकी ऋणी है। नहीं, मैं ही कहूँगी।''

बिहारी ने कहा—

''दुनिया में सभी सत्य नहीं हैं, बिहारी भी हैं। तुम्हारी तरह पुरुष भी हैं जो बिना लिए दे सकते हैं।''

''नहीं सभी उन जैसे नहीं हो सकते। वह जो करेंगे, ठीक करेंगे और ठीक करने में अपने को बचाएँगे नहीं। देने-लेने को कुछ सवाल नहीं है।''

''लेकिन...।''

''नहीं, तुम उन्हें नहीं समझ सकते।''

इस तरह कटकर बिहारी चुप खड़ा रह गया। इस लड़की का विश्वास जो गड़कर हिलने का नाम ही नहीं लेता। चाहे प्रलय आ जाए, हिमालय ढह पड़े, जो अटल-अडिग खड़ा रहेगा, हो जो होना हो। इस विश्वास को देखकर स्तब्ध रह गया वह। कुछ देर चुप रहकर बोला—''परमात्मा से मैं बात नहीं करता। करूँगा तो उसे भी 'तुम' कहूँगा। क्या तुम्हें अब कट्टो भी नहीं कह सकता ?''

''अब जो चाहे सो कहो। कट्टो ही ठीक है।'' फिर हिचककर कहा, ''नहीं ठहरो, पहले उनसे मिलना होगा।''

''कुछ कहो, अब मिलूँगा तो 'कट्टो' ही कहूँगा, और तुम नाराज न हो सकोगी। बिहारी से नाराज होगी तो वह मना छोड़ेगा। अब जाता हूँ।''

''जाओ, पर उनसे कुछ न कहना। मैं ही आऊँगी।''

बिहारी विस्मय और विक्षोभ लेकर चला गया।

23

सत्य को बाबूजी के पत्र की प्रतीक्षा है। इसलिए बिहारी को नहीं जाने देता। बिहारी को भी बाबूजी के पत्र की प्रतीक्षा हे, इसलिए वह ठहर रहा है।

एक ही डाक से दोनों पत्र आये। सत्य ने अपनी डाक में से बिहारी का पत्र उसे निकालकर दिया और उसकी तरफ शंका से देखा।

सत्य ने अपना पत्र भी उतावले काँपते मन से अकेले में खोला, पढ़ा—

''बेटा सत्य, तुम्हारा खत मिला। तुम समझदार हो। अपने लिए आन तय कर सकते हो। अगर तुम उस लड़की का भला चाहते हो, तो मैं कैसे भी मना नहीं कर सकता। गरिमा के लिए दूसरा वर ढूँढ़ने में मुझे बहुत दिक्कत नहीं होगी। उस ओर से निश्चिन्त रहो। लेकिन होगी यह एक बात दुःख की। क्या मैं बताऊँ कि इस सम्बन्ध पर ज्यादा जोर मैं तुम्हारे ही कारण देता रहा हूँ। तुम्हें न जाने क्यों बेटा मानने लगा हूँ। वैसी

ही मुहब्बत करता हूँ। मेरा कुछ नहीं, पर ऐसा होगा तो तुम्हें बड़ा नुकसान होगा। उसी का ख्याल है। तुम पर तो अब भी मैं दया करना चाहता हूँ, मुहब्बत करना चाहता हूँ। तुम उधर फँसे बैठो हो तो जाने दो। खुशी है कि इसमें मेरा कसूर नहीं, अपनी हानि-लाभ के लिए अपने को ही धन्यवाद दे सकोगे।

''सत्य, मैंने उम्र यों ही नहीं खोयी। कुछ दुनिया भी जानी है। दुनिया मोम की चीज नहीं, और न किताब ही है जिसे पढ़कर खत्म कर सकते हो। यहाँ जगह-जगह टक्कर खाना पड़ता है और समझौता करना पड़ता है। जीवन दायित्व का खेल है, पग-पग पर समझौता है।

''जो मन नहीं मार सकता, जिसे झुकना और छोटा बनना नहीं आता, जिसे दूसरों की सुविधा और दूसरे को निभाने की दृष्टि से झुकना और राह देना नहीं आता—वह जिन्दगी में कभी कुछ नहीं कमा पाता, जिन्दगी का सन्तोष भी नहीं। सत्य, तुम्हें यह सीखने की आवश्यकता है। कोई यहाँ नितान्त, स्वतन्त्र, एकाकी नहीं है। जो ऐसा समझता है, वह दायित्व से डरता है और कापुरुष है। सब कुछ उत्तरदायित्वों से बँधे हुए हैं। उन्हें जंजाल समझो, कर्तव्य समझो, लेकिन उनमें से भाग निकल छूटना न चाहो! क्योंकि भाग छूटकर देखोगे कि तुमने जीवन को रेगिस्तान बना लिया है।

''सत्य, इस वक्त तुम झमेले में हो। मालूम होता है कि प्रेम को जीवन में ठीक स्थान अभी नहीं दे पाये हो, इसी से दिक्कत उठा रहे हो। क्या तुम उस लड़की से प्रेम करते हो ? मैं ऐसा ही समझता हूँ। प्रेम जो कब्जा चाहता है, वैसे प्रेम की छूट समाज के लिए अनिष्टकर है। प्रेम में यदि इस आधिपत्य की आकांक्षा है—यह कि वह मेरी है, मेरी ही है, मेरी हो जाए—तो इस प्रेम में, विश्वास रखो, मैं है, मैल है। स्वच्छ और वास्तव प्रेम इस प्रकार की आधिपत्य-आकांक्षा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है। वह 'उस' की प्रसन्नता, उसका सुख, उसके सन्तोष की ओर सचेष्ट रहता है, उस पर कब्जा कर लेना नहीं चाहता।

''अब विवाह क्या है ? विवाह बिलकुल एक सामाजिक समस्या है, सामाजिक तत्त्व है। तुम भूलते हो, अगर तुम उसे और कुछ समझो। उन कुछ उत्तरदायित्वों से जो जीवन के साथ बँधे हैं, उऋण होने के लिए यह विवाह का विधान है। दुनिया में क्या करना है; उसकी दृष्टि से लाभपूर्ण क्या होगा, क्या नहीं; कुटुम्बियों की प्रसन्नता किस ओर है और अपना स्वार्थ किस ओर है—ये सभी बातें विवाह के प्रश्न में संश्लिष्ट हैं। 'स्वार्थ' शब्द से घबराओ नहीं। देखोगे तो परमार्थ शुद्ध स्वार्थ है। लेकिन मैं कहता हूँ कि शब्द से मत डरो, तथ्य देखो और वास्तविकता को पहचानो।

''तुम प्रसन्न होगे। जो करो उसमें मेरा आशीर्वाद समझो। मैं तुम्हारा सदा भला चाहता हूँ। तुम्हारा विवाह कब होगा, लिखना। गरिमा के विवाह में वैसे आओगे तो जरूर। अब मैं उसे कब तक टालूँ। इस साल में कर ही दूँगा। गरिमा तुम्हें नमस्ते कहती

है, विपिन का नमस्कार।

''मेरे उपदेश पर नाराज न होना। चाहोगे तो यह तुम्हें बहुत मदद दे सकेगा। मैं समझा, तुम ऐसी खरी और कठिन बातें सुनने की जरूरत में हो। इसीलिए लिख दीं।

तुम्हारा
भगवद्दयाल''

बिहारी को यह पत्र लिखा गया था।

''बिहारी, जानते हो तुम्हारे पत्र के साथ सत्य का भी एक खत मिला था। तुमने लिखा था वह सँभल गया है, लेकिन वह सँभलने के मार्ग पर आकर भी बिदक रहा है। पर मैं साफ देख रहा हूँ। आएगा वह उसी राह पर। तुम उससे कुछ मत कहो। एक बार इधर से आशा का तार टूटा कि वह बेसहारा हो जाएगा। तब उसे मेरे पास आये ही सरेगा। नहीं आएगा तो वह ठीक होगा। तब उसे कठिन, ठोस, बेमुरब्बत दुनिया के सामने पड़ जाना होगा। और यह बुरी बात न होगी। मैं जो समझाकर कहता हूँ, दुनिया से वही थप्पड़ खाकर सीखेगा। बिहारी! मैं देखता हूँ, वह तेरे जैसा बिहारी नहीं है। वह मेरे जैसा सम्भ्रान्त, सभ्य, पैसे और प्रतिष्ठा से सुभीते वाला आदमी नहीं बनेगा तो मुश्किल में ही रहेगा। कुटिया में रहकर या आवारा रहकर जीवन की पूरी तुष्टि पा लेना उसका काम नहीं है।

''तुम उस पर बिलकुल जोर न दो, आ जाओ। अगर इस विवाह के टालने का मुझे दु:ख होगा तो सत्य के ही खातिर, गरिमा के कारण नहीं।

''बाकी यहाँ सब ठीक है।

तुम्हारा
बाबू''

24

सत्य को इस खत की एक-एक बात मान्य होने लगी। कट्टो को वह प्यार करता था, यह वह अब मान लेने को तैयार है। इस प्रेम के ही कारण वह उसकी रक्षा करना चाहता था और अपनी बना लेना चाहता था। जहाँ यह 'अपनी' बना लेने की कामना है—वह प्रेम उपादेय नहीं है। अब इसमें सत्य को संशय नहीं रहा।

फिर दूसरी भी तो बात है। प्रेम जीवन को बहलाने की वस्तु तो बन सकती है, लेकिन जीवन उसके लिए स्वाहा नहीं किया जा सकता। जीवन तो दायित्व है, और

विवाह वास्तव में उसकी पूर्णता की राह—उसकी शर्त। इस दायित्व से एक ख्याल, एक भावना में बहकर कैसे छुट्टी पायी जा सकती है! प्रेम को इस दायित्वपूर्ण विवाह की बात में कैसे दखल देने दिया जाए? जीवन प्रेम से ज्यादा महत्त्व की—ज्यादा ऊँची और पवित्र चीज है। प्रेम, जो अन्त में केवल एक आवेग, एक भाव है, उस पर जीवन कैसे निछावर कर दिया जाए? वकील साहब की यह बात उसे स्पष्ट अमिट सत्य की नाईं लग रही है। मानो वह जिस आधारभूत जीवन सिद्धान्त पर पहुँचने का अब तक प्रयत्न कर रहा था, वह जगह जहाँ पैर टिके और जहाँ पक्की नींव बाँधकर जीवन खड़ा किया जा सके, वह मानों उसे मिल गया। अब उसके बारे में भूल नहीं करेगा। अब उसे साफ दीख रहा है—अब तक जिन बातों को ठीक समझकर वह अपने से चिपटता था, वह कोरे शब्द थे, कोरे भाव। उस पर दुनिया नहीं टिक रही है। जो वकील साहब ने लिखा—वह है जिसको केन्द्र मानकर दुनिया चल रही है और व्यक्ति को चलना चाहिए। जीवन एक दायित्व है—कैसी सुन्दर बात है, कैसी सही, कैसी शुभ लगती है। और वह दायित्व है किसके प्रति—संसार के प्रति, समाज के प्रति, समाज संसार की उन्नति के प्रति।

बिहारी होता तो कहता, ''अपने प्रति, अपने अन्त:करण के प्रति।'' विनोदशील बिहारी और विचारशील सत्य में यही अन्तर है।

लेकिन सत्य के लिए पत्र के उत्तर-पैराग्राफ तो ठीक हैं, पहला गड़बड़ है। यह बात उसके अहंभाव की चुटकियाँ ले रही है कि यह विवाह उलट गया तो उसकी ही मुश्किल है, गरिमा की नहीं—यह कि उसी पर दया कर वह अब तक इस सम्बन्ध पर जोर दे रहे थे। लेकिन सोचता है तो बात ठीक ही है। गरिमा को, जब चाहो तब, उससे हर हालत अच्छा वर प्राप्त हो सकता है, और मेरे बिना वकील साहब के जीवन में कोई अभाव, कोई अपूर्णता नहीं पैदा होती। जब कि इधर तो सत्य के लिए आगे कुछ दीखने का मार्ग ही बन्द हो जाता है।

पर, बिलकुल निराश हो बैठने की अभी बात नहीं है।

वह कमरे में आया। बिहारी यहीं बैठा है। बाबूजी का पत्र पाकर सत्य के प्रति उसका आदर बढ़ गया है। उस पत्र से बिहारी ने देखा कि सत्य अब भी अपने से झगड़ रहा है, हार मान नहीं बैठा। और अपने आपसे बराबर लड़ते रहना ही तो जीवन में एक कीमती चीज है।

लेकिन बिहारी को नहीं मालूम कि सत्य हार को हार नहीं मान रहा। वह लड़ाई से विमुख होकर इस कीमती लड़ाई को बिलकुल व्यर्थ चीज ठहराकर अन्तरंग की पराजय स्वीकार कर रहा है।

बिहारी ने कहा, ''आओ भाई सत्य, मेरा धन्यवाद लो।''

''धन्यवाद कैसा?''

''पता चला है कि मुझसे कहने के बाद भी तुम कट्टो के बारे में बिलकुल

लापरवाह नहीं बन चुके थे।''

''हाँ, बाबूजी को कुछ ऐसा ही लिखा था। लेकिन...।''

''लेकिन?''

''लेकिन जीवन एक दायित्व है।''

''फिर?''

''और...और प्रेम एक अस्थायी भावना। जीवन के स्थायित्व को अस्थायी भावनाओं का आधार नहीं काम देगा।''

''सीधी-सादी हिन्दी भी क्या काम नहीं देगी? भई, ऐसे तो बात करो जो यह बिहारी समझ जाए! जीवन को स्थायित्व कैसा? क्या जीवन स्थायी चीज है, यानी संसार में बिताये जाने वाले ये पचास, साठ, सौ साल! स्थायित्व की परिभाषा की हद क्या सौ के अंक तक ही है?''

''गलत मत समझो, यही उसका स्थायित्व है!''

''और यही आपका पाण्डित्य है!''

''बिहारी, तुम यह नहीं समझते, इसमें मेरा क्या दोष! अपने को टटोलता हूँ, तो देखता हूँ कि कट्टो की ओर मैं उस भाव से खिंच रहा हूँ, जिसे प्यार कहा जाता है। यह प्रेम एक भावावेग है, भाव पैदा होने और मिटने के लिए होता है। अर्थात् यह क्षण अस्थायी है। अब विवाह एक टिकने वाला सत्य, दायित्व का अंश है! प्रेम को उसमें दखल देने देना ठीक नहीं होगा।''

''और सब कामों में बहुत ज्यादे अकल को भी दखल देने देना ठीक नहीं होगा। तो आपने इतने दिनों में यह उधेड़बुन की है! और आपको मालूम है, इन दिनों आपकी कट्टो क्या करती रही है! वह आपको ध्याती रही है और आपको मन-ही-मन परम उपास्य बनाती रही है।''

''लेकिन मैं क्या करूँ! प्रेम में जहाँ कब्जे की इच्छा है, वहाँ मैल भी है। क्या इस मैल का काबू स्वीकार करूँ?''

''नहीं जी, सो क्यों। विशुद्ध विशुद्धता को ही स्वीकार करो। वह क्या है जानूँ तो?''

''जिस बात को मानकर दुनिया खड़ी है, जिस दुनिया की कीली को हम और तुम नहीं बदल सकते, उसको हिलाने की कोशिश करने के बजाय हम मजबूत करने में सचेष्ट हो तो ज्यादा कार्य कर ही सकते हैं। और वह आधारभूत तत्त्व की बात यह है कि कोई नितान्त स्वतन्त्र नहीं, सब ही उत्तरदायित्वों में बँधे हुए हैं। उन्हीं में उनका मोक्ष और कृतार्थता है।''

''बहुत ठीक। और आपके जीवन का एक उत्तरदायित्व है गरिमा का पति होना! बहुत सुन्दर, और आगे?''

''बिहारी, तुमने अभी दुनिया पर हँसना सीखा है। इसमें कुछ नहीं लगता। पर उसे समझना मुश्किल है। सो तुम्हें बाकी है।''

''ओहो, एक ही क्षण में आप दुनिया को समझ बैठे! ऐसी दुनिया की समझ आपको मुबारक और उस समझ के बाद भोगना मुबारक। मुझे तो परमात्मा मेरा हँसना ही दिये रखे।''

''बिहारी, तुम अभी नहीं समझोगे। जाने दो।''

''ठीक है, आप समझ गये। ऐसे विशाल गहन तत्त्व की बात बिहारी के इस हल्के-से हँसोड़ दिमाग में नहीं आएगी। लेकिन अब बताइए, क्या ठीक रहता है? क्योंकि दुर्भाग्य कहो या सौभाग्य या दोनों ही, यह नाचीज आपकी दायित्व परिणीता गरिमा का भाई है। और आपके निर्णय को सुनकर घर पहुँचाने का कर्तव्य उस पर आ पड़ा है।''

''बिहारी, बाबूजी की जो इच्छा है, माँ जिसके लिए कब से जोर दे रही हैं, जिसमें तुम और गरिमा भी शायद हृदय से सहमत हो, उसे मैं नहीं टालूँगा। बड़ों की बात मानूँगा, उनका आशीर्वाद खो न सकूँगा।''

''शुभमस्तु। लेकिन बिहारी श्री सत्यधन जी महाराज को एक सूचना देना चाहता है। कट्टो उनसे मिलने आया चाहती है।''

खिड़की में से कट्टो को आते बिहारी ने देख लिया है।

''एक निवेदन और है,'' बिहारी ने कहना जारी रखा, ''कट्टो की संस्कृत-शिक्षा अगाध नहीं है। उसने अभी विश्व की फिलासफी भी नहीं पढ़ी है। इससे उसके सामने श्री सत्यधनजी संस्कृत फिलासफी ज्यादे न बखारें। कहीं वह समझ न सके और उन्हें परमेश्वर से भी ऊँचा मानने लग जाए। कट्टो की जरा भी परवाह करते होंगे तो विश्वास है, सत्य महाशय मेरा अनुरोध टालेंगे नहीं।''

तभी कट्टो दरवाजे में आयी।

25

कट्टो दरवाजे में आयी, बिहारी चलने लगा।

''नहीं, जाओ नहीं।'' कहकर कट्टो सत्य से कुछ हाथ के फासले पर खड़ी हो गयी।

सत्य पर उसकी आँखें पड़ रही हैं। उनमें कैसा भाव है, जैसे एक अकिंचन अनुग्रहीता किंकरी उनकी पदधूलि की भीख लेने आयी है, बस और कुछ नहीं।

"तुमने इनका परिचय मुझे क्यों नहीं बतलाया?" कट्टो ने सत्य से कहा।

"बताया तो!"

कट्टो ने शरारत-भरी मीठी-सी एक हँसी-हँसकर कहा—

"किस काम के लिए आये, सो तो...।"

इस समय सत्य को फिलासफी के टेकन की बहुत सख्त जरूरत है। क्योंकि मन गिरता जा रहा है और उसे इसी थम्भ पर टिकाकर मजबूत रखना होगा। अच्छी तरह इस तत्त्व ज्ञान की टेकन को जमा-जमूकर उसने कहा—"वह बिहारी ने खुद ही कहने का जिम्मा ले लिया था।"

कट्टो को मास्टर का यह पक्कापन बड़ा अच्छा लग रहा है।

"सो इन्होंने ही तो आकर सब बताया।"

अब सब चुप।

फिर कुछ देर से कट्टो ने ही कहा—"तो हमारी जीजी को कब लाओगे?"

इस कल्पनातीत बात, इस अनोखे दाँव के आगे तत्त्वज्ञता की सुसन्नद्ध शब्द सेना के रहते भी सत्य सिट्टी भूल गये। चुप रहे, कुछ उत्तर न बन पड़ा।

"बोलो, कब आएँगी हमारी जीजी?"

धीरे-धीरे अपने पक्ष का भान इन्हें हुआ। इच्छा-शक्ति को कड़ा किया। हठात हँसकर बोले, "तुम चाहती हो, मैं जीजी को लाऊँ?"

"वाह, नहीं चाहती! जो तुम चाहते हो, सब चाहती हूँ। मेरा परमात्मा जानता है।"

इस अबोध प्रतिपक्षी के आगे जोर जगाकर तैयार की हुई सत्य की सेना कुछ काम नहीं दे सकेगी। सत्य फिर जैसे खो गये। जैसे वह आधार मन के नीचे से खिसकने लगा और मन धधकने लगा।

"इन बिहारी बाबू ने कहा था कि तुम्हें मेरी जरूरत पड़ गयी है। मैं सोच सकती थी भला, कभी मेरी भी जरूरत पड़ जाएगी! अब हाजिर हो गयी हूँ। बोलो, सामने खड़ी हूँ। मैं तो तुम्हारी ही हूँ। मुझसे बोलते, मुझसे माँगते डरते हो। जैसे पराये से कुछ माँग रहे हो? छी—सो नहीं। तुम्हारे काम नहीं आयी, तो हुई ही क्या?"

बोले जाओ कट्टो, मास्टरजी तो अचरज से तुम्हारी सब बात सुन रहे हैं। जबान उनकी जकड़ गयी है और डर के मारे हिल नहीं सकती।

"जो कुछ भी तुम चाहते हो सब में कट्टो की खूब राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच में उसकी मौत है। अपने कामों में कट्टो की गिनती मत करो, वह गिनने लायक नहीं हैं। उसकी खुशी तुममें शामिल है। अब ब्याह करना चाहते हो, कट्टो तुम्हारी सबसे पहले चाहती है। ओहो, वह कितनी खुश होगी, खूब-खूब खुश होगी। तुम कट्टो

को क्या समझते हो। वह तुम्हारी नाखुशी लेकर जिन्दा रह सकेगी ? और क्या समझते हो कि वह तुम्हें समझती ही नहीं। तुम्हें खूब समझती है। तुम जो करोगे, अच्छा करोगे और कट्टो उस अच्छे में खूब आनन्द मनायेगी। तुम तो कट्टो के मालिक हो। फिर उसकी फिक्र क्यों करते हो ?''

सत्य सफेद-फक हुए खड़े हैं। बिहारी एक कोने में मुँह फिराकर न जाने क्या देखता खड़ा हो गया है।

''ऐसे क्यों खड़े हो ? क्या गुमसुम बिहारी बाबू!'' अन्तिम शब्दों के निकलते-निकलते निगाह बिहारी की ओर पड़ी, ''अरे यह बिहारी बाबू को भी क्या हो गया है !''

बिहारी को क्या हो गया, कुछ नहीं। वह तो हँसता हुआ बढ़ा आ रहा है। आँखें लाल हैं, गाल धोखा देकर भेद की बात कहने को हो रहे हैं, फिर भी बिहारी हँसता बढ़ा आ रहा है। सामने आकर बोला—''यह हाजिर है, बिहारी बाबू! सुनते हो।''

''उन्हें तो एक ही भूत चढ़ता है, हँसी का। वह जब काम में कहीं जाता है, तो मुझे मुँह छिपाकर खड़ा हो जाना पड़ता है।''

''देखो, यह मुझसे बोलते नहीं। इन पर क्या फिर भूत चढ़ गया है, बिहारी बाबू ?''

''चढ़ा भी होगा तो उतर आएगा। अब वह नहीं चढ़ा करेगा। इन्होंने एक देवी की आराधना की है। तुम नहीं जानती उसे। उसका नाम है फिलासफी। वह ऐसे-ऐसे भूतों को पास नहीं फटकने देती। मेरे वाला भी उस देवी से बहुत घबराता है।''

''इनको बुलाओ तो... !''

''चेष्टा करता हूँ। पर सम्भव है उसके मुँह से अभी वह देवी ही बोल उठे। तब तो उसकी बात शायद है कि आपकी समझ में न आए। पर आप घबराएँ नहीं, समझने के लिए हैरान न हों, क्योंकि वे बातें विरलों ही की समझ में आती हैं।''

इतना कहकर बिहारी ने सत्य के कान में गुनगुना दिया, ''गड़बड़ करोगे तो गरिमा गयी, कट्टो चढ़ी ! तब तो गजब हो जाएगा ! चेत उठो।''

सत्य एकदम झल्ला पड़े, ''बिहारी, चले जाओ तुम यहाँ से !''

बिहारी ने फरियाद के ढंग से कट्टो से कहा—''भूत तो भागा, पर साथ ही मुझे भागना पड़ता है। यह क्या न्याय है ?''

''बिहारी बाबू को रहने दो न।'' कट्टो ने मानों निर्णय देते हुए कहा, ''उन्हें क्यों भेजते हो ?''

सत्य अब फिर चुप।

कट्टो ने कहा, ''बोलो। बोलोगे नहीं ?''

चुप।

''बोलोगे नहीं, तो मैं जाऊँ ?''

''...''

''जाऊँ ?''

''जाओ।''

''तब एक बात कहती हूँ। एक, बस एक। उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। करोगे ?''

''कहो।''

''करोगे ? कहती हूँ, तुम्हारा उसमें कुछ नहीं जाएगा। कहो, करोगे।''

''करूँगा !''

''जीजी आएँगी तो पहले मेरे यहाँ जीमेंगी। मैं पहले खिलाऊँगी, चाहे कुछ हो, मैं खिलाऊँगी। न होगा तो तुम्हारे घर आकर मैं बनाऊँगी। पर पहली रोटी वे मेरे हाथ की खाएँगी। इतनी अरदास मेरी कबूल रखनी होगी। कहो, हाँ।''

सत्य ने अपना सारा बल कण्ठ में खींचकर कहा, ''हाँ।''

इस 'हाँ' को सुनकर कट्टो पत्थर की मूर्ति-से खड़े सत्य के पैरों में जाकर लोट गयी।

एक बार और लोटी थी। तब शाम थी, अब दोपहर। तब स्वर्ग के द्वार खोले गये थे आमन्त्रणपूर्वक। अब आमन्त्रित कट्टो के मुँह पर ही ढाँप दिये गये हैं। खुले थे तब भी वह इन पैरों में लोटी थी, बन्द कर दिये गये हैं तब भी वह इनमें ही पड़ी है। उसकी यह कैसी समझ है !

कुछ देर सन्नाटे के बाद आवाज आयी, ''जाऊँ ?''

सत्य ने भरी आवाज में कहा, ''जाओ।''

''जाऊँ ?''

''जाओ ?''

तब वह कट्टो उठी। आँसू ढरकना बन्द हो गया है। मेह के बाद अब चाँदनी मानों मुँह पर थिरकने को हो रही है। यह अब ताजी धुली हुई कट्टो की किरणकौमुद्री मानों हँस देगी। बोली, ''बिहारी बाबू, घर तक साथ चलोगे, काम है।''

बिहारी बाबू मानों जग उठे, फिर भी अधजगे-से कट्टो के पीछे-पीछे चल दिये।

26

वही कमरा है, वही आला है, वही कट्टो है। फिर भी वही नहीं है। उसी पात्र में वैसा ही सफेद दूध है, पर जैसे जादू का फूँक फेर दिया गया है, और वह दूध नहीं हलाहल है। इस कमरे की स्मृति, वह सामने का आला जिसमें उस दिन का छह पैसे का दर्पण रखा है, और वह कंघा और टिकुली की डिबिया, मानों सब उसको चिढ़ाते हुए उससे कह रहे हैं—'तुमने हमें धोखा देकर रखा है, हम पराये हैं, पराये हैं!' स्मृतियाँ उमड़-उमड़कर कह रही हैं, 'तुम स्वप्न-काल में हमसे खूब खेलीं। अब तुम्हें जगा दिया है, अब हम जाती हैं, कहीं और। वह सब अँगूठा दिखा-दिखाकर मानों कह रही हैं—कहीं और! कहीं और! जो अभी बीते क्षण तक सत्य था, वह सब कुछ इन स्मृतियों का साथ देकर उसे बिरा रहा है। कहीं और, कहीं और!'

ठठोली करते हुए, पराये दिखते हुए, इस कमरे में ही बिहारी खड़ा है।

कट्टो अब बिहारी को देख पायी। ऐसे विस्मित चकित भाव से देखा, मानों पूछना चाहती है, 'तुम कौन हो, क्यों आये? क्या चाहते हो?' बिहारी ने निस्संकोच कट्टो का हाथ अपने हाथों में लेकर कहा, "मैं गरिमा का भाई हूँ। समझी—कौन हूँ। अब 'कट्टो' के सिवाय कुछ नहीं कहूँगा।"

"जो चाहे कहो, बिहारी बाबू। तुम उनके मित्र हो, और मेरे लिए, मेरे लिए सब कुछ हो।"

बिहारी ने बड़ी तीक्ष्ण जिज्ञासा, बड़ी आशंका, बड़ी आकांक्षा से पूछा, "कट्टो, अब क्या?"

"पहले एक थे, अब दो हो गये हैं। दो की सेवा करूँगी। मेरा तो काम और बढ़ गया है।"

बिहारी कहना चाहता है, सत्य इस योग्य नहीं है। पर सामने खड़ी इस भक्तिन के आगे मूर्ति पर हाथ रखते डर लगता है। कट्टो की खातिर वह सत्य को अब कुछ न कहेगा।

"सत्य अब तुम्हारी सेवा नहीं लेगा, कट्टो। न तुम्हारी जीजी यह होने देगी।"

"न सही, मेरा काम मेरा काम है। तन से नहीं तो मन से करूँगी ही।"

इसी क्षण भीतर कुछ उठा और बिहारी के शरीर और आत्मा को एक रंग में रँग गया। परमात्मा ने हम दोनों को साथ ला दिया है, अब दोनों धाराएँ एक होकर बह सकती हैं। बह सकती हैं! हाँ, क्यों नहीं ऐसे कि उनका कुछ और न हो। बस अपनी संयुक्त-जीवनधारा पर किनारे-किनारे तीर्थ स्थापित करें और यह पुण्य की तरह लोक में बहती निकलती चली जाए। कल्याणी सरसाती हुई, धरती को हरियाती हुई, लोगों को नहलाती हुई, लहराती हुई अनन्त सागर में विलीन हो जाए। बिहारी एक क्षण इस

लोकोत्तर भावना के प्रबल प्रस्फुरण में आत्मसात् हो गया। फिर बोला—''कट्टो, एक साक्षात्कार हुआ है।''

यहाँ उनका कण्ठ काँप गया और सुर लरज आया।

''बिहारी बाबू... !''

वह भी इतना कहकर चुप हो गयी। रुककर फिर कहा—''यह न समझो मैं तुम्हें गलत समझती हूँ। तुमसे तो कुछ समझने को है ही नहीं। बाहर है, वही भीतर है। भीतर वही विनोद का झरना झरता रहता है, जिसका आधा जल आँसू का और आधा हँसी का है और जिसमें से हर बात आर-पार दिखाई देती है। लेकिन अनहोनी घट नहीं सकती, होनी टल नहीं सकती। जो हो गया, हो गया। उसे मिटाना अब बस से बाहर की बात है। जो चढ़ चुका, उसे चरणों में से वापस खींच नहीं ला सकती। वह अब मेरा नहीं रह गया। लेकिन... ।''

''लेकिन... ?'' बड़ी व्यग्र उत्कण्ठा से बिहारी ने कहा।

''लेकिन एक बात है। सोती हूँ तो आकाश-गंगा को ऊपर खिलखिलाते देखती हूँ। वह हम पर नीचे को देखती रहती है। हमारी जगत की वह गंगा भी ऐसे ही ऊपर को देख-देखकर बहलती और हँसती रहती है। लगता है कि ये दोनों गंगाएँ एक-दूसरे को देख-देखकर ही जीती हैं। इस सारे अनन्त शून्य, किसी गणना में न आने वाले आकाश को भेदकर इनकी हँसी एक-दूसरे को परस्पर कुशल-क्षेम दे आती है। दोनों का मन एक है, नियति एक है। मालूम होता है, दोनों आपस के समझौते से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि दोनों एक ही उद्देश्य को दो जगह पूरा करें। दूर हैं, फिर भी पास हैं। अलग हैं, फिर भी एक हैं। बिहारी बाबू, बिहारी बाबू! क्या यह नहीं हो सकता? क्या हम भी दो ऐसे नहीं हो सकते? दूर, फिर भी पास, बिलकुल पास। अलग, फिर भी अभिन्न। दोनों, फिर भी एक। एक ही उद्देश्य, एक ही जीवन-लक्ष्य में पिरोये हुए?''

बिहारी ने कहा, ''कट्टो!''

कट्टो ने कहा, ''आओ, मेरे पास बँधते हो? मैंने तुम्हें देखा, तुमने मुझे देखा। तुमने मेरी भाषा देखी, भाव तो देखे ही। 'वह' नहीं जानते मैं कितना सीख गयी। कोई भी नहीं जानता, मैं भी नहीं जानती थी। अभी जानी हूँ, जब तुम जाने हो। इतनी भाषा जानने के बाद कुछ करोगे। तो तुम्हें भी मदद पहुँचा सकूँगी। इतनी भाषा अम्माँ के बाद, मुझे रोटी भी दे ही देगी। इस तरह, पढ़ने-लिखने के लिहाज से भी तुम्हें मुझ पर शर्म करने की जरूरत नहीं। बोलो, बँधते हो?''

''भाड़ में फेंको पढ़ने को। मैं यह हूँ।''

''बिहारी बाबू, बड़ी कठिन बात है। यज्ञ ही समझो। उसी के लिए हम होंगे, फिर सोच लो तुम। बहुत लम्बा जीवन आगे पड़ा... ।''

''तुम मुझसे छोटी हो। तुम्हारे लिए व्रत करना और कठिन... ।''

''मुझ पर तो आ पड़ा है, पर तुम...।''

''कट्टो बँधता हूँ...।''

''उस यज्ञ के लिए सबसे सुन्दर शब्द है मेरे पास 'वैधव्य'। अर्थ है, 'आत्म-आहुति'। बँधते हो?''

''बँधता हूँ।''

कट्टो का बायाँ हाथ बढ़ा, बिहारी का दायाँ। दोनों एक में गुँथ गये।

''हम दोनों एकाकी यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं, हम एक होंगे...एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।'' कट्टो ने कहा।

''हम दोनों इस यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे, एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।'' बिहारी ने दोहरा दिया।

कट्टो ने कहा—''आज मेरा विवाह पूर्ण हुआ। एकत्व सार्थक हुआ।''

बिहारी ने कहा—''यह महाशून्य साक्षी हो, हम कट्टो-बिहारी सदा एक-दूसरे के प्रति कट्टो-बिहारी रहेंगे। न कम, न अधिक।''

फिर बिहारी ने कहा, ''कट्टो, कट्टो! जो मैं दूँगा, लोगी?''

''जो दोगे, लूँगी।''

कुछ देर वह चुप रहे। फिर कट्टो ने थोड़ा हँसकर कहा—''हमारे जीवन के अकेलेपन का अनायास ही इस तरह उद्धार हो गया। अब आओ, मेरा एक काम करो। तुम घर पर कब जा रहे हो?''

''आज रात नहीं तो कल सवेरे जरूर।''

कट्टो ने तिस पर टिकुली की वह डिबिया ली, कंघा और शीशा, और हाथों से वह दो लाल चूड़ियाँ निकालीं, उन्हें एक पोटली में बाँध दिया, कहा—''तुम्हारी बहन! क्या नाम है? गरिमा। वही मेरी जीजी। उन्हें यह जाकर देना। कहना—एक कट्टो है, नटखट लड़की, गँवारिन। उसने ये दी हैं। वह उसके मास्टर रहे हैं और वह उसकी जीजी हैं। कहना, मैंने उनसे वायदा ले लिया है, पहले जीजी को मेरे यहाँ जीमना होगा। यह भी कहना, कट्टो को उन्हें अँग्रेजी पढ़ानी होगी। और कहना, कट्टो को आसीस भेजें। सेविकाई का मौका मिलेगा, एक बार तो उससे पहले भी आशीर्वाद दे ही दें। यह सब कहोगे न। कहो—कहोगे।''

''जरूर कहूँगा और कहूँगा, यह सुहाग कट्टो का उतारन है।''

''हैं हैं। यह क्या कहते हो। यह तो मैंने जबर्दस्ती चढ़ा लिया था। उतरन कैसे हुआ। नहीं-नहीं, बिलकुल नहीं। मेरे पास शुभ-से-शुभ जो चीज है, दे रही हूँ।''

''सब कहूँगा। और कहूँगा, कट्टो के साथ मेरा वरण हो चुका है।''

''कह देना।''

''तो मेरा काम हो चुका?''

''हाँ।''

''जाऊँ?''

''जाओ, माँ के पैर छूते जाना।''

''जाने से पहले कुछ दोगी नहीं? वह अच्छा वरण!''

''क्या दूँ?''

''कुछ भी तो—।''

''अच्छा लो।''

तभी उसने एक आसन पर बैठकर झट-से चर्खे पर सूत काता, हल्दी के रंग में उसे रँगकर माला बनायी। दोनों हाथों से वरमाला के रूप में पकड़ा, धोती का छोर माथे पे जरा आगे को किया और एक खट्टी-मीठी हँसी हँसकर बिहारी के गले में डाल दिया। फिर एक नमस्कार किया, चरणों में हाथ लगा और फिर उस हाथ को अपने माथे से छुआ लिया।

इस समारोह में बस उस कमरे की स्तब्ध शून्यता ने मानों अपने को खोकर मौन योग दिया। बाहरी आँखें इस शुचि व्यापार पर पड़ने से बची रहीं। इस ग्रन्थि-बन्धन की एकमात्र साक्षी होकर अचर प्रकृति मानों जी-ही-जी में मग्न मूक थी।

''माला सत्य को दिखाऊँगा!'' बिहारी ने मन्त्र-बद्धता को तोड़कर कहा।

''तुम्हारी है, जो करो।''

''जाता हूँ, कब मिलना होगा?''

''देखो...।''

''अच्छा, कट्टो, प्रणाम। बिहारी का प्रणाम। प्रणाम लो और यह लो।''

एक बुरी तरह गुड़ी-मुड़ी हुआ कागज थमाकर बिहारी निकला। माँ की चरण रज ली, रुका नहीं, चला गया।

सौ रुपये का नोट खोले कट्टो कुछ सेकिण्ड खोई-सी खड़ी रही, फिर चौके की सँभाल में चली गयी।

27

बिहारी अपने घर पहुँचा। बाबूजी बैठक में ही बैठे हैं।

ताँगे से उतरा नहीं कि पूछा, ''आ गये!'' अर्थात ''क्या लाये?''

''हाँ, आ गया।''

''क्या बात रही ?''

''अभी आता हूँ, जरा यह सामान ऊपर... ।''

''हाँ, हाँ।''

बाबूजी ने देखा कि सामान नौकर ले ही जा रहा है, एक मिनट को तो यहाँ बैठ ही सकता था। बात करने में देर लगती कितनी है, पर नहीं, ऊपर...! खैर लक्षण बुरे नहीं हैं।

बाबूजी से बात तो कहेगा ही, पर कट्टो का काम खत्म करने की उसे जल्दी है। सबसे पहले कट्टो, फिर कोई। जरा-सी तो पोटली है। जेब में डालकर ऊपर पहुँचा। पुकारा—'गिरी! गिरी!'

गिरी चौके में है। बाल सुखा-सुखूकर अभी गयी है, देखने कि महराजिन सब कुछ ठीक कर रही है या नहीं। महराजिन को इतना कह चुकी है, फिर भी कुछ-न-कुछ गड़बड़ हो ही जाता है। गरिमा को क्या वह जानती नहीं ? ठीक नहीं करेगी तो दिल्ली में महराजिन की कमी पड़ी है! सो ही बात गरिमा अब बारहवीं बार महराजिन के कान के रास्ते अकल में प्रवेश कर देने को वहाँ पहुँची है। मोटी, फूले नथनों वाली, साग के बाजार में जो सब कुँजड़ों से बाजी ले जाती है, वही कुसलो इस छोटी मालिकन के सामने थर-थर काँपती है। इस देह के कम्पन में अगर नोन बटलोई में गिरते-गिरते खीर की पतीली में पड़ जाता हो तो पाठक अचरज न करेंगे और उसे क्षमा कर देंगे। लेकिन वह खीर जिन्हें खानी पड़ती है, उन सबके रोष की सम्पूर्ण स्वत्वाधिकरिणी प्रतिनिधि होकर जब छोटी मालकिन साँपिन की तरह चमकती और फुफकारती महराजिन के सिर पर आ खड़ी होती है तो अगर नोन खीर में नहीं तो मिर्च दाल के बजाय आँच में पड़ जाती है। तब महराजिन खाँसी और छींक से व्यग्र होकर अपनी सफाई देने में अक्षम हो जाती है और छोटी मालकिन भी अपने गुस्से को आधा निकला हुआ और आधा पेट में ही खौलता हुआ लेकर वापस पलायन कर जाती है। तब वह छींकती भी जाती है और झींकती भी जाती है। ऐसा ही साधारण संयोग इस समय भी घट गया था। चौके में उसने भैया का आना सुना। तभी मिर्चाहुति चूल्हाग्नि में छूट गयी। और तभी वह बाहर दौड़ी और तभी बोली—

''मैं...छी...छिं, भैया छीं... ।''

भैया ने अपनी अगवानी पर लगातार छींकों की सलामी सुनी।

''यह क्या मामला है ?''

''वह कम्बख्त—आक् छिं: डेम...छिं... ।''

''यह छिं: और सुशब्दों की बौछार मेरे आते ही... ।''

''यह डैम् रेस्कल...आ...अ...क्...छिं... ।''

''मुझे माफ करो मैं चला जाता हूँ, भई।''

''शैतान, कल से ही...छिं...छिं...छिं...छिं।''

छींकों का प्रकोप शान्त हुआ तब बिहारी ने सम्बोधन किया—''गिरी...''

''वह महराजिन कल से नहीं रह सकती। मैं कहती हूँ...।''

''मेरी बात सुनती हो या...।''

''सुनती हूँ, लेकिन तुमने ही...।''

''हाँ, मैंने ही सृष्टि रची, और मैं ही बिगाड़—।''

''तुमने ही यह महराजिन रखवायी थी।''

''अब दोष नहीं होगा। तो बस, अब तो स्वस्थ हुई ? या—।''

''क्या है ? कुछ है भी!''

''अच्छा, अब इस अध्याय को खतम करो। प्रकोप पर्व समाप्त, नवीन पर्व आरम्भ। सुनो।''

सारी आकृति और चेष्टा में 'सुनाओ' का भाव लेकर वह सुनने को हो गयी।

''मैं वहाँ से आ गया हूँ। तुम्हारे लिए सौहाग-कोथली ले आया हूँ। लो।''

बिहारी ने पोटली खोलकर गरिमा के आगे फैला दी।

''किसने दी ? उस... ?''

''हाँ, उसने ही। जानती तो हो उस कट्टो को ?''

गरिमा कट्टो को खूब जानती है। सत्य का रुख अब तक खूब समझती जा रही थी। जानती थी, जड़ में कट्टो ही है। यह जानते ही उसने उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में स्वीकार कर लिया था। बाबूजी और सब जोर लगा रहे हैं, तब भी वह रुख अनमनाया हुआ है। यह देखकर इसने समझ लिया, प्रतिद्वन्द्वी प्रबल है। तभी इसके बड़प्पन ने उठकर इस हल्की-सी उठती हुई स्पर्द्धा को तीक्ष्ण धार दे डाली। 'वह गँवार छोकरी मेरा मुकाबला करेगी—मेरा!' यह भाव उसे दिन-रात सुलगाये रहने लगा। यह सुलगता हुआ भाव कभी महराजिन के सिर पर फूटता था, कभी माँ के, और कभी बाबूजी के। गरिमा सत्य को चाहती थी, इसमें सन्देह नहीं। वह युवती थी, तिस पर पढ़ी-लिखी। सत्य भी शकल में बिलकुल अपरूप नहीं था। और अनिच्छा यौवन का स्वभाव नहीं है। लेकिन जब कट्टो का नाम सुना और वह तकिया देखा, तब यह साधारण-सा खिंचाव एकदम ईर्ष्या की धार की तरह पैना हो उठा। तब यह सत्य को प्यार करने पर विवश हो गयी और यह प्यार ही उसे काटने और घायल करने लगा।

अब बिहारी खबर ले आया है, और कट्टो ने दी हैं कुछ चीजें! इन सबको अपनी जीत की भेंट के रूप में उसने स्वीकार किया। कट्टो कैसी कट गयी होगी! देखो न, चली थी मुझसे मुकाबला बदने ?—आदि-आदि चहकते विचारों में वास्तव संवाद की खुशी मानो खो गयी है। सत्य से विवाह होगा, यह बात तो जैसे उसके ध्यान में है ही नहीं। मैं जीती हूँ, कट्टो आखिर हार गयी है—इसी की नशीली खुशी में खुश है।

''तो यह उसी ने दी ?''

''हाँ।''

''वह क्या यह जानती नहीं, मैं उस जैसी गँवारिन नहीं हूँ।''

''वह कुछ नहीं जानती।''

''मेरे लिए इनका उपयोग कुछ नहीं, सिवाय फेंक देने के!''

''हैं-हैं फेंकना नहीं, मेरी कसम।''

'' 'य' कंघा 'य' शीशा, और ओर ओ हो—यह कुंकुम! छी: ! मैं क्या करूँगी इनका! बड़ी सौगातें हैं न!''

''गिरी, ये सौगातें ही हैं। मेरी कसम जो इन्हें फेंका तो।''

''ऐसे इनमें क्या लाल है। कितने पैसे की होंगी ये सब?''

''गिरी, कट्टो ने कुछ कह भी दिया है तुम्हें कहने को।''

''क्या-क्या, सुनूँ तो?''

''कहा है कि कहना, वह मेरी जीजी है। यहाँ आएँगी तो मैं उनसे अँग्रेजी पढ़ूँगी और टहल करूँगी, और...और गिरी, तुम्हें वहाँ पहली रोटी उसके घर—उसके हाथ की खानी पड़ेगी। कट्टो ने सत्य से वायदा ले लिया है। और उसने आशीर्वाद माँगा है।''

यह बात गरिमा के भीतर तक पहुँच गयी। लेकिन जैसे भीतर उसको आश्रय नहीं मिला। गरिमा इस बात को कुछ समझ पायी नहीं और उसको लेकर वह उधेड़बुन में पड़ गयी। इसके कहने का क्या तात्पर्य है, कैसे वह कह सकी यह बात! सो उसकी समझ में नहीं बैठता। उसने कहा—''उसे मानों और कुछ कहने को नहीं था?''

''गिरी, एक बात कहूँ?''

''कट्टो के बारे में! कहो जो कहना चाहो।''

वह अब कट्टो को रोष का पात्र नहीं देखती। कभी उसके बारे में सोचा था, मानों उस पर अनुग्रह किया था। अब मानों उस अनपेक्षित चिन्ता की आवश्यकता शेष हो गयी है। अब वह कृपा के साथ उससे सहयोग सम्बन्ध स्थापित कर लेगी। अब काहे का खिंचाव, काहे का तनाव! मानों जो पहले रोष किया, अब अनुग्रह दिखाकर उसका सारा बदला चुका डालना चाहती है। इसलिए आग्रह के साथ उसने कहा, ''कहो, जो कहना चाहो। न हो, तो कहो वह कैसी है। मैं उसे अब प्यार करूँगी।''

''गिरी, वह सुन्दर नहीं है। पढ़ी-लिखी ज्यादे नहीं है। हम वह बँध गये हैं, मैंने उससे विवाह किया है।''

इसके लिए गरिमा तैयार नहीं थी। यह सौभाग्य क्या कट्टो के योग्य है। कट्टो को प्यार तो करेगी, करती। पर यह एकदम इतना सौभाग्य! कट्टो ने यह अपनी योग्यता से कमाया नहीं है, नि:संशय छल से प्राप्त कर लिया है। इतनी उसकी स्पर्धा! उसने कहा—''ओह, तुम्हें क्या हो जाता है, भैया। उसने जादू कर दिया है, चुड़ैल...कहीं की!''

"हाँ, जादू किया है। वह जादूगरनी है। मैंने ही उसके जादू से सत्य की रक्षा की है। पर रक्षा-रक्षा में खुद फँस बैठा।"

"यह क्या पागलपन है!" गरिमा बोली।

"क्या पागलपन है!" कहते-कहते बाबूजी ने प्रवेश किया। अब तक बिहारी लौटा ही नहीं, यह कैसी बात है। आखिर उकताकर बाबूजी खुद ऊपर चढ़ आये हैं। गरिमा की तरफ देखकर कहा—"यह पागलपन क्या?"

"बाबूजी, बिहारी ने ब्याह कर लिया है। वह कट्टो...!"

बाबूजी चौंके, "क्या?"

"वह कट्टो लड़की, आपने सुना होगा...।"

बाबूजी के मुँह से निकला, "बिहारी!"

बिहारी ने अविचलित अकम्पन्न स्वर में कहा, "जी।"

बाबूजी क्षणेक गुम रहे। फिर एकाएक क्या हो गया! बोले—"बहू को कब लाओगे घर में?"

"बाबूजी, वह घर यहाँ नहीं रहेगी।"

"क्या?" जोर से झटककर बाबूजी ने कहा।

"वह वहीं रहना चाहती है।"

"और तू?"

"अभी तो इम्तहान देकर घूमने जाऊँगा। आप फिकर न करें, फेल अब कभी न हूँगा। घूमने में दो साल लग जाएँ, शायद ज्यादे भी। लौटकर आपसे परामर्श के बाद, देखूँगा, क्या करूँगा।"

"और बहू! नहीं, वह यहाँ रहेगी। मेरी बहू वहाँ रहेगी, वैसी रहेगी, और यह रुपया यों भरा सड़ेगा! नहीं वह यहाँ रहेगी, बिहारी।"

"बुला भेजिएगा। आये तो आ जाएगी।"

"मैं पहेली उलझाना नहीं चाहता। कैसे यह ब्याह है तेरा?"

"हमारा ब्याह हुआ है, इसलिए कि हम दूसरा ब्याह नहीं करेंगे। साथ रहे, रहे; न रहे न रहे—कुछ बात नहीं। क्योंकि हम हमेशा साथ हैं।"

"यह पागलपन खतम करो। जाना हो जाओ। पर यह पागलपन मैं नहीं सुनना चाहता। मैं तुम्हें किसी बात से नहीं रोकूँगा। पर ऐसी दुनिया से परे की बातें मेरे सामने न किया करो।"

तब बाबूजी ने घर के आँगन में जाकर बिहारी की माँ से पुकारकर कहा—"सुना कुछ! बिहारी ने ब्याह कर लिया है। बहू वहीं गाँव में रहेगी। बिहारी लापता होगा। ऐसी बात तुमने सुनी है कभी?"

"ब्याह हो गया, किसी को पता भी नहीं! और बहू वहाँ, और यह यहाँ भी नहीं,

वहाँ भी नहीं! यह कैसा किस्सा कह रहे हो तुम?''

''कैसा है, सो बिहारी को बुलाकर पूछ लेना।''

कहकर बाबूजी बैठक में जाकर आज के अखबारों में से दुनिया की असारता खोजने लगे। गरिमा की बात हठात भूल ही गये।

28

ब्याह हो गया। बड़े घर की बेटी, खूब अंग्रेजी पढ़ी बहू गाँव आयी है। दुनिया का आठवाँ आश्चर्य उठकर मानो गाँव आ गया है।

पर ठहरो, नयी नवेली बहू को देखने की उतावली न करो। औरतों की भीड़ उसे घेरे है, उसे छँट जाने दो, और कट्टो को जरा छुट्टी पा लेने दो। उसके साथ-साथ अकेले में चलेंगे।

इधर कट्टो की जान-पहचान नयी बना लें। वह अब वैसी ही पेड़वाली कट्टो बन गयी है। कुछ आया था जिसके कारण वह लहँगा-ओन्ना पहनकर कोने में दुबकी-सिमटी बैठे रहने की बात सोचने लगी थी। लेकिन वह चला गया। चलो, अच्छा ही हुआ। और फिर वह वैसी ही भागने, उछलने, चहचहाने लगी है।

जीजी कब की आयी है, पर उसे फुर्सत नहीं निकल रही है! बात यह है कि वह इतनी जनियों के बीच में जाएगी तो चुपचाप रहना पड़ेगा और यह उससे न होगा। वह तो जीजी से मचलना चाहती है। अभी कुछ जीजी से उलझे बिना उससे कैसे रहा जाएगा। बाल भी तो उनके काढ़ूँगी, उनकी चीजें भी देखूँगी—सब उनकी किताबें भी, गहने भी। इसी से वह कुछ-न-कुछ धरा-सँभाल किये जा रही है। पर ये औरतें भी कैसी हैं! जमके ही बैठ गयी हैं, टलती ही नहीं? अब कट्टो भीतर-ही-भीतर कुलबुलाते तंग आ गयी है। बैठी हैं तो बैठी रहें, वह तो अब जाएगी ही।

लो, तैयार हो जाओ।

प्रौढ़ा और नवीना, मुखरा और मौना, उज्ज्वला अपितु श्यामलकान्ता, आदि विविध बखान की स्त्रियाँ विभिन्न वर्णों और वर्णनों के साज और सिंगार पहने, अचरज से थोड़ा सम्मान-सम्भ्रणपूर्ण अन्तर छोड़े, एक को चारों तरफ से घेरे बैठी हैं। वह 'एक' बहू बनकर आयी हुई गरिमा है। देखो तो, कैसा ओन्ना ओढ़े बैठी है और लहँगा सिमटकर ऐसा कर लिया है कि दिखे ही नहीं। मानों इसे और कुछ पहनना आता ही नहीं, सदा यही पहना की है, और सदा मानों यही लिबास पहने, यों ही बैठी रही है। गहने एक-एक अंग पर झलमल-झलमल कर रहे हैं। आँखें सामने किसी अज्ञात बिन्दु

के भीतर प्रवेश का प्रयास कर रही हैं। थक जाती हैं तो बायें हाथ में कँगन की एक उठी हुई नोक पर आ ठहरती हैं। बहू इस तरह इतनी दृष्टियों से जकड़ी हुई बैठे-बैठे थक गयी है, चाहती है इनकी नजर कुछ ढीली हों, कुछ बातचीत हो जिससे उसके चारों ओर फैला हुआ यह विशिष्टता का परिवेष्टन टूटे और उसे आदमी की तरह कुछ करने-धरने का अवकाश मिले। पर ये सब आपस में बोल सकती हैं, उससे नहीं बोल सकतीं—न जाने यह कहीं अँग्रेजी बोल पड़े! वे तो बस इसे देख सकती हैं।

बहू उठ सकती नहीं, और अब बैठी भी रह सकती नहीं। वह बड़ी व्यथा पा रही है। कितनी बार उस अज्ञात बिन्दु से हटकर कँगने पर और कँगने से उस बिन्दु पर लौट-लौट जाकर उसकी दृष्टि थक चुकी है। तभी सुनाई दिया—"जीजी!"

उठ पड़ी। देखा, जरूर वही है। अनायास कह उठी "कट्टो!" अनायास वह खिल आयी। अनायास हाथ फैल गये—मानों स्वागत के लिए। एकदम सब कुछ बह गया। अनायास इस कट्टो को पास लेने के लिए मानों हृदय के कपाट खोलकर वह सम्मान सहित खड़ी हो आयी।

कट्टो दौड़ी आयी और उस आलिंगन में बँध गयी।

"जीजी!"

"कट्टो!"

जैसे दो सरिताएँ मिल गयीं, लताएँ मिल गयीं, दो कोमलताएँ मिल गयीं।

स्त्रियों ने देखा कि यह क्या! कट्टो बाहर कभी नहीं गयी, बहू यहाँ पहली बार आयी है। फिर यह क्या?

वे क्या जाने कि दोनों के हृदय, एक ओर से चाहे स्पर्धा और ईर्ष्या से हों, और दूसरी ओर से श्रद्धा और अर्चना से, बहुत से एक-दूसरे से परिचित हैं और वे क्या जाने स्पर्धा और श्रद्धा और ईर्ष्या और अर्चना एक ही भावसत्व के ओर और छोर हैं। ऋण और धन दो सिरे हैं। उन दोनों सिरों के बीच में रहने और बहने वाला तत्त्व है आकर्षण।

29

दोनों अकेली हैं।

"जीजी, मेरी बात उन्होंने कही थी।"

"कही थी। ब्याह की भी कही थी।"

"वह तो हँसी बहुत करते हैं। हमेशा हँसी! यह कोई ठीक बात है?"

"अच्छा, उनकी ठीक बात नहीं है। फिर तू ही बता ठीक बात।"

''जीजी, कुछ नहीं। भला, ब्याह कैसा! जीजी, जानती नहीं तुम, मैं तो विधवा हूँ। विधवाओं का ब्याह होता है! छी।''

''तुम तो एकदम ब्याह पर जैसे लानत भेजती हो! फिर क्या बात है?''

''कुछ बात भी हो जीजी! बिहारी बाबू तो यों ही...।''

''देख, कट्टो, छिपेगी तो ठीक नहीं। मैं फिर तेरी कुछ भी न हुई। मैं तेरी जीजी नहीं हूँ, भला! और जीजी से तू अपनी बात न कहेगी?''

''हमने प्रतिज्ञा की है, वह वैसे रहेंगे, मैं ऐसी ही रहूँगी। और हम दोनों अपनी बात नहीं सोचेंगे, सब दूसरों की सोचेंगे। मुझे तो सोचने के लिए तुम हो, और तुम्हारे 'वे' हैं। जीजी, उन्होंने तो मुझे पढ़ाया है। मैं भला क्या जानती थी, और वह न होते तो आज क्या मैं तुम्हें जान पाती! बिहारी बाबू से भी अपने-आप में ही सुखी नहीं रहा जाता। किससे रहा जाता है ऐसे सुखी! और बिहारी बाबू तो दुनिया में विहार के लिए ही बने हैं। वह क्या एक के होने लायक हैं, सबके हैं! मैंने यही देखकर उनके साथ, क्या कहते हैं गाँठ बाँध ली। बस, यही बात है जीजी। इसे बिहारी बाबू ब्याह कह लें या कुछ भी कह लें।''

''यह अद्‌भुत बात तुझे सूझी कैसे, कट्टो?''

''अद्‌भुत क्या है जीजी इसमें? बिहारी बाबू को देखकर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आत्मा किसी एक का सहारा थाम कल्याण-रूप होकर व्याप्त हो जाना चाहती है, और वह उस 'एक' को खोजते फिर रहे हैं। मैंने अपने से पूछा—'क्या मैं वह 'एक' हो सकती हूँ।' मन ने कहा—क्यों नहीं? जीजी, सो यह हिम्मत करके मैंने कह डाली...''

''तुमने यह आत्मा पढ़ना कहाँ सीखा! देखती हूँ, तुम तो बड़ी होशियार हो!''

''जीजी, तुम तो ठट्ठा करती हो। आत्मा क्या कोई सबकी पढ़ी जाती है। और क्या कोई सीखा जाता है। बिहारी बाबू तो मुझे ऐसे दीखे जैसे छापे के अक्षर, कोई साफ-साफ, एक-एक पढ़ ले।''

''तो फिर यह ब्याह कैसे हुआ! वह तो कहते थे, ब्याह हुआ है और तुमने उस पर जादू फेरा है।''

''जीजी, वह तो बात ऐसी ही ठट्ठे से कहा करते हैं। हम कब चाहते हैं, लोग ब्याह समझें। हाँ, इतना है कि मैं उनके और वह मेरे जीवन से मिल गये हैं। हम बँध जो चुके हैं, एक ही प्रतिज्ञा में। उनसे मेरा और मुझसे उनका जीवन बनेगा और पूर्ण होगा। मन की थिरता को कुछ तो चाहिए। सो वह होगा। उनकी वजह से मैं अकेली भी अकेली न हूँगी, और हम एक-दूसरे के होकर सबके होने की राह पा लेंगे। मैं उनके लिए जीकर स्वयं से बच जाऊँगी, ऐसे ही वह मेरे लिए स्वयं से मुक्त हो जाएँगे। पर जीजी, तुम मुझे ऐसे देख रही हो जैसे मैं बिलकुल पगली हूँ। बिलकुल पगली थोड़े ही हूँ। हाँ, तुम्हारे जितना तो नहीं जानती। सो क्या उस बात पर तुम मुझे यों देखोगी! न-

न, मुझ पर तुम बिगड़ नहीं पाओगी। अच्छा, चलो अब जीजी। घर चलो हमारे। तुम रोटी तो बनाना क्या जानती होगी, क्या काम पड़ता होगा वहाँ तुम्हें ऐसा। बैठी रहना, बताती जाना, मैं बनाती रहूँगी। तुमसे कहा न होगा उन्होंने, आज तो तुम्हें मेरे ही यहाँ जीमना है। हाँ और भी तो बात है—आशीर्वाद की। आशीर्वाद दिया तुमने! अब यहाँ देना पड़ेगा। पहले दे दोगी, तब रोटी मिलेगी।''

यह कट्टो ऐसी बात करती है कि कहीं से बचने की राह ही नहीं छोड़ती। सवाल भी करती है, और जवाब भी अपने से ही देती है, जिससे 'नहीं' करने का मौका नहीं रहता। गरिमा इसकी यही बात देख-देखकर अचरज कर रही है। गरिमा से जो चाहे करवा लेती है, और हर बात में अपनी ही चलाती है; पर ऐसे कि कुछ कहते नहीं बनता, बिलकुल अखरता ही नहीं।

यह आशीर्वाद देना-दिवाना तो किसी शिष्टता की संहिता में से उसने सीखा नहीं। न वह आशीर्वाद देने को अतीव उत्सुक है पर...

''जीजी, चुप क्यों हो? देखो ऐसे। मैं बैठती हूँ घुटने के बल, फिर पैरों में पड़ूँगी, तुम मेरे सिर पर हाथ रख दोगी—प्रेम से, जैसे माँ हो। फिर मैं उठ जाऊँगी और मुझे गले लगा लेना। पर देखो, असली मन से करना, नहीं तो मुझे फिर से कसरत करनी पड़ेगी। जब तक ठीक नहीं होगा, तब तक छुट्टी नहीं दूँगी।''

कट्टो बात तो बहुत बड़ी करती है, पर बोलती बिलकुल बच्ची-सी है। गरिमा ने अपने लिए 'माँ' सुना और उसका हृदय जाने कैसे एकरस से भीना हो गया। अब तो सचमुच इस लड़की को वह कण्ठ से लगा लेना चाहती है। इस लड़की से तनकर रहा नहीं जाएगा, वक्त-वक्त पर बहुत पण्डिताई की बात कर जाती है तो क्या! उसके भीतर जो प्रसुप्त मातृत्व है, इस लड़की ने अपने लड़कपन की मीठी बोली से छेड़कर उसे चंचल कर दिया है। तानसेन ने अपने कण्ठ के दर्द से पत्थरों को पिघला दिया, आर्तों की पुकार ने न्याय कठिन परमात्मा को पिघला दिया, तब कट्टो की हठ-मचल ने शिक्षा-कठिन गरिमा को पिघला दिया तो इतनी बड़ी बात क्या हुई! मातृत्व के गौरव और स्नेह से कोमल गरिमा ने कहा—''कट्टो, मैं...।''

लेकिन तब तक तो वह घुटने के बल बैठ गयी थी। उसने माथा पैरों में लगाया, पैर खींच लिए और गरिमा पानी-सी बह चली।

स्नेहार्द्र, कम्पित वाणी से गरिमा ने कहा—''हें-हें, कट्टो।''

पर कण्ठ बहुत भर रहा था। हाथों से सिर को थपका और फिर दोनों हाथों से उठाकर आलिंगन में बाँध लिया।

छूटते ही कट्टो ने कहा—''मेरी अच्छी जीजी, कैसी भली हो। जीजी, चलो, मेरे घर नहीं चलोगी?''

गरिमा बहुत-बहुत बार नहीं रोयी है। पर यह रोना तो बड़ा सुखद मालूम हुआ। वह इसमें हरी हो गयी, जैसे बारिश से झरी-धुली नयी फुलवारी हो।

''कट्टो! तू मेरे पास नहीं रह सकेगी? मेरे साथ घर चली चलो तो बड़ा अच्छा हो। ऐसी ही कट्टो बनकर रहना, सब तुझे प्यार करेंगे। तुझे कोई प्यार न करेगा तो किसे प्यार करेगा।''

''मैं साथ चलूँगी! कैसी अनिष्ट बात कहती हो, जीजी! इस गाँव को छोड़कर और कहीं रहूँगी तो डाल से टूटे फूल की तरह ज्यादे न रहूँगी। और वहाँ तुम्हारे घर में मेरे जैसी गँवारिन क्या भली लगेगी? जीजी, मेरी तो यही जगह है, यही अम्माँ का जामनवाला घर। पर यह ऐसी बात क्या कह दी! क्या उन्होंने कहा था?''

कट्टो, इस स्थल पर क्यों छूती हो। वह अभी-अभी फूटकर बह चुका है, अभी तो दर्द देता है। पर मातृत्व की इस हिलोर में गरिमा हल्के से दर्द को बेपीर झेल गयी, बोली—''उन्होंने तो नहीं कहा। वह क्यों कहते! पर कहो तो कह देखूँ?''

''नहीं, नहीं, नहीं।''

''अब तो जरूर कहूँगी, डरती क्यों हो?''

''उन्होंने 'हाँ' कर भी दी तो तब भी नहीं जाऊँगी।''

''अब तो तू आप जाएगी।'' एकदम 'तू' से उसने ऐसी गहरी बात कह डाली।

कुछ देर और बात हुई। पर ऐसी सब बातें हम नहीं बता सकते।

ऐसी जगह ज्यादा खोजबीन की जिज्ञासा भले आदमी नहीं किया करते। इससे मन में जो चाहे समझ लीजिए, पर जोर से कहिए मत और पूछिए मत।

उसके बाद कट्टो ने अपनी जीजी से अनुरोध किया—''घर चलो। रोटी मैं बनाऊँगी, तुम देखती रहना, बताती रहना।''

सो तो नहीं होगा। गरिमा क्या चुप बैठी रहेगी! वह भी जरूर बनाएगी। बनाएगी नहीं तो मदद तो खूब ही जोर-शोर से देगी।

''लेकिन—।''

''लेकिन, मैं अभी आती हूँ। मेरी कसम, तू चल इतने...। मैं...मैं जरा...।''

बस, बस, बस। ज्यादे मत कहो। वह समझ गयी। वह चली जाती है, अभी भागी जा रही है। खूब बातें करो, खूब-खूब तुम दोनों के बीच में अब वह कौन है।

अब उसे एकदम अकेले भाग जाने की बड़ी झटपट पड़ गयी। पर बातों में जीजी आना भूल न जाएँ। बातें ही ठहरीं, क्या अचरज है! इससे चलते-चलते याद दिला आयी—''देखो, आना। कहीं? तुम्हें मेरी...।''

''हाँ जरूर, जरूर-जरूर।''

कहती रहो कितनी ही 'जरूर', कट्टो तो वह गयी, वह गयी। छोड़ गयी है तुम्हें

कि अब खुलकर बातें कर लो, लेकिन झटपट उसके यहाँ भी जाना है।

नयी बहू ने (अब तक भी टोह में लगी हुई, सबसे नये मिनट की और ज्यादा-से-ज्यादा मिर्चवाली कोई खरी-खोटी सुनने और सुनाने के लिए सदा घात देखने वाली प्रौढ़ाओं की राय में, बड़ी बेहयाई के साथ) अपने नये वर को खोज निकाला—''जी, यह कट्टो! मेरे साथ ही चले तो कैसा ?''

क्या ? कट्टो ? फिर कट्टो ? मानों कुछ गलत सुन गया है, इसलिए प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

''... ?''

''क्यों सुना नहीं... ? या कट्टो को जानते नहीं ?''

''क्या ? कट्टो ? कट्टो— ? तब ?''

''मेरे साथ दिल्ली जाए तो कैसा ?''

''नहीं।'' झटके से पूरा जोर निर्णय में फेंककर कहा।

''नहीं ?''

''हाँ, 'नहीं'। जहर रखना चाहो पास, रखो। पर मैं नहीं कहूँगा, मैं नहीं रखूँगा। क्यों कभी लालच आ जाए तो खाने को जहर पास ही तैयार रहे ! नहीं, कट्टो को तुम्हारे साथ या अपने साथ कभी रहने को नहीं कहूँगा। समझीं ?''

समझी भी और नहीं समझी। लेकिन इस बारे में और ज्यादे कुछ बढ़ना ठीक नहीं समझा।

फिर बाद में बहुत ही नियमित, दोनों ओर से पाबन्द, और अत्यन्त उचित रूप में थोड़ा-सा परस्पर प्रेम सम्प्रदान हुआ। (नहीं, आप नहीं सुन पाएँगे। धीरज न खोएँ और मुँह न बनाएँ।) जब पाबन्दी, शिष्टता और औचित्य की बाहरी सीमा आ गयी, तब विवाह के प्रथम दिन का प्रेमालाप रोक रखना पड़ा और गरिमा कट्टो के घर के लिए चल दी।

30

साग तो अब हुआ जाता है, रायता हो ही गया है...सब, सब कुछ हो गया है, बस अब पूरी उतारनी है। यह चून तो अभी निकला ही नहीं है, परात तो यूँ ही पड़ी है। उसनेगा, तब कहीं...इतने कड़ाही जल...यह सब सोचकर, साग-सनी कर्छी को झट से छोड़, हड़बड़ाई उठ खड़ी हो गयी। देखो न, यह जीजी के झंझट में आटा रह ही गया। पर लो,

अब सब हुआ जाता है। यह चलने को हुई ही कि—

"क्यों-क्यों? क्या हुआ?"

कट्टो ने हँसते-हँसते बताया—"सब हुआ, आटा तो निकाला ही नहीं। ब्याह के सामान तो हो गये, दूल्हा कहाँ है?"

"लो मैं लायी।"

"नहीं, नहीं।"

"कहाँ है?"

"वह रहा मटके में।"

गरिमा परात लेकर आटा लेने गयी। कट्टो अपने साग में लग गयी। साग चलाते देखा कि यह क्या?

"जीजी चून—खिंडा दिया।"

"उठाये देती हूँ।"

"हें-हें, धरती का चून!"

उठाने को हो ही रही थी, वहीं छोड़ दिया। फिर कट्टो का ख्याल गया—"जीजी, इतना चून नहीं, थोड़ा।"

एक-एक मुट्ठी डालती जाती और पूछती जाती, इतना? आखिर घटते-घटते ठीक परिणाम में आया ही, डरते-डरते कितनी मुट्ठी कम की गयी, पता नहीं।

जीजी जब चलने को हुई कि पता चला उसकी आसमानी रँग की बेलदार साड़ी का सामने का हिस्सा सफेद हो गया है, और कोहनी तक हाथ भी मानों पूरे पाउडर से सफेद कर दिये गये हैं।

"जीजी, यह क्या कर रही हो! आज सबको हँसाने की ठानी है! यह हाथ का और साड़ी का रंग नहीं भाता।"

"बोल-बोल, और क्या करूँ?"

"करो यह कि बैठो, और मुझे हुक्म दो। सबके अलग-अलग काम होते हैं। कोई किसी का करे तो बड़ी गड़बड़ हो जाए। तुम्हें तो तुम्हारा काम ही सोभता है। चने-दाल का और बासन-भाँडों का काम तो तुम्हारा है नहीं, जीजी। मेरा है, मुझे करने दो। और तुम्हारा जो देखने का, बताने-करवाने का है, सो तुम करो।"

"नहीं री, मैं अच्छी लोई बनाती हूँ, पूरी की।"

रोज-रोज की बात तो कहती नहीं। रोज तो उससे हो भी नहीं सकेगा। लेकिन आज तो बगैर काम किये वह नहीं मानेगी। जरूर कुछ पूरियाँ और अपनी साड़ी और अपने हाथ खराब करेगी। चाहे पसीना आए, आँखों में पानी आए, घी उछलकर हाथ जला दे, और चाहे कट्टो को कितनी ही अड़चन पैदा हो। कट्टो का कहाँ भाग कि ऐसी अड़चन पैदा करने वाली उसके यहाँ आयी है। वह मदद करने के नाम पर सिर्फ काम

बढ़ा रही है और कट्टो को अपने खाने के सामान ही की नहीं, इस गरिमा की फिक्र करनी पड़ रही है। पर चाहती है, रोज-रोज ऐसा हो। कोई मिले तो उसे प्यार करनेवाला। वह उसे सिंहासन पर बिठाकर चौबीसों घण्टे उसकी चाकरी बजाएगी और इसमें वह कृतार्थ होगी। आज वह कितनी खुश है, इसको बहुत कम लोग समझ सकते हैं।

इस तरह खाना आखिर बन गया है। कट्टो की अम्माँ भी अब आ गयी हैं। बहू की लोरिया वह ले चुकी हैं। कैसी महारानी बहू है। बड़भागिन हो, पूतों से सुखी रहे, राज करे, आदि अपनी मातृहृदय की उछाह रस से भरी असीसें वह उस पर बरसा चुकी है, कुछ हर्ष के आँसू भी।

वही माँ इस नौसिखुए हाथों की बेढब कार्रवाई को देखकर बड़ी खुश हो रही है।

तब सत्य को बुलाकर जिमाया गया। गरिमा की साड़ी कान के आगे तक खींच ली गयी है। पर वह ज्यादा बोल नहीं रही है। सत्य भी ज्यादा बोला नहीं। माँ ने जो बात छेड़ी तो सत्य ने उखड़ी 'हाँ-हूँ' से उसका स्वागत किया, इससे बात करने का उत्साह भी भंग हो गया है। कट्टो तो मानों अपनी कड़ाही की सँभाल में एकदम व्यस्त है। उसे तो सत्य की ओर आँख उठाने की भी छुट्टी नहीं मिल रही है और यह कौन कह सकता है कि वह इस प्रकार की छुट्टी चाहती ही है। उसका मुँह मानों काम की भीड़ ने सी रखा है। इससे इसलिए एक भी शब्द नहीं निकला है। हाँ, काम बेधड़क चल रहा है। इससे फिर उघड़े-बे-उघड़े की परवाह है, न यह कि हाथ यहाँ तक खुले हैं और न इस बात की ही कि थाली में पूरी ठीक जगह पड़ती है या नहीं, क्योंकि अक्सर ठीक उसी समय कड़ाही के घी में कुछ खास काम निकल आता है और आँखें उसी घी की ओर ही रखनी पड़ती हैं।

वृत्तान्त के अध्ययन का यह पृष्ठ या कहें यह अनुच्छेद, इन सब जमी हुई चुप्पियों के कारण इतना नीरस हो गया है कि हम उसे पाठकों के सामने नहीं रखना चाहते। इसलिए—

''जीजी, बैठो न।''

''तुम भी तो बैठो।''

''मैं पीछे खाऊँगी। निपटाना भी तो है।''

''निपटा लो तो फिर। मैं भी पीछे ही खाऊँगी।''

''नहीं जीजी, यह कोई बात है! तुम तो मेहमान हो, जीजी हो।''

''अच्छी जीजी हूँ और अच्छी मेहमान हूँ। इतना तो काम लिया कि— ।''

''नहीं, नहीं। मैंने तो यह परोस भी दी थाली।''

''परोस दी तो रखी रहने दो। ठण्डी काटेगी तो है नहीं।''

कट्टो हार गयी। और यह हारना कैसा अच्छा लगता है। कट्टो ने कहा— ''अच्छा तो लो, मैं भी अब निबटी। तुम्हें देर तक भूखी नहीं रखूँगी। पर तुमने फैलाने

में मदद दी तो अब निबटने में भी तो...।''

''बोलो, बोलो...।''

तब मिलकर उठा-धराई की गयी। कट्टो ने आधा काम किया, आधा बताया कि ऐसे करो। इससे काम में शीघ्रता हुई हो सो बात नहीं। पर वह देर किसी को मालूम नहीं हुई, और ऐसा लगा जैसे काम सचमुच जल्दी हो गया।

तब खाना हुआ दोनों सहेलियों का। उनहार-मनुहार, छीन-झपट, गुदगुदाहट और जबर्दस्ती आदि-आदि बहुत-से व्यंजन भी थाली के व्यंजनों में मिल गये। और इनके कारण भोजन बहुत स्वादिष्ट हो गया। वे कट्टो ने बनाये थे, इनके बनाने में ज्यादे श्रेय गरिमा का था। शहर दिल्ली में वह नियम विधि-निषेध की रेखाओं में घिरकर कई कोणों की ऐसी ज्यामिति की पिण्ड बन गयी थी जो हिल-हिला नहीं सकती। यहाँ, कट्टो के यहाँ आकर वह रेखाएँ हट गयीं। तब जो कुछ दबा हुआ, घुटा हुआ और घिरा हुआ था, वह तनिक तीखे वेग से उमड़ रहा। इसलिए इस एक थाली में खाते वक्त उसने कट्टो के साथ ऐसा दंगा मचाया कि क्या कोई मचा सके।

सहेलियों का यह काम हम नहीं देखेंगे, क्योंकि क्या ठीक, इस ऊधमदंगे में धोती कहाँ बहक जाए, पल्ला कहाँ हो जाए, और हाथ न जाने कहाँ-कहाँ पड़े। इसलिए अगर सभ्य हो तो आँख मींचकर लौट पड़ो। कहीं पता चल जाए और आइन्दा वैसा ऊधम ही बन्द हो जाए, तब तो दुनिया की भारी क्षति होगी, हम सच कहते हैं।

31

लेकिन दिन एक से नहीं रहते। काल चला जाता है और राह में चीजों को नयी पुरानी कर जाता है। नयी का काम है पुरानी हो जाए, पुरानी का काम झर-भर जाए। यह झारी, फिर शायद किसी विशेष पद्धति से नयी हो जाती है। वह नित नव्यता की विशेष प्रक्रिया क्या है, सो हम क्या जाने, जिसे विद्वानों ने खोजा, मर गये पर नहीं पा गये; खोज रहे हैं, मर रहे हैं, पर नहीं पा रहे हैं—उसी को हम क्या जाने। हमसे बहुत ज्यादा मेहनत नहीं होती। इस खोजने-खोजने में ही और पाने के लालच में खोने-खोने में ही हमसे जिन्दगी नहीं बितायी जाएगी। हमने तो एक शब्द में कह दिया 'परमात्मा' और मानों हमने पा लिया। हमारी छोटी-सी गर्ज पूरी हो गयी। पर लोग हैं कि खोजने से थकना ही नहीं चाहते। कहते हैं हम पाकर ही छोड़ेंगे। हम उनको धन्यवाद देते हैं, हाथ जोड़ते हैं, बड़ी श्रद्धा से ज्ञानी कहते हैं, पर कहते हैं, ''भाई, खूब खोजो, जितना बने उतना। पर विदा की वेला से एक दिन पहले समाधान नहीं मिल पाये तो हमारे साथ हो जाना और कहना,

हे परमेश्वर, हे राम मिल जाए वह अन्तिम तो हम इसका वचन देते हैं कि जितने कोष मिलेंगे, हम जैसे भी हो 'परमात्मा', को एकदम मिटा डालेंगे।''

पर हम बहक गये। कट्टो और गरिमा और हमारे वृत्तान्त का परमात्मा से कोई विशेष निजी सम्बन्ध नहीं है। सिर्फ नये-पुराने की बात थी। सो बात यह है कि गाँव का स्वाद पुराना हो गया है। कट्टो से मन अब वैसा नहीं खिंचता, पहले जैसा नहीं मिलता और नहीं बहलता। अब अखबारों की जरूरत अनुभव हो रही है। किताबें भी तो नहीं हैं! उनसे अच्छी बोलती हैं, बहुत तनकर भी नहीं रहतीं, पर ये गाँव की औरतें! उहँ, उनसे दिल नहीं मिलाया जा सकता। ठीक बोलती नहीं, ठीक बैठती नहीं, ठीक बात भी नहीं समझतीं। बोलो, बात भी तो नहीं समझतीं! फिर कैसे दो मिनट उनसे चर्चा को जी चाहे! वहाँ दिल्ली में लता थी, जाह्नवी थी। कभी घर आ जाती थीं, होता तो वही चली जाती थी। उनसे बात तो होती थी दुनिया की और कुछ अक्ल की। यहाँ तो सब फूहड़। दुनिया की कुछ खैर खबर ही नहीं। एक ही धन्धा, रोटी-चूल्हा और पति। आपस की 'तू और मैं'। वहाँ बाग थे, जी चाहा जब साफ हवा ले ली; यहाँ हवा भी गन्दगी में से छनकर आती है। गाँव के चारों तरफ जहाँ देखो घूरा, उसकी हवा—क्या, वह कार्बन, आक्...खैर, कुछ तन्दुरुस्ती को खराब कर देगी। मैं, देखो, कैसे सूखी-सी...!

सारांश यह कि जब नयी बात पुरानी, बासी, बूढ़ी हो गयी तो यह दोष सब उसके ऊपर सिकुड़न की तरह गिन लो—ऐसे फैल गये।

तब एक दिन एक चिट्ठी बाबूजी की आ गयी।

''सत्य, गाँव में तो काफी दिन हो गये। अब चाहो तो यहाँ आ जाओ। गिरी का मन पूरी तरह न लगा हो, तो तुम जानते हो अचरज की बात नहीं। वह ऐसी जगह रही नहीं। मुझे कुछ और नहीं, यही ख्याल है कि कहीं स्वास्थ्य पर असर न पड़ जाए। स्वास्थ्य पहले, सब कुछ बाद में। लिखो, कब आ रहे हो ताकि गाड़ी भेज दी जाए। जल्दी ही आ जाओ। गरिमा अच्छी होगी। प्यार कह दो। कहो, मुझे चिट्ठी लिखना एकदम भूल न जाए। और सब अच्छे हैं।

पुन:—चाहो तो आने का तार दे देना—

तुम्हारा—

भगवद्दयाल''

तब तक सत्य घर से ससुराल जाने के काफी पक्ष में हो गया था। गरिमा के स्वास्थ्य की ओर से निश्चिन्त वही नहीं रहना चाहता। गरिमा ने बताया है—गर्मी है, हवा की तबदीली चाहिए, यहाँ का पानी ठीक नहीं, जी मिचलाया-सा, अनमना-सा रहता है। Aloofness की (एकाकी) जिन्दगी बितानी पड़ती है, सोसायटी का अभाव है। दिमाग को खुराक और ताजगी नहीं मिलती—शायद इसी से ऐसा है। गरिमा ने यह भी कहा था—''पर मुझे कुछ नहीं। तुम जहाँ अच्छे मैं भी वहाँ ही खुश। तुम्हें गाँव माफिक

है तो ठीक है मेरा क्या ?''

यह अन्त का उलटा लगने वाला तर्क ज्यादेतर तुरन्त सिद्धि दिलवा देता है। यह बहुत कम चूकता है और मर्म पर इस प्रकार बैठता है कि सौ में निन्यानवे हिस्से सिद्धि ही हुई रखी समझो। अश्रु-श्रवण तर्क की यह सूक्ष्म और हल्की पर्याय है। पर गला देने, पिघला देने और कहीं का न छोड़ने में उससे कहीं कारगर। सोचते तो थे ही जाने को, इस चिट्ठी ने मानों दरवाजा खोल दिया, आओ, आ जाओ।

फिर चलने को साज-सामान होने लगे, पुलिन्दों और ट्रंकों की सँभाल और बाँध। नयी बहू जा रही है, यह खबर कुसलो ने इससे, और उसने दूसरे उससे, और फिर तीसरे और चौथे...इस प्रकार इससे उसके 'पंखों' पर चढ़कर गाँव-भर का चक्कर लगा आयी। इसी चक्कर में मिली वह कट्टो को।

''जीजी जा रही है! वह भी जा रहे हैं!''

वह कई दिनों से नहीं गयी तो क्या और जीजी नहीं बोलती तो क्या। अब जाए बगैर उससे नहीं रहा जाएगा।

पहुँची। बहुत-सा सामान उठाना-धरना है। कपड़े-लत्ते कुछ मैले हैं, सो अलग पोटली में बँधेंगे और ये धोबी के यहाँ से नये मँगाने हैं सबके सब ट्रंकों में चिने जाएँगे। यह भी ख्याल रखा जाएगा कि कौन किसमें। यह सब व्यस्तता देखकर कट्टो चुप इन्तज़ार करने लगी है—जीजी वक्त पायें, देखें, तब बोले। जो वह मैली धोती वहाँ लटक रही है, उसे देखने में अचानक ही यह कट्टो भी दिख गयी है। पर अभी तो और भी बहुत-से कपड़े हैं। निगाह उठाने की कब फुर्सत मिलेगी, कुछ ठिकाना तो नहीं।

गरिमा के मन की पूछते हो! वह अपने को मन-ही-मन दोषी समझ रही है। देखकर भी नहीं देख रही है, सो भी अनुभव कर रही है कि दोष हो रहा है। पर दोष को मिटाने की चेष्टा उसके जैसे स्वभाव वाली को कठिन हो रही है। इसलिए वह अपने मन को भुलाने के लिए, कि जैसे मन मान ले सचमुच कट्टो दीखी ही नहीं, धोबी के कपड़ों के ढेर में से वह अत्यधिक व्यस्तता प्राप्त कर लेना चाहती है।

आखिर कट्टो ने ही कहा, ''जीजी!''

अब तो वह व्यर्थ भुलाने की कोशिश, यह अभिनय समाप्त करना ही पड़ेगा।

''कट्टो...!''

''जीजी, जा रही हो ?''

''हाँ।''

''आओगी ?, कब आओगी ?''

''सो तो वह जाने।''

''नहीं आओगी ?''

''क्या कह सकती हूँ, कट्टो।''

''जीजी, आना चाहो, आ सकोगी। क्या और कुछ रोज नहीं रह सकतीं ?''

''कट्टो, मन नहीं लगता। कोई बोलने वाला नहीं मिलता। ऐसी जगह मैं रही भी नहीं कभी।''

''पाँच-छह रोज से मैं आयी नहीं। क्या मालूम था, मेरी जीजी का मन नहीं लग रहा है। जीजी, न होता तुम्हीं बुला लेतीं। बुलाने पर सिर के बल आती। जीजी, कट्टो से रूठोगी तो कट्टो क्या करेगी ?''

जीजी कुछ बोल न सकी। यों ही, हाँ-नहीं कर दिया। कट्टो को छोटा बनना आता है। और जिसे छोटा बनना आता है, उसे प्यार पाना आता है। जब इस तरह पीछे पड़ जाती है, तो कट्टो को प्यार देना कठिन हो जाता है। सो ही गरिमा की अवस्था है।

''जीजी, नाराज हुई हो तो बता दो। कसूर हुआ हो तो बता दो, अब नहीं होगा। और देखो,'' उसने आँख मिलाकर, फिर पैर छूकर हाथ जोड़ते हुए कहा, ''देखो, जो हुआ सो माफ कर दो!...कर दिया न ? देखो जीजी, कट्टो की बुरी बात मन में ले जाओगी तो ठीक नहीं। तुम्हारे मन को भी चैन नहीं मिलेगा, मैं तो यहाँ भुरती रहूँगी ही।''

गरिमा ने दोनों हाथ उसके कन्धे पर रखे।

''कपड़े ठी...।'' कहते हुए सत्य भीतर आये। देखकर ठिठक गये। वह अब कट्टो के सामने पड़ते घबराते हैं। पदध्वनि पर मुड़कर कट्टो ने देखा, सत्य है। उसने पैर छूकर पूछा—''तुम जा रहे हो ? जीजी फिर कब आएँगी ?''

''कह नहीं सकता।''

''बिलकुल नहीं कह सकते ?''

''कैसे कह सकता हूँ ?''

''तो फिर कब मिलना हो ? कट्टो का कहा सुना माफ कर देना। और कुछ हो तो लिखना। कट्टो को पढ़ाया, अब उससे कुछ सेवा नहीं लेना चाहते ?''

मास्टर चुप।

''तो मैं जाती हूँ। जीजी, इनको कुछ हो जाए तो मुझे जरूर-जरूर लिखना। और तुमसे जब बने यहाँ आना। घर तो तुम्हारा यही है अब। और तुम दोनों माफ कर देना। कट्टो बड़ी भूलें करती है, बड़ी मूर्ख लड़की है। और तुम दोनों सुखी रहना। और कट्टो की भी कभी याद कर लेना, क्योंकि कट्टो तुम्हारी बहुत-बहुत याद करेगी।''

कट्टो फिर एक बार दोनों को नमस्कार करके जीजी से गले मिलकर चली गयी।

सत्य अब जल्दी-जल्दी किसी काम में नहीं लग जाएँगे तो सिसक पड़ेंगे, इससे झट-झट कपड़े फैलाने और इकट्ठे करने लगे। कहा—''जल्दी करो, जल्दी।''

गरिमा को आँसू छिपाने की बहुत ज्यादा जरूरत नहीं है, इसलिए वह स्वतन्त्रता से कपड़े भिगो रही है।

32

गरिमा-सत्य का और कट्टो-बिहारी का विवाह हो गया है। और बहुत कुछ काम हमारा खत्म हो गया है। इक्कीसवीं सदी के अनुसार हम सन्तान के शौकीन नहीं हैं, इसलिए उस बात तक कहने के लिए ठहरेंगे नहीं।

सत्य ने दिल्ली जाकर देखा, यह मकान ज्यादा खुला और अच्छा है। पत्थर का फर्श है, नल-बिजली का आराम है। और भी सब सुविधाएँ-ही-सुविधाएँ हैं। इसलिए बाबूजी कहते हैं तो वह दिल्ली ही रहेगा।

रहना अब दिल्ली में ही होने लगा। बिहारी पर भरोसा नहीं है। बिहारी कच्चा आदमी नहीं है कि किसी की खातिर टूट जाए—बाबूजी यह बहुत अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए सत्य को अपने पास बसाया है।

तो अब माँ को गाँव से बुला लिया जाए। माँ आयी तो, पर बाप-दादों का मकान छोड़ने का सदमा साथ लेकर आयी और थोड़े दिनों बाद यह घर भी और यह लोक भी छोड़ गयी। दो हफ्ते के अनन्तर गरिमा की माँ की भी देह छूट गयी।

तब घर के भीतर का बोझ गरिमा के सिर पर आया। उसने काफी अच्छी तरह निबाहा। पर निबाहने में नौकर अब काफी लगते हैं। गरिमा ने नौकरों से निबटने का भी एक काफी जटिल काम बढ़ा लिया है।

बाबूजी अब इधर ढीले हो चले हैं। बाहर की दौड़-धूप सत्य के सिर आ पड़ी है। इस तरह सत्य के निर्बाध आदर्श-चिन्तन में बाधा पड़ती है। वह, जो होता है, करता तो है पर झींकते हुए, झिझकते हुए और दुविधा में।

अब बाबूजी ने उसे समझाना शुरू किया है और गरिमा ने टेढ़े ढंग से लेना। आदर्श की आराधना का काम उसकी निगाह में कितना ही बड़ा काम हो, दूसरों को विश्वास कराना कठिन है। लोगों की निगाह में वह सब कुछ निठल्लेपन का बहाना है, अकर्मण्यता की सफाई का नाम है। निठल्लेपन से दुनिया नाखुश रहती है और फिर आदमी खुद भी अपने से नाखुश रहने लगता है।

गरिमा जब-तब ऐसी चोटें करती है कि भीतर-ही-भीतर झुलस रहते हैं, पर कहते कुछ नहीं बन सकता। घर का जो अधिकार है, कहा जा सकता है, वह गरिमा के अनुग्रह का फल है और गरिमा इस सत्य का प्रयोग खूब होशियारी से और खूब निशाने से करना जानती है।

इधर बाबूजी ने अदालत का थोड़ा बहुत काम उससे लेना पहले ही शुरू कर रखा था। अब ज्यादे-ज्यादे लेने लगे। उधर ऊँच-नीच भी समझाते जाते थे। परिणाम यह हुआ कि एक रोज सत्य का नाम भी बाकायदा वकीलों में दर्ज हो गया।

धीरे-धीरे ठाठ भी बढ़े, नखरे भी बढ़े और अधिकार प्रयोग भी। जितना वकालत कम चलती थी, उतने ही ठाठ की ज्यादा जरूरत थी,—शायद व्यवसाय की नीति के तौर पर। और जितनी ही वकालत कम चलती थी, उतना ही नखरे और अधिकार-प्रयोग तीखे होते थे। मानों जो अदालत के खाली घण्टों में, सूट-बूट-सज्जित अवस्था में आत्म-दर्प के विचार बन्द हृदय में उठते रहते हैं, वे घर के ढक्कन खुलते ही बदले के साथ निकलते हैं।

बिहारी इम्तहान देकर चला ही गया है। वह पास भी हो गया और पास हुए को भी दस महीने होने आ गये। पत्र तो उसके आते हैं, पर पूरा पता नहीं लिखा होता। बाबूजी जानते हैं कि फिक्र और ढूँढ़ से कुछ परिणाम न होगा, इससे चुप हैं।

बाबूजी अब गरिमा से कभी-कभी तंग दीख आते हैं। गरिमा का भी ख्याल है कि बाबूजी बुढ़ा चिड़-चिड़े बन गये हैं। इसलिए अब वह उनकी बात को उतनी परवाह से नहीं सुन सकती।

अब घर उसके हाथ में है। उस घर की एक बात है! दसों बातें हैं। बाबूजी को वे सब कैसे समझाई जा सकती हैं। बाबूजी यह सब देखते नहीं, यों ही गरिमा बेचारी से उलझ पड़ते हैं। उसे भी लाचार कुछ सीधी-सी कह देनी पड़ती है।

ऐसी अवस्था में वह बिहारी कहाँ चला गया है, फिर-फिरकर बेचारे बाप को वही याद आता है। अब जरा अस्वस्थ हैं। खाँसी उठती है, बदन दर्द करता रहता है। सत्य नियम से बँधे दो वक्त आता है। अब कामकाजी आदमी है, वकील है। बहुत तो फुरसत पाता नहीं। दस धन्धे हैं। सौ झंझटें हैं। बाबूजी तो बीमार हैं—जमीन-जायदाद, लेन-देन का भी सब काम उसी को भुगतना पड़ता है। लेकिन बाबूजी चाहते हैं कि दस बार आये, सो कैसे आये? फुरसत निकालकर दो से ज्यादे बार आता है, तो इशारे-इशारे में यह बात बाबूजी को समझाता है। बाबूजी आँख मींच लेते हैं, मानों समझ गये हों। पर समझते नहीं, फिर वही उम्मीद करने लगते हैं।

हाय! बिहारी कहाँ है? बेचारा बाप उसी की याद करता है। उसका यह सफेद पका सिर बहुत कुछ जानता है, पर लाचार है। जानता है, बिहारी था जो सेकिण्ड-भर न छोड़ता उन्हें, चाहे वकालत जाती चूल्हे में। और वकालत नहीं जाती चूल्हे में, जैसी कि अब सत्य उसे भेज रहा है। लेकिन बूढ़ा लाचार है। बिहारी!

तभी दुर्घटना हो गयी, मोटर टकरा गयी। वृद्ध के चोट आयी, सत्य बच गया। सत्य श्वसुर के अस्पताल पहुँचते ही जरा घर आ गया है। पीछे ही उसके बिहारी अस्पताल पहुँच गया।

वृद्ध ने पहचान लिया, "आ गया बेटा?"

"आ गया बाबूजी। बस, अब अच्छे हुए, घर चलेंगे।"

''बिहारी! नहीं, दर्द बहुत है। दिन हो गये पूरे।''

''नहीं, नहीं बाबूजी! अभी मैं कट्टो को दिखाऊँगा। और वह आपकी सेवा करेगी और आप अच्छे हो जाएँगे। कट्टो और कुछ जानती नहीं, सिवा सेवा करने के। आपको वह चंगा करके छोड़ेगी।''

''कहाँ है, कहाँ है, वह बेटा!''

''अब शाम तक पहुँची। तार दे दिया है।''

''मैं उसे नहीं जानता, तुझे जानता हूँ। तेरी पसन्द कभी गलत नहीं हो सकती।''

''बाबूजी, वह देवी है।''

''बिहारी, दर्द बहुत है। बोलो मत बेटा, बोलने से...।'' बात आगे पूरी नहीं हो पायी।

कट्टो आयी। कट्टो ने सेवा की, आशीर्वाद पाया, सफेद पलकों के नीचे भीगती हुई आँखों के कुछ बहुत मीठे आँसू पाये। और पिता मर गये।

''मोटर कम्बख्त रास्ते में खराब हो गयी थी, भीड़ में धीरे-से चली, यह और वह! हाय!'' सत्य ने कहा, ''आखिर वक्त मैं पिता के पास भी न रह सका!''

33

अगले दिन यह चिट्ठी सत्य को मि. ...एडवोकेट का चपरासी दे गया—

''बेटा सत्य मेरे दो बेटे थे, बिहारी और सत्य। तुम्हें मैंने गरिमा दी, जिस पर मैंने सबसे ज्यादा प्यार वारा और जिसको मैंने सबसे कीमती चीज समझा। अब बाकी चीज बिहारी को दे जाता हूँ। मि. ...एडवोकेट के यहाँ बैंक के करेण्ट एकाउण्ट के अतिरिक्त मेरी सम्पत्ति का सब ब्यौरा है, वह ठीक कर लेंगे। बिहारी को शायद इसकी जरूरत पड़े। तुम तो लायक हो, कमा लोगे और दुनिया में अपनी जगह बना लोगे, पर बिहारी को तो उड़ाने के लिए शायद ये भी काफी न हो। तुम्हारा—

भगवद्दयाल''

पढ़कर सत्य को गुस्सा हुआ—बदल गये। वह इस मकान में भी नहीं रह सकते। बिहारी के दान पर वह नहीं रहेंगे, एक मिनट भी नहीं रहेंगे। ये सब विचार और उनका कारण समझाकर उन्होंने गरिमा से कह दिया। गरिमा मकान छोड़ने को राजी नहीं हुई। मत हो, पर सत्य का आत्म-सम्मान इतना सस्ता नहीं है। तत्क्षण कुछ अपना सामान लेकर और नकद सौ रुपये लेकर वह चला गया। एक छोटा-सा घर किराये पर लिया और वहाँ रहने लगा। मि. एडवोकेट को लिख दिया—

''मि. एडवाकेट, मैंने मृत मि. भगवद्दयाल की जायदाद पर से कब्जा छोड़ दिया है। आप जब चाहें मुझे ऑफिस बुलाकर सब समझ सकते हैं। उनकी लड़की—मेरी स्त्री अभी उसी मकान में है। उसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ।

आपका

........''

बिहारी को पता चला। बिहारी से कट्टो को।

पता आखिर मकान का लगाया ही। एक खाट पर बैठा सत्य सोच में था। जीवन पर दृष्टि डाल रहा है और उसे समझने की चेष्टा कर रहा है। उस सारे जीवन में कोई रीढ़ नहीं दिखाई देती।

आहट हुई, आँखें उठीं, देखा—कट्टो है। जहाँ गरिमा नहीं आयी—इनकार कर दिया। जहाँ अभी कोई भी आस बँधाने वाला नहीं, वहाँ कट्टो।

कट्टो—जिसको लांछित और अपमानित किया है। वही कट्टो, क्या उपहास करने आयी है?

''तुम घर क्यों छोड़ आये?''

''वह मेरा नहीं था।''

''यह कैसी बात कहते हो?''

''वह बिहारी का है।''

''वह क्या पराये हैं?''

''हाँ, पराये हैं।''

''हें-हें, यह न कहो।''

''वह घर भर मुझे पराया है।''

''हें, यह क्या कहते हो! खबरदार, जो ऐसा कहा! मेरी जीजी को तुम—।''

''देखो तुम्हारी जीजी...।''

तब उसने गिरकर पैर पकड़ लिए—''मेरी जीजी को तुम कुछ नहीं कह पाओगे। क्या मैं तुम्हारी नहीं हूँ?''

''नहीं, कोई नहीं हो। मैंने अपने हाथ से तोड़कर तुम्हें दूर फेंक दिया, और उस...।''

''बस-बस, मेरी खातिर बस। मैं तुमसे कहती हूँ, उन्होंने घर से न आकर गलती नहीं की। तुम्हीं क्यों चले आये?''

''क्या मैं बेहया बनकर रहता?''

''मेरी प्रार्थना मानो, चलो। हाथ जोड़ती हूँ।''

''यह नहीं कर सकूँगा कट्टो! माफ करना।''

''नहीं?''

''नहीं।''

''नहीं कर सकोगे?''

''और सब कर सकूँगा। यह नहीं।''

''और सब?''

''और सब, हाँ। यह नहीं।''

''अपनी बात को याद रखना।'' कहकर उसने चरण छुए और वह चली गयी। अगले रोज आयी। चालीस हजार के नगद नोट सामने किये।

''न-न-न।''

''बोलो नहीं, कह चुके हो।''

''कट्टो...!''

''देखो, तुम जुबान हार चुके हो।''

''कट्टो, मुझे नरक में मत घसीटो।''

''हें, यह क्या अशुभ लाते हो मुँह पर।''

उन्हें रुपये की जरूरत थी। वह उनकी आदत में पड़ गये थे। यही कमी थी जिसने 'न-न-न' को कम करते-करते आखिर अनमने मन से लेने को बाध्य कर दिया। अब उनकी झुकने की बारी आयी। जो तना रहा, उसे पैसे ने झुकाया। सत्य कट्टो के आगे नमन को बढ़ा।

असहाय त्रास के भाव से झट पीछे खिंचकर वह बोली, ''हाथ जोड़ती हूँ, मुझे लज्जित न करो।''

''कट्टो!''

''एक अच्छा-सा मकान लो, मेरी जीजी वहाँ रहेंगी। यहाँ कैसे रहतीं?''

सत्य कुछ देर बेसुध-सा बना रह गया। फिर हठात स्वस्थ बनकर बोला—''तुम्हारे कहने पर सब करूँगा, नहीं तो...।''

मुँह पर उँगली रखकर कट्टो ने कहा—''चुप!''

सत्य चुप।

''जीजी को मेरी कुछ मत कहना। कहो।''

''कुछ नहीं कहूँगा।''

तब फिर कट्टो सत्य को पानी-पानी हुआ छोड़कर चली गयी।

34

"अब ?" कट्टो ने बिहारी से पूछा—"अब ?"

"अब ! हमारा यज्ञ आरम्भ होता है।"

"मैं क्या करूँ ?"

"गाँव जाओ, बच्चियों को पढ़ाना, उसी से गुजारा चलाना।"

"तुम ?"

"मैं भी गाँव जाकर किसान बनता हूँ।"

"उस—मेरे गाँव में... ?"

"नहीं...वहीं दूर, फिर भी पास। अलग, तो भी एक। कहीं दूर गाँव में जाऊँगा।"

स्वर हठात बदल गया, मानों उसमें कुछ कसक आ मिली।

जिज्ञासा की—

"यह रुपया!"

"इसका उपयोग कुछ समझ में नहीं आता।"

"इतनी धूमधाम से सोच-विचार से इसका उपयोग नहीं समझ आया ?"

"नहीं। भिखारियों को बाँटूँ, वह बढ़ते हैं। किसानों को दूँ, वह इस पर आसरा डालने की आदत में पड़ जाते हैं। जिसे देता हूँ, वही उसके चस्के में पड़ जाता है, और फिर परिश्रम से कटता और जी चुराता है। उद्योग चलाऊँ तो और रोग पीछे लग जाते हैं। मशीन का और केन्द्रित सम्पत्ति और केन्द्रित व्यवसाय का। पैदा करो, और फिर खपाओ। कृत्रिम जरूरत पैदा करो, परिग्रह बढ़ाओ। धन केन्द्रित हुआ, वहाँ श्रम का मूल्य गया, श्रम की गरिमा गयी, बस लाभ बढ़ाने की हविस चढ़ी। धड़ाधड़ चीजें बनाओ, फिर बलात खपत बढ़ाने की नयी-नयी तरकीबें सोचो। यह अपनी-अपनी खातिर पैदायश और खपत बढ़ाने की प्रवृत्ति मेरे ख्याल में बड़ी मारू है। मेरे ख्याल में यह पैसे की प्यास ही गड़बड़ है। पैसे ने परिश्रम का सम्मान नष्ट कर दिया और उसे किराये की चीज बना दिया...।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? जिसका दाँव लगे मेरी सम्पत्ति लूट ले जाए। मेरी है वह किस बात की ! मैंने वह कब कमायी ! मैं तो कहता हूँ वकील, लुटेरे जो चाहें मेरा मकान ले लें। नकदी से तो तुमने मुझे छुट्टी दे दी है। बचे ये बीस हजार भी मुझे भारी लग रहे हैं। मेरे पास जो पहले दस्तखत कराने आएगा, उसी को दस्तखत दे दूँगा। सोचूँगा, बला टली।

"मुझे बस कुछ धरती चाहिए और उत्पादन के साधन। उससे आगे मैं बाप के पास से भी नहीं लेने वाला। मेरी किसानी में ज्यादा जायदाद और दौलत तो आफत ही डालेंगे। फिर क्या मुझे किसानी सूझेगी ? या तो ऐश सूझेगी, नहीं तो बहुत हुआ नेताई

सूझेगी। इस सबसे कुछ भला नहीं होता! इससे छोड़ो पैसे का ख्याल। तुम अपनी बच्ची पढ़ाने की बात सोचो, और हम अपने बैलों की। क्यों?''

''हाँ-आँ!''

''तो?''

''तो! क्या! विदा।''

''हाँ।''

''अलग-अलग राह?''

''हाँ, पर एक लक्ष्य, एक मन।''

''प्रणाम!''

बिहारी ने दोनों जुड़े हाथ थामकर झुके मस्तक पर चुम्बन लिया। कट्टो ने प्रणत भाव से उसे स्वीकार किया। और दोनों फिर अलग-अलग राह चल दिये। जाने कब मिलने के लिए!

□

सुनीता

प्रस्तावना

यह पुस्तक तो पाठक के हाथ में है ही, साथ ही मैं पाठक से सीधी भी कुछ बातचीत करना चाहता था। पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पाएगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ, लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर पात्रों के अनुरूप होकर मेरा रूप लुप्त हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ।

सृष्टि स्रष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें। हर सृष्टि स्रष्टा को ही व्यक्त करती है और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है, स्रष्टा कहाँ दीखता है?

पर सिरजनहार के समान निस्पृह मैं कहाँ! यद्यपि इस पुस्तक के नाना पात्रों में मैं बोल रहा हूँ, तो भी पाठक के हृदय को सीधा पाने की इच्छा जी में शेष रह ही जाती है। पुस्तक में रमे हुए मुझको पाठक जैसे चाहे समझें। किसी पात्र में मैं अनुपस्थित नहीं हूँ, और हर एक पात्र हर दूसरे से भिन्न है। उसकी सब बातें मेरी बातें हैं, फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं रह जाती, क्योंकि मेरी कहाँ, वे तो उनकी हैं।

इच्छा थी कि निर्गुण-सा जँचने वाला कुछ सम्भाषण पुस्तक के समाप्त होने पर मैं पाठक से अवश्य कर लूँगा। सच यह है कि मैं काफी बात करना चाहता था। लेकिन मन अब धीमा हो गया है और अलग यहाँ कुछ विशेष लिखने का उत्साह नहीं रह गया है।

पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अत: तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं, उसके

द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं, जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवस की जरूरत मुझे नहीं हुई। थोड़े में समग्रता क्यों न दिखाई जा सके?

—जैनेन्द्र कुमार

7, दरियागंज, दिल्ली

16.6.35

इस पुस्तक को मैंने एक बार फिर देख लिया है। जहाँ-तहाँ से छुआ भी है! किन्हीं स्थलों पर झलक में जरा कुछ अन्तर भी हो जाने दिया है। पर सब ऐसे कि पाठक की 'सुनीता' वही रही है। जानता हूँ कि जब पाठक के सीधे परिचय में 'सुनीता' आ गयी तब मेरा स्वत्वपूर्ण लगाव उस पर से हट जाना चाहिए। इससे उसमें फेरफार नहीं किया है, जहाँ-तहाँ से वस्त्र की सलवट कुछ निकाल दी हैं इसलिए कि दूसरे संस्करण में मुझसे यह सावधानता माँगी जा सकती थी।

जनवरी, 1941

—जैनेन्द्र कुमार

1

श्रीकान्त ने अनिवार्य बी०ए० किया, एल०एल०बी० किया, शादी की और प्रैक्टिस शुरू कर दी। वह गिरिस्ती और प्रैक्टिस गिरती-पड़ती चलने भी लगी है। पर, हरिप्रसन्न की याद दूर नहीं होती। वह याद खलल डालती है।

हरिप्रसन्न का अब ठीक पता नहीं है। कॉलिज में वह मिला था। मिला कि वह श्रीकान्त के जी में बस चला। खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एकदम अज्ञेय—ऐसा वह था। सबके सब काम आता था। सदा व्यस्त रहता था। किन्तु उसके बारे में ज्यादा जानकारी किसी के पास न थी।

श्रीकान्त आधा मन देना नहीं जानता। पर हरी की थाह का पता न मिलता था। परिणाम यह था कि यद्यपि श्रीकान्त अवस्था में और श्रेणी में बड़ा था और उसके खर्च का भी अधिकांश बोझ उठाता था; फिर भी, आपसी सम्बन्धों की अपेक्षा श्रीकान्त कुछ अनुप्रार्थी और अनुगृहीत प्रतीत होता था, हरिप्रसन्न प्रधान और अपेक्षणीय।

बात यह थी कि परस्पर में स्नेह का समस्त व्यय श्रीकान्त की ओर से था। हरिप्रसन्न अपने सब काम-काज और मेल-जोल के व्यापार द्वारा अपने को अधिकाधिक संचित ही पाता था, स्वयं खर्च नहीं होता था। अत: सार्वजनिकता उसके स्वभाव में खूब थी; यह सार्वजनिकता उसे घटाती तनिक न थी, परिपुष्ट ही करती थी।

इधर श्रीकान्त की वृत्ति में सार्वजनिकता को अवकाश न था। अपने परिमित परिचय-क्षेत्र में ही वह पैसे का, स्नेह का, चिन्ता-भावनाओं का इतना व्यय करता चलता था कि सार्वजनिकता के योग्य प्राणों की पूँजी उसके पास न बचती थी।

हरिप्रसन्न बहुत ताजा रहता था, उद्यत, प्रसन्न, हलका और स्कीमिंग यह कर, वह कर—सदा इसी में दीखता। किसी का आभार न मानता, न चाहता उसका कोई माने। मिलनसार था और बहुत तरह के काम जानता था।

श्रीकान्त अपने में रहता था। मानो कर्तव्य उसके सामने से प्रतिक्षण ओझल हो जाने की चेष्टा में है, इससे प्रतिक्षण उसे अपने सामने भरपूर देखते रहने की चेष्टा में रहना चाहिए। धर्म उसके ऊपर दूसरे के खर्च हुए पैसे का ख्याल रखता था। व्यायाम में नियमित था और लड़ना उसके लिए असम्भव था। वह कुशल से अधिक खरा था।

श्रीकान्त पक्का कम न था, पर स्फूर्ति के लिए मानो हरी की अपेक्षा रखता था। हरी सुझाता, श्रीकान्त करता। बारीकियों में हरी की बहुत पैठ थी। श्रीकान्त वहाँ बैठने से बचता था। धर्म हरी के लिए उपयोग की और कभी प्रयोग और विनोद की वस्तु थी। श्रीकान्त ऐसी जगह खिन्न भाव से तनिक मुस्करा देता था, दलील न करता था।

श्रीकान्त खुले मन, पुष्ट देह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का पुरुष था।

हरिप्रसन्न का चेहरा कुछ नुकीला और काया स्वल्प थी। छुटपन से वह अपने को पिता के घर से तोड़कर भाग आया था और जहाँ हो, जब हो अपने लिए जगह बना लेने के बारे में वह बेफिक्र रहता था। वह वृत्ति से कुछ सन्देहशील, चतुर, कर्मण्यकुशल, तीक्ष्णबुद्धि और परिस्थिति से असम्पन्न था। वह अत्यन्त परार्थ-तत्पर था, पर वह स्वयं खटाई में न पड़ता था। जीवन के सम्बन्ध में वह हिसाबी था, पर स्थूल हिसाब पर न चलता था। वह अपने दिये पैसे और लिये पैसे भूलता नहीं था, पर ऐसी बात कभी मुँह पर नहीं लाता था। वह किसी से लड़ नहीं सकता था, क्योंकि सबसे बना सकता था। और कोई सिद्धान्त उसके निकट ऐसा अन्तिम और ऐसा अपना न था कि उसको लेकर किसी से उलझन की धुन उसमें चढ़े।

2

अब जब पक्की सड़क की राह चलते-चलते श्रीकान्त गृहस्थ वकील बन गया है तब सोचता है कि अरे, वह हरिप्रसन्न कहाँ! वह भला है कि गृहस्थी में नहीं है, और वकालत में नहीं है, क्या अब भी वह जीवन के साथ परीक्षण करने में वैसा ही उदात्त है ? वैसा ही उद्यत है ? मैं तो जिम्मेदार नागरिक बन गया हूँ। परीक्षण हमारे लिए नहीं है, कानून-सम्मत नागरिकता हमारे लिए है।

सोचता है, और फिर अपनी कुर्सी पर बैठा सामने शून्य में हाथ बढ़ाकर मानों ऐसे विचारों को धकेलकर अपने से परे भी हटाता है।

पत्नी सुनीता हल्की पढ़ी-लिखी नहीं है और दोनों सम्मत हैं कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है। समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले, यदि जीवन परीक्षण के लिए ही समझ लिया जाए और कानून तोड़ने के लिए! क्या, सच मानवता नहीं कायम है उस रूढ़-संस्था के सहारे जिसे 'कुटुम्ब' कहते हैं और जो विवाह पर टिकी है !

श्रीकान्त जानता है कि वह इससे सहमत है। फिर भी मानों अपने से पूछता है,

'हाँ' पूछता है, और कुछ देर बाद उत्तर में जैसे भीतर ही भीतर 'क्यों नहीं' दोहराता हुआ वह असंगत भाव से उठ पड़ता है, और तेज चाल से अपने कमरे में चलने लगता है।

सुनीता! वह उच्च शिक्षिता है। वह तनिक भी इस तरह नहीं रहती कि लोग न समझें वह उच्च शिक्षिता नहीं है। कुछ दिनों से नौकर हटाकर घर का काम-धन्धा करना शुरू कर दिया है। चौका-बासन भी करती है। हारमोनियम और वायलिन पर धूल चढ़ने देती है और पुस्तकों को भी अलमारियों में चुप लेटे रहने देती है।

सुनीता—सुन्दरी, सुशीला, सुनीता जब इस तरह के काम कर रही होती है तब, यदि अकेले हुए और खाली हुए तो, श्रीकान्त सामने दीवार में एकटक देखते हुए साँस लेते हैं और उठकर टहलने लगते हैं।

और काम कर चुकने के बाद सुनीता, अनिन्द्य-यौवना सुनीता, काम से निवृत्त हुई और निरुद्देश्य कमरे में हुई तो सामने दीवार में एकटक देखती हुई एक भरी साँस लेती है, दूसरी लेती है और फिर झपटकर और किसी नये काम को ढूँढ़ डालती है और उसमें लग जाती है।

विवाह को तीन वर्ष हुए हैं, कुल तीन वर्ष। और कैसी पत्नी उसे मिली है! विरला में विरल। क्या वह यह नहीं जानता है! जानता है...किन्तु कभी-कभी सन्ध्या की बेला में जब अँधियारा फीका होता है, और चौके में से सुनीता के बासन माँजने की आवाज बिना सुने सुनाई देती है, तब पिछली बीती बातें अँगड़ाई लेती उड़ती-सी हैं और श्रीकान्त को होता है, "अरे, यह क्या है? क्या है?" बहुत-कुछ, सब-कुछ, उसे याद आता है। याद आता है, एक समय था जब वे दो पढ़ते थे। ये दो एक थे और हरिप्रसन्न ने पूछा था—"बताओ, तुम क्या समझते हो कि मैं बनूँगा?"

श्रीकान्त ने कहा था, "मैं नहीं जानता हूँ कि तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है।"

"उज्ज्वल! शायद।"

कहकर हरिप्रसन्न क्षण-भर के लिए अँधेरा-सा पड़ गया था। मानो सामने कुछ भयावना देखता हो।

उसने कहा था, "देखो, हरी। तुम्हारे बारे में कुछ कहना मेरे लिए अशक्य है। लेकिन हम अलग-अलग चले और फिर कभी हमारी राहें मिलीं तो हम देखेंगे, मैं एक जगह हूँ, तुम चल रहे हो। बढ़ना नाम चलने का है या नहीं, मैं नहीं जानता हूँ।"

फिर कुछ देर तक सब कुछ चुप हो रहा था। अनन्तर हरिप्रसन्न अपने आप में एकाएक असंगत रूप से एक साथ कह उठा था—"कुछ लोग करोड़पति बने। कुछ नयी उमर में फाँसी चढ़कर चुक गये। उन्होंने जगत को न किसी नवीन प्राणी का दान दिया, न पुस्तक का, न मेन्युफैक्चर्ड द्रव्य का। उन्हें याद करने की कोई बात नहीं। फिर भी क्या आगे बढ़कर ऐसे अपनायी गयी मौत व्यर्थ है? बताओ व्यर्थ है?"

तब उसका हाथ थामकर श्रीकान्त ने गम्भीर वाणी में कहा था, ''मौत आगे बढ़कर अपनाने लायक चीज नहीं है, हरि। उसका आकर्षण है तो समझो उसका भय है। अपनी ओर से उसे अपना काम करते रहने देना काफी है।''

हरि चुप हो गया था।

श्रीकान्त को याद आता है कि उस समय उसके मन में जम गया था कि यह आदमी हरिप्रसन्न मौत के विचार के साथ हेल-मेल बढ़ाना चाह रहा है।

और उस ही वर्ष एक षड्यन्त्र का विस्फोट हुआ। हरि पकड़ा गया और दूर-दूर के लोग पकड़े गये। कुछ को फाँसी हुई, बहुतों को जेल। दो साल की सजा हरि को हुई। फिर असहयोग और सत्याग्रह आया। हरिप्रसन्न उसमें झुका। जेल-पर-जेल वहाँ भी हुई। दो बरस हुए तक पत्र आते रहे थे। अब?

यह सब कुछ याद आता है और श्रीकान्त के मन में प्रश्न होता है—अब? अब वह कहाँ है? कैसा है? मैं तो घर-गिरस्ती के बीच में हूँ। चारों ओर से सुरक्षित, उपसेव्य; वह अभागा भटकते रहने के लिए अभी जिन्दा है कि नहीं...?

उसी समय सुनीता ने धीमे से आकर दूसरी बार कहा, ''दूध ठण्डा हो रहा है, लाऊँ?''

श्रीकान्त ने मुँह ऊपर उठाकर कहा, ''दूध! ठहरो। हरि का पिछला पत्र उसी तुम्हारी वाली डायरी में है ना? उसे देखना। न हो, उसके पुराने पते पर ही लिखेंगे और एक अपनी तस्वीर भी देना। शादी से ठीक पहलेवाली, वही जो गजब की है। (वह मुस्कराया। सुनीता खुश हुई) समझीं! भले आदमी को पता तो चले कि क्या जंगल और गाँव और जेल की खाक छानता फिरता है। युवती रमणी और...और निर्मल शिशु भी दुनिया में है। इनको इनकार कर वह स्वराज्य लेगा! तुम अपनी तस्वीर जरूर कल देना।''

सुनीता ने यही कहा, ''तो लाऊँ दूध?''

''दूध?'' प्रसन्न श्रीकान्त ने कहा, ''हाँ, जरूर लाओ।''

3

श्रीकान्त ने सुनीता के सो जाने पर रात में पत्र लिखना शुरू किया, लिखा—

''प्रिय हरि, तीन साल से ऊपर हो गये जब तुम्हारा पत्र आया था। कल हमने उसे टटोलकर नये सिरे से पाया। हमने! यानी अब मैं अकेला नहीं हूँ। मेरा विवाह हो गया है और अब तक मेरी पत्नी तुम्हारी और तुम्हारे पत्रों की मित्र हो गयी है।

हम दोनों ने यह पत्र पाया और तीन साल हो गये तो क्या, मैं उसी तुम्हारे पते पर आज लिखने की हिम्मत कर रहा हूँ। यह खत तुम्हें पा जाए तो फौरन मुझे अपने हालचाल लिखना। यों तो मुझे उम्मीद नहीं है कि तुम मेरे खत के हाथ आनेवाले हो।

''मैंने ऊपर लिखा, मैं एक नहीं, अब हम दो हैं। ऐसा मालूम होता है, अगर आरम्भ से व्यक्ति अपने साथ जोर-जबरदस्ती न करे तो समय आता है और वह अपने को दो पाता है। कह सकते हो, विवाह समाज की सृष्टि है, मनुष्य के भीतर प्राकृत रूप से वह नहीं है। लेकिन एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता, जान पड़ता है मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम। लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।

''नहीं मालूम, तुम्हारा क्या हाल है और क्या अनुभव है। तुम देश-देश भटका किये हो, तरह-तरह के हाल-चाल तुमने देखे हैं। मुझे आशा है, तुम अभी तक अकेले ही हो। क्या तुम अपने अकेलेपन में अपने को कभी भूखा नहीं पाते? अगर पाते हो तो उसका इन्तजाम करने की भी कुछ सोचते हो, या उस भूख पर विजय पाना तुमने अपना धर्म बना छोड़ा है?

''पत्र के साथ तुम अपनी भाभी का चित्र पाओगे। यह तो मैं समझता हूँ कि तुम जानते हो, दुनिया में स्त्री भी है। लेकिन मुझे भय है, तुम शायद स्त्री के होने को इसी तरह जानते हो जैसे और पदार्थ के होने को। जैसे वनस्पति है, फूल है, नदी है, झरना है, वैसे ही स्त्री भी है। क्यों कहो। यह बात नहीं है? लेकिन मैं कहता हूँ यह बात गलत है। आदमी यह नहीं कर सकता। स्त्री को 'स्त्री' संज्ञा देकर पुरुष को न छुटकारा है, न होगा। उसे कुछ-न-कुछ और भी कहना होगा। माता कहो, बहिन कहो, पत्नी कहो, उपपत्नी कहो—कुछ न कुछ अपनापन जतलाये बिना मात्र 'स्त्री' संज्ञा का प्रयोग करके उस स्त्री द्रव्य से छुट्टी तुमको नहीं मिलेगी।

''अपनी भाभी की तस्वीर देखो, और कहो, तुम्हें स्त्री से छुट्टी चाहिए? उनकी आँखें मुझे बहुत तंग करती हैं। तुम जानते हो परवश होना मुझे भी नहीं भाया, पर जहाँ वश न चले वहाँ क्या हो! निश्चय, परवशता में सुख नहीं है। किन्तु नितान्त एकाकी, स्वाधीन होकर कैसे सुख मिल सकता है, यह भी मैं नहीं जानता। मुझे ऐसा मालूम होता है कि आदमी को समर्पित होना होगा। ताड़ के पेड़ की तरह ऊँचा तन कर अकेले खड़े रह सकने में आदमी की सिद्धि है, यह मैं नहीं मानूँगा।

''तुम लोग कहाँ जा रहे हो! जाओ, जेल जाओ, जेल, जाओ जेल,—यही मोक्ष है, यही धर्म है! घर न बनाओ; यहाँ से वहाँ भटको, वहाँ से यहाँ; सेवा में लगे रहो चाहे तन पर चिथड़ा न हो; और तुमसे प्रत्याशा रखनेवाले भूखे रहें और तुम निरन्तर घटते जाओ, यह क्या है!

''मैं बहस नहीं करना चाहता। तुम जानते हो, मुझसे तुम ही बहस में जीता

किये हो! लेकिन मैं कहता हूँ, तुम्हें थोड़े दिन का भी अवकाश हो और स्वास्थ्य इस लायक हो तो यहाँ आ जाओ। मैं खर्च को रुपये भेजता था, पर मुझे संकोच होता है। लेकिन तुम्हें जिस तरह की जरूरत हो मुझे लिख देना। तुम सबल आदमी हो, इन चीजों से ऊँचे हो। यहाँ आओ, रहो, और तबीयत न माने तो पाँच-छः रोज में फिर चले जाना। मुझसे ज्यादा अपनी भाभी का अनुरोध समझो। मैं तुमसे कहता हूँ—वह माननीय है। और तुम भारतीय संस्कृति को जानते हो, स्त्री पूज्या है। तुम उस संस्कृति के उद्धारक होकर उनकी बात की रक्षा से विमुख होगे! मुझे टालो, पर अपनी भाभी का आग्रह तो रखो।

''हरि, तुम आ जाओ। लिखो, तुम कब आ रहे हो। और भाभी की तस्वीर के बारे में सच-सच कहना, तुम क्या कहते हो। कितने ही देशभक्त बनो, सुरुचि तुमसे नहीं छूट सकती। और झूठ तुम नहीं बोलोगे।

''मैं वकालत करता हूँ, और वह बेचारी भी कुछ साथ देती रही है। लेकिन हम दोनों का कुछ आन्तरिक मेल नहीं। मैं उसे रिझा नहीं सकता दीखता और तुम्हें मालूम है उसके हर साल एक-से-एक बढ़कर पाणिप्रार्थी युवा लोग मैदान में आते-जाते हैं!

''तुम्हारे पत्र की बाट देखूँगा। जिन्दगी में कुछ नये रंग का प्रवेश रहना चाहिए और तुम, आशा है, कुछ नयी वायु अपने साथ हमारे घर में लाओगे। हम दोनों का स्नेह।

तुम्हारा—श्रीकान्त''

यह पत्र चित्र के साथ विधिपूर्वक भेज दिया गया और भटका-भटकाकर विधिपूर्वक वह पत्र डी.एल.ओ. से वापस आ गया।

4

पत्र लेकर उसे कुछ देर तक देखता रहा और फिर चुपचाप मेज की दराज में रख दिया।

श्रीकान्त चाहता है घर में कुछ ऋतु बदले, नहीं तो वहाँ अलसता और जड़ता सी छायी जाती है। बहुतेरी बार ऐसा हो गया है कि कमरे में होने पर भी कई मिनट तक उसे सुनीता से कहने का कुछ नहीं सूझा है, और सुनीता भी चुपचाप रही है। तब दम घुट-घुट गया है। ऐसा क्यों हो जाना चाहिए, इसका कोई समर्थन, कोई कारण उसके मन को नहीं मिलता।

कचहरी जाने से पहले हरिप्रसन्न के लौट आये खत की बात को लेकर श्रीकान्त

अन्दर गया, कहा, ''सुनीता, सुनो! हरिप्रसन्न का कहीं पता नहीं है। हमारा वह पत्र वापस लौट आया है।''

सुनीता ने सुन लिया। वह अपना चौके का काम करती रही और उसने कहा, ''अच्छा।'' यह 'अच्छा' उसने इस तरह कहा जैसे 'यह बात हो गयी, मैंने सुन ली। अब आगे भी कुछ कहना है?'

सुनीता ने कहा, ''तुम्हें आज कचहरी में देर तो नहीं हो जाएगी?''

''कचहरी जाने में देर हो जाए, यह इच्छा करते भी मैं तुम्हें कभी पा सकता हूँ या नहीं?''

सुनीता ने हठात कोमलता से कहा, ''तुम तो बिगड़ते हो। लो कहो, क्या कहते हो?''

''नहीं, मुझे कुछ नहीं कहना है। मुझे कचहरी में देर हो जाएगी।''

श्रीकान्त ने कहा और वह धीरे-धीरे कदम रखता हुआ कचहरी के लिए चल दिया।

सुनीता अपना काम करती रही, करती रही। जब काम खत्म हो गया, तब कमरे में आ गयी। सोचने लगी, कि वह तो मुझसे यों ही बिगड़ते रहते हैं; लेकिन क्या, सच, यों ही बिगड़े रहते हैं! मैं अपने में क्यों उन्हें बाँधकर नहीं रख पाती! मैंने इन पिछले दिनों अपने में से क्या खो दिया है कि उनके सामने फूल-सी खिल नहीं आती हूँ!

बात यह है कि पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है। उसे खुलना चाहिए। जीवन को कुछ बहिर्गमन मिले, और घर के भीतर की गृहस्थी को घर के बाहर की दुनिया का और अधिक संसर्ग, और अधिक संघर्ष मिले तो शायद कुछ इसकी सृष्टि हो, चैतन्य जागे। बद्धपरिमाण, एक ही एक ढंग के रहने से नयी समस्याएँ कहाँ से उठेंगी! और जब तक नवीनतर वर्तमान प्रतिपल नवीनतर परिस्थिति और नवीनतर प्रश्न नहीं सामने लाते हैं, तब तक आकांक्षा और कर्म से भी नव्य-बोध और प्राणों में नवस्फूर्ति कैसे होगी!

सुनीता पहले अपने घर के निरानन्द को हृदयंगम करती है, और जब सोचती है कि यह कैसे हटे, तो स्पष्ट रूप में ही वह पाती भी है कि अपने जीवन और घर के किवाड़-खिड़कियाँ खोल दे, खूब हवा आने-जाने दे, तभी ठीक होगा। हवा में जो अशुद्ध है उसे शुद्ध करके परास्त करना होगा। जो शुद्ध है उसे अंगीकार करना होगा। किन्तु हवा को तो इस घर में आर-पार बहते ही रहने देना होगा। अस्वीकार और अंगीकरण, दोनों की क्षमता अपने प्राणों में जगानी होगी। और इस प्रकार अपने को और अपने घर को पुष्ट और विशद बनाते चलना होगा।

वह सोचती है, अब दशहरे की छुट्टियाँ होने के ज्यादा दिन नहीं हैं। कहूँगी,

चलो कहीं बाहर चलें, और इस बार प्रयाग के कुम्भ के मेले में भी जरूर जाना चाहिए। मैं समझती हूँ कि दुनिया में इससे बड़ा मेला नहीं होता और इतना पुराना भी शायद दूसरा मेला न हो। घूमने से आँख भी खुलेगी और उदासी भी कटेगी।

शाम को श्रीकान्त के लौटने पर सुनीता ने कहा, "अब की छुट्टियों में कहीं बाहर चलो।"

"जरूर चलो। बोलो कहाँ चलना चाहिए? कहीं तीर्थयात्रा पर चलोगी?"

उसने कहा, "कहीं चलो, तीर्थ ही चलो।"

छुट्टियाँ आने पर वे चल दिये। जगह-जगह घूमे। और सचमुच इससे इनके जीवन में भराव भी आता लगा। उन्हें परस्पर हँसना-बोलना अब कठिन नहीं होता है। मिलकर परामर्श करते हैं, योजनाएँ बनाते हैं। दुनिया में बाहर आकर एक को दूसरे की आवश्यकता की कीमत लगती है। संयुक्तता का स्वाद घर से बाहर मालूम होता है। घर जब एक सदा ही दूसरे के सामने उपस्थित रहता है, और जब उन्हें परस्पर के अभाव को अनुभव करने का तनिक भी अवकाश नहीं होता, तब एक की दूसरे में दिलचस्पी स्वभावत: फीकी-सी पड़ती जाती है। अब खुली दुनिया में आकर वह पग-पग पर दो के एक ही रहने की महत्ता का अनुभव करते हैं।

5

अन्त में कुम्भ के अवसर पर उन्होंने अपने को प्रयाग में पाया। एक मित्र के यहाँ ठहरे थे और रोज मेले में आ जाया करते थे।

एक रोज सवेरे ही दोनों संगम जाने के लिए नाव पर सवार हुए। धीरे-धीरे सवारियाँ पूरी हो गयीं और नाव किनारे से छूटी। लोगों ने भक्ति से पुकारा, "जय गंगे! माँ गंगे!!"

नौका दो-तीन गज धारा में बढ़ी होगी कि श्रीकान्त ने देखा, प्रतिक्षण दूर होते हुए तट पर की भीड़ में हरिप्रसन्न खड़ा है! निश्चय हरिप्रसन्न। वह उन्हीं की तरफ देख रहा है। उसने जोर से पुकारना चाहा, 'हरिप्रसन्न!' लेकिन किनारा दूर होता जाता था और अब उसका चिल्लाना मात्र उपहास ही होता। श्रीकान्त हरिप्रसन्न को आँख आगे देख-भर रह गया, कुछ भी कर-धर न सका। जी की आधी बात कहने का भी अवसर नहीं पा सका। हरिप्रसन्न किनारे पर हर्ष से आँखें फाड़े खड़ा था। बड़े-बड़े बाल थे। खद्दर का लम्बा-सा कुरता पहन रखा था। पैरों में पता न चला कि क्या पहने है। श्रीकान्त ने सोचा, क्या यह साधु हो गया है! हरिप्रसन्न साधु हो गया है!

धीरे-धीरे हरिप्रसन्न का चेहरा दृष्टि से ओझल होता गया और भीड़ की वह नदी ही कई धारा, उपधाराओं में अविराम लहराती-उतराती दीखती रही। श्रीकान्त खो-सा गया। उसके इस खोये भाव को देखकर पास बैठी सुनीता ने कहा, ''क्या है?''

श्रीकान्त ने कहा, ''किनारे की भीड़ में अभी हरिप्रसन्न था।''

''हरिप्रसन्न!'

''हाँ, वहीं खड़ा था। मुझे यह डर है, वह साधु तो नहीं बन गया!''

कुछ देर तक रुककर व्यस्त भाव से उसने कहा, ''सुनीता, मैं तुमसे कहता हूँ, वह साधु नहीं बन सकेगा। देखो, विधि की भी कैसी बात है। चौदह बरस बाद हम आमने-सामने हैं, लेकिन मिल नहीं सकते, जी का एक भी सम्बोधन एक दूसरे के पास नहीं पहुँचा सकते। हम मिले, पर देखा तुमने! किस प्रकार मिले। सुनीता, तुमने उसे देखा? नहीं देखा। पर वह तुम्हें जरूर देख पाया होगा। क्या वह जान सका, तुम कौन हो? लेकिन वह साधु नहीं बन सकेगा। सुनीता, वह साधु नहीं बन सकेगा।''

अन्यमनस्क होकर सुनीता ने कहा, ''लौटकर फिर भी तो मिल सकता है।''

''हाँ, उसको देखना होगा किन्तु इस अपार भीड़ में वह मिलेगा?''

सुनीता मन-ही-मन उस व्यक्ति को स्पष्ट करके समझना चाहती है जो विपदाओं को सामने रखकर उनमें भटकने को बढ़ गया है और आराम को किनारा ही देता रहा है। वह हरिप्रसन्न के बारे में कुछ कुतूहल रखती है और मन ही मन उसको कुछ सनकी भी समझती है। उसे अवश्य उस पर करुणा होगी, ऐसा वह समझती है। उसे लगता है, उस बेचारे को कोई भी नहीं मिली। लेकिन इस करुणा को वह अपने भीतर सँजोये रखती है।

सुनीता ने कहा, ''वह सबसे मुँह मोड़कर साधु बनने की तरफ जाता है, तब तुमको क्यों उसके बारे में परेशान होना चाहिए?''

श्रीकान्त बोला, ''लेकिन वह किस तरह साधु बन सकता है! मैं उसे किस तरह साधु बनने दे सकता हूँ! मैं उसका कौन हूँ, यह तुम पूछती हो? तो मैं कहता हूँ, मैं कोई नहीं लेकिन मैं अपना मालिक हूँ, और मेरी मरजी है, मैं उसको साधु नहीं बनने देना चाहता। तुमको नहीं मालूम, उसमें क्या-क्या है? और तुमको यह भी क्या मालूम है, साधुपन में निरा रेत ही रेत है, पानी कहीं भी नहीं है। हम वह साथ रहे हैं। मैं नहीं कहता, ब्याह करना स्वर्ग पाना है लेकिन मैं कहता हूँ कि जिसने विवाह जाना ही नहीं और स्त्री को झेला ही नहीं, वह साधु नहीं बन सकता। मुझे आश्चर्य है कि तुम हरिप्रसन्न के विषय में अब तक इतनी उपेक्षा किस तरह रख सकी हो! तुमको मालूम होना चाहिए कि तुम्हारी ही राह से मैं उसे दुनिया में लाने की सोचता हूँ। तुम क्या यह जानती हो कि वह अकेला ही घूम रहा है, अकेला ही काम कर

रहा है! लेकिन अकेले कुछ नहीं होता। अकेले मात्र भटका जाता है। और वह ऐसा आदमी भी नहीं कि अपने जोर से वह अपने लिए मूर्ति बना ले और उसके सहारे अपना अकेलापन सर्वथा नष्ट कर ले। वह भक्त नहीं है।''

सुनीता ने हँसकर कहा, ''अच्छा, अच्छा।''

''अच्छा-अच्छा नहीं, हरिप्रसन्न इतना नजदीक है तो उसे खोना नहीं होगा। वह मिलना ही चाहिए और उसे पाकर नकेल पकड़कर उसे सीधी राह भी लगाना होगा। मैं तुम्हें और भी अपनी बात बतलाऊँ—उसके भटकते रहने से अपने बारे में मेरा विश्वास शिथिल होता है। हरिप्रसन्न की याद घुण्डीदार प्रश्नवाचक-सी बनी मेरे इस जीवन के आगे खड़ी हो जाती है। मानों पूछती है, 'तुम यह! श्रीकान्त, तुम यह?' जब कि तुम्हीं देखो, मैं क्या हूँ। मुझे अपने तमाम जीवन की ओर हरिप्रसन्न की याद सन्देह से संकेत करती दीख पड़ती है। मानों कुछ भीतर से अँधेरा-सा उठकर तर्जनी की नोक मेरे सामने करके पूछता रहता है—'ओ श्रीकान्त, यही मार्ग है? यही जीवन है!' इन सबसे मैं बच नहीं सकता। बचने के लिए ही, मैं कहता हूँ हरिप्रसन्न को पाना होगा और पाकर इस विस्मयबोधक को मिटाकर वहाँ जीवन के आगे निश्चयवाचक विरामचिह्न ले आना होगा। मुझे देखना होगा कि हमारी सुनिश्चित और सुप्रतिष्ठित जीवन-नीति को इस व्यक्ति की याद विचलित नहीं करती। मैं परमार्थ का कायल नहीं हूँ। कोई हरिप्रसन्न की बड़ी कल्याण-कामना के हेतु उसका हितू बनना चाहता हूँ, या उसका उद्धार करना चाहता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मुझे तो मेरा अपना हित इसमें दीखता है। जब-जब उसकी याद सिर उठाती है, मुझे अपनी तरफ शंका होती है, अपने औचित्य पर सन्देह होता है।''

ऐसे मौकों पर सुनीता अनायास ऊँची हो पड़ती है। उसने कहा, ''लौटकर तुम, मैं कहती तो हूँ, उसकी तलाश करने जाना। नाहक पहले से फिक्र बाँधकर क्या होगा?''

श्रीकान्त ने कहना चाहा कि सुनीता के लिए इस तरह बात को छोटी समझना ठीक नहीं है। लेकिन सुनीता ने चर्चा इधर-उधर कर दी और उसका ध्यान बँटा दिया।

सुनीता न चाहती थी कि हरिप्रसन्न को लेकर श्रीकान्त अपने शब्द व्यय करें। इस प्रकार के शब्दों से हरिप्रसन्न उसके निकट कुछ अधिक रहस्यमय, अधिक ओझल अधिक दूर ही बनता था; स्पष्ट नहीं बनता था और वह स्पष्ट मूर्तरूप में उसे चाहती थी। उसके मन के लिए वह एक खिलौना, एक गोरखधन्धा बन गया था, जिसके साथ मन कभी-कभी खेल सकता था। पर यह खिलौना धोखा भी दे जाता था, क्योंकि वह एक साथ भीतर से ही अप्राप्य भी हो जाता था। उसकी रूपरेखा—परिभाषा दे न पाती थी। वह श्रीकान्त से इस बारे में बिलकुल बात तक भी नहीं करना चाहती थी। वह अपनी जिज्ञासा को अपने से बाहर तक भी नहीं करना चाहती थी। फिर भी

वह किसी तरह पा लेना चाहती थी कि इस हरिप्रसन्न नाम के अनोखे बालक जीव के माँ भी है या नहीं? है तो उस माँ का वह क्या करता है? बहन है या नहीं? बहन है, तो वह भाई को गँवाकर क्या करती है? और उसके अगर बन्धु है, तो वे कैसे हैं? अपनी कल्पना से इन सब जिज्ञासाओं को पैदा करके वह इनका उत्तर बना-बनाकर अपने को दे लेती है—दो बहनें हैं, तीन भाई हैं, माँ बुढ़िया है, आदि। पर, वे ही उत्तर उसे कभी नितान्त अप्रामाणिक भी लगते हैं और फिर जिज्ञासा पंख उठाती है। हरिप्रसन्न के भाई बहन हैं। इन सबको छोड़कर तब हरिप्रसन्न कहाँ है? और जहाँ है, वहाँ क्यों है? वह कैसे रहता है, और जैसे रहता वैसे क्यों रहता है?

उसने अपने स्वामी से कहा, ''तुम उस आदमी के बारे में बहुत व्यस्त रहते हो। तुमको मालूम है कि उसे तुम्हारी इतनी परवाह होगी कि अपना ढंग और अपना स्थान छोड़कर वह तुम्हारी बातों के पीछे चले!''

श्रीकान्त ने कहा, ''हाँ, होगी और होनी पड़ेगी।''

नाव संगम के किनारे के पास आ रही थी। तभी एकाएक सुनीता की बाँह पकड़कर श्रीकान्त ने कहा, ''वह देखो, वह मालूम होता है!''

सुनीता ने किनारे की असंख्य नर-नारियों की भीड़ की तरफ देखा। वहाँ मनुष्यों की असभ्यता के अतिरिक्त और कुछ न चीह्न पड़ता था। उसने कहा, ''होगा तो होगा। आओ, पहले संगम नहा लो।''

6

लौटकर हरिप्रसन्न को पाने के लिए श्रीकान्त अपने डेरे से चल दिया। किन्तु प्रयाग के इस बड़े नगर में और कुम्भ के मेले में वह हरिप्रसन्न कहाँ मिलने वाला है!

शहर में यहाँ देखा, वहाँ देखा; जहाँ सम्भावना हो सकती वहाँ भी देख लिया। वह नहीं मिला, तब घूम-घामकर लौट आया और सुनीता को खबर दे दी कि हरिप्रसन्न नहीं मिला।

हरिप्रसन्न के लिए श्रीकान्त क्यों इस तरह व्यग्र हो? पर बात यह है कि श्रीकान्त जिस तरह की जिन्दगी में पड़ गया है उसमें अब भी उसके पंख गड़े नहीं हैं। वहाँ वह अपने को भूला-भूला सा पाता है—अकेला, अमित्र, ऊपरी। सुनीता उसमें आ मिली है अवश्य, अवश्य दोनों ने एक घर बना लिया है, लेकिन वह घर ही उन दोनों के संयुक्त अस्तित्व को अपने में चुका डालता है। घर के काम-धन्धे की बात हो, तो उसको लेकर दोनों मिल जाते हैं। वह न हो, तो फिर अपने-अपने में बन्द

हो अलग हो रहते हैं।

परन्तु हृदय सम्पूर्ण वृत्त की भाँति हो, तो शून्य हो जाए। उस हृदय को अपेक्षा रहती है कि कोई भिन्न पात्र मिले जिसमें यह अपने को उँड़ेल सके। इस प्रकार वह रिक्त नहीं होता, और भरता ही है।

सुनीता ने फिर भी सशक्त मन पाया है। सशक्त अर्थात् सृजनशील, कल्पनाशील। उस कल्पक स्वभाव के सहारे वह अपने को बिना खोले भी कुछ ताजा-ताजा रख लेती है। समाज क्या, राष्ट्र क्या, नीति क्या—ऐसी किसी तरह की बातें करने में उसे पीछे रहना पड़े, सो नहीं; पर उन बातों के अभाव में भी रह लेती है। इसलिए अयाचित श्रीकान्त के समक्ष होकर वह कभी अपने को प्रगल्भ नहीं बनाती है। घर के काम-धन्धे की बातों को ही श्रीकान्त तक ले जाती है, और बाकी बातों के लिए फिर अपने में हो रहती है।

श्रीकान्त को एक आधेय चाहिए। जी की बात किसके साझे में हल्की की जाएँ! आकांक्षाएँ किसके साथ बात करके पुष्ट की जाएँ! जिसके साथ गृहस्थी निभाने का काम आ गया है, उसके साथ तो वही काम ठीक तरह निभा चला जाए। यह गनीमत है। लेकिन पुरुष गृहस्थी का पालनहार होकर ही अपने में तुष्ट-चित्त नहीं होता। उसे कुछ और चाहिए। देश चाहिए, सुधार चाहिए, तोड़-फोड़ चाहिए, और इसके लिए गिरिस्तिन पत्नी के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए।

जीवन बिताते-बिताते अब तक उसे ऐसा और कुछ नहीं मिला है। अब हरिप्रसन्न को पास देखकर उससे यह अभाव, यह माँग उत्सुक होकर उठ आयी है। इसी से वह प्रयाग में जैसे भी हो, हरिप्रसन्न को पा लेना चाहता है।

दूसरे दिन खोज करते-करते एक स्थान पर अता-पता मिला। तब शाम हो गयी थी और वह स्थान वहाँ से पाँच मील था। तब तो जाना न हुआ, पर उस रात को प्रसन्न होकर सोया। उसने सोचा था कि सवेरे ही वह उस स्थान पर जाएगा। सुनीता को भी उसने यह खबर सुना दी थी।

सवेरे वहाँ पहुँचा तो मालूम हुआ, हरिप्रसन्न उसी दिन सात बजे की एक्सप्रेस से देहली चल दिया है!

सात बजे की एक्सप्रेस से देहली गया है! अरे देहली! घड़ी में और समय था और तुरन्त वह स्टेशन पर भागा। पर प्लेटफॉर्म पर पहुँचता कि गाड़ी छूट गयी। वह लौट आया।

आकर जब उसने सुनीता से कहा कि इस तरह हरिप्रसन्न मिलकर भी नहीं मिल पाया और वह कल देहली में होगा, तब पहली बार सुनीता ने विस्मय प्रकट किया। हरिप्रसन्न उसी देहली में होगा जिसमें उनका घर है, यह एकदम उसके चित्त को अचिन्तनीय जान पड़ा।

वह दिल्ली में ही होगा, परन्तु उसके पा लेने का भी वहाँ कोई उपाय उनके हाथ में नहीं होगा यह अनुभव कर और भी सुनीता को विस्मय हुआ।

श्रीकान्त ने कहा, ''हम कितने दिन और यहाँ हैं?''

सुनीता ने कहा, ''मेला तो देख ही लिया। त्रिवेणी-स्नान हो गया, अब ठहरने की और जरूरत ही क्या है?''

श्रीकान्त ने कहा, ''तुम तो संक्रान्ति-स्नान भी देखना चाहती थीं? लेकिन यह ठीक है, उसमें क्या धरा है? तो कल ही चलें!''

''हाँ, चलो।''

7

दिल्ली आकर श्रीकान्त ने हरिप्रसन्न को खोजा। पर इस दिल्ली में हरिप्रसन्न की टोह ढूँढ़े न पायी। श्रीकान्त सोचता, ऐसी वह कौन-सी बात है जो हरिप्रसन्न से बाहर है। वह देखता है कि सच बहुत ही कम बातें हैं जो हरिप्रसन्न से बाहर समझी जा सकती हैं। साधु वह हो सकता है; क्रान्तिकारी वह हो सकता; दुकानदार, मुनीम, फोटोग्राफर, जर्नलिस्ट सभी कुछ वह हो सकता है। दुकान के लिए रुपया चाहिए जरूर, पर पैसों को लेकर कहीं बैठ जाना और रुपये बनाना शुरू कर देना, यह भी बात उसके वश से बाहर नहीं जान पड़ती और नहीं तो वह अध्यापक ही हो सकता है। ऐसा आदमी जो एक-सी उद्यतता और योग्यता के साथ इन धन्धों में से किसी में भी जा बैठ सकता है, वह कैसे पा लिया जाए! और इसी का क्या ठिकाना है कि वह किसी धन्धे में पड़ ही गया होगा! निर्द्वन्द्व, फक्कड़, मधुकरी माँगकर रहते जाना भी क्या उसकी योग्यता से बाहर है! तब उसे कहाँ पहुँचकर पाया जाए?

श्रीकान्त अपने काम में पड़ गया और दिन चलते जाने लगे। बाहर से घूम-घामकर जो परस्पर की दाम्पत्य-परिचित और घरेलू ताजगी ये अपने साथ ले आये थे, इस घर के बँधे सपाट जीवन में शनैः-शनैः फिर चुकने लगी। सुनीता पहले जैसी अज्ञात, अथवा अतिशयतापूर्वक ज्ञात ही पड़ने लगी। और श्रीकान्त भी अपने में समाये और बन्द दीखने लगे।

श्रीकान्त जलसों-कान्फ्रेंसों का कायल नहीं है। लेकिन सिनेमाघरों से इन्हें अच्छा समझ लेता है। वह कान्फ्रेंसों में चला जाता है और उनके सहारे अपने में कुछ जोश भी लाने की चेष्टा करता है। सुनीता घर में ही रही आती है। श्रीकान्त जब कभी ऐसी जगह जाता है तब अनिवार्य रूप में पूछ लेता है, 'चलोगी?' अब भी उसने पूछा,

''चलोगी।''

सुनीता ने अनजान बनकर पूछा, ''कहाँ?''

और जब श्रीकान्त ने बतला दिया कि अमुक जलसे में, तब उसने श्रीकान्त की ओर देखकर कहा, ''मैं वहाँ क्या करूँगी?''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छी बात है।''

सुनीता आगे कुछ न बोलकर कुछ-न-कुछ उठाने-धरने में लग गयी।

श्रीकान्त इस भाव से कि ठीक तो है, वहाँ जाने में क्या रखा है, चल दिया।

और सुनीता भी मन-ही-मन में दुहराती हुई, 'ठीक तो है, वहाँ जाने में क्या रखा है' द्विगुणित वेगपूर्वक काम करने लगी।

किन्तु उस रोज अनायास मिल गया श्रीकान्त को हरिप्रसन्न कान्फ्रेंस के बाहर। वह निरुद्देश्य घूम रहा था। उसी समय पीछे से किसी ने कन्धे पर हाथ रखकर कहा, ''श्रीकान्त!''

घूमकर जो देखे तो हरिप्रसन्न!

वह विस्मय में डूबा खड़ा-का-खड़ा रह गया, कुछ बोल न सका। हरिप्रसन्न के बड़े बाल थे। दाढ़ी भी उग रही थी। खद्दर का एक लम्बा कुरता था, गले में चादर, ऊँची धोती और चप्पल।

उसने कहा, ''श्रीकान्त, मुझे पहचानते नहीं क्या? सहमे से दीखते हो। मैं ही हूँ हरिप्रसन्न। इलाहाबाद में दीखे थे, फिर तुम्हारा पता न चला। तुम यहीं रहते हो, दिल्ली? क्या करते-धरते हो?''

श्रीकान्त अब भी देख रहा था। वह देख रहा था कि यह हरिप्रसन्न का क्या हुलिया है, कि यह बोलता ही जाता है और अपने साथ कुछ भी गड़बड़ नहीं देखता!

''मैं समझता हूँ, वकील होंगे। शायद कहीं कुछ ऐसा सुन भी पड़ा था...तो वकील हो! ठीक। पढ़ना जिसने पकड़ा, वह न नौकरी पर पहुँचा, वकालत पर पहुँचा। यहाँ क्यों खड़े हो, आओ चलें।''

''चलें! कहाँ चलोगे?''

''क्या, तुम वकालत करते हो, तुम्हारे घर चलेंगे। अब अकेले तो नहीं हो न? और मुझे तुमसे काम भी है।''

हरिप्रसन्न श्रीकान्त को बाँह में हाथ डालकर ले चला।

''मैं यहाँ काफी दिनों से आ गया हूँ। एक महीना हो गया होगा। पर इस पाँच लाख के शहर में, जहाँ वाइसराय भी रहता है और किले-के-किले खड़े हैं, मेरा ठौर-ठिकाना बनने में नहीं आया है। और ऐसा भी कोई आदमी नहीं दीखा जिसे मेरी जरूरत हो। गर्जमन्द सब हैं, पर किसी की गर्ज मेरी राह नहीं आयी।''

श्रीकान्त ने कहा, ''तो फिर पहले मेरे घर कैसे चलना होगा? तुम्हारा सामान

कहाँ पड़ा है? उसे ले लें, तब घर चलेंगे।''

''सामान! ऐसा बहुत सामान नहीं है और एक मन्दिर में रखा है। लेकिन सामान के साथ चलूँगा! तो क्या तुम्हारा यह मतलब है कि मैं तुम्हारे घर रहूँगा? नहीं श्रीकान्त, रहना तो मुझे अपने आप है।''

श्रीकान्त ने विस्मय से कहा, ''क्या तुम घर नहीं रहोगे?''

''तुम्हारे घर कैसे रहूँगा?''

''कैसे रहोगे! इसका मतलब?''

हरिप्रसन्न ने श्रीकान्त की ओर देखकर कहा, ''देखो, मैं शायद घर के लिए नहीं बना हूँ, मैं घर के लायक नहीं हूँ, इसलिए यह जिद न करो कि मैं घर चलूँ।''

श्रीकान्त ने कहा, ''मैं फिजूल बात नहीं सुनना चाहता। चलो, कहाँ है तुम्हारा सामान?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''अच्छा अभी तो ठहरो। देखो भाई तुम्हारा घर तुम्हारा ही नहीं है। एक और भी है जिनका है। तुमने कैसे समझा तुम अकेले को किसी अजनबी को घर में बुलाने का हक है? उनसे अनुमति लो, वह भी मुझे कहें, तभी तो मैं इस बारे में सोच सकता हूँ। और मैं तुम जानते हो, रमता राम हूँ, घर में बैठना मेरे नसीब में नहीं।''

श्रीकान्त ने कहा, ''वाहियात मत बको। वह तुमको जानती है। न जानती तो भी क्या। चलो, सामान लो और चलो।''

हरिप्रसन्न ने हँसकर कहा, ''ऐसे नहीं, ऐसे नहीं। और सबसे पहली बात तो तुम्हारे लिए यह जानना है कि मेरे पास पाँच आने बचे हैं। पाँच आनों पर बताओ भविष्य को कैसे खड़ा करना होगा? और मैं बातों में यह भी नहीं जान सका कि मैं तुमसे कुछ रुपये भी माँग सकता हूँ या नहीं?''

श्रीकान्त ने विस्मयपूर्वक हरिप्रसन्न को देखकर कहा, ''मैं न मिलता तो इन पाँच आनों पर तुम क्या-क्या करनेवाले थे?''

''मुझे नहीं मालूम।''

''अब क्या करोगे?''

''कई रोज से इसी का हिसाब लगा रहा हूँ। राजनीति में जो तूफान आया था, वह बीत गया। तब आवारापन स्पृहणीय था। साहस का मूल्य था। ज्वार उतर जाने पर यह जो भाटा आया है, इसमें वस्तुओं का मूल्य बदल गया है। अब आदमी दुनियादारी में भारी-भरकम चाहिए और पैसे से पुष्ट चाहिए तो राष्ट्र की राजनीति उसे पहचाने। मैं वस्तुओं के इन प्रचलित मूल्यों का कायल नहीं हूँ। पैसेवाला क्यों बना जाए? आप पैसेवाला होना दस और को उससे वंचित रखना है, और यदि कोई पैसे वाला बनता है, तो मेरा ख्याल है, इस कारण उसे बल्कि निम्न समझना चाहिए।

लेकिन वस्तुओं की बाजार-दर को न मानकर मैंने अपने लिए लाचारी खड़ी कर ली है कि मैं उखड़ा रहूँ। जिनको निम्न कहा जाता है उनसे अपने को तोड़कर मैं भद्रवर्गीय बनूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं। तब क्या हो? जिन्दगी ऐसी चीज बन गयी है कि बिना पैसे के नहीं चलती। गाय-भैंस का दूध लेकर नहीं पी सकते, जब तक वे अपनी न हों; पेड़ का फल और खेत का शाक नहीं ले सकते, जब तक वे अपने न हों; कहीं जाना हो तो रेल में बैठकर नहीं जा सकते, जब तक टिकट न हो; इन सबके लिए फिर पैसा चाहिए। वह पैसा टकसाल में ढुकता है या सरकारी छापेखाने में छपता है। यह पैसे की संस्था बड़ी पेचीदा हो गयी है। अनुत्पादक चालाकियों से सोने का ढेर बन जाता है। उत्पादक ठोस मेहनत करने पर ताम्बे के पैसों का भी भरोसा नहीं बनता।

"अब खराबी क्या है? खराबी उन ख्याली कीमतों में है जो हमने चीजों को दे रखी हैं। हमारा समाज-शास्त्र, हमारा नीति-शास्त्र, हमारा स्वतन्त्र अर्थ-शास्त्र, हमारा धर्म-शास्त्र सब उन कीमतों को मानकर चलते और उनको मजबूत बनाते हैं। हमें उनमें एकदम परिवर्तन लाना होगा। पैरों तले जो हैं वे ऊपर दीखेंगे; सिर-चढ़े धरती चूमेंगे; तब मैं क्या करना विचारता हूँ, यह तुम पूछते हो! मैं पहले कुछ रुपये तुमसे पाना चाहता हूँ। फिर कहीं पच्चीस-तीस रुपये माहवार का ठीक-ठिकाना बनाना चाहता हूँ। चार वर्ष मैंने इस परीक्षा में दिये हैं कि बिना पैसे जीवन सम्भव हो। मैंने पाया है, वह सम्भव नहीं होता। हाँ, इस तरह सम्भव होता है कि तुम स्वयं पैसे से दूर रहो, लेकिन पैसेवाला कोई तुम्हारा भक्त हो। या बिना पैसे जीवन इस तरह भी सम्भव होता है कि स्वयं पैसा न बनाओ। पर किसी पैसेवाले के तुम भक्त हो जाओ। गाँधी पहली तरह का आदमी है, चाटुकार दूसरी तरह के। दोनों बे-पैसे सुखी रहते हैं। इसलिए मुझे तीस-चालीस जितने मासिक का हो, सुभीता कर लेना चाहिए। हाँ, उसकी हद है, उससे ज्यादा मैं नहीं ले सकता। उन रुपयों के लिए ठीक क्या काम पकड़ना होगा, यह मैं अभी नहीं जान सकता।"

श्रीकान्त चुपचाप सुनता रहा। उसने कहा, "हम भी यह सोचते हैं—मैं और वह, कि तुमको भटकना छोड़कर जमना चाहिए। एक जगह बैठो। कुछ कमाओ, घर बसाओ और इज्जतदार आदमी की तरह रहो। जबरदस्ती नया रास्ता बनाने के पीछे पड़ने में क्या रखा है?"

हरिप्रसन्न ने कुछ आवेश के साथ कहा, "कुछ कमाओ, घर बैठो, बाल-बच्चे जनो! आज और कल के बीच में नपे हुए और दबे हुए रहो! यही है? क्यों श्रीकान्त, यही सब कुछ है?"

श्रीकान्त ने कहा, "मैं नहीं जानता, तुम किसको सब-कुछ समझते हो। लेकिन, जो कुछ भी समझते हो वह करो और तीस रुपया माहवार तक, जब तक चाहो, मुझसे लिये जाओ।"

हरिप्रसन्न ने कहा, ''नहीं, नहीं, नहीं! वह जिन्दगी नहीं है जिसमें चारों तरफ दीवारें खड़ी करके हम विश्व के बीचों-बीच अपना पक्का घर बनाकर अपने को कैद कर लेते हैं। विश्व के जीवित सम्पर्क में रहना होगा। आज और कल के बीच में बन्द हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुएँगे, सनातन और उन्नत को भी हम चखेंगे। तुमने जो बनी-बनायी राह सामने कर दी है, वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और वह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर सन्तुष्ट पारिवारिक जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है। मनुष्य पति और पिता बनकर अपने को बाँधता है। इस प्रकार उत्सर्ग की, मुक्ति और स्वाधीन जीवन की, महिमा से वह अपने को दूर बनाता है।''

श्रीकान्त को यह सब-कुछ बहुत अच्छा लगा। पुराने हरिप्रसन्न के यह अनुरूप ही था। उसने कहा, ''तुम शाश्वत को कैसे छुओगे? अनन्त का और सार्वभौम का कैसे रसास्वादन पाओगे?''

''कैसे?'' हरिप्रसन्न ने कहा ''कैसे? जिसने मनुष्य को बाँटा है वह मेरे लिए नहीं होगा। धर्म और पाप ने मनुष्य को मनुष्यत्व से अलग किया। सभ्यता ने, समाज ने, कानून ने, अमीर-गरीब, शासक-शासित, कुलीन और अछूत की सृष्टि की। यह सब मेरे लिए न होगा। उन सब में जो सत्य है मात्र वही मेरे लिए होगा। मैं किसी वर्ग का नहीं हूँ। हूँ तो निम्न वर्ग का हूँ। श्रमी-वर्ग का हूँ। मेरा परस्पर व्यवहार किसी समाज और सम्प्रदाय की परिधि में न घिरा होगा। मैं अपनी सहानुभूति पर कोई भूगोल की सीमा न चढ़ने दूँगा। मेरा भविष्य सदा अनिश्चित होगा क्योंकि मनुष्य का निश्चय 'मौत' नाम की वस्तु आ जाने पर सब रखा रह जाता है। मैं अकेला रहूँगा; क्योंकि न मैं बँधना चाहता हूँ न बाँधना चाहता हूँ। स्नेह का बन्धन ही मेरे लिए हो, क्योंकि वह बाँधकर भी खोलता है। स्नेह को औचित्य देने के लिए मेरे निकट किसी संस्था की आवश्यकता नहीं है। अपने से बाहर के प्रति मैं उत्तरदाता नहीं हूँ।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा-अच्छा रुको मत, चले चलो। मेरा घर अब दूर नहीं है। तो तुम्हारा क्या मतलब? तुम इससे इनकार करोगे कि मैं तीस रुपये अपने पास से निकाल दिया करूँ और तुम बेफिक्र हो सको?''

हरिप्रसन्न, ''हाँ, मैं यह नहीं चाहता। मैं कुछ काम करके रुपया पाना चाहता हूँ, और उतना काम देकर मैं अपना जीवन अपना रखना चाहता हूँ। हाँ, इस वक्त पन्द्रह रुपये मैं तुमसे ले लूँगा।''

श्रीकान्त, ''काम क्या करोगे?''

हरिप्रसन्न, ''अभी तो जिस तरह का जो काम हाथ आ जाए।''

श्रीकान्त ने कहा, ''हरि, मुझे एक बात कहने दो। मुझे नहीं लगता पैसा जितना छोटा है, उसे तुम उतना छोटा अभी समझते हो। या जितने का वह प्रतिनिधि है उतने

मूल्य की ठीक आँक तुम्हें है। हरिप्रसन्न, जब तुम कह सकते हो कि मेरे पास जो अतिरिक्त रुपया है वह मेरा नहीं है, भूखे का है; तब तुम मेरे पास से लेकर किस तरह अपने को अहसानमन्द मान सकते हो? अगर तीस रुपये लेकर तुम अहसान का बोझ अपने ऊपर अनुभव किए बगैर नहीं रह सकते, तो आगे और क्या करोगे? मेरी जरूरत से जब तीस रुपया अतिरिक्त है, और तुम्हें उसकी बेहद जरूरत है, तब साधारण न्याय से वह रुपया मुझसे अधिक तुम्हारा हो जाता है। पैसा, न्याय यदि ईश्वरीय हो तो धनिक से अधिक भूखे का है। इसमें बीच में अहसान की या काम करके उस अहसान को उतार देने की बात कहाँ आती है?''

हरिप्रसन्न सोच में पड़ गया। उसने कहा, ''श्रीकान्त, यह तुम क्या कहते हो! व्यवहार व्यवहार है।''

श्रीकान्त, ''तो तुम सीधी तरह व्यवहारी क्यों नहीं बनते?''

हरिप्रसन्न, ''नहीं-नहीं, श्रीकान्त! मेरा निश्चय ठीक है। पैसा चीज खराब है, उसका लेन-देन परस्पर मन में मुटाव पैदा कर देता है। जिसमें तनाव न हो वैसा लेन-देन ही ठीक है। वैसे लेन-देन को फिर सौदा कह सकते हैं। पैसा कोई क्यों दे, जब तक एवज वह पाये नहीं?''

यह सुनकर श्रीकान्त का सुख कम होने लगा। वह हरिप्रसन्न में व्यवहार-बुद्धि न देखना चाहता था।

व्यवहारी लोग क्या दुनिया में कम हैं! हरिप्रसन्न उनमें एक गिनती और बढ़ाए इससे दुनिया का क्या भला होने वाला है? उसने कहा, ''हरि, तुम जो ठीक समझो। अपने मन पर बोझ डालकर तो सचमुच किसी से पैसा लेना बिलकुल ठीक नहीं है। लेकिन हरि, पैसा कब इस लायक है कि उसको देकर आदमी अपने को दानी माने, या उसे लेकर कोई अपने को दीन समझे! जरूरत पैसे को इधर-उधर करती है। जरूरतों को रफा करने के लिए ही वह है। इससे आगे उसका महत्त्व नहीं है। महत्त्व मत दो। इधर आओ, इधर—।'' यह कहकर सीधे जाते हुए हरिप्रसन्न को श्रीकान्त ने ठीक सड़क पर मोड़ा।

घर पास आ चला था और पिछला सिलसिला तोड़कर श्रीकान्त ने कहा, ''तुम जबलपुर से कब आ गये? कहाँ-कहाँ रहे? हमने तुम्हें एक खत भेजा, वह वापस आ गया। तुम्हारी भाभी की तस्वीर भी उसमें थी। वह तुम्हें खूब जानती है, तुम्हें इण्ट्रोडक्शन की जरूरत न होगी।''

हरिप्रसन्न चुपचाप ही रह गया। उसे स्त्रियों से दूर-दूर से ही वास्ता पड़ा है। वह उनसे कुछ डरता-सा है। स्त्रियों से वह मिला है, किन्तु स्वयं वह पुरुष है जबकि वे स्त्री हैं, इस भाँति नहीं मिला। वे राष्ट्रीय कार्यकर्त्री थीं, यह भी राष्ट्रकर्मी था; सभा में कहीं वह वक्ता थीं, यह भी वक्ता था; इसी भाँति सभा-समाज-नगर में वे भी थीं,

यह भी था; जैसे दो नागरिक मिले हों, ऐसे ही वह स्त्रियों से मिला था। वह निज में उनका कुछ है, इस भावनापूर्वक स्त्रियों के प्रति बढ़ने का उसे अवसर नहीं आया था। निस्सन्देह अतीत जीवन में कइयों के साथ उसके सम्बन्ध घने होते गये हैं, और उनमें कुछ मिठास भी उठा-सा है, फिर भी अन्त तक वह उन सबमें अपने को 'इम्पर्सनल' ही रखता आया है। स्त्रियाँ उसके लिए सब 'बहिनजी' और उन सबके लिए वह स्वयं 'भाईजी' रहा है। यहाँ तक कि 'बहिनजी और भाईजी' से आगे होकर, वह कभी 'बहिन-भाई' भी नहीं बना है। जिसको कह दे 'तू' या जिसको 'तुम' सम्बोधन भी कर सके, ऐसी निकट, ऐसी अपनी एक भी उसकी नहीं हो पायी। स्त्रियों के लिए वह 'आप' ही कहता आया है। अब यह श्रीकान्त ने उस भाभी का जो जिक्र चला दिया है, वह क्या 'आप' है ? वह क्या 'आप' ही रहने वाली है ? वह तो उसकी भाभी है। उससे अनपेक्षित, मात्र उसके प्रति महिला-रूप में विराजने वाली कोई वह नहीं है। वह तो भाभी हैं। जिसके (भाभी) होने से ही आदमी को देवर बन जाना होता है। एक दूसरे के लिए वे दो सज्जन और महिला नहीं हैं, वे देवर और भाभी है। तब सज्जनों के बीच में काम देनेवाला, 'आप' क्या देवर और भाभी के बीच में भी ठीक बैठ सकेगा ? हरिप्रसन्न यह सोचता है और देखता जाता है, यह कैसी भाभी है ? और मुझे किस प्रकार देवर बनना होगा ? यह भाभी-देवरपन क्या है ?

श्रीकान्त ने जब कहा, "हरि, तुम क्या उसकी भी ऐसी ही कदर करोगे जैसी मेरी बात की की है ? वह नहीं पसन्द करेंगी कि दिल्ली शहर में पैंतीस-चालीस रुपये के ऊपर अलग घर लेकर रहो!"

तब हरिप्रसन्न की कुछ ठीक तरह समझ में नहीं आया कि कौन भाभी हैं जिनको मेरे अलग रहने के बारे में कहने को कुछ हो सकता है! यह सारी बात वह हृदय में पूरी तरह बैठा ही नहीं सका।

उसने कहा, "वह ऐसा क्यों कहेंगी ?"

श्रीकान्त ने कहा, "वह ऐसा क्यों कहेंगी ? इसका कारण मैं सिवाय इसके और क्या दे सकता हूँ कि वह तुम्हारी भाभी है।"

हरिप्रसन्न चुप हो गया। उसको चुप कम चीजें करती हैं, लेकिन इस तरह उसके परिचय में भाभी बनकर आनेवाली एक नारी का परोक्ष प्रवेश एक ऐसी ही चीज है।

जब एक जीने के आगे आकर रुककर श्रीकान्त ने फैले पड़े एक काले घुँघराले बालवाले कुत्ते को सीटी बजाकर 'ब्लैकी! ब्लैकी!' कहा और वह उनके पैरों में मुँह और पूँछ को एक साथ ही लपेटने की चेष्टा करने लगा तब हरिप्रसन्न का जी धड़क रहा था।

श्रीकान्त ने कहा, "चलो।"

हरिप्रसन्न ने कहा, "चलो न!"

श्रीकान्त ने हँसकर कहा, "आगे चलो।"

हरिप्रसन्न ने कहा, "ओह, चलो भी।"

और हरिप्रसन्न श्रीकान्त के पीछे-पीछे उस जीने पर चढ़ गया।

8

सुनीता बेकाम स्टडी-रूम को साफ करने में लगी है। सोचती जाती है कि देखो मैं अपने बारे में ही सोचा करती हूँ, यह नहीं कि रोज झाड़-बुहारकर सब कमरे ठीक रखा करूँ। यह उनकी बात क्या झूठ है कि स्त्री को अपने घर में ही बहुत कुछ है। बाहर दुनिया में वह क्या पाने जाए? घर में क्या नहीं है? इससे बे-वक्त सुनीता ऊँचे स्टूल पर खड़ी होकर छत के जाले झाड़ू से साफ कर रही है। इसके बाद अलमारियों की सुध लेगी। उन्हें तेल के कपड़े से पोंछना होगा, और शीशों की गर्द हटाकर उन्हें चमका देना होगा। वह आज इस कमरे को बिलकुल नया पाएँगे।

सिर पर से साड़ी हट गयी। एकाध तिनका-जाला बालों में उलझ गया है। किसी राग का भूला-सा पद गुनगुना रही है। काम में वेग और उल्लास है। इस तरह के काम हाथ में लेकर जैसे उसका जी निखर आता है। नहीं तो खाली वक्त में उस पर काई-सी छा जाती है और तब उसे ऐसा लगता है कि वह दरवाजे के बाहर से ही शुरू होकर जो अगणनीय अवकाश तक चित्र-विचित्र दुनिया फैली है, यह क्या इसलिए है कि उसकी तरफ से पीठ फेरकर इस घर में रह जाए! क्या हमारा उसका परस्पर कोई सरोकार नहीं है? सरोकार क्या नहीं होना चाहिए? यह सब-कुछ इस तरह के काम हाथ में लेकर दूर हो जाता है, और मन को अभाव का पता नहीं चलता।

बुहारी को बाँस में लगाकर वह मकड़ियों के जाले में दे-दे मार रही है। ये मकड़ियाँ इतनी जानें कहाँ से पैदा होकर आ जाती हैं! महीना तो हुआ नहीं कि सब साफ किया ही था। और जरा-सी तो होती है, जाने इतना सारा जाला अपने पेट से कहाँ निकाल लाती है। वह भागी! कितनी बड़ी है, शि:, कैसी लगती है! और एकाध फुट मकड़ी को भागने देकर सुनीता ने अपनी झाड़ू जोर से उस पर मारी। छ: बड़ी-बड़ी टाँगों से अपने को बचाकर भागी जाती हुई मकड़ी को देखकर उसके जी में जाने कैसी घिन हो रही थी। मारना उसे असह्य था, पर जैसे वह मकड़ी अपनी घिनौनी टाँगों से उसके कलेजे पर से भागी जा रही हो, इस भाँति न मारना और भी असह्य था। सो जाने किस तरह जोर से हाथ से झाड़ू मकड़ी पर उठ गयी, और मकड़ी की

देह सींकों की नोकों पर लिपटी रह गयी। इस पर उसके मन में मितली-सी होने लगी। झाड़ू छोड़कर वह स्टूल से उतरी, उतरते-उतरते साड़ी का छूटा पल्ला स्टूल की एक कील में उलझ गया। उसने जोर से खींचकर वह पल्ला छुड़ा लिया जिसमें साड़ी जरा फट भी गयी। एक फेंट देकर उसने कमर में कस लिया। इस व्याघात से उसके मन की ग्लानि सहसा ही उड़ गयी, वह फिर काम पर आ डटने को हुई। अब उसका रूप सन्नद्ध लगता था। कमर पर कसी धोती का फेंटा जैसे कहता था कि कोई अवश्य परास्त होगा। सुनीता इस समय बड़ी मनोमुग्धकर जान पड़ती थी। काम की लाली थी, शेष विश्व के प्रति अनजान लापरवाही, खुला सिर, अस्त-व्यस्त बाल।

एक कोना और बाकी है। फिर दो दीवारें हुईं, और अलमारियाँ रह जाएँगी। कोने में टिके झाड़ू वाले बाँस को उसने उठाया।

इतने में हरिप्रसन्न के साथ श्रीकान्त ने उस कमरे में प्रवेश किया।

9

हरिप्रसन्न ने स्त्रियों को कम देखा है। नहीं, कम नहीं देखा है। कम सुन्दर स्त्रियों को देखा है। नहीं, अतीव सौन्दर्य शालिनियों को भी देखा है। किन्तु सबको ठीक-ठीक अपेक्षणीय रूप में देखा है। 'हाँ, मैं तैयार हूँ' वेशभूषा की ओर से जब इस स्थिति में रही हैं; तभी हरिप्रसन्न उनके साथ मिला, बोला, अथवा हँसा है। 'अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूँ!' स्त्री की ऐसी हालत में तो उसके सामने वह कभी नहीं पड़ पाया है। हरिप्रसन्न आते-आते दहलीज के बाहर अनायास ठिठककर रह गया। उसने सुनीता भाभी को अभी नहीं देखा। एक स्त्री आकृति को देखा है, और वह समझ सका है—स्त्री अपने को अनभीष्ट अवस्था में पा रही है।

श्रीकान्त ने बिना पीछे की ओर देख कहा, "हरि, चले आओ।"

श्रीकान्त के साथ किसी और को भी आते पाकर सुनीता जल्दी में इतना ही कर सकी थी कि झाड़ू-बँधे बाँस को कोने में टिका दे, और फिर खोयी-सी रह गयी थी। जब उसने सुना 'हरि, चले आओ,' तब वह और भी खो गयी।

हरिप्रसन्न एक बार सुनीता को देखकर नीची निगाह से कमरे में चलता चला आया और जब कुरसी उसकी टाँगों में लगी, तब उस पर बैठ गया।

सुनीता ने इतने में धोती की फेंट खोल ली थी और सिर पर पल्ला ले लिया था। रास्ता साफ होने की बाट देख रही थी। जिस दरवाजे से ये लोग आये हैं, उसी में से तो उसे जाना होगा, दोनों के कमरे में आ चुकते ही सुनीता उससे बाहर हो जाने

को बढ़ी।

श्रीकान्त अभी खड़ा ही था, उसने उस बाँस की ओर बढ़ते हुए कहा, ''क्यों, अब साफ हो गया? अभी तो वह कोना बचा है!'' यह कहते हुए जैसे वह हँसी रोक रहा हो। उसे अनुभव हुआ कि इधर दो-तीन वर्षों से इतने सहज रूप में सुनीता से वह एक भी बात शायद ही कभी कह पाया है।

सुनीता श्रीकान्त के इस खुले प्रसन्न स्वर पर खुश हुई। लेकिन वह सुनेगी नहीं, चली ही जाएगी। छि: छि: धोती कमर से बाँधे जोधा बनी वह कैसी दीखती होगी! नहीं, वह सुनेगी नहीं, चली जाएगी।

श्रीकान्त ने फिर कहा, ''ठहरो, जाती कहाँ हो? पूरा अभी साफ कहाँ हुआ है! और यह हरिप्रसन्न है।''

सुनीता असमंजस में पड़ी तुरन्त चली भी न जा सकी।

इतने में श्रीकान्त वह झाड़ू का बाँस ले आकर देते हुए बोला, ''लो, उस कोने को भी खत्म कर डालो।''

''भला देखो इन्हें!'' सुनीता बिना कहे या कहकर साड़ी के पल्ले को माथे के आगे जरा सरकाकर कमरे के बाहर हो गयी।

10

श्रीकान्त भी हरिप्रसन्न के पास कुर्सी पर आ बैठा। हरिप्रसन्न कमरे को देख रहा था। एक साथ कमरे-भर को मानों वह पाना चाहता था। कमरे की कोई चीज उसकी निगाह में न थी, यद्यपि उसकी आँखें किसी विशेष दिशा में गड़ी मालूम होती थीं। उन आँखों की दृष्टि बीच के शून्य अवकाश में ही रह जाती थी। उसको पार कर किसी रूप-स्पर्श-गन्धमय वस्तु तक नहीं पहुँच पाती थीं। मानों वह वहाँ उस कमरे के भीतर के रिक्त में उस कमरे की आत्मा को चीह्न रहा था।

उसने मकान देखे हैं। बड़ी-बड़ी इमारतों में जाकर रहकर वह अछूता रहा है; विलग, स्वस्थ। कमरे में छत है, फर्श है, दरवाजे-खिड़कियाँ और सामान है। कमरा और क्या होता है! मकान और क्या होता है! मकान के साथ सदा सम्बन्ध उसका 'डेरे' का रहता है। दो रोज बसेरा, और कूच। ये सब पदार्थ है जो आदमी ने बना लिए हैं; सबकी आयु है, और सब बिखरे रहेंगे। लेकिन यहाँ बैठा-बैठा तो वह जैसे इस कमरे के रिक्त में भरे किसी जीवित भाव के साथ मिला जा रहा है—घुला जा रहा है। कुछ घर भी होता है जो मकान नहीं है, न डेरे की भाँति जिसमें रहा जाता है।

परिवार की आशा-आकांक्षा, सुख-दुख, विश्वास-विग्रह जिसके संरक्षण में, जिसके अंक में, शिशुवत् खेलते और पलते हैं; जो मौन अप्रत्याशी उनका साक्षी है, अधिष्ठाता है। हरिप्रसन्न मानों वही है, वह 'घर' में है और उसकी आत्मा को जैसे हर श्वास और प्रश्वास के साथ अपने भीतर के स्पर्श में लेकर उसमें जाने कैसा क्या हो रहा है।

श्रीकान्त ने पूछा, "हरिप्रसन्न, क्या खाओगे? हम दिन में खा लेते हैं। तुम्हारे खाने का क्या समय है?"

हरिप्रसन्न ने श्रीकान्त की ओर मुड़कर कहा, "मेरा कोई समय नहीं है और कोई आग्रह नहीं है।"

श्रीकान्त, "नहीं-नहीं। अपने पसन्द की चीज बतलाओ। और देखो मुझे यह बड़ा अखर रहा है कि तुम सोने के लिए कहीं और जाओगे। बताओ-बताओ, क्या बनवाया जाए?"

हरिप्रसन्न, "जो बनता हो, बनवाओ। मुझे सब अच्छा लगता है।"

श्रीकान्त, "नहीं-नहीं जी; यह भी कोई बात हुई कि सब अच्छा लगता है! मुझसे पूछो, लौकी का शाक मुझको बिलकुल अच्छा नहीं लगता। कोई शाक में शाक है! और देखो, (किवाड़ पर दूसरी ओर से आती हुई थपथपाहट को सुनकर) वह टेलीफोन भी आ पहुँचा। मैं कहता था न, जल्दी बताओ। अब वह यही पूछेंगी, क्या बनाया जाए। मैं तो इतना जानता हूँ, जो चाहे बनाया जाए, घीया न बनाया जाए। (थपथपाहट) बोलो-बोलो, टेलीफोन का जोर सुनते हो! जल्दी करो।"

हरिप्रसन्न, "उसमें बताना क्या है?"

श्रीकान्त, "रोज क्या खाया करते हो? जल्दी करो जी।"

हरिप्रसन्न, "रोज की बात नहीं, जो होगा, मैं खा लूँगा।"

श्रीकान्त, "तुम अजब आदमी हो! तुम्हें मालूम नहीं, वह फिर खफा हो जाएगी। जल्दी बताओ भाई।"

हरिप्रसन्न ने कुछ दृढ़ पड़कर कहा, "मैं अन्न नहीं खाया करता हूँ, लेकिन...।"

"लेकिन क्या, तुमको अन्न खिलाया जाएगा और तुम्हें खाना पड़ेगा। बड़े पहलवान बन रहे हो कि अन्न नहीं खाते...(थपथपाहट) अरे, आया, आया।"

हरिप्रसन्न चुप रहा। किवाड़ों पर होती थपथपाहट और इधर श्रीकान्त की बढ़ती हुए उतावली—यह देखकर उसका मन जाने कैसा-कैसा हो रहा था। जो जादू किवाड़ के बजने से पीछे से आदमी के मन में खलबली मचा देता है वह क्या है, हरिप्रसन्न की पकड़ में इसका उत्तर नहीं आता और श्रीकान्त की थपथपाहट के प्रति व्यग्रता और व्यस्तता उसे हठात् अप्रीतिकार लगती है। उसका मन उस पर कठिन होता आता है। उसे श्रीकान्त की अपने प्रति सद्भिलाषा अनिमन्त्रित और अनभीत्सित लगती है, जैसे उसके प्रति सहानुभूति का दान दिया जा रहा हो। वह जानता था कि अन्न न केवल

वह यहाँ खा ही लेगा, प्रत्युत उसके लिए वह कदाचित उत्सुक भी है। फिर भी उसने कहा, ''श्रीकान्त अन्न मैं खाया तो नहीं करता हूँ, लेकिन मैं तुमको नाराज न करूँगा।''

''खाओगे कैसे नहीं! और भी सब बेवकूफी तुम्हारी आज से खत्म की जाएँगी। मैं बस, अभी आया। इतने तुम आराम से बैठो।''

कहकर श्रीकान्त झपटता हुआ कमरे से बाहर निकल गया।

11

''वह खाना खाएँगे?''

रसोई के दालान में खड़ी हुई सुनीता ने श्रीकान्त से पूछा।

''क्यों खाना खिलाने में भी डर है?''

''क्या बनाऊँ?''

श्रीकान्त ने कहा, ''हाँ, क्या बनाओ, यह सवाल है। कहता है, वह अन्न नहीं खाया करता है। क्या सनक है! फल है? नहीं हो, मँगा भेजो। लेकिन एकाध अन्न की चीज जरूर उसे खिलानी होगी। समझी?''

सुनीता ने सुन लिया। मानों कहीं कट गयी हो। उसने कहा, ''फल कोई नहीं है। और किसको भेजूँ, कुत्ते को?''

श्रीकान्त ने अप्रतिभ होकर कहा, ''क्यों-क्यों, मुंशी नहीं आया?'' और स्वयं यह याद करके कि मुंशी के आने का यह समय नहीं है और सच पूछो तो उस मुंशी के करने का यह काम भी नहीं है, श्रीकान्त प्रार्थी-सा बन उठा और जल्दी से बोला, ''अच्छा लाओ, मैं ले आता हूँ।''

इस पर झल्लाकर सुनीता ने तौलिया लेकर श्रीकान्त के हाथ में थमा दिया और एक रुपया भी दे दिया। कहा, ''जल्दी से लाना, और मोल-भाव करके लाना। जो कहीं दो के तीन दे आओ!''

उसके मन में सच ही बेहद खीज है कि वह क्यों कमरे में धोती का फेंटा कसे दीखी? नौकर कोई मैं अपने लिए चाहती हूँ! कोई मैं यह हालत पसन्द करती हूँ कि एक आदमी मालिक हो, दूसरा नौकर हो! क्या मैं नहीं जानती कि सब आदमियों के जी है, और नौकर के भी जी होता है! चौका-बासन के लिए, या अपने किस काम के लिए मुझे कोई नौकर नहीं चाहिए। अब देखो, खुद बाजार दौड़े गये हैं। वह आये हुए हैं। उनके साथ कुछ बैठते-बतलाते और नौकर होता दस काम सँभाल लेता। कुछ कहो, मैं हाथ बँटाने के लिए नौकर जरूर रख लूँगी। धोती का फेंटा कसी मुझे देखकर

वह मन में क्या कहते होंगे! क्या बनाऊँ उनके लिए? फल ही खाते हैं! अन्न बिलकुल नहीं खाते...? ये दाढ़ी-बाल तो ठीक नहीं है...कहाँ मिल गये! कहाँ-कहाँ रहते हैं!

रसोई की साज-सँभाल में वह लग रही है और इसी तरह की बातें सोचती जाती है। श्रीकान्त ने आकर कहा, ''लो!''

वह फिर कठिन हो आयी। देखो, नौकर होता तो इन्हें क्यों भागना होता और मुझे कहते हैं, मैं नौकर के बिना रह नहीं सकती। उसने कहा, ''क्या-क्या लाये?'' और मालूम हुआ कि एकदम बहुत पैसे डाल आये हैं, फिर चीज भी ताजा नहीं है।

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा-अच्छा! हरिप्रसन्न बैठा होगा, मैं जाऊँ।''

हरिप्रसन्न का नाम सुनकर सुनीता के भीतर का काठिन्य उसे ही व्यर्थ-सा लगने लगा। उसने कहा, ''नाई को बुलाकर उनकी दाढ़ी-वाढ़ी ठीक करवा दो न, बड़ी बुरी लगती है।''

श्रीकान्त को यह सुनकर एकदम खूब विस्मय हुआ और हर्ष हुआ। वह इसके अतिरिक्त और क्या चाहता है कि यह उसकी पत्नी उसके मित्र की ओर से बिलकुल उपेक्षाशील न बनी रहे, उसकी कुछ चिन्ता करे। श्रीकान्त ने कहा—''ठीक-ठीक, दाढ़ी से कैसा बदशक्ल लगता है! यह नाई की बात ठीक है। अभी लो...तुम्हें मालूम है, यह कहाँ मिला? वहीं कान्फ्रेंस के बाहर मिल गया। सामान जनाब का एक मन्दिर में पड़ा है और आपके पास पाँच आने के पैसे बचे हैं।''

सुनीता ने पूछा, ''तुमने नहीं कहा कि वह तकलीफ में क्यों रहते हैं, यहाँ ही रह सकते हैं?''

''अरे, हाँ-हाँ, कहा। पर कहता है, मैं किसी के घर नहीं रह सकता। सनक उसकी तोड़नी होगी। दुनिया से निराला बनने का मतलब क्या है! और जब नहीं है, दुःख जरूरी है, तब उसी में पड़े रहने में अर्थ क्या है?''

''पूरी बना लूँ? कचौरी के लिए तो पिट्ठी में देर लगेगी।'' सुनीता ने कहा, मानो हरिप्रसन्न आदि किसी बाहरी विषय से उसे विशेष मतलब नहीं है, उससे काम की बात करो। ''पूरी बना लूँ?''

''हाँ-हाँ, बनाओ...वह बैठा दीवार ताक रहा होगा। मैं जाता हूँ।''

''तो मैं पूरी-साग ही बना लेती हूँ। एक साग काफी है, जब अन्न तो खाते नहीं। नाई की याद रखना।''

श्रीकान्त प्रसन्न मन हँसता हुआ चल दिया, ''जरूर-जरूर।''

12

हरिप्रसन्न स्टडी-रूम में अकेला रहकर कुछ अँधेरा पड़ गया। इस समय अपने अकेलेपन में उसे स्वाद नहीं आ रहा था। उसमें उठ रहा था कि श्रीकान्त उसे छोड़कर जाने किस बात को लेकर वहाँ इतनी देर लगा रहा है! किन्तु इस भाव को मानों धक्का देकर अपने से परे हटाकर वह कमरे को देखने-परखने लगा। उसने देखा, अलमारियाँ ठीक-ठीक लगी हैं और उनमें किताबें करीने से चुनी हैं। छोटी अलमारी के ऊपर के खाने में लगी हुई एक साइज की किताबों की कतार ने, जिन पर सुनहरे हरफों में उनके नाम चमक रहे थे, मानो उसकी दृष्टि को पकड़ लिया। वह उठा, पास पहुँचा और मन में सोचने लगा, इन प्यारी-प्यारी जिल्दों को यों एक-पर-एक सिर टेके कवायद-सी में प्रस्तुत रखने में किसकी चिन्ता व्यय हुई है! किसका हाथ उन्हें यों रखता है! उसने शेली की कविताओं का संग्रह खींच लिया और अपनी जगह आकर उसे देखने लगा।

देखा, यह पन्ना देखा, वह पन्ना पलटा, और थोड़ी देर में पास रखी मेज पर उसे रख दिया। उसका मन ठीक नहीं है, और वह मन इस पर विस्मित और कठिन हो रहा है कि श्रीकान्त आखिर क्यों इतनी देर में भी वापस नहीं आ सका है।

किन्तु श्रीकान्त नहीं आया, और उसने फिर शेली को उठाया। इस बार पहले ही खाली पृष्ठ के शीर्ष पर देखा, लिखा है 'सुनीता'। अक्षर अँग्रेजी के हैं और वे अक्षर,—नहीं, बहुत सुन्दर नहीं हैं। गलत, वे बिलकुल सुन्दर नहीं हैं; जैसे किसी को अवकाश न हो और भागते जाते में कुछ लिख दिया हो। उन अक्षरों के आगे एक बिन्दी है और नीचे जल्दी में खिंची एक लकीर। बात यह है कि अक्षरों को कागज पर बाईं ओर न्यून कोण बनाना चाहिए। और वे छाती ताने आगे बढ़ना चाहते हैं! इन अक्षरों का सिर पीछे फिका है, पैर आगे निकले हैं। अत: उसने अपना फाउण्टेन पेन निकालकर उसके नीचे बना-बनाकर आदर्श अक्षरों में लिखा : सु-नी-ता। यह तो पृष्ठ के शीर्ष पर दायें सिरे पर लिखा। जाने क्या सोचकर उन्हीं अक्षरों को पृष्ठ के बीचों-बीच भी लिखा सु-नी-ता। लिखते-लिखते मानों उसने कहा भी : ''देखो, यह नाम ऐसे लिखा जाता है।'' थोड़ी देर बाद उन अक्षरों को देखते-देखते आगे और जोड़ा, 'देवी' किन्तु इस नाम को बढ़ाकर लिखने में स्थान के अनुपात का सौन्दर्य बिगड़ गया, और इसलिए नाम के पहले भी उसे जोड़ना पड़ा, 'श्रीमती'। 'श्रीमती सुनीता देवी' पूरा हो जाने पर वह पृष्ठ पर अंकित इस 'श्रीमती सुनीता देवी' को देखता रहा। उसे लगा, नाम ठीक है। उसकी स्याही धीरे-धीरे सूखती जा रही है। सूख जाने पर उसने शेली की पोथी को बन्द कर अलमारी में जहाँ से ली थी, वहाँ ही रख दी। और भी किताबें उस अलमारी में से निकालीं। वे उनके लेखक के नाम से निकालीं,

खूबसूरती के कारण निकालीं। सब पर यही लिखा था : 'सुनीता'। नहीं, हर किसी पुस्तक पर उस नाम को ठीक करने का उसका कोई जिम्मा नहीं है। किन्तु इस बार जो एक बहुत सुन्दर छोटी-सी कविता पुस्तक उसने खींची, उसमें बहुत ही सुघराई से बनाये हुए हरफों में लिखा मिला : 'श्रीमती सुनीता देवी, मैट्रिक क्लास।' उसके पहले पृष्ठ पर चिपकी चिट पर जो उसका ध्यान गया तो पता चला, म्यूजिक में प्रथम आने पर यह उपहार है। म्यूजिक! उसका मन गड़बड़ हो आया। जल्दी से वह उसने अलमारी में बन्द कर दी और वह कमरे में ही घूमने लगा। उसने देखा, वायलिन ऊपर टँगा है, सितार एक ओर सहारा लिये लिहाफ में बन्द लेटा है, और हारमोनियम भी वहीं है, एक कोने में तबले का भी उसे सन्देह हुआ। वह मानों स्वयं अपने को बुरा लगने लगा। उसने फिर सोचा कि श्रीकान्त को आखिर लौट आने में क्यों देर हो रही है, क्यों वह ऐसा गृहस्थ है! और वह तेज से और तेज टहलने लगा।

थोड़ी देर बाद अलमारी के पास पहुँचकर वहाँ से बर्नार्ड शा का एक नया ड्रामा खींच लिया और कुर्सी पर आकर बीच में से खोलकर उसे पढ़ने की चेष्टा करने लगा। उसे शॉ बिलकुल पसन्द नहीं है। बस वक्त उससे अच्छा कट जाता है। इस पंक्ति में वह जो देता है, अगली में उसे काट भी देता है। अगर मन में हिसाब लगाने बैठिए कि क्या पाया, तो पता चलता है कि सिफर से अधिक कुछ भी नहीं पाया। पर इसमें भी कम मजा नहीं है कि कुछ पाया, और अगला क्षण आते-आते पाया कि वह छिन भी गया है। पाते चलते और साथ-साथ खोते से चलने में भी कुछ स्वाद है क्योंकि पाने का स्वाद और पाने की आशा दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं। हरिप्रसन्न दो-तीन-चार सफे एक साँस में पढ़ गया। फिर किताब बन्द कर सोचा—'श्रीकान्त आखिर वहाँ क्या बना रहा है।' और फिर उसने शॉ को खोला। इस बार पहला सफा खुला और दीखा, लिखा है 'सुनीता श्रीकान्त', उसके नीचे लिखा है, '5/6/32'। 'सुनीता श्रीकान्त!' सुनीता को भी वह खैर जानता है। श्रीकान्त को भी जानता है। पर जिसके बीच न विराम है, न 'योग' है, वह 'सुनीता श्रीकान्त' एकदम क्या है! यह मानों उसे बड़ा विचित्र लग रहा है कि 'सुनीता', 'सुनीता देवी' और 'श्रीमती सुनीता देवी' वही है जो 5/6/32 में 'सुनीता श्रीकान्त' है! उसमें हुआ कि वह उस नाम को ठीक करके लिख दे, 'श्रीमती सुनीता देवी' या नहीं तो 'सुनीता श्रीकान्त' के पहले 'मिसेज' लिखकर उस पद को एक औपचारिकता दे दे। बिना मिसेज पूर्वक उन्हीं 'श्रीमती सुनीता देवी' के अक्षरोंवाले हाथों से निरा 'सुनीता श्रीकान्त' लिखा देखकर हरिप्रसन्न का जी कुछ कुण्ठित होता है, जैसे वह एकदम वंचित रखा जा रहा हो। उसने फिर फाउण्टेन पेन निकालकर कुछ संशोधन करना चाहा। पर उसका हाथ रुक गया। मानों यह उसके लिए निषिद्ध क्षेत्र है। उसने शॉ को औंधा मेज पर रख दिया और टहलने लगा। मन में उसके उठा कि विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु है कि स्त्री अपना

नाम भी खो दे और अमुक एक पुरुष के नाम को अपने ऊपर छत्र की भाँति लेकर उसके नीचे उसकी सम्पत्ति हो रहे!

इतने में श्रीकान्त ने आकर कहा, ''हरि, माफ करना देर हो गयी।''

हरिप्रसन्न ने आँख उठाकर कहा, ''तुम्हें आखिर मिल गयी छुट्टी!''

श्रीकान्त ने कहा, ''छुट्टी तो क्या मिल गयी, दो मिनट में फिर बुलावा आ पहुँच सकता है। घर के बस यही झमेले हैं, यहाँ छुट्टी कहाँ है!''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''कुछ काम बचा हो तो निबटा आओ, मुझे आग्रह नहीं है।''

श्रीकान्त—''नहीं-नहीं, भाई! बात यह है कि घर में कोई नौकर नहीं है। सो मुझे भगाया गया—फल ले आओ। उसी में देर हो गयी।''

हरिप्रसन्न टहलते-टहलते रुक गया। उसने अप्रसन्नता से कहा, ''नौकर नहीं है?''

''हाँ, यही तो कि कहा है।'' श्रीकान्त ने हँसकर कहा, ''और मैं तो एक दिन फल लाकर छूट गया। लेकिन...।''

''नौकर क्यों नहीं है? चौका-बासन उन्हीं को करना होता है?''

श्रीकान्त बहुत प्रसन्न हुआ—''और नहीं तो किसको करना होगा? चौका भी, बासन भी, झाड़ू भी, बुहारी भी, सफाई-धुलाई भी। मुझे तो क्या! कचहरी जाना, अच्छा खा लेना। अच्छा पी लेना। पर औरतों की मत टेढ़ी होती है। मेरे मुँह से एक बार निकला कि मुझे शक है कि किसी आदमी को हक है कि वह दूसरे आदमी को नौकर बनावे। इसी पर उन्होंने न रखने की हठ ठान ली है। मैं कह चुका हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं है। नौकर रख लो। पर हठ पकड़े पर किसकी चले?''

हरिप्रसन्न ने गम्भीर होकर कहा, ''श्रीकान्त, यह नहीं है। आदर्श मैं भी जानता हूँ पर इससे किसी को अधिकार नहीं मिल जाता कि वह दूसरे को पीसे। नौकर तुम्हें जरूर रख लेना चाहिए। पत्नी दासी नहीं है।''

श्रीकान्त ने हरि का हाथ पकड़कर कहा, ''हाँ, हाँ, हाँ। अब आएँ तो तुम्हीं उनसे कहना। मैं तो भाई उनसे बाज आया। तुम्हारा लिहाज वह रखें, तो मेरी भी बात रह जाए। मुझे क्या यह अच्छा लगता है कि तुम यहाँ इतने बरस बाद आकर अकेले बैठो, और मैं दौड़ा जाकर फलवालों से मोल-भाव करता फिरूँ। अच्छा अब यह गले में से दुपट्टा उतारो, गर्म न रहो, और ठीक-से बैठो।''

हरिप्रसन्न कुर्सी पर आकर बैठ गया। उसने कहा, ''देर हो रही है। मुझे जल्दी जाना है।''

''तो फिर जाओ न। जाकर अन्दर कहो कि तुम बहुत भूखे हो; दया करें, जल्दी खाना तैयार कर दें।''

हरिप्रसन्न श्रीकान्त की इस बात का स्वाद नहीं ले सका। वह चुप रहा। श्रीकान्त ने कहा, ''और एक बात मैं पूछता हूँ, हरि, कि इन बड़े-बड़े बालों और दाढ़ी में तुम्हें कोई विशेष सौन्दर्य दिखाई देता है?''

हरिप्रसन्न खीज आया उसने कहा, ''मुझे समझ नहीं पड़ता, सभ्यता का और सौन्दर्य का दाढ़ी से क्या सम्बन्ध है। दीखने ही से क्या सौन्दर्य है! तुम्हारी सहिष्णुता इतनी कम क्यों है कि चाहो जैसे तुम रहते हो, वैसे ही और रहें! मैं कहता हूँ, तुम लोग गलत हो, इसलिए तुम्हारे रहन-सहन का फैशन भी गलत है। उसमें बनावट अधिक है, प्रकृति की स्वीकृति कम है।''

श्रीकान्त हँसता रहा। उसने कहा, ''नाई आ रहा है!''

थोड़ी देर में दरवाजा खड़का और बुलाहट आयी, ''रोटी हो गयी हैं।''

श्रीकान्त ने कहा, ''आये, आये।''

हरिप्रसन्न चुप हो गया था। उसने कहा, ''खाना यहीं ही न मँगा लें?''

श्रीकान्त ने कहा, ''यहाँ किस तरह मँगा सकते हैं जबकि बन चौके में रहा है?''

हरिप्रसन्न चुप हो गया, कुछ सँभलकर कहा, ''उन्हें कुछ आपत्ति हो...।''

श्रीकान्त जोर से हँस पड़ा, ''आपत्ति की तो पक्की बात है। अपना चेहरा तो आईने में देखो।''

हरिप्रसन्न ने झल्लाकर कहा, ''मजाक छोड़ो। मुझे कामदेव बनने का दावा नहीं है। लेकिन तुम्हें ख्याल है कि पन्द्रह रुपये मुझे अभी चाहेंगे?''

''पन्द्रह रुपये! हाँ, हाँ, हाँ। लेकिन इनके लिए उन्हीं से कहना होगा। इतनी बड़ी रकम तो मेरे हाथ में वह कभी रहने देती नहीं, तुम्हें इनकार नहीं करेंगी।''

हरिप्रसन्न ने ओठ काट लिए, ''मैं नहीं जानता। मुझे पन्द्रह रुपये मिलने चाहिए।''

''सिफारिश मैं जोर से कर दूँगा।''

इतने में ही दरवाजे में आकर सुनीता ने कहा, ''खाना हो गया है, मैं कितनी दफे कह चुकी हूँ।''

श्रीकान्त ने कहा, ''चलो जी, चलो। (सुनीता से) लेकिन सुनो तो, यह दाढ़ी नहीं छोड़ना चाहते।''

सुनीता ने जाते-जाते हरिप्रसन्न की ओर देखा, बस देखा ही। हरिप्रसन्न झेंप-सा गया।

सुनीता ने कहा, ''खाना हो गया है, चलिए।''

हरिप्रसन्न उठने-सा लगा। उस समय सुनीता के मन में एकाएक परिहास का भाव उठ आया—अरे, यही है जो विपदाओं के मुँह में आमन्त्रणपूर्वक झुकता रहता

है। यह तो बड़ा शर्माता है! उसने चलते-चलते श्रीकान्त को देखकर अपने चेहरे पर हाथ फेरा, फिर हाथ में बँधी मुट्ठी में फूँक मारकर उसे एकदम खोल दिया। यानी देखो, यह दाढ़ी-बाढ़ी सब सफा हो जाए, समझे!

और सुनीता चली गयी। पीछे-पीछे वे दोनों भी चले।

13

सुनीता ने आकर चूल्हे पर तवा रख दिया और फूँकनी से आँच फूँकने लगी। इसमें सिर का पल्ला पीछे खिसक रहा और आँखों में पानी भरने लगा।

श्रीकान्त के साथ चलता हुआ हरिप्रसन्न जब रसोई के द्वार पर आया, तब एकाएक जैसे स्तब्ध रह गया और कठोरतापूर्वक आँखें नीची रखकर जहाँ बिठाया गया, वहाँ बैठ गया।

शेक्सपियर, शेली, शॉ की सब किताबों के ऊपर बैठी एक 'सुनीता' वह अभी-अभी देखकर आया है। उन्हें म्यूजिक में इनाम मिला है, और उनको उसने आग्रहपूर्वक 'श्रीमती सुनीता देवी' बनाकर देखा है। उस समय अपने सामने रखी थाली में दृष्टि बाँधकर वह देख रहा है कि 'यह' क्या है!

और सुनीता देवी का सिर का पल्ला गर्दन में पड़ा है, और वह आँच फूँक रही है, और झल्ला रही है कि ये लकड़ी लाकर पटक दी है कि जलती ही नहीं है, और बार-बार आँखों में का पानी पोंछती है, और...।

श्रीकान्त ने कहा, "बड़ा धुआँ कर रखा है!"

सुनीता ने ज़ोर से फूँक मारी और आग भक से लहक उठी। तब उसने पल्ले को सिर पर ले लिया, कुछ इधर-उधर मुँह के आगे आ गयी हुई लपटों को ठीक कर लिया, आँचल से राख और आँसू से भरे मुँह को पोंछ लिया, और चुप रही।

श्रीकान्त ने कहा, "अभी तवा चढ़ाया है। दो-चार रोटी बना लेती तब बुलाती। अभी खाली बैठे क्या करना होगा? हरि...।"

सुनीता ने रोटी बेलने में व्यस्त रहकर कहा, "इतने फल तराशकर रखो न।"

और हरि नीचे देख रहा था, वहीं देखता रहा और चुप रहा।

श्रीकान्त झट उठकर सन्तरे छीलने और सेब तराशने लगा। उसने कहा, "हरि, आज फल मैं खाऊँ, रोटी तुम खाओ। क्यों?"

हरी नीचे देखता हुआ सोचने लगा कि वह इसका खट से जवाब क्यों नहीं दे देता, चुप क्यों बैठा है! पर एकाएक जैसे जवाब नहीं सूझता और वह चुप ही है।

थोड़ी देर में सुना, 'जरा थाली आगे कीजिए।' और सुनकर इस बात को समझ ही रहा था कि श्रीकान्त ने थाली एक हाथ से आगे बढ़ा दी। तब सहसा लज्जित-सा हो पड़कर जो उसने सामने को देखा तो दीखा—एक बाँह, गोरी-गोरी बाँह, देर से एक कटोरी थामे ठहरी है। वह बाँह उसी की ओर आगे बढ़ी टिकी है। उसने हरिप्रसन्न के हाथ से थाली लेते हुए आग्रहपूर्वक कहा, ''लाओ-लाओ, मुझे दो'' और थाली पर जब उन हाथों से वह कटोरी रख दी गयी तब उसे अपने सामने लेकर वह निःशब्द हो गया।

सुनीता ने हँसकर कहा, ''लीजिए, रोटी लीजिएगा कि नहीं! थाली जरा आगे लाइए।''

उसने झट हाथों से थाली उठाकर बढ़ा दी और उसकी आँखें भी उठीं। सुनीता मुस्करा रही थी। उसे ध्यान न था कि बालों की कोई लट बिखरी भी हो सकती है। हरिप्रसन्न को लगा कि यह इस नारी से बाहर नहीं है कि वह इसी समय उस पर दो एक बातें कस दे, और उसने जाना कि जो मुस्कराती हुई इस समय उसके सामने है वह 'श्रीमती सुनीता देवी' नहीं हैं, केवल सुनीता भी नहीं है, और हरिप्रसन्न का मन जाने कैसा हो आया।

सुनीता ने कुछ कहा नहीं, हाथ की रोटी थाली में छोड़ दी, और फिर अपने काम में लग गयी।

श्रीकान्त ने कहा, ''हरि, आज यह रहे कि फल मेरे, रोटी तुम्हारी—क्यों?''

उस समय हरिप्रसन्न ने कहा, ''लेकिन देखो, रोटी कितनी बढ़िया है!'' यह कहकर मानों उसे अपने पर आश्चर्य हुआ।

''भाई, ऐसी फूली-फूली रोटी छोड़नेवाला मैं नहीं!'' कहा और श्रीकान्त ने फलों की एक तश्तरी लाकर हरि के आगे रख दी, एक अपने पास रख ली। फिर अपनी थाली उठाकर चौके में बैठी सुनीता की ओर आगे बढ़ाते हुआ कहा, ''क्यों हमें आज कोरा ही रखा जाएगा?''

''दे तो रही हूँ'' सुनीता ने कहा, ''बनेगी जब तो दूँगी। थोड़ा सबर रखो'' और उस थाली में रोटी भी रख दी।

हरिप्रसन्न विपन्नावस्था में है। ऐसी अवस्था में वह कभी नहीं हुआ। शेक्सपियर की किताब वाली सुनीता को वह समझ सकता है। ऐसी बहुतों को वह समझता आया है। लेकिन इस रोटी वाली 'सुनीता' को, इसको जो एकदम 'भाभी' है, वह किस तरह समझे! किसी ओर से भी तो इस भाभी को ध्यान नहीं प्रतीत होता है कि उसके नाम के साथ 'देवी' भी है, और उस नाम के पहले 'श्रीमती' भी है, या यह भी कि भाभी छोड़कर वह सुनीता भी है।

उसने सुना, कोई पूछ रहा है, ''रोटी शायद आपको अच्छी नहीं मालूम

होती है ?''

उसने जल्दी से कहा, ''नहीं...।''

''तो आप खा क्यों नहीं रहे हैं ? न आदत हो तो जाने दीजिए, फल तो हैं।''

''जी नहीं, मैं खा तो रहा हूँ...।'' और हरिप्रसन्न खाते दीखने का प्रयास करने लगा।

श्रीकान्त ने कहा, ''चाहिए यह कि इनके पास से फल खींच लिए जाएँ, तब यह बाज आएँ''

यह कहकर सचमुच ही उसके सामने से श्रीकान्त ने तश्तरी खींच ली।

''सुनो जी,'' (सुनीता की ओर कहकर) ''आज का सरदा बड़ा-मीठा है।'' और सुनीता के इधर देखने पर श्रीकान्त ने वह तश्तरी दिखा दी जो हरि के सामने से गायब कर दी गयी थी।

सुनीता ने इशारे-इशारे में कहा, ''नहीं-नहीं, रख दो।''

श्रीकान्त ने तश्तरी वापस वहीं रखते हुए कहा, ''लो भाई, नाराज नहीं तुम्हारा माल यह रहा।''

कुछ देर में सुनीता ने कहा, ''आप खाकर अभी थोड़ी देर बैठेंगे न ?''

हरिप्रसन्न जाने क्यों अपने में छोटा होता जा रहा था। उसने कहा, ''मालूम नहीं। मुझे जाना चाहिए।''

''कहाँ जाएँगे ?''

''जहाँ टिका हूँ, वहीं जाऊँगा। आप क्या यह पूछना चाहती हैं, कहाँ टिका हूँ ? एक मन्दिर से लगी हुई धर्मशाला में सामान रखा है।''

''तो आप ठहरिएगा नहीं ?''

''अब तो मैं दिल्ली ही रहने की सोचता हूँ, आता ही रहूँगा। मालूम यही होता है कि आपको काफी कष्ट दूँगा।''

सुनीता ने आँख ऊपर उठाकर देखा, ''क्या मैं समझूँ, आप आते रहेंगे ? (श्रीकान्त की ओर संकेत करके) यह बहुत अकेले रहते हैं, और आपको तो बहुत याद करते थे।''

''तो आप मुझे जानती हैं ?''

''हाँ, सुनकर जानती हूँ। आपको अब तकलीफ की जरूरत नहीं है। तकलीफ आपने कम नहीं उठायी। और यहाँ हम लोग जो हैं।''

श्रीकान्त इस समय सर्वथा दत्त-चित्त होकर खाना खा रहा था। उसने कहा, ''लाओ भाई, रोटी दो न, हम ऐसे फलाहार और मिताहारी नहीं हैं।''

''देती हूँ।'' सुनीता ने रोटी दे दी—(हरिप्रसन्न से) ''यह आपका ही घर है। धर्मशाला से सामान मँगवा क्यों न लें ?''

हरिप्रसन्न कठिन-सा हुआ, कहा, ''धर्मशाला में ही क्यों न रहूँगा? रहना ही होगा तो कुछ ठीक व्यवस्था करनी होगी। देखता तो हूँ कि मुझे अब बदलना है। लेकिन घर-बार बसाकर तो आदमी अपने को ह्रस्व करता है। मुझे उस राह नहीं जाना...।''

सुनीता चुप होकर रोटी में लगी रही। उसे इस आदमी की बातों में कहीं कुछ कठिन-सा मालूम होता है। पर ठीक वहीं उसे विस्मय भी है। उसी स्थल के प्रति उसमें आकर्षण भी है, जैसे वहीं कुछ रहस्य है, अज्ञात है, जिसे खोजना होगा।

वह रोटी में व्यस्त रही और सोचने लगी कि यह व्यक्ति पाँच आने पैसे पास लेकर क्या विचारता है। यह आदमी इतना अबोध, फिर भी इतना अनुभवी है, क्यों? वह है क्या—उसे जानना होगा।

श्रीकान्त ने कहा, ''हरि, तुम उठना चाहो उठो, मैं तुम जानो, मेहमान नहीं हूँ कि भूखा रहूँ।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''आज की बात होती तो भूखा भी रह लेता। पर मुझे तो आते ही रहना है। यहाँ से मेरे भूखे जाने का भरोसा तुम न करना।''

श्रीकान्त प्रसन्न हुआ। आखिर हरि को आवाज मिली तो! उसने कहा, ''सुनो जी, यह बैठे हैं, एक रोटी इन्हें और दो।''

''अरे, नहीं-नहीं...।''

''लीजिए भी,'' सुनीता ने कहा, ''अच्छा, बस यह ले लीजिए।'' कहने के साथ एक रोटी थाली के ऊपर उसके इनकार करते हुए फैलते हाथों पर डाल दी।

हरि ने कहा, ''श्रीकान्त, यह ठीक नहीं है।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा, खाओ-खाओ।''

और सुनीता ने करछी उठाकर दाल-शाक उसकी थाली में परोस दिया। इस भाँति खा-पीकर वे दोनों उठ गये।

14

स्टडी-रूम में आकर श्रीकान्त ने कहा, ''अरे, पान ले आऊँ।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''मैं पान नहीं खाऊँगा।''

''अच्छा, इलायची।''

''नहीं, कोई जरूरत नहीं।''

लेकिन झपटकर श्रीकान्त तो वह जा रहा था।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''श्रीकान्त, सुनो तो।''

''इलायची में क्या है,'' श्रीकान्त ने कहा और वह बाहर की ओर ही बढ़ा।

''नहीं श्रीकान्त, और बात यह है, सुनो तो—।''

श्रीकान्त ने लौट आकर कहा, ''कहो।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''मैं जाऊँगा, और पन्द्रह रुपये मुझे मिल जाने चाहिए।''

श्रीकान्त ने उसके हाथ पकड़कर कहा, ''तो बैठो तो। उन्हें भी चौके से निबट लेने दो।''

''नहीं-नहीं,'' हरिप्रसन्न ने कहा, ''उनसे जिक्र करने की क्या जरूरत है।''

श्रीकान्त ने हँसकर कहा, ''खजांची, मुनीम और मालिक तीनों वही हैं। मैं और पैसा कहाँ पाऊँगा?''

''तो मेरा नाम न लेना। अपनी तरफ से ही माँग लेना।''

श्रीकान्त ने गम्भीर होकर कहा, ''हरिप्रसन्न, तुम क्या चाहते हो? तुम्हें पैसे की जरूरत है, इसमें लज्जा की क्या बात है? यह पातक नहीं है तुम्हारे पास कम पैसा है, क्या यह गौरव की बात नहीं हो सकती? बहुत हैं जो धन से भरे हैं, पर मन से खाली हैं। तब धन से खाली होना क्या कुछ अच्छी बात भी नहीं हो सकती? हरि, अपनी जरूरत के बारे में तुम मुझसे संकोची नहीं हो सकोगे और वह तुम्हारी भाभी हैं। उससे भी नहीं हो सकोगे।''

हरिप्रसन्न ने धीरे से कहा, ''फिर भी क्या फायदा है!''

''फायदा?'' श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा-अच्छा, तुम पान तो खाते नहीं, इलायची ले आता हूँ। तब बातें होंगी।''

सुनीता चौके में चूल्हे के पास ही थी। श्रीकान्त ने पहुँचकर कहा, ''सुनो जी, एक पन्द्रह रुपये तो निकालकर दो।''

सुनीता ने अनायास कहा, ''क्या-आ?''

''हरि को चाहिए और वह जा रहा है।''

''वह क्यों जा रहे हैं? अभी बैठें न। कहना, अभी नहीं मिल सकते। दो घण्टे में मिलेंगे!''

''नहीं, नहीं, उसको जाना है।''

सुनीता ने तवा थामकर पन्द्रह रुपये लाकर दे दिये। कहा, ''देखो, यह मत जताना कि मुझे कुछ भी मालूम है, या रुपये मुझसे लाये हो।''

''क्यों?''

''यों ही फायदा क्या है!''

फायदे की बात सुनकर वह असमंजस में रह गया। उसने कहा, ''अच्छी बात है।''

सुनीता ने कहा, ''तुम्हीं सोचो, अपनी गर्जमन्दी का प्रकट होना किसको अच्छा लगता है ?''

''लेकिन सुनीता,'' श्रीकान्त ने कहा, ''हरि इस दुनिया का आदमी नहीं है। उसकी जरूरत में उसका अपना निजत्व क्या है, इसलिए उसके प्रकट करने में उसे संकोच भी कैसा ? मैं समझता हूँ कि वह इतना समर्थ है कि रुपया लेकर वह हमारा अहसानमन्द न बने। तुम्हीं क्या समझती हो कि रुपये देकर उस पर अहसान कर रही हो! अहसान इसमें क्या है ? जब अहसान नहीं है तो संकोच भी क्या है ?''

''नहीं नहीं, लाख कुछ हो, ऐसा नहीं होता और कहने की जरूरत नहीं है कि मैं कुछ भी जानती हूँ। मैं खुद मानती हूँ कि पैसे के देने-लेने के बारे में न कोई अहसान होना चाहिए, न संकोच होना चाहिए। लेकिन फिर भी कहने की जरूरत नहीं है। समझे—और दाढ़ी ?''

''क्या आज ही तुम चाहती हो ?''

''मुझे तो अच्छी नहीं लगती। और वह तो निशानी है। दाढ़ी से पता चलता है कि किस रास्ते पर वह है। लेकिन उस रास्ते से उन्हें लौटाना है कि नहीं... ?''

''लेकिन एकदम नहीं, अभी ठहरो।''

''उनसे कहना, आते रहें। फल खाएँगे, तो वह भी यहाँ मिल जाएँगे।''

''अच्छी बात है।''

सुनीता चूल्हे पर आ गयी और श्रीकान्त चले आये। आकर कहा, ''इलायची तो लोगे ? लो।'' और एक इलायची उसे दे दी। हाथ पकड़कर कहा, ''अच्छा, दो मिनट तो अभी बैठो, फिर चले जाना।''

हरिप्रसन्न के बैठने पर श्रीकान्त ने रुपये निकालकर दे दिये।

हरि ने कहा, ''उनसे तो नहीं कहा ?''

श्रीकान्त ने कहा, ''इसमें भी कुछ कहने की बात थी!''

हरि, ''मुझे अफसोस नहीं है कि मैंने आज अन्न खाया। खाना खूब बना था। क्या धन्यवाद दूँ ?''

श्रीकान्त, ''खूब ही बना करेगा। तुम आया तो करो। कहाँ क्या खाने का इन्तजाम करते फिरोगे। यहीं पक्का रखो, क्यों ?''

हरि, ''नहीं-नहीं, फल स्वास्थ्यकर होते हैं, अन्न भारी। और खाना कौन ऐसी बड़ी बात है कि उसमें उलझन हो। तुम्हारे यहाँ आ गया तो, नहीं आ गया तो। लेकिन, अब चलूँ।''

श्रीकान्त, ''आओगे ? तो अब कल से क्या प्रोग्राम रहेगा ?''

हरि, ''हाँ, यह भी तुमसे बात करनी है। कुछ काम तो हाथ में होना चाहिए जिसमें जिन्दगी कुछ कटे और थोड़ा पैसा का भी ठीक हो। तुम भी सोचना, क्या किया

जाए। आदमी की उपयोगिता भी किसी एक विशेष काम को हाथ में पकड़ लिये बिना सन्दिग्ध रहती है। मैं तो यही देखता आया हूँ...वह फोटो देखें।''

उसने कहा और बिना विशेष प्रतीक्षा किये कुर्सी लेकर, उस पर चढ़कर सामने टँगी उन पति-पत्नी की एक फोटो उतार ली। उसके नीचे दोनों के आटोग्राफ थे। और तिथि लिखी थी।

''तो सन् 32 में तुम्हारा विवाह हुआ, तभी की तो वह तसवीर है न? लेकिन यह कौन फोटोग्राफर है? तुम्हारा चेहरा कैसा भद्दा कर दिया है। रिटचिंग उसे आया नहीं। एक बारीक सी सौफ्ट पेन्सिल होगी? नहीं? तो जाने दो। चेहरा बिलकुल बिगाड़ दिया है। या लाओ, लिये ही जाता हूँ। कल ठीक कर लाऊँगा...ले जाऊँ?''

श्रीकान्त ने कहा, ''हाँ-हाँ, तो शाम को यहीं खाना खाना।''

''अच्छी बात है। देखा जाएगा।'' हरि ने कहा, ''काम के बारे में तुम सोचना। फोटो को मैं कल लेता आऊँगा। उनसे कहना, खाने के लिए धन्यवाद।''

''अच्छा''

''अच्छा...तो...।''

और हरि चला गया।

15

जीवन में एक फीकापन-सा, एक रीतापन-सा आ चला था। इस नये विषय (हरिप्रसन्न) के प्रवेश ने जैसे उसे ताजगी दी। कुछ लहरा आया, कुछ प्राप्य बना कि जिस पर दो बातें हो लें। चाहे उलझें, चाहे सुलझें, पर जिसको लेकर दोनों एक दूसरे के प्रति जिएँ। जहाँ जीवन एकदम इतना ह्रस्व और शून्य है कि कोई उलझन, कोई आपसी खटपट भी सम्भव नहीं, वहाँ यही शुभ है कि कुछ हो जो रगड़ देकर चमकावे, चाहे अनबन ही पैदा करे।

किन्तु सुनीता और श्रीकान्त के साथ अनबन की बात तो बेकार है। फिर भी हरिप्रसन्न जो यहाँ कुछ काल रह गया है, उससे दोनों किंचित भर आये हैं। दोनों कुछ अधिक सम्मिलित, अधिक सप्राण, और जीवन के प्रति कुछ अधिक उद्यत, समर्थ और सानन्द हो आये हैं। अब बीच में बात के लिए अभाव वैसा नहीं होता।

हाँ, जिन्हें लहर कहो, उन्हें सलवट भी कह सकते हो। सलवट चीज गलत है। कह सकते हो। कह सकते हो कि जहाँ गहराई बहुत हो वहाँ लहर बहुत न होगी; कि जहाँ थाह का पता नहीं है वहाँ लहर का भी पता न होगा; कि जहाँ जीवन ही

जीवन है, तलछट तक जहाँ वही वह है, वहाँ न उछाल है, न लहर है। वहाँ चांचल्य कहाँ से हो! पर आदमी के साथ तो जड़ता भी लगी है। सो जीवन के लक्षण को चंचलता भी कह लिया जा सकता है, वेग भी कहा जा सकता है।

श्रीकान्त और सुनीता के परस्पर संयुक्त जीवन में इधर कुछ प्रमोद, जड़ता और बन्धन का बोध आ चला था। उस शान्त अलस तल पर हरिप्रसन्न आ आविर्भूत हुआ। वहाँ लहर उठ लहरा। नींद जागी। प्रशान्तता अशान्त हुई। किन्तु इससे उस संयुक्त जीवन के अन्तरंग को कुछ हर्ष और रसास्वाद की ही अनुभूति प्राप्त हुई। उसे पुष्टता ही मिली। तब सुनीता के प्रति श्रीकान्त की आँखें जैसे अधिक खुलीं। सुनीता भी जैसे भीतर से कुछ अधिक खिली। और दोनों परस्पर में मानो कुछ सतर्क, सम्भ्रम, अधिक प्रस्तुत और अधिक प्राप्त होना चाहने लगे।

अदालत से आये पति के सामने नाश्ता रखकर खुद भी कुर्सी पर बैठ कर सुनीता ने कहा, ''आज तो अदालत से ठीक वक्त पर आये। नहीं तो बिलकुल ही शाम कर दिया करते हो।''

''हाँ, अदालत जो ठहरी।'' श्रीकान्त ने कहा, ''जिसका हाकिम मैं नहीं हूँ!अच्छा, बताओ, हरिप्रसन्न तो नहीं आया? वह कल फोटो ले गया था। कह गया था—आज जरूर आऊँगा, और उसे ठीक करता लाऊँगा।''

''नहीं, वह तो नहीं आये।''

''फोटो उसे पसन्द न थी। लेकिन तुम्हारी तसवीर तो उसमें कमाल की है। ऐसी कि...मैं नहीं जानता, वह क्या ठीक करके लाएगा?''

''लो, यह लो।'' सुनीता ने तश्तरी उसकी ओर बढ़ाकर कहा, ''कोई बात है कि जब से तुम्हें भूख नहीं लगी! समझ नहीं आता, वह क्यों नहीं आये। वह क्या करेंगे, तुमने कुछ सोचा है?''

''वह सब-कुछ कर सकता है,'' श्रीकान्त ने कहा, ''लेकिन फिर भी देखो कि सोचना होगा कि वह क्या करे। और सोचते हैं। फिर भी समझ नहीं आता कि वह क्या करे। माहवार हम कुछ रुपया दे सकते हैं। इतना अपने पास भी कहाँ है कि कोई अच्छा कारोबार वह ले बैठे।''

''एक बात है,'' सुनीता ने कहा, ''सत्या की ट्यूशन के लिए वह कैसे रहेंगे? बाबूजी अच्छे ट्यूटर के लिए कह रहे थे।''

श्रीकान्त हर्ष से भर गया। सुनीता का हाथ पकड़ लिया, मानों कि वह भी खाने का पदार्थ हो।

''अरे, हाँ-हाँ,'' उसने प्रसन्न होकर कहा, ''खूब, सुनीता, मुझे यह सूझा ही नहीं। मैं समझता हूँ, हरि बहुत ठीक रहेगा। सत्या सेकिण्ड इयर में ही तो है। हरिप्रसन्न जरूर पढ़ा सकेगा, और अच्छा पढ़ाएगा।''

अपने हाथों में थमे हाथ को उसने दबाया, "अच्छा, बाबूजी दे क्या देंगे?"

"मैं समझती हूँ, तीस-पैंतीस तो घण्टे के देंगे ही।"

"बस-बस-बस सुनीता, यह ठीक है। उसके जाने की फिकर मिटी। अब करे जो कुछ उसे करना है। अगर ब्याह नहीं करता, क्रान्ति ही करता है, तो चलो वही करे। पहली सीढ़ी तो हुई कि वह कुछ कमाता है। चलते-चलते यों कुनबा भी एक दिन हो जाएगा—क्यों?"

सुनीता सोच में पड़ गयी थी। उसने धीमे से कहा, "हाँ-आँ।"

श्रीकान्त एकदम ऐसा हल्का हो गया कि भीतर से जैसे भरपूर हो गया हो। मेज पर रखा नाश्ता जल्दी-जल्दी वह खत्म करने लगा, और बोला, "हाँ-आ-आ! यह भी कोई बात होती है! हाँ-आँ-आँ! नहीं-नहीं, यह बात पक्की हुई कि वह ट्यूटर बनेगा। यह एक इसी तरह दो और तीन और चार, सब बातें होती जाएँगी और लकीर के आखिर में हम देखेंगे कि बाबू हरिजी नेक बाप हैं, और नेक पति। क्यों, और तुम्हें चाहिए क्या?"

सुनीता चुप रही।

श्रीकान्त ने कहा, "लेकिन अभी तक वह आया क्यों नहीं? आज शाम को उसका खाना यहीं है। तुमने बनाया है न?"

"नहीं।"

"नहीं क्यों? आख़िर वह आएगा तो है ही।"

"फल ही तो खाएँगे। फल हैं।"

श्रीकान्त ने विस्मय में पड़कर पूछा—"तो तुमको मालूम है, अन्न नहीं खाएगा? मुझे तो ऐसा नहीं लगा।"

"जब नहीं खाते, तब जबर्दस्ती की क्या जरूरत है? लेकिन अगर तुम्हें अपना बहुत ख्याल हो, तो मैं अब बनाये देती हूँ। और वह नहीं आवें तो...!"

श्रीकान्त ने एकदम कहा—"अच्छा-अच्छा, देखो, बज क्या गया—साढ़े पाँच! मैं समझता हूँ, छः तक आ जाएगा। आया आया, नहीं तो वह जाने। बोलो आज वहाँ चलती हो। 'राजरानी मीरा' में, कहते हैं, अच्छी फिल्म है।"

सुनीता विस्मय में आकर पति को देखने लगी। पाँच-छः वर्ष से जिसकी चर्चा भी समझो इस घर में निषिद्ध है, उसी का निमन्त्रण यह श्रीकान्त ही उसे दे रहे हैं। कह रहे हैं 'चलो, सिनेमा चलें!'

वह चुप होकर पति की ओर देखती रही।

"क्यों," पति ने कहा, "सिनेमा में दोष है! व्यसन बुरा है। यों चित्त-बहलाव क्या बुरा है! और 'राजरानी मीरा' अच्छी फिल्म सुनते हैं। हरिप्रसन्न आता ही होगा। नहीं आया तो हम दोनों चलेंगे, क्यों?"

सुनीता क्या यह कहे कि 'नहीं'? कई बार कई फिल्में देखने की बात मन में ही मर गयी है। उसे जी में बहुत है कि यह जो उसके बाहर होकर दुनिया फैली है वह यह सब कुछ देखे, सभी कुछ देख डाले। किन्तु पति के सम्बन्ध में पाती रही है कि कर्तव्य-परायणता और जीवन में यमनियमादि पालन ही उनके लिए सब-कुछ है, विश्व का चित्र-वैचित्र्य उनके लिए कुछ भी नहीं है। उस नारी के मन ने तो अब तक कभी यह कहना छोड़ा नहीं कि विश्व भी दीखे। पर पति के अनुगमन में वह भी विश्व की ओर से मुँह फेरकर अन्तर्मुखी होने की महत्ता पर चित्त लगाती रही है। आज वह उन ही पति से सुन रही है, 'सिनेमा चलो!' उसने धीरे-से कहा, "अच्छा!"

"सुनीता," श्रीकान्त ने कहा, "सिनेमा में दोष नहीं है! क्या तुम नहीं जाना चाहती हो?"

"नहीं, नहीं चलो।"

"तो तैयार होओ। हरिप्रसन्न ने तो काहे को कुछ देखा होगा? वह अभी आया नहीं। खाना खाकर ही जाएँ, क्यों? उसे कुछ और भी आने का मौका रहेगा।"

सुनीता ने कहा, "तो सत्या को भी न बुला लो?"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं! जरूर।" श्रीकान्त ने कहा और उसे मालूम हुआ कि तब सत्या को बुलाने के लिए उसे ही जाना होगा और अभी चले जाना चाहिए।

श्रीकान्त ने कहा, "अच्छी बात है। हरिप्रसन्न आये तो उसे बिठाना। मैं जल्दी ही आ जाऊँगा। और तुम तैयार रहना। सवा छः से खेल है। पानी!"

नाश्ते के पास पानी का गिलास रखना भूल गयी थी, भागकर पानी ले आयी।

श्रीकान्त बाबूजी के यहाँ से सत्या को लिवाने के लिए रवाना हुआ और सुनीता तमाशे में जाने के लिए तैयार होने को चली।

16

सत्या सुनीता की छोटी बहन है। आजकल कॉलिज के इण्टरमीडिएट के दूसरे वर्ष में पढ़ती है।

पिता सम्पन्न है और इसी दिल्ली के गण-मान्य नागरिकों में से हैं। सत्या बहुत दुबली है, पर बहुत तेज। बहनें और भी हैं, पर जैसे सुनीता के लिए सत्या और सत्या के लिए सुनीता ही है। सत्या जैसे और किसी काम के लिए नहीं बनी; बस, सीखने के लिए बनी है। पढ़ना-लिखना सीखती है, गाना-बजाना सीखती है, नृत्य और

चित्रण सीखती है। जों सीखती है, दुनिया में ये ही उसके लिए विषय हैं, और बातें ही नहीं हैं। बड़े परिवार में बड़ी पॉलिटिक्स होती है। युद्ध, विग्रह, सन्धि सभी कुछ वहाँ होता है। और मित्र-लाभ और सुहृद्भेद के नये-नये संस्करण भी होते रहते हैं। पर वह अपने सीखने से इधर-उधर कहीं का पता नहीं रखती। इसी भाँति अठारह वर्ष की हो गयी है। लगती ऐसी है कि पन्द्रह की भी न हो।

सुनीता ने नाश्ते की तश्तरियों को सँवारकर रख दिया। चौके की सँभाल में गयी। उसे भी सँवार दिया। सोचने लगी कि क्या अभी पराँवठे बना दे, लेकिन अभी किस भाँति बना देगी? क्योंकि समय बहुत नहीं है, सत्या अभी आती होगी और उसे भी तैयार होना है। वह सब विचार कर अपने कपड़े बदलने चली गयी। धानी रेशमी साड़ी पहन ली और दर्पण के सामने गयी।

तभी मालूम हुआ, कोई ऊपर ही आकर कह रहा है, ''श्रीकान्त, श्रीकान्त!''

उसने वहीं से कहा, ''वह हैं नहीं, गये हैं।''

हरिप्रसन्न इस आवाज पर ठिठक रहा। उसने चाहा कि लौट जाऊँ, पर वह ठिठका ही रह गया।

सुनीता ने उत्तर न पाकर सोचा, 'कहीं चले तो नहीं गये' और उसने जरा जोर से कहा, ''गये हैं, अभी आते होंगे, बैठें।''

हरि अवश स्टडी-रूम में जाकर बैठ गया।

उसने सुना, ''मैं अभी आती हूँ। माफ कीजिए।''

सुना, और बैठा रहा। बैठे-बैठे फिर अपने पास से रैपर में से फोटो निकालकर वह देखने लगा। उसने देखा कि फोटोग्राफ निश्चय पहले से बहुत सुधर गया है। वह उसी को देखता रहा। अब उसे यह अद्‌भुत मालूम हुआ कि फोटोग्राफ के नीचे उसने अँग्रेजी के अक्षरों में 'मिस्टर श्रीकान्त' और 'श्रीमती सुनीता-श्रीकान्त' लिख दिया है। लिखते तो लिख दिया, पर उसका हेतु अब उसकी समझ में नहीं आता है। उसने फाउण्टेन पेन निकाल लिया और चाहा कि उसको बिगाड़ दे। पर फोटो बिगड़ जाएगा! और वह कलम हाथ में लिये फोटो की ओर देखता हुआ ही बैठा रह गया...

सुनीता ने चोटी ठीक कर ली, माथे पर बिन्दी बिठा ली, चेहरे को एक निगाह ठीक देखकर पास कर लिया, और एकाएक उसको याद आया कि ओह! अभी उसे स्टडी-रूम में भी जाना है जहाँ हरिप्रसन्न है। वह बेकाम कुछ देर इधर-उधर घूमती रही, जैसे इतनी देर में उसकी लज्जा नयी से पुरानी हो गयी। फिर सोचकर उसने पान लगाया और पान लेकर स्टडी-रूम में गयी।

हरिप्रसन्न के हाथ में फोटोग्राफ था और वह उसमें व्यस्त था।

''माफ कीजिए,'' सुनीता कहती हुई आयी ''लीजिए, पान लीजिए। वह अभी आते होंगे। कह गये हैं, आप बैठें। आज—आज सिनेमा जाना है। आप भी तो चलेंगे

न?'' एक साँस में वह यह सब कहकर एक कुर्सी लेकर बैठ गयी और पान की तश्तरी आगे सरका दी।

''पान!'' एक साथ फोटो को उल्टा करके हरि बोला, ''मैं—लाइए, कितनी देर में मिस्टर श्रीकान्त आएँगे?''

हरि की अस्त-व्यस्तता पर सुनीता सँभल-सी गयी।

''कोई पन्द्रह मिनट में समझिए वह यहाँ होंगे। ओह, कल आप यह फोटो ले गये थे। मुझे मालूम हुआ था। कुछ कमी आपको बर्दाश्त न हुई और आप उसको दुरुस्त किये बिना न रह सके। तो आप फोटोग्राफी भी जानते हैं! देख सकती हूँ?''

ले जाकर फोटो उसने सुनीता के हाथ में दे दी।

''जी नहीं, यों ही कुछ जानता हूँ।''

''मैं तो जड़ हूँ,'' सुनीता ने कहा, ''आप खुद न बताएँगे तो मैं खाक न समझ सकूँगी कि आपने क्या किया। (फोटोग्राफ को मेज पर बिछाकर) क्या मैं समझ सकती हूँ, खराबी क्या थी और आपने उसे कैसे सुधारा?''

सुनीता फोटोग्राफ पर झुकी थी। हरिप्रसन्न ने पास कुर्सी सरकाकर बताना आरम्भ किया कि लाइट और शेड का आइडिया फोटोग्राफर को खाक भी न था और श्रीकान्त के चेहरे की बायीं साइड एकदम सूजी मालूम होती थी। और कहा, ''आप! आपका तो इम्प्रेशन परफेक्ट है।''

दोनों के सिर बहुत निकट आ गये थे। सुनीता ने ऊपर देखा और वह अपनी कुर्सी में ठीक हो बैठी। हरि भी लजाकर अपनी कुर्सी में खिंच बैठा।

सुनीता ने कहा, ''फोटोग्राफी कितने दिन में सीखी जा सकती है?''

''सीखना क्या है। महीना-भर बहुत है। फिर तो प्रैक्टिस है।''

''महीना-भर!'' सुनीता ने कहा, ''आप क्या कहते हैं? इन्होंने भी चाहा, महीनों लगाये। पर इनका हाथ तो अब भी कच्चा है।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''आपके यहाँ कैमरा है? मुझे दिखाइएगा, मैं आप लोगों की तसवीर लूँगा।''

सुनीता चुप हो गयी। हरि भी चुप रहा। वह अपने आपको अद्‌भुत मालूम हो रहा था।

थोड़ी देर बाद सुनीता ने कहा, ''आप आज देर से आये। वह समझते थे, आज दोपहर किसी समय आ जावेंगे।''

''जी हाँ।''

''आप सिनेमा तो चलेंगे न?''

''मैं—चला चलूँगा।''

''मेरी छोटी बहन भी उनके साथ आती होगी। हम सब लोग चलेंगे। आपकी

कोई बहन है?''

''हाँ, दो। लेकिन मैं तो एक ही हूँ।''

''आप एक क्यों हैं? आप, सुनते हैं, विपदा से बचकर नहीं चलते, इससे अकेले ही चलना चाहते हैं।''

''मैं—हाँ, मेरा कौन ठिकाना है। और हमारी जिन्दगी की कीमत क्या है! मैं उसकी कीमत ज्यादा नहीं आँकता। मेरी समाप्ति पर विश्व की क्या क्षति है! कुछ नहीं।''

''ठहरिए,'' सुनीता ने कहा, ''कुछ नाश्ता तो कीजिएगा न। मैं फल ले आती हूँ।''

''नहीं, नहीं...।''

लेकिन वह तो कमरे के बाहर तैर गयी। उस समय उसकी रेशमी साड़ी की धानी आभा ही काँपती हुई झलमल-झलमल हरिप्रसन्न की आँखों में रह गयी। और उसके कानों में साड़ी की तरल पर्तों को छूकर जाती हुई समीर की सरसराहट भरने लगी। मानों कुछ हौले-हौले बज रहा हो, कुछ भीना-भीना बरस रहा हो और भीतर से उसे भिगो रहा हो। थोड़ी देर में आकर सुनीता ने फल उसके सामने रख दिये।

''लीजिए-लीजिए,'' उसने कहा, ''आपकी तो रोटी ही यह है। देखिए तकल्लुफ न करें। वह कह रहे थे, मैं आपके लिए रोटी ही बनाऊँ लेकिन अपनी-अपनी रुचि है। और मुझे यह बुरा नहीं लगता कि अन्न न खाया जावे, रुचि पर जब्र क्यों। आपको रोटी कैसी लगी थी?''

''मुझे बहुत अच्छी लगी थी।''

''तो लीजिए, मैं व्यर्थ ही फल के पीछे रही। अब रोटी ही लीजिए।''

''जी नहीं, सो नहीं।''

''अच्छी लगती है, तो मुझे आपके पुन्न और परतिग्या की फिक्र नहीं है।''

पुण्य और प्रतिज्ञा! खूब पढ़ी-लिखी इन भाभी के मुँह से एक विचित्र ध्वनि में उच्चरित होते हुए इन शब्दों को सुनकर हरिप्रसन्न को जाने क्या होने लगा। उसने कहना चाहा—''मैं मैं—।''

सुनीता ने कहा, ''देखिए, आप मुझे माफ करेंगे। यह मुझे आपके बारे में कहा करते थे। हम नहीं समझते थे, आप हमसे दुराव समझेंगे। आप नाराज तो नहीं होंगे न, जब मैं कहूँ कि आपको संकोच नहीं करना चाहिए।''

''नहीं नहीं।''

तभी किन्हीं के आने की आहट पाकर सुनीता ने कहा, ''देखिए, वह आ गये मालूम होते हैं। आप-आप...क्यों उठिए। बैठिए, बैठिए।''

कहते-कहते सुनीता कमरे से बाहर निकल आयी। हरिप्रसन्न सन्तरा हाथ में लिए बैठा रहा।

17

श्रीकान्त सत्या के साथ आया। दोनों हँसते आ रहे थे। सत्या कम हँसती है, अधिकतर मुस्कराकर ही रह जाती है। पर जब हँसती है तो खिलखिल फूल-सी हँसती है। तब वह कुछ भी और नहीं लगती, चमेली के फूल-सी मालूम लगती है।

सुनीता ने आगे बढ़कर कहा, ''बहुत देर लगा दी, वह तब के बैठे हैं?''

सत्या ने हँसकर कहा, ''जीजी, कौन?''

सुनीता ने बिगड़कर कहा, ''जरा सबर कर, कौन?'' फिर तुरन्त ही नरम पड़कर हँसते हुए उसने जोड़ा, ''अभी से उतावली मत बन।''

श्रीकान्त हँस ही रहा था, और हँस पड़ा।

''तो जीजी,'' सव्यंग्य सत्या बोली, ''इसमें डरने की क्या बात है?''

सच यह है कि सत्या इस दुनिया में बड़ी डरनेवाली लड़की है। छिपकली से, चोर से, भूत से वह बहुत डरती है, और आदमियों से भी डरती है। पढ़ती तो है, लेकिन गाड़ी में कालिज जाती है और घर के भीतर माँ-बाप के लाड़ के बीच रहती है, सो डर उसमें सारी चीजों का बना है। इससे यदि बाजार को या बाहर जाने के लिए किसी काम को कह दो, तो वहीं उसे डर लग आता है। अनजान कोई आदमी हो, उसके सामने सहम रहती है। तभी तो उसने कहा, ''तो जीजी, इसमें डरने की कौन-सी बात है?''

जीजी ने उसे बाँह से पकड़ लिया, कहा, ''अच्छा, डरने की बात नहीं है। तो चल। चल, तुझे बताऊँ!''

सत्या बहुतेरी, 'नहीं, नहीं' करती रही, पर उसे हरिप्रसन्न के सामने खींच ले जाकर सुनीता ने कहा, ''देखिए जी, यह मेरी छोटी बहिन सत्या है। आपसे सन्तरा नहीं छिला है, तो यह छील देगी। सेकिण्ड इयर में पढ़ती है।''

इतने में ही श्रीकान्त भी कमरे में आ गया। उसने कहा, ''तुम कितनी देर से यहाँ हो, हरि! सवेरे में कहाँ रहे?''

हरिप्रसन्न चारों ओर से इस प्रकार की आत्मीयता के बीच में अपने जीवन में अभी कहीं घिर पाया नहीं है। इससे ऐसी हालत में वह कुछ खोया-सा रह गया है। बातचीत में वह घाटे में नहीं रहता, पर जहाँ कहीं विशेष विषय की चर्चा ही नहीं हो,

किसी प्रकार की बुद्धि और चातुर्य-प्रयोग का अवकाश ही न हो, अर्थात् विद्वान-मण्डली न होकर घरेलू-मण्डली हो, वहाँ वह ऋण न रहे तो क्या हो? क्योंकि वहाँ बातें प्रत्यक्ष हृदय से होती हैं, इससे अधिकतर मूर्खता की होती हैं। और वह जिस दुनिया में, अथवा जिस भाव से दुनिया में रहता आया है, वहाँ सब कोई हृदय को बाद देकर बुद्धिमानी के साथ योग्यतापूर्ण बात करने की चेष्टा में रहते हैं।

उसने कहा, ''मैं अभी आया था।''

''तुम्हें मालूम है,'' श्रीकान्त ने कहा, ''आज सिनेमा की ठहरी है। चलोगे न? और यह उनकी बहिन सत्या है। तुम्हें लगता होगा, जाने कितनी होशियार होगी। इसी भूल-भुलावे में एम.ए. में गणित लिया है। पर अब बुद्धि चक्कर में है। सच यह कि विषय भी क्या है! लकीरों, अंकों और बीजों की मार्फत दुनिया को समझो। उसे आयत्त करो—क्यों भाई तात्त्विक दृष्टि से यही तो उस विज्ञान का उद्देश्य है। लेकिन यह दुनिया को समझने के उद्यम की एकदम मनहूस पद्धति है। सो, तुम जानते ही हो, हमने तो उस गणित से रास्ते चलने की जयरामजी से अधिक जान-पहचान नहीं बनायी है। तुम्हीं कहा करते थे, वह प्यारेरेस्ट साइन्स है। तुम्हारा वह प्यारा विषय था। सो भाई इस सत्या के गणित को सँभाल दो, और कुछ अँग्रेजी भी बता दिया करना बोलो?''

हरिप्रसन्न ने उस सत्या की ओर देखा। वह ऐसे खड़ी है जैसे उसे किसी षड्यन्त्र का पता नहीं है, और वह शिकार बनने को तैयार है। उसकी गढ़न में कोमल नवनीत ही है, और कोई पदार्थ नहीं है। और वह नवनीत ही उन आँखों में है। उसके पास न अभियोग है, न फरियाद है। वह खड़ी है कि—अच्छा, कर लो जो करो। कह लो जो कहो। मैं तो बोलती नहीं।

उसने हरिप्रसन्न की ओर देखा। परोक्ष में जीजाजी से उसका परिचय पाकर दाढ़ी की बात पर हँसती आ रही थी। एक आदमी के दाढ़ी है; और वह अभी अपनी बहन के घर पहुँचने पर उसे मिलेगा; और वह, अरे उसका मास्टर होनेवाला है; और जीजाजी का पुराना दोस्त है—उसके दाढ़ी! यह कल्पना रह-रहकर उसमें हँसी की फुहार छोड़ती थी। पर उस आदमी को सामने पाने पर उसकी दाढ़ी में उसे हँसी नहीं रही, अप्रसन्नता हो आयी। वह दाढ़ी अब उसे अरुचिकर ही लगी, हास्यकर होकर तनिक भी नहीं लगी।

और वह खड़ी है कि—'हाँ-हाँ-हाँ, मैं हूँ गणित में कमजोर! और कोई पढ़ाएगा तो मैं पढ़ लूँगी। पर—।'

श्रीकान्त ने कहा, ''बोलो, तुम तो चुप रह गये।''

सुनीता ने कहा, ''हाँ हाँ, उसमें बोलने की क्या बात है, पढ़ा क्यों न दिया करेंगे? देखिए,'' हरिप्रसन्न की ओर देखकर उसने कहा, ''आप कहें, यह बात पक्की

हो गयी। और देखिए, उसके बाद आप खाली हैं कि दुनिया को आप जैसे चाहें तोड़ें-मोड़ें, खाली हाथ और खाली पेट तो दुनिया का कोई भी काम नहीं हो सकेगा।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''मैं तो खुद एम.ए. पास नहीं हूँ।''

''खैर-खैर,'' श्रीकान्त ने कहा, ''यह मुझे सब मालूम है। और यह पक्का जब हो गया तो अब हम बात करेंगे कि जनता के लिए क्या करना होगा। कहो, इतना तो ठीक हुआ न?''

''अच्छी बात है। लेकिन पक्की बात कल कहूँगा।''

''कल!'' सुनीता ने कहा, ''भागकर एक टॉवेल तो भीतर से ले आ। ये फल साथ ले चलेंगे। (हरिप्रसन्न से) आपने यह कुछ भी तो खाया नहीं। अब चलिए, वहाँ खाइएगा।''

सत्या चली गयी और हरिप्रसन्न ने निरर्थक रूप से कहा, ''नहीं-नहीं।''

''उठो जी,'' श्रीकान्त ने बाँह में हाथ डालकर कहा, ''चलो, चलें। नहीं-नहीं, सन्तरा यहाँ छोड़ने की जरूरत नहीं। तुम्हें भारी हो तो लाओ मैं ले लूँ।'' और सन्तरा उठाकर हरिप्रसन्न को वह बाहर के कमरे की ओर ले चला। कहा, ''देखो, तुम लोग भी जल्दी आओ। वक्त ज्यादा नहीं है। इतने हम बाहर हैं।''

दफ्तर के कमरे में कुर्सी पर बिठाकर श्रीकान्त ने कहा, ''देखो हरि, आज ही हम सोच रहे थे। उसी समय तुम्हारी भाभी ने यह सत्या की ट्यूशन की बात सुझायी। बाबूजी पैंतीस रुपये दे देंगे। यह बात तो यों हल हुई।''

हरिप्रसन्न ने यत्नपूर्वक कहा, ''यह क्यों समझते हो कि ट्यूशन का काम मुझे पसन्द ही होगा?''

''तो क्या,'' श्रीकान्त ने कहा, ''मैं यह भी समझ सकता हूँ कि पसन्द नहीं होगा?''

''हाँ, मैं उत्पादक श्रम चाहता हूँ।''

''उत्पादक श्रम के लिए दिन के और घण्टे हैं। उत्पादक श्रम का यही तो अर्थ न कि किसी ठोस-पदार्थ को ठोंक-पीटकर उसे प्रयोजनीय बनाओ। लकड़ी को लेकर किवाड़ बना दिया, मिट्टी या धातु को लेकर बर्तन बना दिया, रुई लेकर कपड़ा या कपड़े के अर्थ कुछ और प्रयोजनीय वस्तु बना दी, खेत जोतकर अनाज पैदा किया—यही तो उत्पादक श्रम है?''

''लेकिन मैं अपनी जीविका भी उसी में पाना चाहता हूँ।''

''यानि जीविका के अर्थ श्रम करना चाहते हो, श्रम के अर्थ श्रम नहीं?''

''नहीं-नहीं, मैं शारीरिक अस्तित्व के लिए शारीरिक श्रम पर निर्भर रहना चाहता हूँ। पढ़ाने के काम में से जीविका पाना मैं ठीक नहीं समझता।''

''मुझे समझने दो। अगर एक घण्टे के श्रम ने तुम्हें पर्याप्त साधन जीने के दे

दिए, तो शेष घण्टों के लिए तुम श्रमहीन होने के अधिकारी हो सकते हो?''

''बात यह नहीं। जिस श्रम का बदला आजीविका के साधन के रूप में अर्थात् पैसे के रूप में मिले, वह श्रम शारीरिक होना चाहिए। अन्य श्रम निःशुल्क होना चाहिए। मैं मुफ्त पढ़ा दिया करूँगा।''

''मुफ्त पढ़ा दिया करोगे!'' श्रीकान्त ने झल्लाकर कहा, ''नहीं, मैं इसके बिलकुल खिलाफ हूँ। बाबूजी का कुछ तुमसे लेना नहीं आता कि वह मुफ्त पढ़वाएँगे। प्रतिफल की ओर से अनपेक्षित रहकर श्रम करने का तुम्हें शौक है तो क्यों नहीं शारीरिक श्रम मुफ्त करते? क्यों नहीं अपने लिए आवश्यक पैंतीस रुपये ट्यूशन से पाकर शेष समय उत्पादन श्रम को दान कर देते?''

''यह नहीं किया जा सकता,'' तर्कपूर्वक हरिप्रसन्न ने कहा, ''शारीरिक श्रम का दान करने से श्रमिकों के वर्ग का भला न होगा और प्रचलित मूल्यों में एक साथ गड़बड़ हो जाएगी। किसी प्रकार की गड़बड़ हो, यह सर्वथा अनुपादेय नहीं; पर शारीरिक श्रम का मूल्य गिर जाए और पैसा श्रम का न रहकर धूर्त चातुर्य का हो जाए, इस प्रकार की गड़बड़ हितकर न होगी। इससे मैं कहता हूँ कि अपनी रोटी मुझे पसीने के बल कमानी चाहिए और ऐसा हो लेने पर पढ़ाना या सेवा-कर्म करना चाहिए।''

श्रीकान्त झींक उठा। अवश्य हरिप्रसन्न के प्रति उसके अन्तःकरण की आस्था हृष्ट और पुष्ट हुई, पर उसके हृत्तल पर विक्षोभ भी हुआ। उसने कहा, ''हरि, तुम पागल हो। मैं कुछ नहीं जानता, तुम अपने जी की कर सकते हो।''

हरिप्रसन्न क्यों इस समय दैहिक श्रम पर इतना दृढ़ारूढ़ हो बैठा है। यह वह स्वयं अपने में टटोलकर नहीं पा सका। पर यह बोध उससे नहीं छूट सका कि वह दृढ़ता सोलह आने खरी नहीं है, कि कहीं पेंदी की ओर से वह सन्दिग्ध है, वहाँ उनमें मिलावट है।

उसने कहा, ''लेकिन मैं पढ़ाने से तो नहीं मुड़ता हूँ। तुम्हारी साली को पढ़ाकर मुझे खुशी ही होगी।''

और उसके चित्त में उदय हो आयी वह सत्या जो हँसी बिखेरती आयी थी, पर जिसकी हँसी उसने देखी नहीं, केवल सुनी ही थी, और जो मानों खड़ी है कि—''जो कहो, जो हो, मैं पढ़ लूँगी।''

''जी हाँ,'' श्रीकान्त ने कहा, ''बाबूजी ही तो हैं कि मुफ्त आपसे पढ़वाएँगे!'' और जोर से कहा, ''अरे भाई नहीं! जरा सुनो तो।''

सुनीता ने आकर पूछा, ''क्या बात है?''

''सत्या क्या बन रही है?'' श्रीकान्त ने कहा, ''आती है कि नहीं और सुना कुछ तुमने? हरी बाबू सत्या को नहीं पढ़ा सकेंगे।''

''क्या!'' सुनीता ने हरि की ओर बिना देखे पूछा।

"इन्हीं से पूछो।" सुनीता ने उस ओर देखा।

हरि को जाने क्या होने लगा। सुनीता के अधिकार-भाव में जैसे ऐसी निःशंकता है कि उसमें आपत्ति उठाने की जगह हरि के लिए भी नहीं है। मैं चाहती हूँ तब भी यह न होगा? क्यों जी, अब भी तुम कह सकते हो, 'न होगा'? अब जरा कहिए तो कि 'न होगा'! यह कहती हुई उन आँखों की ओर देख-देखकर हरि जाने क्या होता गया। उसने कहा, "भाभी, मैंने इनकार तो नहीं किया।"

सुनीता भी इस क्षण जाने किस धरातल पर उठ आयी। उसके लिए असम्भव ही हो गया कि कहे 'आप'। इस आदमी के लिए उसमें 'आप' कहीं रह ही न गया। उसने कहा, "तुम इनकार करना भी क्यों चाहोगे? तो तमाशे में चल रहे हैं न? सत्या, सत्या!"

हरि जैसे भूल चला कि उसके और इस नारी के अतिरिक्त और भी कुछ यहाँ है। उसने कहा, "भाभी...!"

"नहीं-नहीं," सुनीता ने निश्चयपूर्वक हाथ हिलाकर कहा, "उस बात में अब कुछ कहने-सुनने को नहीं है। (श्रीकान्त की ओर) चलो जी। इतनी देर तो हो रही है। (बाहर की ओर पुकारकर) अरी सत्या, ओ सत्या, चलना है कि नहीं?"

और श्रीकान्त चुप रहा। देखता रहा कि हाँ, हरिप्रसन्न परास्त, एनकारा-सा बैठा है।

उसने कहा, "हरि, अच्छा-अच्छा, अब चलो, उठो।"

और उधर सत्या आयी, इधर हाथ पकड़कर श्रीकान्त ने हरि को उठा लिया।

18

अँधेरे हाल में सामने चित्र-पट पर जो होता हुआ दीख रहा था, हरिप्रसन्न उसे देखता रहा। पर उसका मन वहाँ न था। उसके पास की कुर्सी पर सुनीता बैठी थी और उसके मन में होता था कि वह यहाँ से उठकर चला जाए। इतने में इण्टर्वल हुआ और हरिप्रसन्न ने देखा सुनीता पीछे कुर्सी पर सिर टिकाये अभी आँखें बन्द किये ही बैठी है, मानों कहीं और हो और श्रीकान्त उसके कन्धों पर शाल ठीक कर रहा है। सुनीता उस ओर से उदासीन है। श्रीकान्त ने बड़े प्रेम से शाल उसे ठीक-ठीक उढ़ा दिया है, उढ़ाकर पूछा है, "सुनो, देखो सर्दी न लगा लेना। पानी वगैरह कुछ चाहिए?" सुनीता इस पर कुर्सी पर ठीक हो बैठी है, जैसे जानकर आँख खोली हो और जरा हाथ हिलाकर देकर जतलाती है, "तुम्हारी कृपा है, कुछ नहीं चाहिए।"

"सोडा? चाय?"

"नहीं, कुछ नहीं।"

इस पर श्रीकान्त कुर्सी के पीछे सुनीता के कन्धों में बाँहें डालकर चित्र के बारे में बात करने लगा है।

उस समय हरिप्रसन्न अपने आप में पड़कर मन-ही-मन जाने कैसे अनुभव कर रहा था। वह इन लोगों के बीच में अपना होकर भी अपना नहीं है वह दूर है। दूर है।

सत्या ने कहा, "जीजाजी, यहाँ पानी मिलेगा?"

श्रीकान्त ने कहा, "हाँ, जरूर मिलेगा। लेमन मँगाऊँ?"

सत्या ने धीरे से कहा, "चाहती तो पानी हूँ।"

हरिप्रसन्न उस अवसर को लपक लेकर उठा। बोला, "मैं ला देता हूँ पानी।"

श्रीकान्त ने उठते हुए कहा, "अरे, तुम कहाँ पानी लेने जाओगे। बैठो-बैठो।"

"मैं अभी लाये देता हूँ।" और इससे पहले कि उसकी भाभी सुनीता कुछ कहे, हरिप्रसन्न अपनी जगह बनाता हुआ हाल से बाहर निकल गया।

सुनीता चित्र को देखकर पति के प्रति पीड़ा-ग्रस्त हो उठी है। वह पति के जैसे निकट आ गयी है, पर नहीं जानती कि उनके हाथों अपने को कैसे दे। स्वामी ने उसे चुपचाप शाल उढ़ा दिया है। उन्हें चिन्ता है कि उसे सर्दी न लगे। और वह सच उन स्वामी की है, उनकी अतिशय कृतज्ञ है; पर वह मीराबाई को समझना चाहती है। मीरा के पति की ओर से वह मीरा को भर्त्सना भी देना चाहती है, फिर भी मीरा को समझना चाहती है। मीरा पतिव्रता बिना हुए भी, अरे क्यों उसकी श्रद्धा-भाजन बनी है? वह अपने से पूछती है, "अरे, क्यों?" पति ही तो परम श्रेय है। उन्हें छोड़, उनसे विमुख और किसी और ही ओर उन्मुख होने पर भी मीरा लांछित क्यों नहीं है? वह अपने से झगड़कर चाहती है, मीरा को खण्डिता और लांछित ठहरा दे। किन्तु मीरा के प्रति उसके भीतर का स्नेह और वेदना उमड़ी ही आती है, भरी ही आती है। वह मीरा को समझ लेना चाहती है। मीरा को, जो राणा की रानी है पर राणा को भूलकर और रानीपन को बिसार कर जाने किस साँवलिया के पीछे कैसी न मदमाती बन गयी। सुनीता उस मीरा को पा लेना चाहती है। उसका मन पति के लिए विह्वल पीड़ा से भर गया है। इसलिए जब उससे पूछा गया—"कुछ चाहिए?" तब तनिक आँख उठाकर उन आँखों में भरी उसने अपनी दीन कृतज्ञता ही सामने बिछा दी। मानों कहा—तुम्हारी कृपा क्या कम है। उसके आगे और मुझे कुछ नहीं चाहिए।

"सोडा? चाय?"

"नहीं, कुछ नहीं।"

पति में क्या उसे प्राप्त नहीं है! पर उस मीरा को वह समझना चाहती है जो पति में सब श्रेय पा लेने के कर्तव्य से छूट गयी। मीरा के लिए दो बूँद आँसू डालकर वह पूछना चाहती है, 'अरी प्रेममयी, तैने वह कौन सा प्रेम पाया जिसने तुझे कठिनता

दी कि पति के हृदय की पीड़ा को तू बिना पिघले सह ले? अरी, तू किस भयंकर प्रेम को दुनिया को दिए जा रही है। जो अपने पति के जी को तोड़ता है और उसको टूटते देखकर भी वह प्रेम प्रेम ही रहता है। ओ मीरा, तू अपने मन में बिथा मुझे पाने दे, मैं भी आज घोर बिथा पाकर अपने ऊपर झेल लेना चाहती हूँ। वह बिथा, जो आनन्द की तोल के ही बराबर है, नहीं तो शेष सबसे भारी है।'

उसने पाया कि पीछे उसके कन्धों में बाँह डालकर प्रेम से पति ने पूछा है—''सुनो, तसवीर अच्छी लगी?''

सुनीता ने बहुत धीमे स्वर में कहा—''हाँ।''

''बहुत अच्छी तसवीर है।''

सुनीता ने और धीरे स्वर में कहा—''हाँ-आँ।''

''मीरा का पार्ट बहुत अच्छा निभाया गया है।''

सुन न पड़े ऐसे सुनीता ने कहा—''हाँ-आँ।''

''और राणा कुम्भा...सुनीता मैं समझता हूँ उसके मन की वेदना ही कहानी की जान है।''

सुनीता ने मानों फिर भी कहा ही—''हाँ...।''

''सुनीता, मीरा के लिए राणा का विष का प्याला मैं समझ सकता हूँ। धर्म-विद्वेष मैं समझ सकता हूँ। मीरा को तोप से उड़ा दें, तो मैं उसकी व्यथा को समझ सकता हूँ। प्रेम ही क्या जीवन नहीं है! उससे वंचित होकर व्यक्ति कैसे न जड़ हो जाए! सुनो, राणा के लिए बिलकुल पागल हो जाने की बात है, मैं तो उसकी इसी दृढ़ता पर स्तम्भित हूँ कि वह निर्दय होकर ही रह गया।''

वह सब सुनती गयी। जो दीखने को था, वह भी देखती गयी। उसे मालूम हुआ कि सत्या ने पानी चाहा है और हरिप्रसन्न पानी लेने चला गया है। पर फिर भी सब देखकर, सब सुनकर, वह उस समस्त से अलग, अछूती, ऊँचे पर ही कहीं रहे रही।

''सुनीता, लेकिन कृष्ण बनवारी की मूर्ति की वह भक्ति जो व्यक्ति को सब कर्तव्यों से विमुख कर दे और उस कृतज्ञता को औचित्य भी प्रदान करे मेरी समझ में नहीं आती। मीरा मेरी समझ में नहीं आती।''

सुनीता तो सुनने की स्वीकृति में कहती ही गयी—''हाँ।''

''सुनीता तुम्हें क्या हुआ है? बोलो, तुम कुछ वह अनुभव करती हो जो समस्त लौकिक कर्तव्यों से तुम्हें मुक्त कर दे? यदि ऐसा कुछ है, तो उसका बहिष्कार ही करना होगा।''

''हाँ...।''

'' 'हाँ' नहीं...कुछ कहो सुनीता!''

सुनीता ने आँख ऊपर उठाकर स्वामी को देखा। वे आँखें आधी खुलीं, आधी

झँपी थीं। वे शनैः-शनैः और खुलती गयीं, मानों जो वह कह रही है, जान से अधिक उसे देखती है। उसने कहा—''अलौकिक ही कुछ हो सकता है जो लौकिक का आधिपत्य अस्वीकार कर दे। बुद्धि अतीत जो है, उस चलने के लिए बुद्धि के पैर और तर्क-स्टेप्स नहीं काम देंगे। इससे मैं सहमत हूँ कि लौकिक तो अलौकिक का बहिष्कार ही करे, पर अलौकिक इससे असत न हो जाएगा। मीरा दस-बीस नहीं हुई है, इससे अलौकिक को निश्चिन्त रहना चाहिए कि अलौकिक की लौकिक पर हावी होने की योजना नहीं है। मैं समझती हूँ, लौकिक के दिशा-दर्शन, मार्ग-दर्शन के हेतु से अलौकिक यदा-कदा घटित होता है। बहिष्कृत तो उसे करना ही होगा, पर उससे चेतावनी भी ले लेनी होगी। मीरा को समझती मैं भी नहीं हूँ, पर समझती हूँ वह समझी जा सकती है। मीरा के हृदय को राणा के हृदय-प्रेम की प्यास से कहीं उत्कट प्रेम की व्यथा को धारण रखे रहना पड़ा—क्या तुम यह नहीं मानते?''

श्रीकान्त ने जोर से कहा—''नहीं।''

सुनीता ने हौले-से पलक गिरा लेकर कहा, ''तब मैं तुम्हें कैसे मना सकूँगी?''

श्रीकान्त का हाथ सुनीता के कन्धों से हट गया। उसने कहा, ''तुम कह सकोगी क्या कि राणा के प्रति मीरा ने अन्याय नहीं किया? कि राणा के प्रति मीरा ने अप्रेम भाव नहीं दरसाया? अप्रेम अन्याय है।''

सुनीता ने आँखों को लगभग बन्द करके हौले-हौले स्पष्टतापूर्वक कहा, ''मैं तो इतना ही कहती हूँ कि राणा ने अन्याय नहीं किया। यह मैं राणा की ओर से भी कहती हूँ, मीरा की ओर से भी कहती हूँ। राणा के मन की व्यथा की ज्वाला में जिन कृत्यों को क्रूर कहा जावे, वे ऐसे भस्म हो जाते हैं जैसे यज्ञ में समिधा। मैं तो राणा के साथ रो ही सकती हूँ। पर मीरा के साथ भी मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाह लूँ। मीरा के मन को जानने पर मीरा को दण्ड देने योग्य जी नहीं रखा जाएगा।''

श्रीकान्त ने सुनीता के हाथ को अपने हाथ में लेकर भावावेग में कहा—''सुनीता!''

सुनीता का शरीर मानों बहना चाहने लगा। उसने कहा, ''मुझे माफ कर दोगे?''

श्रीकान्त ने फिर इतना ही कहा, ''सुनीता!'' और धीमे से अपनी गोद में से उठाकर उसका हाथ उसी की गोद में रख दिया। वह हाथ निश्चेष्ट कहीं धरा रहा, और सुनीता विभोर, अभिभूत, सिर को पीछे कुर्सी की पीठ पर टिकाकर बैठ गयी। तभी उसने सुना, हरिप्रसन्न कह रहा है—'पानी लीजिएगा?'

उसने आँखें खोलीं। उसे यह अच्छा नहीं लगा—''पानी लीजिएगा?'' जैसे वह कहीं कृत्रिम हो। बोली—''हरि बाबू। पानी लाये हो? लेकिन सर्दी में क्या पानी से खातिर होगी?''

हरिप्रसन्न ने जवाब न देकर श्रीकान्त की ओर बढ़कर कहा—''आप लीजिएगा?''

श्रीकान्त ने भी 'आप' पर कुछ विस्मित होकर कहा, ''नहीं भाई, मुझे नहीं चाहिए।''

स्थिति में जैसे कहीं कुछ सलवट आ पड़ी है। सुनीता ने बढ़कर कहा, ''सत्या, तैंने पानी पी लिया?''

सत्या ने कहा, ''हाँ, जीजी!'' और फिर कुछ खटाई से कहा, ''पर जीजी, पानी कुछ खारी था।''

हरिप्रसन्न ने पानी का कुल्हड़ हाथ में लिये-लिये कहा, ''तो इसे मैं फेंक दूँ?''

''फेंक क्यों दोगे?'' सुनीता हाथ बढ़ाकर बोली, ''लाओ, मुझे दो।''

लेकिन हरिप्रसन्न ने कहा, ''आपको प्यास नहीं है।''

हँसकर सुनीता बोली, ''नहीं-नहीं। मैं भूल गयी थी, मुझे प्यास है।'' और हाथ बढ़ाकर उसने हरिप्रसन्न के अनिश्चिय हाथों से कुल्हड़ छीन लिया।

''खड़े क्यों हो, बैठो हरि बाबू!''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''मैं घर जाऊँगा। मेरी खेल में तबीयत नहीं लगी। और मुझे अब याद आया, बहुत सवेरे मुझे काम भी है।''

श्रीकान्त ने कहा, ''पागल हुए हो! बात क्या है। खेल ऐसा खराब नहीं है।''

''मुझे इजाजत ही दीजिए,'' हरिप्रसन्न ने कहा, ''देखिए, हुआ तो कल मिलूँगा। तभी ट्यूशन की बात का जवाब दूँगा।''

''नहीं जी,'' श्रीकान्त ने कहा, ''आखिर आधे-पौने घण्टे में हम भी चलते हैं। ऐसी भी क्या तबाही है। खेल बेहद ही नागवार हो तो बहुत करो, आँखें मींच लेना।''

सत्या बोली, ''आपको क्या है, जीजाजी! कोई जाना चाहता है और किसी को काम है तो वह क्यों नहीं जाएगा?''

जाने सत्या यह सब किस तरह कह गयी। और कहकर फेंककर एकदम चुप हो गयी।

सुनीता को कुछ पकड़ न मिल रहा था। अकारण तो कहीं कभी कुछ होता नहीं। लेकिन यहाँ एकदम किस बात को कारण मान लेना होगा।

सुनीता ने जोर से कहा—''सत्या!'' और सत्या की ओर देखा तो सुनीता मुस्करा पड़ी। सत्या के चेहरे पर यद्यपि एक गहरी झेंप का-सा भाव था फिर भी विनोद वहाँ से सर्वथा लुप्त था। सुनीता ने मन में कहा—'हूँ!'

तभी खेल की घण्टी बजी। हरिप्रसन्न सुनीता की कुर्सी के बराबर की कुर्सी के ही आगे खड़ा था। सुनीता ने दोनों हाथों से उसकी बाँह को पकड़कर उसे कुर्सी में बिठा दिया। कहा, ''बैठो-बैठो। देखते नहीं, खेल शुरू होनेवाला है!''

हरिप्रसन्न और कुछ न कर सका, कुर्सी में घर ही गया। बैठते-बैठते उसने कहा, "अच्छा भाभी, तुम्हारे लिए मैं बैठ जाता हूँ।"

"हाँ-हाँ, मेरे लिए।"

'तुम्हारे लिए बैठ रहा हूँ' यह कह देकर और भाभी का उत्तर अपने भीतर लेकर, जिस स्थल पर उस भाभी के दोनों हाथों ने उसकी बाँह को पकड़कर बैठा लिया था, वहाँ मानों उस स्पर्श को अब भी अनुभव करते हुए हरिप्रसन्न कुर्सी में बैठा अपने में डूबता गया।

खेल शुरू हो गया और अँधेरा हो गया।

हरिप्रसन्न की देह पर उस कोमल सबल स्पर्श ने जो काँटे उठा दिये थे, वे तो अब भी चुप बैठते नहीं हैं, सिहार ही रहे हैं। उसके गात में रह-रहकर कँपकँपी हो आती है। यह कौन नारी है जो दोनों मुट्ठियों में उसके शरीर को पकड़कर इस कुर्सी में बाँध देगी जब कि वह स्वयं जाना चाहता है! कौन है जो बिना अधिकार अपना अधिकार रखेगी! जब वह एक की पत्नी है तब दूसरे की कौन है! कौन है जो मनुष्य में उद्धतता जगाने से डरती नहीं है! क्या वह उसके पुरुषोचित औद्धत्य का आवाहन करती है! अरे कौन है यह जो संकुचित की जगह स्वाभाविक है... ?

उसने पाया, उसके कान के पास मुँह लाकर सुनीता कह रही है, "हरि बाबू, क्यों चले जा रहे थे?"

हरि ने कहा, "कुछ नहीं, कुछ नहीं...।"

सुनीता ने कहा, "तुमने मुझे भाभी कहा, हरिबाबू, मैं तुमसे कहती हूँ कि कोई भागे क्यों? अपनी पीठ की तरफ कोई भाग सका है! तुम भी नहीं भाग सकोगे। यह फिल्म तुम्हें बहुत बुरी लगती है?"

"नहीं-नहीं...।"

"हाँ, कोई चीज भी क्यों बुरी लगे। और बिना चित्र की सहायता के मीरा के नाम पर तो चित्त यों ही भीग आता है। मैं तुमसे पूछती हूँ, हरिबाबू, कि जब मैंने कहा है तब तुम ट्यूशन क्यों नहीं ले लोगे? मैंने कहा है, क्या इसलिए?"

हरि ने कुछ गुनगुनाया—"हाँ-नहीं।"

"सत्या स्वप्नशील लड़की है और उसके स्वप्न में भावना भी है। इससे मैं समझती हूँ, वह सृजन भी कर सकती है। भाव में वह अभाव स्रष्ट कर लेगी और सूने अभाव के मध्य में भरने के लिए रंग। तुम ऐसी लड़की की सहायता कर सको और उसके पिता तुम्हें बिना कुछ रुपये दिये वह सहायता न ले सके, तो इसमें कुछ हर्ज है?"

हरि चुप सुनता रहा।

"देखो, हरि बाबू! तुम बड़े हो। लेकिन हम लोग स्त्री हैं। हमारा यह काम

है कि हम पुरुष को सामने चलावें। जब तक वह सामने बढ़ता है, हम पीछे-पीछे हैं। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती हैं। हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाए। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा। पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है। किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे। हरि बाबू, मैं देखती हूँ तुम इनकार न कर सकोगे। तुम जो संकट में आगे रहे हो, जो आगे-पीछे संकट में ही रहे हो, तुम पीछे नहीं भागोगे।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी, मुझे क्षमा करना। मैं देहली छोड़कर चले जानेवाला हूँ।''

''क्या-आ?'' सुनीता ने कहा।

''मैं यही देखता हूँ।'' हरिप्रसन्न बोला।

सुनीता ने कहा, ''यह न होगा, हरिप्रसन्न। देखना, यह न होगा।''

19

उसके बाद सुनीता ने कुछ नहीं कहा और मुँह मोड़कर चित्र ही देखती रही। हरिप्रसन्न भी अपने आप में हो रहकर सामने दीखते हुए चित्र में लीन हुआ। पर रह-रहकर उसके मन में उठता था कि पास की कुर्सी पर बैठी हुई नारी के एक हाथ को अपने दोनों हाथों में लेकर धीमे से पुकारकर कहे, ''भाभी, मैं हूँ। मिटा नहीं हूँ। मैं हूँ।''

सिनेमा समाप्त हो गया और हाल से चलने लगे तब सुनीता ने श्रीकान्त से कहा, ''अब रात को वह कहाँ जाएँगे? उनसे कहो घर ही न चले चलें।''

श्रीकान्त ने कहा—''हाँ-हाँ'' और आगे अलग-अलग जाते हुए हरिप्रसन्न के पास पहुँचकर और उसका हाथ पकड़कर श्रीकान्त ने पूछा, ''कहो हरिप्रसन्न, खेल कैसा रहा? तुम सुस्त क्यों हो? पसन्द नहीं आया?''

हरिप्रसन्न गुनगुनाया—''नहीं-नहीं, अच्छा।''

''अब घर ही चल रहे हो न? इतनी रात गये कहाँ जाओगे?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''नहीं, मैं अपनी जगह ही जाऊँगा।''

श्रीकान्त ने आग्रहपूर्वक कहा, ''कोई खास काम हो तो और बात है। नहीं तो जैसा वहाँ सोना, वैसा घर सोना।''

''हाँ-आ, लेकिन मैं अपनी जगह ही जाऊँगा।''

सुनीता और सत्या पीछे आ रही थीं। सुनीता ने पुकारकर कहा, ''हरि बाबू, हमारे साथ ही चल रहे हैं न?''

सत्या ने सुनकर कहा, ''तो जीजी, यह बीच से ही उठकर चले नहीं गये थे? मैं तो समझती थी कि...।''

आगे से श्रीकान्त ने कहा, ''यह तो अपनी जगह ही जाने की कह रहे हैं।''

सुनीता ने बढ़कर पूछा, ''क्यों-ओं, हरिबाबू?''

हरिप्रसन्न ने धीमे से कहा, ''वहीं ठीक रहेगा।''

सुनीता ने कहा, ''अच्छा, कल दोपहर घर आइएगा। ये तो होंगे नहीं, पर सत्या की कल छुट्टी है। कल दोपहर के बाद एक या दो बजे आएँगे?''

हरिप्रसन्न ने हठात मुस्कराकर कहा, ''देखिए।''

''देखिए क्या। तो नहीं आ सकेंगे?''

''आ तो आ ही गया। नहीं तो। भरोसा यहाँ किसका कीजिए।''

''नहीं,'' सुनीता ने दृढ़ होकर कहा, ''कल आइए, हो तो कुछ पहले ही आ जाइए। भोजन हमारे यहाँ ही कीजिए। और कुछ सत्या का पढ़ना-वढ़ना देखिएगा। यह सत्या कह रही है कि—फिर आप खेल के बीच में से ही चले नहीं गये थे? वह इस पर आपको...क्यों री सत्या, यह क्या करती है!'' बात यह थी कि सत्या ने जीजी के पीछे जोर से एक चिकोटी भर ली थी।

''भाभी जी,'' हरिप्रसन्न ने कहा, ''यही समझिए कि मैं आऊँगा। नहीं आ सका तो क्षमा करने को तैयार रहिएगा।''

''और नहीं तो क्या दण्ड देने का अधिकार मुझे मिला है, कि क्षमा नहीं करूँगी? हाँ, अगर आप कहें कि दण्ड मैं आपको दे सकती हूँ, तो अवश्य क्षमा करना, मैं आपको पसन्द न करती।''

''अच्छी बात है, दण्ड दे लीजिएगा।''

श्रीकान्त को बिना बीच में लिये भी हरिप्रसन्न की सुनीता के साथ इतनी बातें हो गयीं, निश्चय ही यह श्रीकान्त को अच्छा लगा। उसने देखा कि सुनीता वाक्शून्य नहीं है। वह भली प्रकार सवाल-जवाब कर लेती है, और न वह रूखी, न फीकी है। अपनी बात में वह रस ले भी सकती है, दे भी सकती है। यह अनुभव जैसे श्रीकान्त को बहुत दिनों बाद हुआ और नवीन लगा। यह भी कहें कि यह अनुभव उसे प्रिय लगा। उसे लगा कि जीवन नीरस रहे यह आवश्यक नहीं है, यह भी कि सचमुच हरियाली उनके बीच से बिलकुल निर्मूल नहीं हो गयी है।

उसने कहा, ''हरि, धर्मशाला वाला मकान छोड़कर तुम अगर हमारे यहाँ नहीं रहना चाहते, तो एक निजी किराये का मकान कल ही ले लो। शाम को कचहरी से लौटने पर तुम घर मिलोगे ना। बस तब हम दोनों मकान ठीक करने चल देंगे। क्यों?''

"हाँ-आ।"

ताँगे में बैठते-बैठते सुनीता ने कहा, "तो कल ग्यारह साढ़े-ग्यारह बजे।"

हरिप्रसन्न ताँगे के पीछे सुनीता को देखता धरती पर खड़ा रह गया। वह क्या कहे? सुनीता ने फिर कहा, "आइएगा न?"

पर हरि क्या कहे? क्या कहे?

और उसने वहाँ सामने भाभी के पास ही बैठी सत्या को भी देखा, जो दोनों पतले-पतले होठों को भींचे बैठी है कि जैसे कि मुँह के भीतर कुछ वस्तु है जो फूटकर खिलखिलाती निकल ही आना चाहती है, और उसी को भीतर बरबस मूँद रखा है। वह क्या कहे?

ताँगा चला, उन दोनों ने हाथों को मिलाकर नमस्कार-सा किया।

सड़क पर खड़े-खड़े हरिप्रसन्न ने भी वैसा ही-सा कर दिया।

श्रीकान्त ने अपनी जगह से ही पुकारकर कहा, 'गुडनाइट!' अनायास उसके मुँह से ध्वनित हुआ, "गुडनाइट!"

और ताँगा चला गया।

पैदल चलकर हरिप्रसन्न अपने स्थान पर आ गया। धरती पर बिछी चटाई पर अपना संक्षिप्त बिस्तर डालकर मोमबत्ती जलाकर, चाहने लगा, सोये; पर नींद आती नहीं और वह सोचता है, क्या करना होगा। सुनीता नाम की एक स्त्री ने जिसको कह दिया न होगा, वह क्यों न होगा? वह किस अधिकार से ऐसा कह दे सकी? वह कौन है? कौन है?

वह सोचने लगा कि स्त्री क्या है, पुरुष क्या? इस जीवन में चलकर पहुँचना कहाँ है? किससे भागना है, और किस ओर भागना है? नाते क्या हैं और विवाह क्या है? और यह कम्बख्त क्या चीज है जिसको प्रेम का नाम देकर आदमी ने चाहा बाँध दे, पर जो वैसे ही न बँध सका जैसे वृक्ष से आँधी नहीं बँध सकती। वह क्या है, कौन है?

वह चाहने लगा कि कुछ समाधान उसके पास आ जाए, कुछ सान्त्वना। पर उसको सब-कुछ झमेला ही दिखाई दिया और धीरे-धीरे उसके पास नींद आ गयी।

20

सत्या रात को अपनी बहिन के पास रही। सुनीता की इच्छा थी कि जब अगले रोज हरिप्रसन्न आए तब सत्या को वह उसके सामने कर दे। सत्या को पढ़ाने से हरिप्रसन्न

विमुख होगा, यह उसके मन को नहीं लगता था और सोचती थी कि सत्या और हरिप्रसन्न के बीच के संकोच को उठा दिया जाए तो क्या एक पन्थ से दो काज नहीं सिद्ध हो जाएँगे! इस विषय में उसमें स्त्री-सुलभ उत्सुकता थी।

यह था, पर उसका जी भीतर से हल्का न होता था। वहाँ जैसे कोई प्रश्न उलझ गया था। वह मानों विश्वस्त होकर भी सन्दिग्ध थी कि हरिप्रसन्न सीधा चलता हुआ उसकी स्कीम में आ मिलेगा, और सिनेमा हाल की हरिप्रसन्न की विमनस्कता अब भी ठीक तरह से उसकी समझ की पकड़ में न आ रही थी।

उसका हृदय उसे बताता था कि वह आदमी हरिप्रसन्न जितना है उतना ही नहीं है। साहसिक हो, पर भीरु भी है। निश्चित दीखता है, पर वेदना से अछूता भी नहीं है। उसमें वेदना है, वेदना है—सुनीता का मन उसे दोहरा-दोहराकर मानों यह सूचना देता था। किसको लेकर वह वेदना है? इस बारे में जैसे उसके मन के भीतर कुछ अनुमान था। फिर भी मानों उसका पूरी तरह लेखा-जोखा वह खोज लेना चाहती थी। वह सोचती थी कि उसकी बहिन सत्या बुरी लड़की नहीं है। और इस हरिप्रसन्न में जो प्राणों की बेचैनी है, उसको भी एक लगाम की जरूरत है। बड़े बाल और अन-सँवारी दाढ़ी-मूँछ का बखेड़ा कोई बखेड़ा नहीं है। चुटकी-चुटकी में वह तो सब दूर हो जाएगा, फिर तो असाधारण और आवारा वह नहीं दीखेगा। और तब उसके भीतर की गति संयत होकर उसे व्यावहारिक सफलता के मार्ग पर ले बढ़ेगी।

मुझे शंका नहीं है कि मन ठीक हो तो गृहस्थ हरिप्रसन्न समाज के लिए बहुत उपयोगी हरिप्रसन्न होगा—उसने सोचा। लेकिन वह कहाँ-कहाँ रहता है? क्या-क्या करता है? क्या उसका भेद मैं पाऊँगी? क्या अन्तस्थ अभाव है और क्या तज्जनित प्रेरणा जो उसे दुनिया में से बिन टिकाव घुमाए जा रही है, चलाए जा रही है? किस रिक्तता को लेकर वह यों भटकता-भटकता अपनी पूर्णता की खोज में है? यह भेद क्या मैं पाऊँगी?

आवारगी में सुनीता को सदा एक प्रकार का आकर्षण रहा है। शायद इसलिए कि वह स्वयं सदा घर की मर्यादा में रही है। दूरी दृश्य में रुचिरता यों भी ला देती है। इस आवारगी के प्रति उसके प्रति मन में सहानुभूति रही है। यह भी कह सकते हैं कि कुछ-कुछ कलख भी रही है। वह चरित्र उसके मन के निकट अप्राप्त ही रह जाता है कि जिसके लिए सब घर डेरे हैं और कोई डेरा घर नहीं है; जो बिना दावे, बिना अधिकार, यहाँ विचरण करता है; जो जैसा बाहर है, वैसा ही जेल में है। जगत की नाना वस्तुओं, नाना मनुष्यों में से जिसके लिए कोई द्रव्य-सम्पत्ति नहीं है और कोई व्यक्ति जिसके लिए नातेदार नहीं है; जिसके लिए यहाँ विशिष्ट कुछ है ही नहीं, सब सामान्य है, या कह लो, सभी कुछ विशिष्ट भी है; जो बिना परिग्रह, बिना गेह नातों से टूटा, परिचयापेक्षाहीन, अतिथि की नाईं विश्व में डोलते रहने को ही बना

है—वह क्या है? विधाता ने उसमें क्या अर्थ रखा है?

'लेकिन नहीं,' सुनीता सोचती, 'हरिप्रसन्न निष्प्रयोजन निष्फल नहीं होने दिया जाएगा। वह नहीं है व्यर्थता के लिए। मैं जब अनायास उसकी भाभी बनी हूँ तो मैं देखूँगी कि वह प्रयोजनयुक्त, नातों-रिश्तों से भी युक्त, घरबारी और कारबारी होकर यहाँ रहता है।'

वह सोचती कि स्त्री किसलिए है, यदि पुरुषों को प्रयोजन-दान, फल-दान में नियोजित नहीं करती? क्या स्त्री इसलिए है कि पुरुष को अपने से निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृति को बन्ध्या? क्यों दुनिया को रेगिस्तान नहीं होना है, क्यों उसको लहलहाकर हरियाली को उठना है, इसलिए क्या पुरुषों के इस जगत में विधाता ने हमें, स्त्रियों को नहीं सिरजा है? नहीं-नहीं, हरिप्रसन्न यों खुला-ही-खुला, छूटा-ही-छूटा, एक-ही-एक कैसे रहने दिया जाएगा?

अपने स्त्रीत्व से लाचार बनी वह देखती है कि परम पुरुष का अभीप्सित वह नहीं है। निष्फलता ही जगत् का निष्कर्ष नहीं है। नकार सार नहीं है। मृत्यु यदि सत्य है तो तभी जब जन्म उसके आगे है। जन्मपूर्वक ही मृत्यु जी सकती है।

आदि, आदि उसने सोचा है और उसने सत्या को उपदेशपूर्वक तैयार कर दिया है कि वह हरिप्रसन्न से हँसी बहुत न करे, आज्ञाकारिणी रहे और शिष्टतापूर्वक उससे पढ़ने को राजी रहे। उसने मानों नये सिरे से निश्चय कर लिया है कि सत्या बहुत ठीक लड़की है, और सुन्दर है, और सुशील है। उसने सत्या को काम में व्यस्त रखा है। उसको बराबर याद है कि आज हरिप्रसन्न दोपहर से पहले ही यहाँ आ जावेगा, भोजन यहीं करेगा और यदि जाना ही पड़ा तो रात से पहले नहीं जा पावेगा।

श्रीकान्त ने भी अनुरोधपूर्वक उससे कहा है कि जब अदालत से वह लौटे हरिप्रसन्न उसे मिलना चाहिए। ऐसा न हो कि उससे पहले वह किसी भाँति भी जाने दिया जाए।

सत्या के मन में, किन्तु इस आदमी हरिप्रसन्न के बारे में कोई शिष्ट उत्सुकता का भाव नहीं है। वह हार्दिकता के साथ इस मनुष्य के विषय में कुछ कर सकती है तो मुँह दबाकर हँस ही सकती है। कुतूहल है तो उसे यह है कि उसकी जीजी और जीजाजी के मन में उस व्यक्ति के लिए सौहार्द किस भाँति है। सत्या के मन में तो उस आदमी को किसी तरह छकाने की ही बातें उठती रहती हैं। उसका हृदय सहसा ही हरिप्रसन्न के प्रति विरोधी हो उठा है, और उसे यह नितान्त अयुक्त लगता है कि जीजी में उस व्यक्ति के प्रति कुछ भी कोमल भाव हों। उसका मन बार-बार इस बात पर गया कि हरिप्रसन्न से कहने के लिए क्यों कोई भी बात जीजी के पास होनी ही चाहिए। सिनेमा-हाल में आखिर क्यों जीजी उसके कान के पास मुँह ले जाकर कुछ कहती रही!

उसकी बार-बार इच्छा होती है कि जीजी के आदेशानुसार हरिप्रसन्न की प्रतीक्षा में वह जो खाने-पीने के व्यंजन बनाने में मदद दे रही है, सो क्यों न उन सबको बिगाड़ कर रख दे! क्यों किसी चीज में एक साथ ज्यादा मिर्च न झोंक दे और दूसरी में नमक बिलकुल छोड़े ही नहीं! लेकिन वह ऐसा कर नहीं पा रही और मानों अपने विरुद्ध होकर सब-कुछ बड़े यत्न और ऐहतियात के साथ वह बना रही है। बस, जीजी के बिना जाने अपने मन की तो उसने एक ही बात की है—वह यह कि पिस्ते और इलायचियाँ चिपकाकर उसने मैदा के पेड़े और बर्फी बनायी है। बस, उसने ऐसी कारीगरी के साथ बनायी है कि मजाल है कि वह बेढंगा हरिप्रसन्न आकर एक साथ ही उन्हें मुँह में न रख ले! तब सत्या ने सोचा है, उस मूर्ख आदमी की मूर्खता पर धोती मुँह में देकर खूब हँसेगी।

श्रीकान्त अपनी साधारण खाने-पीने से निबटकर कचहरी जाने लगा तब कहा, ''देखो, हरिप्रसन्न को ठहरा रखना। आज तीन केस हैं, इससे लौटने में थोड़ी देर भी हो जाए तो उससे कहना वह ठहरे।''

सत्या ने जाते-जाते टोककर कहा, ''जीजाजी, वह मुझे गणित पढ़ा भी देंगे?''

श्रीकान्त ने हँसकर कहा, ''आज उसका खुद इम्तहान लेकर न देख लेना!''

सत्या ने कहा, ''मैं उन्हें फेल भी कर सकती हूँ, जीजाजी? वह फेल हुए तो आप लोग मुझसे बुरा तो न मानेंगे?''

कहकर सत्या को सोच हुआ कि उसने यह बात कह दी!

सुनीता ने बीच में पड़कर कहा, ''लौटते हुए कुछ फल लेते आना। भूलना नहीं।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा,'' और कहा, ''देखो, आज सत्या को हरि की जी खोलकर परीक्षा लेने देना। मैं यह तो नहीं जानता कि हरि प्रकाण्ड पण्डित है, लेकिन देखना है, सत्या को हिम्मत कितनी है।''

कहते-कहते श्रीकान्त कचहरी चला गया और सुनीता ने कहा, ''सत्या, तू खा-पी के निबट ले।''

सत्या ने कहा, ''और तुम जीजी?''

''मेरी क्या है! तू जल्दी से खा-पीकर निबट डाल।''

''नहीं, मैं तुम्हारे साथ ही खाऊँगी।''

''अहँ, चल-चल। ले थाली, बैठ।''

इसके ऊपर अब और क्या हो? थाली लेकर बैठते-बैठते सत्या ने पूछा—''और तुम?''

''मैं? मेहमान से पहले मैं खाकर बैठ जाऊँ?''

सत्या मन में विद्रोही पड़कर अपनी थाली का खाना खाने लगी।

21

किन्तु हरिप्रसन्न नहीं आया। बारह बज गया। एक बज गया, दो बज गया, वह नहीं ही आया।

अब तक प्रतीक्षा कर रही थी। अब उस प्रतीक्षा को तोड़-ताड़कर मानों झटककर सुनीता ने अपने से दूर कर दिया। वह भूल गयी कि हरिप्रसन्न के आने और खाने पर उसने अपना खाना स्थगित कर रखा था। जैसे कि उसे याद रहा कि उसने खाना नहीं खाया है, अब तक चौके से जाकर वहाँ थोड़ा-बहुत काम निकाल ही कुछ-न-कुछ किये जाती थी, अब उसने चौके को अपने से बिलकुल भुला दिया। स्टडी रूम में आकर पहले वह आराम कुर्सी पर गुम लेटी रही, फिर सितार खोलकर उसे बजाने लगी।

इन वाद्यों को छुए कितने दिन हो गये! मानों वह दूसरा जन्म था। विवाह के इस ओर तो कभी जी भरकर इन यन्त्रों के साथ उसे मन बहलाने को समय मिला नहीं है। आज वह उस भूले सितार को छेड़ उठी है।

सितार के सुर मिलाकर उसने बजाना आरम्भ किया। जाने भीतर क्या रुका था जो सितारों के सुरों में बज उठा। उस सुर में प्रणय भी नहीं है, अभियोग भी नहीं है, मात्र एक निवेदन जैसे है। उसमें शिकायत नहीं है, केवल उच्छ्वास है। सितारों में किसके प्रति यह संगीत तरंगित हो रहा है, वह नहीं जानती। वह तो बजाये जाती है, उस संगीत के भीतर का प्राण उसकी आत्मा में से निकलकर सितार के तार के सुर के सहारे गूँज रहा है कि इस शून्य की गोद में खो जाए, वह गूँजकर कमरे में भर गया है। वह बजाये जा रही है।

हरिप्रसन्न के न आने पर सत्या ने इससे पहले जीजी को एकाध बार छेड़ा था। अब वह जीजी को इस भाँति पाकर डर-सी रही है। यह सत्या संगीत के सुर में विभोर हो जाती है। अपने कालिज में सबसे अच्छा वायलिन वही बजाती है। जीजी की अँगुलियों से निकलते हुए इस सुर को सुनकर सत्या घबराने लगी। उसने सुनीता से कहा, ''जीजी, ओ जीजी! आज भूखी रहोगी, खाना न खाओगी?''

सुनीता ने बजाते-बजाते ही कहा, ''सत्या, चौका सँभालकर रख दे। मैं फिर खा लूँगी।''

सत्या ने कहा, ''नहीं जीजी, तीन बजते हैं। कोई बात है कि तुम भूखी रहो, चलो खा लो।''

सुनीता ने कहा, ''अच्छा चल, मैं आयी। तू इतने परोसकर रख।''

जैसे बत्ती सोने से पहले एक साथ विस्फारित हो, अतिशय उद्दीप्ति से जल उठे, मानों वैसे ही सुनीता की अँगुलियों की कठोर ठोकर से दो एक अतीव सशक्त काँपते

हुए स्वर तार में से निकले। गूँज से अधिक उनमें चीख थी। फैले नहीं, शून्य में भरे आकाश को चीरते हुए चढ़ते गये। चढ़ते गये। दम रहा तब तक चढ़ते गये, कि अन्त में दम हार वे स्वर शीर्ष से गिरकर पाताल में आ एकदम मूर्च्छित हो गये।

संगीत चुक गया! तब सितार को सुनीता ने धीमे से अलग रखा और आहिस्ता से उठकर वह चल पड़ी।

मानों अब कोई बात नहीं है। अब वह हँस भी सकती है। यदि कुछ था, तो सितारों में से सुबककर वह चुक गया है। अब सब ठीक है।

सुनीता ने चौके में जाकर कहा, ''ला री ला, क्या ला देती है, देखूँ तू खाना बनाने में कैसी हुशियार है?''

सत्या जीजी की यह नितान्त स्वस्थ प्रकृति देखकर कुछ विस्मित हुई। कहा, ''जीजी, अब तक तुम भूखी क्यों रहीं?''

सुनीता ने कहा, ''नहीं, भूखी क्यों रहूँगी! ला दे न, जो कुछ देना हो।''

सत्या ने थाली परोसकर दे दी। उसने कहा, ''मुझे तो पहले उनका भरोसा नहीं हुआ था। देखो न, न आने में उनका क्या लगा! यहाँ मैं सवेरे से उनकी तैयारी में जुटी रही।''

सुनीता ने धीमे से कहा, ''काम लग गया होगा।''

यह इतने धीमे से उसने कहा कि जैसे स्वयं ही इस बात को नहीं सुनना चाहती, मानों यह बात बिलकुल व्यर्थ है, बहाना है। और यह कि यह बात बिलकुल गलत है।

सत्या ने कहा, ''यह खूब कि काम लग गया होगा! और वह क्या काम होगा जो लग गया होगा, सुनूँ तो।''

सुनीता ने मानों टालते हुए कहा, ''अरे मरदों को दस काम होते हैं, और अभी क्या पता है कि वह नहीं ही आते हों।''

सुनीता को जैसे अपने भीतर निश्चित पता है कि हरिप्रसन्न नहीं आने ही के लिए नहीं आया है। इस बारे में उसके मन में दुविधा नहीं है।

सत्या ने कहा, ''उन्हें ऐसा ही जरूरी काम था तो वक्त पर ही कहला भेजना चाहिए था। अगर मेरे सामने आवे, मैं खूब सुनाऊँ।''

सुनीता हँसने लगी, ''हाँ सुनाने की बात ही है।''

सत्या ने कहा, ''जीजी, सच बताओ। तुम समझती हो वे आएँगे और काम की वजह से उन्हें देर हो रही है।''

सुनीता ने कहा, ''पागल, मैं क्या जानती हूँ कि क्या हो गया होगा। लेकिन तेरे पढ़ाने की बात से वह आदमी क्यों ख्वाहमख्वाह इतना नाराज होगा?''

सत्या ने कहा, ''जीजी, मैं कहे देती हूँ, मैं उनसे नहीं पढ़ूँगी।''

सुनीता ने हँसकर पूछा, "क्यों?"

"मैं नहीं पढ़ूँगी।"

सुनीता ने कहा, "अच्छा।" और वह चुपचाप खाना खाती रही।

थोड़ी देर में एक नौकर आया और उसने बताया कि घर पर अम्माँ जी का जी अच्छा नहीं है। पेट में दर्द है, सत्या को बुलाया है और कहा है शाम को सुनीता भी आ जाए।

सुनीता ने कहा, "गाड़ी लाये हो?"

नौकर ने बताया कि हाँ, वह गाड़ी लाया है; क्योंकि वहाँ सत्या को अभी बुलाया है।

सुनीता ने कहा, "सत्या, जा।"

सत्या ने कहा, "जीजी, तुम आओगी?"

"हाँ, कहना, मैं शाम को आऊँगी।"

सत्या चली गयी, तब सुनीता रसोई से निबटकर स्टडी-रूम में आ पहुँची।

सच पूछो तो उसका मन आश्वस्त नहीं है, वह सोचती है कि वह अब जाएगी, तो पाँच-सात रोज वहीं रहेगी, इस घर में नहीं रहना चाहती। उसके मन की आशंका है कि हरिप्रसन्न अपना अनिष्ट कर सकता है। वह क्यों नहीं आया जब कि खुद मैंने उससे आने के लिए कहा था? सुनीता के सम्मान को जैसे इस भाँति चोट दी गयी हो। उसको यह बात चुटकी ले रही है कि इस आदमी ने मेरी बात के ऊपर अपनी जिद रखी। उसके मन में हुआ कि वह फिर सितार ले ले और अपने को कुछ खाली कर छोड़े। लेकिन सितार की जगह उसने शेली की कविता की पुस्तक ली और खोलकर कुर्सी पर लेट गयी। पढ़ते-पढ़ते उसकी आँख बन्द हो गयी। हाथ की किताब भी बन्द होकर उँगलियों में टिकी रही। मानों वह यहाँ से कहीं और पहुँच गयी थी। थोड़ी देर में उसने आँख खोली और सामने किताब भी खोली। कवर पलटा, कि क्या देखती है कि उसके सामने अजनबी अक्षरों में लिखा हुआ है 'श्रीमती सुनीता देवी' अक्षर दृढ़ हैं, साहसिक हैं और अलग-अलग लिखे हैं। जिसने भी यह किया, सुनीता को उसकी स्वतन्त्रता बुरी लगी। उसने जान लिया कि यह हरिप्रसन्न का ही काम होगा। उसने किताब अलग कर दी और उठकर कमरे में टहलने लगी। टहलते-टहलते उसका ध्यान गया कि एक बिना जड़ी तसवीर दीवार के सहारे टिकी खड़ी है। वहाँ क्यों है, उसे बाकायदा दीवार पर टँगा होना चाहिए था—यह सोचकर तनिक खीझ में उस ओर बढ़ी और उसे खींचकर उठा लिया। देखा कि अरे, यह तो वही तसवीर है जो हरिप्रसन्न ले गया था। चित्र में अपनी छवि देखकर सुनीता को बड़ा अचरज हुआ। अरे, सच, क्या वह इतनी मनोरम है, क्या वह ऐसी है! किन्तु उसने यह विचार कर हठात सन्तोष माना कि वहीं, जब वह इस तसवीर जैसी थी, उसको

बहुत दिन हो गये हैं। अब तो यह बिलकुल मामूली है, 'चलो यह अच्छा है'—उसने हठात मन में कहा, तब उसका ध्यान लगा कि नीचे उन्हीं अक्षरों में फिर उसका नाम लिखा है। इससे उस पर फिर रूखी हो आना चाहने लगी। उसने तसवीर को अलग कर दिया। वह न चाहती थी कि तनिक भी सोचे कि हरिप्रसन्न का क्या होगा। वह चाहे जो कर रहा हो। दिल्ली से बाहर—तो हाँ, दिल्ली से बाहर ही वह चला जावे। वह खूब अच्छी तरह जान लेना चाहती है कि हरिप्रसन्न की उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। जब हरिप्रसन्न को नहीं है ख्याल उसकी बात रखने का, तो सुनीता को भी उसकी तनिक फिक्र नहीं है। उसने सितार खींचा और स्वर मिलाने लगी। वह फिर कुछ झंकार उठाएगी, जो गूँज-गूँजकर सब कहीं व्याप जाए। जो गूँजे और गूँजे, और थक जाए। तब सो जाए। अत्यन्त सबल राग में उसने सितार को बजाया। यहाँ तक कि सितार के टूटने का डर होने लगा। जितना खिंच सकता, उतना तार को खींचकर वह उसमें मींड़ देती थी। मानों अपने भीतर की झल्लाहट को, उस अकारण अहेतुक खीझ को वह इस प्रकार खीझ निकालकर ध्वनि में मूर्त्त करके भेज देना चाहती है कहीं दूर—कहीं पार। भेज देना चाहती है कहीं उस पार—जहाँ सब शान्त है, सब पूर्ण है, सब स्थिर है। सितार को लेकर मानों वह उत्क्रुद्ध है। तीव्र से तीव्रतर गति से उसकी उँगली तार पर चल रही है और मिजराव की अत्यन्त परुष ठोकर देकर तार को वह गुँजा रही है।

ऐसे ही समय श्रीकान्त ने कमरे में आकर कहा, "ओ हो, क्या बात है?"

सुनीता ने देखा, देखकर सिमटी। सितार पर से एक साथ उसका हाथ हट गया। मानो वह कुछ अनौचित्य के बीच पकड़ी गयी हो। वाद्य की गूँज धीमी होती गयी और डूबने लगी। वह अस्त-व्यस्त-सी हो उठी।

सहसा अप्रत्याशित भाव से उसने जल्दी से कहा, "तुम कब आये?"

"कब आया! देर तो ज्यादा नहीं हुई। लेकिन तुम रुक क्यों गयीं? बड़ा अच्छा तो बजा रही थीं।"

मानों सुनीता ने कहा, "बहुत दिनों बाद सितार लेकर बैठी थी। लेकिन प्रिय, इस बात को मन में न लाना।"

मानों सुनीता ने कहा, अर्थात् सुनीता ने यह मुँह से नहीं कहा, किन्तु समस्त भाव भंगिमा से कहा। मुँह से तो यह कहा, "कपड़े बदल लो, भूखे होंगे, मैं इतने में कुछ लाती हूँ।"

श्रीकान्त ने कहा, "लेकिन यह तो ठीक नहीं हुआ कि मैंने विघ्न डाला।"

सुनीता हठात हँसी। उसने कहा, "तो लो, तुम बजाओ, मैं सुनती हूँ।" कहकर सितार उसकी ओर बढ़ाने लगी।

"मुझे तुमने इतना सिखाकर रखा होगा कि उस्ताद के सामने बजाने का मेरा

मुँह हो!'' यह कहकर श्रीकान्त ने सितार लिया और कोशिश करने लगा कि सरगम ठीक निकले।

सुनीता चलने को हुई। लेकिन बीच में ही सावधान होकर आकर बोली, ''बाबूजी का आदमी आया था। कह गया है कि अम्माँ जी का जी अच्छा नहीं है। शाम को बुलाया है। मुझे आने में चार-पाँच रोज लग जाएँगे। चली जाऊँ?''

श्रीकान्त ने कहा, ''मैं कह दूँ, तो नहीं भी जाओगी क्या? अम्माँ जी का कैसा जी है?''

''पेट में दर्द बताता था।''

''तो पाँच-सात रोज लग जाएँगे?''

सुनीता ने कहा, ''कब-कब मैं कहती हूँ जो तुम ऐसा कहते हो! अच्छी बात है, मैं नहीं जाती।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अरे भाई, किसकी हेकड़ी है कि कहे, मत जाओ। मैं भी देखना चाहता हूँ वह आदमी कौन है। लेकिन पति नाम के प्राणी का फिर क्या होगा, यह भी सोचा है?''

सुनीता ने कहा, ''खाना दोनों वक्त वहीं खा लिया करना, नहीं तो आदमी दे जाया करेगा।''

''ठीक है,'' श्रीकान्त ने कहा, ''तुम इसमें सन्तुष्ट हो, तो मेरा ही यही सौभाग्य है। लेकिन हरिप्रसन्न क्या चला गया?''

''वह नहीं आये।''

''नहीं आया!''

''कुछ काम हो गया होगा, लेकिन तुम कपड़े उतारो, हाथ-मुँह धोओ।''

यह कहकर सुनीता चली गयी। श्रीकान्त कुछ भी न समझता हुआ वहाँ बैठा रहा।

सुनीता उस रोज अम्माँ जी के यहाँ चली गयी। और सुनीता के साथ जाते-जाते राह में श्रीकान्त ने सोचा, 'चलो ठीक है। अब जरा हरिप्रसन्न की खबर लेंगे।'

22

किन्तु हरिप्रसन्न की खबर ली न जा सकी। जहाँ ख्याल था कि वह होगा, वहाँ हरिप्रसन्न का बस इतना पता लगा कि वह नहीं है, दो रोज पहले कहीं चला गया है।

श्रीकान्त इस पर झल्ला आया। उसको बुरा लगा कि हरिप्रसन्न अब भी

स्वच्छन्द-स्वतन्त्र रह सकता है और श्रीकान्त को अपने बारे में अंधेरे में रख सकता है।

तीन दिन बीत गये। श्रीकान्त घर में अकेला रहा। न उसे हरिप्रसन्न का पता लग पाया, न सुनीता ही अपनी माँ के यहाँ से उस घर में रहने को आ सकी। गनीमत यही थी कि सुनीता के पिता का घर दूर नहीं था, उसी शहर में था। श्रीकान्त ने जाकर जब यथा-समय सुनीता को खबर सुनायी थी कि हरिप्रसन्न नहीं मिलता, और उसके डेरे पर भी उसका पता नहीं चल सका, तब सुनीता ने यह खबर चुपचाप सुन ली थी और जतला दिया था कि अभी चार-पाँच रोज या शायद अधिक भी उसे यहाँ ही रहना होगा। नहीं कहा जा सकता, सुनीता के मन में तब क्या हुआ था। किन्तु उसके अतिशय विमनस्कता के साथ हरि के न पाने की सूचना पर श्रीकान्त को अच्छा न लगा। फिर भी इस विषय पर श्रीकान्त ने अधिक बात न की, बात करने को था भी क्या!

एक दिन, दो दिन, तीन दिन, ये सब फीके बीते। पर चौथे दिन जब अँधेरा-सा हो चला था और श्रीकान्त दफ्तर में बैठा सोच रहा था कि जाकर बाहर घूमें अथवा कानून की किताबें खोलकर उनमें अपने को फँसावे, तभी उसके सामने हरिप्रसन्न आ-आविर्भूत हुआ। एकाएक उसे पहचानना कठिन था। न मूँछ-दाढ़ी थी, न बाल थे। बगल में छोटा-सा पुलिन्दा था।

पुलिन्दे को मेज पर टिकाकर हरिप्रसन्न ने कहा, "श्रीकान्त, तीन-चार रोज मैं यहाँ रह तो सकता हूँ न? इसी से मेरे साथ यह पुलिन्दा है।"

श्रीकान्त का एकाएक विस्मय से उद्धार न हुआ। तब हरिप्रसन्न ने फिर कहा, "क्यों भाई, बोल, यहाँ टिक तो सकूँगा न?"

श्रीकान्त ने पूछा, "तुम चले कहाँ गये थे?"

हरिप्रसन्न ने कहा, "चला कहाँ गया था, इसे छोड़ो। यह बताओ चार रोज मेरे ठहरने का सुभीता तो होगा न?"

श्रीकान्त इस बात पर विस्मय से हरिप्रसन्न को देखता रह गया।

हरिप्रसन्न ने मानों किसी बाधा को अपने ऊपर से टालते हुए कहा, "भाभी यहाँ नहीं हैं! यह अच्छा है, तब मैं समझता हूँ, मैं रह सकता हूँ। मेरा सामान तुम बहुत गौर से क्या देखते हो? हाँ, वह इतना ही है। सामान थोड़ा अच्छा होता है, Who Possesses little is so much the less Possessed. यह पक्की ही बात है। पिछले दिनों तो मैं परिग्रह को और भी काफी कम कर दे सका हूँ। हाँ, एक बात तो है—।"

यह कहते हुए उसने लिपटे पुलिन्दे को खोला। उसमें कुछ काम के कपड़े, दो एक किताबें, एक छोटी कापी, एक अण्डी चादर और कुछ इसी भाँति की चीजें थीं, एक रिवाल्वर भी था। चमड़े के घर से उस रिवाल्वर को बाहर निकालकर उसने

कहा, ''यह भी मेरे पास है। मुझे मानना होगा कि यह भी परिग्रह है। सत्यार्थी को इससे क्या लगाव? भय रोकने और उसी भय को खड़ा करने का तो यह साधन है। जो सर्वथा निर्भीक है, वह दूसरे में भी भय क्यों उपजावेगा? इससे निर्भय सदा नि:शस्त्र होता है। यह तुम कहोगे। मैं भी यह मानता हूँ। लेकिन, फिर भी तो यह मेरे पास है।''

रिवाल्वर को केस के भीतर रखकर फिर उसने उसी भाँति पुलिन्दा लपेट दिया और कहा, ''इसी से श्रीकान्त, मैं पूछता था कि तीन-चार रोज रहने की सुविधा मुझे होगी न?''

श्रीकान्त ने कहा, ''हरिप्रसन्न!''

''देखो भाई,'' हरिप्रसन्न ने कहा, ''इसके आगे भी कुछ है। वह यह कि मुझे रुपया भी चाहिए। इस बार तो सौ रुपये की जरूरत आ पड़ी है।''

श्रीकान्त ने कहा, ''हरिप्रसन्न तुम कहाँ जा रहे हो, मैं विवाद न करूँगा। लेकिन मुझे बताओ, पिछले तीन दिन तुम कहाँ रहे, क्या किया और क्या-क्या हुआ?''

हरिप्रसन्न श्रीकान्त की इस विश्वस्त स्थिति के समक्ष क्वचित संकुचित हुआ। संकोच के बोध में से अहंकार जागा। उसने कहा, ''उस सब में तुम्हारी चिन्ता के योग्य कुछ नहीं है, श्रीकान्त।''

इस पर श्रीकान्त उठा, उसने बढ़कर पुलिन्दा अपने साथ ले लिया और कहा, ''अच्छी बात है। आओ।'' यह कहकर वह आगे बढ़ गया और स्टडी-रूम में जाकर बोला, ''देखो, यह कमरा तुम्हारा ही है। जब तक हो, तब तक तुम्हारा ही है।'' अनन्तर आप-ही-आप मानों कुछ उलझन-सी में पड़कर उसने कहा, ''अच्छा हाँ, तो खाने-पीने का क्या रहेगा।''

हरिप्रसन्न ने निरर्थक रूप में कहा, ''खाने का क्या?''

श्रीकान्त ने कहा, ''खाने की तो पक्की बात है क्योंकि तुम्हारी अन्नपूर्णा भाभी तो हैं ही नहीं कि जिनके भरोसे खाने को एकदम न कुछ समझ लिया जाए। और जाने वह यहाँ कब आएँगी। मैं कभी वहीं खा आता हूँ, कभी खाना यहाँ आ जाता है। तुम—तुम्हारा इसके लिए बाजार जाना तो न मुझे रुचेगा, न तुम पसन्द करोगे। तो— ?''

''तो क्या, यहीं बना लूँगा।''

''यहाँ बना लोगे?'' अलक्ष्य भाव से दुहराते हुए श्रीकान्त ने कहा, ''ठीक है। हम दोनों यहीं बना लिया करेंगे। मैं भी क्यों न वहाँ से छुट्टी ले लूँ। और तुम तो खाना बनाना खूब जानते होगे। क्यों?''

मानो यह सब सोचकर हठात् कुछ नव्य बोध का सा आनन्द श्रीकान्त ने लिया।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''नहीं-नहीं, तुम मुसीबत में क्यों पड़ोगे। मुझे मुझ पर छोड़ो।''

श्रीकान्त ने बण्डल रख दिया था और अभी वे दोनों खड़े थे। अब श्रीकान्त ने हरिप्रसन्न को कुर्सी पर बिठाकर स्वयं भी कुर्सी पर बैठते हुए कहा, ''बैठो, तुम्हारे रहने की बात तो तय हुई। अब दूसरी बात हो, इससे पहले यह बताओ कि तुमने कुछ खाया-पीया है?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''नहीं।''

''तो यह कहो न। इधर-उधर की बातें क्यों कहते हो?''

कहकर श्रीकान्त उठ खड़ा हुआ। चलने को उद्यत होकर उसने कहा, ''मैं अभी आता हूँ। तुम्हारी भाभी से कहूँगा, तुम आ गये हो, और यह कि तुम भूखे हो और खाना तुम्हारे लिए भी भेजें। और देखो, वह आयी तो रिवाल्वर उसकी निगाह की ओट में रखना भाई। क्योंकि स्त्रियाँ उसे बहादुरी का ही चिह्न समझती है और उससे डरने को तैयार रहती हैं।''

हरिप्रसन्न ने हँसते-हँसते कहा, ''श्रीकान्त, रिवाल्वर वह चीज है कि जान ले लेती है। तुम तो जैसे इसे तिनका भी नहीं समझना चाहते।''

''नहीं-नहीं, कौन कहता है! मैं तो इससे डरता तक हूँ, नाचीज उसे कैसे समझूँगा। लेकिन इन खूँख्वार जानवर के हिये की आँखें तो नहीं हैं कि देखकर जान ले। इसलिए हर किसी को भी यह मार सकता है। और मारने का काम चलेगा। तब इस रिवाल्वर का मुँह चारों ओर को नहीं लपकेगा, इसका ठिकाना है?'' जाते-जाते श्रीकान्त खड़ा ही रह गया, ''शेर के दाढ़ें और पंजे हैं, किन्तु आदमी के पास दुर्बल शरीर है। तब क्या आदमी मर जाए? इसलिए तुम कहते हो कि आदमी रिवाल्वर बनावेगा जिससे शेर का पंजा उठे भी नहीं कि शेर रिवाल्वर की गोली से वहीं ठण्डा हो जाए। मैं कहता हूँ, बहुत ठीक। लेकिन शेर की जगह आदमी को ठण्डा करने के काम में आने में उस रिवाल्वर को कितनी देर लगती है! किन्तु तुम कहोगे, दुष्ट का नाश चाहिए। तभी साधु का परित्राण होगा। इसलिए नर-हत्या से क्यों कायरता। यही न? लेकिन मैं पूछूँ कि अमुक को दुष्ट ठहराने में मनुष्य की बुद्धि को कितना आयास लगता है? किसी को दुष्ट मानते जब हमारी बुद्धि को देर नहीं लगती, तब हमारे हाथ भी बिना देर लगाये रिवाल्वर को चला उठें—यही तो निश्चित ठहरा न? पर यह हो तो जीवन का अस्तित्व सम्भव है? मुझे तो दीखता है कि मानव-सम्बन्धों के बीच में यदि किसी ओर से भी रिवाल्वर प्रविष्ट होने दिया जाता है, तो उसे चतुर्मुखी हो पड़ने से नहीं रोका जा सकेगा। तब रिवाल्वर साधु का नाश और दुष्ट का उद्धार नहीं करने लगेगा, इसका तुम्हें आश्वासन है?''

किन्तु हरिप्रसन्न कुछ कहे, इससे पहले ही श्रीकान्त को ख्याल आया कि वह तो सुनीता के पास जाकर इस हरिप्रसन्न के लिए खाना तैयार करने को कहने चला था। यह सोचकर वह फिर चल खड़ा हुआ।

हरिप्रसन्न ने मुस्कराकर कहा, ''रिवाल्वर को हाथ में लेकर रगों में स्फूर्ति आती है! श्रीकान्त, नीति कुछ कहे, और नीति तो सदा ही विवादास्पद है, किन्तु प्राणों की स्फूर्ति को तो एकदम कैसे इनकार किया जा सकता है। क्या हिन्दुस्तानी निःशस्त्र किये जाकर ही नपुंसक नहीं बनाये गये हैं, बोलो— ?''

तब श्रीकान्त ''अच्छा-अच्छा'' कहता हुआ वहाँ से चला गया।

हरिप्रसन्न उसी स्टडी-रूम में रहा जिसमें पहले दिन कमरे में धोती का फेंट बाँधे हाथ में बँधी झाड़ू लिये उसकी भाभी सुनीता उसे मिली थी। यह उसके अप्रत्याशित आगमन पर जल्दी में सिर पर धोती का छोर लेकर सिटपिटायी-सी खड़ी रह गयी थी। इसी स्टडी-रूम में उसने शेली और शॉ की किताबें खींचकर उनमें अलग-अलग सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में लिखा था—''श्रीमती सुनीता देवी'। इसी में उसकी ठीक की हुई उन सपति भाभी की तसवीर अब भी रखी है। और क्यों, इस ही कमरे ने (ओह!) उन दोनों (पति-पत्नी) के जाने किन-किन पवित्र रहस्यों, किन-किन क्रीड़ाओं और स्नेह-वार्त्ताओं की सुरभि को अपने मन में धारण नहीं किया है! आज उसी स्टडी-रूम में अपने बण्डल के भीतर आदमी की जान लेने वाले इस्पात के रिवाल्वर को दुबका रखकर वह फिर आ पहुँचा! नहीं जानता है, क्यों। और मानों वह अपने से लौटकर पूछना चाहता है—क्यों रे, क्यों?

हरिप्रसन्न कुर्सी पर बैठा-बैठा सामने मानो देखना चाहने लगा कि उसके मन के भीतर क्या है और उसके भविष्य के गर्भ में क्या है?

23

श्रीकान्त मन-ही-मन उलझन में पड़ गया। हरि की आत्मा में कहाँ गाँठ पड़ी है कि वह अतर्क्य होता जाता है। यह कुछ भी समझ में नहीं आता। वह तो जैसे अपने भीतर भेद को पाल रहा है। यों तो कब वह विचित्र न था, पर यह एकदम दुर्गम दुर्ज्ञेय हो उठने जैसी बात ही नहीं थी। भारत की आजादी ही, सच, क्या उसे भरमा रही है? किन्तु भारत की आजादी तो तब तक व्यक्ति के लिए निरी ध्वनि ही है, मात्र शब्द, अवास्तव, जब तक उसके निकट व्यक्तिगत रूप से वह कुछ न बन उठे। क्या उसका आत्म-प्रसार भारत-व्यापी हुआ है कि भारत की आजादी का प्रश्न उसके अस्तित्व के साथ संश्लिस्ट, अभिन्न बन गया हो? नहीं तो वह सामान्यतया स्वाभाविक क्यों नहीं है? उसके साथ तो द्विधा भी दीखती है। जान पड़ता है कि अपने भीतर कुछ लेकर उसका मुकाबला करते हुए ही वह अपने को बिता रहा और बीत रहा है पर

वह उसके मन की घुण्डी क्या है जिसको तोड़ने के लिए रिवाल्वर तक आ पहुँचा है, सो हाथ नहीं आता।

हरिप्रसन्न जो भी है, और जो भी होता है, श्रीकान्त को तो वही स्वीकार है। हरिप्रसन्न क्या बनता है, यह तो उसके भीतर जो नियति और जो पूँजी बन्द है उस पर निर्भर है, यह तो उसका ही अपना काम है। श्रीकान्त को उस भवितव्यता पर अपनी ओर से कुछ आरोप करने की इच्छा नहीं है। उसकी मित्रता में तो हरिप्रसन्न की स्वीकृति ही है। कल यह लाल लहू से रँगे हाथ लेकर श्रीकान्त के सामने आ पहुँचे, तब भी श्रीकान्त के मन के निकट वह कम ग्राह्य न होगा। तब भी श्रीकान्त मन के द्वार खोलकर कहेगा, ''हरि आओ, आओ। खूनी हो कि क्या हो। इससे पहले यह तो है कि हरिप्रसन्न हो, इससे आओ। श्रीकान्त सखा बना है तब वह सखा ही रहेगा।''

किन्तु हरिप्रसन्न को पाने की व्यस्तता श्रीकान्त के चित्त में से कम नहीं हो सकती। मित्र है, तो मित्र को पाना भी होगा। किन्तु अचानक दाढ़ी मूँछ मुँड़ाकर और रिवाल्वर पुलिन्दे में डालकर ले आने वाले हरिप्रसन्न को श्रीकान्त पा नहीं रहा है, यही व्यथा है।

वकील है और जानता है, कानून क्या है। यह भी जानता है कि कानून के प्रति नागरिक का क्या दायित्व है और उस दायित्व का स्खलन दण्डनीय है। किन्तु वह कानून कहाँ नीचे रह गया है जब कि उसने कहा है, ''हरि, आओ, जब तक हो यह कमरा तुम्हारा है।'' यह उसको पता नहीं है। इस कानून से बहुत ऊपर होकर भी एक प्रकार का कानून है। अन्तर यही है कि वह कहीं अधिक स्थिर है। कहीं निर्ममता से अमोघ है। उस अंकहीन (अथवा कि सर्वत्र अंकित) कानून को इनकार करके क्या नीचे ही रहना होगा! नहीं वह नहीं होगा।

श्रीकान्त ने एकान्त में जाकर सुनीता से कहा, ''हरिप्रसन्न आ गया है।''

सुनीता बिना चौंके धीमे से बोली, ''हाँ-आँ?''

''इस बार अजब ही हाल है। मूँछ-दाढ़ी साफ है और कुछ दुबला दिखता है। उसके लिए झट कुछ खाने को भेजना होगा।''

''कुछ पूछा कि वह कहाँ रहे?''

''जैसे अपने रहने-सहने का हिसाब-किताब वह हमें देने ही चला है! मैंने तो नहीं पूछा।''

सुनीता चुप पड़ गयी। जैसे वह अपने भीतर से ही से अपने सवाल का जवाब पा लेने लगी, अनन्तर उसने कहा, ''मूँछ-दाढ़ी के बिना तो विचित्र लगते होंगे। सिर के बालों का श्राद्ध हुआ?'' कहकर सुनीता कुछ मुस्करायी, जैसे भरा बादल मुस्कराये।

श्रीकान्त ने कहा, ''मशीन की कटी दूब-सा साफ मैदान है।''

''अभी तो रहेंगे न?''

''कुछ दिन रहेगा, मालूम होता है। अपने सब डण्डे-डेरे के साथ है। मैं तो सामान देखकर घबरा गया।''

''बहुत सामान है?''

''बहुत—कि कमरे में मुश्किल से समाया है। स्टडी-रूम, मैंने कह दिया है कि उसका है। अब तुम चलोगी? अम्मा जी तो ठीक हुईं।''

सुनीता ने कहा, ''मैं?''

श्रीकान्त ने कहा, ''जी हाँ।''

सुनीता, ''मैं अभी नहीं आ सकूँगी।''

श्रीकान्त, ''तो बहुत अच्छी बात है। यह न समझिएगा कि मैं तकलीफ पाऊँगा। क्योंकि तय हुआ है कि हरि रोटी बनाएगा, हम खाया करेंगे। हम आप ही के आसरे नहीं जीते हैं साहब। और आप जानिए हरि जरूरी तौर पर वह उम्दा रोटी बनाएगा कि क्या हमने कभी खायी होंगी।''

सुनीता ने धीमे से कहा कि वह रोटी क्यों बनाएगा, यहाँ से दोनों दफा चली जाया करेंगी?

श्रीकान्त ने कहा कि ऐसी ही कृपाशीला यदि श्रीमती है तो चली ही क्यों नहीं चलती?

सुनीता जैसे सोच में पड़ गयी। कुछ देर बाद, ''नहीं आऊँगी तो मैं नहीं—।''

श्रीकान्त ने कहा, ''तो अपनी कृपा को ही क्यों व्यर्थ दिन में दो बार भेजा करोगी? उसे भी रखो। हम लोगों को अपने मन के मुताबिक ही दो-चार रोज खा-पी लेने दो।''

सुनीता कुछ सोचती रह गयी, बोली नहीं। कुछ क्षण बाद कहा, ''अच्छा, तो कल शाम को मैं आऊँगी।''

श्रीकान्त ने कहा, ''यह लो, हम तो समझते थे, चलो कुछ रोज की छुट्टी मिली!''

''ओह,'' सुनीता सहसा चिहुँकी, ''मुझे तो बातों में याद भी न रहा कि आज घर में झक-झक की वजह से खाना कुछ ठीक-ठीक नहीं बना है। ठहरो मैं उनके लिए अभी तैयार किए देती हूँ।''

यह कहकर वह चलने को हुई। श्रीकान्त ने रोककर कहा, ''ज्यादा आयोजन न करो, जो हो दे दो। स्वाद मत देखो। वक्त देखो, अभी तो उसे भूखा न रखना जरूरी है, समझीं? पाक-चातुरी फिर दिखा लेना।''

''अहँ, पाँच मिनट तो लगते हैं।'' इस संक्षिप्त उद्‌गार से श्रीकान्त को व्यर्थ करके वह झटपट चल पड़ी।

तब श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा सुनो, एक जरूरी बात है।''

सुनीता रुकी कि कहो।

श्रीकान्त ने कहा, ''हरि सौ रुपये के लिए कहता था।''

''नहीं, कोई सौ-वौ रुपये नहीं हैं।''

श्रीकान्त कहने को हुआ—''सुनो—।''

''नहीं, वह अभी कहीं नहीं जाएँगे। कह दो, हमारे पास फालतू रुपया नहीं है।''

श्रीकान्त ने कहा, ''सुनीता!''

''वह घर पर आराम से रहे क्यों नहीं? हम कोई महाजन नहीं हैं।''

''तो मैं कह दूँ, रुपया नहीं है!''

''हाँ कह दो, फिजूल बात के लिए एक पैसा नहीं है, सत्या को पढ़ाये तो पैंतालीस-चालीस जितना चाहे माहवार वह लें, पता तो हो कि रुपया कहाँ जाता है। कहते हो, दुबले दीखते हैं। तो फिर किस पेट को भरने के लिए वह पैसा है, जानूँ तो।''

श्रीकान्त को कुछ रोष प्रतीत हुआ था, किन्तु तभी उसका मन करुणा से भर आने लगा। अबला के बल पर रोष किस भाँति हो सके! उस धन पर जो वह इतने एकान्त स्वत्व भाव के साथ निर्णय दे रही है, लो श्रीकान्त को लेकर ही तो है। श्रीकान्त के अर्जित धन पर श्रीकान्त से भी अधिक स्वामित्व जिस बल पर वह जतलाती है, वह बल भी तो स्वयं श्रीकान्त ही है। इसी से श्रीकान्त के 'हाँ' सुनना चाहते हुए मुँह पर श्रीकान्त के बल से ही बलिष्ठ बनी वह सुनीता खुलकर सुना रही है—'नहीं, नहीं नहीं।' उस स्वत्व-बल को श्रीकान्त किस हृदय से तोड़े! उसने विनीत भाव से कहा, ''सुनीता, सुनीता, सुनो तो—।''

''नहीं,'' सुनीता ने कहा, ''सुनने की कोई बात नहीं है। कह दो उन्हें कहीं जाने की जरूरत नहीं है। वह क्यों भटकते हैं? कह दो भटकना है तो हम कोई बैंक नहीं हैं।''

श्रीकान्त चुप हो रहा। उसने देखा कि सुनीता की आपत्ति में हरिप्रसन्न के लिए सहानुभूति का अभाव नहीं है फिर वह एकाएक क्यों ऐसी कठोर है, यह श्रीकान्त नहीं पकड़ सका। कहा, ''अच्छा, कल शाम को तुम आओ तो।''

''हाँ, शाम को मैं आऊँगी'' कहकर सुनीता आगे बढ़ी।

''मैं बैठूँ? खाना कितनी देर में खिलाओगी?''

''हाँ, बैठो। मैं सत्या को भेज रही हूँ। इम्तहान पास है, जरा उसे बता देना।

खाना अब बना।''

सुनीता चली गयी। श्रीकान्त हठात मुस्करा आया।

24

श्रीकान्त मुस्कराया तो, पर उसके चित्त में यह बात ही लगी रही कि यदि हरिप्रसन्न की सौ रुपये की माँग सहज पूरी न हुई तो क्या होगा? हरिप्रसन्न किसलिए यह रुपया चाहता है, यहाँ श्रीकान्त को और भी अँधेरा मालूम होता है, किन्तु चाहता है इतने ही से वह तो हरिप्रसन्न को मिल जाना ही चाहिए। मुँह खोलकर हरिप्रसन्न सौ रुपये माँग बैठा है, तब यह तो है ही कि उसे अपने लिए नहीं चाहिए। तब फिर अपनी जरूरत से भी अनिवार्य किस और जरूरत के लिए चाहिए—यह श्रीकान्त को सोचे नहीं मिलता।

इतने में पहुँची सत्या। बोली, ''आज आप बड़ी देर करके आये, जीजाजी!''

''देर! नहीं तो।''

सत्या ने कहा, ''मेरा इम्तहान बहुत पास है, मैं कैसे करूँ? मैथमेटिक्स मेरा बिलकुल भी नहीं हुआ। आप एक घण्टा मुझे दिया कीजिए।''

श्रीकान्त ने सत्या की ओर देखा, और एक साथ जाने उसमें क्या देख लेना चाहा।

''बोलिए, देंगे?''

यह लड़की है तो बड़ी निर्बोध, और दुर्बोध भी है। श्रीकान्त ने कहा, ''पढ़ोगी तो देखो, कल शाम को वह आएँगी, उनके साथ घर आ जाना। रोज शाम को गाड़ी पर आ जाया करना। हरिप्रसन्न पढ़ा दिया करेगा। वह ऐसे ही हाथ आएगा।''

फिर हरिप्रसन्न! सुनकर सत्या पहले तो विस्मित हुई। फिर कटु व्यंग्य में मुस्करा पड़ी, ''वह आ गये! कब आये?'' कहकर मानो झल्ला आना चाहने लगी।

श्रीकान्त ने सत्या को स्थिर भाव से देखकर कहा, ''आज ही आया है। और सुनो, सत्या! विद्या से विनय आती है और विनय से भी विद्या आती है। तुम—।''

बीच में ही बात को संक्षिप्त करती हुई बोली, ''एक सवाल नहीं आया है। लाऊँ, आप बता देंगे?''

श्रीकान्त ने उसी भाव से देखते हुए कहा, ''नहीं मुझको सो जाना है। लेकिन तुम ठीक कहो, क्या उससे पढ़ना नहीं चाहती हो?''

निर्दोष अभियुक्त की-सी बानी में सत्या ने कहा, ''सो मैंने कब कहा!''

"अच्छी बात है," श्रीकान्त समाधानपूर्वक बोला, "मैं हरिप्रसन्न से कहूँगा, पर वह कौन कम दुर्घट है!"

सत्या को यह अच्छा नहीं लगा। उसने जोर से कहा, "वह पढ़ाना चाहें, कि न चाहें, मुझे फिर भी पढ़ना चाहना ही होगा। यह बात ठीक नहीं है, जीजाजी।"

श्रीकान्त को सुनकर निरी अप्रसन्नता नहीं हुई। सत्या के शब्दों में जाने कैसी ध्वनि उसे प्रतीत हुई। माननी के मान का स्वर ही मानों उसमें सबके ऊपर होकर बज रहा है। कहा, "उसे जरा समझना मुश्किल है। बाकी वह पढ़ाना क्यों न चाहेगा? अच्छा जाकर देखो तो खाने में कितनी देर है।"

सत्या चली गयी, तब श्रीकान्त ने सोचा कि सुनीता के मन की बात भली ही है। हरिप्रसन्न और सत्या का मेल बुरा न होगा। देखता हूँ सत्या का जी बिलकुल खाली हो, ऐसा नहीं है, मानो वहाँ कुछ झगड़ा मचा है। इधर हरिप्रसन्न आज चाहे जो हो, पति जब होगा तब जिम्मेदार-पति ही होगा इसमें सन्देह नहीं है।

इतने में सत्या ने आकर कहा, "खाना हो गया है, जीजी बुला रही हैं, चलिए।"

श्रीकान्त ने कहा, "अच्छा। लेकिन सत्या, तुम सुनो, यहाँ आओ। कैसी सत्या रानी हो। इम्तहान में तुम्हें अच्छे नम्बरों से पास होना चाहिए।"

सत्या ने झींककर कहा, "खाने के लिए चलिए।"

झींककर कहा, मानो कि सत्या को भीतर-भीतर जीजाजी की बातों में कहीं आसन्न संकट की टोह मिल रही है। छि:-छि:, सत्या तो टलाये ही जाएगी!

श्रीकान्त ने प्रेम से कहा, "देखो सत्या, अपनी जीजी से कहो कि मेरा भी खाना टिफिन-कैरियर में रख दें। घर पर हरि के साथ खाऊँगा।"

सत्या ने कहा, "नहीं-नहीं, आप यहीं खा लीजिए। उनके लिए आप भूखे क्यों रहते हैं?"

"सत्या, वह मेरी बाट देखेगा। तुम जीजी से जाकर कहो, मेरा भी खाना रख दें।"

सत्या रुष्ट-सी होती हुई चली गयी।

थोड़ी देर में सुनीता ने आकर कहा, "तुम यहीं न खा लेते। उनके लिए बनाने में अभी कुछ देर और लगेगी।"

श्रीकान्त ने कहा, "नहीं रख ही दो। मैं ले जाऊँगा।"

सुनीता लौटने लगी तो श्रीकान्त ने कहा, "तुम कल शाम आ रही हो न? सत्या को भी लेती आना। जब तक हरिप्रसन्न है, तब तक तो वह पढ़ ही सकती है।"

सुनीता ने जाते-जाते कहा, "क्यों जी कुछ जानते हो, सौ रुपये उन्हें क्यों चाहिए?"

''नहीं, मैं कुछ नहीं जानता।''

''बिना जाने हम कैसे दे सकते हैं? हाँ, मैं कल आऊँगी, सत्या भी आएगी। काम के लिए यहाँ से रामदयाल (नौकर) को न लेते जाओ, घर पर झाड़-बुहार कर दिया करेगा।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अहँ, अब एक रोज की तो बात है। और एकाध रोज काम करने में वही कौन घिस जाएगा।''

''अच्छा, मैं अभी खाना लाती हूँ।'' कहकर सुनीता चली गयी।

खाना लेकर सत्या आयी और श्रीकान्त उसे फिर ताकीद करके कि वह कल अपनी जीजी के साथ पढ़ने आने का ध्यान रखे, खाना लेकर चल दिया।

घर आकर देखा, हरिप्रसन्न घर की सफाई करने में लगा है। उसने तमाम घर झाड़ू से बुहारकर साफ कर दिया है, अब सहन को धो रहा है।

श्रीकान्त ने कहा, ''यह क्या ले बैठे?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''आओ, बड़ी देर लगायी। मैं अभी तैयार होता हूँ। धूल बहुत चढ़ गयी, सो नहा डालूँ। अभी दो मिनट में नहाकर चुकता हूँ। तुम तो खा आये न?''

श्रीकान्त ने कहा, ''पागल हो, मैं कहाँ से खा आता! नहाकर झटपट चुको तब तक मैं बैठा हूँ।''

दोनों मित्र जब खाने बैठे तब जो बात दोनों के सबसे निकट थी वही बातचीत में दूर-दूर रही। किसी ओर से चर्चा नहीं चली कि सौ रुपयों का क्या बनेगा और रिवाल्वर का भी उन सौ रुपयों से सम्बन्ध है या नहीं। श्रीकान्त ने कहा, ''तुम घर आये हो तो एक दिन में घर का जिम्मा लेना चाहते हो क्या? यह तो नहीं कि आराम से बैठो, और नहीं तो झाड़ू लेकर घर को बुहारने में ही लगे रहे! खैर, आज की और बात, कल वह आ ही जाएँगी।''

''कल वह आएँगी!''

श्रीकान्त ने कहा, ''जैसे-तैसे आने के लिए राजी कर सका हूँ। क्यों, खाना ठीक नहीं लगा क्या, खाओ-खाओ।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''लेकिन अभी तो दो-तीन रोज मुझे भी रहना है।''

''क्या-आ! दो-तीन रोज!''

हरिप्रसन्न कुछ अँधेरा-सा पड़ आने लगा। कहा, ''देखो, अभी तो कुछ ठीक कहा नहीं जा सकता। लेकिन मैं उन्हें तकलीफ नहीं देना चाहता।''

''क्या कहा! तकलीफ? तुमको हुआ क्या है?''

हरिप्रसन्न ने हँसने का प्रयास करते हुए कहा, ''तो यह चाहते हो, न जाऊँ? अच्छा, समझो नहीं जा रहा हूँ।''

उसके बाद दोनों चुप रह गए। वाक्‌बद्धता दोनों ही के लिए भारी होती जाने लगी। श्रीकान्त भाँति-भाँति के सन्देहों से भर आने लगा। उसकी नहीं समझ आता था कि क्या हो, जिससे कि यह हरिप्रसन्न अपना जी खोलकर सामने रख दे और स्वयं हल्का हो जाए। इतने में हरिप्रसन्न ने कहा, ''ऐसा है श्रीकान्त, तो मेरे लिए कुछ सामान जुटाना होगा। मैं तो बाजार जा सकूँगा नहीं, और मेरे पास पैसा भी नहीं—।''

श्रीकान्त ने कहा, ''सामान की चिन्ता न करो, तुम्हें यहाँ कुछ कष्ट न होगा।''

''नहीं-नहीं, सो नहीं। कुछ रंग और ब्रुश और इसी तरह की चीजें चाहिए।''

''क्या?''

और हरिप्रसन्न ने बताना शुरू किया कि ठीक-ठीक क्या चीजें लानी होंगी। श्रीकान्त ने कहा, ''चित्रकारी करोगे! जानते हो?''

''जानता तो नहीं। लेकिन इन दिनों मैं जान लूँगा। खाली बैठे कुछ तो करना होगा।''

''तो ये चीजें अभी लाकर देनी होंगी?''

''ला सको तो रात को कुछ घण्टों में अभ्यास करके देखूँगा।''

श्रीकान्त ने कहा, ''यदि न ला सकूँ, तो?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''तो अपने अनाड़ी हाथों से कमरे में रखे तुम्हारे सितार-वितार को नहीं तोड़ दूँगा, इसका भरोसा नहीं है।''

श्रीकान्त ने पूछा, ''तो तुम बजाना जानते हो?''

''जानता नहीं हूँ और चाहता भी नहीं हूँ। लेकिन कुछ और न मिला तो उसी को लेकर कुछ करना होगा। इसी से कहता हूँ कि वे चीजें ला दो तो अच्छा है। तुम्हारा घर सजाऊँगा।''

श्रीकान्त इस हरिप्रसन्न के प्रति चिन्तित होता जा रहा है। उसके प्राणों में क्या बेचैनी है कि चुप आराम से बैठना इसके लिए सम्भव नहीं रह गया है। कहा, ''हरि, मुझे मालूम नहीं कि तुम भटके कम हो। जरा दो रोज, सुख-चैन से बैठ लो न। सत्या आएगी, उसे पढ़ाना। तुम्हारी भाभी आएँगी, उनसे पहचान करना। दुनिया को तुम वीरान क्यों समझते हो? जैसे आसमान ही है जिससे तुम बातें कर सकते हो कि जो है उसे पदार्थ रूप देकर उससे तुम उलझ सकते हो। दुनिया के स्त्री-पुरुषों में तुम्हारे लिए कोई दिलचस्पी का विषय नहीं है क्या?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''श्रीकान्त, यह तो खाली वक्त की बात है। खाली वक्त भारी हो जाता है। काम में काटो तो कट जाए, यों काटने को आता है। सब बातें वक्त बिताने की होती हैं, और क्या। और मैं अकेला हूँ। यह इसलिए नहीं कि दुनिया और नहीं है बल्कि यह तो इसलिए है कि मैं बना अकेला हूँ।''

श्रीकान्त के भीतर हरिप्रसन्न के लिए पीड़ा उठती है। इसको क्या कहीं भी रस प्राप्त नहीं है! ऐसा कर्मण्य व्यक्ति, क्या उस कर्मण्यता में रस-बोध नहीं है! क्या सब काम इसका अपने को वक्त से बचाने के लिए है!

ऐसे कर्मशील व्यक्ति में यह सर्वग्राही अवसाद कैसा है! उसने कहा, "तो क्या अभी तुम्हारे लिए ये चीजें लानी होंगी?"

"लाओगे तो ले आओ।"

श्रीकान्त ने कहा, "अच्छी बात है। ले आता हूँ। इन्हीं से बँधो, आखिर किसी से बँधो तो। हर ओर से छुटा रहने से कैसे जिया जाएगा, मालूम नहीं।"

निबट-निबटाकर श्रीकान्त बाजार के लिए चलने को हुआ, तब बोला, "देखो हरि! रिवाल्वर तुम दे सको तो मुझे दे दो। मैं उसे ठिकाने लगा दूँगा। नहीं तो खूब सँभालकर रखना होगा। किन्हीं कच्ची आँखों के आगे वह न पड़े।"

हरिप्रसन्न ने धीमे से मानों स्वीकृति दे दी।

"तो देते हो?"

हरिप्रसन्न ने श्रीकान्त को स्थिर निगाह से देखकर कहा, "वह ठीक-ठिकाने ही है श्रीकान्त। और वह यों क्या मिट जाने वाला है? किन्तु वह उत्पात नहीं करेगा, इसका भरोसा रखो।"

"कहाँ रखा है?"

हरिप्रसन्न ने रूखी हँसी हँसकर कहा, "ठीक रखा है।"

"अच्छी बात है।" कहता हुआ श्रीकान्त तेजी से बाहर चला गया।

हरिप्रसन्न कमरे में आ गया। रिवाल्वर निकाला। उसने भरे कारतूस निकालकर हथेली में ले लिये। वे कारतूस चुपचुपाने भाव से उसकी हथेली में लेटे हुए करवटें लेते रहे। सहसा उसने उन्हें फर्श पर पटक दिया और रिवाल्वर को उसके चमड़े के खोल में भरकर अलमारी के ऊपर डाल दिया। फिर उसके ऊपर लापरवाही से अखबार चिन दिये। अब सोचा कि कारतूसों का क्या बनाये!—फेंक दे! तोड़ डाले! अन्त में उन्हें भी एक पोटली में कसके बाँधकर अलमारी के ऊपर डाल दिया। उसके बाद—खाली! यह खालीपन उससे नहीं झिलता। नहीं, वह खाली नहीं रहेगा। हाँ ठीक-ठाक। कुछ सोचकर मानों झपटकर तब वह इस कमरे की प्रत्येक वस्तु को झाड़-पोंछकर करीने से लगाने में लग गया। तसवीरें उसने सब उतार लीं, पोंछीं और फिर से टाँगीं। जाने कितनी देर इसमें न लगी। किन्तु यह सब करने के बाद सोच हुआ, अभी नहीं आया! क्यों अभी नहीं आया? कमरे से बाहर चलकर टहला और फिर वापस कमरे में आ गया। सोचा कि इस कमरे में फर्श पर ही अपनी दरी डालकर सोऊँगा। तब उसके सिर में घूमने लगा कि नहीं मालूम यह कमरा उन भाभी के किस काम आता रहा होगा! यहाँ उनके वाद्य-यन्त्र रखे हैं, यहाँ किताबें रखी है, यहाँ

तसवीरें टँगी है। यही कमरा आज उसका है। आज इसी कमरे के फर्श पर वह दरी बिछाकर सोवेगा।

वक्त को जब हरिप्रसन्न नहीं काट पाता, तब खाली रहकर वही हरिप्रसन्न को काटता है। वह देखने लगा कि अभी श्रीकान्त नहीं आया है, अभी नहीं आया है। वह अपने सिर में घूमती हुई जाने किन-किन बातों को लेकर यही देखता रहा कि अभी तक श्रीकान्त नहीं ही आया है। उसे गये दो घण्टे हो गये हैं। उसने उस कमरे के फर्श पर दरी बिछा ली और चाहा कि लेट जाए। किन्तु लेटा नहीं, टहलने लगा। अपने साथ तर्क दिया कि घर की चौकसी पर इस समय वही तो है, फिर कैसे लेटा जा सकता है। इस पर बाहर दालान में आकर टहलने लगा।

टहल रहा था कि एक नवयुवक पास आया, हरिप्रसन्न ने उसे देखा। पहचाना। युवक ने प्रणाम किया।

हरिप्रसन्न ने अत्यन्त अन्यमस्क स्वर में कहा, ''क्यों?''

युवक ने कहा, ''आपकी जरूरत है।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''मेरी जरूरत न पैदा करो। जो आदेश हुआ उस पर चलो। कोई नयी खबर है?''

''आप आएँगे?''

''देखो।''

उसके बाद वह युवक आँखों-ही-आँखों में कुछ पूछता हुआ खड़ा रह गया।

हरिप्रसन्न अतिव्यस्त भाव से बोला, ''क्यों?''

युवक लड़खड़ाता-सा बोला, ''मैं—जाऊँ?''

मानों बात को एकदम यहीं टूटा देखना चाहता हो, इस भाँति हरिप्रसन्न ने कहा, ''हाँ, जाओ।''

युवक ने तब भी कहना चाहा, ''फिर?''

''बस, कल शाम।''

''आप यहीं मिलेंगे?''

''यहीं, यहीं, यहीं। सुना?''

युवक प्रणाम करके चला गया।

हरिप्रसन्न और तेज चाल में टहलने लगा और टहलता रहा। थोड़ी देर में जब श्रीकान्त आया तब उसने मानों बड़े सान्त्वना के स्वर में कहा, ''तुम आ गये! बड़ी देर लगा दी।'' और बढ़ा कि मानों इस क्षण मित्र को आलिंगन में बाँध लिये बिना उससे रहा नहीं जाएगा। किन्तु बीच में ही उसे रुक जाना पड़ा। उसे दीखा कि श्रीकान्त अप्रत्याशित रूप में बन्द है, मूक है।

श्रीकान्त कुछ नहीं बोला। उसके पीछे-पीछे जो झल्लीवाला आ रहा था उसकी

झल्ली में से सब सामान अलग रखकर, पैसे देकर जब उसे विदा कर दिया, तब श्रीकान्त ने कहा, ''देखो हरि, तुम्हारी सब चीजें ठीक हैं कि नहीं।''

हरिप्रसन्न ने श्रीकान्त की ओर देखा। देखकर हठात ठिठक रहा। कहा ''श्रीकान्त!''

श्रीकान्त क्या कुछ मुस्कराया? कहा, ''टहलना छोड़ो, सामने देखो हरि, देखो सब पूरा है कि नहीं।''

25

श्रीकान्त हरिप्रसन्न को कुछ देर देखता रहा। अनन्तर उसने कहा, ''हरि, तुम्हारा बिस्तर ऊपर बिछा मिलेगा। मैं इतने जरा दफ्तर में बैठता हूँ।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''अभी तो तुम्हारे सामान की परीक्षा लेनी होगी। सो कौन जानता है कब सोना मिले। नींद आएगी तो इस कमरे में ही पड़ा रहूँगा।''

श्रीकान्त इस व्यक्ति को रात को अकेला छोड़ना नहीं चाहता। सोचता है। रात को बात-बात में इसको बहलाना होगा। इसके मन की बात भी कुछ मिली तो लूँगा। कहा, ''ऊपर ही सोना, हरि। रात को बात करेंगे।''

हरि ने कहा, ''फिक्र न करो, मैं यहीं पड़ा रहूँगा।''

श्रीकान्त ने देखा, हरि वश में आनेवाला नहीं है। यहाँ हो कि कहीं हो, वह शायद सर्वत्र ही अपनी विधि से चलेगा। कहा, ''अच्छा-अच्छा, अभी तो मुझे घण्टे-भर की छुट्टी दो।'' कहकर श्रीकान्त चला गया।

हरिप्रसन्न सामान लेकर स्टडी-रूम में चला गया और उसे फैलाकर तभी कुछ चित्र-वित्र बनाने में लग गया।

सोने का काफी समय बीत जाने पर श्रीकान्त उसे पुकारता हुआ आया तब भी वह बोर्ड के कागज पर झुका हुआ कुछ खींच रहा था। श्रीकान्त ने कहा, ''क्या कर रहे हो, सोओगे नहीं? उठो, उठो।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''बस यह पूरा कर लूँ, फिर सोना ही है।''

श्रीकान्त ने हाथ पकड़कर उसको उठाना चाहा। उस समय कुछ ऐसा संकल्पबद्ध और आर्त-सा भाव हरिप्रसन्न की आँखों में भर आया कि पूछ उठा, ''क्यों-क्यों, क्या बात है?''

हरि, ''कुछ नहीं, श्रीकान्त! मुझे यहीं रहने दो।''

श्रीकान्त, ''ऐसी क्या बात है। चित्र कल भी तो हो सकता है।''

हरि, ''चित्र तो होता रह सकता है। लेकिन वह मेरी कल्पना में अधूरा उतरा है। ऐसे में नींद कैसे आवेगी। मुझे छोड़ दो। श्रीकान्त, उसे पूरा कर लेने पर मैं यहीं सो रहूँगा।''

श्रीकान्त का मन बिलकुल इस बात को न समझ सका। ''अच्छा,'' उसने कहा, ''मैं जीने का ताला लगाकर सोता हूँ। लो यह ताली लो।''

हरि ने विस्मय से कहा, ''ताली! मैं ताली का क्या करूँगा?''

श्रीकान्त ने गम्भीरतापूर्वक कहा, ''तुम्हें रात को बाहर जाने का काम नहीं पड़ेगा?''

''नहीं।''

''तुम चित्र पूरा करके ही सोओगे! ऊपर नहीं सोओगे?''

''यहीं पड़ा रहूँगा।''

इस प्रश्नोत्तर के बाद श्रीकान्त मूक हो गया। उसके जी को समाधान नहीं था। मानो कुछ भीतर कसक हो रहा है। उसमें चाह हुई कि आशीर्वाद का हाथ ऊँचा करके वह मना उठे, 'हरि। तुम्हारी आत्मा तुम्हारे साथ रहे, और तुम्हारी यह रात सुख से कटे।' उसके मन में हुआ कि हरिप्रसन्न का एक हाथ अपने हाथ में लेकर, दबाकर छोड़ दे, और कहे 'मित्र शंकित न रहना, तुम अपने ही घर में हो।' उसको अनुभव-सा हुआ कि जैसे वह स्वयं हरिप्रसन्न के प्रति जो चाहिए वह नहीं है, कि वह हरिप्रसन्न के प्रति सब-कुछ नहीं कर पा रहा है।

अतिशय स्नेहपूर्वक उसने कहा, ''हरि, तुम्हारा पलंग बिछ रहा है। हो सके तो ऊपर ही आ जाना।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''श्रीकान्त तकलीफ क्यों करते हो? मैं तकलीफ के लायक हूँ! मैं यहीं जो पड़ा रहूँगा।''

श्रीकान्त ने एकाएक कहा, ''हरि तुम अभी परमात्मा में विश्वास नहीं करते हो?''

''नहीं-नहीं।''

''लेकिन मुझे कहने तो दोगे, भगवान तुम्हें सुखी रखे। भगवान सबको सुखी रखे।'' कहकर श्रीकान्त धीमे-धीमे कदमों से चला गया।

हरिप्रसन्न पीड़ाग्रस्त-सा हो शनैः-शनैः अस्त होते हुए श्रीकान्त को देखता रहा। जब श्रीकान्त ओझल हो गया, तब उसने गहरी साँस ली। और उस साँस को छोड़कर वह फिर अपने चित्र पर झुक पड़ा। मानों उसने हठात निर्णय किया कि न-न, श्रीकान्त के प्रति दयावान होने का दम्भ मैं न करूँगा।

उस रात उसने बेलबूटों की दो-तीन ड्राइंग बनायी। बीच-बीच में उनमें नागरी के अक्षर लिखे जो ठीक चीह्न न पड़ते थे, न जिसका क्रम और अर्थ कुछ समझ में

आता था। एक फोटो बनाया—'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' अक्षर अति दृढ़, वलयाकार, उभारदार बनाये। जैसे चुनौती उसमें भरी हो। और उस वाक्य के चरणतल में ऊपर की ओर देखता हुआ एक नन्हा-सा प्रश्नवाचक लाल रंग में टाँक दिया। वह शंका-चिह्न लहू की बूँद-सा नन्हा और लाल, रमणी के भाल पर कुंकुम के छींटे-जैसा स्थिर और दीप्त, उस गरिमामय वाक्य के मूल में स्थान बनाकर बैठा रहा। मानों वही मुख्य है। मानों समस्त का मध्य बिन्दु, हृदबिन्दु वही है; उस तमाम पंक्ति का सुहाग, उसकी गरिमा, मानों उसी फँदे की-सी बिन्दी में बन्द है। मानों आत्मा उस प्रश्न में ही है, शेष तो शरीर है—मर भी सकता है। उसको लेकर ही मानों सब सजीव है, नहीं तो सब व्यर्थ है और भ्रम है।

इसके बाद एक बड़ा-सा कैनवास लिया और उस पर उतारना चाहने लगा। कुछ वह जो उसके मन पर भी ठीक उतर कर आता नहीं है, जो पीड़ा का बना है, जो भीतर घुमड़ रहा है और घुमड़ता रहा है। उसको भी आज रेखा में बाँध देना ही होगा—उस अरूप को, अमूर्त को, जो उसकी आत्मा को डसे बैठा है। यह रात की रात बीत जाए, चाहे कि कितनी रातें बीत जावें, उसको आकार देना ही होगा।

ऊपर होगा आसमान का नीला गुम्बद, शान्त और तरंगहीन, जो नीला केवल इसलिए है कि अछोर है, अगाध है; जो नीले से भी अधिक साँवला है, सुन्न है; मानों कि अभी गूंज चुकाकर थमा है। साँझ की उजली सी हरियाली छायी है। देखो, तो दो एक तारे भी देख लो। उसके नीचे, दूर, क्षितिज पर घेरा डाले, आकाश के चरम छोर पर जैसे खड़ा है एक स्तूप—अनबूझ पहेली-सा अभेद्य, मरीचिका-सा तरल। उस स्तूप का गात्र गहरे अँधेरे का बना है। सामने बिछी है अपार पृथ्वी—बन्ध्या, ऊजड़ और सपाट। कहीं गतरस वृक्ष की ठठरी चीह्न लो, तो चीह्न भी लो। वहीं—लेकिन ठहरो, स्तूप के शीर्ष पर यह दृष्टि कैसी है? ये आँखें किसकी हैं? इन आँखों में क्या है? वे झँपी हैं कि खुली हैं? वे अधखुले, अधमुँदे नयन क्या रोके हैं—प्रलय कि प्रणय, उसमें पीड़ा है कि आनन्द! तो क्या वह स्तूप नहीं है, रमणी है? किन्तु नहीं, स्तूप ही है, पर्वत की नाईं गहन और अचल। उनके तल में खड़ा है एक पुरुष, अमावस्या के समक्ष दीपक की नन्ही-सी लौ जैसा असहाय, किन्तु ऊर्जस्व। वह सर्वथा नग्न है, बाँहें दोनों ओर क्रास की भाँति फैली हैं। देह से बलिष्ठ है, उज्ज्वल है, किन्तु कैसा पुरुष—बिन ओर-छोर के रेगिस्तान के तट पर खड़े एकाकी माल-पोस्ट जैसा। इंगित उसका खो गया है। अपार शून्य तक हो रहा है—कहाँ है उसका कोई और साथ, कहाँ है कोई? ईसा की क्रास-मुद्रा में खड़ा है, वह पुरुष। जाने कब से खड़ा है! उसके समक्ष जाने क्या है—स्तूप है, कि शून्य प्रसार है, कि सर्वाहारी रमणी है। खड़ा है कि उन फैली बाहुओं को जोड़कर प्रणाम करेगा, कि आलिंगन करेगा, कि विदारण कर डालेगा, नहीं जानता। मानों अड़ा है, पुकारता हुआ—'ओ तू...!'

इसी को हरिप्रसन्न कैनवास पर उतारेगा, मन की राह से कैनवास पर उतरेगा ही! क्योंकि मन से कब तक वह पीड़ा झिलेगी? नीचे लिखेगा—ओ तू!

पेन्सिल की मदद से उसी 'तू' को कागज पर बाँधने के प्रयास में वह लग रहा, और लग रहा है।

श्रीकान्त ने कोई रात को बारह बजे उठकर देखा, बिजली जल रही है और हरिप्रसन्न चित्र में लगा है, सो लगा ही है।

फिर अचानक तीन बजे के लगभग वह फिर चौंककर उठ बैठा। तब भी देखा, बिजली जल रही है। धीमे-धीमे पैरों से गया कि कहे, 'हरि बहुत हुआ, सोओ' किन्तु पास जाकर देखा तो हरि दोनों हथेलियों पर ठोड़ी रखे, उँगलियों से कनपटी पकड़े, सामने पीछे कागज पर काली लकीरों से बने आल-जाल को ऐसा खोया-सा देख रहा है मानों वहाँ उसके प्राण कील दिये गये हों। देखकर श्रीकान्त चुपचाप लौट आया।

सवेरे पाँच बजे वह घूमने जाने के लिए उठता है। आज देर हो गयी। छः बज गये। आकर देखता है कि बिजली जल रही है और कागज के पास ही हरिप्रसन्न एक बाँह का तकिया लगाये सो रहा है। सो रहा है जैसे थका मजदूर, उघाड़ा निरीह। श्रीकान्त कुछ क्षण सुन्न भाव से उसे सोता हुआ देखता रहा। फिर दबे पाँव लौटकर अपने कमरे में आया। फिर दफ्तर के कमरे में चला गया, घूमने नहीं गया।

26

हरिप्रसन्न जब जगा, दिन चढ़ आया था। देखा, आसपास चित्रकारी का सामान पड़ा है। क्या वह यहीं यों ही सो गया था? अपने शरीर पर अण्डी की चादर पाकर उसने जान लिया कि यह श्रीकान्त ही उसे उढ़ा गया होगा। उसका मन श्रीकान्त के प्रति आभार से भरता आने लगा। धीरे-धीरे मानो यह उस मन के लिए भारी हो चला, तब जल्दी से उठकर सब चीजें सँभालकर ठीक रख दीं और स्वयं निबटकर बुहारी लेकर घर झाड़ने में लग गया। और नहीं तो वह इसी भाँति इस घर की सेवा में अपने को तनिक व्यय कर लेना चाहता है।

ऐसे ही समय श्रीकान्त आ गया, बोला, "तुम उठ गये? रात मालूम होता है बहुत देर से सो सके। यह झाड़ू लगाने का तुम्हें क्या रोग है?"

हरिप्रसन्न ने कहा, "हाँ, रात देर तक वह तसवीर सिर पर चढ़ी रही। देखो न, इतने दिन चढ़े तक भला कोई मानस सोता है! और हाँ बताओ, आज तुम्हें क्या बना कर खिलाऊँ? तुम देखोगे, मैं एकदम बुरा पाचक नहीं हूँ।"

श्रीकान्त ने मुस्कराकर कहा, ''खाना यहीं बनेगा, तुम बनाओगे? यही सही। लेकिन मैं ठहरा अनाड़ी—।''

हरिप्रसन्न बोला, ''वकील और अनाड़ी! लेकिन तुम अपनी वकालत का काम देखना। खाना बन बना चुकेगा, तब मैं खबर दूँगा। बस मुझे बता दो कि सामान कहाँ रखा है। और चीजें बताओ क्या बनेंगी?''

हरिप्रसन्न को इस घर में सेवा का कोई काम न मिल जाएगा तो चित्त उसका बेचैन ही रहेगा, वह ऐसा कुछ कृतज्ञ भाव से भर गया है। झाड़ू दे-दे कर वह घर को ऐसा साफ कर देना चाहता है कि खूब ही। चाहता है कि यह घर खूब अच्छा बने। चाहता है कि उसके अपने भीतर जो रस है सो सब का सब भीतर से उँड़ेल कर यहाँ बहा दे।

श्रीकान्त तो आरम्भ से ही हार्दिक है। आज हरिप्रसन्न के हाथ से झाड़ू लेकर कमरा बुहारते रहने में उसे कुछ कठिन और अयुक्त प्रतीत नहीं हो रहा है, मानो यह तो स्वच्छ-कर्म की सेवा है जिसके प्रति मन में अस्वीकृति होती ही नहीं है। उसने कहा, ''तुम खाना बनाओगे! अच्छी बात है। जो तुम्हारी पसन्द की चीजें हों, बनाओ। देखना है, तुम्हारी रुचि कहाँ पहुँचती है और सामर्थ्य क्या है?''

इसके बाद श्रीकान्त हरिप्रसन्न को चौके की तरफ ले गया, कहा ''यह चौका है, यह सामान रखा है, अब खोज लो कहाँ क्या है? साग-बाग चाहिए तो बताओ, क्या ला दूँ? वह सब अभी लाये देता हूँ।''

किन्तु हरिप्रसन्न आज श्रीकान्त को कुछ भी नहीं करने देना चाहता है। उसने कहा, ''तुम लाओगे? क्यों, साग के बिना न चलेगा?''

''क्यों न चलगा?''

''क्यों न चलेगा? रूखी रोटी खिलाओगे तो भी भाई, खाएँगे।''

''तो आज रूखी ही खिलाऊँगा, चुपड़ी तो सदा खायी होंगी।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अभी की बात है, शाम को वह आ ही जाएँगी। देखना, ज्यादा बखेड़ा न करना। मैं तो कहता था, अब भी उस झंझट क्यों, खाना वहाँ से आ ही जाता।''

हरिप्रसन्न के हर्ष पर अलक्ष्य भाव से मानो पानी से भरा हल्का-सा बादल आ गया। उस हर्ष की खिलती हुई धूप कुछ जैसे छिप गयी। उसने कहा, ''एक रोज उनके हाथ की रोटी तुम्हें न मिलेगी, इसकी चिन्ता होती है!''

श्रीकान्त ने कहा, ''मेरा क्या है, तुम झंझट मोल लेना ही चाहते हो तो लो। एक दिन उनके हाथ की रोटी से वंचित रहूँ, तुम समझते हो कि यह मेरे लिए सुख की बात हो सकती है! (मुस्करा के) सुख की बात तो यह निःसन्देह नहीं है। (और भी मुस्करा के) लेकिन तुम्हारे हाथ की रोटी भला कब-कब मिलनेवाली है।''

हरिप्रसन्न बिना कुछ उत्तर दिये साथ लगी हुई कोठरी में रखे टीन के डिब्बों को खोल-खोलकर देखने लगा। जहाँ खड़ा था वहीं से श्रीकान्त ने कहा, ''अब तुम हो और यह घर है। मैं आता हूँ।''

हरिप्रसन्न ने अनिर्दिष्ट भाव से कहा, ''ठहरो जरा।''

डिब्बों की देख-भाल के बाद लौट आकर हरिप्रसन्न बोला, ''भाभीजी बड़ी लापरवाह हैं।''

''अब आ रही है शाम को, तब खबर लेना।''

हरिप्रसन्न इस उत्तर पर कुछ ठिठक-सा रहा। ''देखो न, मसाले भी पूरी तरह नहीं हैं। खाना अच्छा न बने तो मेरा ही दोष न होगा।''

श्रीकान्त हँसने को हो गया, ''बेशक न होगा। लेकिन तुम इतने में नहा-धो कर निबटो, मैं दफ्तर हो आऊँ। देखो, हो सका तो जरूर तुम्हारा शिष्यत्व करने रसोई में पहुचूँगा। हाँ, तुम्हें सौ रुपये एकदम अभी चाहेंगे! शायद अभी तो नहीं मिल सकेंगे।''

''चाहिए तो अभी।''

''अभी?''

''हाँ, शाम तक।''

श्रीकान्त ने देखा, हरिप्रसन्न का चेहरा अँधियारा-सा पड़ता जाता है। मानो इस स्थल पर वह अपने साथ समझौता नहीं चाहता। कहा, ''शाम को तो वह ही आएँगी। तब तक कैसे होगा?''

''नहीं होगा?''

''कैसे होगा?''

''होना चाहिए, श्रीकान्त!''

श्रीकान्त मानों अपने मन के भीतर अपने को अपराधी स्वीकार करने लगा। मानो वह अपना कसूर देख रहा है, मानो उस दोष को स्वीकार कर लेना चाहता है। उसने कहा, ''अच्छी बात है, देखो।'' कहकर चले जाने की उसमें ऐसी कातरता हो आयी कि हरिप्रसन्न को अवकाश ही न रहा कि कुछ कहे। श्रीकान्त चला आया और हरिप्रसन्न ने उसे चले जाने दिया।

क्षण-भर हरिप्रसन्न अँधियारा और अज्ञेय, अचल और पराभूत, भूला-सा वहीं- का-वहीं खड़ा रहा। फिर धीमे से मानो अनिश्चयपूर्वक उसने डग बढ़ाया। एक डग, दो डग, तीन डग, इस प्रकार पाँच-सात कदम रखते-रखते उसमें एक प्रकार की तत्परता भर आयी। तब अपनी छोड़ी हुई बुहारी खोज लेकर वह झटपट सफाई करने में लग पड़ा। अत्यन्त व्यस्त भाव से वह कर्म में लगा रहा, और लगा ही रहा। सफाई के बाद नहाया, धोया, सब काम बड़ी फुर्ती से किये। अन्त में वह इस भाँति

खाना बनाने में जुट पड़ा मानों कर्तव्य से चारों ओर से जकड़ा है, आदेश में बँधा है।

श्रीकान्त जब आफिस से थोड़ी देर के लिए छुट्टी लेकर इधर आया, देखा, हरि मनोयोगपूर्वक खाना बनाने में व्यस्त है, उसने कहा, ''महाराज जी! कितनी देर है?''

हरिप्रसन्न हँसा नहीं, मुस्कराया भी नहीं, बोला, ''आओ, कुछ देर नहीं है।''

''आकर मदद दूँ?''

''नहीं, नहीं थाली लेकर बैठो।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा,'' और यह कहकर कमीज उतार दी और सिर्फ बनियान पहने चौके में आ गया। तब उसने हुए आटे में हाथ लगाकर कहना प्रारम्भ किया कि वह बहुत गीला है, या कि बहुत सख्त है; बनती हुई दाल का एक कन हरी से माँगकर बताया कि वह हो तो गयी है, उतारते क्यों नहीं, और कि उसमें हल्दी ठीक नहीं पड़ी है, क्योंकि वह सुन्दर तो दीखती नहीं; और चटनी बनायी? नहीं बनायी? वाह क्यों नहीं बनायी? और यह कहते-कहते जल्दी से उठकर सिलबट्टे को पानी से धोने लगा। चटनी तो बनायी नहीं, देखो मैं बनाता हूँ। कहकर जोर से मल-मलकर और सिलबट्टे को पानी से धोने लगा।

हरिप्रसन्न का जी सब देखकर खिल पड़ने को मानो लाचार ही हो गया!

उसने कहा, ''चलो बहुत हुआ। ऊधम छोड़कर ठीक तरह पटरा-थाली लेकर बैठो। सुना नहीं?''

''नहीं, चटनी के बिना कहीं खाना होता है! देखो मैं बनाता हूँ!''

''अच्छा, बनाओ।''

सिल और बट्टे को तीसरी बार रगड़-रगड़कर धोकर श्रीकान्त ने कहा, ''लेकिन बताओ तो, इसमें क्या-क्या चीज़ें पड़ेंगी। नहीं तो बनाऊँगा कैसे?''

हरिप्रसन्न हँस न पड़ा, यह बहुत समझो। उसने कहा, ''देख ली आपकी चटनी। अब बैठिए।''

''तो चटनी नहीं बनेगी! वाह, यह क्या बात है?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''चटनी नहीं बनेगी, लेकिन रोटी बनेगी। वह तवा देना।''

श्रीकान्त ने जल्दी से उठकर जहाँ बताया था, वहाँ से तवा लाकर दे दिया और पूछा, ''दाल हो गयी?''

''हाँ, हो गयी।''

''रोटी की लोई मैं बना सकता हूँ, बहुत उम्दा।''

''यह बात है! अच्छा बनाओ।''

मतलब कि श्रीकान्त के निपट अबोध व्यवहार ने हरिप्रसन्न के भीतर कहीं से घुमड़-घुमड़कर उठकर आते हुए अँधियारे काठिन्य को फूँक से बगूला जैसे उड़ जाए, वैसे उड़ा दिया। हरिप्रसन्न को लगा कि इस श्रीकान्त का यह वश नहीं है कि सौ

रुपये मेरी माँग के विरोध में अपने पास रोक रखे। लेकिन यदि रुपये हरिप्रसन्न को न मिले तो भी श्रीकान्त के प्रति वह कठिन नहीं हो सकेगा।

श्रीकान्त की सरलता देख किन्तु हरिप्रसन्न का चित्त एक प्रकार के भय से भी दबा जाता है! सबको अवकाश देने के लिए उद्यत वायु के प्रति क्या तलवार की धार में स्पर्धा हो सकती है! वह धार हवा को कैसे काटे? उसका पैनापन उस जैसी वस्तु के आगे तो मानों व्यर्थ ही हो जाता है। जो तीखी धार सब कुछ काट देगी, स्वच्छ तरलता को वही किस दाँत से काट सकती है? तीखे की, पैने की स्पर्धा यहीं कुण्ठित होती है। उसका अहंभाव यहीं आकर मानों क्षार-क्षार होना चाहता है। उत्ताप के लिए इससे बड़े भय का हेतु और क्या है कि कोई उससे न तपे। तब उसे अपनी ही तपन की व्यर्थता मानों डसने को आती है। यही शक्ति मर्यादा है, गर्व यहीं खर्च होगा। दम्भ का यहीं स्खलन है, दर्प यहीं नमता है।

हरि का चित्त मानों एक प्रकार की व्यर्थता के बोध के नीचे संकुचित हो रहता है। संकुचन में से ही अहंकार का उदय है, भय की भीति है। मानों कुछ उसके भीतर से व्यंग्य करता हुआ उठता है—क्यों, तू जीवित है? तू जयी है? अरे तू तो अधम है, अधम है।

खाना खाने के बाद श्रीकान्त चलने को हुआ तब हरिप्रसन्न ने कहा, "रुपये तो मुझे दोगे, यह मैं जानता हूँ; लेकिन पाँच-सात रोज अपने घर में ही रहने दो न। जाकर भाभीजी से कहो कि मैं तुम्हें खूब अच्छी तरह खिला-पिलाकर रख लूँगा। वह यहाँ आने की चिन्ता न करें। पाँच-सात रोज में मैं चला जाऊँगा, इतने तुम्हारी सेवा मेरे जिम्मे रहने दें।"

श्रीकान्त एकदम मानों कहीं गहरे में छू गया। बोला, "हरिप्रसन्न!"

इतना कहकर श्रीकान्त रुक पड़ा। उसने हरिप्रसन्न को स्थिर दृष्टि से देखा, फिर कहा, "क्या कहते हो हरिप्रसन्न?"

हरिप्रसन्न विचलित होते-होते भी सँभला। कहा, "तुम्हें उनके पीछे तकलीफ न होगी, इस बात का उन्हें मेरी ओर से विश्वास दिला सकते हो। इसके बाद वह यहाँ आना जरूरी न समझें, तो कोई हर्ज की बात नहीं।"

श्रीकान्त ने स्थिर दृष्टि से हरि की ओर देखते हुए स्थिर वाणी में कहा, "हरि, शाम को वह यहाँ आ रही हैं। रुपये की बात भी उन पर मौकुफ है। मेरी चिन्ता उनका काम है। जीवन-भर वह काम उनसे छिनकर अलग न होगा। यह उनका व्रत है, उपासना है। और आज मैं क्या जानता हूँ कि उस व्रत के साथ तुम्हारी भी चिन्ता उठाने योग्य सामर्थ्य उनमें न होगी। झंझट न उठाओ। उन्हें आने दो। (मुस्करा के) तुम्हारा सब पाक-चातुर्य और बुहारी-रोग तब व्यर्थ हो जाएगा। तुम आराम करना, आराम।"

हरिप्रसन्न के अधिक कसे चित्त को मानों यहाँ बेठीक ठोकर लगी। जो स्वर

उसमें से ध्वनित हुआ उसमें खरखराहट विशेष थी। कहा, "रुपये की बात तुमने उनसे की?"

"न करूँ, इससे गुजारा होगा?"

"देंगी, तो वही देंगी?"

"और मैं कहाँ से पाऊँगा?"

हरिप्रसन्न कुछ सोचता रह गया। उसने अन्यस्थ भाव से गुनगुनाया सा—'अच्छा', और वह अपने खाने की सँभाल में लग गया।

श्रीकान्त चलने लगा, बोला, "मैं कचहरी से जल्दी आ जाऊँगा। किसी चीज की जरूरत तो नहीं है?"

"कुछ नहीं। शाम तक तुम मेरी तसवीर की लकीरें-ही-लकीरें नहीं पाओगे, तुमने उसे देखा?"

"अभी मैं उसे क्या समझूँगा। शाम को देखूँगा कि तब भी समझ पाता हूँ या नहीं?"

श्रीकान्त चला गया।

27

फुर्सत पाते ही हरिप्रसन्न चित्र में लग गया। ऐसा लग गया कि कब दोपहर ढलकर तीसरा पहर होने के निकट आ गया, कुछ पता ही न चला। अब सन्ध्या भी हो जाएगी। चित्र बनाते-बनाते जो बीच-बीच में सिर को दोनों हाथों से पकड़कर वह उठ खड़ा हुआ है, टहला है, कागज के रद्दी टुकड़ों को उठाकर और चीर-चारकर जो उसने इधर फेंका है, कभी गुनगुनाया है, कभी आँख मींचकर सुन्न बैठा रह गया है—सो यह सब चित्र बनाने की प्रक्रिया का ही अंश समझा जाए। इन सब बातों में भी उसे समय का अथवा दुनिया का ध्यान ही नहीं रहा है।

धीरे-धीरे उसे भास हुआ कि उसकी आँख का प्रकाश तो कहीं कम नहीं हो रहा है? साँझ आती-जाती है और कमरे का उजाला छीजता जाता है, जब मालूम हुआ कि असली बात यह है, तब वह उठ खड़ा हुआ, टहला, सुस्ताया, पर कुछ ही देर में बिजली की बत्ती उसने खोल ली। उस समय देखते-देखते वह बनता हुआ चित्र उजला हो आया। तब फिर वह उस चित्र के तट पर बैठ गया, उसे निहारने और बनाने लगा।

काम के बीच में उसे मालूम हुआ कि सहसा कोई कोलाहल बिलकुल मकान

के बाहर चौके में ही आ पहुँचा है। एकाएक तो वह कोलाहल ही लगा, फिर शनैः-शनैः ऐसा लगा कि वह जैसे कोलाहल ही नहीं है जो अप्रिय हो, बल्कि उसमें परिचित भी कुछ है; खिलखिलाहट भी है जो प्रीति-भाजन हो, लेकिन यह सब-कुछ उसे अपनी मग्नता में व्याघात स्वरूप ही लगा। वह कुछ झुँझलाता-सा बाहर आया—देखता क्या है, आ रही हैं भाभी और सत्या। उसके पैर बँध गये। अनुभव हुआ कि वह एकदम लौटकर भाग नहीं सकता। दीखा कि दोनों बढ़ी आ रही हैं। और भी दीखा कि उनके पीछे जीना पार करके आविर्भूत हो गया है श्रीकान्त भी जिसके हाथ में एक ओर थैला लटका है, दूसरे में पोटली-सी थमी है। लगभग साथ-ही-साथ उस जीने में से है, निकलकर आया एक नौकर भी, जिसके सिर पर सामान का एक गट्ठर लदा हुआ है।

"नमस्ते!"

हरिप्रसन्न ने भी नमस्ते जैसी ध्वनि की। अनायास माथा झुका और हाथ भी कुछ जुड़े से।

दीखा कि नमस्ते कहकर भाभी कुछ अचकचा नहीं रही हैं, सो नहीं है। और पीछे खड़ी सत्या मानों जतला रही है कि जैसी मुझसे हो सकी, वैसी नमस्ते मैंने कर ली है। तुम नहीं जानते तो मैं नहीं जानती। मैं जोर से बोलकर नमस्ते कहने वाली नहीं हूँ। वह भाभी की परछाईं में चल रही है कि 'मैं कर चुकी हूँ जी नमस्ते।'

सुनीता अचकचा न जाए तो क्या करे। यह हरिप्रसन्न का रूप क्या हरिप्रसन्न के जैसा है! देखो न, कैसा विचित्र लगता है! और यह महाशय क्या सोते रहे हैं कि आँख में सपना भरा है! माथे पे पसीना कैसा है।

बहुत ही पास आ गयी, तब पूछा, "आप सकुशल तो हैं?"

उत्तर में अवश्य हरिप्रसन्न ने कुछ-न-कुछ कहा, पर मानो वह अपने से अप्रसन्न था।

श्रीकान्त ने आगे आकर कहा, "कहो हरि, जान पड़ता है तसवीर में लगे रहे। लेना सत्या, यह झोला लेना, और यह पोटली भी सँभालना, देखो गिरे नहीं।"

'गलत, गलत, गलत!' मानो सुनकर सत्या के मन में यही बजा। और मानो अपनी पद-चाप में यह 'गलत, गलत' की झनकार देती हुई वह पास आ गयी, चुपचाप झोला ले लिया, पोटली सँभाल ली और अविलम्ब लौटकर चलती चली गयी।

सुनीता ने कहा, "ओ रामदयाल (नौकर)! इधर ले आ, इधर।"

और रामदयाल अपने सिर वह सामान लेकर उधर बढ़ता चला गया।

वे सब सामने से निकलते चले गये तब हरिप्रसन्न अपने कमरे में चले जाने को बढ़ा। श्रीकान्त ने कहा, "कहाँ जाते हो? चलो, घूमने चलते हो? बाहर गाड़ी खड़ी

है, आओ जरा घूम आएँ।''

हरिप्रसन्न ने तनिक दृढ़ स्वर में कहा, ''नहीं।''

''अरे, तुम्हें घर में आलस नहीं आता! सुहावना समय है, आओ चलें।''

हरि ने कहा, ''नहीं। लेकिन एक बात सुनोगे?''

हरिप्रसन्न मुड़कर स्टडी-रूम की ओर चला। पीछे-पीछे श्रीकान्त भी बढ़ता गया। स्टडी-रूम में पहुँचकर हरिप्रसन्न एकाएक रुका, मुड़ा, बोला, ''श्रीकान्त, मुझे आज ही शाम को सौ रुपये एक को देने हैं। वह व्यक्ति आएगा। उसको मैंने विश्वास दे दिया है।''

श्रीकान्त ने इतना ही कहा, ''हरिप्रसन्न!'' और उसे देखता रह गया।

हरि ने अधूरी तसवीर को संकेत से दिखाते हुए कहा, ''वह चित्र देखते हो? पूरा होने पर सौ से ज्यादा ही उसकी कीमत लगेगी, इसकी मैं गारण्टी दे सकता हूँ, श्रीकान्त!''

श्रीकान्त की भौंहें सिकुड़ आयी। पूछा, ''वह कौन है?''

''कौन है, यह मैं भी नहीं जानता हूँ। एक दल का सदस्य है, विश्वसनीय है। दल का काम अटका है, रुपये उसको पहुँचने चाहिए।''

श्रीकान्त ने कहा, ''मुझे अभी घूमने की छुट्टी दे सकोगे? जरा खुली हवा में जाऊँगा।''

हरिप्रसन्न ने असमंजस में कहा, ''तो?''

श्रीकान्त ने कहा, ''मैं जल्दी ही लौटूँगा।''

हरि ने कहा, ''लेकिन वह व्यक्ति आना ही चाहता होगा।''

''कब आएगा?''

''किसी समय भी आ सकता है।''

''मैं एक घण्टे के भीतर ही लौटूँगा।''

हरिप्रसन्न श्रीकान्त की इस स्थिति पर चकित रह गया। उसने कहा, ''श्रीकान्त!''

श्रीकान्त ने 'बाहर गाड़ी खड़ी है' कहकर हरिप्रसन्न के हाथ को अपनी मुट्ठी में लेकर तनिक दबाया और छोड़ दिया। कहा, ''हवा की मुझे बेहद जरूरत है। क्षमा करना। मैं अभी आऊँगा। इतने तुम्हारी भाभी यहाँ हैं ही।'' कहकर श्रीकान्त चला गया।

हरिप्रसन्न खोया-सा रह गया। क्या वह अकृतकार्य हुआ है?

किन्तु यह प्रतीति भी उसके मन को नहीं है। उसे मालूम हो रहा है कि जिसको रुपये देने हैं, देने ही हैं। रुपये की बात को वह तुच्छ गिनता है। फिर भी परिस्थिति ऐसी है कि वही बात कठिन हो पड़ी है। इस पर उसे झुँझलाहट हो रही है। क्या उस लड़के के आने पर जतलाना होगा कि पैसा हो नहीं सका है, यत्न करेंगे? छिः छिः!

वह उस छोटे-से कमरे में ही घूमने लगा।

क्या राष्ट्र का एक कार्य पैसे के अभाव में अटका रहेगा? व्यक्तियों तक के काम नहीं अटके रहते हैं, तब यह अटका ही रहेगा? सौ रुपये कोई चीज है? जिसके पास सौ रुपया खाली है, उसके पास क्यों खाली है, जबकि देश का काम रुका पड़ा है? क्या ऐसा भी सम्भव होगा कि वक्त पर रुपया न मिले? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होने देना होगा।

वह जोर-जोर से टहलने लगा। थोड़ी देर तक सोच-विचार में इस तरह टहलते-टहलते कमरे के बाहर निकलकर वह उस ओर चल पड़ा जिधर सुनीता और सत्या गयी थीं; किन्तु उसके कमरे के दरवाजे के पास पहुँचकर वह ठिठकर रह गया, अन्दर नहीं चला गया। बाहर खड़ा सोचने लगा कि आवाज दे, या न दे, या यों ही भीतर चला जाए? इतने में सत्या उस दरवाजे पर आयी। हरिप्रसन्न को देखकर वह विस्मय में पड़े कि हरिप्रसन्न ने पूछा, ''भाभीजी भीतर हैं? क्या कर रही हैं?''

सत्या बिना कुछ जवाब दिये झटपट अन्दर भाग गयी।

तब अप्रतिहत भाव से हरिप्रसन्न ने दरवाजे के बाहर से पुकारा—''भाभीजी!''

थोड़ी देर में सुनीता ने दरवाजे पर आकर कहा, ''मुझे पुकारा आपने...कहिए?''

उस समय हरि सब कुछ भूल जाने-सा लगा। उसे न भूमिका सूझ सकी, न प्रस्तावना की आवश्यकता। दहलीज पर खड़ी अप्रस्तुत भाभी के सामने खड़े-ही-खड़े हरिप्रसन्न कह बैठा, ''सौ रुपये चाहिए भाभी जी...!''

सुनीता देखती-की-देखती रह गयी।

''अभी चाहिए?''

''अभी आठ बजे से पहले। श्रीकान्त से भी मैंने कहा था। आप से भी कहता हूँ। आप न दे सकें, इनकार कर दीजिए। दे सकें अभी दे दीजिए। आपको अचरज तो होगा, लेकिन जिसके लिए चाहिए वह काम तो रुक न सकेगा।''

सुनीता ने पूछा, ''वह-वह कहाँ हैं?'

हरिप्रसन्न का जी इसी स्थल पर कच्चा है। यह सुनीता हर बात में पूछेगी, ''वह कहाँ?'' और श्रीकान्त हर बात में कहेगा, ''उनसे कहूँगा।'' यह कैसी बात है! उसने कहा, ''घूमने चले गये हैं।''

सुनीता ने कहा, ''मैं अभी दो मिनट में आपके पास आती हूँ, आप चलें।''

हरिप्रसन्न ने चाहा कि कहे, 'नहीं-नहीं, इसी मिनट, इसी पल चलना होगा। सब काम बरतरफ करके मेरी बात क्यों सुनी जाएगी? लेकिन कहा उसने कुछ नहीं खड़ा ही रह गया।

''आप चलिए, मैं अभी आती हूँ। सुना आप रात बड़ी देर तक जागते रहे। वह तसवीर भी देखनी है।''

हरिप्रसन्न को हिलना-डुलना नहीं सूझा।

सुनीता ने मुस्कराकर कहा, ''सच मैं अभी आयी, रुपये की चिन्ता मत कीजिए। मैं जानती हूँ उसमें कि पाई भी आपके लिए खर्च न होगी। तब हम रुपये न भी दे सकें, तो भी कोई चिन्ता की बात न होगी।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''क्या मेरा है, क्या मेरा नहीं है। इसे मुझे जानने दीजिए। हाँ, यह मैं जानने लग रहा हूँ कि मेरे होकर रह सकें ऐसे सौ क्या एक रुपया भी आपके पास शायद नहीं है।''

सुनीता ने कहा, ''ऐसी बातें तो आप उनसे कीजिए, वह आपके मित्र हैं। मैं इस योग्य नहीं हूँ। आप इतने चलें, मैं आती हूँ। बेशक हमारे पास फिजूल नहीं है। हमारे से मतलब, उनके पास। मेरा अपना पैसा क्या है! (बायें हाथ से अपनी कलाई में पड़ी हुई सोने की दो चूड़ियों को घुमाते हुए) यह चूड़ियाँ हैं, इन्हें ले सकिएगा?''

हरिप्रसन्न परास्त होने का आदी नहीं है। किन्तु सामने जो दुर्ग है। उसके सामने तो चारों ओर मार्ग बन्द है। जय के लिए फिर किस सूत्र का सहारा लिया जाए?

उसने कहा, ''आप आ तो रही हैं न?''

''हाँ, अभी आ रही हूँ।''

और इससे पहले कि हरिप्रसन्न चलने की सोचे, सुनीता वहाँ से गायब हो गयी। सत्या भीतर फैले हुए सामान को यथास्थान लगाने में दत्तचित्त थी। यथास्थान? यथास्थान न सही तो क्या, उस अभी हाल आये सामान पैकेटों के साथ उठा-धर तो वह कुछ-न-कुछ कर ही रही थी। जीजी के लौटने पर उसने पूछा—''क्या था?''

जीजी ने कहा, ''कुछ नहीं।''

सत्या ने मन ही मन में कहा, ''हूँ:!''

सुनीता ने कहा, ''अरी, जल्दी-जल्दी कर, खाना भी तो बनाना है। सुनती है? मैं अभी जाकर तेरी पढ़ाई की बात पक्की कर आती हूँ। इसे छोड़, इतने तू रसोई में जाकर साग-वाग सुलगा, कुछ शुरू कर, मैं थोड़ी देर में पहुँचती हूँ।''

सत्या के मन फूल-फूलकर उठने लगा वही शब्द—'हूँ' और वह चुप रही।

''तुझे जाने की जल्दी तो नहीं है न? आज यहीं रह जा। अरे इस सामान को छोड़ न, रसोई में न जाकर देख, यहाँ का मैं सब ठीक किये देती हूँ।''

सत्या बोली, ''मैं उनसे नहीं पढ़ूँगी।''

सुनीता ने हँसकर कहा, ''वह तो खैर देखा जाएगा, लेकिन आज के लिए पराँवठे ही डाल लेंगे, और क्या?''

इस बीच जब कि सत्या के हाथ अनायास काम में शिथिल पड़ गये थे, सुनीता जल्दी-जल्दी चीजें मँगवाकर रखती जाती थी। इस काम को झटपट निबटाकर सुनीता हरिप्रसन्न के कमरे में चल खड़ी हुई। सत्या से कहा—''देख, मैं जाती हूँ, खाने में

देर न हो जाए कहीं भला?''

सत्या ने मानों जोर लगाकर कहा, ''ऐसा कोई जरूरी काम है, जीजी?''

जीजी मुस्करायी, ''हाँ, काम तो है।''

सत्या के मन में फिर वही घुमड़ता हुआ भाव उठा—'हूँ।'

28

जीवन के दो ढंग हैं। एक तो यह कि बहुत सोचते-विचारते हुए चला जाए। दूसरे यह कि अपने सहज भाव से चलते जाया जाए, सोच-विचार की पोटली कम से कम बाँधकर अपने पास रखी जाए। अँग्रेज़ी का एक शब्द है—सेल्फ-कान्शस। अपने सम्बन्ध में जब हमारी चेतना हमारे भीतर रमी हुई, समाई हुई नहीं रहती, पृथक पिण्ड की भाँति, काम्प्लेक्स गाँठ-सी बनी भीतर अन-समायी-सी छलकती-उछलती रहती है, तब आदमी को चैन नहीं पड़ता। मनुष्य नामक सबुद्धि प्राणी में सोच-विचार का सिलसिला तो यों किस क्षण टूटता है, वह तो चलता ही रहता है। किन्तु उस सोच-विचार में मनुष्य का अहम बहुत मिला रहे तो गड़बड़ी होती है। उसी को कहते हैं 'सेल्फ-कान्शस।' इस स्थिति में मनुष्य के व्यवहार का सरल भाव नष्ट हो जाता है। अत्यन्त सोच-विचार के भार को ऊपर लेकर जीवन चलाने की नीति में यह खतरा है ही। जीवन व्यापार की जो दूसरी पद्धति है, अर्थात् सहज भाव से रहना, सोच-विचार के साथ अपनी खातिर ममत्व न रखना और उससे परिग्रह के प्रति असंलग्न चले चलना—हमें तो वह प्रिय लगती है। यह वैसी भारी भी नहीं है। सुनीता सीधी स्टडी- रूम में ही चलती चली आयी। विशेष सोच-विचार के लिए उसने अपने तईं पृथक फुर्सत नहीं निकाली।

हरिप्रसन्न कुछ न पा रहा था। अपने को लेकर झमेले को ही सुलझाने के यत्न में उलझ रहा था। दृष्टि चित्र में गड़ी थी, फिर भी उस चित्र के भाव तो क्या रूप तक को वह नहीं देख रही थी, ऐसी दूरस्थ वह दृष्टि थी।

''मुझे देर तो बहुत नहीं हुई, मैं समझती हूँ।''

यह सुना, तब मानों हरिप्रसन्न जागा।

हमने हरिप्रसन्न और सुनीता नाम दिये हैं। वे नाम झूठ नहीं हैं, पर नाम ही हैं। सुनीता स्त्री है, हरिप्रसन्न पुरुष हैं। उन नामों के बहुत नीचे जाकर उन दोनों में एक केवल स्त्री रह जाती है, दूसरा पुरुष रह जाता है। अपने चलन व्यवहार में चलने वाले नाते-रिश्ते और नाम-धाम असत्य वस्तु नहीं है। पर प्राणी के प्राणों में बहुत गहरे

जाकर मानों वे सब-कुछ ऊपर सतह पर ही छूट जाते हैं। तब कहना होता है—'अरे अमुक तो स्त्री ही निकली!', 'देखो न, हम उसको ऐसा (सज्जन अथवा दुर्जन, अथवा ख) समझते थे, वह तो हम-तुम जैसे ही निकला!' नाना संज्ञाओं, विशेषणों और विविध सर्वनामों के सहारे जो मनुष्य-जाति अपना काम चलाती हुई जी रही है, प्रथमत: वह द्विविध है—स्त्री और पुरुष। कुटुम्ब-परिवार पीछे आते हैं, नाते-रिश्ते, नाम-गोत्र, मत-पन्थ, वर्ण-सम्प्रदाय सब पीछे आते हैं। यह हमको भूलना नहीं है कि जो सुनीता है वह सुनीता ही है, और हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न है। पर यह भी नहीं भूलना है कि सुनीता नाम के तले संगृहीत व्यक्तित्व के भीतर वह मात्र और प्रकृत स्त्री है, उसी भाँति दूसरा भी अपने नाम की अभिधा ओढ़कर बस पुरुष है।

हम कहते हैं पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता और पुत्र, बहिन और भाई। वह ठीक है। वे तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योगायोग के मार्ग बने नाना सम्बन्धों के लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं। किन्तु सर्वत्र कुछ बात तो सम-भाव से व्यापी है। सब जगह स्त्री-पुरुष इन दोनों में परस्पर दीखता है आंशिक समर्पण, आंशिक स्पर्धा। सब कहीं एक दूसरे के प्रति इतना उन्मुख है कि वह उसको अपने भीतर समा लेना चाहता है। सब नातों के बीच में और इन सब नातों के पार भी यह। एक में दूसरे पर विजय की भूख है, किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की चाहत भी है ही।

दोनों में परस्पर होड़ें हैं, उतनी ही तीव्र जितनी दोनों में परस्पर के लिए उत्सर्ग होने की अभिलाषा। वे दोनों विरोधी भाव स्त्री-पुरुष के बीच में समतोल है। समतोल इसलिए नहीं कि वे बँटे हुए हैं। प्रत्युत इसलिए कि वे दोनों वहाँ अपनी पूर्णता में हैं। जहाँ इन दोनों का विरोध भी सिद्ध है और समन्वित ऐक्य भी, उस विस्फोटक महत्व के लिए, क्यों जी, क्या शब्द है? उसे किस संज्ञा के सहारे निर्देश करके हम भौचक्के रह जाते हैं।

लेकिन हम कहानी कहें—

सुनीता कहती आयी, "मुझे बहुत देर नहीं हो गयी है, मैं समझती हूँ।"

यह सुना तब हरिप्रसन्न जागा। वह उठा। अभी तक नीचे फर्श पर बैठा था, अब उठकर एक कुर्सी ले आया, कहा, "बैठिए।"

सुनीता बैठ गयी, उसके बैठते-बैठते दूसरी कुर्सी भी वह खींच लाया, किन्तु उस पर बैठा नहीं। उसकी पीठ पर दोनों कोहनी टिकाकर झुका हुआ खड़ा रह गया।

सुनीता को तनिक भी यह नहीं सूझा कि उसे कहना चाहिए—'बैठिए!' उसने कहा, "मुझे खाना भी बनाना है। वक्त ज्यादा नहीं है, इसके लिए आप माफ कर देंगे न? मैं पूछ सकती हूँ, रुपया आपको किसलिए इस जरूरी तौर पर चाहिए?"

"नहीं पूछ सकती हो।"

बात जैसे एक साथ घनघोर हो पड़ने लगी। तो हो पड़े घनघोर, सुनीता दबती

ही क्यों जाए?

"तो इनकार भी नहीं कर सकती हूँ?"

"जरूर कर सकती हो।"

"तो यह तो समझा ही जा सकता है कि अँधेरे में पैसा फेंकना किसी को अच्छा नहीं लगता है। पैसा काम की चीज है।"

"लेकिन अँधेरे में क्यों? मैं अँधेरा नहीं हूँ, सदेह व्यक्ति हूँ। मुझे क्यों नहीं दे सकती हो?"

"क्योंकि मुझ पर कोई लाचारी नहीं है।"

"लाचारी?"

"जी हाँ, लाचारी। बताइए, मैं क्यों बाध्य हूँ?"

"मैं नहीं कहता बाध्य हो, लेकिन—।"

"लेकिन क्या?"

"लेकिन मुझे जानना बाकी है कि किस लाचारी से तुम मेरे लिए भाभी हो! बता सकती हो?"

"बताने की बात हो तभी कुछ बता सकूँ। हाँ भाभी हूँ। इसी से इनकार करती हूँ। भिखारी को नहीं तो कब मुझसे इनकार किया जा सका है?"

"तो, तुम्हें मेरे पाप-पुण्य की चिन्ता है?"

"सो भी क्यों न हो?"

"यों न हो कि मैं खिलौना नहीं हूँ।"

सुनीता हँस पड़ी, "मैं जानती हूँ, नहीं हो।"

एकाएक हरिप्रसन्न में एक दुर्जय भाव उठा, दुर्गम, दुर्द्धर्ष। वह कुर्सी की पीठ को छोड़ सुनीता के सामने ही आकर उस कुर्सी पर बैठ गया और बोला, "देखो भाभी, मुझे परवाह नहीं भाभीपन की। लेकिन मैं चाहता हूँ कि मैं समझा जाऊँ। एक लड़का अभी आएगा। मैंने वादा किया है कि आज शाम को उसे रुपये मिलेंगे। वह एक दल का सदस्य है। वह दल देश के लिए बलि होनेवालों का है। मेरा वादा क्यों झूठा होगा? उनका काम क्यों अटका रहेगा? क्या इसलिए कि तुम्हारी इच्छा नहीं हो सकी है कि रुपये दो?"

"हाँ इसलिए भी, वादा मेरा नहीं है।"

"लेकिन मेरा तो है, और मैं तुम्हारे सामने हूँ।"

"तो तुम जानो," सुनीता ने कहा, "और मुझे काम है, मैं जाती हूँ।"

सुनीता उठ खड़ी हुई। उस समय हरिप्रसन्न ने हाथ बढ़ाया, और जोर से उसकी दायीं कलाई पकड़ ली—"कहाँ जाओगी, बैठो!"

सुनीता ने हाथ छुड़ाने का बिलकुल प्रयास नहीं किया। उसका चेहरा फक पड़

गया। आतंक से नहीं, श्रद्धा से। वह उसकी ओर देखती रह गयी।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''सुनीता!''

''सुनीता!'' यह इस भाँति कहा सुनीता नाम नहीं है, उस पद का तो जैसे अन्वयार्थ है—'ओ अपदार्थ नारी!'

कहते-कहते हरिप्रसन्न का पंजा सुनीता के हाथ से अलग हो गया। सुनीता मानों बर्फ-सी पड़ती आयी। उसने हरि की आँखों में भरपूर देखकर कहा, ''हरिप्रसन्न! क्या है?''

हरिप्रसन्न का तनाव इस अधिकार-स्वर के आगे क्या ह्रस्व हो पड़ेगा। कहा, ''तुम अपने प्रति अन्याय नहीं करोगी, भाभी, तुम कठिन नहीं होगी। कठिन तुम्हें नहीं होने दिया जाएगा। कठिन होने के लिए तुम भाभी नहीं हो। सौ रुपये तुम ऐसे दोगी जैसे अपने हाथ की रोटी दे देती हो। मुझे क्या पाना, यह देखना, यह समझना सह्य होगा कि सौ रुपये तुम्हारे हाथ से नहीं छूटते? नहीं-नहीं भाभी, इसे कभी मैं सम्भव नहीं होने दूँगा। ऐसा, इससे पहले भाभी, मैं अपनी मूर्ति को तोड़ दूँगा या अपने को तोड़ लूँगा। मुझसे यह देखा न जाएगा। रुपया क्या है? वह धातु नहीं है, मिट्टी नहीं है? वह तो मल है, जो मैल का पोषण करता है। फेंकने में ही उसके कृतार्थता है। उसी को छोड़ने से तुम्हारा इनकार, तुम्हारा संकोच, तुम्हारी ममता, अरे, तुम्हारी मौत भी क्यों नहीं है? मेरे लिए तो यह मौत ही है।''

सुनीता ने कहा, ''मुझे जाने दो।''

''अब भी इनकार करोगी?''

''मुझे काम है।''

''सुनीता!''

हरिप्रसन्न की वाणी एक साथ ही रोष और करुणा से काँपती हुई निकली। जैसे बिजली काँपती है।

''मैं जाऊँगी। जाती हूँ। जाऊँ?''

''सुनीता!''

''जाऊँ?''

तब श्रीहत, गततेज, कटे वृक्ष की भाँति हरिप्रसन्न धप से अपनी कुर्सी में गिर गया। कहा, ''जाओ।''

सुनीता साड़ी का सिर पर का पल्ला छूती हुई चली गयी।

29

हरिप्रसन्न अभी अपनी कुर्सी पर ही था। हिलाडुला भी न था कि देखता है, सुनीता फिर पलटकर चली आ रही है। पास आकर बोली, "एक बात आपसे कहनी रह गयी। मै अभी सत्या को पढ़ने के लिए भेजती हूँ। इस बारे में पूछने की जरूरत तो नहीं मालूम होती थी, फिर भी—।"

हरिप्रसन्न के पराजय को क्या यह नारी पराजय ही देखकर सन्तुष्ट नहीं है ? क्या उसे और भी कुछ धार देनी है ? काटकर वहाँ नमक का लेप देने आ पहुँची ! उसने कहा, "आपसे इस विषय में क्षमा चाहता हूँ।"

"तो क्या सत्या न पढ़ने आवे ? वह मेरे साथ घर से फिर आयी किसलिए है ?"

हरिप्रसन्न ने ऊपर देखा। देखा कि जो सुनीता सामने खड़ी है ऐसा तनिक भी प्रतीत नहीं होता है कि वह अपने को बहुत मजबूत या कठिन बनाकर खड़ी है। मानो कि वह तो बिलकुल पकड़ में आने के लिए खुली खड़ी है।

उसने कहा, "मुझ पर इसकी कोई लाचारी नहीं है।"

"लाचारी ?"

"जी हाँ, लाचारी—।"

"लेकिन सत्या के साथ तो आपकी लड़ाई नहीं है न?"

"जी नहीं, आप मुझे माफ कीजिए।"

सुनीता चल खड़ी हुई, कहती गयी—"सत्या अभी आ रही है। आप उससे कह सुन लीजिएगा।"

हरिप्रसन्न सुनता हुआ बैठा रह गया। यह नारी अपनी बात कहती हुई और औरों की बात अनसुनी करती हुई चली जाएगी, ऐसी यह कौन है ? सच, कौन है ?

सुनीता चौके में पहुँची। किन्तु यहाँ एक चोरी की बात कहनी होगी।

जब सुनीता स्टडी-रूम में हरिप्रसन्न से बात करने आयी थी, उसके कुछ देर बाद सत्या को मालूम हुआ कि खाने के बारे में जीजी से कुछ बात जरूरी तौर पर अभी पूछ लेने लायक उठ आयी है। पहले तो वह उसे जैसे दाबे रही, दाबे रही। लेकिन जब जीजी लौटकर आने वाली ही नहीं दीखी, तब सत्या बेचारी मानों लाचार ही होती चली गयी। उस समय वह खिंची-खिंची उस स्टडी-रूम के दरवाजे तक चली आयी। यहाँ तक चली आयी, तब यहीं तक रह गयी। राम-राम, अन्दर कैसे जाए ? सो यहीं खड़ी-खड़ी उन दोनों की बातें सुनती रह गयी। क्या उन बातों का वह एक शब्द भी सुनना चाहती है ? लेकिन जब उनके अंश-अपभ्रंश अपने आप उसके कानों में पहुँचने लगे, तब वह वहाँ ऐसे खड़ी रह गयी जैसे गड़ गयी हो। मालूम हुआ कि उन बातों का तो स्वर तीव्र होता जा रहा है, जब हरिप्रसन्न का स्वर एक ही साथ चढ़

उठा और सुनायी दिया, 'ठहरो कहाँ जाती हो?' तब सत्या चिल्लायी—''बाबा रे!'' और भाग कर चौके में चली गयी।

हमने कहा, 'चिल्लायी'। चिल्लायी तो अवश्य, पर आवाज कलेजे जैसे कण्ठ तक भर आकर भी बाहर नहीं निकली। अवरुद्ध भीतर-ही-भीतर वह चिल्लाहट ऊधम मचाती डोलती रह गयी। तब उसे मन में लिये-लिये आकर सत्या अपने रसोई के काम में लग गयी।

सुनीता ने रसोई में पहुँचकर कहा, ''तब से यह कर-धर कर रखा है? आग यों ही जा रही है, साग ही छोंक देती, नहीं तो...वाह, अभी भी नहीं तराशा गया है! ऐसी करती क्या रही?''

सुनीता भला कहीं इस लड़की से रुष्ट थी! इस लड़की के प्रति जो घनिष्ठ प्रसन्नता उसके मन में थी, वही उस उलाहने में प्रकट हो रही थी। सत्या ने कहा, ''मैं कर तो रही हूँ।''

''जरूर कर रही हो। अच्छा, उठो! लाओ चाकू-दराँत, मैं सब किये देती हूँ।''

यह कहकर सुनीता ने एक ओर से साग को थाली में ले लिया, चाकू दराँत भी खोजकर पा लिया, और बैठकर काम करने लगी। कहा, ''सत्या, तू अपने पढ़ने की किताबें तो साथ लायी है न?''

''एक लायी हूँ।''

''एक ही सही। इन्हें छोड़। किताब लेकर जा। अभी तो वह खाली हैं, पढ़ा देंगे।''

सत्या के मन में हुआ—'नहीं, नहीं' लेकिन वह एकाएक कुछ भी बोली नहीं।

सुनीता ने कहा, ''उठती क्यों नहीं है, सत्या!''

सत्या क्या यह कहे कि वह सब कुछ जानती है, और वह नहीं पढ़ेगी, वह क्या कहे? क्या यह कहे कि वह जानती है कि यह पढ़ना नहीं है, बलि होना है? सो उसने कुछ भी नहीं कहा, चुप ही बैठी रही।

''सत्या! मैं क्या कह रही हूँ, सुनती नहीं?''

सत्या चुपचाप उठी, और चली गयी। कमरे में पहुँचकर उसने एक किताब ली और एक झपट में उसके बीच में से कोई आठ-दस पन्ने फाड़ कर फेंक दिए, फिर उस किताब को लेकर वह चुप-चाप स्टडी-रूम की तरफ चली गयी।

सत्या चलती ही गयी। किन्तु बिलकुल पास पहुँच गयी तब भी हरिप्रसन्न को सुध न हुई, वह सोच में ही डूबा रहा।

सत्या ने धीमे से कहा, ''मुझे जीजी ने...।''

कान में यह पड़ा तब वह चौंका, जैसे इस दुर्घटना के लिए सर्वथा अनुद्यत हो। वह घबड़ाकर उठ खड़ा हुआ।

''हाँ-हाँ, आइए, आइए।'' उसने जल्दी में कहा। उसे सूझ न रहा था कि वह इस समय क्या करे!

सत्या ने उसी बँधे स्वर में कहा, ''पढ़ने के लिए भेजा है।''

हरिप्रसन्न जल्दी-जल्दी हाथ की उँगलियाँ मलने लगा—''जी हाँ, बैठिए। पढ़ने के लिए? मैं...बैठिए।''

सत्या मूर्ति-सरीखी ही कुर्सी पर बैठ गयी।

यह हरिप्रसन्न के प्रति सरासर अन्याय है, छल है। छल! उस पर यह क्या विडम्बना ला डाली गयी है, जबकि उसके लिए वह तनिक भी तैयार नहीं है। वह नहीं समझ पा रहा है कि इस परिस्थिति को कैसे निभाना होगा। अरे, यह उस नारी की कैसी व्यूह रचना है जो अपने को भाभी कहती है!

''जी मुझे पढ़ने के लिए भेजा गया है।''

''जी हाँ, बैठिए, बैठिए। आप, आप मुझे पाँच-सात मिनट का वक्त दे सकेंगी?''

''मैं जाऊँ?''

''जी नहीं, बैठिए। मैं, देखिए।''

सत्या को मालूम हो रहा है परिस्थिति ऐसी नहीं है कि वह तनिक भी अपने को बलि पदार्थ मान सके। वह तो सहज ही इस परिस्थिति की मालकिन भी हो सकती है। यह हरिप्रसन्न नाम का व्यक्ति तो उस स्थिति को सँभाल सकेगा नहीं, वह चाहे तो उसे सँभाल सकती है। क्या यही व्यक्ति था जिसकी उसे आशंका होती थी? यह तो कैसा निरुपद्रव बेचारा भटका-सा प्राणी है। इस व्यक्ति को क्यों दुर्लभ हो रहा है कि स्वस्थ रहे, वैसा खोया-सा क्यों हो पड़ा है!

सत्या ने कहा, ''अभी आप नहीं पढ़ा सकेंगे? मैं फिर आऊँ?''

''फिर? जी हाँ, फिर कभी आइए तो ठीक है। लेकिन यह तो भूल है पढ़ा सकता हूँ मैं क्या कि पढ़ा सकता हूँ?''

सत्या भी—जो अभी कठिनता से ही नारी है, अभी तो जिसे कन्या ही कहें, वह भी—पुरुष की इस बेचारगी पर सुलभ जय की ओर बढ़े बिना जैसे न रह सकी, और क्या वह यह भी नहीं जानती है कि जीजी अभी ही यहाँ होकर गयी हैं।

सत्या ने कहा, ''तो कब आऊँ?''

''कब? लेकिन पढ़ने के लिए आएँगी? यह मुश्किल है।''

''आप कह दीजिये तो नहीं आऊँगी।''

इतनी बातचीत के बाद हरिप्रसन्न काफी अनुद्विग्न हो गया। उसने कुर्सी पर बैठकर कहा, ''अच्छा किताब तो जरा दीजिएगा। देखूँ मैं कितना जानता हूँ।''

हरिप्रसन्न के अनायास बढ़े हुए हाथ में सत्या ने पुस्तक दे दी। उसे तब अनुभव

हुआ कि हें, यह उसने क्या किया कि पुस्तक के पन्ने फाड़ दिए! यह तो एकदम निरर्थक बात उसने की। इस व्यक्ति से बचने के लिए फटी पुस्तक की ओट बनाने की क्या जरूरत है! यह तो यों ही नख-दन्त विहीन मनुज है।

''पुस्तक बिलकुल फटी हुई है! खैर, इसे मेरे पास छोड़ जाइएगा। मैं देखकर कहूँगा कि मैं किस लायक हूँ।''

''कब तक देख लेंगे?''

हरिप्रसन्न मानों अपनी इच्छा के विपरीत घिरता चला आ रहा है, ''कब देख लूँगा! सोचता हूँ, जल्दी ही देख लूँगा।''

''कल मुझे शाम को फिर आना होगा, तब तक देख लें तो अच्छा है।''

''हाँ, तब तक देख लूँगा।''

पढ़ाई की बात अब समाप्त हो गयी। लेकिन सत्या के मन में और भी बात बची है। इससे वह वहाँ बैठी ही है, चली नहीं गयी। उसने चौके में एक कटोरे में छोटी-छोटी तीन-चार रोटियाँ ढकी हुई रखी देखी हैं। वे रोटी बिलकुल सुघर और बिलकुल पतली-पतली थी। उसे कुतूहल हुआ है कि उन एतिहात से रखी हुई रोटियों को बनाने या रखने वाला क्या यही आदमी है? तब तो बड़ा विचित्र आदमी है! इसलिए बैठी है कि इस बात को पाने की भी कोई युक्ति निकाले।

तब बातें होने लगीं।

आप पढ़ती हैं? सैकिण्ड इयर में? ठीक...मैं कहाँ-कहाँ रहता हूँ?—इसका क्या ठिकाना है! ठिकाना अब तक कोई नहीं बना है...बनाना चाहिए? सो क्यों...सब ठीक ही है...किस्मत बड़ी चीज है। उसके खिलाफ लड़ना व्यर्थ है...हाँ मैं बहुत से काम जानता हूँ...रोटी भी महीनों तक बनायी है।

आदि-आदि परस्पर परिचय की बातें उनमें होती जाने लगी। एक-पर-एक बात ऐसे सहज-भाव से उनमें आकर चली जाने लगी, मानों परस्पर सशंक रहने की आवश्यकता कभी इनके बीच सम्भव ही न होनी चाहिए थी। इतने में आ पहुँचा श्रीकान्त। उसकी मुद्रा विमल, किन्तु गम्भीर थी। यहाँ हरिप्रसन्न के समक्ष सत्या को देखकर उसका गाम्भीर्य सहसा लोप हो गया। उसने कहा, ''वैल् डन, हरि! कहो, इसका पढ़ना देखा?''

श्रीकान्त के आते ही सहसा सत्या कुर्सी से उछल-सी पड़ी और उठकर चलने को हो गयी। श्रीकान्त ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, ''ऐसे ही पढ़ने आती रही तो तुम्हारा फर्स्ट क्लास कौन रोक सकता है! कहाँ जाती हो, बैठो।''

सत्या बोली भी नहीं, बैठी भी नहीं, चली ही गयी।

सत्या के चले जाने के बाद श्रीकान्त और हरिप्रसन्न एक-दूसरे के प्रति मूक भाव से देखते रह गये। मानो दोनों के बीच प्रस्तुत सामान्य विषय की भाँति जो सत्या थी,

वह नहीं है। तब दोनों नहीं जानते कि क्या हो!

सो दोनों चुप ही रहे। यह त्रासदायक होने लगा। थोड़ी देर में श्रीकान्त ने कहा, ''मैं अभी आता हूँ।'' और यह कहकर चला गया।

उसने इस बीच क्या किया! यही किया कि कुछ भी नहीं किया है। सब सोच-विचार तोड़कर वह निरा छुटा हुआ, मुक्त, बस अपने ही आप में कुछ देर रह लिया है। गाड़ी में गया और शहर के बाहर के पार्क में पहुँचकर वहाँ एकान्त में दूब के बिछौने पर स्वयं बिछ गया। ऐसे बिछ गया जैसे ओस बिछ जाती है। गाड़ी वाले को कह दिया, वह जाए। आधे घण्टे तक आसमान में भागते हुए बादलों के टुकड़ों के ऊपर स्थित सलौने चाँद को देखता हुआ चित्त, उस घास पर वह भीगी हुई ओस की नाईं बिछा ही पड़ा रह गया। उसने अपने को बिलकुल रोका नहीं। चित्त जिधर बहा बहने दिया; मन जिस खेल से खेला, निर्बाध खेलने दिया; बुद्धि जहाँ उलझी, उलझने दी। यह तो स्वयं गति विह्वल बादलों के ऊपर अवस्थित, सुस्थिर चाँद की चाँदनी में नहाता हुआ, जाल-सा बुनती हुई अपनी ही उन भ्रमशील लयमान इच्छा-आकांक्षाओं के नीचे स्वयं स्वस्थ मुकुलित उस चाँदनी की नाईं ही द्युतिमान, शीतल, आनन्द-स्वप्न के खण्ड की भाँति पड़ा रहा। यों उन्मुक्त प्राणों की चाँदनी में घण्टे भर नहाता रहकर उसने अपने को समेटा। अब तक मानों वह अपने को सबके प्रति विकीर्ण करता रहा था। तब वह उठा और सीधा घर चलता चला आया।

यही उसने किया है। अपने को सोच-विचार से तो बिताया ही है। हाँ, इस पद्धति से स्वमेव अनायास उसने अपने को विमल सदाशयता से भरा पाया है।

वह सुनीता के पास पहुँचा। सुनीता की रसोई लगभग तैयार है। देखते ही सुनीता ने कहा, ''कहाँ गये थे? तुम लोग खाने के लिए आओ न!''

श्रीकान्त ने कहा, ''सत्या कहाँ है?''

''मालूम नहीं। वहाँ पढ़ रही होगी।''

''वहाँ से तो आ गयी।''

''होगी कहीं। उन्हें कहो न और तुम दोनों जने खाने के लिए आओ।''

श्रीकान्त ने कहा, ''मैंने तुमसे रुपये की बात कही थी न, सो दे ही क्यों न डालें! हरि को उसकी फिक्र मालूम होती है।''

''हाँ, दे दो, लेकिन मेरे पास तो नकद नहीं है। चेक कहें तो दे दो।''

''क्या यह मालूम करना जरूरी है कि इन रुपयों का क्या होगा?''

''क्या जरूरी है? हमें क्यों इसका आग्रह होना चाहिए? सौदा तो हम कर नहीं रहे कि बदले की चीज की तरह उसके उपयोग को अच्छी तरह परख लें, लेकिन आप लोग जल्दी खाना खाने आ जाओ। और देखो, बात बढ़ाना मत।''

श्रीकान्त लौटकर गया। तब देखता है कि उन्नीस-बीस वर्ष का एक युवक

फौजी पोशाक में हरिप्रसन्न के पास बैठा है। वह चुपचाप हरिप्रसन्न के पास गया, कन्धे छूकर इशारे-इशारे में बोला, "जरा सुनोगे?" और तनिक अलग जाकर, "बेअरर चेक दूँ तो कुछ हर्ज तो नहीं है? नकद सौ रुपया अभी तो नहीं है।"

हरिप्रसन्न स्तब्ध बना-सा श्रीकान्त को देखता रहा। उसने फिर सुना, "कहो तो चेक अभी दे देता हूँ।"

तब हठात निर्भय स्वर में हरिप्रसन्न ने कहा, "दे, दो।"

"तो आओ।"

और अपने दफ्तर में ले जाकर श्रीकान्त ने सौ रुपये का चेक काट कर उसे दिया।

हरिप्रसन्न चेक को हाथ में लिये कुछ देर खड़ा रहा, फिर चलने को होकर बोला, "आओ चलें।"

श्रीकान्त ने उसी पर बैठे-बैठे कहा, "मैं यहीं हूँ, तुम इतने निबटकर खाने के लिए तैयार हो जाओ। तुम्हारी भाभी ने कहा है कि खाने को हम दोनों को वहाँ जल्दी पहुँचना चाहिए।"

हरिप्रसन्न ने कहा, "सुनो तो!"

श्रीकान्त को हरिप्रसन्न साथ लेकर कमरे में गया और उस युवक से बोला, "यह मेरे मित्र श्रीकान्त हैं।" इतना कहकर वह चेक श्रीकान्त के सामने-सामने उस युवक को दे दिया। फिर कहा, "इन्हें प्रणाम करो।"

युवक ने श्रीकान्त को प्रणाम किया। श्रीकान्त चुप रहा।

हरिप्रसन्न ने अनुल्लंघनीय आदेश के स्वर में युवक से कहा, "जाओ, और जहाँ तक बने यहाँ न आओ।"

युवक चल दिया, बाहर सहन से पार हो रहा था कि छत पर से सत्या ने पुकारा, "चन्द्रसेन!"

चन्द्रसेन ने अनायास मुड़कर देखा, और फिर वह सकपकाया-सा भागता हुआ जीने से नीचे उतर आया।

30

सत्या के मुँह से उस युवक का नाम सुनकर हरिप्रसन्न चकित होकर रह गया। श्रीकान्त भी विस्मित हुआ। पर दोनों कुछ बोले नहीं। तब श्रीकान्त धीमे-धीमे चलकर उस कमरे से बाहर आया और छत पर जाकर उसने सत्या से पूछा, "यहाँ क्या कर रही हो?"

''कुछ नहीं, घूम रही हूँ जीजाजी।''

''यह जो लड़का अभी गया, इसको जानती हो?''

''जानती हूँ, हमारे कालिज में पढ़ता है।''

''और क्या जानती हो?''

''और तो ज्यादा नहीं जानती।''

सत्या किसी को देखकर नाम लेकर एकाएक पुकार पड़ी है, तब क्या यह मानकर ही रह जाना होगा कि वह उसे नाम-मात्र से ही जानती है?

किन्तु इससे आगे चन्द्रसेन को वह क्या जानती है, यह मालूम भी किस प्रकार किया जाए?

श्रीकान्त ने कहा, ''तुम्हारी ही क्लास में पढ़ता है?''

''हाँ, हमारी ही क्लास में पढ़ता है।''

श्रीकान्त ने एकाएक प्रेम से कहा, ''अच्छा, जाओ खाना खाओ। आज तुमने हरिप्रसन्न से पढ़ा?''

''नहीं पढ़ा।''

''पढ़ोगी न?''

''मैंने इनकार कब किया है, जीजाजी?''

''अच्छा, जाओ, अपनी जीजी से कहो, हम लोग खाना खाने आ रहे हैं।''

हरिप्रसन्न उसके बाद अपने में बन्द-ही-सा पड़ गया था। श्रीकान्त जब छत पर से उतरकर उसके पास गया, वह मेज आगे रखकर उस पर कोहनी टिकाये और मुँह को हथेली में रखे बैठा था। श्रीकान्त ने खाना खाने के लिए कहा तब वह चुपचाप उठ खड़ा हुआ। हाथ धोने के लिए कहा, हाथ धो लिए मानो क्रिया का उद्देश्य उसके भीतर सुन्न हो गया है, मात्र कर-भर रहा है। चित्त के प्रेरणातन्तु जैसे गुम-सुम हुए बैठे हैं।

खाना उसने खा लिया। जब चाहा गया, तब पान भी उसने ले लिया। फिर छुट्टी मिलते ही अपने स्टडी-रूम में वह आ गया और वहाँ आकर पन्द्रह-बीस मिनट चुपचाप बैठे रहने के बाद फिर अपने चित्र में लग गया।

श्रीकान्त दफ्तर में चला गया था। दस बजे के लगभग वहाँ से आया। बोला, ''देखो हरि, एक दिन की बात तो और होती है लेकिन रोज-रोज हमसे न सहा जाएगा कि तुम सोने के वक्त न सोओ। चलो, उठो, इसे छोड़ो। बिस्तर पर चलो ऊपर।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''ऊपर! क्यों? यहीं सो जाऊँगा।''

''चलो चलो, इसे उठाकर रखो।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''श्रीकान्त, तुम मेरी गिनती अपने कामों में क्यों करो? जहाँ हूँ, पड़ रह सकता हूँ। इसलिए तो मैं नहीं आया कि यहाँ शुमार किया जाऊँ।''

श्रीकान्त ने कहा, ''तो यहाँ ही सोओगे! चलो, यही सही। तो यहीं बिस्तर लिये आता हूँ।''

''नहीं-नहीं, भाई! यह फर्श तो है ही। कुर्सी सरका कर एक तरफ रखी कि बिछा-बिछाया बिस्तर हो गया। इसमें उतने सोचने की क्या बात है?''

''देखो हरि, दूसरे के घर आकर तुम्हें उसके मुताबिक चलना सीखना चाहिए।''

तनिक अविश्वस्त भाव से हठात हँसते हुए हरिप्रसन्न ने कहा, ''तुम्हें यकीन है घर दूसरे का है, श्रीकान्त, मेरा नहीं है। या चाहते हो कि यह मैं मान लूँ।''

''तुम्हारी मर्जी!'' कहता हुआ श्रीकान्त वहाँ से चला गया। उसके चले जाने पर हरिप्रसन्न वहीं अपने चित्र से लगा रहा। इस चित्र में लगकर रात उसे रात नहीं रहती, न दिन दिन। समय की ही चेतना नहीं रहती। उसके भीतर जो अभाव है, अनिर्दिष्ट, अलक्ष रिक्त एक दर्द, इस चित्र में उसे ही मूर्त रूप देने की चेष्टा में मानो वह बाँध लेता है, उसे वायु-गुल्म की भाँति उभरने नहीं देता। जैसे इस तरह वह अभाव सचमुच कुछ-कुछ भरता भी है। जिसकी वेदना जाने कितने काल से पकती अब कहीं आँसू बनकर ढुलक जाने का अवसर पा सकी है, उस मन को घड़ी-पल की सुध-बुध भुलाकर कैसे उस समाधि-सुख से खींचकर होश में ला पटका जाए! इसी से जब होता है वह भागते-बीतते समय के स्तर से अपने को तोड़कर, सब बिसार, उस चित्र में डूब रहता है। वह वहीं चित्र में था कि तभी पास ही सुन पड़ा—''दूध लीजिए।''

उसने देखा—दूध का गिलास लिये भाभी खड़ी हैं।

''लीजिए, दूध लीजिए।''

''दूध!''

अनायास उसका हाथ आगे बढ़ गया, और सिवाय इसके वह कुछ न कर सका कि भाभी के हाथों में से लेकर दूध का गिलास स्वयं थाम ले।

''यह तो बड़ा गर्म है!''

भाभी ने कहा, ''ऐसा गरम तो नहीं है। मैं तो इतनी देर से हाथ में लिये थी।''

हरि ने कहा, ''बैठिए।'' और एक कुर्सी छूकर आगे सरकायी-सी।

''बैठूँ! अच्छा दो मिनट बैठ लेती हूँ। आप कब तक जागेंगे? तसवीर खत्म करने की क्या आपने सौगन्ध खायी है?''

''नहीं तो, लेकिन—।''

''बिस्तर आपका ऊपर बिछ रहा है, वहीं सोएँगे?''

''यहीं बहुत जगह है।''

''अच्छी बात है। देखते हैं, हम आपके लिए कुछ कर नहीं सकते। मैंने तसवीर

देखने को कहा था। अब दिखाइएगा?''

''अभी तो लकीरें हैं। देखिएगा? यह देखिए।''

हरिप्रसन्न ने बोर्ड को ऊँचा उठा दिया और सुनीता ने वह कागज देखा जिस पर अभी स्पष्ट कुछ न उभर सका था।

''मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आता।''

हरिप्रसन्न ने निरर्थक रूप में कहा, ''जी हाँ।''

सुनीता कुर्सी से उठी—''तो आप यहीं सोइएगा? मैं समझती हूँ अब ऊपर बिस्तर बिछ गया है तो चलने में कुछ हर्ज न था। हम—हम लोग अलग सो रही हैं।''

हरिप्रसन्न एकाएक इस प्रकार घनिष्ठ-सी लगने वाली बात को भाभी के मुँह से सहज बाहर आती देखकर लज्जा से लाल पड़ गया। वह कुछ भी न कह सका।

''जी हाँ, हम लोग अलग सो रही हैं। आप न जाएँगे, तो वह अकेले रहेंगे। देख लीजिए। ऐसा गर्म नहीं है दूध, पी डालिए। तो यहीं सोइएगा? जाऊँ?''

''जी हाँ, मैं यही सो रहूँगा।''

''अच्छी बात है। लेकिन देखिए, आप बहुत रात तक मत जागिएगा।''

हरिप्रसन्न चुप रहा। सुनीता ने बहुत धीमे से नमस्ते किया और चल दी।

हरि क्षण भर देखता रहा, फिर बोला, ''भाभीजी, जरा सुनेंगी। मुझे आप लोगों ने सौ रुपये किस भरोसे पर दे डाले, मैं पूछ सकता हूँ?''

''सौ रुपये? क्या-आ! किसने?''

''आपने।''

''मैंने?''

''जी हाँ, आपने।''

''सौ कैसे?''

''मैं जानता हूँ।''

''जानते हैं तो मुझसे क्या पूछिएगा?''

और सुनीता आगे बढ़ी।

''ठहरो भाभी, मुझे कहने दो, मैं आप लोगों का बड़ा कृतज्ञ हूँ।''

सुनीता ने एकाएक रुककर कहा, ''क्या मैं पूछ सकती हूँ, वह लड़का कौन था जो आपके पास आया था?''

''मैं नहीं जानता। लेकिन जान पड़ता है, सत्या उसे जानती है।''

''आप नहीं जानते?''

''ऐसी कोई बात नहीं जानता जो आपको बतला सकूँ।''

''जब उसमें का एक पैसा आपके पास नहीं है, सब उस लड़के के हाथों छिना दिया है, तब आपके कृतज्ञ होने की क्या बात है?''

''कृतज्ञ मुझे नहीं होना चाहिए, यह आप कहती हैं?''

''जी हाँ, कृतज्ञता बन्धन है, वह झूठ भी है।''

हरिप्रसन्न अपने सिर पर हाथ फेरता हुआ बैठा रह गया और सुनीता ने चलते-चलते कहा, ''देखिए, आप मुझे भाभी-भाभी बहुत कहते हैं, ऐसा है। तब एक तो यह बात सुनिए कि हमारे बीच में कृतघ्नता कहीं से भी न आ सकेगी, दूसरे यह कि भाभी की कोई बात मानने लायक हो सकती है...आप यहीं सोइएगा?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी, मुझे माफ करो। बात न मान सकने का दुःख क्या मुझे कम है! लेकिन तुम लोग मुझे गिनती में क्यों लाओ? मैं उसके लिए नहीं हूँ। और जब तक यह तसवीर पूरी न होगी, ठीक नींद भी कैसे आएगी?''

''आप जानिए।'' कहती हुई सुनीता चली गयी।

हरिप्रसन्न सुनीता के चले जाने पर एकाएक काम में नहीं लग सका। उठकर काफी देर तक वह कमरे में टहलता रहा। अनन्तर फिर आकर तसवीर में जुट गया। मालूम नहीं वह इस भाँति कब तक काम किए जाता। लेकिन जब रात्रि के बारह बजे के लगभग बिजली की बत्ती एकाएक ऊपर से बुझ गयी, तब झल्लाकर उसे काम बन्द करना पड़ा। तब पहले तो उसने उठकर देखने-भालने की कोशिश की कि खराबी क्या है और बत्ती ठीक हो सकती है या नहीं। लेकिन जब अँधेरे के सिवाय कोई और खराबी हाथ में न पड़ी, तब वहीं सामान के बीच में किसी भाँति अपने लिए जगह बनाक ़ह पड़ गया। सोचते-विचारते कुछ देर बाद जब उसकी आँखों में नींद आ-भरने लगी, तब देखता क्या है कि रोशनी अनायास ही फूट पड़ी है। किन्तु तब वह निंदाया-सा हो रहा था। इससे उठा नहीं, और देखा कि तीन-चार मिनट बाद आप ही बत्ती बुझ गयी है और अँधेरा हो गया है।

यह सब शरारत सत्या की थी। जब सब सो गये, तब उसने देखा कि अब भी स्टडी-रूम की बत्ती जल ही रही है। यह भी देख लिया कि अन्दर हरिप्रसन्न काम कर रहे हैं। बहुत देर तक तो वह मन में धीरज रखे रही, लेकिन जब निश्चय हो गया कि अपने आप इन महाशय को होश आने वाला नहीं है, तब यह निश्चय करके कि उन्हें नहीं तो मुझे तो अपनी नींद बरबाद नहीं करनी है, चुपचाप दबे-पाँव जाकर उसने बिजली का मेन-स्विच बन्द कर दिया। वह मेन स्टडी-रूम के बाहर ही एक जगह लगा था। अँधेरा होने पर साँस रोककर वह मालूम करती रही कि हरिप्रसन्न झुँझला रहे हैं। तब वह बड़ी खुश हुई। आखिर देखा कि गड़बड़-खड़बड़ सब बन्द हो गयी है और निश्चय ही हजरत सिर टिकाकर लेट गये मालूम होते हैं, तब वह अँधेरे में टटोलती हुई अपने सोने की जगह पहुँच गयी। किन्तु वहाँ खाट पर पड़े-पड़े उसे ख्याल आने लगा कि यह काम कहीं उसने बेजा तो नहीं किया! बहुत देर तक इसी उधेड़-बुन में वह पड़ी रही। फिर उसे अफसोस होने लगा कि ऐसा उसने क्यों किया?

वह काम में लगे थे। उन्हें बुरा मालूम हुआ होगा। यों ही सोचते-सोचते वह एकाएक उठी और फिर नीचे आकर उसने मेन खोल दिया। प्रकाश पहले की भाँति खिल पड़ा लेकिन सत्या ने देखा कि प्रकाश के कारण कोई व्यक्ति उठकर काम में नहीं लग गया है। तब उसे सन्तोष हुआ कि वह तो सो गये। और फिर मेन को बन्द करके वह दबे पाँव अपने स्थान पर सो रही। यह सत्या के मन का क्या हाल था!

31

हरिप्रसन्न इस घर में अपने को सिकोड़े रखना चाहता है, फैलाना नहीं चाहता। मानो जो उसको चारों ओर से आत्मीयता का निमन्त्रण प्राप्त हो रहा है, उसमें आशंका हो, संकट हो। उसकी प्रकृति अवश्य ऐसी नहीं है। अभी तक तो जहाँ गया है, वहाँ सब ओर अपने को फैला चलने में वह सहज भाव से प्रवृत्त हो जाता रहा है। संकोच उसमें नहीं दीखा है, न शंका उसमें दीखी है। किन्तु यहाँ आकर वह ऐसा हो रहा है कि जैसे लज्जा में ही उसे सहारा है, संकोच में ही त्राण है, शंकित रहने में ही कुशल है।

वह चित्र ले बैठा है। मानो अब इस चित्र को ही पकड़े रहेगा, इधर-उधर चित्त को भटकने नहीं देगा। उसका प्रोग्राम क्या है—मालूम नहीं। वह कितने दिनों तक यहाँ है—मालूम नहीं। क्या वस्तु, क्या अपेक्षा, नियत करती है कि वह कितने दिनों तक यहाँ रहेगा—मालूम नहीं।

श्रीकान्त खुला रहता है। उसने चाहा कि हरिप्रसन्न भी बिलकुल खुलकर यहाँ रहे। किन्तु वह किस भाँति अपने को खोल कर रखे, यह हरिप्रसन्न स्वयं नहीं जानता। मानो कि कुछ भीषण उसके अन्दर बन्द है। कुछ कुत्सित, कुछ कुटिल—क्या खोल कर उन्हीं रेंगते हुए सर्पों को अपने बाहर कर देना होगा कि सब तरफ वे अपना विष फैलाएँ। छिः छिः! उन जन्तुओं को भीतर ही बन्द रखने में कुशल है। श्रीकान्त अपने मित्र की सुविधा की चिन्ता रखता है। वह सुनीता जो श्रीकान्त की पत्नी है उसका बराबर ख्याल रखती है; वह लड़की सत्या भी तो धीरे-धीरे इसके निकट आकर मानों उसकी प्रसन्नता में योगदान करती है। उस हरिप्रसन्न को यह सब शूल-सा चुभता है। अब तक जिन्दगी में मानों आग्रहपूर्वक वह अपने लिए जगत से सब लेता, पाता और भोगता रहा है। जो लिया उसे उसने कभी जग का ऋण न माना, अपना स्वत्व ही माना है, लेकिन कभी वह झुका नहीं है। उसका उपयोग करके वह बलिष्ठ ही हुआ है, लेकिन इस घर के लोगों पर उसका स्वत्व-भाव तो मानों आदि दिन से ही स्वीकृत है। उसके प्रति इस घर में तनिक भी तो रुकाव या अवरोध नहीं हो पाया है।

तब किसके विरोध में उसकी आग्रही वृत्ति टिके ? इसलिए यहाँ आकर उसके स्वभाव की तेजस्विता मानों पुचकारी हुई-सी बैठती जाती है। उसका आग्रह मन्द पड़ता जाता है। उसकी इच्छाशक्ति के व्यय के लिए मानों यह चित्र उसे मिल गया है—उसी राह वह व्यय होती रहकर सचेत रहे, अन्यथा इस परिवार के बीच में वह प्रबल इच्छा शक्ति मानों आराम पाकर ऊँघ आना ही चाहती है।

किन्तु, नहीं, कर्तव्य कठोर है, राह दीर्घ है। उसका अन्त कहाँ है ? बहुत कुछ है जो होना माँगता है, जो होना होगा। जो भवितव्य है, उसको भी अपने ही हाथों से खींचकर लाना होगा, नहीं तो वह भी अनायास आ जाने वाला नहीं है। तब कैसा प्रमाद ? कैसी जड़ता ? कैसा मोह ? चले चलो, चले चलो। न मुड़ना कहीं है, न रुकना कहीं है। अरे चलते ही चलना है।

किन्तु भीतर से क्या कुछ काला-काला फन-सा घुमड़ता उठ रहा है, उसी को खींचकर बाहर निकाल देना होगा। उसी को चीर कर अपने में अलग करके इस तसवीर में कील देना होगा। यह हो जाएगा तब कहेगा—ओ तू! वहीं रह! और ओ रे, हठी प्रार्थी मनुष्य, बस अँधेरे स्तूप को छोड़। वहाँ अँधेरा है। वहाँ उत्तर नहीं है। मुड़ आ कठोर पृथ्वी की ओर, उसे उर्वरा कर, उसे हरियाली कर, शस्यदा कर। उस अँधेरे गह्वर में थाह नहीं है। तल नहीं है। अरे अभागे, मुड़ आ। यहाँ कन के बीच तेरी प्रतीक्षा है। वहाँ क्यों भक्ष्य बनने को खड़ा है ? यहाँ आ और जयी बन, यशस्वी बन।

उसी 'ओ तू!' के साथ वह पेंसिल और रंग और ब्रुश लेकर युद्ध कर रहा है। अगले दिन की दोपहर आ गयी है। घर में श्रीकान्त नहीं है, वह कचहरी गया है। सत्या भी नहीं है, कालिज गयी है। सुनीता काम-धन्धे में है और घर में है, और घर में हरिप्रसन्न भी है जो घर में उतना नहीं है जितना तसवीर में है। उसके जी में वही पीड़ा उमड़ रही है—'ओ तू ?' वह मन भटक-भटक कर पाना चाहता है कि वह 'तू' क्या है ? लेकिन उस मन को रोक-रोक कर रखा जाता है कि वह धृष्ट चुप रहे, मचले नहीं और मान रखे कि चित्र के बाहर रहकर वह 'तू' कहीं नहीं है। सदा के लिए उसे उस चित्र में ही जड़ दिया जा रहा है।

काम से निबटकर और कुछ आराम करके तीसरा पहर लगते-लगते हाथ में जलपान की तश्तरी लेकर सुनीता वहाँ आयी—"आप अपने ऊपर रहम नहीं करना चाहते! लीजिए, यह लीजिए।"—कहकर तश्तरी सामने सरकाकर रख दी।

"बैठो।"

हरिप्रसन्न ने कह तो दिया, 'बैठो', पर न तो संकेत से बैठने की जगह दिखायी, न कोई कुर्सी सरकाकर बढ़ा देने में वह आग्रहशील हुआ। बस, कह भर दिया, 'बैठो'।

सुनीता उसके पास ही नीचे फर्श पर धोती ठीक करती हुई बैठ गयी। दाहिना हाथ टेककर पास रखी कुर्सी का सहारा बना लिया।

''लीजिए, यह लीजिए, मालूम है, क्या बज गया?''

हरिप्रसन्न ने धीमे-से हाथ का ब्रुश दूर कर दिया, पानी रंग आदि की प्यालियाँ भी अलग हटा दीं, चित्र का बोर्ड उठाकर दीवार के सहारे टिका दिया। फिर कहा, ''कहो?''

सुनीता बस तनिक ही मुस्करायी। कहा, ''कहूँ क्या? वक्त देखिए और यह तसवीर सँभालिए। काम बहुत हुआ। अब जरा हाथ-मुँह धोकर तरो-ताजा भी हूजिएगा कि नहीं?''

''हाथ-मुँह धो लूँ? अच्छा।''

तुरन्त उठकर हरिप्रसन्न चुपचाप बाहर चला गया। सुनीता ने तसवीर सरकाकर हाथ में ले ली और देखने लगी। देखा कि इस तसवीर में अर्थ उतना नहीं जितना कि भाव है। उस तसवीर में कहीं थाह नहीं दीखती है। उसने अकसर शब्द पढ़े हैं—'असीम को ससीम में बाँध दिया गया है।' मानों यह बात तसवीर को देखकर कुछ-कुछ उसकी समझ में आ रही है। चित्र का अर्थ तो सचमुच उसे कुछ पकड़ नहीं आता, किन्तु निरर्थक कहकर टाल दे यह भी उसके वश के बाहर की बात जान पड़ती है। मन वहाँ जाकर खो जाना-सा चाहता है। कुछ है जो परिचित है, अनुभूत है, एकाएक घनिष्ठ है। फिर भी इस चित्र में वह क्या है, कहाँ है! खोजे ही मिले तो मिले, अनायास नहीं मिलता।

हरिप्रसन्न ने आकर कहा, ''क्या देखती हो भाभी, उसे रख दो, रहने दो।''

सुनीता ने ऊपर देखा, फिर मुस्करायी, कहा, ''गुसलखाने से यह तौलिया भले कन्धे पर उठा क्यों लेते आये हैं।''

हरिप्रसन्न बिना एक शब्द कहे उन्हीं पाँव लौट चला। सुनीता ने जल्दी से कहा, ''अजी जाने दीजिए न, रहने दीजिए।''

लेकिन हरिप्रसन्न चलता ही गया और तौलिया को यथास्थान पर रखकर ही आया। आते ही बैठते हुए कहा, ''इस तसवीर में आपके लिए कुछ नहीं है। इसे रहने दीजिए, और यह अभी अधूरी भी है।''

''ओह, तसवीर आपकी है! ठीक, तो यह लीजिए।'' कहकर तुरन्त सुनीता ने वह तसवीर दोनों हाथों से सावधानीपूर्वक उसे पहले ही स्थान पर रख दी।

हरिप्रसन्न ने जल्दी से कहा, ''मेरा यह मंशा नहीं था...लेकिन—।''

''जी नहीं, बिना पूछे मैं फिर नहीं उठाऊँगी।''

हरिप्रसन्न बोला, ''भाभी!''

भाभी ने कहा, ''खैर, यह लीजिए।''

''अब यह खाना होगा, यही कहती हो! अच्छी बात है, लो।'' कहकर हरिप्रसन्न उस तश्तरी को सरकाकर चुपचाप खाने लगा।

सुनीता ने कहा, ''देखिए, आप बिगड़ें नहीं तो काफी बातें आपसे करना चाहती हूँ।''

''काफी बातें करना चाहती हो, करो। फिर मुझे भी तुम्हें कुछ कहने को होगा।''

''मैं पूछती हूँ, आप ब्याह नहीं करेंगे?''

''मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि ब्याह करने की मेरी प्रतिज्ञा नहीं है। और ऐसा कुछ भी सोचता हूँ कि मेरे साथ ब्याह वह करे जो मुझे छोड़कर किसी दिन भी चल देने की हिम्मत रखे। क्योंकि कौन जानता है कि मैं उसे किसी दिन छोड़कर नहीं चल पड़ सकता।''

सुनीता ने पूछा, ''और?''

हरिप्रसन्न ने विस्मय से कहा, ''और क्या?''

सुनीता, ''और यह नहीं कि उसके तीन आँखें हों, तीन हाथ हों, और स्वर्ग की अप्सरा से कम न हो?''

हरि, ''भाभी!''

सुनीता, ''क्यों, मैंने झूठ बात कही है! तुम्हारी बात से कुछ कम अद्वितीय बात नहीं कही।''

हरि, ''तो भाभी, यह समझो, मैं ब्याह नहीं करना चाहता।''

सुनीता, ''क्या करना चाहते हो?''

हरि, ''रहना चाहता हूँ।''

सुनीता, ''समझी कि मरना नहीं चाहते, रहना चाहते हो। पर कैसा रहना चाहते हो? आदमी की तरह से, देवता की तरह से?''

हरि, ''अपनी तरह से।''

सुनीता, ''वह तरह कौन-सी है, जानूँ तो?''

हरिप्रसन्न ने भरपूर सुनीता को देखते हुए कहा, ''वह तरह जरूर तुम्हारी जैसी तरह नहीं है।''

उस दृष्टि में कुछ था जिसने सुनीता के व्यंग्य भाग को हठात कुण्ठित किया।

हरिप्रसन्न ने भाभी पर एकदम छा गयी कुण्ठा का अनुभव किया। पाया कि नारी का प्रागल्भ्य बैठ रहा है। उसके भीतर का पुरुष प्रोज्ज्वल हुआ। उसने कहा, ''भाभी। खेल होगा। विवाहित की बातें विवाह के लिए तमाशा हों, मेरे लिए नहीं। भाभी जब तुम्हारे सामने मैं हूँ, तब और भी नहीं है। तुम जानती हो कि तुमने क्या पूछा है? वह पूछा है जिसका जवाब इससे फोड़कर कोई नहीं ले सका है। हाँ, कोई नहीं ले सका है। क्या मैं तुम्हें भी दूँ? चलो हटो, जाओ। नहीं, नहीं कह सकता। नहीं इसलिए कह सकता कि मेरा कोई नहीं बना है। न कोई बनने आया है, न मैंने बनाया है। तुम और तुम्हीं—तुम पहली बार भाभी बनी हो, और मैं नहीं जानता भाभी होना क्या है। मुझे

कहने दो, मेरे लिए सब तुम हो। घबराओ नहीं, हाँ-हाँ, सब तुम हो, मुझे कहने दो, वह सब मेरे लिए क्या है?''

सुनीता ने झटपट-सी मचा कर और नहीं तो घड़ी की ओर देखकर कहा, ''ओह, ढाई बज़ गया! मुझे रोटी की तैयारी करनी है।''

''वह तैयारी करोगी, लेकिन अभी ठहरो। मैं बताऊँ, वह सब मेरे लिए क्या है? उस पत्नी से क्या होगा जो खाली पतिव्रता हो। मुझे चाहिए कि एक प्रतिमा भी, जो पतिव्रता चाहे न हो, पर अटूट हो जो विपत्तियों में ऐसे चमके जैसे घोर घन में बिजली। मुझे माता भी चाहिए, मुझे दासी भी चाहिए। लेकिन सबसे अधिक चाहिए मुझे वह स्फूर्ति की मन्त्र हो, जिसमें प्रेम इतना हो कि हिंसा से वह डरे नहीं। जो लाल लहू बहता देखे, बहने दे, पर शान्ति का स्वप्न जिसका अखण्ड रहे। जो पताका उठाए और युवक जिसके पीछे लहू की नदियाँ पार करते हुए चले जाएँ।''

सुनीता ने कम्पित स्वर में कहा, ''ओह!''

''ठहरो, भाभी, मैं इसलिए विवाह नहीं करता कि मैं पत्नी नहीं चाहता। सब कुछ चाहता हूँ, सब कुछ। मुझे चाहिए महोत्सर्ग, जिसमें से प्रकाश की किरणें फूटें। महाप्राणता का आदर्श जिसमें से विकीर्ण हो, भाभी।

''भाभी, मैं वह दृश्य देख रहा हूँ। मैं वह चाहता हूँ। युवक बढ़े चलें और जहाँ विजय है वहाँ पहुँचें। किसके झण्डे के नीचे? किसके स्मित से उत्साहित होकर? किसके भ्रू-निक्षेप पर मतवाले बने? किसके कटाक्ष पर मचल कर? उसके जिसका मैं स्वप्न देखता हूँ!''

सुनीता का हाथ हरिप्रसन्न के हाथों में थमा ही रहा, सुनीता ने उसे खींचा नहीं।

सुनीता ने अब अपना हाथ खींचकर कहा, ''औः तीन बज गये। देखिए, मुझे देर हो जाएगी।''

हरि ने कहा, ''चली जाना। लेकिन मुझे अपनी बात अभी कहनी है।''

सुनीता ने अपनी जगह से उठकर खड़े होते हुए हठात वाणी बदलकर कहा, ''मैं कहने आयी थी कि सत्या शाम को आएगी।''

''मैं नहीं पढ़ा सकूँगा।''

''यह तो सत्या को ही आप कहिएगा, मैं नहीं जानती।''

''उस लड़की के लायक भाभी, मेरे पास क्या है! क्यों मुझे लजाती हो? तुम सब जानती हो।''

भाभी ने मानो कुछ टलाते हुए कहा, ''अच्छा, आप क्या खाइएगा, वही बनाऊँ।''

हरिप्रसन्न ने झल्लाकर कहा, ''भाभी!''

''तो नहीं बताइएगा।'' यह कहते हुए भाभी चली गयी।

हरिप्रसन्न—लेकिन वह तो उस कमरे में ही टहलता रह गया।

32

रात को खाना खाने के बाद स्वामी और पत्नी में बातें होने लगीं। ऐसी बातें सदा नहीं होतीं, कभी-कभी होती हैं। इधर तो मुद्दत से नहीं हुईं।

श्रीकान्त ने कहा, ''कहो, हरिप्रसन्न को देखा? क्या पाया?''

देखा तो है, पर क्या पाया है—यह सुनीता ठीक तरह नहीं समझ पा रही है। जो पाया है, उसकी तरफ भीतर देखकर सहमना होता है।

''कहो, कुछ आशा का अवकाश है? क्योंकि— ।''

''पता नहीं।''

''तुम समझती हो, उसका विवाह नहीं किया जा सकता?''

''हो तो-हाँ, हो सकता है, किया नहीं जा सकता।''

श्रीकान्त, ''क्यों?''

सुनीता, ''विवाह में विश्वास उन्हें प्राप्त नहीं है।''

तब श्रीकान्त ने बताया कि देखो सुनीता, मुझे एक केस को लेकर परसों दो-तीन रोज के लिए लाहौर जाना है। अब तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे, मुझे उसके बारे में शंका बनी रहती है।

लाहौर जाने की बात सुनकर सुनीता सन्न रह गयी। उसने कहा, ''जाना रुक नहीं सकता?''

श्रीकान्त, ''कैसी बात कहती हो! रुक कैसे सकता हूँ?''

सुनीता ने अनुनयपूर्वक कहा, ''मैंने कभी तुम्हें रोका है! पर इस बार कहती हूँ कि मत जाओ।''

श्रीकान्त अपनी पत्नी की इस अनुनय भरी काँपती वाणी को समझ नहीं सका। कहा, ''अरे सुनी, तुमको यह क्या हो रहा है। तीन-चार दिन में तो लौट ही आता हूँ।''

सुनीता, ''उन्हें मुझको क्यों सौंपे जाते हो? उनका मन तो मेरे बस का नहीं है। मैं तुमसे कहना नहीं चाहती थी, पर उनके लिए कहीं अलग बन्दोबस्त हो जाए तो कैसा रहे?''

श्रीकान्त, ''क्या सुनीता?''

सुनीता, ''उनको यहाँ सुख नहीं मिल रहा है।''

श्रीकान्त, ''सुख? क्या कभी उसे सुख मिलेगा? क्या कभी मिला है? और

सुख मिलता किसको है?''

सुनीता, ''तुम तीन-चार रोज में लौट आओगे न? तब तुम्हीं उनसे कह दो कि इस बीच जाएँ नहीं। जाएँगे, तो मुझसे नहीं रोका जाएगा। किस बल पर मैं उन्हें रोकूँगी।''

श्रीकान्त, ''अच्छी बात है, मैं कह दूँगा। लेकिन तुम मेरे जाने को लेकर क्यों उदास हो रही हो?''

सुनीता, ''नहीं तो—।''

किन्तु, इस 'नहीं—तो—' ने ही कहा कि 'हाँ-हाँ, वह कातर है तुम्हीं सोचो, नहीं तो भला वह इस समय और क्या हो?'

श्रीकान्त इस आग्रही और प्रगटत: विश्वस्त भाव से कहे जाते हुए 'नहीं तो—' को सुनकर चित्त में और भी आर्द्र हो आया। 'नहीं तो—' का बाँध बाँधकर जो 'हाँ तो—' की भरी आती हुई बाढ़ को रोक रखा जा रहा है, वह बाढ़ क्या किसी भाँति भी छिप रही है? देखो न, उस बाँध के मजबूत जोड़कर कहे हुए शब्द कैसे काँप रहें हैं! उन जोड़ों की सन्धि में से पुकार आ रही है—'अरे आओ, उसे सँभालो। वह है कातर, वह आर्त भी है।' श्रीकान्त उठकर सुनीता के पास ही आ गया। उसके सिर को थपकते हुए बोला, ''सुनीता! रानी!''

सुनीता, ''तुम जाओगे?''

श्रीकान्त, ''(ढाढस देते हुए) सुनीता!''

सुनीता इस पर एक साथ ही विचलित और गम्भीर हो आयी।

उसने कहा, ''तब मेरा विश्वास तो मुझे देते जाओ। वह मुझमें से खिसका जा रहा है। क्या विवाह लौकिक नीति ही है? क्या वह धर्म भी नहीं है? क्या वह आदमी के मनोभाव पर ही निर्भर है? क्या वह सुभीते की ही चीज है? इन सबसे पवित्र वस्तु क्या वह नहीं है? अरे, मुझे मेरा विश्वास दे दो। ईश्वर की पूजा छोड़ उस ईश्वर की नापजोख करने की वृत्ति मुझमें क्यों होती है? यह हीनता क्यों मुझ पर छा रही है? तुम क्यों जाते हो? मत जाओ। जाओ तो मेरे भीतर विश्वास भर जाओ।''

श्रीकान्त, ''सुनीता! सुनीता! क्या है?''

स्वामी के वक्ष से लग कर सुनीता ने कहा, ''कुछ नहीं, मेरे प्रिय! राहु आया है, सो दूर हो गया। श्रद्धा की पूर्णिमा तो प्रकाशित ही रहेगी। श्रद्धा मेरी डसी न जाएगी। मेरे प्रिय! मुझे प्रेम करना न छोड़ो। मुझे बेसुध रहने दो। सुध पाकर मैं फिर क्या रहूँगी! मेरा तो सब आधार लुट जाएगा। मुझे खोया रहने दो।''

श्रीकान्त ने सुनीता की पीठ धीरे-धीरे थपकते हुए कहा, ''मेरी सुनीता, मेरी रानी! मैं तो तुम्हारा हूँ।''

सुनीता स्वामी से बिलकुल अलग हो गयी। पूछा, ''तुम मेरे हो? मेरे ही हो?

तो मुझे कहो कि तुम मेरी हो।''

श्रीकान्त, ''सुनीता!''

सुनीता, ''कहो, मैं तुम्हारी हूँ। कहो मैं तुम्हारी ही हूँ।''

श्रीकान्त, ''सुनीता!''

सुनीता, ''कहो, कहो!''

श्रीकान्त, ''मैं तुम्हारा हूँ सुनीता!''

सुनीता, ''और मैं तुम्हारी हूँ, कहो!''

श्रीकान्त, ''और तुम मेरी हो!''

सुनीता ने मानों भर पाया। जो भीतर दुर्लक्ष्य रिक्त-सा हुआ था, वह इस पूर में पुर गया। अब क्या हो? अब एक-दूसरे के समक्ष परस्पर पृथक उपस्थिति मानो उन्हें असह्य ही होती जाने लगी। या तो वे दोनों गाढ़ आलिंगन में बँधकर परस्पर पार्थक्य को ही मिटा डालें, या फिर परस्पर के समक्ष से इसी समय लुप्त हो जाएँ, दूर हो जाएँ। ऐसे समय दूरी ही निकटता को सत्य बनाती है।

सुनीता ने कहा, ''कब जाओगे, परसों?''

श्रीकान्त, ''अगर कल नहीं, तो अवश्य परसों।''

सुनीता, ''दूध ले आऊँ?''

श्रीकान्त, ''ले आओ, लेकिन—।''

सुनीता, ''ला रही हूँ।''

दूध का गिलास लेकर जब लौटी तो श्रीकान्त ने गिलास लेकर कहा, ''और हरिप्रसन्न को दे दिया?''

सुनीता मानों कहीं ऊँचे से टूटकर गिरी, बोली, ''नहीं तो—।''

श्रीकान्त, ''पहले उसे देकर आओ।''

श्रीकान्त, (गिलास अपने पास रहने देकर) ''सुनीता, हरिप्रसन्न को यों न भूला करो।''

सुनीता ने बेहद खीझकर कहा, ''तो, दिये तो आ रही हूँ—।''

श्रीकान्त ने इस समय तनिक सदय भाव से कहा, ''सुनो सुनीता, ऐसा है तो मुझे सचमुच सोचना चाहिए कि हरिप्रसन्न का अलहदा बन्दोबस्त क्या ज्यादा ठीक नहीं रहेगा।''

कहकर श्रीकान्त अपने हाथ का गिलास वापिस करने लगा।

सुनीता का मन कड़वा हो आया। बोली, ''तो उन्हें कब नहीं देती?''

सुनीता, (जाते-जाते) ''हाँ, ठीक रहेगा।''

श्रीकान्त, (आविष्ट स्वर में) ''सुनीता!''

सुनीता चली गयी।

33

सुनीता दूध का गिलास लेकर हरिप्रसन्न के पास पहुँची। तब सत्या, जैसा कुछ पढ़ना-पढ़ाना हुआ वैसा करके, वहाँ से जा चुकी थी। हरिप्रसन्न अकेला था। उसने वह चित्र ही खींचकर अपने सामने ले लिया था। उस समय वह उसमें अटका ही हुआ था। उसे बना नहीं रहा था।

सुनीता सदा की भाँति आज बोलती हुई नहीं आयी। कुछ इसलिए भी बोलने की आवश्यकता न हुई कि उसके आते-आते हरिप्रसन्न का ध्यान स्वयमेव उसकी ओर बँट गया था।

हरि ने कहा, ''दूध लायी हो, भाभी। लाओ। लेकिन तुम कैसे जानती हो कि कभी मुझे इस तरह दूध रात को मिला किया है ? यह तो भाभी, अन्धे गड्ढे में कृपा का जल डालने जैसा है।''

गिलास थामकर सुनीता चुपचाप चली जाने लगी।

हरि ने कहा, ''सुनो। मेरा बिस्तर आज ऊपर बिछा है ?''

सुनीता, ''मालूम नहीं।''

हरि, ''तो नहीं बिछा है ?''

''मालूम नहीं।''

हरि, ''नहीं मालूम! खैर, मैं सोचता था कि तसवीर छोड़ूँगा या खुद उससे छूटूँ और आज श्रीकान्त के साथ गपशप करता हुआ सोऊँ।''

सुनीता, ''अच्छा।''

हरि, ''भाभी, यह क्या है, क्या बात है ?''

सुनीता, ''बिस्तर वहाँ न हुआ तो अभी बिछाए देती हूँ। आप चलिए।''

यह सुनीता नाम की भाभी हरिप्रसन्न की बुद्धि से एकदम बाहर हुए जा रही है। उसने कहा, ''यह तुम्हें क्या हुआ है ? ठीक बोल नहीं रही हो। मेरा कसूर हुआ तो माफ कर दो।''

सुनीता चुप।

''देखता हूँ, मुझे यहाँ से अब चलना भी है।''

कुछ ठहरकर फिर कहा, ''परसों शायद चल पड़ूँ।''

सुनीता, ''आपको यहाँ तकलीफ है ?''

हरिप्रसन्न, ''तकलीफ ? हाँ, वह भी है।''

सुनीता, ''आपने कहा, परसों ?''

हरिप्रसन्न, ''हाँ देखता हूँ, परसों। कल तक किसी तरह तसवीर पूरी नहीं की जा सकती। जरूर वह सौ से काफी ज्यादा में बिक जानी चाहिए।''

सुनीता—"तब तसवीर आप लेते जाइएगा। आप जान लीजिए कि हमारे यहाँ से सूद पर रुपया नहीं दिया जाता।"

"तसवीर साथ ले जाऊँगा!" कहकर हरिप्रसन्न कुछ देर चुप रहा फिर बोला, "अपने से अलग करने के लिए तसवीर है, भाभी! साथ बाँधने के लिए नहीं। साथ रखता था तो वह मन में ही न थी। मन से कुछ बाहर खींच रखना सुखकर कर्म तो नहीं है और भाभी जी, मैंने कब कहा है कि आप लोग उसे बेच ही दीजिएगा। उसके तो खैर, सौ या ज्यादा रुपये मिल जाएँगे। लेकिन उसके बाद मुझे और रुपये चाहने लग गये तो क्या आप लोगों से माँगने से मैं बाज आ जाऊँगा, यह आप समझती हैं? फिर भी यह मान रखने में क्या बुराई है कि दाम-मोल के लिहाज से भी यह तसवीर बेकाम नहीं है। इतने से शायद आप उसे फेंक तो नहीं दीजिएगा।"

सुनीता, "आपका जाना नहीं रुक सकता?"

सुनीता अब एक कुर्सी पर बैठ गयी थी। हरिप्रसन्न नीचे फर्श पर बैठा था। हरिप्रसन्न ने कहा, "भाग्य के हाथ में सब कुछ है। लेकिन रुकना कभी श्रेयस्कर हुआ है? साँस रुकती है, उसे मौत कहते हैं। गति रुकती है, तब भी मौत है। हवा रुकती है, वह भी मौत है। रुकना सदा मौत है। जीवन नाम चलने का है, भाभी!"

सुनीता, "मैं जानना चाहती हूँ कि आपको किस विशेष काम से जाना होगा?"

हरिप्रसन्न, "मैं यह जानना चाहता हूँ भाभी, कि मुझे फिर किस खास काम से यहाँ रहना होगा?"

"वह नाराज होंगे।"

हरि, "श्रीकान्त! ऊँह।"

सुनीता, "सत्या को पढ़ाना शुरू किया है, सो—।"

हरि, "सो तुम जानो। यह तुम्हारा ही काम तो है, भाभी, मैं खूब जानता हूँ। लेकिन मुझसे ऐसा डर न रखना।"

सुनीता ने तब गम्भीर किन्तु उतनी ही धीमी वाणी में कहा, "देखो, तुम भागते हो तो भागो। लेकिन अपने से कहाँ भागोगे? कुछ और तुम्हें नहीं रोक सकता, यह ठीक, किन्तु स्वयं तुम अपने को नहीं रोक सकते, यह भी ठीक है?"

हरि ने कहा, "भाभी!"

सुनीता ने कहा, "जाओ, लेकिन जाकर कहाँ पहुँचोगे? वहाँ जहाँ नहीं है? ऐसी कौन जगह है? कौन जगह है कि जहाँ हम लोग नहीं हैं, तुम्हीं तुम हो? यह तुम्हारा हृदय तक भी वह जगह नहीं है, जानते हो? जी अपने में चुप, बन्द, चैन से क्यों नहीं बैठता? क्यों वह धड़कता है? जानते हो? इसी से कहती हूँ जहाँ कोई और न हो, वहाँ हम हैं। कहो, नहीं हैं! इससे हरिप्रसन्न, मत जाओ। भागना तो नरक से भी ठीक नहीं, क्योंकि नरक का भय फिर तुम पर सवार ही रहेगा। इससे आओ

हरिप्रसन्न, हम दोनों परमात्मा का विश्वास पाएँ और उसकी प्रार्थना में बोल पाएँ।''

हरिप्रसन्न, ''भाभी!''

सुनीता, ''मैं ठीक कहती हूँ, हरिप्रसन्न। प्रार्थना से शक्ति आती है। अपनी अबलता स्वीकार कर न भागना अच्छा है, कि अपने सबलता के दम्भ में पीठ दिखाकर भाग खड़े होना अच्छा है? जिस निर्बलता ने राम का बल पकड़ा है, उसका बल फिर क्यों हारे? क्या कहीं से कर्म की पुकार आयी कि तुम जाते हो? ऐसा है, तो जाओ। तब समझो कि मैं भूल में थी। तब मैं भी यह समझ लूँगी। ऐसा नहीं है तो मान लो कि मैं भूल में नहीं हूँ और तब मत जाओ। परमात्मा पर विश्वास रखो। वह भय से हमें तारेंगे।''

हरिप्रसन्न ने बीच में कहा, ''भाभी तुम चली जाओ, तुम जा सकती हो। ऐसी बातें करने तुम यहाँ मत रहो। वे होंगी पवित्र, पर मेरी निगाह उन पर नहीं ठहरती। वे इतनी धौली हैं कि बुद्धि उन्हें छू नहीं पाती। वे इतनी दुर्गम, जैसी सरल हैं। परमात्मा हो तो रहे, मैं अपने को उसके साथ क्यों अटकाऊँ? मैं उसे अपना कष्ट न दूँगा। मेरे सामने चट्टान हैं। मैं चट्टान नहीं चाहता, तरल जल चाहता हूँ उसे पानी हुआ-हुआ देखना चाहता हूँ। मैंने उसमें सिर मारा, वह नहीं टूटी। सिर मार रहा हूँ, वह नहीं टूट रही है। एक तो यह कि वह टूटे न टूटे, मैं तो सिर मारता ही रहूँ। तब तक जब तक कि सिर न फूट जाए। दूसरे यह है कि सिर तोड़ूँ नहीं, यही नहीं, प्रत्युत समय पर यह चेतावनी ले लूँ कि चट्टान शायद रहने के लिए है, और सिर भी शायद उससे टकराकर तोड़ने के लिए नहीं है—और उस सिर को किसी और काम में लगाऊँ। क्या तुम यह कहना चाहती हो भाभी, कि तुम्हारा परमात्मा हमें यहाँ तक शक्ति देगा कि हम सिर बचाने की न सोचें, वह टूट भले जाए?''

सुनीता ने अति गम्भीर वाणी में कहा, ''हाँ, यह भी मैं कहना चाहती हूँ।''

हरिप्रसन्न पूछ उठा, ''अटूट के सम्मुख रहकर, उससे लड़कर खील-खील हो जाने की तैयारी क्या तुम रखती हो, भाभी! बोलो।''

कुछ ठहरकर जैसे अपने को समेटकर सुनीता ने मानों एक-एक शब्द कहा, ''जो अहम की शक्ति से कठोर होकर खड़ा है वह तो खील-खील ही होगा, जो अपने में मात्र श्रद्धा की शक्ति लेकर इतना सशक्त बना है कि अहंकार के सहारे की जरूरत नहीं है, वह भला कैसे खील-खील होकर बिखर सकता है! क्योंकि वह कठोर है ही नहीं, वह तो प्राणवायु की भाँति शून्य है। चट्टान टुकड़े-टुकड़े ही रहेगी, और आँधी के टुकड़े कैसे होंगे?''

''भाभी, चुप होओ। बताओ, तुम कहती हो न जाऊँ?''

''मैं नहीं कहती, मैं कहती हूँ कि जाओ भले, पर भागो मत। सच कहो, क्या मुझसे भागते हो?''

''तुमसे ?''

सुनीता कुछ मुस्करायी, ''तो मैं भी तुमसे भागूँ ?''

''तुम ही कहती हो, भागो मत। मैं तो, हाँ कहता हूँ, भाग जाओ। वक्त रहे, तब तक भाग जाओ। मुझे भी कहो, कि मैं भाग जाऊँ। भाभी नहीं तो—।''

सुनीता ने व्यंग्य और विनोद भरे शब्दों में कहा, ''नहीं तो प्रलय होगी, यही न कहते थे ? अच्छी बात है, मैं भाग जाती हूँ!''

कहकर वह उठ खड़ी हुई। तभी बाहर से आती हुई श्रीकान्त की आवाज सुन पड़ी—''हरिप्रसन्न!''

सुनीता खड़ी होते-होते बैठ गयी, धीमे से बोली, ''तो, मैं भाग चली थी। पर भागने का तो द्वार ही रक्षक से घिर गया है।''

श्रीकान्त ने आकर देखा, सुनीता कुर्सी पर है, हरिप्रसन्न नीचे बैठा है। उसके आने पर सुनीता खड़ी हो गयी है, माथे पर जरा धोती भी आगे ले ली है। उसने कहा, ''हरिप्रसन्न, यह क्या है ? हमेशा तसवीर-तसवीर-तसवीर! चलो, उठो...(सुनीता की ओर) तुम बैठो।''

सुनीता कुर्सी पर वहीं बैठ गयी। इस पर श्रीकान्त हरिप्रसन्न के बराबर ही फर्श पर आ बैठा। तब लज्जित-सी होती हुई सुनीता कुर्सी से फिर उठ खड़ी हो गयी।

श्रीकान्त ने कहा, ''अरे बैठो, लिहाज-तकल्लुफ यहाँ किसका है—मेरा ?''

किन्तु सुनीता फिर कुर्सी पर बैठ न सकी, कुछ देर असमंजस में खड़ी रही फिर चली जाने को हो गयी।

''ठहरना जरा,'' श्रीकान्त ने कहा, ''हाँ, आज तो ऊपर सो सकोगे न, क्यों हरिप्रसन्न ? (सुनीता से) सुनना, वहीं इनका बिस्तर बिछा देना। (हरिप्रसन्न से) क्यों ?''

हरिप्रसन्न, ''यहीं सोऊँगा।''

श्रीकान्त, ''क्यों, आज फिर तसवीर ठीक करनी है ?''

हरिप्रसन्न, ''अभी तो हाँ। है ही।''

''देखो हरि,'' श्रीकान्त ने कहा, ''वहाँ आज भी नहीं सोओगे, तो शायद कल भी नहीं सोओगे। परसों मैं लाहौर जा रहा हूँ। हाईकोर्ट में एक अपील है। तब यों कहो कि तुम्हारा आना मेरे लिए नहीं रहा, तसवीर के लिए रहा।''

इस बीच सुनीता कुछ देर ठिठकी खड़ी रहने के अनन्तर चुपचाप चली गयी थी। हरिप्रसन्न बोला, ''परसों चले जा रहे हो ? मैं अभी उनसे कह रहा था कि परसों मैं चले जाने की सोच रहा हूँ।''

श्रीकान्त ने एकदम कहा, ''तुम!''

हरिप्रसन्न, ''मुझे बता सकते हो, क्यों न जाऊँ ?''

श्रीकान्त, ''जरूर बता सकता हूँ। यों न जाओ कि हम कहते हैं।''

हरिप्रसन्न मानों पीड़ा ग्रसित हँसी हँसा। यह श्रीकान्त कैसा सरल प्राणी है! ऐसा सरल है कि उसके साथ मानो अनजाने भी छल से बचना सम्भव नहीं है। व्यक्ति यदि पारदर्शक नहीं है तो क्या यह भी श्रीकान्त जैसे के प्रति छल ही नहीं है।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''तुम कहते हो, इसलिए? और तुम क्यों कहते हो?''

श्रीकान्त, ''मैं इसलिए कहता हूँ कि मुझमें कहने का सामर्थ्य है।''

यह सुनकर हरिप्रसन्न श्रीकान्त की ओर सम्भ्रम से देख उठा। श्रीकान्त सरल है। तो क्या साधनापूर्वक ही सरल नहीं है? वह सरलता साधना द्वारा उसने साधी है। वह सरलता क्या तपस्या भी नहीं है? क्या वह सरलता किसी तरह भी निरा भोलापन समझी जा सकती है? हरिप्रसन्न ने श्रीकान्त को देखा, कि देखता ही रहा, बोला नहीं।

श्रीकान्त ने कहा, ''यह तसवीर अभी कल पूरी नहीं होगी, परसों हो जाएगी? खैर, उसके साथ तुम खुलकर समय लगाओ। समय तुम्हारा है। हमारा आरोप उस पर नहीं है। तो ऊपर नहीं सोओगे? अच्छी बात है, मैं चलूँ। तुम नहीं जा रहे हो न? बेशक, नहीं जा रहे हो। मैं तीन रोज में लौट आऊँगा। देखो हरि, किसी बात से घबराओ नहीं!''

यह हरि को क्या कहा जा रहा है कि 'घबराये नहीं!'

किन्तु श्रीकान्त ने और भी स्निग्ध, सौम्य, भावसिक्त वाणी में कहा, ''हरि, तुम्हारी भाभी तुम्हें कोई कष्ट न होने देगी। मैंने भी कह दिया है। हरि, हम लोग दुर्गम पथ से दूर हटकर सुगम राह पकड़कर चल रहे हैं तो क्या, उस पथ के पथिक को समझना जानते हैं। हरि, घबराना नहीं। हम टूटे तो टूटे, पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढ़ते रहना।''

श्रीकान्त खड़ा हुआ तब हरिप्रसन्न भी अनायास खड़ा हो गया। जैसे छोटा भाई हो। उसने कहा, ''श्रीकान्त, मैं सच कहता हूँ, मेरे आराम की बात उठाओगे तो मेरे लिए दुस्सह हो जाएगा। मुझे बिलकुल अगणनीय ठहराओ। तब तो मैं हूँ। अन्यथा—।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा, अच्छा, इस बात को छोड़ो। तुम यहाँ खूब ही कष्ट उठाओ। लेकिन सुनो, मेरे पीछे अपनी भाभी को जरा भी कम अपनी न समझना। हरिप्रसन्न, मैं उन्हें पहचानते-पहचानते भी नहीं पहचाना हूँ, पाते-पाते भी नहीं पाया हूँ। मुझे मालूम होता है कि तुम्हारे निमित्त से मैं उन्हें अपने निकट पाऊँगा।''

हरिप्रसन्न इन शब्दों को सुनता रह गया। वह शब्द अर्थ खोजते हुए उसके भीतर जोर-जोर से घूमने लगे। उसने देखा, श्रीकान्त धीरे से थिर डगों से कमरे से बाहर चला जा रहा है। उस समय उसका मन अतिशय मस्त हो आया और उसमें उठी भावना की एक हिलोर और वह एक ही साथ उस श्रीकान्त के प्रति श्रद्धा और दया

के भावों से अभिभूत हो गया।

कुछ काल इस अवस्था में गुमसुम खड़ा रहकर हरिप्रसन्न बत्ती बुझाकर आराम कुर्सी पर लेट गया। पन्द्रह-बीस मिनट उस कुर्सी में निष्क्रिय पड़े रहने के बाद बिजली खोलकर वह फिर चित्र ले बैठा और उसे बनाने में लग गया।

34

श्रीकान्त के लाहौर चले जाने के बाद हरिप्रसन्न बहुत ही कम अपने कमरे से बाहर निकलता है। सदा चित्र को ही साथ रखता है। शाम को सत्या आती है, उसे पढ़ा देता है, मानो इस जिन्दगी में उसको यह कुछ दिन निकालने हैं, सो निकाल रहा है। मानो इन दिनों के साथ उसको इतनी ही अपेक्षा है कि वे बीत जाएँ। इससे अधिक कुछ नहीं है। सवेरे-शाम ठीक समय पर खाना खा लेने के लिए चौके में पहुँच जाता है और निगाह नीची रखकर खाना खा लेता है; विशेष बोलता नहीं है और खाकर फिर तसवीर ले बैठता है।

सुनीता को भी अपने काम से काम है। अपने घर आये अभ्यागत को कोई असुविधा न हो। इतना खयाल रखने के बाद वह उस ओर से बिलकुल मुक्त क्यों न रहेगी? यही बात है। वक्त पर पान-इलायची दे आती है, दूध दे आती है, जरूरत की और चीजें पहुँचा आती है। यह करके तुरत-फुरत लौट आती है, और बस। एक दिन तसवीर पूरी हो गयी। प्रसव-काल के बाद शिशु को अपने बराबर खेलते पाने में क्या भाव उठता है, वैसा ही भाव हरिप्रसन्न में उठा। वह तसवीर को सामने रख के कभी इधर से, कभी उधर से देखने लगा। उसे सम्भ्रम होता था। देखते-देखते वह एकाएक चल पड़ा।

ऊपर एक कमरा है, आगे सायबान। सामने खुली छत है। कमरे से लगे स्नानागार वगैरह हैं। रास्ता कमरे के भीतर से नहीं है, बाहर से ही है।

शाम के पाँच बजे का वक्त भला नहाने का है! लेकिन हरिप्रसन्न ऊपर पहुँचा, तो क्या देखता है कि भाभी सुनीता स्नान-घर में से नहाकर निकली हैं। बाल पीठ पर फैले हैं। धोती अभी पहनी नहीं गयी, मानो जरा उसकी ओट ले ली गयी है। पिण्डलियों तक टाँगें खुली हैं, ऊपर धोती का किनारा वक्ष-भाग तक आते-आते लिपट गया है।

तसवीर समाप्त होने के उल्लास में हरिप्रसन्न जीने ही से कहता जा रहा था—"भाभी! भाभी!" ऊपर आकर जो देखा, देखकर स्तम्भित, नमित रह गया।

सुनीता ने भी देखा और उसका मुख लाज से लाल हो उठा। वह झटपट कमरे में घुस गयी। हरिप्रसन्न गड़ा खड़ा रहा। न हिला, न डुला। मानों उसके गात में से चेतना ही छिन गयी।

अन्दर से ही आवाज आयी—''आप बैठिए।''

हरिप्रसन्न कहाँ बैठे, सो समझ न सका। क्या सीधा कमरे में ही न पहुँच जाए, नहीं तो बाहर वहाँ बैठने की जगह कहाँ है! लेकिन उसे मालूम हुआ कि वह अभी यहाँ से चला जाएगा।

उसने फिर सुना, ''जाइएगा नहीं, बैठिएगा।'' और वह खड़ा रह गया।

थोड़ी देर में सुनीता कमरे से बाहर आयी। उसने कुछ और अपने को नहीं सँभाला, बस धोती ठीक पहन ली है। बाल अब भी छिटके हैं और उनमें कंघी होनी बाकी है। पहनने का कोई कपड़ा शरीर पर नहीं लिया गया है।

''बैठिए, आप खड़े क्यों हैं? यह खाट तो है, आइए, बैठिए।''

हरिप्रसन्न इन सबको क्या समझे? उसके मन में क्या है सो कैसे जाने, कैसे बताये, कैसे रोके? उसका सब उल्लास खो चुका है और वह भ्रमित-सा खड़ा है। लज्जा को व्यर्थ करती हुई छटामयी यह जो नारी खड़ी है, कह रही है 'आइए, बैठिए,'—उसको यह कैसे सहे!

उसने जो देखा है उसमें उसका दोष तो नहीं है; फिर भी दोषी है, ऐसी सान्त्वना उसके चित्त को नहीं होती।

सुनीता ने हरिप्रसन्न को चुप देखकर कहा, ''इतने दिनों के बाद, ऐसे बेवक्त आज कैसे आ गये? तसवीर हो गयी क्या? नहीं तो उससे आपको फुर्सत मिलती थी।''

''हो गयी।''

''हो गयी? अब देखने चलूँ, यही न? लेकिन आपको मालूम है कि मैं तीसरे पहर कब आपके यहाँ नाश्ता देने गयी! आप बहुत मशगूल थे सो लिये-लिये लौट आयी। बैठिए, अब लाये देती हूँ।''

''जी नहीं, जी नहीं।''

''अच्छी बात है, आपके कमरे में लिये आती हूँ।''

सुनीता जैसे ही जाने के लिए बढ़ी, हरिप्रसन्न उठकर चला आया।

हरिप्रसन्न के मन में आज एकाएक नया विचार उदय हो आया। मानो जिसको सुदूर से अनुभव करता था, आज वह प्रत्यक्ष हुआ है। या सुनीता आज घर में गृहिणी है, यह रण की देवी दुर्गा क्यों न बने? पौरुष कहाँ से साहस लेता है? युवकों में कहाँ से स्फूर्ति भरनी होगी? वे कहाँ से मदद पाएँगे? जीवन की स्पृहा उनमें कैसे जागेगी? उसके लिए एक नारी की आवश्यकता है। हाँ नारी। वह देवी हो, या चण्डी हो, वह

माया हो। कर्तव्य से नहीं आएगा उल्लास, उल्लास जागेगा माया के आकर्षण में से। माया भोग्य नहीं है, माया मरीचिका है। वह मायामयी नारी घर में ही क्यों, वह वृहत क्षेत्र में क्यों नहीं? वह भाभी ही क्यों; अरे, वह ध्वजाधारिणी क्यों नहीं?

एकाएक उसे जान पड़ा कि भाग्य ने जो उसे सुनीता के तट पर ला छोड़ा है, सो इसलिए कि वह उसे पहचाने और उपयुक्त उपयोगिता में उसको प्रतिष्ठित करे। दल को एक नेत्री चाहिए, जो युवकों को स्फूर्ति का स्रोत हो। आज सुनीता को देखकर हरिप्रसन्न को लग रहा है—वह यही है। यही है!

कमरे में आकर इसी विचार को वह अपने भीतर पल्लवित करने लगा। वह विचार देखते-देखते नाना रूप वर्ण के पत्र-पुष्पों से लसित उसके भीतर लहलहा उठा। मानो सुनीता इस घर की है ही नहीं। वह हरिप्रसन्न के स्वप्न की ही है। कीच, मट्टी, पत्थर के नीचे दबा हुआ हीरा क्या मुकुट में अपने स्थान पर नहीं पहुँचेगा! धरती में दबा वह तभी तक के लिए तो है जब तक पारखी की आँख उसे नहीं पाती। पारखी वह क्या है जो हीरे के प्रति अपनी जिम्मेदारी को नहीं पहचानता! नहीं, वह अपने धर्म में नहीं हारेगा।

सुनीता जब आयी, हाथ में उसके तश्तरी थी और वेशभूषा सँभली थी। माथे पर सदा की भाँति लाल बिन्दी थी।

इस बार हरिप्रसन्न ने स्वयं उठकर तश्तरी उसके हाथ में से ले ली, कहा, ''बैठो भाभी! इसको तो मैं रखे देता हूँ, अभी भूख नहीं है। लेकिन तुम बैठो। मुझे अब यह कहना है कि तसवीर तो पूरी हो गयी। अब मैं यहाँ और किसलिए रहूँगा?''

सुनीता ने कहा, ''तसवीर हो गयी, यह देखती हूँ। पर यह क्या है?'' बैठी-बैठी सुनीता तसवीर को देखने लगी। ज्यों-ज्यों वह तसवीर को देखती है, त्यों-त्यों उसमें खोयी-सी रह जाती है। मानों एक गुफा है जिसका प्रवेश द्वार निमन्त्रणपूर्वक खुला है, पर जिसमें प्रवेश करके वापस आना नहीं होता। जिसका आर-पार नहीं है। मानो उस गुफा की दहलीज पर खड़ी वह देख रही है और पूछना चाह रही है कि यह क्या है? बढ़ने का साहस नहीं है। पर आगे जैसे चुनौती आ रही है जो कह रही है—मत आओ, 'देखो, मत आओ' और वह चाह रही है जानना कि यह पुकार क्या है।

चित्र में सुनीता सचमुच फँसी-सी पड़ी। आँख हटती न थी। यद्यपि वह कुछ समझ नहीं पा रही थी। चित्त चित्र के अर्थ की ओर जा रहा था जो पहेली-सा अनबूझ लगता था।

हरिप्रसन्न ने सुनीता की यह अवस्था देखी। चुपचाप अपने हाथ की तश्तरी उसने दूर की और धीमे-धीमे चलकर वह सुनीता की कुर्सी के पीछे आ गया और दाहिने हाथ को कन्धे पर रखकर बोला—''भाभी!''

भाभी बोली, ''यह क्या है?'' मानों उसके मन के भीतर त्रास हो।

''क्या है? यह जिन्दगी है, भाभी। इसी का नाम क्रूसीफिक्शन है।''

अब तक हाथ सुनीता के कन्धे पर रखा था, पर मानो उस कन्धे को यह पता न था, अब मानो तनिक सिहरकर उस कन्धे ने कहा, ''यह नहीं, यह नहीं।' और हरिप्रसन्न का वह हाथ वहाँ से हट गया।

सुनीता ने कुर्सी फेर लेकर कहा, ''इस तसवीर का क्या मतलब है, बतला सकते हैं?''

''पूरी तरह नहीं जानता हूँ, इसलिए नहीं बतला सकता।''

''ऐसी तसवीरें बनाकर तुम्हें चैन मिलता है?''

इस पर हरिप्रसन्न ने तुरन्त उत्तर न दिया। ध्यानपूर्वक सुनीता को देखा। फिर आप भी एक कुर्सी पर बैठकर बोला, ''मेरे चैन की बात छोड़ो, उसे मैं भुगतूँगा। लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ, भाभी, कि ब्याह को तुम क्या चीज मानती हो? उससे आगे होकर क्या कोई कर्तव्य नहीं है? जो हो, क्या उसमें तुम जीवन की सिद्धि समझती हो? मैं कहना चाहता हूँ भाभी, कि तुम भूल में हो।''

सुनीता चुप सुनती रही।

''तुम भूल में हो। बाहर क्या हो रहा है, मालूम है! लाखों मोहताज हैं, त्रस्त हैं। उनके दुख की तौल हो सकती है! वह दुःख घर में बैठकर कैसे मालूम हो? वह दुःख क्या उनका ही है जिनको मिल रहा है? क्या तुम और हम निर्दोष की भाँति अलग रह आवें? क्या हम यह समझें कि उसकी आँच हमें तो लगती नहीं, तब हमें क्या ? पर यह गलत है। बाहर आँच हो, तब कोठरी में अपने को मूँद लेने में बचाव नहीं होगा। आँख मूँद लेना काफी नहीं है।''

सुनीता ने विषण्ण भाव से कहा, ''मुझसे क्या चाहते हो?''

हरिप्रसन्न ने तनकर कहा, ''जो अपने से चाहता हूँ। अपने से चाहता हूँ कि निकल चलूँ। इस फैले विश्व में भयभीत को ढाढ़स दूँ। भूखे के लिए अन्न की व्यवस्था करूँ, दम्भी का दम्भ तोड़ूँ, संकीर्ण स्वार्थों की दीवारें जो समाज में खड़ी हैं उन्हें ढहा न दूँ तो उनमें द्वार-खिड़कियाँ तो खोल दूँ। तुमसे चाहता हूँ कि जब तुम आर्त्त की पुकार सुन सकती हो, तब उस पुकार की तरफ बढ़ भी चलो। क्या यह सबसे कहा जाता है। क्या यह करने का अधिकार सबको होता है! लेकिन जिनको कानों में वह पुकार पड़ी, सुनकर यदि वे उसे अनसुना कर दें, तो उनसे बड़ा अकृतज्ञ कौन हैं? भाभी!''

''ठीक बताओ, क्या चाहते हो?''

''भाभी, यहाँ कुछ लोग हैं। नये हैं, अनुभवहीन हैं, मुट्ठी भर हैं, पर युवा हैं, इरादे के धनी हैं। यों तो बालक हैं, पर जान की ममता उनमें नहीं है। भाभी, मैं देखता

हूँ, उन्हें एक प्रतिमा चाहिए। एक चाहिए जो जब हारें तो उन्हें स्नेह दे। एक नारी, चिरन्तन माता, एक देवी मूर्ति, जहाँ वे स्फूर्ति लें और जिसके समक्ष शपथ लेकर आगे बढ़ें। तुम क्यों वह नहीं हो सकतीं? मैं देखता हूँ तुम्हीं वह हो।''

सुनीता ने खिन्न भाव से कहा, ''आप मुझमें भूलते हैं। मैं तो अपने को घर का जानती हूँ और कुछ नहीं जानती।''

हरिप्रसन्न ने सुनीता की नमी आँख में भरपूर देखते हुए कहा, ''जो तुम हो भाभी, मैं जानता हूँ। सामने खड़े कर्तव्य से तुम नहीं मुड़ सकतीं। तुम अपनी शक्ति पहचानने से नहीं दब सकतीं। तुम में सब कुछ है। घर तुम्हारा नहीं छूटता तब सामने आये कर्तव्य के विषय में जो कर सकती हो, उसे भी कैसे छोड़ सकती हो?''

मानों कहीं और हो, इस तरह सुनीता ने कहा, ''क्या करना होगा?''

हरिप्रसन्न ने दृढ़ता के साथ सुनीता को देखते हुए कहा, ''कल रात मेरे साथ चल सकोगी?''

''कहाँ?''

''सवेरे तक लौटना होगा, कुछ दूर जंगल में जाना होगा।''

''चलूँगी?''

''चलोगी?''

सुनीता एक बार 'चलूँगी' कहकर सामने देखती हुई बैठी रह गयी।

हरिप्रसन्न, ''चलोगी? भाभी चाहो तो अब भी कह सकती हो, नहीं।''

सुनीता चुप बैठी रही।

हरिप्रसन्न ने सामने बढ़कर थिर भाव से बैठी हुई सुनीता का दाहिना हाथ अपने हाथ में थाम लिया, कहा, ''भाभी!''

सुनीता अकुण्ठित भाव से हरिप्रसन्न को देखती रही, हाथ उसने खींचा नहीं।

उस समय हरिप्रसन्न ने अत्यन्त अभ्यर्थनापूर्वक उस हाथ को उठाकर मस्तक से लगाया, बोला, ''तुम्हारा नाम होगा भाभी, मायारानी!''

भाभी ने कुछ नहीं कहा।

35

आज एक पत्र सुनीता को मिला है। वह लाहौर से आया है। दिन में कई बार उसे देख चुकी है। अब सोने जाने से पहले सुनीता ने फिर वह पत्र पढ़ा, मानो वही उसे सहारा है। वही ढाढ़स है। पर मानो वहाँ ग्रन्थि भी है। और क्या आज ही उसने अपने हाथ

को हरिप्रसन्न के हाथ में टिकने देकर कह दिया है—''मैं रात को तुम्हारे साथ चली चलूँगी।''

अकेले में अब जब सोने का ही काम उसे बाकी है, दुनिया का और सब काम निबट चुका है, चारों ओर मानो विराम अलसा रहा है, उसने अपनी आँखों के सामने वही पत्र ले लिया। मानों वह उसका मंगल-पाठ हो, कवच हो, पहेली हो।

पत्र श्रीकान्त का है। लिखा है—

''प्रिय सुनी।

''मैं अभी चार-पाँच रोज यहाँ रहूँगा, अदालत का काम तो खत्म हुआ समझो। फिर भी मैं रहने के लिए यहाँ चार-पाँच रोज रहूँगा।

''हरिप्रसन्न वहाँ होगा ही। उसको किसी तरह की बाधा न होने देना। उसे भागने भी मत देना। देखो सुनीते, इस बारे में जो-जो बातें मेरे मन में उठती हैं वह सब मैं कह नहीं सकता। हरिप्रसन्न क्यों बन्द है, क्यों अँधेरा है, वह मेरी समझ में नहीं आता। वह तो हम सबसे आजाद है, फिर भी वह आजादी उसके चेहरे पर कहाँ है! कहीं उसमें उल्लास दीखता है, जैसे अभाव ही भीतर से उसे खा रहा है।

''तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुमको गलत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे खयाल को अपने से तुम बिलकुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा हूँ। हरिप्रसन्न में कितनी क्षमता है! लेकिन उस क्षमता से लाभ दुनिया को क्या मिल रहा है? मैं नहीं चाहता हूँ कि वह क्षमता उसकी व्यर्थ जाए. हमारा प्रयत्न हो कि वह समाज के लिए उपयोगी बने।

''सुनीता, मुझे उसकी भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम, तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना है कि मैं नहीं हूँ, तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा। कर्म क्रम से यों अपने को हृदय अनासक्त कर पाना ही तो इष्ट है। इसके लिए निःसन्देह बड़ी साधना की आवश्कता है। फिर भी यह तुम कर सकती हो। तिनका जो बहाव पर बह रहा है, वह अपने को बहता हुआ रहने दे। इसमें क्या उसे मुश्किल है! यों वह तिनका बेचारा कर भी क्या सकता है! फिर भी अगर आदमी-जैसा अहंभाव उसमें हो तो वह बहाव में बहता तो अवश्य जाए, पर बेचारा रोता-झींकता भी जाए। इन कुछ दिनों अपने को सम्पूर्ण रूप से विसार देने को मैं तुम्हें कहता हूँ। चार-पाँच रोज आराम के साथ यहाँ की दर्शनीय चीजें देखूँगा। सो तुम मुझको अपने मन पर से बिलकुल खिसका देकर इन दिनों रहना।

''सत्या तो पढ़ने आती होगी। हरिप्रसन्न पढ़ाता भी होगा। मैंने कुरेद-कुरेद कर

पूछकर नहीं जानना चाहा कि हरिप्रसन्न हमारे घर में क्यों है। और कितने दिन है। न जानने की जरूरत ही अब मुझे दीखती है। यह काम तो उसका ही अपना है, फिर भी हमारा घर तो शायद उसके लिए सराय के मानिन्द है। तुम उसकी इस वैरागी वृत्ति को किसी तरह कम कर सको, उसमें कहीं बँधकर बैठने की चाह उपजा सको, तो शुभ हो। हरिप्रसन्न के मामले में मुझे मालूम होता है कि यह असम्भव नहीं है। महात्मा शायद वह नहीं है। कलाकार से जो मैं समझता हूँ, हरिप्रसन्न उतना ही है। उससे आगे होकर वह नहीं है। कलाकार भटकता न रहे, उद्‌भ्रान्त न रहे, किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाए तो वह बड़ी शक्ति बन जाता है। नहीं तो वह अपने को ही खाता है।

''मैं अपने को अल्प-प्राण ही गिनता हूँ। वकालत करता हूँ। गृहस्थी चलाता हूँ। इस तरह के सीमित दायरे अपने चारों ओर लेकर चल सकने वाला हरिप्रसन्न नहीं है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसको मार्ग देने के लिए हम झुक जाएँ, हट भी जाएँ तो हर्ज नहीं है।

''सुनीते, आशा है, तुम मुझे समझती हो। यह भी आशा है कि अन्यथा नहीं समझती। मैं उस दिन की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ जब हरिप्रसन्न जीवन में कुछ प्रयोजन सम्पन्न करने आगे बढ़े, आइडिया दे, और वह आइडिया समाज में उगता हुआ और फैलता हुआ दीखे। हरिप्रसन्न की प्रतिभा में वह बीज है, लेकिन वह सहानुभूति से सिंचे, तब न! साथ का पत्र हरिप्रसन्न को दे देना।

तुम्हारा—

श्रीकान्त''

सुनीता ने सोने से पहले एक बार फिर उस पत्र को पढ़ा है, फिर भी जैसे पूरी तरह उसका भाव उसे नहीं मिल रहा है। अब तक हरिप्रसन्न का पत्र उसने हरिप्रसन्न को नहीं दिया। सोचती थी कि दे दूँगी, जल्दी क्या है। इस रात के समय किन्तु उसके लिए असम्भव हो गया कि वह हरिप्रसन्न के पत्र को भी न देख ले। पढ़ा—

''प्रिय हरि!

''लाहौर में काम से मुझे और भी ठहरना होगा। तुम इतने में कहीं चल न देना। तसवीर तुम्हारी चल रही होगी। मैं जानना चाहता हूँ, वह खाली चीज होगी। सर्वांशत: तुम इतने दिन उस तसवीर के होकर रहे भी तो हो। मेरे मन में कई बार आया है कि मैं तुमसे कुछ बातें करूँ, पर तसवीर में तुम्हारी व्यस्तता देखकर चुप रह गया हूँ। तुम यह तो देखते ही हो कि दुनिया जो चाहिए वह नहीं है। उसे ठोंक-पीटकर सँवारना-सुधारना भी होता है। उसके लिए क्या करना होगा, उसका विधायक कार्यक्रम कोई बनाओ। इसी की आशा मैं तुमसे किये हुए हूँ। इसी का आग्रह मैं अब तुमसे करना चाहता हूँ। रिवाल्वर को दूर हटाओ। उसमें रोगी को दूर किया जा सकता

है, पर रोग तब भी दूर नहीं होता। व्यक्ति तो रोग का शिकार है। रोग समाज के शरीर में व्यापा है, संस्थाबद्ध है। रिवाल्वर क्या अधीरता का परिणाम नहीं है! अधैर्य से रोग का निदान और रोग से मुक्ति कैसे होगी! जो प्रत्यक्ष वर्तमान की हीनता देखकर मन में असन्तोष उठता है, रिवाल्वर तो उससे सस्ती छुट्टी पा लेने का उपाय है। किन्तु उस घूँट को गले में अटकाये रखकर धीर भार से जिये चलना होगा। उस असन्तोष को प्रतिक्षण पीते हुए हमें कर्म में लगे रहना होगा। सस्ती छुट्टी यहाँ कहाँ!

''हरिप्रसन्न, मैं सुनूँ कि रिवाल्वर तुमने हटा दिया, तो मुझे खुशी हो। तब मैं समझूँ कि हरिप्रसन्न ने अपना काम पहचाना है। समझूँ कि जो एक ममता उसमें शेष थी, वह भी उसने तज दी है।

''सत्या पढ़ने आती है न? और तुम पढ़ाते हो न?

''ऐसा न हो कि अपनी भाभी का लिहाज रखकर घर में तुम किसी तरह तकलीफ पाओ, वह ऐसी तो नहीं है। फिर भी—

तुम्हारा—
श्रीकान्त''

सुनीता उस पत्र को पढ़कर, हरिप्रसन्न को पहुँचा देने के लिए बिना सोचे-समझे उसी समय चल खड़ी हुई।

हरिप्रसन्न अपने कमरे में पलँग पर लेटा था। उसकी आँखों में नींद नहीं थी। वह अपने आप इस पलँग को जरूरत हुई तब बिछा लेता है और बहुत सवेरे उठकर अपने आप उसे बाहर रख आता है। वह सोया नहीं है। फिर भी कमरे में रोशनी नहीं की हुई है। कमरे से बाहर कुछ ही फुट के फासले पर रात की चाँदनी फैल रही है। वह उस चाँदनी की ओर देखता हुआ जाने क्या सोच रहा है।

सुनीता जब चलती हुई कमरे के पास आयी, तब वहाँ अँधेरा देखकर बोली 'ओह-सो गये!' और कहकर मानों लौटने को हुई।

'ओह सो गये!' यह इस भाँति कहा गया कि हरिप्रसन्न तनिक भी जाग रहा हो तो सुने बिना न रहे।

एकाएक भाभी का स्वर सुनकर हरिप्रसन्न का जी उछल पड़ा। अनायास वह बोला, ''भाभी, आओ।''

सुनीता बैठने के विरोध में कुछ और चली जाने को उद्यत-सी दीखी।

हरिप्रसन्न ने पलँग पर बैठकर कहा, ''आओ, भाभी, मैं सोया नहीं हूँ।''

कमरे में थोड़ा-थोड़ा दीखता था। क्या सुनीता प्रतीक्षा करे कि कमरे में कब रोशनी होती है, रोशनी हो तब जाए? या कि वह तनिक अँधेरा है तो क्या, बढ़ती ही जाए? क्षणेक ठिठकी रहकर फिर वह कठोर भाव से डग बढ़ाती गयी। जाते ही उसने स्विच खोला। बोली नहीं, पलँग पर उठकर बैठे हुए हरिप्रसन्न के सामने चिट्ठी

का कागज डाल दिया और स्वयं पलँग की पाटी के पास खड़ी हो रही।

हरिप्रसन्न ने अभी कागज उठाया नहीं। वह इस भाभी को देखता रह गया। क्षण भर बाद बोला, ''बैठो, भाभी।''

सुनीता बैठने के विरोध में मानों कुछ और चली जाने को उद्यत-सी दीखी।

अब तक प्रतीक्षा-सी थी कि भाभी बैठेंगी। हाँ, सो क्या, पलँग पर ही बैठेंगी। उन्हें चली जाने को उद्यत देखा तब हरिप्रसन्न ने झटपट कहा, ''कुर्सी लाता हूँ भाभी, बैठो।''

सुनीता तुले शब्दों में बोली, ''मैं बैठूँगी नहीं, यह चिट्ठी कल दोपहर आ गयी थी। मुझे देने की याद नहीं रही। आप पढ़ लीजिए। मैं खड़ी हूँ।''

''बैठोगी नहीं?''

हरिप्रसन्न ने यह कहा, और सुनीता को देखकर जान लिया कि वह चिट्ठी पढ़ ही ले और सुनीता को तो जहाँ वह है वहीं रहने दे, यही उत्तम है।

पत्र पढ़कर हरिप्रसन्न जैसे कुछ कठिन हो आने लगा। विपत्ति के सामने वह हँस सकता है, लेकिन सहानुभूति के सामने जैसे भय होता है। सलाह के सामने वह कठिन पड़ता है। मन ही मन में वह शायद स्वयं इस बात को अस्वीकार नहीं कर पाता है कि रिवाल्वर में उसके मन की गाँठ ही मूर्त्तिमान है। राह बड़ी है, सो उससे बचने के लिए मानो यह रिवाल्वर का शार्ट-कट है। श्रीकान्त ने उसकी इसी ग्रन्थि को अनायास पकड़ा है। अपनी भीतर की गाँठ बाहर पकड़ गयी हुई देखकर किस में विरोध न हो? सब अपने में कुछ भेद रखते हैं, उसको पोसते भी हैं। एक बार पत्र को पढ़कर उसकी निगाह उसके शब्दों पर गयी। मानों वह अब इस पत्र को शब्द-शब्द पढ़ेगा, अभी तक इकट्ठा पढ़ा था। उसी समय उसने सुना—

''रिवाल्वर आपके पास है?''

चकित होकर हरिप्रसन्न सुनीता को देख उठा।

''है?''

हरिप्रसन्न देखता ही रह गया।

''आपके पास रिवाल्वर है?'

हरि, ''यदि मैं कहूँ, है।''

सुनीता, ''तो कहिए क्यों ना, कि है।''

हरि, ''यहीं है।''

सुनीता, ''आप उसे चलाना जानते हैं?''

हरि, ''जानता हूँ।''

सुनीता, ''कारतूस भी हैं।''

हरि, ''हैं।''

सुनीता अपने आस-पास से कुर्सी लेकर उस पर बैठ गयी, बोली, ''मुझे दिखला सकिएगा?''

तब हरिप्रसन्न ने मानों एक साथ उत्तिष्ठ होकर कहा, ''तुम्हें क्या हुआ है, भाभी! तुमने यह चिट्ठी पढ़ी मालूम होती है।''

''हाँ पढ़ी है। लेकिन मुझे दिखाइएगा नहीं कि रिवाल्वर कहाँ है, कैसा है?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी, मैंने कल रात के लिए यह सब कुछ सोचा था। तब तुम एक रिवाल्वर क्या, बहुतेरे देखती। और वे सब तुम्हारे चरणों में होते। वे सब तुम्हारे होते। तुम इस एक के लिए क्यों लालायित होती हो, भाभी? उसमें क्या रखा है। श्रीकान्त ठीक कहता है कि उसमें कुछ नहीं रखा। तुममें उसकी उत्सुकता क्यों? वह तो लोहे का यन्त्र है। ऐसा भी तो नहीं जैसा बिच्छु, उतना भी जानदार नहीं। उसी के प्रति तुम उत्सुक हो?''

सुनीता को क्या हुआ? कुर्सी से उठकर वह साथ पलँग के पास आ गयी और झुककर उसने हरिप्रसन्न के दायें हाथ की उँगली पकड़ ली। खींचते हुए कहा, ''मुझे दिखाओ, कहाँ रखा है, मैं जरूर देखूँगी।''

इस भाभी सुनीता में बालिका सुनीता भी है, और कभी वह यों मचल पड़ेगी, इसका भला हरिप्रसन्न को कब आभास मिला था। मानों उस एक क्षण में सुनीता उसके लिए एकाएक अतिस्पृहणीय हो उठी।

''मैं जरूर देखूँगी। बताओ कहाँ है?''

हरिप्रसन्न जोर से हँस आना चाहने लगा, पर हँस सका नहीं। उसने कहा, ''मुझे नहीं मालूम, मैं कुछ नहीं जानता।''

जैसे उसके सामने एक नयी उत्सुक किशोरिका हो और उस किशोरिका के सामने अब वह भी एक किशोर ही हो पड़ा हो। उसने सुना—

''नहीं दिखाओगे?''

''जरूर दिखाना ही होगा?''

''हाँ, क्यों नहीं दिखाना होगा?''

'क्यों नहीं दिखाना होगा' कहने वाली सुनीता को हरिप्रसन्न सम्भ्रम से भरपूर देख उठा। उस समय सुनीता के चेहरे पर क्या कच्चा रंग आ छाया था कि देखते-देखते हरिप्रसन्न एक साथ दोनों हाथों से उसकी बाँह मजबूती से पकड़कर खींचते हुए बोला, ''बैठो, मैं लाता हूँ।''

बाँह से खींचकर जब पलँग पर सुनीता को बिठा लिया तब एकदम उसका हाथ छोड़कर यह हाँफता हुआ-सा तत्परतापूर्वक उठ खड़ा हुआ, और अलमारी की छत पर से रिवाल्वर और कारतूस दोनों चीजें उतार लाया।

पलँग पर बैठी सुनीता के सम्भ्रमपूर्ण फासले पर खड़े होकर उसने रिवाल्वर

का केस सामने डाल दिया। कारतूसों की पोटली भी डाल दी।

सुनीता चुपचाप धीरे-धीरे उन्हें खोलने लगी। रिवाल्वर उसने खोलकर बाहर निकाला, वह उसकी कुछ भी समझ में न आ रहा था। उसका प्रयोग समझ में नहीं आ रहा था। इतना ही नहीं, उसका रूप ही समझ में नहीं आ रहा था। किस भाँति यह बालिश्त भर की चीज खिलौना नहीं है, उसके जी में यह बैठता ही न था। किन्तु इसके साथ ही उसमें एक अतर्क्य दहशत भी थी। उसने कारतूस खोले, उन्हें गौर से देखा। रिवाल्वर को चारों ओर से घुमा-फिराकर देखा।

इस बीच वहाँ सन्नाटा रहा। हरिप्रसन्न अपना मन थामे था, जैसे कि बदहवास घोड़े को कोई जोर से लगाम खींचकर थामे हो। वश चले तो वह अपनी साँस भी थाम ले। वह खड़ा हुआ सुनीता को देख रहा था। देख रहा था कि यह सुनीता अपने से बेखबर है। यह भी तो खबर नहीं कि ऐसे वक्त ऐसी बेखबरी बिलकुल ठीक नहीं है। वह घातक हो सकती है।

अकस्मात् सुनीता ने कहा, ''यह कारतूस उसमें कैसे भरे जाते हैं?''

हरिप्रसन्न चुप ही रहा।

''कैसे भरे जाते हैं?''

यह सुनकर सुनीता ने रिवाल्वर हरिप्रसन्न की ओर बढ़ाया। हरिप्रसन्न ने उसे चुपचाप लिया। उसके बाद उसी प्रकार सुनीता के फैले हुए हाथों में से उसने कारतूस उठा लिया। रिवाल्वर को खोलकर और उसमें कारतूस डालकर दिखाते हुए कहा, ''ऐसे भरा जाता है।''

''देखूँ।''

''नहीं।''

हरिप्रसन्न ने कारतूस अलग निकालकर कहा, ''लो देखो।''

सुनीता ने उसी भाँति खुले रिवाल्वर को ले लिया और तब वह स्वयं कोशिश करने लगी कि कारतूस उसमें भर सके।

हरिप्रसन्न चित्र लिखा-सा सुनीता को देखता रहा। क्या है कि वह उनसे दूर खड़ा है। वह नहीं जानता कौन यह नारी है कि उसके ही पलँग पर बैठी। रात को अकेले में कैसी अद्वितीय, कैसी असहाय, फिर भी कैसी निश्चिन्त और कैसी मनोज्ञ, उसके रिवाल्वर से खेलती हुई बैठी है, नहीं जानता।

अन्त में सुनीता ने रिवाल्वर में कारतूस डाल ही दिया। कहा ''लो अब इसे चलाकर बताओ तो?''

हरिप्रसन्न रिवाल्वर को जैसे एक हाथ में झपट लेकर बोला, ''भाभी!''

सुनीता ने थोड़ा हँसकर कहा, ''नहीं, अपने पर चलाने को नहीं कहती हूँ।''

हरिप्रसन्न देखते-देखते, सुनते-सुनते, एक नशे-से में भरता आ रहा था। वह

एक-साथ पलँग पर पास आ बैठा। उसने एक हाथ को अपने बायें हाथ में दबाकर बोला, ''क्या कहती हो भाभी?''

सुनीता ने कहा, ''चलाकर बताओ।''

''चलाकर बताऊँ?''

मानों सुनीता किशोरी ही हो। कहा, ''हाँ बताओ।''

हरिप्रसन्न ने रिवाल्वर की नली को अपनी कनपटी पर टिकाकर सुनीता के हाथ को अपने बायें हाथ में लिए कहा, ''चलाकर बताऊँ, भाभी? कहो।''

हरिप्रसन्न ने देखा, सुनीता के चेहरे पर एक साथ घना अँधेरा सा छा गया है। वह सहमी हुई है, उसने फिर कहा, ''चलाकर बताऊँ भाभी?''

सुनीता का चेहरा भय से सफेद हो गया।

हरिप्रसन्न, ''मैं मरना नहीं चाहता, लेकिन कहो तो चलाकर बता सकता हूँ। मेरे जीने में रस क्या है, अर्थ क्या है? इसके चलाने में कुछ भेद नहीं है, भाभी। यह घोड़ा है, दबाया कि चला। कहो, भाभी, चलाऊँ?''

सुनीता ने हरिप्रसन्न को देखा। वह काँप-सी आयी, ऐसा कुछ तत्पर भयंकर उसके चेहरे पर लिखा था। 'हँसी तो यह है, लेकिन पलक मारते में यह घटना भी तुम्हारे कहने से हो जाए, तो भी क्या बुरा है, भाभी?' मानो हरिप्रसन्न का चेहरा यह भी उससे कह रहा है।

सुनीता कातर होकर चिल्ला-सी पड़ी 'हरि-हरि?' और उसने जोर से अपने दोनों हाथों से हरि की दायीं बाँह को चिपटाकर पकड़ लिया। उसकी ओर निवेदित आँखें उठाकर कहा—''हरि, हरि!''

हरिप्रसन्न ने तब कमरे से बाहर खुले आसमान की ओर पिस्तौल उठाकर कहा, ''ऐसे यह चलाया जाता है, लो। और घोड़ा दबा दिया।''

पिस्तौल के छूटने की गूँज कुछ देर तक सुनीता के कानों में भरी रही, और वह उसी जोर से दोनों हाथों से हरिप्रसन्न की बाँहों को दाबे रही।

जो हरिप्रसन्न ने जिन्दगी में कभी नहीं जाना, वह इन क्षणों में जाना। उसने थोड़ा-सा सुख जाना।

उस समय अति स्निग्ध स्वर में हरिप्रसन्न ने कहा—''डर गयीं भाभी?''

सुनीता ने कुछ रुककर धीमे से कहा, ''हाँ डर गयी। यह मुझे दे दो।''

हरिप्रसन्न ने साँस खींचकर कहा, ''क्या कहती हो भाभी? तुम माँगोगी और मैं इनकार करूँगा। क्या तुम यह भी जानती थीं कि यह भी होगा? लेकिन यह नहीं दे सकूँगा।''

सुनीता ने तब हरिप्रसन्न का हाथ छोड़ दिया। उसकी दोनों आँखों में आँखें डालकर कहा, ''अच्छा कहो, ऐसा खेल अब नहीं करोगे।''

हरिप्रसन्न कुछ नहीं बोला, चुप रह गया।

"अब तो नहीं करोगे?"

हरि हँसने को हुआ। लेकिन इस हँसने के प्रयास में उसका मुँह बिगड़कर रह गया, हँस नहीं पाया। वह कुछ नहीं बोला।

"हरि, सुनो! मैं कहती हूँ कि अब ऐसा नहीं करोगे।"

"नहीं करूँगा।"

इसके बाद दोनों जहाँ-के-तहाँ रह गये। कोई कुछ नहीं बोला। सुनीता नीचे देख रही थी। हरिप्रसन्न की आँखें उसी की झुकी हुई दृष्टि पर थीं।

थोड़ी देर बाद हरि ने कहा, "सुनीता देर हो गयी, अब जाओ।"

सुनीता पलँग से उठी, मानों जागी हो। पूछा, "क्या बज गया होगा?"

"एक बज गया होगा।"

"ए-एक!!" जाते हुए सुनीता ने कहा, "हरि, तुम भी सोओ।"

हरि ने कहा, "हाँ, सोता हूँ," और जाती हुई सुनीता की ओर से मुँह फेरकर वह किसी और तरफ देखता बैठा रहा।

36

सुनीता इतनी रात गये आकर भी सोयी नहीं। आज मानों श्रीकान्त की उसे अत्यन्त आवश्यकता है। वह उसका पति है, वही उसका सहारा है। पति ही तो नारी की सम्पूर्ण कृतार्थता है। अरे वही अब उसके पास से अनुपस्थित होकर दूर बैठा कैसे पत्र भेज रहा है! कि मुझे दूर ही मानो, मुझे भूल जाओ! पति के प्रतिनिधि इस पत्र को क्या सुनीता स्वीकार करके उससे दूर ही चली जाए! उसे भूल ही जाए!

वह सोचने लगी कि अगली रात तक ही मानो उसका यह जन्म है। क्या अगली रात पुनर्जन्म ही नहीं ले लेना होगा! वे लोग कौन हैं? वे क्या चाहते हैं? अपनी जान को हथेली पर रखकर वे लोग क्या चाहते हैं? किन्तु सच परिवार ही क्या व्यक्तित्व की परिधि है? क्या मैं इसी में बीतूँ? क्या इसे तोड़कर, लाँघकर, एक बड़े हित में खो जाने को मैं न बढ़ूँ? उस विस्तृत हित के लिए जिऊँ, उसी के लिए मरूँ तो क्या यह अयुक्त है; अधर्म है? ओ मेरे स्वामी, तुम कहाँ हो? कहाँ हो? भला जी, तुमने ऐसी चिट्ठी मुझे किसलिए लिखी? क्या इसीलिए कि मुझे परख में डालना चाहते हो?

कल रात! वह क्या जीवन है? वहाँ उत्सर्ग ही व्यक्ति का लक्ष्य बनता है। संचय से व्यावर्त व्यक्ति वहाँ पराङ्मुख होता है। मैं उससे इनकार कर सकती हूँ, मैं,

सच कैसे इनकार कर सकती हूँ ? लेकिन कल रात मुझे कहाँ जाना होगा ? ओ स्वामी, तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वयं कुछ नहीं रहना है, नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है।

जीवन में इतनी अवश सुनीता शायद कभी नहीं हुई। मानों इस समय श्रीकान्त के प्रति वह अपने को सर्वश: बहा देना चाहती है, कि बहती-बहती उसके चरणों को पखारने में वह उनमें पहुँच जाए।

इस स्थिति में आकर वह उसी समय हरिप्रसन्न की तरफ जाने को उद्यत हुई। कहेगी कि नहीं, मैं नहीं जा सकूँगी। मैं इस घर से टूटकर जाऊँगी तो जीऊँगी नहीं। मैं इस योग्य नहीं हूँ। तुम्हारा काम बड़ा, लेकिन मैं क्षुद्र हूँ। इसी घर की दीवारों के भीतर मेरा स्थान है। घर बन्धन है तो हो, लेकिन मुझे तो मोक्ष भी यहाँ ही पाना है। राष्ट्र को मैं क्या जानूँ, पर पति को मैं जानती हूँ। वह मुझसे बहुत स्नेह करते हैं। उनके साथ मेरा विवाह हुआ है। विवाह कुछ हो, लेकिन भगवान उसके साक्षी हैं, अग्निदेव उसके साक्षी हैं। समाज के और लोग भी तो इसके साक्षी हैं। वह मिटेगा नहीं, छूटेगा नहीं, टूटेगा नहीं। क्या धर्म इसलिए है कि टूटे ? तुम कहते हो क्षुद्र प्राण जीवन, अल्प प्राण जीवन। कहो, लेकिन मेरे लिए वही जीवन बहुत है। तुम राष्ट्र के लिए मेरा स्वत्वदान माँगते हो। मैं इससे चूकती नहीं, लेकिन मैं अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण कर दूँ तो क्या अन्तर है ? मेरे लिए इतना ही तो इष्ट है कि अपना स्वत्व अपने पास रखूँ, उसे लोगों के चरणों को सहारने वाली धूल में मिला दूँ ? राष्ट्र की नींव में मैं अपने स्वत्व को चढ़ा दूँ—हरिप्रसन्न, यही न तुम कहते हो ? कहते हो कि राष्ट्र विराट है, व्यक्ति स्वल्प है। ठीक, किन्तु राष्ट्र मुझे अप्राप्त है। मेरे निकट प्राप्त तो व्यक्ति ही है। मेरे लिए सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय किसी व्यक्ति में समा जाना चाहिए। वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं। उनके चरण जहाँ-जहाँ धूलि पर पड़ते हैं, उस धूलि के कणों में मैं अपने को खो दूँगी। तब मेरे पास स्वत्व शेष ही कब रहेगा, जो तुम्हारे राष्ट्र को दूँ! इससे, हरि, भाई कल मैं न जाऊँगी, यहाँ ही रहूँगी। इतिहास की अतीत और भावी इतिहास की वीरांगनाओं को मैं प्रणाम करती हूँ। भगवान की उन्हें देन थी। किन्तु मैं अपने घर में क्यों अतृप्त होऊँ! क्यों न यही मेरी सम्पूर्णता हो! हरिप्रसन्न तुम शत-शत वर्ष जिओ। तुम्हारा सेवा धर्म कठिन है। तुमने मार्ग काँटों का चुना है। तुम वीर हो, तभी ऐसा है। किन्तु मुझे जो मार्ग मिला है, वह यदि काँटे का नहीं है तो क्या मैं उसकी स्पर्धा करूँ! अपना मार्ग छोड़ चलूँ! तुम्हारे धर्म के प्रति मुझे विस्मय है, वह दुष्कर है। उसके आकर्षण से कैसे बचूँ। मेरा धर्म सरल है, तब भी मेरा है। सरल होकर भी वही मेरे लिए कठिन है। उसे छोड़कर वीरांगना की राह पर चलने को क्यों मुझे निमन्त्रण देते हो ? हरिप्रसन्न, मुझे छोड़ो। कल रात मैं नहीं

जा सकूँगी। कभी नहीं जा सकूँगी।

इसी तरह की बातें उसके मन में उठने लगीं। आरम्भ में तो उसने सोचा कि अगले रोज दिन में ही जाकर हरिप्रसन्न से यह कह दूँगी। लेकिन इस प्रकार के विचार जब वेग से उसके भीतर उठने लगे, तब वह सहसा भूल गयी कि रात तीन पहर बीत चुकी है और उसी समय हरिप्रसन्न के कमरे की तरफ चल दी।

किन्तु कमरे में था ही कोई कहाँ? वहाँ सब सन्नाटा था। सुनीता ने बत्ती खोलकर देखा, और भी कमरे में देखा, आवाज दी। पर हरिप्रसन्न कहीं था ही नहीं। सुनीता को बड़ा विस्मय हुआ कि इस समय हरिप्रसन्न कहाँ चला गया? अनायास वह जीने की तरफ गयी। दीखा कि जीना बन्द नहीं है। रोज तो रात को बन्द ही रहा करता है। हरिप्रसन्न क्या इस समय कहीं बाहर चला गया है? कहाँ गया है? लौटकर वह स्टडी-रूम में आयी। रिवाल्वर की जो जगह थी, वहाँ रिवाल्वर को देखा। वह वहाँ न था। कारतूस भी एक न था। और भी देखा कि और सामान लगभग यहीं है। अण्डी चादर बेशक कम है। तभी हठात दीखा कि तसवीर अभी बोर्ड पर लगी हुई एक अलमारी के सहारे टिकी है। इस तसवीर में अँधियारे स्तूप के आगे दोनों बाँहें फैलाकर चिरन्तन रूप में कुछ पुकारता हुआ जो निरीह नग्न-पुरुष खड़ा है, जिसके पट्ठे उभरे हैं और देह बलिष्ठ है किन्तु जो अतिशय कातर होकर प्रार्थी बना है, क्रास कीलित वह पुरुष मानों सुनीता की दृष्टि को बाँध लेता है। सुनीता जब उसे देखती है, देखती है, देखती रह जाती है। कुछ उसमें स्पष्ट नहीं है। फिर भी एक प्रकार की भयंकर प्रतीक्षा उस चित्र में से फूट-फूटकर सुनीता के कलेजे में लगती है। उस स्तूप के अँधेरे में क्या है? क्या है? वहाँ क्या कोई आकृति भी है? शायद है तो। पर ठीक तरह से कुछ समझ में नहीं आता। पर जिस अज्ञेय, अतर्क्य, अथाह के सम्मुख होकर यह चिर-प्रश्न जड़ित प्राणी एक ही मुद्रा में इस भाव से खड़ा है कि अनन्त काल तक भी उसका प्रश्न और उसकी प्रतीक्षा टूटने वाली नहीं है—वह रहस्यशील, दुरधिगम्य, सुनीता को मानों एक ही साथ ग्रस लेता है। उसे देखते-देखते सुनीता मानों बेबस हो पड़ी और उसने एक साथ उस चित्र को ऐसे घुमाकर रख दिया कि वह दीखे नहीं। तब जोर से झपटी हुई जीने का दरवाजा बन्द कर दिया। उसके बाद सीधी अपने कमरे में आ गयी, और बिना देर लगाये पलँग पर लेट गयी।

वह कुछ नहीं सोचेगी। एकदम जाएगी। कल सवेरे तो सूरज निकलेगा ही। तब उजाला अपने आप हो जाएगा और सब अपने आप ठीक हो जाएगा। इस रात में आँख मूँदकर वह सो ही जाएगी, कि जब आँख खुले तब उजाला हो, अँधेरा लुप्त दीखे। अरे, नहीं नहीं, वह कुछ नहीं सोचेगी, कुछ नहीं सोचेगी। वह अभी इसी क्षण सो जाएगी।

और वह चादर ऊपर लेकर सो गयी।

37

सो तो गयी, किन्तु...।

गहरी नींद में थी, तभी खटका सुनाई दिया। उठकर बैठी और मालूम हुआ कि कोई जीने के दरवाजे को जोर-जोर से खटका रहा है। कुछ देर तो वह अनिश्चय में ही बैठी रही। हिली, न बोली।

पर खटके में जब सुनाई दिया—'भाभी भाभी!' तब नीचे आकर बत्ती जलाकर दरवाजा उसने खोल दिया। दरवाजा खुलते ही सुनीता और हरिप्रसन्न दोनों ने अपने को आमने-सामने पाया। दोनों के पास उस समय एक-दूसरे से पूछने को मानों बहुत कुछ है, बहुत शंका है, बहुत भेद है, बहुत विस्मय है, फिर भी दोनों कुछ देर एक-दूसरे के समक्ष निशब्द गुम-सुम खड़े रह गये।

हरिप्रसन्न अँधेरा दीखता था। कुछ उसकी आकृति से व्यक्त न होता था। वह मानो मात्र इस पर कुण्ठित है कि उसे दरवाजा बन्द मिला, और कि यह अप्रकट न रह सका कि उसे रात में जाना पड़ा था।

सुनीता के मन में मानो पूछने के लिए एक साथ कई सवाल, देने के लिए कई भर्त्सनाएँ, कई उलाहने, कई चेतावनियाँ उठीं और घुमड़कर रह गयीं। कुछ देर बाद चुपचाप हरिप्रसन्न के सामने से लौटकर चल दी।

उस समय हरिप्रसन्न ने बढ़कर उसके दोनों पैर पकड़ लिए और उसमें गिरकर कहा, "भाभी, मुझे क्षमा करो।"

सुनीता चौंककर एकदम पीछे हटी, घबरायी-सी बोली, "हें-हें, यह क्या?"

और पैरों में से उसे ऊपर उठाया।

जिस दक्षिण बाहु ने हरिप्रसन्न के मस्तक को छूकर उसे धरती में से उठाया था, उसी को अपने दोनों हाथों में थामकर हरिप्रसन्न ने दो बार चूमा, जैसे बालक हो। और तब वह हाथ को उसी भाँति थामे हुए शनैः-शनैः उठ आया, "मैं चला गया था भाभी, सो माफ करो, लेकिन तुम क्या सो नहीं गयी थीं?"

मानो कुछ सुना न हो, कहीं और ही हो, ऐसी दूरस्थ वाणी में सुनीता ने कहा, "क्या बजा होगा?"

"चार होगा।"

"तुम सोये तो न होगे न? जाओ सो लो।"

हरिप्रसन्न गद्गद कण्ठ से बोला, "भाभी!"

सुनीता ने कहा, "लाओ, वह मुझे दो। मैं ठीक रख दूँगी।"

हरिप्रसन्न आश्चर्य से सुनीता का मुँह देखता रह गया।

सुनीता ने मानों उसे बिना देखे झट बढ़कर जीने को बन्द कर दिया। कहा,

''लाओ, दो।''

क्या हरिप्रसन्न पूछे कि क्या! जो चीज माँगी जा रही है, उसे क्या किसी तरह गलत समझा जा सकता है? किन्तु हरिप्रसन्न ने उस समय साहस बाँधकर कहा, ''वह तुम्हारे लायक चीज नहीं है, भाभी! उसे छूना भी बुरा है, और उसमें कारतूस भी भरे हुए हैं।''

सुनीता स्थिर वाणी में बोली, ''लाओ मैं सँभालकर रख दूँगी। कारतूस निकाल लो।''

उस समय अपनी देह पर रिवाल्वर को अलग सामने उपस्थित करके बारी-बारी पाँचों गोलियाँ उसमें से निकालकर देते हुए कहा, ''लो।''

''कारतूस?''

''वे मेरे पास रहेंगे।''

''तुम्हारे पास? अच्छी बात है। कुल कितने हैं?''

हरिप्रसन्न चुप रहा।

सुनीता ने कहा, ''कितने थे?''

''सोलह।''

''अब कितने हैं?''

हरिप्रसन्न ने बहुत जोर लगाकर कहा, ''भाभी तुम जाकर सोओ। इन बातों में न पड़ो।''

सुनीता ने फिर कहा, ''कितने हैं?''

''मैं नहीं जानता, होंगे कितने ही।''

कहकर हरिप्रसन्न चलने को हुआ। सुनीता ने निर्विरोध भाव से धीमे-से कहा, ''अच्छी बात है। लेकिन जागना मत, सो जाना। अब फिर तो जाना नहीं है न? जीने में ताला लगा दूँ?''

''ताला?''

''क्यों?''

''लगा दूँ।''

''अच्छा, मैं लगा दूँगी, तुम चलो सोओ, ऊपर बिस्तर बिछा है।''

''ऊपर? मैं नीचे ही सोऊँगा।''

''अच्छा।''

सहज भाव से 'अच्छा' कहकर सुनीता चली गयी। हरिप्रसन्न भी तब वहाँ नहीं ठहरा, स्टडी-रूम में आ गया।

हरिप्रसन्न क्या अब सोएगा? कैसे सोएगा? अपने पास के कारतूस को झटककर अपने से अलग करके फर्श के नीचे डाल दिया। तब मानों उस कमरे में वह

देखना चाहने लगा अपने उसी चित्र को—जिसमें उसके जी की भूख, जी की जिज्ञासा मानो निर्धूम स्थिर लौ की भाँति सतत जल रही है। देखा कि वह चित्र पलटकर रखा हुआ है। उसने उसे सीधा कर दिया, और तब उसे देखते-देखते उसके भीतर से क्या उठा कि उसकी आँखें भीग गयीं! और कण्ठ में शब्द भर-भर आये—'ओ मायामयी।' मानो वह कहना चाहता है कि 'अरी, तू भाभी है! भाभी तू न हो, तो मैं, तो मैं—।'

पर वह क्या जानता है कि—तो क्या करे?

38

सुनीता को नींद ठीक तरह नहीं आयी। रिवाल्वर उसके सिरहाने रखा रहा है। रिवाल्वर से उसे भय न था, फिर भी आज की रात उसे अजब रात मालूम होती थी। ज्यों-त्यों थोड़ी-बहुत झपकी उसने ली और सवेरे तड़के ही उठ बैठी।

उस शान्त सलोनी प्रभात बेला में मानों वह खोजना चाहने लगी—कहाँ है उसकी नैया का खेवनहार! अरे, वह जाने किस आवर्त्त में फँस रही है। धँसी जा रही है। ऐसे में, उसे अकेले छोड़कर वह कहाँ जा बैठा है! उज्ज्वल होती आती हुई उस बेला से वह चारों ओर के स्तब्ध शून्य में सूनी निगाह से देख रही है कि जैसे कुछ खो गया हो, जैसे खोज रही हो, पूछ रही हो—'अरे, कहाँ हो? कहाँ हो, मेरी पत राखनहार?'

नींद से उठकर कुछ क्षण तो वह भ्रमित-सी ही रही। मानों वह न अपने को, न आसपास को पहचान रही है। पर जैसे-जैसे अँधियारा छीजने लगा वैसे तथ्य उजला पड़कर उधड़ आने लगा। उस समय अवश-सी बनी वह कमरे में टँगी हुई श्रीकान्त की फोटो के सामने गयी। देखती रही। फिर देखते-देखते उसे उतार लिया और उसे सम्मुख धरकर बैठ रही।

आज, दिन फूटने से भी पहले, सब बिसारकर उसने यही काम किया। श्रीकान्त के चित्र के समक्ष होकर उसने अपने आत्मार्पण का स्मरण किया। समग्र रूप से जिनके चरणों में वह अपने को चढ़ा चुकी है, वह यहाँ नहीं भी है तो क्या? यह अत्यन्त अभ्यन्तर में सदा ही प्राप्त है।

अपने चित्त में सम्पूर्ण रूप से धारण करके सुनीता ने मानो अपने अणु-अणु में शुचिता भर ली है। मानो अपने को दे डालकर वह मुक्त है, क्योंकि विसर्जित है।

उसका अंग पुलक से भर गया। सबका सब संकोच, सब संशय भाग गया।

श्रीकान्त के सम्मुख बैठे-बैठे जब उसकी मुँदी आँखें खुलीं, तब मानो सामने चहुँ ओर उसे प्रीति दिखी। सब प्रभुमय लगा।

उसके बाद परम शान्त चित्त से वह नित्य कर्म में लग गयी।

दिन जब काफी निकल आया तब उसने सोचा कि हरिप्रसन्न जग गये होंगे। वह रिवाल्वर उठाकर हरिप्रसन्न के पास चली। रिवाल्वर उसे दे देगी, कहेगी, ''लो, तुम्हारी चीज यह है। तुम रात आराम से तो सोये ?''

लेकिन पहुँची तब देखा, नीचे फर्श पर हरिप्रसन्न तो बेखबर सो रहा है, कारतूस तो वहीं फैले पड़े हैं। चुपचाप उसने कारतूसों को बीना और उन्हें सँभालकर ठीक जगह रख दिया। वहीं रिवाल्वर भी रख दिया, बहुत धीमे-धीमे, ऐसे कि आहट से हरी जगे नहीं, कमरे में जहाँ-तहाँ फैली और भी चीजों को सँभालकर रख दिया।

हरिप्रसन्न बेखबर सोता रहा। क्या अब उसके चेहरे पर है ? कुछ भी तो नहीं। वेदना उस चेहरे पर कहाँ है ? आकांक्षा भी कहाँ है ? कोई पौरुष भी वहाँ नहीं दीखता है। जैसे असहाय बालक हो, वैसा ही वह है। मानव का दर्प-दम्भ एकदम वहाँ नहीं है। सोते समय, जब अहंकार भी सोया है, मानव प्राणी कैसा निरीह, दयनीय, कैसा निर्दोष प्रतीत होता है!

सुनीता ने पास ही एक और रखी हुई चादर को लिया, तह किया और हरि के सिरहाने बैठकर उसका सिर उठाकर तकिये की जगह रखना चाहने लगी। हरिप्रसन्न यों ही बेखबर सोता रहा।

वह सोता रहा पर जग भी रहा था। सच पूछो तो वह जगनींदी में पड़ा था। भाभी की आने की आहट पर वह बेखबर बिलकुल न था, फिर भी वह बताना नहीं चाहता था कि वह जग रहा है। बताने में फायदा क्या ? सो जब सिर उठाकर चादर का तकिया उसके नीचे लगाया गया, तब भी वह चैतन्य नहीं हो बैठा; और लेटे-लेटे नशे में से सोचने लगा कि क्या कहीं ऐसा होनेवाला है कि भाभी की जाँघ का तकिया उसे मिले। मानो यह कल्पना उसे असह्य हुई और उसने करवट ले ली।

सुनीता के मन में इस व्यक्ति के लिए, नहीं कह सकते, प्रेम नहीं है। वह सोचती है कि रात इन्हें कहाँ सोना मिला होगा, तभी अब तक सो रहे हैं। ऐसे लापरवाह यह क्यों हैं ? यह ठीक नहीं है। इस तरह रहने से कहीं जीवन की शक्ति भला बढ़ती है! पत्थर बढ़ती होगी! मैं तो समझती हूँ उल्टे कुछ घट ही सकती है। इस बहक में सिरहाने बैठी-बैठी वह अनायास बोल उठी, ''हरि बाबू!''

हरि चुप।

''हरि बाबू, उठिएगा नहीं! देखिए, कितना दिन चढ़ आया है!''

हरि ने और करवट ले ली और चुप।

सुनीता क्या यह चाहती थी कि हरि की यह दुष्प्राप्य नींद टूटे ? फिर भी अपने

गोद के बिलकुल पास ही पड़े हुए हरिप्रसन्न के चेहरे को देखते-देखते क्या सूझा कि दोनों हाथों से धीमे-धीमे उस सिर को हिलाकर सुनीता ने कहा, ''उठिए-उठिए, सवेरा कब का हो गया?''

अब तो जग न पड़ने का अवकाश ही न रहा। अत: हरि ने चौंककर आँख खोली, जैसे निंदा सा हो, और दोनों हाथों से सुनीता की दाहिनी बाँह को खींचकर उस हाथ को अपनी कनपटी के नीचे ले लिया।

सुनीता का वक्ष इस भाँति लेटे हुए हरि के चेहरे के बिलकुल ऊपर आ गया। सुनीता हल्की मुस्करायी। कहा, ''उठिए-उठिए!''

ऊपर भाभी को देखते-देखते हरि ने कहा, ''भाभी, जाओ मत। और मुझे उठने भी मत दो। सोया ही रहने दो। दो घड़ी तो भाभी ऐसे सोने दो। मालूम तो है, मैं रात कब सोया, अब आँख लगी है, भाभी, तो क्यों जगाती हो?''

''अजी उठिए भी! अपना रिवाल्वर देखिए, मैंने वह रख दिया है।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी!'' और कनपटी के नीचे रखे हुए भाभी के हाथ को दबाया।

सुनीता अब भी मुस्करायी। उसने हाथ खींचा हो, ऐसा नहीं मालूम हुआ। कहा, ''आप उठते नहीं हैं, तो सोते रहिए। देखिए न, दुनिया जग गयी आप खुमारी में ही हैं। उठिए, हाथ-मुँह धोइए। छोड़िए, मैं नाश्ता लाऊँ।''

हरि ने हाथ छोड़ दिया, लेकिन उसने भाभी की आँखों में देखते हुए कहा, ''मुझे थोड़ी देर और सोने दो, भाभी। तुम जा सकती हो।''

सुनीता ने उठते हुए कहा, ''अच्छी बात है। मैं जाती हूँ, लेकिन चाय आपकी बेकाम हो जाएगी।''

''हो जाने दो, मुझे नींद आ रही है,'' और हरिप्रसन्न ने करवट लेकर आँख मूँद ली। मानों जो भी पाया है अपनी आँखों की पलकों में उसे चुपचाप मूँदे पड़ा रहेगा।

चलते-चलते सुनीता ने कहा, ''मैं पूछना चाहती थी कि क्या रात को मुझे जरूर चलना होगा?''

हरिप्रसन्न चुप ही रहा। इस विषय में उसके ही अपने मन में दुविधा उपज पड़ी है। ऐसी स्नेहमयी गृहिणी नारी को वहाँ बियाबान खोह में लहू नोचने वाले हथियारों की झन्नाहट के बीच में, कर्म-कठोर युवकों के नेतृत्व के लिए जो मैं खींच ले जाना चाहता हूँ, वह क्या विडम्बना नहीं है! क्या यह सबकी आँखों से दूर, सुरक्षणीय निधि की भाँति दुबकी ही रहने और अपने ही वृत्त पर एकाकी प्रस्फुटित होने देने की चीज नहीं है! क्यों वह जग-जाहिर हो? किन्तु वह नहीं जानता, पुरुष से अधिक क्या उस स्थान के लिए आज स्त्री ही दरकार नहीं है? वह शीर्षस्थान जहाँ से स्नेह की वर्षा

हो, स्फूर्ति का झरना झरे, जहाँ से लहके युवकों में मद की तृष्णा बढ़ाएँ! अरे क्या इसी से वहाँ के लिए स्त्री अधिक उपयुक्त नहीं है?

और वह, चुप आँखें मूँदे पड़ा रहा

''सोच देखिएगा, हरि बाबू! कहेंगे तो चलूँगी, क्यों न चलूँगी? आपका कहा टालूँगी नहीं, लेकिन—क्या यह जरूरी है। खैर, अभी सोइए, फिर आऊँगी।''

हरि प्रसन्न अपने को कोसता ही चुप पड़ा रहा।

39

उस रोज हरिप्रसन्न का जी हल्का होने में नहीं आया। उसमें जाने क्या आंशका, क्या आकांक्षा भर-सी आने लगी। मानो जी उसका उसके काबू से बाहर हो जाना चाहता है।

उसको सुनीता में बहुत विश्वास है। सुनीता टूटेगी नहीं, पीछे हटेगी नहीं, यह वह खूब जानता है। यह भी जानता है कि सुनीता से जो कुछ भी आशा रखे, और जितना कुछ भी वह माँगे उसके प्रतिदान में सुनीता चुकेगी नहीं। श्रीकान्त ने तो सुनीता के आगे से अपने को पहले ही ऋण कर लिया है! किन्तु श्रीकान्त नहीं, तब उसका ऋण-चिह्न भी सुनीता के मार्ग में रुकावट बनकर नहीं खड़ा रहेगा, यह हरिप्रसन्न को भरोसा है। सुनीता तो अपनी मालिक खुद ही है। वह अपने संचालन के लिए किसी की अपेक्षाकांक्षी नहीं है।

सुनीता ने जब समय पाकर फिर पूछा कि हरिप्रसन्न क्यों उसे अपने गृहिणी धर्म में ही नियोजित न रहने दे, क्यों वह अपने यशस्विनी वीरांगना बनी हुई देखने की हट करे? तब हरिप्रसन्न ने अपनी स्थिर दृष्टि उसके चेहरे पर गड़ा कर सुनीता से कहा, ''देखो, भाभी, तुम नहीं जाना चाहती हो, तो मत जाओ। लेकिन यह झूठ है कि तुम डरती हो। यह मैं नहीं मानूँगा। यह भी झूठ है कि तुम समर्थ नहीं; तब मुझे जानने को शेष रहता कि फिर क्या कारण है कि जो तुम उस मार्ग से बचती हो! और सुनो, मार्ग वही मोक्ष का है।''

''मैं बचती नहीं हूँ।''

''और तुम बचो भी क्यों? स्त्री क्या इसलिए स्त्री है कि संकट जब पुरुष अपने सिर ले, तब सुविधा सब स्त्री के भाग में पड़े? तुम जानती हो भाभी, ऐसा नहीं है। तुम यह भी जानती हो कि ऐसा कहना, ऐसा मानना, स्त्री का अपमान करना है। क्या मैं कहूँ कि मौत से जूझने की हौंस पुरुष तुमसे, स्त्री से, लेगा और तुमको देनी होगी।

तुम इनकार नहीं कर सकोगी। तुमसे यदि वह यह पाएगा, कच्चे आँसू ही यदि पाएगा तो वह इसको नहीं सह सकेगा। इस भाँति वह स्त्री को नहीं रहने दे सकेगा। तुम यदि पुरुष की अधीश्वरी नहीं हो सकती, तो पुरुष लाचार होगा कि तुमको अपनी दासी बनाए, दासी भी नहीं, पैर की जूती बनाए। लेकिन तुम उसकी अधीश्वरी बनने के अधिकार से भागने वाली ही हो कौन? यह मेरा हक है कि मैं तुमसे कहूँ कि तुम मुझे स्फूर्ति दो, मुझे स्नेह दो; नहीं तो हट जाओ मेरे सामने से—यह हर पुरुष एक स्त्री से कह सकता है।''

'हट जाओ मेरे सामने से'—यह इस लीन भाव से कहा कि सुनकर हरिप्रसन्न को अपने ही पर विस्मित हो आया। इस कुण्ठा पर सुनीता मुस्कराते-मुस्कराते रुक पड़ी। बोली—''तो पूछूँ, कल रात तुम कहाँ गये थे?''

''यही बन्दोबस्त करने गया था कि आज रात दल के सब लोग इकट्‌ठे हों। उन्हें मैंने कहा है कि आज रानी माता दर्शन देंगी। क्या मुझे उन्हें जाकर यह सुनाना होगा कि रानी वह माता नहीं है, वह पतिव्रता गृहस्थिन हैं?''

'पतिव्रता गृहस्थिन' में ध्वनित हो रहे व्यंग्य को सुनीता ने अपने को छूने भी नहीं दिया। उसने हँसकर कहा, ''हरी बाबू! मैं देवी माता कैसी हूँ, यह मैं क्या जानूँ? यह जानती हूँ कि चौका-बासन का धन्धा कर लेती हूँ, सो तुम्हें रोटी बनाकर खिला देती हूँ। मेरा यह गृहस्थिन का रूप क्या कभी मुझसे अलग कर पाओगे?''

''छोड़ो-छोड़ो, भाभी। नियति को कौन जानता है? भारत को आजाद होना है, विधाता भी इसे रोक नहीं सकते। तब क्या गृहस्थ और गृहस्थिनियों के बल पर ही वह आजादी आएगी? उन्हीं के भरोसे भविष्य वर्तमान के तल पर उतरेगा? नहीं, कुछ लोग घर की मर्यादा लाँघ कर आगे आएँगे, वे जान को हथेली पर लेंगे, लज्जा को परे करेंगे। वे नहीं रहेंगे घर में, वे रहेंगे विश्व में; सुख को छोड़, वह विपत में बढ़ेंगे। मैं जानता हूँ कि ऐसा होगा, ऐसे लोग निकलेंगे। क्योंकि मैं जानता हूँ, हिन्दुस्तान आजाद होगा। करें दुनिया के लोग संचय और संग्रह, किन्तु जिन पर भविष्य की टेक है, वे तो प्रति क्षण अपना दान करते चलेंगे। यह तो भाभी, सिर का सौदा है। जो जल सकें, आएँ। झुलसने से बचना चाहें, परे रहें। अब तुम—।''

मन्त्र-मुग्ध सी बनी सुनीता ने कहा, ''मैं नहीं बचूँगी।''

उसी पर निगाह जमाये रखकर हरिप्रसन्न बोला, ''पर श्रीकान्त।''

''मैं चलूँगी।''

''पीछे का सब तोड़कर? अपनी सब नाव जलाकर?''

सुनीता मानों चौंक पड़ी।

''अभी तो यों ही चलना है। लेकिन वहाँ तुम्हारे लिए काम होगा। वह काम तुम्हें सब-की-सब को चाहेगा। कहो, अपना सब आपा उसे दोगी? गृहस्थी छोड़ने

की बात मैं नहीं कहता। आज वह नहीं है, पर कल वह आए, तो छोड़ोगी? अशेष रूप में वह राष्ट्र-कर्म तुम्हें माँगेगा, प्राण तुम्हारे उसी के होकर रहें, शरीर चाहे गृहस्थी का रह सकता है। बोलो, करोगी?''

सुनीता विस्मित-सी खड़ी रह गयी। मानों शनैः-शनैः अपने ऊपर से उसका अधिकार खोया जा रहा हो। उसने सम्भ्रम से कहा, ''तो क्या चलकर सवेरे यहाँ नहीं आएँगे?''

''चाहोगी, तो आएँगे। सामर्थ्य हो, तो नहीं भी आएँगे।''

मानों अबला ही हो, इस भाँति सुनीता ने कहा, ''मैं नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी।''

भौंहें सिकोड़कर, व्यंग्यपूर्ण उपेक्षा के साथ हरिप्रसन्न ने कहा, ''मत ही जाओ, यही श्रेष्ठ है। इसी के लिए तुम हो। मैं तुममें भूलता था, तुम वह नहीं हो। यहीं रहो, सुख से रहो।''

सुनीता मानों अपने ही प्रति अश्रद्धा से भर आने लगी, अपने में वह जैसे सिकुड़ उठी; किन्तु फिर भी उसने कहा, ''मैं नहीं जा सकूँगी, नहीं जा सकूँगी।''

शब्दों में कठिन तिरस्कार भरकर हरिप्रसन्न बोला, ''मत जाओ। राष्ट्र इसके लिए रुका रहेगा, वह बन्दी न रहेगा। मैं तो आज चला ही जाऊँगा, और फिर नहीं लौटूँगा।''

सुनीता यह सुनकर दीन बन आयी—''कहाँ रहेंगे?''

''दुनिया बहुत बड़ी है। कहीं रह लूँगा।''

''अभी मत जाएँ। उनको आ जाने दें।''

'उन'—यह 'उन' कौन है जिसका हमारे बीच में से दखल उठाया ही नहीं जा सकता? मानो इस 'उन' की बात पर उसने अपना सिर धुन लेना चाहा। उसने कहा, ''क्यों मुझे रुकना होगा, जरा सुनूँ। क्या उनके खातिर?''

किन्तु सुनीता के लिए तो वह 'उन' ही सब कुछ है। अपने 'उन' के बिना तो उसका एक कदम भी इधर-उधर कैसे जा सकता है? उसने अपने 'उन' ही को अपने हृदय के बीच में जोर से खींच कर आग्रही भाव से जल्दी-जल्दी कहा, ''आप क्यों जाते हैं? आप मत जाएँ। मैं चलूँगी साथ, मैं इनकार नहीं करती। मैं डरती नहीं हूँ। सवेरे तक वापस आ जाऊँ, तो चलूँगी। आप कहिए, मैं सवेरे तक वापस आ जाऊँगी? मैं उस लायक नहीं हूँ। मैं राष्ट्र को नहीं जानती, लेकिन फिर भी मैं चलूँगी। जहाँ कहोगे चलूँगी, लेकिन सवेरे मुझे वापस आ जाना चाहिए। क्यों नहीं कहते कि सवेरे तक मैं आ जाऊँगी। क्योंकि तब जहाँ कहोगे, वहीं मैं चल सकती हूँ। मैं वचन दे चुकी हूँ, वचन से फिरूँगी नहीं।''

हरि ने सुनीता का यह रूप अभी तक कभी नहीं देखा। उसे वह क्या समझेगा? उसने सहसा यह जाना कि उस सुनीता की हालत ऐसी हो आयी है कि छुआ नहीं

कि वह चुरमुर हो जाएगी। लेकिन किसको लेकर यह अवस्था हो पड़ी है, इसका अनुमान वह न कर सका।

''हाँ, क्यों नहीं,'' उसने कहा, ''सवेरे तक चाहोगी तो जरूर आ सकोगी। तो चलोगी?''

''चलूँगी, लेकिन आप नहीं जाएँगे न?''

''नहीं भी जाऊँगा।''

इसके बाद सुनीता वहाँ ज्यादा देर नहीं ठहरी। अपने कमरे में आकर उसमें श्रीकान्त के चित्र की सहायता से अपने को विश्वास से भरपूर भरा। विश्वास से भरी समन्दर के जल पर वह उतराती ही रहे, उस विश्वास में कहीं रन्ध्र न रहे कि जिसमें से पानी भर आ सके। श्रीकान्त का आदेश तो उसके द्वारा उसे प्राप्त हुआ ही है, फिर उसके पालन में हिचक कैसी? उसका मूल्य चुकाने में संकोच कैसा? हरिप्रसन्न जहाँ ले जाना चाहता है, वहाँ ही ले जाए। अपनी श्रद्धा को साथ लेकर वह तो अभय बन गयी है, फिर कहाँ रह जाता है उसके लिए भय का कारण?

और वह पत्नी है, फिर भी नारी है। कौन अपने आप में पूर्ण है? कौन विमुखता में, नाकार में पूर्ण होना चाहता है? और उसकी उम्र अभी है भी कितनी? उसमें क्या जगत के प्रति उत्सुकता सर्वथा शान्त हो गयी है? वह कब वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख नहीं रही है? वह क्या हाड़-मांस की नहीं है? वह पत्नी है, पर नारी है। वह पति में ही नहीं, स्वयं भी है। तभी तो श्रीकान्त के स्मरण और पतिस्मरण की उसमें अदम्य, हठीली चेष्टा है। वह जिसका निमन्त्रण हरिप्रसन्न के द्वारा उसे मिल रहा है, क्या रहस्यमय नहीं है?—उतने ही से नारी-हृदय उस ओर बिना खिंचे कैसे रहे? स्वयं यह हरिप्रसन्न ही क्या रहस्यमय नहीं है? तब उस भेद को भी क्यों न नारी-हृदय घुस कर पा लेना चाहे?

इन सब निमन्त्रणों के उत्तर में स्वीकृति देती हुई वह उनकी ओर चल ही पड़ेगी। जब नैया की कील उसने सँभाल ली है, तब वह कहीं भी जाए, भटकेगी नहीं। निरन्तर जागरूक अचूक घड़ी का काँटा जब उसके अभ्यन्तर में है, सतत स्नेहपूरित एकोन्मुखी दीप-शिखा जब उसने अपने हृदय के भीतर जला ली है, तब क्यों उसे शंका हो? किसकी आंशका हो? तब क्यों वह साथ निषेध लिये फिरे? इससे वह क्यों न जाएगी, जरूर जाएगी।

और परिचय के पहले ही रोज से नित्य शाम को हरिप्रसन्न से पढ़ने आ जाया करती है सत्या। बड़ी भली लड़की की भाँति वह पढ़ती है। हरि भी सीधे गुरु की भाँति उसे पढ़ाता है। सत्या ने इस गुरु के सामने कभी कोई चंचलता नहीं की, मानो शरारत बेचारी जानती ही नहीं। आती है, पढ़ जाती है। चली जाती है। बस बेचारी और किसी बात से मतलब नहीं रखती।

पर अठारह बरस की लड़की को कभी आप अनजान मत समझ लीजिएगा, नहीं तो खतरा खाइएगा। उसकी आँखें जो देखने को हैं, सो तो देखती ही हैं; पर उसका मन जो नहीं है, वह भी उस देखे हुए में पढ़ लेता है। पर वह खटमिट्ठा मन सब कुछ भीतर ही सँजोये रखता है, बखेरता नहीं।

सत्या को भली तो कह लीजिए, पर किसी और भरोसे आप मत रहिएगा। इस घर में हरिप्रसन्न के आकर रहने को क्या सत्या निरी-निरी घटना, मात्र फैक्ट ही मानकर रह ले! सो ऐसी निर्दोष वह नहीं है। जी हाँ, वह उनमें अर्थ भी देखती है। यही क्यों, इस मामले में कुछ यथार्थ, कुछ सन्दिग्ध की गन्ध भी उसे आती है।

आज सत्या देखती है कि उसके मास्टर साधारण से कुछ अधिक मन्द, कुछ अधिक अनमने है। पढ़ने को वह पढ़ती रही, पर मानों अपने मास्टर को जाँचती भी रही। उसे अचरज हुआ कि वह व्यक्ति किस चीज को लेकर इस भाँति आत्म-ग्रस्त है कि ठिठोली के लिए भी मौका नहीं निकालता है। मौका मिलता है, तब भी उसे नहीं पहचानता है। सत्या ने कई बार शिष्यत्व की बँधी लकीर से भटक-हटकर परीक्षण के लिए ऐसे प्रसंग मास्टर के सामने प्रस्तुत किये हैं कि पढ़ाई कुछ रसीली भी हो सकती थी, लेकिन यह आदमी सदा परीक्षा में अनुत्तीर्ण ही होता रहा है। उससे भी शोचनीय बात यह है कि उसे पता ही नहीं है कि जीवन की ऐसी महत्त्वपूर्ण परीक्षा में वह एकदम चौपट उतरा है, एकदम फेल! सत्या मास्टर से पढ़ती रही, लेकिन उससे अधिक मास्टर को पढ़ती रही। थोड़ी देर बाद उसने कहा, ''तो अब जाने दीजिए। कल से ही आपकी तबीयत ठीक नहीं मालूम होती है।''

हरिप्रसन्न—''नहीं-नहीं, क्यों?''

सच कहें तो हरिप्रसन्न इस पढ़ाई के समय सावधान रहता है। सत्या अठारह वर्ष की तो है ही, तिस पर ऐसी है कि किसी को किसी भाँति चौंकाती नहीं; धीरे-धीरे करके ही उसका सौन्दर्य दूसरे के मन में उतरकर घुलता जाता है। जो चौंकाये, वह सौन्दर्य विशेष गहरा नहीं होता है। वह तो अक्सर उतर जाने वाला, घुल रहने वाला पदार्थ है। पर जो शनैः-शनैः मन के भीतर मन के अनजान में ही, एक-एक पग पहरा ही बैठता जाता है, जिसके विरुद्ध सन्नद्ध होने का ख्याल भी नहीं उठने पाता, उस सौन्दर्य का बचाव तनिक कठिन होता हैं। कभी अपनी लज्जा से सत्या ने किसी को चौंकाया नहीं है। सादी धोती, सीधी माँग, अनबनी बोली, अकृत्रिम व्यवहार—बड़ी उमर तक इन्हीं को यों ही लिये वह बढ़ती रही है। साज-सिंगार भरकर वह किसी को उद्विग्न नहीं बनाती। पर इनके बिना वह क्या करती है, सो शायद उसे पता नहीं है। वह तो यों जैसे एकदम पराये जी में बस पड़ने को ही हो जाती है।

जब पहली बार सत्या दीखी, तभी से हरिप्रसन्न नीची दृष्टि रखकर सावधानीपूर्वक चलने की आवश्यकता अनुभव करने लगा। कुछ सत्या को वह बालक भी समझता

है। किन्तु उसे मालूम कि अठारह वर्ष की कन्या और बीस वर्ष का बालक दोनों चाहे बालक हों, (और बालक हैं) पर बालक समझे जाना वे सहन नहीं कर सकते। बालक मानकर उनसे बरतो, इससे बड़ी चोट उनके हृदय को शायद नहीं दी जा सकती।

यही भग्न-मान की कलख हरिप्रसन्न ने अनजान में अपने प्रति सत्या के मन के भीतर पैदा कर दी है। सो मौका आ जाए तो सत्या हरि बाबू को ऐसा व्यर्थ करे, ऐसा छकाए कि क्या हरि बाबू जानते होंगे। लेकिर खैर...सो, वह सदा भली लड़की की भाँति इनसे अपनी पढ़ाई पढ़ती रही है।

सत्या ने कहा, ''रहने दीजिए, बाकी सबक कल सही।''

एकाएक हरिप्रसन्न ने आँख ऊपर को उठाकर कहा ''कल?''

तब सत्या अचूक समझ गयी कि कुछ बात जरूरी है। बोली, ''क्यों, कल कहीं जाइएगा?''

पर्याप्त से मानों अधिक विश्वस्त भाव से हरिप्रसन्न सत्या को देखते हुए बोला, ''नहीं तो।''

''कहीं न जाइएगा?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''सत्या, पढ़ती क्यों नहीं? क्या मैंने तुमसे कहा कि मैं जा रहा हूँ?''

उस समय सत्या ने अपने मन में स्पष्ट जान लिया कि वह पढ़ेगी नहीं, और अभी जीजी के पास जाएगी। जो है अभी सब मालूम किये लेती है। उसने कहा, ''मुझे घर के लिए पाठ बता दीजिए, मैं घर से पढ़ आऊँगी। आज मैं भी छुट्टी चाहती हूँ।''

हरि ने कहा, ''अच्छा जाओ। शेक्सपियर पर डॉक्टर जान्सन की समालोचना पढ़ी, तुम्हारे पास है?''

''नहीं पढ़ी।''

''जरूर पढ़ो, तुम्हारे पास है?''

''नहीं।''

''नहीं है? देखो, उस अलमारी में देखो।''

सत्या धीमे से अपने स्थान से उठी। मानो वह तो आज्ञाकारिणी ही है, और कुछ भी नहीं। हरिप्रसन्न ने उसकी ओर अपनी उठी हुई आँखों को सावधान होकर नीचे कर लिया।

सत्या ने अलमारी खोली। वहाँ उसने देखा रिवाल्वर! देखकर सहमी-सी रह गयी, पर बोली नहीं। तब कुछ देर वहाँ किताब टटोलने का-सा बहाना करके वह अपने स्थान पर लौट कर आ गयी।

हरिप्रसन्न ने पूछा, ''मिली?''

''नहीं मिली।''

"कैसे नहीं मिली? वहीं तो रखी है।"

हरिप्रसन्न स्वयं उठकर उस ओर बढ़ा। अलमारी खोलने पर उसे भी पहली चीज रिवाल्वर ही निगाह में पड़ी। वह इसके लिए सर्वथा अनुद्यत था। उसने जल्दी में फौरन अलमारी के किवाड़ बन्द किये और लौट आकर कहा, "खैर, किताब फिर लेना। मैंने शायद कहीं और रख दी है। अभी जाओ।"

सत्या बस्ता-सा सँभालकर चुपचाप उठकर चल पड़ी। किन्तु दूर नहीं गयी थी कि हरिप्रसन्न ने आवाज दी, "सत्या! सत्या! सुनो।"

किंचित अनुनीत स्वर में हरिप्रसन्न ने कहा, "तुमने शायद एक और चीज अलमारी में देखी होगी, जिसे रिवाल्वर कहते हैं। सत्या किसी से उसकी बात कहना नहीं। सत्या, कैसी अच्छी हो!"

"वह किनका है? आपका है?"

"हाँ, मेरा है।"

"जानती थी, दौलतमंद लोग अपने और अपनी दौलत के बचाव के लिए उसे रखा करते हैं। मैं समझती थी कि आप धन-दौलत से विमुख हैं। अब जानी कि बात यह नहीं है।"

"सत्या तुम समझोगी नहीं। हम लोगों को यह रखना ही पड़ता है।" इस बात पर सत्या समझेगी नहीं। उसका जी कटकर रह गया, पर चुप रही, बोली नहीं।

हरिप्रसन्न ने कहा, "सत्या, देखो किसी से कहना नहीं।" हम लोगों के पास खोने को क्या है? यह जान ही है, जिसकी आँकने योग्य कीमत नहीं है। लेकिन इसका पता चलेगा तो तुम लोगों का बहुत नुकसान हो सकता है।"

थोड़ी देर बाद चुपचाप खड़ी सत्या ने अकस्मात कहा, "जीजी को इसका पता है?"

पराजित वाणी में हरिप्रसन्न ने कहा, "पता है, लेकिन सत्या—।"

"जीजाजी को पता है?"

"है तो।"

इसके बाद थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर बालक की सी वाणी में सत्या ने कहा, "यह तो मारने के काम आता है न? तब आप इसे क्यों रखते हैं?"

"यह क्या जानोगी! सत्या, रहने दो। तुम अभी पढ़ती हो।"

सत्या ने सोचा वह तो नहीं जानेगी, लेकिन जीजी तो सब जानने की पात्र हैं न? वह नीचे के होंठ को तनिक चाबकर रह गयी। बोली नहीं।

थोड़ी देर बाद उसने कहा, "जाती हूँ।" और वह चली गयी।

आज इस लड़की सत्या के मन में हठात् कुछ अँधेरा सा घर किये जा रहा है। उसने सोचा कि आज मैं यहाँ ही क्यों न रह जाऊँ! जीजाजी जाने कब आएँगे! उनके

पीछे क्या यहाँ कुछ अनिष्ट होने दिया जाए! जाने किस अनिष्ट की तैयारी की गन्ध उसे यहाँ आ रही है।

जीजी के पास सत्या पहुँची, तब उसकी जीजी ने आकुल भाव से उसे पकड़ लिया। कहा ''सत्या, आ, मैं तुझे पुकारने ही वाली थी।''

सत्या ने जीजी की अकुशलता को पहचाना। बोली, ''जीजी तड़के सवेरे ही कल जमुना जी चलो न। मैं रात यहीं रह जाती हूँ। सवेरे ही उठकर चल दें।''

भयभीत-सी बनी जीजी ने कहा, ''कल सवेरे? अगले सोमवार को चलेंगे।''

''नहीं जीजी, कल चलो। मैं अम्माजी से कह आयी हूँ।''

''अम्माजी से क्या कह आयी है?''

''कह तो नहीं आयी, पर पूछ आयी हूँ कि रात को मैं जीजी के यहाँ रह जाऊँ।''

उस समय एकाएक सुनीता गम्भीर हो आयी, कहा, ''सुन सत्या, यहाँ आ।'' और फिर सत्या को अपने पास बैठाकर सुनीता ने स्थिरतापूर्वक कहा, ''सत्या, तू आज यहाँ क्या अकेली रहेगी?''

सत्या प्रश्नसूचक भाव से सुनीता की ओर देखती रह गयी।

सुनीता ने कहा, ''मुझे रात को जाना है।''

''कहाँ जाना है?''

''सिनेमा जाना है, सेकिण्ड 'शो' में। पहले 'शो' तक ठीक तरह काम नहीं निबट पाता।''

''मैं भी चलूँगी।''

''तू चलेगी, सेकिण्ड 'शो' में? अम्माजी क्या कहेंगी?''

''क्यों कुछ कहेंगी, जीजी! तुम्हारे साथ ही तो जाऊँगी न?''

''सत्या!''

कहकर सुनीता करुण भाव से सत्या को देख उठी। फिर एक साथ उसके मस्तक को छाती में लेकर बोली—''सत्या। मैं सिनेमा नहीं जा रही हूँ, और कहीं जा रही हूँ।''

सत्या जीजी के उस स्नेह के घोंसले में कुछ क्षण कृतज्ञ भाव से चिपकी रही। अनन्तर सहानुभूतिपूर्ण उच्छ्वास में बोली, ''जीजी, कहाँ जा रही हो!''

सत्या को देखते-देखते सुनीता की आँखों में एक-एक मोती बन आया। उसने कहा, ''सत्या मेरी बहन, तू रहने दे। मैं क्या बताऊँ कहाँ जा रही हूँ।''

सत्या में जीजी के प्रति करुण भाव उठा, पर साथ ही सन्देह से भी वह भर आयी। पूछा, ''वह भी जा रहे हैं?''

''उन्हीं के साथ मैं रात को जा रही हूँ, सत्या। कहाँ, यह मत पूछो। वह मैं भी ठीक नहीं जानती।''

उसी सन्दिग्ध स्वर में सत्या ने पूछा, ''क्या कहती हो, जीजी! जा रही हो? कब आओगी?''

आँखें भीगी थीं, फिर भी हँसकर सुनीता ने कहा, ''दुर पगली! सवेरे तक आऊँगी। तू पगली मत बन, सत्या!''

सत्या तो कुछ भी न समझ सकी थी। समझे क्या? उसका मन अपने अनुपस्थित जीजाजी के लिए घनी करुणा से भर आया। अपनी जीजी के प्रति वह स्निग्ध किन्तु सन्दिग्ध दृष्टि से देखती रह गयी।

सुनीता ने कहा, ''मैं फिर कहती हूँ सत्या, पागल मत बनना कहीं जो तू इस बात को कहती फिरे।''

''जीजी!''

''दुर पगली!''

''जीजी, मैंने अलमारी में रिवाल्वर देखा है। तुम उसके बारे में जानती हो?''

सुनीता इस अपनी बहन सत्या को विस्फारित नयनों से देखती रह गयी, बोल उठी—''सत्या!''

सत्या ने कहा, ''जीजी, मुझे सारी बात समझाकर कहो। मेरा चित्त मुझे बड़ा दुःख दे रहा है।''

सुनीता ने कहा, ''सारी बात मैं ही क्या जानती हूँ, सत्या! तैंने क्रान्तिकारी शब्द सुना होगा। वह शब्द ही तो मैं जानती हूँ। उससे आगे मैं भी क्या जानती हूँ। उन्हीं लोगों के बीच में आज मुझे ले जाने को वह कहते हैं।''

''कौन! मास्टर जी?''

''हाँ।''

सत्या बोली, ''जीजी!''

सुनीता ने कहा, ''इसे अपने तक ही रखना।''

''अकेली जाओगी! कहाँ जाओगी, जंगल में कितनी दूर, कुछ पता है?''

''कुछ भी नहीं पता।''

''फिर भी जाओगी?''

''हाँ, सत्या फिर भी जाऊँगी!''

इस बार जीजी की ओर देखते-देखते सत्या ने उसका मस्तक अपने वक्ष में खींच लिया और वह मानों जीजी के उस झुके हुए मस्तक पर आँसू गिराना चाहने लगी।

40

सत्या की तबीयत का भला कुछ ठिकाना है। कभी वह अपने पढ़ने की किताब के साथ गुमसुम रहती है, कभी ऐसा चाहती है कि घर सिर पर उठा ले। तब जो न करे सो थोड़ा। उस समय घर के पले तोतों के साथ ही घण्टों खेलती रहेगी, या सामान को तितर-बितरकर अपने चारों तरफ जगड्वाल रच लेगी, या अम्माजी से ही बक-झक करेगी। नहीं तो कुछ ले-दे करने बाबूजी के पास पहुँच जाएगी। उसके मन का भरोसा नहीं है।

जीजी के यहाँ से लौटने पर कुछ विचित्र-सा ही हाल उसका देखने में आया। बेबात-सी हँसती है और अतिशय प्रसन्न मालूम होती है। उसने बाबूजी से कहा है कि आज वह बग्घी में कहीं घूमने जरूर जाएगी और सहेलियों से भी मिलना है। भाई से कहा है, 'क्यों भैया चलोगे न?' 'सिनेमा?' 'नहीं, आज सिनेमा नहीं, बाहर कहीं खुली हवा में चलें।' दूसरी बड़ी बहिन से कहा है, 'क्यों जीजी चलोगी न?' वह बड़ी बहन (माधवी) सुनकर अचरज में रह गयी है। माधवी को भला सत्या किसी बात के लिए पूछती है! माधवी पढ़ी नहीं है, विधवा है, निष्पुत्रा है, विक्षिप्त-सी है। सो अँग्रेजी के अखबार-किताब पढ़ने वाली यह सत्या, जो माधवी के सदा ठट्‌ठ के ठट्‌ठ आभूषण पहने रहने पर उसकी खिल्ली उड़ाती रही है, वही सत्या इस माधवी से कह रही है 'जीजी, चलोगी न?' माधवी इस घर में कृपानुजीवी-सी रहती है, और सत्या लाड़ली है। इसीलिए माधवी यह सुनकर सत्या की अतिशय कृतज्ञ हो उठी। उसने कहा, "तू जा सत्या, मुझे क्या जाना सोहता है!"

इस आभार से भीनी उसकी बानी सुनकर सत्या एकदम माधवी के गले में बाँहें डालकर बोली, "चलो जीजी, हवा खाएँगे। जीजी कैसी हो?"

अर्द्धविक्षिप्त उस माधवी की आँखों से इतने ही पर आँसू भर आये। सत्या उसकी बेटी तो नहीं है, बहन ही है, पर उसके भी बेटी होती तो क्या वह भी ऐसी न बोलती? अध-पगली माधवी का मन उसी अनहोनी सम्भावना को खींच लाया है। माधवी बोली, "सत्या, मेरी बहिन! मुझे रहने ही दे। तू जा, घूम आ।"

सत्या चली आयी और फिर इस या उससे अपने को उलझाये रही। खाली वह नहीं रहना चाहती थी। अब कठिनाई यह आ पड़ी कि घर की गाड़ी उस समय घर में बीमार पड़े एक शिशु के लिए डॉक्टर के यहाँ से दवा लाने चली गयी थी। जब तक वह गाड़ी न आए, इसी घर में रहना होगा। बाहर खुली हवा में जाने का साधन नहीं है। सत्या बाहर जाए तो कैसे जाए! इस पर सत्या मानों छटपटाने लगी।

अम्माजी ने उससे पूछा—"क्यों सत्या, सुनीता का जी तो राजी है न?"

सत्या ने संक्षिप्त उत्तर दिया—"राजी है।"

''वह श्रीकान्त का दोस्त कौन था? वह अभी घर पर ही है!''

''घर पर ही हैं।''

तब जैसे कुछ सहसा याद आया हो, अम्माजी ने पुकारा, ''रामदयाल, ओ रामदयाल!''

इधर सत्या से कहा, ''अरी, अब मुझे याद आया। लखनऊ से खरबूजे आये पड़े हैं, सुनीता को पहुँचे नहीं। ओ, रामदयाल! देख सत्या, उसे बुला तो।''

सत्या ने जल्दी से कहा, ''कल सवेरे भेज देना। अम्मा, यह कोई भेजने का वक्त है!''

''कल तक किस काम के रह जाएँगे, री! तू बुला तो रामदयाल को।''

सत्या को नहीं सूझा कि वह क्या कहे? वह अपने मन को समझ नहीं रही थी। उसे नहीं पता था कि उसका वह मन क्या चाहता है। वह चाहता है कि इस समय सुनीता के यहाँ कोई न जाए, या यह चाहता है कि कोई अवश्य जाए! जो सूचना अभी सुनीता के यहाँ उसने पायी है, वह हलकी नहीं है; ऐसी भारी है कि उसके जी से मुश्किल से ही झिल रही है। क्या वह उस बात को किसी तरह अपने भीतर से फूट जाने दे? छि: छि:, वह क्या ऐसी ओछी बनेगी? तब वह सोचती है कि अनायास अगर कोई वहाँ जीजाजी के यहाँ जाकर उस दुरभिसन्धि की खबर पा ही लाये और प्रकट कर दे—तो क्या इसकी भी वह दोषी होगी? फिर भी उसके मन में तृप्ति नहीं है कि जीजी सुनीता के लिए मात्र सत्कामना ही उसमें है। उसे लग रहा है कि जीजाजी की अनुपस्थिति में यह कैसा दुस्साहस करने चली है, सो उस जीजी को थोड़ा बहुत दण्ड भी मिले तो क्या है! उसके मन में खीझ है, क्लेश है कि ऐसा हो ही क्यों रहा है!

उसने जोर से पुकारकर कहा, ''रामदयाल, ओ रामदयाल!''

अम्माजी ने कहा, ''सत्या, ले तो आ, जरा दस-बारह खरबूजे एक टोकरी में रख दे। रामदयाल ले जाएगा। वह आया नहीं!''

सत्या ने धीमे से कहा, ''वह आ रहा है।''

अम्माजी ने कहा, ''तो जल्दी से रख दे न। वह झटपट दे आएगा। फिर और काम में लगेगा।''

सत्या ने झल्लाकर कहा, ''मुझे नहीं है फुर्सत, काम है। आकर रामदयाल ही रख लेगा, या माधवी जीजी से कह दो। मुझे पढ़ना भी है कि नहीं।''

अम्माजी लड़की की इस बात पर झींकने लगीं और उसे अनसुनी करती हुई चली गयीं।

उसका मन बहुत बुरा हो रहा था। वह अपने को किसी काम में लगाना चाहती थी। वे दोनों चले गये और रामदयाल ने घर का ताला बन्द पाया तो! मैं नहीं जानती,

मैं कुछ नहीं जानती। थोड़ी देर वह इसी भाँति हठात जहाँ-तहाँ से अपने मन के लिए व्यस्तता खोजती रही। उसके बाद भागती हुई-सी अम्माजी के पास पहुँची। बोली, "अम्माजी, खरबूजे मेरे साथ रख दो, हम अभी गाड़ी में घूमने जाएँगे। उधर से गाड़ी ले जाएँगे, वहीं दे देंगे। रामदयाल अभी गया तो नहीं अम्मा।"

"वह तो गया, तू भी अब कहने बैठी है!..."

तभी बाहर छज्जे पर दौड़ जाकर सत्या ने पुकारना शुरू किया, "रामदयाल, ओ रामदयाल!" जोर-जोर से पुकारती रही, दो-तीन-चार-पाँच मिनट तक पुकारती और प्रतीक्षा करती छज्जे पर ही खड़ी रही, मानो लौटना नहीं चाहती। अन्त में जब लौटकर आयी तो गुस्से के साथ बोली, "तुम्हें ऐसी जल्दी पड़ जाती है, न जाने, अम्माजी! कुछ पूछती हो, न ताछती हो। हम अभी उधर से जा ही रहे थे। राम करे रामदयाल को वहाँ कोई भी न मिले।"

अम्माजी हँसती हुई-सी अपनी इस लाड़ली को देखती रही।

सत्या ने कहा, "अब भी धन्नू को भेज दो, वह रामदयाल को लिवा लाएगा। अभी दूर ही कितना गया होगा।"

अम्माजी ने हँसकर कहा, "तेरा क्या काम ऐसा रामदयाल से अटका पड़ा है! मुझे बता न।"

सत्या चटक आयी—"मेरा काम क्या अटका पड़ा रहता! तुम्हें ही खबर नहीं है। गाड़ी में मैं ही खरबूजे लेकर जाती तो कुछ बिगड़ न जाता। और ऐसी कौन बेताबी थी। सवेरे क्या न पहुँच सकते थे! मैं कहती हूँ तो पूछती हैं, मेरा क्या काम अटका पड़ा है! मेरा क्या अटका पड़ा होता। मैं कौन हूँ? मेरा क्या है? मैं कुछ भी नहीं कहूँगी। भले की ही होती है, तो कुछ कह देती हूँ। नहीं तो मुझे क्या, जबान भी न खोलूँगी। मैंने तो इतना ही कहा है कि धन्नू दौड़कर अभी उसे बुला लाएगा, वह अभी गली पार ही तो गया होगा।"

अम्माजी बोली, "तो तू जा। ऐसा है तो भेज दे धन्नू को। फिर मैं नहीं जानती जो कल तक खरबूजे खराब हो जाएँ।"

सत्या फौरन चली आयी। उसने धन्नू को आवाजें दीं। पर धन्नू तुरन्त उपस्थित न हुआ। सत्या ने फिर भी उसे पाने का विशेष प्रयास नहीं किया। मानों उसके मन में हुआ कि मुझे जो करना था, कर चुकी। आगे अब भाग्य है। रामदयाल अब वहाँ घर बन्द पाएगा और लौट आएगा तो मेरा कसूर नहीं है।

थोड़ी देर में डॉक्टर के घर से गाड़ी आ गयी। तब साईस को फटकार कर कि वक्त पर गाड़ी कहीं पर क्यों ले जाता है, सत्या ने हुक्म दिया कि गाड़ी खोले नहीं, हम जाएँगे। और वह जल्दी-जल्दी तैयार होकर गाड़ी पर सवार होकर चल पड़ी।

ऐसा कम होता है कि सत्या गाड़ी में अकेली जावे। इस बार ऐसा ही हुआ। वह

अकेली ही जाएगी, गाड़ी पहले जीजी के मकान की तरफ ही ले जाएगी। लेकिन वहाँ तक जाएगी नहीं। दूर से ही देख लेगी कि मकान कहीं बन्द तो नहीं है इतना देखकर ही बस लौट पड़ेगी।

किन्तु बाजार के मोड़ पर गाड़ी में से उसने क्या देखा कि फल की दुकान पर जीजाजी खड़े हैं। तुरन्त गाड़ी रोककर वह उतरी और श्रीकान्त के पास गयी। देखती है कि कई ठोंगों में तरह-तरह के फल-मेवे तुला रखे हैं, और जीजाजी खुश हैं और बेखबर हैं।

''जीजाजी!''

श्रीकान्त ने मुड़कर देखा, कहा, ''अरी सत्या।''

सत्या बोली, ''आप कब आये, जीजाजी?''

वह जानती है कि अभी आ रहे हो सकते हैं। फिर भी पूछती है, 'कब आये?' मानो अनजान हो!

''बस स्टेशन से चला ही आ रहा हूँ। वह देखो ताँगा खड़ा है। (मुड़कर) हो गयी यह सेर-भर लीची?''

श्रीकान्त बहुत प्रसन्न मालूम होता था, बड़ा उत्सुक। सत्या ने कहा, ''यह इतना सब किसके लिए ले रहे हैं?''

बोला, ''लाहौर से लेने का ख्याल नहीं रहा और वह पूछेंगी क्या लाये? तब मैं सोचता हूँ यहीं से लिये चलूँ। और सत्या तेरे लिए भी एक चीज लाया हूँ। (मुड़कर) बस। बस।''

''अजी यह आड़ू देखिए, क्या तौफा है!''

''अच्छा-अच्छा, आधे सेर रख दो।''

''अजी सेर भर तो लीजिए ही।''

''सेर, अच्छा सेर सही। (मुड़कर) चल सत्या, हमारे साथ ही चल। आज की तेरी पढ़ाई हुई कि नहीं?''

सत्या ने दुकान पर फलों से भरे रखे हुए ठोंगों को उठाते हुए कहा, ''नहीं-नहीं, जीजाजी, हमारे घर चलिए। आज हमारे घर रहना होगा। आप हमारी सब बात टाल देते हैं। आज यह नहीं होगा। मैं अभी देखूँगी मेरे लिए क्या चीज लाये हो!'' और वहीं से साईस को आवाज देकर बुलाया। कहा, ''लो भाई, यह सब गाड़ी में रखो। और देखो, वह ताँगा खड़ा है। उसका सामान भी गाड़ी में रख लो। (मुड़कर) जीजाजी ताँगे वाले को कितने पैसे देने हैं?''

यह सब एक ही क्षण में सत्या ने कर दिया।

श्रीकान्त ने कहा, ''पागल हुई है सत्या!'' किन्तु कहते-कहते श्रीकान्त को दुकान वाले की ओर मुखातिब होकर दाम चुकाने में लग जाना पड़ा।

ठिठक खड़े रह गये हुए साईस को सत्या ने इशारा किया कि वह जाए और जैसा कहा गया करे। ताँगे में से सब सामान उतारकर गाड़ी में रखे।

श्रीकान्त मुड़ा, तब सत्या ने फिर कहा, ''ताँगे वाले को कितने पैसे देने हैं, जीजाजी ?''

''पागल तो नहीं हुई, तू सत्या!''

तब सत्या ने आगे बढ़कर खुद ताँगे वाले से पूछा, ''कितने पैसे तुम्हारे चाहिए ? पाँच आने ? लो यह लो।''

पैसे देकर श्रीकान्त की बाँह पकड़कर सत्या ने कहा, ''चलिए जीजाजी, खड़े क्यों है ?''

श्रीकान्त इस लड़की पर विस्मित होता हुआ खड़ा रह गया। आखिर उसने कहा, ''चल। जहाँ तू कहे, वहीं चल। आखिर अपनी बहन की ही बहन है न!''

रास्ते-भर सत्या श्रीकान्त से तरह-तरह की बातें करती रही। न खुद खाली रही, न श्रीकान्त को रहने दिया। लाहौर कहाँ रहे, कैसे रहे, क्या करते रहे, क्या लाये हो ? रात हमारे यहाँ ही रहना होगा। माधवी जीजी बड़ी अच्छी हैं। अम्माजी का गुस्सा बड़ा बुरा होता है। हमारे घोड़े की टाँग कल टूटते-टूटते बच गयी—आदि जाने क्या-क्या बातें उसने कीं। उन बातों में सुनीता कहीं नहीं आयी, और न हरिप्रसन्न। कुछ पूछे, श्रीकान्त को इसका अवसर ही नहीं मिल रहा था।

''यह फल तो सब हम खाएँगे। कल दूसरे लेकर जाना। आज जीजाजी, जाना नहीं होगा।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा।''

घर पर आकर सत्या ने अपने लिए लाहौर से आयी हुई चीजों को देखने की झटपट मचा दी। जो साड़ी और ब्जाउज-पीस लाये थे, देखकर उसकी फिर आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। उसके सहारे काफी समय बीता। हाथ के हाथ तुलना क्यों न हो जाए! हाथ-कंगन को आरसी क्या—सो तुलना के लिए अपने पास की कई साड़ियाँ ले आयी। इस बीच चिन्तापूर्वक और कोलाहलपूर्वक जीजाजी के लिए बिस्तर बिछाने का हुक्म सत्या ने दे दिया। उसने फिर कापियाँ दिखायीं, किताबें दिखायीं। आशय कि तनिक भी अवकाश उसने श्रीकान्त के पास न जुटने दिया।

पहर बीतते हुए और रात गहरी होती गयी। श्रीकान्त निश्चित जानता था कि अब न सही, दस मिनट बाद सही, घर तो वह जा ही रहा है। इसी से वह यहाँ टिका हुआ था। अब सत्या ने हाथ पकड़कर कहा, ''चलो जीजाजी, अब बिस्तर पर चलो। मैं तुम्हें वायलिन बजाकर सुनाऊँगी।'' तब श्रीकान्त ने उठते हुए कहा, ''अब देर हो गयी है। मैं चलूँ।''

''नहीं-नहीं जीजाजी, आप यहीं रहेंगे। मैं कहे देती हूँ।''

श्रीकान्त ने हँसकर कहा, ''तेरे कहने से अब दस तो बजा दिए। अब तो चलने दे।''

सत्या बोली, ''मैं तुम्हें ऐसी बुरी लगती हूँ, जीजाजी?''

श्रीकान्त विस्मय से सत्या के मुँह की ओर देखता रह गया, और स्वयं सत्या भी अपने ऊपर विस्मित हुई कि उसने यह क्या कहा!

श्रीकान्त ने कहा, ''तो कब तक मुझे ठहरना होगा, बता।''

''आज रात यहीं रहिए, सवेरे चले जाइएगा। यहाँ आकर क्या आपको बेताबी पड़ रही है? लाहौर थे तब तो कुछ न था। अब एक घड़ी भारी हो रही है।''

''तो अपनी वायलिन सुनाने को तू कहती है न? अच्छा सुना, मैं उसके बाद जाऊँगा।''

सत्या ने बिगड़कर कहा, ''तो आप जाइए, अभी जाइए। मैंने नाहक इतनी देर आपको रोका, मैं क्या जानती थी— !''

श्रीकान्त ने उसके गाल पर हलके से चपत लगाकर कहा, ''दुर पगली!''

''आप जाइए, मैं कुछ नहीं कहती हूँ।''

श्रीकान्त ने कहा, ''अच्छा-अच्छा, चल। बता, बिस्तर कहाँ है? नाराज क्यों होती है?''

''आप जाएँगे तो नहीं?''

''कुछ कसम खिलाएगी?''

''तो जाइए न, मैं रोकने वाली कौन हूँ!''

सच यह है कि कई रोज प्रवास में रहकर अपने शहर में आना और बिना समय खोये पत्नी के पास अपने घर न पहुँचना, साधारणतया यह स्वाभाविक नहीं है। श्रीकान्त के लिए तो और भी नहीं है। अव्वल तो इसीलिए कि सुनीता...सुनीता है, फिर इसलिए भी कि हरिप्रसन्न वहाँ है; लेकिन सत्या इस श्रीकान्त के लिए ऐसी है कि बहुत कोमल, बहुत पवित्र। श्रीकान्त उसे चोट नहीं दे सकता। वह अब तक किताबों और सपनों-सपनों में ही तो रही है। अपनी सपनीली आशाओं में वह वृथा न हो, ऐसा वर उसे अभी कहाँ प्राप्त है। तब श्रीकान्त भी क्या इस छोटी-सी चाह में उसे वृथा कर दे! उसने कहा, ''भई, कसम तो मैं नहीं खाऊँगा।''

सत्या ने कहा, ''अच्छी बात है, न सहा जाए तो चले जाइएगा। अभी तो बिस्तर पर चलिए।''

''चल।''

बिस्तर पर श्रीकान्त को बैठाकर सत्या ने कहा, ''मैं वायलिन ले आऊँ, अभी ले आती हूँ।''

वहाँ से आकर वह सीधी वायलिन के लिए नहीं गयी। रामदयाल की खोज में

गयी। रामदयाल जब सामने आया, तब धमकाकर पूछा, ''खरबूजे दे आया?''

''दे आया?''

''जीजी थी?''

''थी?''

''उन्होंने क्या कहा?''

''कुछ नहीं कहा?''

''अच्छा जा।''

उसके बाद वह वायलिन लेकर पहुँची। बहुत ही अच्छा वह वायलिन बजाती है। ऐसा हल्का हाथ है जैसे कि फूल। श्रीकान्त सुनता रहा। खतम करके जब सत्या ने कहा, ''बहुत वक्त हो गया, अब आराम करो।'' तब श्रीकान्त बोला, ''मैं जरा जाता हूँ।''

''कहाँ जाते हो?''

''कहीं नहीं। जरा नीचे जाता हूँ।''

सत्या समझी कि यों ही किसी जरूरत से जाते होंगे। बोली, ''सोएँगे तो यहीं ना?''

इस प्रश्न को सुनकर श्रीकान्त ने कहा, ''और नहीं तो क्या यह वक्त कहीं और जाने का है! यहाँ नहीं तो कहाँ सोऊँगा?''

सत्या चुप होकर अपनी जगह चली गयी। वह मन में शायद बिलकुल निश्चिन्त तो न थी, फिर मानो उसके मन में था कि अब मैं क्या करूँ? मेरा आगे बस नहीं।

श्रीकान्त ने घर से बाहर जाते हुए ड्योढ़ी पर जमादार से कह दिया कि बाजार से हम अभी आते हैं। पन्द्रह-बीस मिनट में आ जाएँगे। नहीं आये तो आध घण्टे बाद तुम ड्योढ़ी बन्द कर लेना।

उसने सोचा है कि घर पर रोशनी जलती हुई मिली, तब तो वह वहाँ चला ही जाएगा। और जो सब लोग सो गये हुए, तब वृथा उनकी नींद तोड़ेगा नहीं; चुपचाप लौट आएगा, और यहीं आकर सो रहेगा। फिर तो सवेरे ही जाएगा।

लेकिन घर पहुँचकर देखता है कि जीने में बाहर बड़ा ताला पड़ा है। उसकी कुछ भी समझ में नहीं आया। एक-दो मिनट तो वह वहीं खड़ा रह गया, मानो जोर से सिर पर चोट पड़ी हो, और वह उसके तले सुन्न हो रहा हो। फिर मानो सिर पर उस चोट के स्थल को दायें हाथ से खुजलाता हुआ वह लौटकर चला आया।

आते-आते एक जगह तेज चाल से जाती हुई मोटर की झपट में आने से वह बाल-बाल बचा। तब उसने मोटर की ओर देखा। लेकिन वह तो जा चुकी थी।

उस वक्त रात के बारह बजने वाले थे। शहर सुनसान पड़ता जा रहा था।

वह चुपचाप अपनी जगह पर आकर सो रहा।

41

सुनीता ने अपने ऊपर से अपना अधिकार मानों बिलकुल छोड़ दिया था। हरिप्रसन्न ने जब कहा, ''भाभी, यहाँ से हम सिनेमा जाएँगे। वहाँ से फिर नहीं लौटेंगे। बस सवेरे ही लौटेंगे।'' तब निरपेक्ष भाव से सुनीता ने इस बात को सुन लिया। उसने न उत्साह दिखलाया, न उपेक्षा।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''ठीक समय पर मोटर हमें लेने आएगी। तुम तैयार रहना।''

सुनीता ने कहा, ''अच्छा।'' इस 'अच्छा' में ध्वनि थी कि वह क्यों न तैयार रहेगी? इस क्षण भी और उस क्षण के आगे भी सदा उसे तैयार ही समझो। हरिप्रसन्न के मन में बड़ी शंका-सी है। किन्तु सुनीता के मन में कुछ भी नहीं है। वह तो अपने को छोड़ ही चुकी है। जहाँ चाहेंगे, वहाँ वह क्यों न जाएगी।

ठीक समय पर मोटर आकर नीचे सड़क पर से ही हार्न देने लगी। उस समय हरिप्रसन्न सुनीता को बुला लाने के लिए उसके कमरे में गया। चुपचाप पहुँचकर उसने वहाँ देखा कि सुनीता ने अभी कुछ भी तैयारी नहीं की है, वह तो एक ओर दीवार की तरफ मुँह किये हुए आँखें बन्द करके बैठी है। हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी, चलो।''

और यह कहते हुए जैसे ही कि वह भाभी के पास पहुँचा, उसने देखा कि भाभी के सामने दीवार से टिकी हुई श्रीकान्त की तसवीर रखी है!

हरिप्रसन्न की आवाज सुनते ही सुनीता उठ खड़ी हुई। बोली, ''चलूँ! अच्छा चलती हूँ।''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी, ऐसे चलोगी। कपड़े तो बदल लो!''

भाभी ने पूछा, ''ऐसे ही चलूँ? कपड़े बदल लूँ?''

हरिप्रसन्न ने कुछ विस्मित स्वर में कहा, ''ऐसे कपड़े पहनकर क्या चलोगी, भाभी, जो रोज के पहनने के हैं। आज का दिन और दिन है। यह अपने में अलग है। वह हर दिन जैसा नहीं है। आज के इस दिन को साधारण मत बनाओ, भाभी! इसलिए और वस्त्र पहनो। भाभी वह पहनो जो अच्छे-से-अच्छे हों।''

''रेशमी?''

''हाँ, कम से कम रेशमी।''

सुनीता ने शान्त भाव से कहा, ''अच्छी बात है।''

हरिप्रसन्न ने आग्रहग्रस्त होकर कहा, ''जल्दी, मोटर खड़ी है।'' और फिर आगे बढ़कर श्रीकान्त की तसवीर उठाते हुए उसने कहा, ''यह तो साथ नहीं जाएगी न! इसे दीवार पर लगा दूँ?''

''लगा दो।''

तसवीर लगा दी और फिर हरिप्रसन्न ने कहा, ''मैं इतने नीचे ठहरता हूँ, भाभी। तुम कपड़े बदलकर आओ। भाभी, हमारे दल के युवक भी देखें कि उनकी देवी चौधरानी सौन्दर्य की भी देवी है। सौन्दर्य ईश्वर के ऐश्वर्य का एक रूप है भाभी। सौन्दर्य शक्ति है, सौन्दर्य आदर्श है। वह स्फूर्ति देता है, पवित्रता देता है, बलि की प्रेरणा देता है। जो असुन्दर है वह फिर सत्य भी कैसे है?''

कहकर हरिप्रसन्न चला गया। कुछ देर बाद जब भाभी उनके सामने आविर्भूत हुई, तब वह देखकर एकदम दंग रह गया। क्या उसने कल्पना में भी यह रूप पाया है, जो अब सामने है! वस्त्र क्या व्यक्ति में उतनी प्रभा डाल सकते हैं! भाभी की इस मूर्ति को देखकर वह मन में सहमा-सा रह गया है।

भाभी ने उसके सामने आकर कहा, ''चलिए।''

हरिप्रसन्न के मन में हुआ कि कहे, ''भाभी मुझे क्षमा करो। इन कपड़ों को मत पहनो। यह बहुत हैं, मुझसे झिलेंगे कैसे?'' लेकिन वह कुछ भी न कह सका।

सुनीता ने फिर कहा, ''चलिए।''

और नीचे से मोटर के हार्न की आवाज आयी।

हरिप्रसन्न जैसे जागकर बोला, ''हाँ, चलो।''

सुनीता चली। नीचे जीने में ताला डाला और मोटर में आ बैठी। पिछली सीट में उसके पास ही हरिप्रसन्न बैठ गया और चन्द्रसेन ने मोटर चला दी।

सिनेमा हाउस पहुँचकर हरिप्रसन्न ने चन्द्रसेन से कुछ देर बात की। चन्द्रसेन चला गया, और मोटर को चाबी से बन्द करके वे लोग सिनेमा हाउस में गये।

हरिप्रसन्न ने सोचा था कि ठीक आधी रात को घर से निकलकर चलना ठीक न होगा। सँभल-सँभालकर पैर रखना चाहिए। स्थिति ऐसी ही है। सिनेमा घरों में से तो उस आधी रात के समय बहुत से लोग निकलकर आते हैं। उन्हीं के बीच में उन दोनों की, और उन दोनों की एक मोटर की, उपस्थिति किसी के लिए विशेष कुतूहल की वस्तु नहीं होगी। सिनेमा का प्रोग्राम इसलिए उसने बनाया था। पर अब उसे मालूम हो रहा है कि मात्र उस प्रयोजन के कारण ही नहीं, इस सुनीता के साथ सिनेमा में आना अपने आप में ही एक मधुर बात हुई है। उसको इस समय बड़ा अच्छा लग रहा है। यह जो पास सुनीता बैठी है, कैसी मनोज्ञ, कैसी कमनीय! लोग क्यों न देखें कि वह हरिप्रसन्न के साथ है? सुनीता के सान्निध्य से उसके चित्त को और इन्द्रियों को अद्भुत उकसाहट हो रही है। सुनीता के आकर्षण की अजेयता पर वह सुखी है। वह सोचता है—जो चाहिए वह यही है, वह यही है।

दोनों आपस में बोल नहीं रहे। सुनीता शून्य है, हरिप्रसन्न अनागत-ग्रस्त। वह विचित्र दृश्य देख रहा है, साथ ही सामने दिखाया जाता हुआ चित्र भी वह देख रहा है जो मानों उसकी आत्मा से उसके आदर्शवाद को ओट में करके उसके चित्त की ऊपरी

वृत्तियों को प्रोत्साहन दे रहा है। हरिप्रसन्न जब कि उसका स्वाद ले रहा है, तब उससे लड़ भी रहा है।

इण्टरवल पर उसने पूछा—"भाभी कुछ चाहिए?"

"कुछ नहीं चाहिए।"

"हमारा घर से बारह बजे चलना ठीक न होता भाभी, इसलिए हम यहाँ आये हैं और कोई बात नहीं है।"

सुनीता ने सुन लिया, "और कोई बात नहीं है।"

"मुझे सिनेमा में शौक नहीं है भाभी। सिनेमा में मुल्क की बरबादी है। सिनेमा से हम इन्द्रियसेवी बनते हैं, सिनेमा से हमारा आदर्श फीका होता है, सिनेमा ने प्रेम को शरीर की वस्तु बना दिया है। इन्द्रिय परायणता से क्या होगा? हमारा आदर्श उज्ज्वल रहे, दहकता रहे। उज्ज्वल रहे।"

"क्या पंखा बुरा लगता है? सिर में दर्द तो नहीं हो रहा है? पंखा बन्द कर दूँ?"

"हाँ, करा दो।"

हरिप्रसन्न व्यस्ततापूर्वक उठा और कह-सुनकर पंखा बन्द करा दिया। उसके बाद तसवीर शुरू हुई और अँधेरा हो गया। वे तब उधर देखने में लग गये।

खेल समाप्त होने के बाद हरिप्रसन्न मोटर ड्राइवर की जगह बैठा और अपने पास की खिड़की खुली रखकर सुनीता से बोला—"बैठो।"

सुनीता ने चुपचाप पिछली सीट की खिड़की को खोला और वहाँ अकेली बैठ गयी। हरिप्रसन्न ने निरापद भाव से हाथ बढ़ाकर अगली सीट की खिड़की को बन्द कर लिया, कुछ कहा नहीं।

हरिप्रसन्न तब मोटर को लिये चला, लिये चला। इससे आगे होकर कह लीजिए, उड़ाये चला।

रास्ते में एक जगह जब गाड़ी एक आदमी से टकराते-टकराते बच गयी और फिर कुछ आगे निकल गयी, तब हरिप्रसन्न ने कहा, "भाई साहब अगर आज ही आ गये तो?"

सुनीता ने धीमे से कहा, "वह अभी-अभी मरने से बच गये हैं!"

हरिप्रसन्न के मन में यह बात थी कि हो-न-हो यह व्यक्ति जो मोटर की टक्कर से बच गया है, श्रीकान्त ही है। लेकिन सुनीता के मुँह से यह सुनकर उसने अपने पर अविश्वास करना चाहा। उसने बड़े विस्मय से पूछा, "क्या-आ?"

सुनीता ने कहा, "शायद वह हमारे घर को बन्द देखकर ही लौट रहे थे, कि हमने उन्हें बचा दिया!"

हरिप्रसन्न ने आतंकित वाणी में पूछा, "कौ...औन?"

''वह जो अभी मिले थे।''

''वह श्रीकान्त! तुमने देखा?''

''परमात्मा करे, वह न हों। पर थे वही, वह आ गये और उनको यह भी मालूम है कि हम घर नहीं हैं!''

हरिप्रसन्न, ''कहती क्या हो!''

''मैं भी ठीक कहती हूँ, लेकिन तुम चिन्ता न करो। मैं भी चिन्ता क्यों करूँ! चिन्ता से क्या बनता है?''

''तो लौट चलें, भाभी? कहो तो घर पहुँचाये देता हूँ!''

भाभी ने संक्षिप्त भाव से कह दिया—''नहीं।''

''भाभी, मैं ठीक नहीं देख सका। पर तुम लौट जा सकती हो।''

''हाँ, वही थे। लेकिन उस बात की चर्चा न करो। लौट हम नहीं सकते।''

''मैं तो नहीं ही लौट सकता। अपने आप में अकेला हूँ। लौटूँ तो कहाँ? पर तुम्हारे पास लौटने की जगह है, जगह तुमने बचा छोड़ी है।''

''तुम उन्हें नहीं जानते।''

''मैं उन्हें नहीं जानता, तुम जानती हो और कहती हो कि तुम नहीं लौट सकतीं—तो भाभी, चलो।''

और कुछ धीमी हो गयी हुई गाड़ी को यह कहकर हरिप्रसन्न ने एक साथ तेज रफ्तार पर छोड़ दिया।

कुछ देर बाद हरिप्रसन्न ने कहा, ''तुम लौटतीं तो मैं क्या करता, जानती हो?''

''क्या करते?''

''लौटते नहीं देखा?''

''करते क्या?''

''ठीक नहीं जानता, पर अपने तरुणों के विश्वास के साथ खेल न होने देता।''

''जबरदस्ती करते?''

''ठीक कुछ भी नहीं जानता, पर तुम्हें गिरने नहीं देता। भाभी, जब तुम दल की रानी हो तब रानी ही रहोगी। नीचे दया में नहीं गिरोगी।''

''मैं समझी।''

''क्या समझीं तुम?''

''तुम समझते हो कि तुम दया नहीं जानते! यह मिथ्या है।''

''कुछ भी हो भाभी, लेकिन आज दल के बालकों के सामने तुम्हें होना ही होता। वे बालक हैं, आकाँक्षी हैं, उन्हें प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए। देश उनके सामने भी फीका हो जाता है, इसलिए चाहता हूँ सामने तुम होओ।''

''हाँ, होऊँगी सामने। इसी से आयी हूँ। सामने हो रहूँगी। मेरा नाम सुनीता है।

मैं रानी होना अस्वीकार करती हूँ। तुम भी रानी को अस्वीकार करो। स्वीकार करो सुनीता को, जो घर की रानी है, क्योंकि घर की दासी है—हरि, मद नहीं अमृत चाहो।''

''सुनीता! इसी से कहता हूँ, तुम रानी होगी। बालक तुम्हें देखते ही पहचान लेंगे। उन्हें अवकाश कब होगा कि वे तुम्हें सुनें। तुम कुछ भी कहो, सब में वे यही पाएँगे कि तुम रानी हो। मैं उन्हें और तुम्हें जानता हूँ। जानता हूँ, वे चाहते हैं और चाह बड़ी चीज है। तुम अटूट हो और यह सब कुछ है।''

सुनीता कुछ न बोली। वह अप्रत्याशी बनी है, तब आगे होनहार में क्यों कुछ झाँककर देखने का कष्ट करें। जो होगा, होगा। वह तो जो है, होता जा रहा है, उसी को देख रही है।

रात के बारह बज चुके हैं। मोटर चल रही है। हरिप्रसन्न अति निपुण कुशल ड्राइवर है। वह सरपट जा रही है। हवा ठण्डी लगती है। पेड़ पास से ऐसे निकल जाते हैं जैसे भूत। शहर पीछे छूट गया है। मोटर कहाँ जा रही है—क्या जाने! पर वह भागी चली जा रही है। कितनी दूर आ गये हैं? यह कौन-सी सड़क है? कि देखते-देखते मोटर धीमी हुई। वह फिर सड़क के एक ओर ढाल की तरफ चल पड़ी। वहाँ लीक नहीं है, रात वहाँ नहीं सूझती, मोटर के लैम्प बुझा दिये गये हैं, पर अँधेरे में धीरे-धीरे वह सरक रही है। कुछ दूर बढ़ने पर वह रुक गयी। इंजन की घरघराहट चुप हो गयी। हरिप्रसन्न उतरा। उसने चारों ओर देखा। फिर आकर पिछली खिड़की खोली, बोला—''आओ, भाभी!''

सुनसान जंगल। अँधेरी रात। एक बजा होगा।

सुनीता ने सुना—''आओ, भाभी!''

वह उतरकर आयी। उसने कुछ नहीं कहा।

''मेरा हाथ पकड़ लो।''

सुनीता साथ-साथ चल पड़ी। हाथ नहीं पकड़ा।

''हाथ पकड़ लो। अँधेरा बहुत है।''

और कहने के साथ एक हाथ ने बढ़कर टटोलकर सुनीता के हाथ को थाम लिया।

सुनीता ने पाया कि अपने हाथ के यों एक पुरुष के मजबूत हाथ में टिक जाने से उसे मार्ग चलने में अवश्य बड़ी सुविधा हो गयी है। यह पुरुष की कृपा है और इसके लिए कृतज्ञ है।

हरिप्रसन्न के हाथ में टार्च थी और रिवाल्वर था। हवा ठण्डी चल रही थी। चारों तरफ फैली छोटी-छोटी झाड़ियाँ चुप सो रही थीं। इनके चलने की आहट ही वहाँ आहट मालूम होती थी।

चलते-चलते अत्यन्त आकस्मिक रूप में सुनीता को अपनी बाँहों में समेट लेकर हरिप्रसन्न बोल उठा—"आह! गजब हुआ!"

जैसे उसकी ध्वनि की आशंका संक्रामक हो। सुनीता घबरायी-सी बोली, "क्या हुआ?"

उसने सुनीता को बाहुओं में और कसके कहा, "वह उधर देखो। कुछ दीखा? ठहरो, फिर दीखेगा।"

कुछ सेकिण्ड बाद एक लाल रोशनी चमकी और क्षण होते-होते वह लुप्त हो गयी।

भय से चकित सुनीता ने कहा, "वह क्या है?"

हरिप्रसन्न ने उत्तर दिया, "खतरा है। वह लाल रोशनी है। अब वहाँ नहीं जाना होगा। वहाँ—।"

"क्यों, क्या हुआ?"

हरिप्रसन्न की निगाह यहीं बँधी थी। कहा, "वहाँ शायद मौत है।"

सुनकर सुनीता हरिप्रसन्न की बाँहों में सिमटी हुई उस अन्धकार में उसके चेहरे की ओर उत्सुकता से देखने लगी।

"क्या हुआ? क्या हुआ? बोलो।"

मानो हरिप्रसन्न को पता भी न हो, इस भाँति अनायास जोर से सुनीता को चिपटा कर उसने कहा, "तुम जानती हो, अकेला होता तो मैं क्या करता? वहाँ संकट है, उस संकट के मुँह को ही जाकर मैं पकड़ता; लेकिन आज तो मैं उधर ताकता दूर खड़ा हूँ, मैं कुछ भी नहीं कर सकता।"

और उसी भाँति एकाएक झुककर अपने हाथ से सुनीता की ठोड़ी ऊपर उठाकर बोला, "क्यों? क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ और प्रेम आदमी को निर्बल बनाता है।"

इस एक क्षण सुनीता सब कुछ भूल गयी।

हरिप्रसन्न ने कहा, "जानती हो वहाँ कल क्या हुआ होगा? कल के व्यक्ति मरे न होंगे, तो पकड़े जरूर गये होंगे। लेकिन मैं तुम्हारे साथ खड़ा हूँ। बोलो, तुम कहती हो कि मैं भी चला जाऊँ और जो भी विपदा हो, उसका सामना करूँ?"

उस समय सुनीता को अनुभव हुआ कि हाय, विधाता ने नारी को अबला और पुरुष के समक्ष सदा अपेक्षणीय क्यों बनाया है! और वह कुछ भी नहीं बोली, हरिप्रसन्न के अंग में सिमटी ही रही।

हरिप्रसन्न ने कहा, "भाभी, तुम्हें यों छोड़कर मैं मरने के लिए आगे नहीं बढ़ूँगा, यह मूर्खता मुझसे न होगी। मरने से क्या मैं डरता हूँ कि मुझे उसकी जल्दी हो! मुझे उसकी जल्दी नहीं है। भाभी, मैं तुम्हें बताता हूँ। मैं उस दल का नायक था। नायक क्या पीछे हटेगा? नहीं, वैसा आदमी मैं नहीं हूँ। इसलिए मैं जानता हूँ कि मेरे आगे

क्या है ? आओ भाभी, कहीं आस-पास बैठने लायक जगह हो तो बैठें। अभी चलने में खतरा है। यह सड़क चक्कर ही तो है, फिर भी कुछ देर में यहाँ लोग आ सकते हैं। दो-तीन घण्टे यहाँ निकाल देकर ही चलना हो सकेगा।''

सुनीता ने देखा अब जब संकट सिर पर आ मँडराया है, हरिप्रसन्न प्रबुद्ध है। वह सचेत है। अब उसमें संकोच नहीं है। उस समय सुनीता उसकी बाहुओं में घिरी अनुग्रहीता की भाँति चलने लगी, मानो इसमें उसे जीवन की कृतार्थता ही उपलब्ध हुई।

थोड़ी दूर पर झाड़ियों का एक घना झुरमुट-सा मिला। वहाँ बीच में कुछ हमराव-सी जगह थी। उस जगह पहुँचकर हरिप्रसन्न ने कहा, ''आओ यहाँ बैठें, और थोड़ी रात बीतने दें।''

सुनीता बैठ गयी।

वह एक घिसी चट्टान का ठण्डा स्पर्श था। ऊपर तारे थे। बयार धीमी-धीमी चल रही थी। आस-पास मनुष्य का पता न था। शहर दूर था, बहुत दूर। यहाँ वन था, वनस्पति थी और अँधेरे में वन सोया था, वनस्पति भी चुप सोयी थी। हवा में कभी झाड़ियों की कुछ फुनगियाँ जरा हिलती-डोलती थीं!

हरिप्रसन्न ने कहा, ''तुम लेट जाओ, सुनीता।''

और सुनीता लेट गयी।

हरिप्रसन्न ने जो अपनी बाहुओं से उसे अपनी जंघा का सहारा देकर लिटा लिया है। सो वह भी वहाँ लेट गयी है। वह कृतज्ञ है।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''सुनीता, मैं अब तुम्हें भाभी नहीं कहता। जिन्हें भाई कहता हूँ, उनकी ही मार्फत तुम तक पहुँचूँ, अब ऐसा नहीं है। मैं तुम्हें सुनीता कहूँगा। हम सीधे एक-दूसरे के सामने हैं। किसी की मार्फत हम दोनों के बीच में नहीं है। श्रीकान्त तुम्हारा पति है, मेरा मित्र है। पति एक होता है, मित्र भी शायद एक ही होता है। मेरे लिए तो वह एक ही है। लेकिन मौत से बड़ी क्या चीज है ? अगर कोई प्रभु है, ईश्वर है, तो मौत है। उसे मैं देखता हूँ। यह जो हमारे ऊपर मौत का हाथ है, यही उस प्रभु की रक्षा का हाथ है सुनीता। अब मैं और मौत आमने-सामने हैं। मैं उससे आँख-मिचौनी नहीं खेलूँगा। मैं खुली छाती पर उसे लूँगा। अब यह दिनों की बात है। दिन उँगली पर गिने जाएँ, इतना ही अन्तर हम दोनों के बीच में मत समझना। उस महाशक्ति के सामने होकर मैं झूठ नहीं बोलूँगा। मैं सच कहूँगा। मैं सच कहूँगा। मैं सच कहता हूँ, मेरी सुनीता—।''

और निश्चल पड़ी हुई सुनीता की बाँह को उठाकर उसने अपनी आँखों से लगा लिया। उसका कण्ठ रुँध आया, उसकी देह काँपने लगी। वह डर से भर गया।

''मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ—प्रेम ? लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ, सुनीता।''

और बिलकुल अपने मुख के समीप ही ठहरे हुए उस सुनीता के मुख को टकटकी बाँधकर वह देखता रह गया।

वह उठी। उठकर सम्भ्रमपूर्वक अलग होकर बैठ गयी। सुनीता का मन इस व्यक्ति के लिए पीड़ा से भर गया। वह अपने को सह न सकी। राह उसके लिए अत्यन्त अप्रत्याशित थी, अतिशय विस्मयकारी, अतिशय भयकारी था।

हरिप्रसन्न ने कहा, ''डरो नहीं, सुनीता। दया मैं नहीं मानता, फिर भी डरो नहीं। मैं चला जाता हूँ। मैं यहाँ से दूर रहूँगा। तुम बेखटके रहो। मैं नहीं जानता, मैं क्या चाहता हूँ। लेकिन तुम्हारे मन को मैं चोट नहीं पहुँचाऊँगा। मैं क्यों यह भी तुमसे कहता हूँ कि अब मौत में और मुझमें थोड़ा फासला है। लेकिन इसका तुम बिलकुल ख्याल मत करो। मेरा बिलकुल ख्याल न करो। अगर मेरी मौत की बात बड़ी है तो मेरे ही लिए बड़ी रहे। अगर्चे मेरे लिए भी बड़ी क्यों रहे, यह मैं नहीं जानता। तुम आराम करो, सुनीता। अगर खतरा न होता, तो मैं तुम्हें अभी घर पहुँचा देता। तुम सोओ। मैं चला जा रहा हूँ। लौटने का वक्त होगा, तब आ जाऊँगा।''

कहकर हरिप्रसन्न चलने को हुआ।

सुनीता गुम-सुम बैठी रही।

चलते-चलते हरिप्रसन्न ने कहा, ''जाऊँ?''

सुनीता कुछ नहीं बोली। हरिप्रसन्न चला गया।

उसके थोड़ी देर बाद तक सुनीता उसी भाँति बैठी रही। फिर वहीं अपनी बाँह का तकिया लगाकर लेट गयी। लेटे-लेटे आखिर क्या वह सो भी गयी?

रात को दो-ढाई बजे के करीब चाँद निकल आया। दूध-सी चाँदनी बिछ गयी। आसमान हँसता दिखायी दिया। प्रकृति भी उसके नीचे खिली। वातावरण में अजब मोह था। बयार में गुलाबी सर्दी थी।

हरिप्रसन्न नहीं ही सो सका, नहीं सो सका। मौत उसे हल्की लगती है, पर उन घड़ियों का एक-एक पल उसके उठाये नहीं उठता। चाँद की चाँदनी, चाँदनी क्यों है? क्यों वह ऐसी मीठी है? अरे यह सन्नाटा उसे सुलाता क्यों नहीं है? क्यों यह सब कुछ एक रसीला-सा सन्देह उसके कान में सुना रहा है? वह कौन है? वह सन्देश क्या है? कौन उसे कह रहा है—''अरे जा, अरे जा।'' और यह बिना ही बोले कौन उसके भीतर पुकार रहा है—''अरे आ, अरे आ।'' सो वह नहीं सो सका, नहीं सो सका।

और एक घड़ी बीती, दो घड़ी बीती। जितनी घड़ी बितायी जा सकीं, बितायीं। वह इसमें हारता ही गया, घिरता ही गया। अन्त में उठा। उठकर चला। वह कुछ नहीं जानता। जा रहा है, क्योंकि पाँव ले जा रहे हैं। कहाँ जा रहा है—जहाँ पहुँच जाए; जहाँ कहीं उसके भीतर का दाह उसे ठेले लिये जा रहा है। उस ओर जहाँ कोई सोया

पड़ा है। वहाँ-जहाँ विश्व का केन्द्र है। जहाँ से सबको जीवन प्राप्त है, जहाँ से फिर सबको मौत भी मिलती है!

सुनीता खुले पत्थर पर सो रही है। तकिया बाँह का भी नहीं है। वही है और कुछ भी नहीं है, और वह सो रही है। ओह, रेशमी वस्त्र चाँदनी में कैसे खिल रहे हैं! और यह मुखड़ा विनिद्रित, सम्पुटित कैसा प्यारा लग रहा है! कैसा प्यारा और कैसा जहर!

हरिप्रसन्न इस मूरत को बँधा-खड़ा सा देखता रहा। क्या तूफान-सा उसके अन्दर मचा! इस पदार्थ ने जैसे उसके भीतर अणु-अणु को झकझोर दिया है। मानों उनकी सारी अहन्ता को तोड़कर चूर कर दिया है। उसे आता है ऐसा क्रोध; ऐसी स्पर्धा और ऐसा सम्मोह और ऐसी याचकता कि नहीं जानता कि इस लेटी हुई नारी को दोनों मुट्ठियों में जोर से पकड़कर, उसे मसलकर दल डालना चाहता है कि उसकी जान की लहू की बूँद-बूँद करके उसमें से चू जाए, या कि यह चाहता है कि आँसू बनकर वही स्वयं, समग्र का समग्र, अपने अणु-परमाणु तक इसके चरणों में बेसुध होकर, आँसू बनकर, बह उठे कि कभी थमे ही नहीं, सदा उन चरणों को धोता हुआ बहता ही रहे!

वह आया था कि बस, एक बेर उस सोती हुई को देख लेकर वह उन्हीं पाँव लौट जाएगा। लेकिन वह तो उस दर्शन को वहाँ पीने लगा। पीते-पीते क्या हुआ कि एकाएक बैठकर उस नारी के चरणों की उँगलियों को उसने धीमे से चूम लिया। ऐसे धीमे कि शायद ओठों ने छुआ भी नहीं।

किन्तु लहक तो लहकती ही गयी। फिर वह पास आ बैठा। धीमे से उसके हाथ को उठाया और मुँह में लगाया। शनैः-शनैः फिर सुनीता की देह पर अपने हाथ फेरना शुरू कर दिया। मद जैसे उस पर चढ़ता ही जाता था।

धीरे-धीरे सुनीता ने आँख खोली। नहीं, उसने आँख नहीं खोली। वह अपने शरीर पर आहिस्ता-आहिस्ता फिरते हुए इस पुरुष के हाथ का स्पर्श अनुभव करने लगी। कुछ देर तो वह यों ही पड़ी रही। फिर आँख खोलकर मानो कूजकर उसने कहा, ''हरि बाबू!''

हरिप्रसन्न ने अत्यन्त अवश स्वर में कहा, ''सुनीता!'' और ऐसे देखा जैसे माफी चाहता है।

''मैं कुछ नहीं जानता। मैं कुछ नहीं जानना चाहता। सुनीता! दो-तीन रोज मुझे और मिलेंगे। मैं कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा, नहीं जानता सुनीता!''

''तुम क्या चाहते हो, हरि बाबू?''

''क्या चाहता हूँ? तुम पूछोगी—क्या चाहता हूँ? तो सुनो, तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ। उसके बाद—।''

"तो मैं तो हूँ, तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते हो?"

हरिप्रसन्न हाथ घुमाता-घुमाता सुनीता की बाहु पर रुक गया था; वहीं पर रुका रहा। बोला, "उठो, भाभी!"

"तुम्हें काहे की झिझक है? बोलो, मैंने कभी मना किया है? तुम मरो क्यों? मैं तुम्हारे सामने हूँ। इनकार कब करती हूँ? लेकिन अपने को मारो मत। हरि बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।"

हरिप्रसन्न का हाथ अब भी वहीं रुका रहा।

सुनीता ने कहा, "मुझे चाहते हो, हरि बाबू? खूब सोच लो।" सुनीता कहते-कहते उठ बैठी।

"तुम्हें ही चाहता हूँ, सुनीता।"

उठते-उठते में उसके सिर पर से साड़ी उतर गयी थी। वह साड़ी मानों लापरवाही में फिर उसके स्कन्ध-भाग से भी नीचे सरक आयी।

"मुझे चाहते? मैं यह हूँ।"

और कहकर सुनीता ने अपनी देह का वस्त्र अलग करना शुरू किया।

हरिप्रसन्न अचकचाया-सा बोला, "भाभी!"

सुनीता की वाणी में व्यंग्य मालूम हुआ, न झल्लाहट। उसने कहा, "मुझे ही चाहते हो न? मुझे लो।"

और उसने अपने चारों ओर से साड़ी हटाना शुरू कर दिया।

हरिप्रसन्न बेहद घबड़ा कर बोला, "भाभी!"

"क्या चाहते हो, हरि बाबू? मुझे ही चाहते हो न? वह साड़ी है, मैं नहीं हूँ। मैं यह हूँ।"

और कहते-कहते साड़ी बिलकुल अलग कर दी।

हरिप्रसन्न को कुछ सूझे नहीं सूझता था। उसके शरीर पर अब शेष बचे बॉडी को खोलने की चेष्टा में लगे हुए सुनीता के हाथों को जोर से पकड़कर, मानो खींच कर कहा, "भाभी! भाभी!"

किन्तु सुनीता तनिक स्मित के साथ बोली, "वह तो बाधा है, हरि उसके रहे मुझे कैसे पाओगे? उसे उतर जाने दो, तब मुझे लेना, खुली मुझको ही लेना। मुझको ही नहीं चाहते?"

और अपने हाथ छुड़ा कर अपने शरीर से चिपकी हुई बॉडी को उसने फाड़ दिया। वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गिरा।

हरिप्रसन्न ने दोनों हाथों से अपनी आँखें ढँक लीं। उसके मुँह से शब्द नहीं फूट सका। सर्वथा पराभूत वह अपने पराजय में गड़ जाने लगा। लज्जा ने उसे जमा दिया। मानों काटो तो लहू नहीं। धरती फट क्यों न गयी कि वह गड़ जाता।

सुनीता बोली, ''हरि, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाये देती हूँ। वही मुझको ढँक रहा है। मुझे चाहते हो न! मैं इनकार नहीं करती। यह लो।''

इस पर हरिप्रसन्न ''भाभी-भाभी!'' कहता हुआ हाथ से आँखें मीचे-मीचे उठा और मुँह फेरकर वहाँ से चल पड़ा। कहा, ''भाभी, बस। मुझे मारो मत, मारो मत।''

वह चलता चला। पास न रहा, दूर चला गया—दूर चला गया।

सुनीता उसी दिगम्बर-प्राय: अवस्था में वहाँ कुछ देर बैठी रही। अनन्तर उसने अपने वस्त्र फिर पहने और उस फटी हुई बॉडी के कपड़े को तहकर सुरक्षित रख लिया।

दिन आने की धमकी दे रहा था। चार बजे सुनीता वहाँ से उठी। हरिप्रसन्न ज्यादा दूर नहीं था। वह बैठा था। वह परास्त था, पुचकारा-सा शान्त था। ठोड़ी उसकी हथेली पर टिकी थी और कोहनी जाँघ पर। वह मानो इस अनबूझ विश्व-ग्रन्थ में उलट गये हुए एक अर्द्ध-विराम के चिह्न की भाँति वहाँ बैठा था, मानो निखिल प्रवाह के बीच क्षण की एक चुप को चिह्नित करने के लिए ही वह है, अन्यथा वह कुछ नहीं है, मात्र एक बूँद है।

सुनीता ने कहा, ''हरि बाबू, अब दिन निकलेगा। हम लोग चलें।''

हरिप्रसन्न ने सुनीता को बिना देखे कहा—''चलो।''

तब मोटर खोजकर हरिप्रसन्न वेगपूर्वक उसे चलाता हुआ सुनीता के घर आ गया। शीघ्रतापूर्वक उतरकर पिछली सीट की खिड़की उसी भाँति खोलकर खड़ा हो गया, कुछ बोला नहीं।

सुनीता उतर आयी। उसने कहा, ''आप कितनी देर में घर आएँगे?''

हरिप्रसन्न ने जैसे चौंककर कहा, ''मैं?''

सुनीता घबरायी-सी बोली, ''नहीं आएँगे?''

हरिप्रसन्न ने फीकी मुस्कराहट के साथ कहा, ''देखिए, भाग्य है!''

सुनीता ठिठक रही। बोली, ''मैं देखती हूँ, आप शायद नहीं आएँगे!''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी जी, सब भाग्य है। भाग्य लाया तो आएँगे, पर वह लाएगा?''

सुनीता अपने जीने का ताला खोलने बढ़ गयी थी। अब सहसा लौट आकर और हरिप्रसन्न के निश्चल दक्षिण हाथ को अपने हाथों में थामकर हरिप्रसन्न की आँखों में देखकर उसने कहा, ''हरि बाबू, अगर कह सकते हो कि तुम मुझसे प्रेम नहीं करते, तो कहो, बोलो, कहो।''

''भाभी!''

''तो क्या मैंने तुम्हें जानने की भूल की?''

हरिप्रसन्न ने कहा, ''भाभी, मैं कहता हूँ।''

''कहो कि मैं अपने को नहीं मारूँगा।''

''नहीं मारूँगा।''

''तो हरि बाबू, तुम तुम हो। मेरी ओर देखो। तुम जानते हो, हम प्रेम नहीं जानते, ऐसा नहीं है।'' सुनीता की आँखें भर आयीं, ''मेरी ओर देखकर तुम यह भी क्यों न कह सको हरि, कि जिससे मैं कहूँगी उससे शादी कर लोगे?''

यह सुनकर हरिप्रसन्न ने मोटर की खिड़की का दरवाजा पकड़ लिया और मानों उसे जल्दी हो। वह उसमें बैठने को बढ़ा।

सुनीता बोली, ''नहीं कह सकोगे?''

हरिप्रसन्न ने सुनीता की आँखों में ही देखते हुए कहा, ''नहीं, भाभी! नहीं।''

और हरिप्रसन्न सीट की ओर बढ़ा। मोटर पर चढ़ता ही था कि सुनीता ने झुककर उसके चरणों की रज ले ली।

अब पलभर भी वहाँ टिकना हरिप्रसन्न के लिए असम्भव हो गया।

मोटर के इंजन ने घर्र-घर्र किया, और हरिप्रसन्न आँख से ओझल हो गया।

सुनीता ने नहीं देखा कि मोटर कहाँ गयी और तुरन्त उस ओर से पीठ मोड़कर जीना खोलकर चढ़ती हुई पहुँच गयी वह अपने घर।

42

जब श्रीकान्त लौटा, सत्या सोयी न थी। इतनी देर में श्रीकान्त को लौटा देखकर उसने निश्चय मन में जान लिया कि वह घर होकर आये हैं और घर उन्हें बन्द मिला है। किन्तु सत्या किसी तरह की बात करने के लिए उस समय आगे बढ़कर श्रीकान्त के पास नहीं आयी।

सवेरा हो गया। अब श्रीकान्त जाएँगे। उनके मुख पर किसी प्रकार की छाया देखने में नहीं आती है। सत्या ने आकर कहा, ''आपको नींद ठीक आयी, जीजाजी।''

श्रीकान्त ने कहा, ''खूब नींद आयी।''

सत्या, ''मैंने गाड़ी को कह दिया है। वह अभी ठीक होकर आ रही है।''

श्रीकान्त, ''भला किसलिए?''

सत्या, ''आप जाएँगे न?''

श्रीकान्त, ''पगली, ताँगे से जाऊँगा कि गाड़ी से! कोई मुझे सुनना है कि मैं क्यों रात को यहाँ रहा, सीधा क्यों नहीं घर चला आया। जानती नहीं तू अपनी बहिन

को ? गाड़ी उसने देखी कि कहेगी रात को वहीं रहे होंगे। और खूब बिगड़ेगी। तू भी सत्या पगली है!''

सत्या का जी जीजाजी की यह बात सुनकर विस्मय से भर गया। वह इस जीजा जी के समक्ष मन ही मन नत-मस्तक हुई।

उसने कहा, ''तो ताँगे के लिए कह दूँ?''

''हाँ, कहो।''

सत्या का मन ज्यों-ज्यों इस जीजा के प्रति स्नेह और व्यथा से भरता आता है, त्यों-ही-त्यों वह जीजा के प्रति कठिन और विरुद्ध पड़ती जाती है। उसने कहा, ''जीजाजी, मैं भी साथ चलूँ?''

श्रीकान्त ने उसकी ओर देखकर कहा, ''अभी क्यों, शाम को आना।''

तब सत्या ने भी अबोध-सी बनकर कहा, ''शाम को तो मुझे पढ़ने आना है ही।''

श्रीकान्त ने इस बात पर सत्या लड़की को देखा। क्या वह अपने हृदय में नहीं जान गया है कि अपनी जीजी को ओट में कर रखने के लिए ही कल शाम इस सत्या ने श्रीकान्त को यहाँ टिका रखने के वे भाँति-भाँति के जतन किये थे। फिर भी यह लड़की क्या कह रही है!

श्रीकान्त ने कहा, ''पढ़ने! हाँ, पढ़ने तो आओगी ही!''

इस बातचीत में दोनों ने दोनों को समझ लिया। फिर भी दोनों ने यही व्यक्त किया कि मानो वे वास्तविक बात से अनभिज्ञ हैं।

जब श्रीकान्त घर आया, सुनीता आँगन को बुहार रही थी। उसको देखते ही सुनीता ने हाथ से बिना बुहारी छोड़े कहा—''आ गये! कब आये!''

श्रीकान्त, ''आ ही रहा हूँ।''

सुनीता, ''बड़े दिन लगा दिये।''

श्रीकान्त, ''लग ही गये।''

सुनीता, ''अभी आ रहे हो।''

श्रीकान्त, ''देखती तो हो अभी आ रहा हूँ।''

सुनीता ने उस समय कहा, ''अच्छा ही हुआ। नहीं तो रात आते दिक्कत रहती।''

श्रीकान्त ने अनायास ही कहा, ''क्या-आ?''

''घर बन्द मिलता। मैं चली गयी थी।''

''कहाँ चली गयी थी?''

श्रीकान्त ने पूछा और अपने आप कहा, ''और जाती कहाँ? बहुत-से-बहुत सिनेमा चली गयी होगी।'' कहकर श्रीकान्त अपने कमरे की ओर बढ़ गया।

सुनीता आँगन बुहारती रही।

थोड़ी देर में श्रीकान्त ने आकर सामने खड़े होकर पूछा, ''हरिप्रसन्न कहाँ है?''

''मालूम नहीं।''

''चला गया?''

''हाँ, चले गये।''

''कहाँ चला गया, क्यों गया, यह भी कुछ जानती हो? मैंने तुमसे कहा था कि उसे जाने मत देना।''

''वह रुके नहीं। मुझसे नहीं रुके। कहाँ गये, नहीं जानती। क्यों गये, यह भी ठीक नहीं जानती। उन्होंने कहा कुछ नहीं।''

''क्या, कब?''

''कल रात।''

''कल रात?''

सुनीता ने कहा—''बल्कि आज सवेरे।''

श्रीकान्त वहीं आँगन में घूमने लगा। मानों उसे अपने से झगड़ना पड़ रहा हो और वह अपने से तंग हो। कुछ देर वह टहलता ही रहा और दो कदम के फासले पर सुनीता बुहारी देती रही।

एकाएक श्रीकान्त रुका। क्या वह ठिठका? शायद, किन्तु तभी वेग से बढ़कर उसने दोनों हाथों से सुनीता को उठा लिया, और वहीं आलिंगन में बाँध लेना चाहा।

सुनीता ने कहा, ''हें, देखो, क्या करते हो!''

और वह अलग होकर फिर बुहारी करने में लग गयी।

इस व्यापार में सुनीता के चेहरे पर मानों नव-वधू जैसा भाव आ गया। मानों कहती हो—''मैं तो सदा तुम्हारी हूँ, फिर छिः छिः! मेरे लिए यह प्रेम का आवेग कैसा? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो? मुझे तनिक सँभलने भी तो दो।'' और वह बुहारी से आँगन बुहारने में ही लगी रही।

जिस मुख पर पुलकित फिर भी रुद्ध क्रीड़ा की लाली छा गयी है, उसकी विमलता, उसकी आभा को देखकर श्रीकान्त के भीतर कहीं से फूटता हुआ सन्देह एकदम अपनी ही लज्जा में गलकर खो गया। श्रीकान्त ने इस एक ही क्षण में अद्भुत स्वास्थ्य-लाभ किया।

उसने कहा, ''रानी, हरिप्रसन्न क्या सदा के लिए गया? वह लौटेगा नहीं?'' सुनीता ने कहा, ''मैं जानती नहीं। सच, नहीं जानती।''

श्रीकान्त चुप रहा।

थोड़ी देर बाद सुनीता ने कहा, ''वह तसवीर छोड़ गये हैं, उसका क्या करना होगा?''

"क्या करना होगा? क्यों, उसे जड़कर अपने यहाँ लगाएँगे। बोलो कहाँ लगाएँ?"

सुनीता ने कहा, "मैं समझती हूँ, उन्हीं वाले कमरे में ठीक रहेगी। वह स्टडी-रूम भी है।"

श्रीकान्त ने उसी दिन उस चित्र को रुचि-पूर्वक जड़वाया और ऐसे स्थान पर लगवा दिया कि जिससे स्टडी-रूम में घुसते ही पहले उस पर निगाह पड़े। यह कमरा अब से उस चित्र को शीर्ष पर धारण करके उसकी आँखों तले स्वयं सदा बिछा ही रहेगा।

सुनीता एक समय जब उस चित्र को देखकर बहुत कुछ समझ रही थी, फिर भी जैसे समझने को उसमें अभी सभी कुछ बाकी रह जाता था; और उस सब कुछ को भी समझ लेना चाह रही थी, तब पीछे आकर श्रीकान्त ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "सुनो, मैं दावे से कहता हूँ, इस तसवीर की कीमत बहुत है। एक सौ नहीं है, कई सौ है। हम इसके लिए ईश्वर के और हरिप्रसन्न के कृतज्ञ हैं। कीमत के लिए नहीं तसवीर के लिए। हरिण के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये-लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है, उसके लिए वह गाँठ है। वह गाँठ उसे तो मौत लाती है, किन्तु उस हरिण के पास वह ही एक भाग्य की देन है। उसे ही वह दुनिया को दे सकता है। दुनिया उसी को कस्तूरी कहती है, उसी पर रीझती है, उसी के लिए उसे मारती है। यह चित्र सुनीता, हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है। वह यह है जिसे हम आर्ट कहेंगे और बहुमूल्य बनाएँगे। इसीलिए तो कि इसमें बँधा है प्रति-क्षण उसके प्रत्येक क्षण में स्पन्दित होता रहने वाला वह प्रश्न, वह जिज्ञासा, वह आकाँक्षा जो हरिप्रसन्न के जीवन का जीवन थी, जिसने उसे सदा यों भटकाये रखा। आज क्या मैं नहीं जानता कि वह गाँठ उसके भीतर से निकालने में उपलक्ष्य तुम बनी। हाँ, तुम, मैं इसके लिए तुम्हारा चिर कृतज्ञ हूँ, सुनीता! दुनिया जब यह जानेगी, वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्बन्ध में मेरा पतित्व इस कलाकृति में भरी व्यथा के समक्ष मात्र थोथा ही तो कहीं नहीं है।"

सुनीता ने अपने स्वामी के वक्ष में मुँह टिका लिया।

"सुनीता, अब भी क्या हरिप्रसन्न में ग्रन्थि अवशिष्ट है? उसे क्या फिर बुलाने का साधन नहीं हो सकेगा?"

सुनीता ने कहा, "मैं तुमसे सच कहती हूँ, मैंने उनसे यही कहा कि वह जावें नहीं, रुकें। मैं तुमसे सच कहती हूँ। अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गये हैं। मुझे लगता है।"

"देखना होगा, कहाँ गया है। बट अवर क्वीन कैन डू नो राँग।"

किन्तु सुनीता ने तो मानों यह सुना ही नहीं। उसने कहा, ''लेकिन अब मुझे छोड़कर तुम न जाना। विधाता ने हमें व्यर्थ ही नारी बनाया है। इस प्रार्थना का अधिकार क्या हमें पति के निकट भी न होगा कि स्वामी से कहें, 'नाथ, हमें छोड़ कर जाना मत।' इस अधिकार में तो तुम सदा मेरे हो।''

श्रीकान्त ने अपने वक्ष में टिके हुए सुनीता के चेहरे को धीमे-धीमे थपकते हुए हँसकर कहा, ''उस तसवीर में जिसको चिर-जिज्ञासा में हरिप्रसन्न ने 'तू' से सम्बोधन किया है वह पीछे कुछ और है, पहले नारी है। मैं भी क्या तुमसे कहूँ कि अरी ओ छलनामयी! अरी ओ तू!''

सुनीता ने छिटककर ब्याज-क्रीड़ा के भाव से कहा, ''हटो-हटो।''

□

त्यागपत्र

ज्ञान जानने में नहीं, वैसा बनने में है।

—जैनेन्द्र कुमार

प्रारम्भिक

सर एम दयाल जी इस प्रान्त के चीफ जज थे और जजी त्यागकर इधर कई वर्षों से हरिद्वार में विरक्त जीवन बिता रहे थे। उनके स्वर्गवास का समाचार दो महीने हुए पत्रों में छपा था। पीछे कागजों में उनके हस्ताक्षर के साथ एक पाण्डुलिपि पायी गयी, जिसका संक्षिप्त सार इतस्ततः पत्रों में छप चुका है। उसे एक कहानी ही कहिए, मूल लेख अँग्रेजी में है। उसी का हिन्दी उल्था यहाँ दिया जाता है।

कहानी में से स्थानों और व्यक्तियों के नाम और कुछ ऐसे ही ऐहिक विवरण अनिवार्य न होने के कारण बदल या कम कर दिये गये हैं।

1

...नहीं भाई, पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी। जज हूँ, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ। पर उस तराजू की जरूरत को भी जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी को पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वे अपनी जाने। मेरे बस का वह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थीं, यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ। पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है। मैंने अपने चारों ओर तरह-तरह की प्रतिष्ठा की बाड़ खड़ी करके खूब मजबूत जमा ली है। कोई अपवाद उसको पार कर मुझ तक नहीं आ सकता, पर उन बुआ की याद जैसे मेरे सब कुछ को खट्टा बना देती है। क्या वह याद मुझे अब चैन लेने देगी! उनके मरने की खबर अभी पाकर बैठा हूँ। वह सुखपूर्वक नहीं मरीं, पर इतना तो मैं उनकी मौत के दसियों वर्ष पहले से जानता था। फिर भी जानना चाहता हूँ कि अन्त समय क्या उन्होंने अपने इस भतीजे को भी याद किया था? याद किया होगा, यह अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हम लोगों का असली घर पछाँह की ओर था। पिता प्रतिष्ठा वाले थे और माता अत्यन्त कुशल गृहिणी थीं। जैसी कुशल थीं, वैसी कोमल भी होतीं तो? पर नहीं, उस 'तो— ?' के मुँह में नहीं बढ़ना होगा। बढ़े कि गये। फिर तो सारी कहानी उस मुँह में निगलकर समा जाएगी और उसमें से निकलना भी नसीब न होगा। इतना ही हम समझें कि माँ जितनी कुशल थीं, उतनी कोमल नहीं थीं। बुआ पिताजी से काफी छोटी थीं। मुझसे कोई चार-पाँच वर्ष बड़ी होंगी। मेरी माता के संरक्षण में मेरी ही भाँति बुआ भी रहती थीं। वह संरक्षण ढीला न था और आज भी मेरे मन में उस अनुशासन की कड़ाई के लाभालाभ पर विचार चला करता है।

पिताजी दो भाई थे और तीन बहनें। भाई पहले तो ओवरसियरी में युक्त प्रान्त के इन-उन जिलों में रहे। फिर एकाएक, उनकी इच्छा के अनुकूल उन्हें बर्मा भेज दिया गया। वह तबसे वहीं बस गये और धीमे-धीमे आना-जाना एक राह-रस्म की बात रह गयी। इधर वह सिलसिला भी लगभग सूख चला था। दो बड़ी बहनें विवाहित होने के बाद प्रसव-संकट में चल बसी थीं। अकेली यह छोटी बुआ रह गयी थीं।

पिताजी उनको बड़ा स्नेह करते थे। उनकी सभी इच्छाएँ वह पूरी करते। पिता का स्नेह बिगाड़ न दे, इस बात का मेरी माता को खास ख्याल रहता था। वह अपने अनुशासन में सावधान थीं। मेरी बुआ को प्रेम करती थीं, यह तो किसी हालत में नहीं कहा जा सकता; पर आर्य गृहिणी का जो उनके मन में आदर्श था, मेरी बुआ को वे ठीक उसी के अनुरूप ढालना चाहती थीं।

बुआ का तब का रूप सोचता हूँ, तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसको विधाता देता है। जब देता है, तब कदाचित् उसकी कीमत भी वसूल कर लेने की मन-ही-मन नीयत उसकी रहती है। पिताजी तो बुआ की मोहिनी मूरत पर रीझ-रीझ जाते थे। खैर, उस बात को छोड़ें। मेरी और बुआ की बहुत बनती थी। वह शहर के बड़े स्कूल में बग्घी में पढ़ने जाती थीं और घर आकर जो नयी शरारतें वहाँ होतीं, अकेले में सब मुझको ऐसा सुनाती थीं। आज मास्टरजी को ऐसा छकाया, कि प्रमोद, तुझे क्या बताऊँ। कहकर वह ऐसा ठहाका मारकर हँसतीं कि मैं देखता रह जाता। उस समय मुझे कहानी की परियों का ध्यान हो आता और मैं मुग्ध-भाव से अपनी बुआ की ओर आकृष्ट हो रहता।

कहतीं—प्रमोद, वह हैं नहीं गणित के मास्टर! शीला ने उनकी कुर्सी की गद्दी में पिन चुभोकर रख दी, शीला बड़ी नटखट है। मास्टर की एक आँख तूने नहीं देखी प्रमोद! मास्टर देखते इस तरफ हैं तो वह आँख किसी और तरफ देखती है। पिन जो चुभी तो खूब बिगड़े। डपटकर बोले—यह किसकी शरारत है? वह खड़ी हो जाय। सब लड़कियाँ सहमी बैठी रहीं। शीला ऐसी हो गयी, जैसे ऊद-बिलाव के आगे मूसी। मास्टर ने बेंत फटकार कहा—मैं तुममें से एक-एक को पीटूँगा। सचमुच उनको बहुत गुस्सा था। उनका गुस्सा देखकर सब लड़कियाँ एक-दूसरे की तरफ देखने लगीं। यह मुझको बुरा लगा। मैंने खड़े होकर कहा—यह मेरा कसूर है, मास्टरजी। मास्टरजी पहले तो मुझको देखते-के-देखते रहे। फिर कहा—यहाँ आओ। मैं चली गयी। कहा—हाथ फैलाओ। मैंने हाथ फैला दिया। उस फैली हथेली पर उन्होंने तीन-चार बेंत मारे। मैंने समझा था कि और मारेंगे। पर जब बेंत उन्होंने अपने हाथ से अलग कर दिया तो मैंने भी अपना हाथ खींच लिया। सच कहूँ, प्रमोद, मुझे कुछ भी चोट नहीं लगी। मैं उनकी उस आँख की तरफ देख रही थी। मास्टरजी मुझे देख रहे थे, पर वह आँख जाने कहाँ देख रही थी। अरे प्रमोद, तू उन मास्टर को एक बार तो जरूर ही देख। फिर मास्टरजी ने चिल्लाकर कहा—अब तो नहीं करेगी? मैं चुपचाप खड़ी रही और सोचती रही कि एक बार तो सचमुच का कसूर करके देखूँगी। मास्टर जी ने चिल्लाकर कहा—जाओ। मैं अपनी जगह पर आ गयी। शीला मेरे पास बैठती है! वह मुझे ऐसे देखने लगी, जैसे खा जाएगी। मैंने कहा—दुत् पगली! उसने एक हाथ से मेरे हाथ को वहीं डेस्क पर रक्खे-रक्खे दबाया। उसकी आँखें बहुत फैली हुई थीं।

शीला बड़ी पगली लड़की है। मैंने कहा—शीला, क्या करती है? देख, मास्टर की वह आँख मुझे देख रही है। प्रमोद, तू शीला को जानता है? शीला बड़ी अच्छी लड़की है। पर नटखट भी है। हम दोनों बहनेली हो गयी हैं। पर शीला पगली है। स्कूल से मैं आने लगी, तब और कुछ नहीं तो मेरे गले लगकर रोने लगी। मैंने उसके गाल पर चपत मारकर कहा—क्या है शीला? क्या है? वह फफक-फफककर रोती रही, बोली कुछ नहीं। प्रमोद तुझे एक रोज शीला के घर ले चलूँगी। चलेगा?

कहते-कहते थोड़ी देर बाद एकाएक जाने उन्हें क्या याद आ जाता, चिहुँक पड़तीं। कहतीं—अरे, चल रे चल। नहीं तो तेरी माँ बिगड़ेगी। मेरी माँ का बुआ सदा डर मानती थीं और उन्हें मेरे सामने सदा—तेरी माँ, कहा करतीं।

बुआ का पढ़ने में विशेष मन नहीं था। पर वह किताब-कापियाँ अपनी बहुत अच्छी तरह रखती थीं और स्कूल जाने का उन्हें बड़ा चाव था। स्वभाव बड़ा हँसमुख था और निर्द्वन्द्व। बस, माँ के सामने जरा सकुचायी रहती थीं।

बचपन की बहुत-सी बातें याद आती हैं। वह कैसे मुझे कपड़ा पहनाती थीं, कैसे चपत मार-मार कर खिलातीं, कैसे प्यार करतीं और कैसे अपने भेद की सब बातें मुझसे कहती थीं—यह सभी कुछ याद आता है।

धीमे-धीमे हम बड़े होते गये और बुआ बुद्धिमती होती गयीं। मुझे उनकी उपस्थिति में बड़ा ढाढ़स रहता था और मैं उनके साथ के लिए हर वक्त भूखा रहता था। जब वह मुझे मिलतीं, बड़े मीठे-मीठे उपदेश दिया करती थीं। देखो बेटा, बड़ों का कहना मानना चाहिए। अच्छे लड़के आगे जाकर बड़े आदमी बनते हैं। क्यों भैया प्रमोद, तुम बड़े आदमी नहीं बनोगे? कभी वह मुझे बेटा कहतीं, कभी भैया कहतीं, कभी कुछ भी और न कहतीं, सिर्फ 'गदहा' कहतीं।

वह नवीं क्लास में थीं या दसवीं में, मुझे ठीक याद नहीं। मेरी बारह वर्ष की अवस्था होगी। मेरा मन उस समय बिलकुल बुआ के बस में था। वह मुझे सचमुच बहुत प्यार करती थीं। लेकिन तभी मैंने अनुभव किया कि उनके प्यार का रूप बदल गया है। वह मुझे अब उपदेश नहीं देतीं बल्कि अपनी छाती से लगाकर जाने पार कहाँ देखने लगती हैं। वह अब मुझसे बातें अधिक नहीं करतीं। मैं पूछता—बुआ, क्या बात है? आज स्कूल में क्या हुआ? इस पर वह कहतीं—कुछ नहीं भैया, कुछ नहीं हुआ। यह कहकर जैसे उनसे मेरी ओर देखा न जाता। तब मैं हाथ पकड़कर उनकी आँखों में देखते हुए कहता—देखो बुआ, तुम हमें कुछ बताती नहीं हो! इस पर दोनों हाथों को अपने बायें हाथ में लेकर दायें हाथ से मुझे धीरे चपत मारकर कहतीं—हैं न प्रमोद बाबू पागल!

मैंने उस समय यह भी अनुभव किया कि उन्हें अब एकान्त उतना बुरा नहीं लगता। वे शाम के वक्त छत पर खटोला डाले ऊपर उड़ती हुई चीलों को ही चुपचाप

देख रही हैं। कभी पतंग के पेंच देखती हैं, और कटी हुई पतंग पर, जब तक ओझल न हो जाए, आँख गाड़े रहती हैं। और नहीं तो खटोले पर पेट के बल लेटकर कोयले से धरती पर कीरम-काँटे ही खींचती हैं।

मैं ऊपर छत पर पहुँचता तो उन्हें इस भाव में देखकर रुका रह जाता। जब उन्हें आकर मेरे वहाँ खड़े होने का बोध होता तो चौंकी-सी एकदम कहतीं, ''अरे प्रमोद, तू कहाँ था ?''

''यहीं था।''

''क्यों रे, तू अब मुझसे बोलता भी नहीं।''

मैं बिना जवाब दिये, पास आकर खटोले पर उनके बराबर बैठ जाता। वह शनैः-शनैः मुझको अपने ऊपर ही लुढ़का लेतीं। कहतीं, ''देख, पतंग देख, पतंग।''

मैं कहता, ''हाँ।''

''तू पतंग उड़ाएगा ?''

मैं कहता, ''बाबूजी मना करते हैं।''

इस पर वह एकाएक मुझे अंक में भरकर उत्साह के साथ कहतीं, ''हम-तुम दोनों संग-संग पतंग उड़ाएँगे। ऐसी उड़ाएँगे कि खूब दूर! सबसे ऊँची, सबसे ऊँची! उड़ाएगा पतंग ?''

मैं कहता, ''पैसे दो, मैं लाऊँ।''

वह थोड़ी देर मुझे देखतीं। वह दृष्टि अनबूझ होती थी। मानो मैं उन्हें दीख ही न रहा होऊँ। मुझसे आर-पार होकर जाने वह क्या देख रही हैं। एकाएक शिथिल पड़कर कुछ लजाकर कहतीं, ''चल रे, पतंग से बालक गिर जाते हैं।''

इन्हीं दिनों की बात है। एक रोज स्कूल से वह काफी देर से लौटीं। माँ ने पूछा, ''कहाँ रह गयी थी ?''

''शीला के यहाँ चली गयी थी।''

उस दिन बुआ रोज से अस्थिर मालूम होती थीं। वह प्रसन्न थीं और किसी काम में उनका जी नहीं लगता था। उन्होंने मुझसे तरह-तरह के प्रस्ताव किये, तरह-तरह की बातें कीं। ''प्रमोद, एक रोज नहर के पुल चलना चाहिए। चलोगे ? बताओ तुम्हें मिठाई कौन-सी अच्छी लगती है ? घेवर! घेवर भी कोई मिठाई है! छिः देखो तुम पतंग नहीं लाये न! प्रमोद, मैं शीला के यहाँ रह गयी थी। तेरी माँ को कुछ ख्याल तो नहीं हुआ होगा! चल रे चल, प्रमोद, यहाँ क्या कमरे में बैठना। चल कर ऊपर हवा में बैठेंगे।—क्यों ?'' एक बात कहती थीं कि झट भूल जाती थीं। उस समय उनके मन में ठहरता कुछ नहीं था। न विचार न अविचार, जैसे भीतर बस हवा हो और मन हल्का-फुल्का बस उड़-उड़ आना चाहता हो। वह बेबात हँसती थीं और बेबात मुझे पकड़कर इधर-से-उधर खींचती थीं। उस दिन वह मेरी समझ में नहीं आ रही थीं।

मैंने कहा, ''बुआ, आज क्या बात है ?''

बोलीं, ''मैं बुआ हूँ! बुआ मुझे अच्छा नहीं लगता। प्रमोद, तू मुझे जीजी कहा कर, जीजी! शीला मुझे जीजी कहती है।''

मैंने कहा, ''मेरी तो बुआ हो।''

''मैं नहीं बुआ होना चाहती। बुआ! छीः! देख, चिड़ियाँ कितनी ऊँची उड़ जाती हैं। मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।''

मैंने कहा, ''चिड़िया?''

बोलीं, ''हाँ, चिड़िया! उसके छोटे-छोटे पंख होते हैं। पंख खोल वह आसमान में जिधर चाहे उड़ जाती है। क्यों रे, कैसी मौज है! नन्ही-सी चिड़िया, नन्ही-सी पूँछ। मैं चिड़िया बनना चाहती हूँ।''

उस रोज रात को यह मुझे बहुत देर तक अपने से चिपटाये रहीं। पूछने लगीं, ''प्रमोद, तू मुझे प्यार करता है ?'' सुनकर बिना कुछ बोले मैंने अपना मुँह उनकी छाती के घोंसले में और दुबका लिया। इस पर वह बोलीं, ''प्रमोद, मैं तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ।''

उस रोज के बाद कई दिन तक उन्हें स्कूल से आने में देर होती रही। एक रोज इतनी देर हुई कि नौकर को भेजना पड़ा और वह उन्हें शीला के घर से बुलाकर लाया।

उससे तीसरे रोज की बात है। मैं बाहर से घर में आया था। देखता हूँ कि माँ कहीं झपटी जा रही हैं। मुझे देखते ही ठिठकीं और असंगत भाव से पूछ बैठीं—''क्यों रे, कहाँ था ?'' माँ की मुद्रा देखकर मुझसे कुछ उत्तर नहीं बन पड़ा।

''चल, ला, बेंत तो ला।''

मैं सुनकर खड़ा रह गया। तब माँ ने चिल्लाकर कहा, ''सुनता नहीं है! जाकर बेंत ला।''

मुझे किसी बात का कुछ पता नहीं था। डर था कि मैं ही पिटूँगा। डरते-डरते बाबूजी के कमरे में से उठा लाकर बेंत मैंने दे दिया। इस पर वह बिना कुछ कहे-सुने पीछे वाली कोठरी में लौटकर चली गयीं। घुसते ही उन्होंने किवाड़ बन्द कर लिये और उसके बाद ही सपासप बेंत से किसी के पीटे जाने की आवाज मेरे कानों पर पड़ी। मैं वहीं गड़ा-सा रह गया। बेंत की पहली चोट पर तो एक चीख मुझको सुनाई दी थी, उसके बाद रोने-कलपने की कोई आवाज मुझे नहीं आयी। बेंत तड़ातड़ पड़ रहे थे। मुझे सन्देह हुआ कि कहीं बुआ तो नहीं हैं। पर वह सन्देह न टल सका, न पक्का ही हो सका। मैं बेबस भाव से वहीं खड़ा रह गया। मन सुन्न पड़ गया था और वह देर मुझे असह्य हो रही थी।

थोड़ी देर बाद माँ दरवाजा खोलकर बाहर आयीं। उनके ओंठ नीले थे और जिस हाथ में बेंत था, वह काँप रहा था। उनका चेहरा मानों राख से पुत गया था। ऐसा लगता

था कि माँ अगले क्षण अपने को ही बेंत से न उधेड़ने लगें। मानो अपने को नहीं मार रही हैं, तो उन पर बहुत जोर पड़ रहा है। वह मेरे सामने से होकर अपने कमरे में चली गयीं। जाते-जाते द्वार पर रुकीं और जोर से अपने हाथ के बेंत को दालान में फेंक दिया। बेंत मेरे पास आकर गिर गया।

मेरी कुछ भी समझ में न आ रहा था। मैं सकपकाया-सा खड़ा था। थोड़ी देर बाद मैं साहसपूर्वक उस कोठरी में गया। देखता क्या हूँ कि वहाँ बुआ औंधी हुई पड़ी हैं। उनकी साड़ी इधर-उधर हो गयी और बदन का कपड़ा बेहद मार से झीना हो गया है। जगह-जगह नील उभर आये हैं, कहीं लहू भी झलक आया है। बुआ गुमसुम पड़ी हैं। न रोती हैं, न सुबकती हैं। बाल बिखरे हैं और धरती पर पड़ी दोनों बाँहों पर माथा टिका है। मुझे वहाँ थोड़ी देर रहना भी असह्य हो गया। मुझसे कुछ भी नहीं बोला गया। बुआ के गले से लगकर मैं वहीं थोड़ा रो लेता, तो ठीक होता। परन्तु सम्भव न हुआ। मैं दबे पाँव लौट आया।

वह दिन था कि फिर बुआ की हँसी मैंने नहीं देखी। इसके पाँच-छः महीने बाद बुआ का विवाह हो गया। मानों जल्दी-जल्दी तत्परता के साथ सब व्यवस्था कर दी गयी। बुआ का उसी दिन से पढ़ना छूट गया था। वह उस दिन से सीने-पिरोने, झाड़ने-बुहारने और इसी तरह के और कामों में शान्त भाव से लगी रहती थीं। काम करते रहने के अतिरिक्त उन्हें और किसी बात से मतलब न था। न किसी की निगाह में पड़ना चाहती थीं। कपड़ा कोई धोबी का धुला नया पहनतीं, तो जल्दी मैला भी कर लेती थीं। मुझसे वह तब बची-बची रहती थीं। मुझे तो ऐसा दीखने लगा कि बाबूजी का भी चेहरा भारी हो गया है। वह बुआ से कभी-कभी विनोद करना चाहते हैं, पर बुआ को उत्तर में अत्यन्त अचंचल देखकर मानों फिर स्वयं अपने में मुँह लटकाकर रहते हैं। माँ का अजब हाल है। मुझे काम-बेकाम डाँटती-फटकारती रहती हैं। नौकरों को तो बहुत ही झिड़कियाँ सुननी होती हैं। फिर एकाएक फट पड़ती हैं। मैं सामने हुआ, मुझ पर टूटकर कहती हैं—''आँखें फाड़कर क्या देख रहा है, प्रमोद? बुआ से लेकर झाड़ू खुद नहीं लगायी जाती? आजकल के लड़के बस कामचोर होते हैं।''

अथवा कहतीं—''कहाँ गया वह बंसी? नहीं है? नहीं? सारा काम बेचारी लड़की को उठाना पड़ता है! अच्छा एक रुपया जुर्माना! ये नौकर हरामी होते जाते हैं।''

ऐसी बातें हर दिन कुछ-न-कुछ सुन पड़ती हैं। पर बुआ से सीधी बात माँ कुछ नहीं कहतीं।

ऐसे ही ब्याह के दिन आते गये और ब्याह हो गया। विवाह होने से पहले बुआ कई घण्टे अपनी छाती से मुझे चिपकाये बहुत-बहुत आँसू रोती रहीं। समझाने लगीं—

''भैया प्रमोद, बड़ों की आज्ञा सदा माननी चाहिए। सबका आदर करना चाहिए। सदा सच बोलना चाहिए। अच्छे लड़के ऐसे ही बनते हैं। प्रमोद, तू एक दिन बड़ा आदमी होगा न?''

मैं यों तो काफी बड़ा हो चला था, निरा बच्चा अब नहीं था, तो भी मैं उस बुआ के अंक में चुपचाप शावक-सा पड़ा रहता।

बुआ बोलीं, ''प्रमोद, तेरी बुआ तो मर गयी। तू उसे अब कभी याद मत करियो। कैसा राजा भैया है हमारा!'' उस समय मेरी आँखें भीग आयी थीं। लेकिन मैंने यह बुआ को पता नहीं चलने दिया और मुँह दुबकाये वहीं पड़ा रहा।

बुआ के जाते समय मैं खुलकर फूट-फूटकर रोया। मैंने किसी की शर्म नहीं की। मैंने चलकर घूँघट वाली बुआ का आँचल पकड़ लिया। कह दिया मैं बिना बुआ के अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा, नहीं करूँगा। माँ से कह दिया कि तू राक्षस है और मैं इस घर में पैर भी नहीं रखूँगा। इस पर बाबूजी ने वहीं-के-वहीं मुझे दो-तीन चपत जमा दिये। पर मैं नहीं उठा, नहीं उठा। आँचल छुटा तो मैं बुआ के पैरों में लिपट गया। उसके पैरों के बिछुओं को मैंने जोर से पकड़ लिया। इस पर बुआ ने झुककर मुझे पैरों पर से उठाया। घूँघट के भीतर उनकी आँखें आँसुओं से सूजी हुई थीं। बुआ ने मेरी ठोड़ी हाथ में लेकर मेरे मुँह की तरफ देखते हुए कहा, ''प्रमोद, तू मेरी बात नहीं मानेगा? मुझे जाने दे। मैं जल्दी आऊँगी।''

बुआ के उस आँसू भरे मुखड़े के आगे मेरी हठ बिलकुल गल गयी। मैंने पूछा, ''जल्दी जाओगी। मेरी कसम खाओ।''

''अपने प्रमोद की कसम खाती हूँ।''

पास ही माँ खड़ी थीं। उनका मुँह सूखा था। उनको देखकर जी हो आया कि मैं क्यों उनके गले नहीं लग जाऊँ और कहूँ, 'माँ! माँ!' उनकी ठोड़ी हाथ में लेकर कहूँ 'मेरी माँ! मेरी माँ!' इतने में बुआ ने मेरे हाथ में रेशम का रूमाल थमाया और एक झपट में वहाँ से चली गयीं। मैं सँभल भी न पाया था कि द्वार के आगे से मोटर जा चुकी थी।

2

बुआ के चले जाने के बाद मेरा चित्त घर में नहीं लगा। माँ मुझको समझाती थीं। कभी ऐसा भी होता था कि मैं माँ को समझाता था। पर ब्याह की धूमधाम के बाद घर में एकाएक सूनापन भी बहुत मालूम होता था।

चौथे रोज बुआ आ गयीं। ब्याह के वक्त मैंने अपने फूफा को देखा था। बड़ी-बड़ी मूँछें थीं और उम्र ज्यादा मालूम होती थी। डील-डौल में खासे थे। मुझे यह पीछे मालूम हुआ कि उनका यह दूसरा विवाह था। हमारी बुआ फूल-सी थीं। जब वह ससुराल से आयीं, मेरे लिए कई तरह की चीजें लायी थीं। उन्होंने मुझे एकान्त में ले जाकर कहा, ''प्रमोद, देखेगा, मैं तेरे लिए क्या-क्या लायी हूँ?''

पर मैं उन वस्तुओं को देखने को इतना उत्सुक नहीं था। मैं चाहता था कि बुआ मुझसे बातें करें। जैसे पहले सुख-दुख की बातें करती थीं, वैसे अब भी बतावें कि जिस ससुराल से वह आयी हैं वहाँ उनका क्या हाल रहा। चेहरे का रंग उतरा-सा क्यों है? अनमनापन क्यों आजकल उनकी तबीयत में रहता है? बुआ, मैं वही प्रमोद हूँ। देखो, मैं अब बच्चा नहीं हूँ। तुम कहकर देखो तो, मैं तुम्हारा सब दुख समझ लूँगा। मैं बालक नहीं हूँ बुआ। जो तुम्हें दुख देता है, उसकी मैं अच्छी तरह खबर ले सकता हूँ। मुझे चीज-वीज नहीं देखनी। बुआ मेरी, इस प्रमोद को अपने मन का कुल हाल नहीं बतलाओगी?

बिना बोले मैं उन्हें यह सब कह देना चाहता था। मुझे चुप देख उन्होंने कहा, ''क्यों रे, अपनी चीज तू नहीं देखेगा? चुप क्यों है?''

मैंने उनकी तरफ देखकर धीमे से कहा, ''दिखाओ।''

बुआ असमंजस में पड़ गयीं। बोलीं, ''यह तू कैसे बोल रहा है? क्या हुआ है तुझे?''

मैंने कहा, ''कुछ नहीं।''

''फिर क्या बात है?''

मैंने कहा, ''तुम मुझे पहले जैसा अब नहीं मानती हो।''

बुआ को शायद यह बात छू गयी। बोलीं, ''कैसा बोलता है रे! पहले जैसा नहीं मानती हूँ तो भला कैसा मानती हूँ''

''पराया मानती हो।''

यह सुनकर स्तब्ध-भाव से वह मुझे देखती रह गयीं। खींचकर अपनी गोद में मुझे लिटाकर बोलीं, ''प्रमोद, सच्ची-सच्ची कहूँ तो मैं ही परायी हो गयी हूँ। तुम सब लोगों के लिए मैं परायी हूँ। तेरी माँ ने मुझे धक्का देकर पराया बना दिया है। पर मुझे जहाँ भेज दिया है, प्रमोद, मेरा मन वहाँ का नहीं है। तू एक काम करेगा?''

बड़ी उत्सुकता से ऊपर उनके मुँह की ओर देखता रहा। कहना चाहता था कि तुम्हारा काम नहीं करूँगा तो प्रमोद बनकर मैंने यह जनम पाया क्यों है!

''करेगा?''

दुबारा यह प्रश्न सुनकर मैं तत्परता से उनकी गोद में उठ बैठा, ''अभी करूँगा, बुआ। कहो।''

वह कुछ देर एकटक मुझे देखती रहीं। फिर लज्जित भाव में मुस्कराकर बोलीं—''नहीं-नहीं, कुछ नहीं।''

मैंने तब उनका हाथ पकड़कर कहा, ''सच-सच बताओ, बुआ, मैं जरूर करूँगा।''

''शीला के यहाँ जाएगा?''

''जाऊँगा।''

''जाकर क्या करेगा?''

मैं असमंजस में उनकी ओर देखता रह गया। वह बोलीं, ''नहीं-नहीं, मैं हँसी कर रही थी। कोई काम नहीं।''

उसके बाद मानों हठपूर्वक अपनी लायी हुई चीजें मुझे दिखाने लगीं। और चीजों में से एक बन्दूक भी थी। वह मुझे बहुत पसन्द आयी। बुआ ने पूछा, ''बन्दूक तुझे अच्छी लगती है?''

मैंने कहा, ''बन्दूक से कौओं को मारा करूँगा। कौए मुझे बड़े बुरे लगते हैं।''

बुआ बोलीं, ''बन्दूक से आदमी भी मर जाते हैं, भैया। इसी से खिलौना लायी हूँ। मरना क्या होता है, क्यों रे, तू जानता है?''

''जानता हूँ।''

''मरकर आदमी मर जाता है।''

''मैं मर जाऊँ तो तू क्या करेगा?''

मैंने कुछ जवाब नहीं दिया, बुआ को घूर-घूरकर देखता रहा। मैं चाहता था कि वह जान जाएँ कि मैं बच्चा नहीं हूँ। मैं सब जानता हूँ। बुआ मौत की मजाक करें, वह बिलकुल ठीक बात नहीं है। वह मर सकती हैं, तो क्या मैं नहीं मर सकता! बड़े मजे में मर सकता हूँ। बुआ को यह बिलकुल मालूम नहीं है कि मैं किस आसानी से मर सकता हूँ। उनको पता भी नहीं, पर सच्ची बात यह है कि उनके बाद मैं जी ही नहीं सकता, जीऊँगा ही नहीं। लेकिन मैं हूँ तब तक देख लूँगा कि बुआ को मारने वाला कौन है।

अगले रोज एक कागज देकर मुझे शीला के यहाँ भेजा गया। मैं शीला को जानता था। उसके कोई बड़े भाई हैं, यह मैं नहीं जानता था। कागज उन्हीं के हाथों में देने को कहा गया था। शीला के बड़े भाई मुझे बड़े अच्छे लगे। मैंने जब यह कागज उन्हें दिया, तब उसे लेकर वह मेरी उपस्थिति को इतना भूल गये कि मुझे अपना अपमान मालूम हुआ। लेकिन फिर उन्होंने मुझे बहुत ही प्रेम किया, चूमा, गोद में लिया, कन्धे पर बिठाया और तरह-तरह की खानें की चीजें दीं। शीला भी मुझको अच्छी लगीं। मेरा जी हुआ कि कोई बहाना हाथ लगे, तो मैं यहाँ रोज आया करूँ। शीला के भाई ने भी एक चिट्ठी लिखकर मेरी जेब में रख दी। फिर कहा, ''तुम्हारा नाम क्या है?''

"प्रमोद।"

"बड़े बहादुर हो तुम।" यह कहकर धरती से उठाकर मुझे चूम लिया। फिर कहा, "यह कागज अपनी बुआ को ही देना, है ना?"

कागज मुझे अपनी माँ को भी देने को कहा जाता, तो भी मैं पहले बुआ को ही देता। मैंने कुछ जवाब नहीं दिया।

शीला के भाई ने चाकलेट के कई पैकेट मेरे कोट की दोनों जेबों में ठूँस दिये। कहा, "तुम बड़े अच्छे लड़के हो। कौन-सी क्लास में पढ़ते हो?"

"सेविन्थ क्लास।"

"सेविन्थ क्लास, खूब! प्रमोद, जाकर कहना मैं अभी एक महीने यहीं हूँ। समझे?"

मैं खूब समझ गया था।

"क्या समझे?"

"मैं एक महीना यहीं हूँ।"

शीला के भाई इस पर खूब हँसे।

"तुम नहीं भाई—मैं, मैं, मैं।"

जो खत लिखा था वह लिफाफे में बन्द नहीं था। बुआ ने भी ऐसे ही कागज मोड़कर दे दिया था। पर शीला के भाई मुझको इतने अच्छे लगे कि मैं उनकी लिखावट की सुन्दरता देखना चाहता था। मैंने उसे खोलकर देखा, उनके अक्षर मुझे बहुत ही सुन्दर मालूम हुए। मैंने सोचा कि मैं भी कभी ऐसी सुन्दर अँग्रेजी लिख सकूँगा या नहीं। खत के ऊपर का 'माई डियर' तो मुझे इतना अच्छा लिखा मालूम हुआ कि बहुत दिनों तक अपने पत्रों के 'माई डियर' को मैं वैसा ही बनाने की कोशिश करता रहा। घर आकर मैंने पत्र सीधा बुआ को दे दिया और वह उसको खोलकर तभी पढ़ने लग गयीं। खत बड़ा नहीं था लेकिन कई मिनट तक वह पढ़ती रहीं। यह भी भूल गयीं कि प्रमोद भी उनका कोई है और इस वक्त वह पास खड़ा है। काफी देर के बाद उन्होंने वहाँ से आँख हटायी, खत को धीमे-धीमे तह किया और मुझको देखा—मानो उस वक्त मुझे वह पहचान नहीं रही थीं। मानो सब भूल गयीं कि क्या था, क्या है, क्या होगा। फिर उसी बेबूझभाव से मुझे देखते रहकर मानो वह कुछ नहीं कर रहीं, जाने कौन कर रहा है। हल्के-हल्के चैतन्य उन्हें लौटा। मानो उन्होंने अब कुछ-कुछ जगत को पहचाना। थोड़ी देर बाद बोलीं, "प्रमोद, अब तू वहाँ कभी मत जाना। तुझको जवाब लाने को किसने कहा था? कभी किसी को कोई खत लाने की जरूरत नहीं है। समझा?"

मैं कुछ भी नहीं समझा था।

वह बोलीं, "इतना अनसमझ क्यों है प्रमोद! तू नहीं जानता कि मेरी शादी हो

गयी है!''

मैंने कहा, ''मैं जानता हूँ।''

बोलीं, ''तू कुछ नहीं जानता। तू गधा है। मेरे दिल में आग लग रही है।''

मैं चुप था।

''तू जानता है दिल की आग क्या होती है?''

किसी दिल की आग को सचमुच मैं नहीं जानता था। लेकिन उस समय बुआ को देखकर, उनकी हर क्षण-भर में होकर उसी क्षण बुझ जाने वाली अनबूझ मुस्कान को देखकर मेरे मन की पीड़ा बहुत घनी हो गयी थी। मन में होता था कि किस तरह मैं उनके काम आ जाऊँ कि उनका जी हल्का हो, और नहीं तो उनके गले लगकर फूट ही पड़ूँ।

उन्होंने कहा, ''देख प्रमोद, शीला के भाई का कोई पैगाम आया कि मैं छत से गिरकर मर जाऊँगी। मुझे उन्होंने क्या समझा है!''

मैं कहना चाहता था कि शीला के भाई ने कहा है कि वह अभी एक महीना यहीं हैं और वह मुझे बड़े अच्छे मालूम होते हैं; लेकिन तभी बुआ ने कहा, ''जाकर यह शीला से कह देना। मैं सच कहती हूँ, मैं मर जाऊँगी। मृणाल का कौल झूठा नहीं होता।''

बुआ ने यह ऐसे कहा मानों अभी काफी नहीं हुआ, अभी तो और भी पक्के तौर पर अपने को समझाना है कि ऐसी हालत में मरना ही होगा, कुछ भी अन्य सोचना-विचारना न होगा।

उस समय उनको घर पर बस चार-पाँच रोज ही रहना था। उनके बाद फूफा आएँगे और वह उन्हें ससुराल ले जाएँगे। ससुराल जाने के बारे में वह उत्साहित नहीं मालूम होती थीं। ज्यों-ज्यों जाने का दिन आता, उनकी निगाह कुछ बँधती-सी जाती थी। जहाँ देखतीं, देखती रह जाती थीं। जैसे सामने उन्हें और कुछ नहीं दीखता। सब भाग्य दीखता है और वह भाग्य चीन्हा नहीं जाता। ऐसी अपेक्षित पूछती हुई-सी निगाह से देखतीं मानो प्रश्न रोककर भी·उत्तर माँगती हों कि 'मैं कुछ चाहती हूँ, पर अरे कोई बताएगा कि क्या?'

अगले रोज फूफा आने वाले थे। रात में बुआ की तबीयत गिरी-गिरी हो रही थी। अपनी कोठरी में एक अनबिछे तख्त पर बैठी थीं। मुझसे बोलीं, ''प्रमोद मैं कल चली जाऊँगी।''

मैं चुप रहा। सिर दाब रहा था, दाबता रहा। बोलीं, ''अब रहने दे।''

मैंने कहा, ''दवा तो तुम खाती नहीं हो।''

सुनकर मेरी ओर उनकी दृष्टि बँध गयी। कुछ रुककर बोलीं—''एक काम करेगा, प्रमोद? शीला के भाई डाक्टरी पढ़ते हैं, मैं दवा का नाम लिख देती हूँ। तू उनसे

ले आएगा?''

मैं क्यों न ले आता! उन्होंने कागज पर अँग्रेजी में एक नाम लिखकर दे दिया और मैं उस पुर्जे को लेकर दौड़ गया। पर उस पुर्जे को लेकर तो जैसे शीला के भाई एकाएक मुझे पीटने को उतारू हो गये। धमकाकर बोले, ''यह क्या है?''

''बुआ ने दवाई मँगायी है।''

''दवा?''

''हाँ, दवा। उनके सिर में दर्द है।''

शीला के भाई ने आगे कुछ नहीं कहा। जोर-जोर से कमरे में इधर-से-उधर टहलने लगे। कागज तुड़-मुड़कर उनके हाथों में चिन्दी हो गया। उस कागज की चिन्दी पर उनकी चुटकी सख्ती से कस गयी। ऐसे ही उनके हाथों की नसों का तनाव देखकर मेरे मन में जाने क्या-क्या भाव होने लगे।

कुछ देर के बाद मैंने साहसपूर्वक पूछा, ''मैं जाऊँ?''

शीला के भाई यह सुनकर टहलते-टहलते रुक गये। मुझे देखकर विनम्र भाव से वह बोले, ''मैं चलकर उनकी तबीयत का हाल देख नहीं सकता हूँ प्रमोद? मुझे ले चलोगे?''

मैंने कहा, ''नहीं! जीजी छत से गिरकर मर जाएँगी।''

इस पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैंने पूछा, ''दवा नहीं दीजिएगा?''

उन्होंने मेरे मुँह पर मानों ललकारकर कहा, ''दवा?''

''नहीं दीजिएगा तो मैं जाऊँ?''

इस पर उन्होंने अपनी चुटकी से दबी कागज की गाँठ को खोला और दोनों हाथों के जोर से उस छोटे कागज के हजारों टुकड़े कर डाले और फिर उन सबको गुड़ी-मुड़ी करके मेरी तरफ फेंक दिया। कहा, ''यह है दवा। जाओ, ले जाओ।''

इसके बाद किसी विशेष बात होने की मुझे याद नहीं। अगले रोज फूफा आये। मेरा मन उनकी तरफ खुला नहीं। न उन्होंने ही मुझसे कुछ पूछा। बुआ की तबीयत कुछ विशेष गिर गयी थी। लेकिन शिकायत कोई खास न थी। फूफा ने सफर की सब सुविधा का प्रबन्ध कर दिया। बुआ को तनिक कष्ट न होगा। यहाँ से जगह तीन सौ मील ही तो है। मोटर में जाएँगे, न हुआ तो रास्ते में दो-एक जगह पड़ाव कर लेंगे। डाक-बंगले जगह-जगह हैं ही। पिताजी निश्चिन्त रहे कि फूफा हमारी बुआ को जरा भी किसी तरह की तकलीफ न होने देंगे।

पिता ने कहा, ''अच्छा-अच्छा। लेकिन।''

फूफा ने कहा, ''जी आप बिलकुल फिक्र न कीजिए। उन्हें तकलीफ किसी किस्म की न होगी।''

पिता ने कहा, ''उसकी तबीयत जरा...।''

फूफा ने बताया, ''यहाँ की आबोहवा किसी कदर—जरा तबदीली चाहिए। सितम्बर शुरू हुआ कि कश्मीर जाने का इरादा रखता हूँ, सितम्बर-अक्टूबर कश्मीर के आइडियल महीने हैं। गुलमर्ग की हवा वह है कि—।''

अगले रोज फूफा पूरे इन्तजाम और प्रेम के साथ बुआ को लिवा ले गये।

3

उसके कुछ दिन बाद हम लोगों को इधर पूरब की तरफ आना पड़ा। मैं वहाँ स्कूल में दाखिल हुआ और एक क्लास ऊपर चढ़ गया। बुआ मुझे भूलती न थीं। उनके खत आते थे, पर वे संक्षिप्त होते थे। माँ से मालूम होता कि बुआ अच्छी हैं और खत में और कुछ नहीं लिखा है। बाबूजी से बुआ की चर्चा चलाता, तो वह अधिकतर चुप रह जाते थे। उनका मन सुखी नहीं था। मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता था। मैं कहता, ''बाबूजी, मुझे भेज दीजिए। मैं बुआ को ले आऊँगा।''

वह दिलचस्पी लेकर कहते, ''तू जाएगा?'' लेकिन देखते-देखते वह सब दिलचस्पी लीन हो जाती और कहते, ''कहाँ जाएगा तू? मृणाल तो अपने घर की है। अपने सुख से रहे, हमें क्या।''

ब्याह के कोई आठ-दस महीने बाद की बात होगी। देखते क्या हैं कि बिना कुछ खबर दिये बुआ एक नौकर को साथ लेकर घर चली आयी हैं। पिता इस बात से अप्रसन्न हुए। पर क्या वह प्रसन्न नहीं हुए? माँ ने कोई नाराजगी नहीं प्रकट की, बल्कि उन्होंने तो परोक्ष में फूफा को काफी सर्द-गर्म तक कह डाला।

बुआ आयीं तो मेरे तो पुराने दिन ही लौट आये, पर मैं देखता कि बुआ में बहुत परिवर्तन होता जाता है। उनकी तबीयत थिर नहीं है। इस घड़ी खुश बोल रहीं तो अगली घड़ी अँधेरे में अकेले जाकर चुप पड़ जाती हैं। उनकी शारीरिक अवस्था भी ठीक नहीं थी। सारी देह पीली पड़ी थी और उनको गर्भ था। जी मिचलाया रहता था और खाना-पीना कुछ अच्छा नहीं लगता था। हर बात से अरुचि मालूम होती थी। मैंने अकेले में उनके पास बैठकर पूछा, ''अब तो यहीं रहोगी न बुआ? जल्दी तो नहीं जाओगी?''

बुआ ने कहा, ''नहीं जाऊँगी। पर मुझसे आने-जाने की बात क्यों करता है? अपने पढ़ने-लिखने की बात किया कर।'' कहते-कहते आँखें उनकी जाने कैसी हो आयी थीं और वाणी काँपकर रुकना चाहती थी।

मैंने अपनी समझ में जाने क्या कुछ समझकर कहा, ''तो बुआ वहाँ जाने की

कोई जरूरत नहीं। मैं नहीं जाने दूँगा।''

बुआ ने कहा, ''भला किस जोर से नहीं जाने देगा?''

''बस कह दिया, नहीं जाने दूँगा।''

बुआ व्यंग्य से हँसीं—''तू रोकने की बात करता है, तो पहले क्यों नहीं रोक लिया था! अब कुछ नहीं हो सकता।''

उनकी उस समय की मुद्रा देखकर मुझे जोश हो आया। बोला, ''क्यों कुछ नहीं हो सकता? सब कुछ हो सकता है। देखूँ, फूफा कैसे ले जाते हैं।''

बुआ ने कहा, ''बड़े वीर बनते हो प्रमोद! पर इस बारे में बुआ से कुछ भी पूछने को नहीं है। यह बुआ यहाँ की नहीं है, वहीं की है। अपने फूफा की चीज को छीनने वाले तुम होते कौन हो?''

मैं उन सारी बातों के मर्म को नहीं समझ सका था। लेकिन बुआ की वाणी की वेदना मुझे छुए बिना न रहती थी। मैं जान गया था कि अपनी ससुराल की याद पर उन्हें कष्ट होता है। लेकिन फिर इसमें दुविधा की बात क्या है? वह जगह नहीं पसन्द है तो वहाँ न जाएँ, बस।

लेकिन जिस आसानी से मैंने 'बस' कह दिया वैसी सरल बात नहीं थी, यह मैं आज खूब अच्छी तरह जानता हूँ। विवाह की ग्रन्थि दो के बीच की ग्रन्थि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह क्या टूटती है! विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है? वह गाँठ है जो बँधी कि खुल नहीं सकती। टूटे तो टूट भले ही जाए, लेकिन टूटना कब किस का श्रेयस्कर है?

पर आठवीं क्लास का विद्यार्थी मैं यह सब नहीं जानता था। इसलिए उस समय अतिसम्पूर्ण भाव से मैंने बुआ को आश्वासन दे दिया कि वह सदा इसी घर में रहेंगी। देखूँ कौन फूफा होते हैं जो ले जाएँ। ऐसा मन न करो, बुआ। फिकर क्या है। यह प्रमोद बड़ा होकर खूब कमाएगा और तुम्हारी खूब सेवा करेगा और तुम्हें कुछ न होने देगा।

बुआ को बिलकुल भी मेरी बातों से ढाढ़स नहीं हुआ, यह भी मैं नहीं कह सकता। तब क्या उनके मुख पर हठात कुछ सन्तोष की आभा नहीं आ झलकी थी! हलके हँसकर बोलीं, ''तू ऐसा वीर है प्रमोद, तो मेरी नैया पार लग जाएगी। क्यों? अब यह बता कि तू अपनी क्लास में अव्वल है या नहीं?''

अव्वल हूँ कि फिसड्डी होऊँ, लेकिन उस समय तो मैं यह देखना चाहता था कि बुआ के मन में कोई चिन्ता-क्लेश नहीं रह गया है। मैंने पूछा, ''तुम सच-सच बताओ, वहाँ जाना चाहती हो या नहीं?''

बुआ ने कहा, ''सच बताऊँ?''

''हाँ, बिलकुल सच-सच बताओ।''

बुआ ने हँसकर कहा, ''क्यों सच-सच बता दूँ ?''

मैंने नाराज होकर कहा, ''नहीं बताओगी ?''

बोलीं, ''अच्छा, सच-सच बताती हूँ। मैं तेरे साथ रहना चाहती हूँ। रखेगा ?''

यह कहकर उन्होंने ऐसे देखा कि मैं झेंप गया और उन्होंने मुझे खींचकर अपनी गोदी में ले लिया। फिर एकाएक मुझे अपने से चिपटाकर बोलीं, ''एक बात बता। तुझे बेंत खाना अच्छा लगता है ?''

मैंने कहा, ''बेंत ?''

बोलीं, ''मैं एक बार तुझे बेतों से पीटना चाहती हूँ। देखूँगी, तुझे कैसा अच्छा लगता है।''

बुआ अजब तरीके से बातें कर रही थीं। मैंने कहा, ''यह कैसी बातें कर रही हो ?''

बोलीं, ''सच-सच कहती हूँ, प्रमोद। किसी और से नहीं कहा, तुझे कहती हूँ। बेंत खाना मुझे अच्छा नहीं लगता है। न यहाँ अच्छा लगता है, न वहाँ अच्छा लगता है।''

मैं आश्चर्य में रह गया। बोला, ''क्या कहती हो बुआ ? वह मारते हैं।''

''हाँ मारते हैं।''

''बेंत से मारते हैं ?''

''हाँ, बेंत से मारते हैं।''

''क्यों मारते हैं ?''

''मैं खराब हूँ, इसलिए मारते हैं।''

सुनकर मुझसे उस समय बुआ के चेहरे की ओर नहीं देखा गया। आवेग से भरकर मैंने अपना मुँह उनकी छाती में दुबका लिया। वहाँ दुबका हुआ मैं चाहने लगा कि बुआ को अपनी गोद में लेता और धीमे-धीमे उनके माथे पर थपकी देकर कहता, 'वह सब भूल जाओ, बुआ। बुरा-खराब सब भूल जाओ। वह भी जगह है, जहाँ कोई खराब नहीं है और जहाँ कोई बेंत नहीं है। हम दोनों वहीं चलकर रहेंगे।' यह सोचता हुआ मैं बुआ की छाती में चिपका रहा। मुझे मालूम हुआ कि बुआ के मन में उच्छ्वास भर आया है। उनकी आँखों की एकाध बूँद भी मुझ पर गिरी।

मुझे सारी बातें ज्ञात नहीं, लेकिन पिता और फूफा में कुछ पत्र-व्यवहार हुआ था। पत्र-व्यवहार काफी लम्बा हुआ। तीन महीने बुआ हमारे यहाँ रहीं। अन्त में निर्णय हुआ कि फूफा उन्हें ले जा सकते हैं। पिता शायद इस बात के लिए तैयार हुए थे कि अगर आइन्दा इस तरह बुआ बिना फूफा की मर्जी से चली आएँगी तो वह अपने घर में आश्रय न देंगे। फूफा ने पिता के सामने अपनी पत्नी पर कुछ अभियोग भी लगाये थे, जिनको फिर उन्होंने क्षमा-प्रार्थनापूर्वक वापस भी ले लिया था।

एक बार मैं बाबूजी के पास था। तभी बुआ वहाँ आयीं। आकर चुपचाप एक तरफ बिछे एक तख्त पर बैठ गयीं।

बाबूजी ने कहा, ''मृणाल, कहो कैसी तबीयत है?''

''अच्छी है।''

''यहाँ शायद तुम्हारा मन नहीं लगता मालूम होता है।''

मृणाल चुप।

''उनकी इस इतवार को आने की चिट्ठी आयी है। पाँच रोज हैं। मिनी, देखो ऐसी गलती मत करना। वह आदमी भले हैं। इससे बात बन भी गयी। नहीं तो बेटा ऐसा किया करते हैं? थोड़ी-बहुत रगड़-झगड़ होती ही है। पर पति के घर के अलावा स्त्री को और क्या आसरा है! यह झूठ नहीं है मृणाल कि पत्नी का धर्म पति है। घर पति-गृह है। उसका धर्म, कर्म और उसका मोक्ष भी वही है। समझती तो हो बेटा।''

कहते-कहते पिता की वाणी क्षमा-प्रार्थिनी हो गयी थी। बुआ चुप बैठी रहीं। थोड़ी देर बाद पिता ने कहा, ''कहो-कहो, मृणाल, तुम कुछ कहना चाहती हो?''

बुआ ने कहा, ''मेरा जी अच्छा नहीं रहता है! मैं अभी जाना नहीं चाहती हूँ।''

''अभी नहीं जाना चाहती हो?''

मृणाल चुप!

''लेकिन वह तो अभी ही ले जाना चाहते हैं।''

चुप।

बाबूजी इस चुप्पी पर कुछ अस्थिर हो आये। उन्होंने पहले तो मुझे देखकर कहा, ''जाओ, प्रमोद अपना सबक देखो।'' मैं तुरन्त नहीं उठ गया, इस पर नाराज होकर बोले, ''सुनते नहीं हो? जाओ।'' मैं कमरे से तो बाहर आ गया, लेकिन पूरी तरह चला नहीं गया। उसके बाद पिताजी ने कहा, ''सुनो मृणाल, अभी भेजने की मेरी भी राय नहीं थी। तुम्हारी हालत नाजुक है। लेकिन तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?''

मृणाल कुछ नहीं बोली।

बाबूजी कमरे में टहलने लगे। कुछ देर तक वह भी कुछ नहीं बोले। फिर कहा, ''मिनी, सच बता, क्या बात है?'' यह कहकर कुछ ठहरे। मृणाल चुप रही, तो फिर टहलने लगे। एकाएक रुककर बोले, ''मृणाल मैं देखता हूँ, तुम्हें तकलीफ है। बताओगी नहीं तो मैं कैसे जानूँगा? क्या करूँगा? मिनी, तुझे पिताजी की तो क्या याद होगी। तू नन्ही-सी थी, तभी पिताजी उठ गये। माँ तो देखी ही कब है! सबकी जगह मैं ही तेरे लिए रह गया। मुझसे न कहेगी तो किसे कहेगी? मृणाल बेटा, सच बता, क्या बात है।''

बुआ ने कहा, ''कुछ भी बात नहीं है बाबूजी, पर मैं जाना नहीं चाहती हूँ।''

''जाना नहीं चाहती हो, यह तो मैं देखता हूँ। पर भला ऐसा कहीं होता है!

और कब तक नहीं जाओगी ?''

''बिलकुल नहीं जाऊँगी।''

बाबूजी ने कुछ झींककर कहा, ''तो क्या करोगी ?''

''आप यहाँ से निकाल देंगे, तो यहाँ से भी निकल जाऊँगी ?''

बाबूजी को इस पर रोष हो आया। बोले, ''कहाँ निकल जाओगी ?''

''पिताजी मुझे नन्हीं छोड़ जहाँ चले गये हैं, कोई राह बता दे तो मैं वहीं जाना चाहती हूँ।''

इसके बाद मुझे कुछ नहीं सुनाई दिया। पिताजी के फर्श पर जोर-जोर से चलने की आवाज मुझे अवश्य आयी। दो-एक बार खाँसने की भी आवाज आयी, मानो कुछ बार-बार गले में भर आता हो। दो-तीन-चार-पाँच मिनट प्रतीक्षा में रहा। पिताजी के तेज कदमों की धमक, खाँसी और कभी जोर से उठता हुआ उनका उच्छ्वास ही मुझे सुनाई दिया। आखिर मैं वहाँ से खिसककर चला आया।

इसके बाद मिलने पर मैंने बुआ से पूछा, ''बुआ, पिताजी भेजने को कहते हैं ?''

बुआ ने डपटकर कहा, ''चुप रहा करो जी, प्रमोद। अपने काम से काम रखा करो।''

मुझे उनका गुस्सा बिलकुल समझ में नहीं आया। मैं भी उस दिन तुनककर अपने से अलग-अलग रहा। पर सन्ध्या समय अचानक वह मुझे अपने गले लगाकर रोने को हो आयीं, बोलीं, ''तू रूठ गया प्रमोद ?''

थोड़ी देर बाद अपने आप कहने लगीं, ''बाबूजी मुझे भेजने को कह रहे हैं। चली जाऊँ ?''

मैं क्या जवाब देता।

उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा, ''मुझे चले जाना चाहिए, क्यों प्रमोद ?''

मुझे चुप देखकर फिर वह बोलीं, ''अच्छा जाने दे इस बात को, यह बता, मैं चली गयी तो तू मुझे याद करेगा ?''

उस समय मैंने कहा, ''बुआ, मैं तुम्हें पीछे बहुत याद करता था।''

''मर जाऊँ, तो भी याद करेगा ?''

मैं तब समझदार था। कहा, ''ऐसी बात मत करो बुआ। मैं नहीं सुनना चाहता।''

''अच्छा एक बात बता। तू बड़ा हो जाएगा, तब मैं बुलाऊँगी तो तू आएगा ?''

''फौरन आऊँगा।''

''कैसी भी हालत में हुई, तू आएगा ?''

''हाँ, आऊँगा।''

''तो सुन, मैं कहती हूँ तू नहीं आएगा। मैं तुझे बुलाऊँगी ही नहीं। कहती हूँ,

तुम सब लोग मुझे भूल जाना। मैं जैसी गयी, वैसी मरी। इसके बाद मैं तुम लोगों को बिलकुल तकलीफ नहीं दूँगी।''

थोड़ी देर बाद बुआ ने मुझसे पूछा, ''तू जानता है, पति का घर क्या होता है?''

मैंने कहा कि मैं नहीं जानता।

''स्वर्ग होता है।''

मैंने मान लिया कि स्वर्ग होता होगा। लेकिन मेरे इस सहज भाव से मान लेने से उन्हें जैसे सान्त्वना नहीं हुई। बोलीं, ''वह तो स्वर्ग ही होता है। जिसके लिए ऐसा नहीं है वह अभागिनी है।''

मुझे चुप देखकर वह आगे बोलीं, ''जानता है, स्वर्ग क्या होता है?''

जल्दी से अपने आप ही बोलीं, ''स्वर्ग बड़े आराम की जगह है। वहाँ देवता रहते हैं।''

अगले सवेरे उनकी अवस्था बिलकुल प्रकृतिस्थ मालूम होती थी। उन्होंने माँ से कहा कि धोबी को कपड़ों के लिए कह दें, इतवार तक आ जाए, क्योंकि फिर जाना है। दो-चार छोटी-मोटी चीजें भी बाजार से मँगवाने को बतायीं। उस समय वह अपने सामान को ठीक सजवाने में प्रवृत्त दीखने लगीं। इस बक्स का सामान उसमें हो रहा है, उसका इसमें हो रहा है। इस बार पुस्तक कोई साथ नहीं ले जाएँगी, पुस्तकें अच्छी चीज नहीं होतीं। 'उन्हें' अच्छी नहीं लगतीं। उनसे समय बरबाद होता है। नहीं, इस बार न नयी, न किसी प्रकार की पुरानी किताबें बुआ को चाहिए।

दोपहर तक वह इसी प्रकार प्रवृत्त दिखीं। फिर खाना खाकर जो लेटीं, तो सिर में जोर का दर्द हो आया। मैंने कहा, ''बुआ, क्या है?''

बोलीं, ''सिर में दर्द है।''

''माथा दबा दूँ?''

''नहीं।''

''बाम लगा लो।''

''नहीं।''

''यू डी कोलोन की पट्टी लाता हूँ।''

''अरे नहीं-नहीं-नहीं।''

मालूम हुआ कि उन्हें दो-तीन रोज से सख्त कब्ज है, पेट पत्थर हो रहा है।

मैंने कहा, ''डाक्टर।''

बोलीं, ''सब ठीक हो जाएगा।''

मैंने कहा, ''फिर?''

बोलीं, ''सब ठीक हो जाएगा।''

दर्द बढ़ता ही गया। तीसरा पहर होते-होते छटपटाने की नौबत आ गयी। लेकिन वह अकेली पड़ी रहीं, किसी को पास नहीं बुलाया। मैं कई बार बाबूजी से कहने को उद्यत हुआ, पर बुआ ने ऐसी झिड़की दी कि मेरी हिम्मत न हुई। अब उनको पेट में तकलीफ मालूम होती थी। दर्द रह-रहकर उठता, जैसे कोई भीतर बैठा दम लेकर आँतें ऐंठ रहा हो। दर्द के मारे उनकी आकृति भयंकर हो उठी थी। मैं नहीं जानता कि मैं किस प्रकार सब सह गया और खबर किसी को न दी। मैं कहने जाने को उद्यत होता था और वह अपनी कसम दिलाकर मुझे रोक लेती थीं। कहते-कहते उठतीं कि तुझे मेरी मौत का पातक लगे जो तू किसी से कहे।

मैंने कहा, "फिर कैसे होगा?"

बोलीं, "पेट का दर्द है, अपने आप सब साफ हो जाएगा। देख बाजार जाएगा तो जरा जमालगोटा ले आना। याद रहेगा—जमालगोटा?" मैं अब बुआ के बारे में शंकित-चित्त हो गया था। पूछा, "यह क्या चीज होती है?"

इस दर्द में भी तनिक हँसकर उन्होंने कहा, "तू अकलमन्द हो रहा है, प्रमोद। पर वह मरने की चीज नहीं होती है। लेता आएगा न?"

मैंने पूछा, "उससे तबीयत ठीक हो जाएगी?"

"हाँ, हो जाएगी। जाएगा?"

जमालगोटे के सेवन से उनकी तबीयत का जो हाल हुआ, वह कहना वृथा है। माता-पिता दोनों चिन्तित हो गये। मैंने भय के मारे कुछ नहीं कहा। आशंका हो गयी कि कहीं गर्भ न जाता रहे। वह तो न गया और सब कुछ हो गया। तीन दिन में उनका ऐसा मुँह निकल आया कि तरस आता था। जैसे मर कर जियीं हों। करुणा होती थी, लेकिन करुणा हद लाँघकर क्रोध हो जाती है क्या? गुस्से में भरकर बुआ को मैंने खूब सख्त-सुस्त कहा। सुनती रहीं, सुनती रहीं। फिर बोलीं, "तू भी मुझे ही कहेगा, प्रमोद!"

"और नहीं तो किसे कहूँगा?"

"अच्छा, तू भी कह ले।"

बुआ ने कुछ ऐसे भाव से यह बात कही कि मेरा काठिन्य अपने में ही कुण्ठित हो रहा। मैं कातर हो आया, कहा, "फिर यह तुमने क्या किया, बुआ?"

"क्या किया?"

"मैं जानता हूँ, जो हुआ तुमने ही किया है।"

इस पर कुछ देर बँधी निगाह से मेरी ओर देखते रहकर बोलीं, "सच जान, प्रमोद, मैंने कुछ नहीं किया। मेरी मति भ्रष्ट हो गयी है। मुझे कुछ ठीक सूझता नहीं है। मैं जो करती हूँ सो क्या मैं जानती हूँ? यहाँ मुझे कोई भी तो बताने वाला नहीं। अपने मन की मैं किससे कहूँ? प्रमोद, मेरी कुछ समझ में नहीं आता है। ऐसे में भी

तू मुझे दोष देगा तो मैं क्या करूँगी?''

उनकी बात का मर्म मेरी कुछ समझ में न आया। पर मेरा मन व्यथा से घिर गया। मैंने कहा, ''तुम क्या चाहती हो?''

''क्या चाहूँ?''

''अपने तन को क्यों खोती हो?''

''तन को खोती हूँ? मैं नहीं जानती। अच्छा बताओ, तन का क्या करूँ?''

मुझे बड़ा कष्ट हो रहा था। कष्ट कुछ ऐसा था कि केन्द्रहीन, अहेतुक। मैंने कहा, ''देखो बुआ, तुम बाबूजी से मजबूती के साथ क्यों नहीं कह देती हो? दबना किसका? फिर मैं देख लूँगा, कौन जबरदस्ती करता है।''

बुआ विचित्र भाव से मुझे देखने लगीं। फिर बोलीं, ''क्या कह दूँ? कैसी जबरदस्ती? यह तू सब कह क्या रहा है? प्रमोद, तू अभी कुछ नहीं जानता, तू बच्चा है।''

अपने को बच्चा सुनकर मुझे जोश आ गया। मैंने कहा, ''हाँ, बच्चा हूँ और मैं नहीं जानता। लेकिन एक बात तुम खुलकर कह दो कि तुम नहीं जाना चाहती हो तो मैं देख लूँगा कि कौन फूफा हैं जो ले जाते हैं। तुम क्या समझती हो कि मैं कुछ नहीं हूँ?''

बुआ जाने क्यों उस समय भय से भर गयीं। बोलीं, ''छि: भैया, ऐसी बात कहते हैं। कन्या जाति क्या अपने पिता के घर की होती है? मैं कोई निराली जनमी हूँ? तिस पर भाई, तू ही बता, मेरे पिता कहाँ हैं? वह होते।''

मैंने अवश भाव से मानों चिल्लाकर कहा, ''कौन पिता! कैसी बात करती हो बुआ! बाबूजी तुम्हारे नहीं हैं? अम्मा नहीं हैं? मैं नहीं हूँ?''

बुआ ने धीरे से कहा, ''कोई नहीं है।''

मैंने उस समय उनके कण्ठ से लगकर कहा, ''मैं नहीं हूँ? मैं नहीं हूँ?''

उन्होंने मुझे एकाएक आलिंगन में बाँध लिया। कहा, ''तू है भैया, तू ही है। नहीं तो मैं यह पेट का कुकर्म लिए यहाँ क्यों जी रही हूँ?''

इतवार को फूफा आ गये। उन्हें बुआ की हालत देखकर बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने कहा कि इस जगह का पानी उन्हें बिलकुल माफिक आया नहीं मालूम होता। देखिए न, क्या हालत हो गयी है। क्या हो गया था...दस्त? तीन रोज तक दस्त और कै? उफ्! डाक्टर कौन था? यह क्या है कि डाक्टर भी सलीके के नहीं मिल सकते—जिले के सिविल सर्जन।

फूफा परेशानी में अधीर थे। बुआ की अवस्था पर उनकी आलोचना, उनके मन की व्यग्रता और चिन्ता प्रकट करती थी। मेरे सामने उन्होंने बाबूजी को कहा कि ऐसी हालत में मुझे तार क्यों नहीं कर दिया गया। मैं सब बन्दोबस्त कर देता। हमारे यहाँ

का पानी और घी-दूध कैसा है, आप जानते ही हैं। मसल है, घी और मरद पछाँह का। कैसी ही गिरी तबीयत हो, वहाँ देखते-देखते सँभल जाती है।

पिताजी से कुछ विशेष उत्तर नहीं बन पड़ा। ऐसा मालूम होता था कि उन्हें स्वीकार है कि बेशक उन्हीं का अपराध है। पिताजी ने दो-एक बार कहा कि खैर, हालत कमजोर है। कुछ दिन ठहर कर ले जाएँ तो क्या बेहतर न होगा?

पर हालत कमजोर है, तब तो फूफा का कर्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। आप ही सोचिए, ऐसी हालत में उन्हें छोड़ जाना कहाँ तक मुनासिब है। पर आप देखिएगा कि वहाँ पहुँचकर थोड़े दिन में ही तबीयत हरी हो जाती है। और सच पूछिए तो छोटे-मोटे रोगों की परवाह करना उनकी परवरिश करना है। सौ दवाओं की एक दवा है बेफिकरी।

फूफा ने फिर कहा, "आपने उन्हें समझा तो दिया ही होगा। जरा सेहत का ख्याल रखा करें। और दुनिया का भी लिहाज रखना चाहिए। आप जानिए, बहू-बेटियों की चलन की रीति-नीति हुआ करती है। अपने तो वही पुराने अकीदे हैं। अपना कुल-शील चला जाता है, वह न निभा तो फिर क्या रह गया। जरा ये बातें समझा देनी चाहिए। मैं अपनी तरफ से थोड़ा-बहुत कहता हूँ, लेकिन आप जानिए, आपकी बात का मुझसे कहीं अधिक असर होगा।" मैं आठवीं क्लास में पढ़ता था। तब मैं क्या समझता हूँगा, क्या नहीं समझता हूँगा। फिर भी यह बातें मुझे बिलकुल अच्छी नहीं मालूम हो रही थीं। जी में कुछ बेमतलब गुस्सा चढ़ता आता था। जी होता था कि वहीं-के-वहीं कोई दुस्सह अविनय कर डालूँ। ऐसे भाव की कोई वजह न थी, पर बाबूजी की कुछ दबी हुई स्थिति की झलक उनके चेहरे पर देखकर बड़ी खीझ मालूम हो रही थी। पर जाने मुझे क्या चीज रोक रही थी कि मैं फट नहीं पड़ा।

बाबूजी ने जवाब में कहा, "जी हाँ।"

सहसा फूफा मेरी ओर मुखातिब हुए। कहा, "कहिए जनाब, आपका इस्मशरीफ? ओः याद आया, प्रमोद!"

प्रमोद नाम है तो है। इससे किसी का क्यों कुछ मतलब है? और मैं कुछ नहीं बोला।

"किस दर्जे में पढ़ते हैं?"

"इस छमाही इम्तहान में फेल हो गया हूँ।"

"फेल हो गये हो? यह खबर तो बुरी है। किस जमात में?"

मैं चुप रहा। क्यों बोलूँ? नहीं बोलता।

"घबराओ नहीं, किस जमात में पढ़ते हो?"

"मैं फेल होने से नहीं डरता।"

उन्होंने बड़े प्रेम से कहा, "फेल होने से डरना चाहिए, भाई। जो मन लगाकर

शुरू में पढ़ते हैं, वे ही आगे जाकर जिन्दगी में कुछ करते हैं। समझे? अच्छा यहाँ आओ। आओ, हमारे पास आओ।''

मैं अपनी जगह ही रहा, टला नहीं।

पिताजी ने कहा, ''जाओ बेटा, जाओ, जवाब दो।''

तब मैं छाती निकालकर चलता हुआ फूफा के सामने खड़ा हो गया। उन्होंने अपने दोनों हाथों से मेरे दोनों कन्धों को पकड़कर हिलाते हुए कहा—''दर्जा सात में पढ़ते हो या आठ में?''

''आठ में।''

''देखो, क्लास में फेल नहीं होना चाहिए। अच्छा बतलाओ, इकन्नी लोगे या दुअन्नी?'' कहकर अपनी जेब में हाथ डाला।

मैं अपने मन का पाप कह दूँ! उस समय मेरे मन में हुआ था कि उलटे ये ही मुझसे इकन्नी लें चाहे दुअन्नी ले लें; पर इन भरी, बड़ी-बड़ी नोकीली मूँछों को खींचना कैसा मालूम होगा, यह जानना चाहता हूँ। हो तो चलो, इस बात की अठन्नी ही दे दूँगा। दो बन्द मुट्ठियाँ सामने कर फूफा ने कहा, ''बोलो, कौन-सी लोगे?'' मैं देखता रह गया, कुछ नहीं बोला।

''जल्दी बतलाओ, नहीं तो दोनों का माल उड़ जाएगा और फिर ताकते रह जाओगे।''

''आपको चाहिए तो दुअन्नी मैं आपको दे सकता हूँ।''

सुनकर झेंप के साथ वह 'हो-हो, हो-हो' करके हँस पड़े। उनकी हँसी की कृत्रिमता और झेंप देख मुझे गर्व हुआ। मैंने कहा—''मैं आठवें दर्जे में पढ़ता हूँ और इम्तहान में अव्वल आया हूँ।''

फूफा इस पर फिर हँसे, 'हो-हो, हो-हो।'

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह मुझसे असन्तुष्ट हुए और उनके असन्तोष में जाने क्यों मुझे प्रसन्नता हुई। ऐसा मालूम हुआ जैसे पिताजी का मैं बदला ले सका हूँ।

अगले दिन जाने की तैयारियाँ होने लगीं। मुझसे बुआ ने कहा, ''प्रमोद, मेरा कहा-सुना सब माफ करना। जाने तुम लोगों के अब कब दर्शन हों?''

मैंने तय किया था कि बुआ के लिए मुझे मजबूत बनना होगा, पर बुआ के सामने मेरी मजबूती सब टूट जाती थी। बुआ की यह बात सुनकर मेरा चित्त विह्वल हो आया। कुछ कहने के लिए कहा, ''बुआ, खत लिखती रहोगी?''

बुआ ने कहा, ''खत? देखे...।''

मैंने कहा, ''जरूर लिखना, बुआ। बुलाओगी तब मैं फौरन आ जाऊँगा। मैं रेल में अकेला सफर कर लेता हूँ।''

''तुझको नहीं बुलाऊँगी तो और किसको बुलाऊँगी! पर क्यों रे, अकेला सफर

करके तू मुझ तक आएगा?''

''मैं आऊँगा, बुआ, मैं आऊँगा। बुलाओगी, तभी सब काम छोड़कर आऊँगा।''

बुआ ने हल्के-से मेरे गाल पर चपत मारकर कहा, ''पगले।''

उस बार जाते समय बुआ माँ के पैर छूकर रोती हुई सामने खड़ी हो गयीं, बोलीं कुछ भी नहीं। माँ ने द्रवित भाव से उन्हें अपने कण्ठ से लगाकर कहा, ''मिनी, मैं तुझे जल्दी बुलाऊँगी। वहाँ अपनी गिरस्ती अच्छी तरह सँभालना और पति को सुखी करना, मिनी।''

माँ ने गद्गद कण्ठ से भाँति-भाँति के आशीर्वचन कहे। बुआ मस्तक झुकाकर मानो सब झेलती रहीं। पतिव्रता रहने, पूतों फलने, बड़भागिन होने आदि के आशीर्वाद उन्होंने ऐसे प्रणत भाव से लिये कि मानों उनके नीचे वह गढ़कर भी मर जाएँ तो धन्य हो जाएँ, नहीं तो...नहीं तो...।

पिता के सामने बुआ फूट-फूटकर रोने लगीं। पिताजी ने झट रूमाल निकालकर चेहरे को बार-बार पोंछा। निरर्थक भाव से जल्दी-जल्दी कहा, ''क्या है? क्या है? कुछ नहीं, कुछ नहीं, रोओ मत, रोओ मत, ठिट्-ठिट् रोते हैं!'' और कहते-कहते हठात वह बुआ के सामने से दूर चले गये, और साथ जाने वाली गठरी-पोटरी, बक्स-बिस्तर गिनने और बतलाने और उठवाने में लग गये। ऐसे कि बस बहुत ही काम है। हमें क्या फुरसत रखी है!

मैंने प्रण किया था कि मैं नहीं रोऊँगा, नहीं रोऊँगा। मैं नहीं रोया, नहीं रोया। मुझे बेहद गुस्सा मालूम होता था कि मैं क्यों कुछ उत्पात नहीं किये डाल रहा हूँ। मेरे मन में हो रहा था कि कोई मुझसे झगड़ता क्यों नहीं है। इससे, उससे, किसी-न-किसी से टक्कर लेने को जी होता था। बुआ! उँह, वह जाएँ तो जाएँ, मेरा उनसे कुछ मतलब नहीं है। मेरा किसी से कुछ मतलब नहीं है। मैं अकेला सब-कुछ से निबट लूँगा। हाँ, अकेला, अकेला। मुझसे मत बोलो, कोई मत बोलो, मैं नहीं याद करूँगा बुआ को। वह क्यों चली जा रही हैं? मेरे रहते क्यों चली जा रही हैं? मेरे रहते क्यों चली जा रही हैं? और वह फूफा कौन बला हैं कि ले जाएँगे? ले जाएँ, तो ले जाएँ। जाएँ, अरे टलें तो।

एक अहेतुक त्रास मुझे दाबे हुए था। वह न रोने देता था, न कुछ करने देता था। नतीजा यह हुआ कि मैं बुआ को बिदा के समय देखते-देखते एकाएक इतना झल्ला आया कि भागकर बुआवाली कोठरी में अपने को बन्द करके खड़ा हो गया। किवाड़ बन्द कर लेने से अँधेरा हो गया था, तिस पर भी दोनों हाथों से आँखें ढाँप ली थीं और गुम-सुम कोठरी के बीचों-बीच आकर बस खड़ा रह गया था। मानों आशा थी कि कोई करिश्मा होगा, भूचाल आएगा, कुछ-न-कुछ होगा, और आखिर में सब ठीक हो जाएगा। यहाँ खड़े-खड़े चाहता था कि साँस रोक लूँ, बेजान हो जाऊँ। एकदम रहूँ

ही नहीं—कि इतने में इधर से झपटती हुई माँ की गद्‌गद कण्ठ की गुहार आयी, ''प्रमोद! प्रमोद!''

मैं नहीं बोला। मैं नहीं बोलूँगा। प्रमोद नहीं है। मैं प्रमोद को नहीं जानता, मैं नहीं जानता कुछ।

''अरे प्रमोद! ओ भैया प्रमोद!''

माँ की वाणी ऐसी थी कि मुझसे सहा नहीं गया। मैंने अपनी जगह से चीखकर कहा, ''क्या है! मैं नहीं सुनता?''

''कहाँ है रे तू! तेरी बुआ बुला रही है!''

मैं कोठरी से बाहर निकल आया। न बोला, न चाला। ड्योढ़ी की ओर बँधे भाव से बढ़ता चला गया। बाहर आकर देखता हूँ कि सब तैयार है। फूफा कह रहे हैं, ''जल्दी करो, जल्दी।'' बुआ खड़ी हैं। मुँह पर घूँघट है। क्या मेरी ही राह देखती खड़ी हैं! मैंने पास आकर कहा, ''बुआ, क्या है?''

वह झपटकर मेरे गले से लग गयीं और ऊँची आवाज से रो उठीं। फूफा ने कहा, ''रेल का वक्त हो रहा है। चलो, चलो।''

मैं उन्हें अपने कन्धे से लगी-लगी ही मोटर तक ले गया। फूफा ने बाबूजी को प्रणाम किया। वह मोटर में बैठ गये। मोटर ने घर्र-घर्र की। फूफा ने समोद भाव से कहा, ''प्रमोद साहब! आदाब अर्ज है।'' मैं मानों घूँट पीता हुआ खड़ा था।

4

मैं अब साँस लूँगा। बहुत कह चुका। मेरा मन दर्द से भरा हुआ है, यों तो यह कहानी आरम्भ की है तो पूरी भी करनी होगी। जीना एक बार शुरू करके मौत आकर छुट्टी न दे दे, तब तक जीना ही होता है। बीच में छुट्टी कहाँ! पर मैं जरा साँस लेना चाहता हूँ।

बहुत कुछ जो इस दुनिया में हो रहा है वह वैसा ही क्यों होता, अन्यथा क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है भवितव्य ही होता है। नियति का लेख बँधा है। एक भी अक्षर उसका यहाँ से वहाँ न हो सकेगा। वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं। पर विधि का वह अतर्क्य तर्क किस विधाता ने बनाया है, उसका उसमें क्या प्रयोजन है—यह भी कभी पूछकर जानने की इच्छा की जा सकती है या नहीं?

शायद नहीं। ज्ञानीजन कह गये हैं कि परम कल्याणमय ही इस सृष्टि में अपनी परम-लीला का विस्तार कर रहा है। मैं जान लेता हूँ कि ऐसा ही है। न मानूँ, तो जीऊँ कैसे? पर रह-रहकर जी होता है कि पुकारकर कहूँ कि हे परम कल्याणमय, तेरी कल्याणी लीला को मैं नहीं जानता हूँ, फिर भी रोने-बिलखने की आवाज तो चारों ओर से मेरे कानों में भरी आ रही है। यह क्या है, ओ जगत्पिता! तेरी लीला के नीचे यह सब आर्तनाद क्या है?

लीला तेरी है, जीते-मरते हम हैं। क्यों जीते, क्यों मरते हैं! हमारी चेष्टा, हमारे प्रयत्न क्या हैं? क्यों हैं?—पूछे जाओ, उत्तर कोई नहीं मिलता।

फिर भी उत्तर नीरव भाषा में सदा मुखरित है। भीतर उत्तर है, बाहर भी सब कहीं वह लिखा है। जो जानता है, पढ़े। जो जैसा जानता है वैसा ही पढ़े, वह उत्तर कभी नहीं चुकता है। अखिल सृष्टि स्वयं में उत्तर ही तो है। अपने प्रश्न का वह आप ही उत्तर है।

पर उसे छोड़े, वह जो कहा जाता है; कहो कि जो है, कर्मफल है। मैं अपनी व्यर्थ प्रतिष्ठा के ढूह पर बैठा हूँ, वह कृत्रिम है, क्षणिक है। हृदय वहाँ कहाँ है? यज्ञ वहाँ कहाँ है? लेकिन वही सब-कुछ मुझे ऊँचा उठाये हुए है? नामी वकील रहा, अब जज हूँ। लोगों को जेल-फाँसी देता हूँ, समाज में माननीय हूँ। इस सबके समाधान में चलो, यही कहो कि यह कर्मफल है। लेकिन सच पूछो तो मेरा जी जानता है कि वह कैसे कर्मों का फल है। कामयाब वकालत और इस जजी के इतने मोटे शरीर में क्या राई जितनी भी आत्मा है? मुझे इसमें बहुत सन्देह है। मुझे मालूम होता है कि मैं अपने को खो सका हूँ तभी सफल वकील और बड़ा जज बन सका हूँ, और वह मृणाल बुआ—लेकिन उस कहानी को तो जब कहना होगा, तभी कहूँगा।

मेरा मन रह-रहकर त्रास से भर आता है। समाज की जिस मान्यता पर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ वह स्वयं किसके बलिदान पर खड़ी है, इस बात को जितना ही समझकर देखता हूँ उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानि से घिर जाता है। पर क्या करूँ? सोचता हूँ, उस समाज की नींव को कुरेदने से क्या हाथ आएगा? नींव ढीली ही होगी और ऐसे हाथ आनेवाला कुछ नहीं है। यह सोच लेता हूँ और रह जाता हूँ।

पर क्यों मैं यह नहीं जानता कि यह सब अपने को ठगना है। समाज के ऊपर चढ़-बैठकर मैं उसे दबा सकता हूँ, बदल नहीं सकता। उसके फलने-फूलने का तो एक ही उपाय है, वह यह कि मैं अपने को समाज की जड़ों में सींच दूँ। अज्ञात रहकर सच्चा बनूँ, झूठा बनकर नामवर होने में क्या धरा है? ओह, वैसी नामवरी निष्फल है, व्यर्थ है, निरी रेत है। आत्मा को खोकर साम्राज्य पाया तो क्या पाया? वह रत्न को गँवाकर धूल का ढेर पाने से भी कमतर है।

जीवन में एक बात तो नहीं-है, दसियों बातें हैं। वे जी में ऐसी जगह बैठ गयी

हैं कि घुमड़ती रहती हैं। उन पर आँखें मीचूँ, तो भी नहीं मिच सकतीं। वे मेरे भीतर अनुकूल वायु में कभी-कभी ऐसी सुलग आती हैं कि उनकी लौ के प्रकाश में मैं देख उठता हूँ कि सचाई क्या है। तब मेरी जजी मुझे शाप दीखती है और जान पड़ता है वही प्रवंचना है। सचाई तो छोटा बनने में है। बलि बनने में है। बहुत-कुछ देखा है, बहुत-कुछ पढ़ा है; लेकिन वह सब झूठ है। सच इतना ही है कि प्रेम के भार से भारी रहकर जो जीवन के मूल में पैठ है, धन्य है। जो गर्व में फूला उस जीवन की फुनगियों पर चहक रहा है, वह भूला है।

लेकिन व्यर्थ बातें मैं क्यों करूँ। इससे क्या फायदा है। ऐसे मन का दर्द हल्का तो होगा, पर हल्का होकर वह दर्द सह्य अधिक बन जाता हो, इस भाँति प्रेरक तो वह अवश्य ही कम हो जाता है।

पूछता हूँ, मानव के जीवन की गति क्या अन्धी है? वह अप्रतिरोध्य है। पर अन्धी है, यह तो मैं नहीं मानूँगा। मानव चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है, उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है। किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है, और मानव अपनी क्षुधा-तृष्णा, राग-द्वेष, मान-मोह में भटकता फिरता है। यहाँ जाता है, वहाँ जाता है। पर असल में वह कहीं भी नहीं जाता। एक ही जगह पर अपने ही जुए में बँधा कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारता रहता है।

इतनी उम्र बिताकर बहुतों को मरते और उनसे बहुतों को जीते देखकर अगर मैं कुछ चाहता हूँ तो वह यह है कि भीतर का दर्द मेरा इष्ट हो। धन न चाहूँ, मन चाहूँ। धन मैल है। मन का दर्द अमृत है। सत्य का निवास और कहीं नहीं है। उस दर्द की साभार स्वीकृति में से ज्ञान की और सत्य की ज्योति प्रकट होगी। अन्यथा सब ज्ञान ढकोसला है और सब सत्य की पुकार अहंकार है।

जो होता है उसके लिए दोष मैं किसे दूँ! विधाता को तो दोष दे नहीं सकता, क्योंकि उन तक मैं किसी प्रकार अपना धन्यवाद भी नहीं पहुँचा सकता। दोष दूँ ही क्यों! अगर मेरे मन में दोष उठे बिना नहीं रहता, तो मैं उसे किसी को भी क्यों दूँ, स्वयं ही क्यों न ले लूँ! मैं जान लूँ कि चाहे कुछ भी हो, हमारा दुःख विधाता का ही दुःख है। पर जो जगत की कठोरता का बोझ स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर उठाकर चुपचाप चले चलते हैं और फिर समय आने पर इस धरती माता से लगकर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मैं उनको अभागा कह लूँगा, पापी भी कह लूँगा, लेकिन मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

बुआ का जो अन्त हुआ, उस पर मैं क्या सोचूँ! मैं कुछ नहीं चाहता। शायद जो हुआ, ठीक हुआ। ठीक इसलिए कि उसे अब किसी भी उपाय से बदला नहीं

जा सकता। लेकिन इतना तो सोच ही सकता हूँ कि जो प्रेम उनसे मुझे प्राप्त हुआ, वह क्या किसी भी भाँति भूला जा सकता है और क्या वह स्वयं में इतना पवित्र नहीं है कि स्वर्ग के द्वार उसके समक्ष खुल जाएँ!

लेकिन मैं नहीं जानता। स्वर्ग-नरक मैं नहीं जानता। विधाता के विधान को मैं नहीं जानता। बस, इतना जानता हूँ कि मैं हृदयहीन न हो सका। होता तो आज कामयाब वकील बनने के बाद जजी की कुर्सी में बैठना भी मेरे नसीब में न होता।

उस रोज के बाद जब बुआ जमालगोटे के बावजूद फूफा के साथ चली गयी थीं, मुद्दत तक उनसे मिलना न हुआ। नवीं क्लास में आया, मैट्रिक पास कर लिया, कालिज में दाखिल होकर आखिर आई.ए. भी कर चुका। नयी परिस्थितियाँ मिलीं, नये दोस्त बने, निगाह फैलती गयी और जिन्दगी की ख्वाहिशें मुँह खोलकर सामने आयीं। बुआ की याद धीमे-धीमे धीमी हो गयी। पहले तो मचल-मचल कर उनकी खबर माता-पिता से पूछता रहा। मालूम इतना ही होता रहा कि अपने ठीक हैं, मौज से हैं। अपने से पूछता रह जाता था कि यह ठीक से होना, मौज से होना क्या चीज होती है! क्या बुआ प्रसन्न हैं? प्रसन्न हैं तो मैं इधर प्रसन्न क्यों नहीं हूँ; ऐसा मन में उठता था और बैठ जाता था। कुछ काल बाद पता लगा कि उन्होंने एक मृत कन्या को जन्म दिया है। उसे जन्म देने में उनकी भी हालत मृतप्राय हो गयी थी। पर 'जाको राखे साईंयाँ' उसका मरना आसान नहीं है। सो परमात्मा की दया से बच गयीं। दया कहते जी कुछ रुकता है, फिर भी अदया तो उसे नहीं कहा जाता।

एक दिन ऐसा हुआ कि मैंने माँ से पूछा, "माँ, बुआ का कोई हाल आया है? अब की छुट्टियों में मैं उनके पास जाऊँगा।" सुनकर माँ फटी आँखों मुझे देखती रह गयीं, बोली नहीं।

मैंने आग्रहपूर्वक कहा, "बताओ, कोई बुआ का हाल नहीं आया?"

माँ ने कुछ लापरवाही के साथ कहा, "न, नहीं।"

मैंने कहा, "आया है।"

बोलीं, "नहीं आया, नहीं आया। क्यों मेरी जान खाये डालता है।"

मैंने कहा, "क्या बात है, बतलाती क्यों नहीं हो?"

बोलीं, "बात? कह तो दिया कि बात कुछ भी नहीं है। वह अच्छी होगी और क्यों अपना पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं। जब देखो—बुआ-बुआ! तेरी बुआ मर गयी! हाँ तो! खबरदार जो अब बुआ की बात मुझसे की।"

मैं सकते में रह गया। पूछा, "क्या है, क्या है?"

"कुछ नहीं। चल, जा अपना सबक देख।"

मैं किसी भाँति माँ से कुछ न पा सका। वह कुछ कहती ही नहीं थीं। बाबूजी से पूछा वह भी जवाब में चुप रह गये। मैंने कहा, "बाबूजी, सच बताइए बुआ मर गयी हैं?"

"नहीं तो—।"

"तो क्या बात है?"

"बात कुछ नहीं है।"

मुद्दत बीत गयी। पर मैं इस रहस्य को न खोल सका। अब से बुआ की चर्चा घर में निषिद्ध बन गयी। उनका नाम आता तो सब चुप रह जाते। पिताजी की प्रकृति भी बदल गयी दीखती। वे कुछ भीरु, गम्भीर हो चले थे। माँ चिड़चिड़ी होती जाती थीं।

बहुत दिनों बाद जो बात मैंने जानी, वह यह थी कि पति ने बुआ को त्याग दिया है। बुआ दुश्चरित्र हैं और फूफा को मालूम है कि वह सदा से ऐसी हैं। 'छोड़ दिया है', इसका मतलब एकाएक समझ में नहीं आया। छोड़ कहाँ दिया है? क्या वह खुद चली गयी हैं, या किसी अलग स्थान पर उनको रख दिया गया है, या उसी घर में ही हैं और सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है? पता चला कि उसी शहर में एक अलग छोटे-से घर में रख दिया है, कोठरी है। उसमें चाहे जैसे रहें, जैसे चाहें खाएँ-पिएँ। यह भी ज्ञात हुआ है कि फूफा ने तो कहा था कि मैके चली जाओ, पर बुआ इसके लिए बिलकुल राजी नहीं हुईं। धमकाया गया, मारा-पीटा गया; पर उन्हें मरना मंजूर हुआ, हमारे यहाँ आना कबूल नहीं हुआ। तब खुद फूफा जाकर उन्हें अलग घर में छोड़ आए हैं।

यह सब कुछ कहानी-सा मैंने सुन लिया। मेरी कल्पना आरम्भ में तो उधर उत्साह के साथ बढ़ी। फिर शनैः-शनैः उत्साह शान्त हो गया और जीवन उस कहानी को स्वीकार कर सहज गति से चलने लगा।

जिन्दगी है, चलती जाती है। कौन किसके लिए थमता है, यह तो चक्कर है। गिरता गिरे, उसे उठाने की सोचने में तुम लगे कि पिछड़े। इससे चले चलो, चले चलो। पर इस चलाचली के चक्कर में अकस्मात् मुझे और भी पता लगा। वह यह कि अब बुआ उस जगह नहीं हैं। वहाँ से (अमुक) नगर चली आयी हैं। कोयले की दुकान करने वाला एक बनिया साथ है। वह (अमुक) नगर जहाँ हम रहते थे, उससे दूर नहीं था। बुआ उसी के एक कोने में आ टिकी होंगी। यह बात एकदम बहुत ही अद्भुत और असम्भव-सी लगी।

इसके थोड़े दिनों बाद पिताजी का देहान्त हो गया। अब हम जरा संकुचित भाव से रहने लगे, क्योंकि माँ बहुत सोच-विचार वाली थीं। झूठी शान से बचती थीं और मेरे बारे में ऊँची आशाएँ रखती थीं। इस बीच मैं एफ.ए. कर ही चुका था। थर्ड ईयर में पढ़ता था। यूनिवर्सिटी जा रहा था कि उस नगर के स्टेशन का बोर्ड देखकर एकाएक मन में संकल्प-सा उठने लगा। सोचा कि अभी तो नहीं, पर लौटते हुए अकेले में जरूर यहाँ उतरना होगा। मैं बुआ को ढूँढ़ निकालूँगा और कहूँगा—"बुआ तुम! यह तुम्हारा

क्या हाल है? चलो। यहाँ से चलो।''

यूनिवर्सिटी से छुट्टी होते ही घर पहुँचने के लिए माँ ने लिख भेजा था। बात यह है कि मेरे ब्याह की बातचीत के सूत को उठाकर इस बार माँ उसमें पक्की गाँठ दे देना चाहती थीं। लेकिन लौटते हुए रास्ते के उस स्टेशन पर उतरे बिना मुझसे नहीं रहा गया और मैंने बुआ को खोज निकाला।

5

शहर के उस मुहल्ले में जाते हुए मेरा मन दबा आता था। कहाँ बुआ, कहाँ यह जगह, यह जिन्दगी! वहाँ नीचे दर्जे के लोग रहते थे। भीतर गली में गहरे जाकर बुआ की कोठरी थी। बनिया बाहर एक दुकान लेकर वहाँ दिन में कोयले का व्यवसाय करता था। मैं कोठरी के द्वार पर पहले तो ठिठका, फिर हिम्मत बाँध दरवाजा ठेलता हुआ अन्दर चला गया।

वह बुआ ही थीं। क्या वही हैं? लेकिन वही थीं एक धोती में बैठी, अँगीठी पर कोयले की आँच में रोटी सेंक रही थीं।

किसी को आते देख, उन्होंने झट आँचल थोड़ा माथे के आगे खींच लिया था। लेकिन जब मुझे देखा, तो देखती ही रह गयीं। क्या पहचाना नहीं? या पहचान लिया है? मैं उस निगाह के सामने स्तब्ध होकर रह गया। उस समय मैं अपने को बहुत-बहुत धिक्कारने लगा कि यहाँ क्यों आया, क्यों आया? कुछ ऐसा भाव उस दृष्टि में था।

कुछ देर बाद चुपचाप उन्होंने मुझसे आँख हटाकर अपने सामने की अँगीठी पर ही जमा ली और रोटी बनाने में लग गयीं।

थीं बुआ ही, लेकिन उनका यह क्या रूप था? देह दुबली थी। मुख पीला था। गर्भवती थीं। एक धोती में अपनी सब देह ढाँके बैठी थीं। मुख पर क्या लाज की छाया आ छायी थी। कोठरी 9×10 वर्ग फिट से बड़ी न होगी। बाहर थोड़ी खुली जगह थी, जहाँ धोती-अँगोछे सूख रहे थे। कमरे में एक ओर कपड़े चिने थे। उनके पास ही दो-एक बक्स थे। उनके ऊपर बाँस टाँगकर कुछ काम के कपड़े लटका दिये गए थे। बुआ की पीठ की तरफ दो-एक टीन के आधे कनस्तर, दो-चार हँडिया और कुछ मिट्टी के सकोरे और टीन के डिब्बे थे। वहाँ पास कुछ पीतल, एल्युमिनियम के बर्तन रखे थे और एक टीन की बाल्टी और पानी का घड़ा भरा धरा था। एक कोने में कोयले की बोरी आधी झुकी हुई खड़ी थी।

मैं यह सब देखता रह गया। बुआ कुछ भी नहीं बोलीं। वह एकटक सामने अँगीठी में देखती हुई रोटी बनाने में लगी रहीं।

मैंने कहा, ''मैं प्रमोद हूँ, बुआ।''

वह नहीं बोलीं।

मैं चुप रहा। फिर बोला, ''मैं जाऊँ!''

लेकिन मुझसे जाया नहीं गया। पैर मानों जम गये हों। मैंने हठात् हलके भाव से कहा, ''लो, तो मैं जाता हूँ। लेकिन कल से मुझको भी खाने को नहीं मिला है और मुझे भूख लग रही है—यह सच बात है।''

यह कहकर मैं मुड़कर चलने को हो गया।

बुआ ने किसी ओर देखे बिना कहा—''सुनते नहीं हो, खड़े क्या हो! जाके चार पैसे का दही ले आओ। और सुनो, बूरा भी लाना।''

वह व्यक्ति बिना कुछ देर लगाये कोठरी से बाहर चला गया।

मैंने तब बूट के तस्मे खोले और एक तरफ चुनकर रखे हुए कपड़ों के ऊपर बेतकल्लुफी से जा बैठा। मैं बुआ के बिलकुल सामने था। मैंने कहा, ''बुआ, तुम सच जानना, मैं कल का भूखा हूँ।''

बुआ ने अब आँख उठाकर मेरी ओर देखा। उन आँखों में क्या था? बोलीं, ''आप यहाँ खाएँगे?''

मैंने कहा, ''मैं 'आप' ही सही, लेकिन मैं भूखा हूँ। नहीं कैसे खाऊँगा?'' बुआ नीचे देखने लगीं। उन्होंने अँगीठी पर से तवा उतारा और वे तवे की रोटी को अँगीठी की आँच पर सेंकने लगीं। रोटी फूल आयी। उसको इधर-उधर करके सेंकती रहीं, बोली नहीं। रोटी सेंककर अलग रख दीं। उसके बाद तवा अँगीठी पर रख दिया। और फिर—

मुझे मालूम हुआ कि उनकी आँखें हठात ऊपर उठती नहीं हैं। मेरा जी इस पर बेहद त्रस्त था। चाहता था कि उन्हें जतला दूँ कि मैं प्रमोद हूँ, प्रमोद। बुआ, सुनो तो, देखो तो। मैं वही-का-वही प्रमोद हूँ। और तुम भी तो बुआ, वही-की-वही बुआ हो। क्या नहीं— ?

मैंने कहा, ''बुआ!''

उन्होंने सुन लिया।

मैंने कहा, ''बाबूजी तो चले गये, बुआ। तुम्हारी याद लेकर गये। बताओ, मेरे अब कौन है? एक माँ है, दूसरी तुम।''

बुआ निस्तब्ध भाव से बैठी ही रहीं, कुछ भी नहीं बोलीं। मेरे मन में हुआ कि खुलकर सामने बिछ जाऊँ कि बुआ कुछ कहें तो! क्यों यों मुझे सजा देती हैं!

मैंने कहा, ''मैं बी.ए. में पढ़ रहा हूँ, बुआ। अभी यूनिवर्सिटी से आ रहा हूँ।

माँ ब्याह की बात कर रही हैं। सुनती हो न? माँ इसी साल ब्याह करना चाहती हैं। पर मैं नहीं चाहता। बी.ए. पास नहीं करता, तब तक मैं कुछ भी ऐसी-वैसी बात नहीं सोचना चाहता। ठीक है न, क्यों बुआ? तुम मत बोलो, लेकिन मैं तुम्हें बताए देता हूँ कि अभी ब्याह नहीं करने का। पर वहाँ अम्मा से कोई भी मेरी तरफ की बात कहने वाला नहीं है। वह मुझे दबा लेती हैं। बुआ, मेरे साथ जबरदस्ती हुई, तो सच कहता हूँ कि मैं तुम्हें ही दोष दूँगा। मैं और कुछ नहीं जानता।''

मैंने देखा कि बुआ के हाथ बेलन पर शिथिल निष्क्रिय पड़ गये हैं और तवे की रोटी फूलकर अब जलने की चेतावनी दे रही है।

इतने में द्वार पर आहट आयी। वह मानों चौंककर सावधान हुई और चकले पर पड़ी रोटी यथाविधि बेलने लगीं। उसी समय उस व्यक्ति ने आकर दही और बूरा बुआ के पास ला रखा।

बुआ ने कहा, ''अभी दुकान पर बैठो। सुना? खाने के लिए थोड़ी देर में आना।''

व्यक्ति सुनकर मुझे देखता हुआ बाहर चला गया।

बुआ ने उस समय आँख उठाकर मुझे देखा। कहा, ''लो, आओ।''

मैंने कहा, ''पहले बना लो, तब तुम्हारे साथ खाऊँगा।''

बुआ ने कहा, ''नहीं, तुम बैठो।''

मैंने कहा, ''मेरे साथ नहीं खाओगी?''

''नहीं।''

''कब खाओगी?''

''पीछे खाऊँगी।''

मैंने कहा, ''पीछे कब खाओगी, अभी न खा लो।''

''उनको खिलाकर खाऊँगी।''

मैं कुछ नहीं बोला। चुपचाप उठा, मोजे खोले, कोट उतारकर बाँस पर टाँग दिया। थाली ली। थाली लेकर क्षणिक सोचता रह गया, कहाँ-कैसे बैठूँ।

''वहाँ से एक दरी ले लो न, और यहाँ पास डालकर बैठ जाओ।''

मैंने दरी ली और जहाँ बताया गया था, बिछाकर बैठ गया। खाते समय बुआ ने पूछा—''माँ अच्छी हैं?''

''अच्छी हैं।''

''यहाँ कहाँ ठहरे हो?''

''स्टेशन पर वेटिंग-रूम में सामान पड़ा है।''

''कल ही आये?''

''हाँ, कल ही आया।''

"यहाँ की खबर किसने दी?"

"लग गयी।"

"कब जाओगे?"

"जब तुम चलोगी।"

सुनकर जैसे बिजली छू गयी हो। चेहरा उनका एकदम फक् हो पड़ा। जैसे लहू जम आया। निगाह नीचे डाल ली और कुछ न बोलीं। मैं भी चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद मैंने कहा, "चलोगी नहीं?"

बुआ ने इस बार मानों अत्यन्त कठोर स्थिर-भाव से मुझे देखते हुए पूछा, "कहाँ?"

मैंने कहा, "कहाँ क्या, घर।"

बुआ ने उसी भाव से देखते रहकर कहा, "माँ ने कहा है?"

"मैं तो कह रहा हूँ।"

यह सुनकर मानों उन्हें धीरज बँधा। उनके चेहरे का कठिन भाव कम हो आया। बोलीं, "पहले शादी तो कर लो, तब घर बनेगा। और उस समय कहने आओगे, तब मेरे सुनने का भी वक्त होगा।"

मैंने जोर से कहा, "मेरा घर मेरा नहीं है, तो किसका है?"

वह धीर भाव से बिना उत्तर दिये मुझे देखती रहीं।

मैंने पूछा, "तो नहीं चलोगी?"

बुआ इस पर कुछ मुस्करायीं। बोलीं, "तुम तो कहते थे, बी.ए. में पढ़ता हूँ। पर देखती हूँ, तुमने अब भी कुछ नहीं सीखा है।"

मैंने कहा कि नहीं सीखा तो नहीं सही, लेकिन मैं तुम्हें घर ले चलूँगा। बुआ ने कहा, "अच्छा पहले खा तो ले। फिर जो हो करना।"

मैंने कहा, "तुम्हें पता है, मैं बीस बरस का हो रहा हूँ, बालिग हूँ। घर का मैं मालिक हूँ। माँ हैं, तो मेरी हैं। मैं तुम्हें यहाँ कैसे रहने दूँगा?"

बुआ क्षणिक रुकीं, फिर बोलीं—"जरूर ले चलेगा, तो सुन, मैं नहीं जाऊँगी, मैं नहीं जा सकती। तुम मुझको नहीं जानते हो, मैं पति के घर को छोड़कर आ रही हूँ। पति हैं, पर दूसरे पुरुष के आसरे रह रही हूँ। उसके साथ रह रही हूँ। तुम न जानो, मैं यह जानती हूँ। तुम अपनी आँखें ढँक लो, लेकिन मुझसे अपना यह पातक निगल जाने को नहीं कह सकते। फिर जिनको साथ लेकर पति को छोड़ आयी हूँ, उनको मैं छोड़ दूँ! उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं त्यागा? उनकी करुणा पर मैं बची हूँ। मैं मर सकती थी, लेकिन मैं नहीं मरी। मरने को अधर्म जानकर ही मैं मरने से बच गयी। जिसके सहारे मैं उस मृत्यु के अधर्म से बची, उन्हीं को छोड़ देने को मुझसे कहते हो! मैं नहीं छोड़ सकती। पापिनी हो सकती हूँ, पर उसके ऊपर क्या बेहया भी बनूँ! क्यों मुझे

तंग करते हो?''

मैं सुनता रह गया। उस तरह की बातें मैंने बुआ के मुख से कभी नहीं सुनी थीं। मालूम होता था ऐसा ही कोई भीतरी बल उनके इस जीवन को थाम भी रहा है, नहीं तो वह हर तरह अधमरी तो हैं ही।

मैंने खाना खा लिया। बुआ भी खाना बना चुकी थीं। उसी समय—

''सुनो, अभी ही तो नहीं जा रहे हो न? तो एक काम करो। बाहर ही दुकान है, वहाँ से उन्हें खाने के लिए भेज दो। तुम उतने पाँच मिनट वहाँ बैठना, फिर यहाँ आराम करके जाना हो तो, दोपहर बीते जाना।''

मैंने बाहर आकर उस व्यक्ति को खाना खाने के लिए कह दिया और स्वयं सोचने लगा कि उस कोयले की दुकान पर कहाँ बैठूँ। एक टाट है जिस पर पिसा हुआ कोयला बिछा है। उस बिछावन पर मुझसे बैठा नहीं गया। मैं दुकान के आगे होकर टहलने लगा।

विचित्र मुहल्ला था। वहाँ दिन शायद ही कभी होता हो। दिन में रात होती थी और रात में क्या होता होगा, पता नहीं। सटी-सटी कोठरियाँ थीं। वे कोठरी ही दुकानें थीं और रात में वे ही ख्वाबगाह। किसी पर सस्ती बिसाइत की चीजें हैं, तो किसी पर बासी साग-भाजी और चुचके फल रखे हैं। कहीं नाई है, कहीं हाथ की मशीन लिये दर्जी बैठा अमरीकन तर्ज के कपड़े सी रहा है। यहाँ आसमान भी एक गली बन जाता है और काल की गिनती रातों के हिसाब से होती है।

मैं बी.ए. का विद्यार्थी पैण्ट पर सिर्फ कमीज और कमीज पर सिर्फ टाई लगाये, उस दुकान के आगे टहलता हुआ बुआ की और उनके चारों ओर की उस परिस्थिति की विचित्रता पर बिना सोचे, जाने क्या-क्या सोचता रहा।

इतने में उस व्यक्ति ने आकर कहा कि वह आपको बुला रही हैं। मैं चलने लगा, तब एकाएक लगभग मुझे बाहर से पकड़कर रोकते हुए कहा, ''एक मिन्ट! बस एक मिन्ट!'' यह कहकर मुझे वहीं छोड़ लपकते हुए वह आगे बढ़ गया। लौटा, तो उसके हाथ में कागज में लिपटा एक पान था। उसे सामने करके कहा, ''लीजिए।''

मैंने चुपचाप पान ले लिया।

''सुरती?''

मैंने कहा, ''जी नहीं, और कुछ नहीं चाहिए।''

वह मुझे शायद संकोच में नहीं रखना चाहता था। उसने अपनी बण्डी की जेब में हाथ डाला और वहाँ से एक डिबिया निकालकर उसे खोलकर मेरे सामने पेश करते हुए कहा, ''बनारसी सुरती है, बाबू।''

मैंने कहा, ''मैं...।''

''(इतने) रुपये सेर वाली है, बाबू खास दुकान की।''

मुझे याद नहीं रहा कि ठीक कितने रुपये सेर वाली वह सुरती थी। जरूर वह सुरती अच्छी ही होगी। उसे इनकार करने की लाचारी पर मैं कुछ लज्जित हो आया। मैंने कहा, ''जी मैं...।''

व्यक्ति सदय भाव से मेरी असमर्थता पर हँस दिया—'हें-हें-हें!'

मैं चला आया। आकर देखा कि कपड़ों का ढेर अपने स्थान से सरका दिया गया है और नीचे गुदगुदा करने के लिए कई कपड़े डालकर ऊपर एक नयी-सी सुजनी को ठीक-ठीक बिछाने में बुआ लगी हुई हैं। मुझे आते देखकर कहा—''आओ, अब जरा लेट लो।''

मैंने पूछा, ''तुमने खाना खा लिया है?''

''अभी खाती हूँ।''

''तो खा लो।''

''बस खाती हूँ। तुम यहाँ बैठो तो।''

मैं बिछी सुजनी पर आ बैठा। उन्होंने दूर से ही दो तकिये मेरे सामने डाल दिए। कहा, ''लेट न जाओ।''

मैंने कहा, ''लेट जाऊँगा।''

इस पर बिना कुछ कहे व अवशिष्ट जूठी थाली को माँजने लगीं।

माँजकर फिर उसी थाली में खाना परोसकर मुझे अपनी ओर देखते हुए, देखकर बोलीं,''आओ, अब साथ दोगे?''

मैंने कहा, ''मेरा साथ तो तुमने दिया ही नहीं—''

बोलीं, ''अब तुम साथ नहीं दे सकते?''

मैंने कहा, ''देख लिया, बुआ, तुम मेरा साथ नहीं चाहतीं।''

''तुम्हारे साथ के लायक मेरा क्या मुँह है!'' कहकर वे थाली उठा एक कोने में चली गयीं।

खा-पी कर तभी-के-तभी बर्तन माँजने लगीं। मैंने कहा, ''यह पीछे नहीं हो सकता?''

बोलीं, ''अभी दो मिनट में सब हुआ जाता है।''

मैं उधर से आँख मोड़कर, तकिया दबा, करवट लेकर पड़ा रहा। उस समय मैं यह भूल गया कि मेरा आनेवाला कल इस आज की ही भाँति नहीं होनेवाला है, जाने वह कैसा हो। भूल गया कि कुछ देर बीतते-न-बीतते मुझे इस परिस्थिति से अपने को तोड़ लेना है। ऐसा मालूम हो आया कि मैं यहीं का हूँ, यहाँ ही होने के लिए हूँ और इसके इधर-उधर मेरे लिए कुछ भी स्वाभाविक नहीं रह गया है। कहाँ मेरा कालिज है, कहाँ विवाह की बातचीत, कहाँ माँ और मेरे अपने जीवन के मनसूबे? मानों कहीं कुछ न रहा। भविष्य की आवश्यकता ही मिट गयी। जो है, वही सब है।

वह काल के अधीन है, यह तब ज्ञान ही न रहा। ऐसा भी न अनुभव हुआ कि वाद-विवाद द्वारा, प्रश्नोत्तर द्वारा, सफाई-तफसील द्वारा भरने के लिए कोई अन्तर भी हमारी परस्पर की स्थितियों के मध्य बाकी बचा हुआ है। मानों सब कुछ ठीक है और हम दोनों का यहाँ इस विधि होना भी उस 'सब ठीक' का ही भाग है। जो बिना त्रिकाल-भेद के सदा-सर्वदा वर्तमान है, उसी के निर्देश पर मानों मात्र वर्तमान होकर मैं वहाँ था।

इसी जग-नींद में सुना—"सो गये?"

करवट लेकर देखा, बुआ मेरे बिछावन के किनारे धरती पर बैठी हैं, पूछ रही हैं, "नींद आ गयी थी क्या?"

"नहीं तो...।"

"नहीं आयी, तो अब जरा नींद ले लो।"

"तुम्हें अब कुछ और काम है?"

"काम?"

"कुछ और काम न हो तो...।"

"काम की तो कमी नहीं है, लेकिन वह देखा जाएगा। पर तुम...।"

"बुआ, तुम यहीं बैठो, काम आज छोड़ दो।"

"छोड़ तो दिया है और बैठी हूँ।"

मेरे मन में उस समय बहुत से प्रश्न थे। आज जो बुआ की अवस्था है, उसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं—यह बात चित्त पूरी तरह नहीं मान पाता था। फिर भी इस अवस्था में भी बुआ के व्यवहार में कुछ ऐसी स्वाभाविकता थी कि मेरे लिए सम्भव न हुआ कि मैं अपने अहंभाव में उन पर करुणा करूँ। फिर क्या करूँ? मैंने अवश भाव से कहा—"बुआ!"

वे बोलीं, "कहो-कहो, रुक क्यों गये?"

मैंने अटककर कहा, "मेरी कुछ समझ में नहीं आता है। यह जगह मुझे बुरी मालूम होती है।"

"जगह को अच्छी कौन कहता है? पर जगह तो है। कभी जगह-भर होने का ही सवाल बड़ा होता है। तुम साफ कहो न प्रमोद, कि क्या तुम्हारी समझ में नहीं आता है?" कहकर वह जाने किस दृष्टि से मुझे देख उठीं। वह दृष्टि मुझे भली नहीं मालूम हुई।

मैंने कहा, "तुम यहीं रहोगी? इसी जगह? कब तक रहोगी?"

"अभी तो इसी जगह हूँ। इस कोठरी में न रहूँगी, कोई और रहेगा। ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेंगी। इनमें रहने लायक आदमी बहुत हैं। आगे का हाल मैं नहीं जानती। हाँ, समझती हूँ कि मैं ज्यादा दिन यहाँ नहीं रह पाऊँगी।"

"कहाँ जाओगी?"

"कौन जानता है!"

उन्होंने स्मित हास से कहा—"तुम समझते हो यह आदमी जिसके साथ मैं रह रही हूँ, मुझे ज्यादा दिन रख सकेगा? नहीं, मैं जानती हूँ एक दिन यह मुझे छोड़कर चला जाएगा। तभी इस कोठरी से मेरे उठने का भी दिन होगा।"

जिस प्रकृत और स्थिर-भाव से वे यह कह रही थीं उससे मैं मानों दबा आ रहा था। मैंने पूछा, "तब क्या करोगी?"

"क्या करूँगी, यह मैं अभी क्या जानती हूँ? क्या कोशिश करके भी जान सकती हूँ?"

पर डरते-डरते पूछा, "क्या?"

"वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूँगी, इसका विश्वास रखो।"

मैं सुनकर घबरा गया।

वह कहती रहीं—

"जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है; यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की जरूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी, शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे? मन माँगा जाएगा, तन भी माँगा जाएगा। सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री—न, न, यह न होगा। अगर ये सोचती हूँ कि—।"

वे यह सब मुझे कह रही थीं, ऐसा बिलकुल प्रतीत नहीं हुआ। मानो अपनी ही कल्पनाओं को उत्तर द्वारा निरुत्तर करना चाहती हों। मैंने कहा, "बुआ नाराज न होना। लेकिन मैं पूछता हूँ, ऐसी तुम क्यों हो गयीं? पति को क्यों छोड़ आयीं?"

बुआ ने स्थिर-भाव से मुझे देखते हुए कहा—"तुमसे नाराज होऊँगी, यह क्या तुम सम्भव समझते हो? पति को मैंने नहीं छोड़ा। उन्होंने मुझे छोड़ा है। मैं स्त्री-धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती हूँ। क्यों पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता, तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? मुझे देखना भी नहीं चाहते, यह जानकर मैंने उसकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा, 'मैं तेरा पति नहीं हूँ' तब मैं किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।"

"बुआ! बुआ! यह तुम क्या कह रही हो? यह सब क्यों हुआ?"

"क्यों हुआ, यही तो तुम्हें बतलाती हूँ। ब्याह के बाद मैंने बहुत सोचा, बहुत सोचा। सोचकर अन्त में यही पाया कि मैं छल नहीं कर सकती, छल पाप है। हुआ जो हुआ, ब्याहता को पतिव्रता होना चाहिए। उसके लिए पहले उसे पति के प्रति सच्ची

होना चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है। प्रमोद, शीला के भाई को तुम जानते हो?''

इस प्रश्न पर मैं उनको देखता रह गया।

''उनका एक पत्र आया था। पत्र में कुछ विशेष नहीं था। यही था कि 'मैं अब सिविल सर्जन हूँ, शादी नहीं हुई है। न करूँगा। तुम्हारा विवाह हो गया है, तुम सुखी रहो। मेरे लायक कोई सेवा हो तो लिख सकती हो।' उसी पत्र को लेकर ही मेरे मन में सोच-विचार का चक्कर चला था। मैंने जवाब में लिख दिया कि 'आपके पत्र के लिए कृतज्ञ हूँ, पर आइन्दा आप कोई पत्र न भेजें। मैं सुखी होने की कोशिश कर रही हूँ।' जवाब देने से पहले दोनों पत्रों का जिक्र तुम्हारे फूफा से कर देना जरूरी था। सुनकर उन्होंने कहा कि मुझसे कहने की कोई जरूरत नहीं है। यह था, तो मुझसे शादी क्यों की? कुछ देर बाद उन्होंने कहा कि मैं हरामजादी हूँ। मैंने कोई प्रतिवाद नहीं किया। उस दिन से तुम्हारे फूफा मुझसे किनारा करते चले गये। मुझे तो अब नाराज होने का अधिकार न था। उन्होंने मेरी परवाह करनी छोड़ दी। मैं इस योग्य थी भी। उनकी परवाह का अधिकार मुझे क्या था! काम करती थी और जो मिलता उससे पेट भरकर पड़ी रहती थी। पर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आँखों में अब भी मैं काँटा हूँ। इसकी वजह भी मुझे दीखी कि मेरी उपस्थिति उनको खटके, यह देखकर मैंने एक रोज उनसे जाकर कह दिया कि मुझे आप चाहें तो घर में से दूर कर सकते हैं। उन्होंने कहा, 'हाँ जाओ! अपने मैके चली जाओ।' मैंने कहा, 'वहाँ से मैं कटकर आ गयी हूँ। आपकी खुशी से तो वहाँ जा सकती हूँ, आपकी नाराजगी में वहाँ जाना मेरा धर्म नहीं है।' उन्होंने कहा कि फिर जो चाहे कर, जहाँ चाहे जा। मैंने पूछा, 'कहाँ जाऊँ, क्या करूँ?' उन्होंने कहा कि 'जान न खा, चल दूर हो।' उसके बाद फिर कुछ दिन बीत गये। मैं उनके राह की बाधा थी। एक दिन उन्होंने एकदम आकर कहा, 'चल, निकल यहाँ से।' मैंने आज्ञा न मानने की जिद नहीं की। मुझे वहीं शहर से दूर एक कोठरी में लाकर वह खुद ही छोड़ गये। साथ ही जरूरी चीज-वस्तु भी उन्होंने लाकर दे दी थीं।—यह कुल कहानी है।''

मैं बुआ की तरफ देखता रहा। उनके चेहरे पर कोई मैल नहीं दीखा। मुझे हैरानी थी। मानो जो हुआ उसकी शिकायत उन्हें नहीं है। मैंने बड़े आवेश से कहा, ''तुम घर क्यों नहीं आ गयीं, बुआ? इस आदमी के साथ बसने के लिए यहाँ क्यों चली आयीं?''

बोलीं, ''प्रमोद, मैं तुझे कैसे बताऊँ। मैं घर नहीं आ सकती थी। एक बार घर आकर मैं समझ गयी थी कि वैसे मैके जाना ठीक नहीं है। स्त्री जब तक ससुराल की है, तभी तक मैके की है। ससुराल से टूटी, तब मैके से तो आप ही मैं टूट गयी थी।'' मैं विस्मय से उनकी ओर देखता रहा। उनके शब्दों का कुछ विशेष अर्थ मुझे नहीं

मिलता। इससे मुझे रोष भी आया।

मैंने कहा, ''यह क्या कह रही हो? तुम घर नहीं जा सकती थीं! यहाँ आकर एक अन्य पुरुष के साथ बस सकती थीं! यह कैसी बात कहती हो?''

''घर तो, हाँ, नहीं जा सकती थी। एक अन्य पुरुष के साथ बसने की बात मैं नहीं जानती। लेकिन वह पुरुष अन्य क्यों है?''

''अन्य क्यों है?''

''हाँ, अन्य तो वह नहीं है। यहाँ क्या अन्य भाव से मैं उससे व्यवहार करती दीखती हूँ?''

''वह पति है?''

''पति! मैं नहीं जानती। लेकिन मेरा अस्तित्व मेरे लिए नहीं है। इस समय तो बेशक मैं उस पुरुष की सेवा के लिए हूँ।''

''सेवा?''

''हाँ, सेवा क्यों नहीं? जब मैं वहाँ कोठरी में अकेली थी तब मरी क्यों नहीं, क्या यह जानते हो? मैंने यह सोचा था और चाहा था कि मैं मर ही जाऊँगी। ऐसे जीने में क्या है? लेकिन एकाएक मुझको पता लग आया कि जिसने जीवन दिया है, मौत भी उसी की दी हुई मैं ले सकती हूँ। अन्यथा अपने अहंकार के वश मरनेवाली मैं कौन होती हूँ? भूख से मरना पड़े तो मर भी जाऊँ, पर सोच-विचार कर अपघात कैसे कर सकती हूँ! ऐसे समय उसके तीसरे रोज इसी आदमी ने खतरा उठाकर मुझे पूछा था। उस आदमी के यों पूछने में क्या बुराई थी! शायद मेरे रूप का लोभ तो उसे था, लेकिन उसके लिए मैं उसे दोष क्या देती! वह विघ्नों की तरफ से अन्धा होकर मेरे पास आया। उसका अपना परिवार था, मेली-जोली थे। उनकी ओर से लापरवाह होकर, ताने और धमकी सहकर, पहले चोरी, फिर उजागर उसने मुझे सहायता दी। उसकी चोरी में मेरा भाग न था। सहायता और कुछ नहीं—यही कि कोयला ला दिया, सीधा लाकर रख दिया, और ढाढ़स की एक-दो बातें कह दीं। मैंने मौत से तो मुँह मोड़ ही लिया था। पर उधर से मुँह मोड़कर जीने के संकल्प की ओर उन्मुख हुई, तभी सामने इस आदमी की सहायता आ गयी। उनसे मुँह मोड़ती तो किस न्याय पर? मैंने उस सहायता को कृतज्ञता के साथ अंगीकार किया। प्रमोद, तुमने उसे देखा तो है। मेरे रूप का लोभ इस पर चढ़ता गया। वह मद हो आया। मुझे उस समय उस पर बड़ी करुणा आयी। प्रमोद तुम्हें कैसे बताऊँ, लेकिन इस अभागे आदमी का मोह उस पर इतना सवार हो गया कि मैं नहीं कह सकती। अपने परिवार को वह भूल गया, अपने कारोबार को भी भूल गया! मेरे लिए सब स्वाहा करने पर तुल पड़ा! एक रोज मुझसे बोला, 'चलो, भाग चलें।' मैं उसे बोध देती, तो क्या वह सुनता! गर्म तवे पर जैसे जल की बूँद चटककर छिटक रहती है, वैसे ही मेरी ओर से कोई ठण्डा बोध तब विस्फोट ही पैदा

करता। मैंने, उस बेचारे से पूछा, 'कहाँ चलोगे?' 'जहाँ कहो, चलें। मेरी प्यारी, तुम मेरी सर्वस्व हो।' जैसी मैं उसको प्यारी थी और प्यारी हूँ, वह मैं ही जानती हूँ। उसे अपना ही प्यार था, लेकिन उसे इसका पता न था। उस समय मेरे जी की हालत मत पूछो। ऐसा त्रास मैंने बहुत भोगा है। उसका प्रेम स्वीकार करने की कल्पना भी दुर्विसह्य थी। पर उसका दायित्व क्या मुझ पर न था! और यह भी ठीक है कि उस समय उसका सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता, या शक्ति होती तो मुझे मार देता। सच कहती हूँ प्रमोद, कि उस समय उस आदमी पर मुझे इतनी करुणा आयी कि मैं ही जानती हूँ! मैं उसके इस भ्रम को किसी भाँति न तोड़ सकी हूँ, उस पर मुग्ध हूँ, ऐसा करना क्रूरता होती। मेरे पास जो कुछ बचा-खुचा था, मैंने उसे सौंप दिया। हजार-बारह सौ से ज्यादा का वह माल न होगा। सब कुछ उसे देकर इस जगह का नाम मैंने सुझाया और कहा, 'वह दूर जगह है, वहीं चलो।' जानते हो प्रमोद, इस जगह का नाम क्यों बताया? इसलिए कि मैं जानती थी कि जगह तुम्हारे पास है और एक-न-एक रोज मैं तुम्हें जरूर देख पाऊँगी।''

मैं बुआ को देखता रह गया। मेरे भीतर जाने कैसी उथल-पुथल मची थी। मैं नहीं जानता था कि मैं क्या चाहता हूँ—इस सामने बैठी प्रगल्भ नारी को घृणा करना चाहता हूँ, या उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहता हूँ। वह नारी अति निर्मम स्नेहभाव से मुझे देखती रही, कहती रही—''लेकिन यह स्वप्न में भी न सोचा था कि खोजते हुए तुम्हीं मुझे पा लोगे। सोचा यह था कि जब चित्त न मानेगा, तब अपने प्रयत्नों से दूर से ही तुम्हें देखकर जी-भर लिया करूँगी। प्रमोद, तुम मुझे घृणा कर सकते हो। लेकिन फिर भी तो मैं तुम्हारी बुआ हूँ।''

मैं उस काल अत्यन्त अवश हो आया था। जी हुआ कि यहाँ से भाग सकूँ, तो भाग जाऊँ; लेकिन जकड़ा बैठा रह गया। मन पर बहुत बोझ पड़ रहा था। न क्रोध में चिल्लाया जाता था, न स्नेह के आवेग में रोया जाता था।

''प्रमोद, मेरी अवस्था देखते हो। तुमसे छिपाऊँगी क्या? यह गर्भ इसी आदमी का है।''

कहकर ऐसे ठण्डे निर्दय-भाव से उन्होंने मुझे देखा कि उस निगाह को न सँभाल कर मैंने अपना मुँह तकिये में छिपा लिया।

''...तुमको लाज आती है। लाज की बात ही है, लेकिन मैं जानती हूँ कि इस आदमी को अब मुझसे विरक्ति हो रही है और अपने परिवार की याद आ रही है। जब सबको छोड़कर मुझे साथ ले चलने को उतावला था, तब भी मैं जानती थी कि थोड़े दिन बाद इसे लौटकर अपने परिवार के बीच आ जाना होगा। जानती थी कि इसी अवश अनुरक्ति में से एक दिन प्रबल विरक्ति का भाव फूटेगा। जानती थी, इसलिए मैं उसे साथ ले आयी। वह बेरुखी का भाव अब शुरू हो गया है। अब उसे चले ही

जाना चाहिए। परिवार उसका वहाँ अकेला है। मुझे वह नहीं झेल सकता। मेरी कोशिश है कि वह मुझसे उकता जाए। अपनी अवस्था मैं जानती हूँ। पेट में बालक है, लेकिन ऐसी अवस्था में भी स्वार्थ की बात सोचना ठीक नहीं है। मैं उसे उसके परिवार में लौटाकर ही मानूँगी। अब समय आया है कि उसे इस बात की अक्ल आ जाए। अब उसका मोह टूट गया है। वह जान गया है कि मैं उसकी सरवस नहीं हूँ। मैं बस एक बदजात, बदकार बाजारू औरत हूँ।''

तकिये में मुँह दबाये मैं यह सब सुनता रहा। इतनी वेदना मैंने शायद ही कभी पायी हो। मेरा मन भीतर-ही-भीतर मसोस-मसोसकर रह जाता था और मुझे कुछ भी कल न मिलता था। एक आँसू तक भी उठकर आँखों में नहीं आ सका। तकलीफ इतनी अधिक थी।

''मैं कहती हूँ, महीने-दो महीने के भीतर यह आदमी यहाँ से चल देगा, और मेरे पास पैसे की दुनिया है। इसलिए सात सौ, आठ सौ जो हाथ बचेगा, आड़े दिन काम ही आएगा। वह यह भी जानता है कि एक फाहिशा औरत जी चाहे जैसे जी लेगी, पैसा उसके पास छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। मैं यह सब जानती हूँ। इसलिए फिक्र नहीं करना चाहती, पर फिर इस पेट के बालक का क्या होगा?''

यह कहने के साथ उन्होंने एक भारी साँस ली जिससे मेरा मसोसा हुआ मन एक साथ काँप कर भीग गया।

''क्या होगा? भगवान ही जानता है क्या होगा। मुझे और कोई आसरा नहीं है। पर भगवान सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वशक्तिमान हैं। मुझे कोई और आसरा क्यों चाहिए!''

इसके बाद कुछ देर चुप्पी रही। मैं वैसे ही तकिये में मुँह दाबे औंधा पड़ा रहा। फिर बुआ बोलीं—''प्रमोद, इसी से कहती हूँ कि जब तक पास है, तब तक वह पुरुष अन्य नहीं है। मेरा सब कुछ उसका है। उसकी सेवा में मैं त्रुटि नहीं कर सकती। पतिव्रत धर्म यही तो कहता है।''

इसके बाद बहुत देर तक कोई कुछ नहीं बोला। चुप, सुन्न, मानों सब कुछ ठहर गया। मानों समय जमकर खड़ी शिला हो गया। नीरवता ऐसी हो आयी कि हमारे संसार ही हमें हाय-हाय शोर करते हुए जान पड़ने लगे। ऐसे कितना समय बीता। त्रास दुर्वह हो गया। तब उस बर्फीली चट्टान-सी जमी हुई चुप्पी को तोड़कर बुआ ने कहा—''प्रमोद, तुम सोये तो अवश्य नहीं हो, और मैं जाने क्या-क्या बकती रही! कहनी-अन-कहनी जाने क्या-क्या कह गयी। दुनिया में मेरे तुम एक हो जिससे दुराव मुझसे नहीं रखा जाएगा। अच्छा अब तुम आराम करो। मैं जरा पड़ोस के पास के एक बालक को देख आऊँ।''

मैं पड़ा ही रहा, बोला नहीं; और बुआ चली गयीं।

6

मैं वहाँ सो नहीं सका। मेरा मन बहुत घबराने लगा। जो कहानी सुनी है, उसे कैसे लूँ? कैसे झेलूँ? मुझसे वह सँभाली नहीं जाती थी। इलाज यही था कि मैं उसके तले से बचकर चला जाऊँ। चला जाऊँ उसी अपनी दुनिया में जहाँ वस्तुओं का मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नहीं है। जहाँ रास्ता बना बनाया है और खुद को खोजने की जरूरत नहीं है। जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञा का द्योतक है।

इन बुआ का मैं क्या बनाऊँ? उनकी इस कोठरी में मैं अपना ही क्या बनाऊँ? यहाँ सब-कुछ उलट-पुलट गया मालूम होता है। पति-गृह को छोड़ यहाँ गन्दे व्यभिचार में रहनेवाली नारी पति-धर्म की बात करती है और उसको सुना हुआ एक पढ़ा-लिखा मुझ जैसा समझदार युवक उस नारी को लांछित नहीं करता, बल्कि उसके प्रति और खिंचकर रह जाता है! ओ, असह्य है!

यह एकदम गलत है। बिलकुल गलत है। मैं चला जाऊँगा। मैं नहीं रहूँगा यहाँ। बुआ घर नहीं चलेंगी, देख लिया। मैं उन्हें घर नहीं ले जा सकता हूँ। मैं उन्हें उनकी राह से क्या एक पग भी इधर-उधर कर सकूँगा? मुझे नहीं मालूम। मैं शायद कुछ नहीं कर सकूँगा। वह मुझे कुछ नहीं करने देंगी। उनकी मति उलट गयी है। वह नहीं सुधरना चाहतीं, तब मैं उन्हें क्या सुधारूँ! और तो और, मुझे इसमें शंका होने लगी कि सुधार की जरूरत उनमें है कि मुझमें है। यह शंका असह्य ही थी। मैं बी.ए. में पढ़नेवाला युवक ऊँचे विचार में रहता था। उच्चता की तरफ देखता था। मैं अपने महत्त्व से भरा था। उस महत्त्व से कुछ इधर-उधर, जिसे निचाई समझता हूँ, वहाँ भी कुछ सचाई हो सकती है, यह नहीं जानना चाहता था। जानकर सहना नहीं चाहता था। मुझको बड़ा जो बनना था। मैं लेटे-लेटे सहसा उठा। अपने नीचे बिछे हुए कपड़ों को एक-एक कर उठाया और तह करके चिनकर रख दिया। सोचने लगा कि इस कमरे की व्यवस्था को सम्पूर्ण बनाने के लिए क्या मैं कुछ और नहीं कर सकता हूँ। पर ऐसा कोई काम नहीं सूझा। कमरे की सब चीजें ठीक अपनी-अपनी जगह थीं। साफ कमरे को एक बार और भी अपनी ओर से झाड़ू देकर साफ कर जाऊँ। सोचा, इसमें कुछ हरज नहीं है। जूता पहनकर और उसके तस्में बाँधकर बुहारी ले मैं यही काम करने लगा। बिलकुल चुपचाप वहाँ से चले जाने का साहस नहीं होता था। जी की कृतज्ञता कुछ तो व्यय हो, नहीं बहुत भारी मालूम होती थी। लेकिन झाड़ू देकर चुक न पाया था कि बुआ आ पहुँचीं। मैं बहुत लज्जित हो गया और जल्दी झाड़ू हाथ से अलग कर ऐसे खड़ा हो गया कि जैसे मैं बिलकुल निर्दोष हूँ, गलती से अभियुक्त के कठघरे में खड़ा हूँ।

''प्रमोद, यह तुम्हें क्या सूझा है! क्या अभी चले जा रहे हो? सोये नहीं?''

''हाँ, अब जाना चाहिए।''

''जाना तो चाहिए, मगर कमरे में ऐसा कूड़ा तो बहुत नहीं मालूम होता है कि बुहारी की जरूरत हो। और क्यों भाई, क्यों अब जाना ही चाहिए?''

''घर पर माँ ने बुलाया है। मैंने कहा था न कि ब्याह की बातचीत है, सो जाना है।''

''ब्याह की बातचीत!''

''मैंने कहा तो था।''

''मैंने सुना न होगा। तो ब्याह की बातचीत चल रही है। तेरे ब्याह में तो मैं भी शरीक होना चाहती थी!''

''चाहती थी के क्या माने? जरूर शरीक होओगी।''

उन्होंने लज्जित वाणी में कहा—''हाँ, रे, जरूर होऊँगी! मैंने करम जो ऐसे किये हैं! बातचीत पक्की हो गयी?''

''मेरे बिना पक्की कैसे हो जाएगी बुआ, और मैं अभी ब्याह नहीं करूँगा।''

उन्होंने बात आगे न बढ़ने दी। कहा—''कब जाएगा? अभी? गाड़ी अभी जाती है?''

इस बात का उत्तर न देकर मैंने पूछा—''बुआ, सच, तुम ब्याह में भी न आओगी?''

''कैसे आऊँगी!''

''कैसे क्या होता है? आने की तरह से आओगी। मैं समाज की बिलकुल परवाह नहीं करता।''

''तुम परवाह न करो भाई, तो चल सकता है; लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती कि परवाह न करूँ। मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ। क्या कभी सोचा था कि तुम्हारा ब्याह होगा और मैं अपना मन मसोसकर रह जाऊँगी! लेकिन चलो, जो होना है होगा वही।''

मैं इस बातचीत के बीच में कपड़ों के चिने हुए ढेर पर ही आ बैठा था। मैंने वहीं से कहा, ''तो मुझे भी तुम्हारे पास आने की जरूरत नहीं है, यही न?''

बुआ ने अकुण्ठित भाव से कहा—''हाँ, यह भी, लेकिन जरूरत से जो काम होते हैं, उनकी मर्यादाओं को लाँघकर कभी बिलकुल गैरजरूरी बातें भी हो पड़ती हैं। यह तुम्हारा आना ही क्या बिलकुल वैसी गैरजरूरी बात नहीं है। लेकिन फिर भी कोई जरूरत उनको नहीं रोक सकी और तुम यहाँ आ ही पड़े, ऐसे ही—।''

मैंने बीच में बात काटकर कहा—''अब न आऊँगा।''

"नहीं आना चाहिए। मैं तो तुमको अपनी ओर से भी यही समझाने वाली थी। जो समाज में हैं, समाज की प्रतिष्ठा कायम रखने का जिम्मा भी उन पर है। उनका कर्तव्य है कि जो उसके उच्छिष्ट हैं, या उच्छिष्ट बनना पसन्द करते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नये प्रयोग करने की छूट हो सकती है। प्रमोद, यह बात तो ठीक है कि सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है; लेकिन उन प्रयोगों में उन्हीं को पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जान की अधिक समाज-दर नहीं रह गयी है।"

मैं अण्डरग्रेजुएट उनकी कुछ भी बात नहीं समझ सका। आज वे बातें मुझे याद आती हैं और निश्चय हो गया है कि सचमुच जो शास्त्र में नहीं मिलता, वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है; नहीं तो इतने गम्भीर जीवन-तथ्य को इस स्वाभाविकता के वश में करने और व्यक्त करने के बुआ के अधिकार का और भेद क्या हो सकता है। मैंने उस समय कहा था—"बुआ, मैं अब नहीं आऊँगा। मैं सहायता का मन लेकर आया था। देखता हूँ, सहायता कोई नहीं लेता है। बस, अब नहीं आऊँगा।"

मैं अब सोचता हूँ कि वह कहने योग्य हीन-बुद्धि मेरी तब किस भाँति हो गयी थी। इसके जवाब में जो कुछ उन्होंने कहा था, मुझे आज खूब याद आता है। कहा था—"प्रमोद, सहायता की मैं भूखी नहीं हूँ क्या! तुझसे ही वह सहायता न लूँगी! लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है? तो भाई, मुझे माफ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊँ और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए! मुझे तो जो मिलता है, उसी के भीतर सान्त्वना पाने की शक्ति चाहिए।"

उस समय मैं उनके शब्दों को कुछ नहीं समझ सका था और मैंने जवाब में धीमे-से कहा, "मैं जाऊँ?"

उन्होंने कहा, "हाँ, जाना हो, तो जाओ और सुखी रहो।"

जाते-जाते मैंने मन को बहुत कड़ा करके कहा, "कुछ जरूरत हो तो लिखना।"

बुआ ने हँसकर कहा, "हाँ लिखूँगी।"

मैं खड़ा हो गया था। कोट बाँहों में डाल लिया था, हैट हाथ में था। इस भाँति चलने को उद्यत, मैं उनके सामने खड़ा हुआ अपने को भयंकर असमंजस में अनुभव कर रहा था। झुककर उनके पैर छू लूँ! हाँ, जरूर छूने चाहिए, पर मुझसे कुछ बन नहीं पड़ रहा था। उस समय मैंने, मानों देर हो रही हो इस भाव से, कलाई में बँधी घड़ी को सामने करके देखा और जरा माथा झुकाकर कहा—"अच्छा बुआ, प्रणाम।"

और कहते ही मुड़कर चल दिया।

बुआ ने कहा, "सुखी रहो, भैया।" लेकिन उस आशीर्वाद का स्नेह और कम्पन

कानों की राह प्राप्त करके मेरी गति और तीव्र हो गयी। मानों रुका नहीं कि जाने कौन मुझे पकड़ लेगा। तेज कदम बढ़ाता हुआ बाहर आया और सीधे स्टेशन की राह पकड़ ली। बाहर वह कोयले की दुकान दिखी, जहाँ वह व्यक्ति तराजू की डण्डी पर हाथ रखे हुए ग्राहकों को कोयला तोल रहा था। इस भय से कि वह मुझे देख न ले, झटपट नीचे आँख डालकर और तेज चाल से मैं बढ़ता चला गया, बढ़ता ही चला गया।

7

घर पर माँ ने पूछा, ''कहाँ रह गये थे ? सतीश कहता था कि तुम एक रोज उससे पहले कालिज से चल दिये थे।''

मैंने कहा, ''बुआ को खोजता रह गया था। वे उस नगर में रहती हैं।'' जैसे किसी ने उन्हें डंक मारा हो, माँ ने कहा, ''कौन ?''

''बुआ ? मैं उनसे मिलकर आ रहा हूँ।''

''क्या-आ !''

''माँ, वे यहाँ नहीं आ सकतीं ?''

माँ ने जोर से कहा—

''सुन प्रमोद, तेरी बुआ अब कोई नहीं है। मेरे सामने उसका नाम न लेना।''

''लेकिन सुनती हो अम्मा,'' मैंने कहा, ''मैं उनको भूल नहीं सकता हूँ।''

माँ ने कहा, ''तू जो चाहे कर, पर खबरदार जो मुझसे उसकी बात कही। कुल-बोरन कहीं की !''

बुआ के नाम पर माँ के भीतर जो कष्ट था, उसका अनुमान लगाना मुश्किल है। वह कष्ट ही उनके शब्दों में प्रकट हो रहा था। लेकिन तब मैं यह नहीं समझ सका था और उसी बात को लेकर माँ से मन में कुछ दूरी बना बैठा था।

यह कहना आवश्यक है कि विवाह का जो प्रस्ताव उस समय उठाया गया था, उसे स्वीकार नहीं कर सका। माँ नाराज हो गयीं, लेकिन मैंने देख लिया कि दुनिया में मैं अकेला हूँ। कोई किसी का नहीं है, नाते-रिश्ते झमेले हैं।

जिन्दगी बहती चली गयी। बी.ए. का इम्तहान नजदीक था और मैं पोजीशन लाना चाहता था। बुआ की याद को मन में गहरी बिठाने से बचना चाहता था। क्या फायदा ! फिर भी गहरे में से स्मृति वह क्या जानी थी ? उसके कारण इस दुनिया का बहुत कुछ व्यर्थ और निकम्मा मालूम होता था। सुख नीरस जान पड़ता और दुःख सार। न की महत्त्वाकांक्षा कुछ अपने में बुझती-सी थी और आपसी स्पर्द्धा, जिससे जिन्दगी

में तेजी आती है, हल्की और उपहास्य मालूम होती थी। पर मैं मन की इस हाल में पतवार छोड़, अपने को बहने देना नहीं चाहता था।

वहाँ क्या हुआ होगा? क्यों जी, वह आदमी चला गया होगा? फिर क्या हुआ होगा? अहं कुछ भी हो, मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? क्या मैं कुछ भी कर सकता हूँ?

मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि कुछ करो, वह और उलझती और कसी ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिए था, कुछ करना चाहिए, कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़-ही-गड़बड़ है। सृष्टि गलत है, समाज गलत है, जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे जरूर कुछ होना होगा, कुछ करना होगा। पर क्या-आ? वह क्या है, जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है?

किसी बात की पकड़ न मिलती थी और मन घुट-घुटकर रह जाता था। इसी से अपने साथियों से मेरा मिलना-जुलना बहुत कम हो गया था। वे मुझे चिढ़ाने लगे थे, पर उनका चिढ़ाना मुझे छूता भी न था। यह ख्याल तो चेतना में बँधा था, बिखरा नहीं था कि इम्तहान होना है, उसमें नामवरी के साथ पास होना है और आगे बढ़ना है; पर जीवन की सामाजिकता को निबाहने की ओर मन की चिन्ता मन्द हो गयी थी। वह प्रवृत्ति ही सूख गयी थी। कम क्या, बिलकुल न मिलने-जुलने से, हँसी-मजाक, खेल-कूद में शामिल न होने से, किसी तरह की कोई कमी जीवन में होती है, ऐसा बिलकुल नहीं लगता था। मालूम ही न होता था कि कुछ करने योग्य मैं नहीं कर रहा हूँ। ऐसी ही मन की अवस्था में एक रोज कालिज से उठकर रेल पकड़, मैं उस नगर के स्टेशन पर आ उतरा।

पर कहाँ रखी थी वहाँ वह कोयले की दुकान! उस कोठरी में कोई और जन आ बसे थे। पूछा-ताछा, पर ठीक-ठीक पता नहीं चलता था। उस आदमी के बारे में मालूम हुआ कि वह काफी दिन का यहाँ से उठ गया है, अपनी औरत को पीट-पाटकर छोड़कर भाग गया है। पर उस औरत का फिर क्या हुआ, यह पूरी तरह किसी को नहीं मालूम था। हाँ, मर्द के जाने के बाद भी वह एक-डेढ़ महीना तो वहाँ ही रही—यह खबर मिली। कपड़े सीती थी और काम चलाती थी। बड़ी भली औरत थी, दुख-दर्द में ढाढ़स बँधाती थी, बच्चों को घर बिठाकर पढ़ाया करती थी और सबके छोटे-मोटे काम को तैयार रहती थी; पर फिर कहाँ गयी, यह नहीं पता।

अधिक खोज-खबर लगाने पर पता चला कि उसको दिन पूरे लग रहे थे और उसे इसकी चिन्ता भी थी और कभी-कभी अस्पताल जाने की बात किया करती थी।

मैंने अस्पताल में जाकर छानबीन की। मिशन के अस्पताल में पाँच महीने हुए

एक मिनाल नाम की स्त्री आयी थी। उसके वहाँ एक लड़की हुई। होने के चौथे रोज उस लड़की के माता निकली। वह जनरल वार्ड में थी। नर्सों को ज्यादा याद नहीं। पन्द्रह दिन में लड़की की चेचक ठीक हो गयी होगी क्योंकि उसी रोज से माँ-बेटी का नाम रजिस्टर में नहीं है।

''कहाँ गयी?''

मेरे इस प्रश्न पर अस्पताल की बड़ी मेम डाक्टर मुझे देखती रह गयीं। बोलीं—''क्या आप सचमुच समझते हैं कि इस सवाल का जवाब हम दे सकते हैं।''

मैंने कहा, ''हाँ, हो भी सकता है कि दे सकें।''

बोलीं, ''मुझे आप पर आश्चर्य है।''

मैंने कहा, ''मैं एक बात पूछता हूँ कि उन्होंने अपने बच्चे को मिशन में तो नहीं देना चाहा?''

बोलीं, ''हाँ याद आया। कौन महीना? सितम्बर? ठीक है, ठीक है। वही केस होगा। क्या उमर थी?''

''होगी चौबीस-पच्चीस।''

''ठीक। रंग साफ?''

''हाँ अच्छा रंग था।''

''ठीक-ठीक। वही केस है। हमसे वह कुछ काम भी माँगती थी। नर्स बनने को तैयार थी। अँग्रेजी भी जानती थी न? अच्छी लड़की थी, मुझे याद है। हमने कहा, बच्चा मिशन को दे दो और तुम भी ईसा मसीह को मान लो, तो यहाँ रह सकती हो और काम भी सीख जाओगी। उसने नहीं माना। हिन्दुओं में यही तो है। वह तुम्हारी कौन है? उसको समझाना। ईसा खुदा का नबी है। दुनिया को सच्ची राह बतानेवाला वह है। उस पर ईमान लाना चाहिए। समझे? उसको समझाना।''

मैंने पूछा, ''फिर क्या हुआ? वह नहीं रही? चली गयी?''

''हाँ, यहाँ से चली गयी। इसके आगे शायद आपकी मदद करने में मैं असमर्थ हूँ।''

मेरी परीक्षा के दिन निकट आ गये थे। ज्यादा दिन वहाँ नहीं दे सका। चला आया।

जी में कल नहीं पड़ रहा था। मुझको यह बात बहुत विचित्र मालूम होती थी कि छुटपन में मैं जिन बुआजी के इतने पास था उन्हीं को अब खोजकर भी नहीं पा सकता हूँ। वही जो मुझे इतना दुलार करती थीं, अब शायद मुझसे बचती हैं। मैं सोचता, यह दुनिया में क्या-क्या हमने खड़ा कर लिया है, जो दो के मनों के स्नेह को ऐसे फाड़ देता है। मन क्या फटने के लिए हैं! क्या वे आपस में जुड़े रहने के लिए नहीं हैं!

मेरे विवाह-सम्बन्ध की फिर बात चल पड़ी थी। इस बार का रिश्ता माँ बहुत ही अच्छा समझती थीं। कुल-शील-सम्पदा की दृष्टि से तो अच्छा था ही, लड़की भी बहुत सुन्दर, सुशील और शिक्षिता थी। देर यह थी कि मैं एक बार उनके यहाँ पहुँचकर कन्या को देख लूँ और कन्या मुझे देख ले। मैं इसको दिनों से टालता आया था। मुझे जाने क्यों अपने बारे में बहुत संकोच होता था। अपने में मैं शंकित ही बना रहता था, किसी तरह की अपनी बड़ाई भीतर से उबरकर आती ही न थी। प्रशंसक मेरे भी थे। लेकिन अपनी प्रशंसा का कारण मुझे अपने में नहीं मिलता था। इसके विपरीत, अपने में जो मुझे मिलता था, उससे मैं कुछ और निराश हो आता था।

लेकिन इस बार वहाँ जाना ही पड़ा, और संयोग की बात कि उन्हीं डॉक्टर साहब के घर पर बुआ से भेंट हुई।

देखता हूँ कि डॉक्टर के घर पर छोटे बच्चे-बच्चियों को पढ़ा रही हैं, वे और कोई नहीं बुआ ही हैं। उस समय तो मैं कुछ नहीं बोला और उन्होंने मुझे देखकर न देख सकने का-सा भाव दिखाया, लेकिन उस कारण मैं वहाँ कुछ काल प्रकृतिस्थ नहीं रह सका।

लड़की ने मुझे नापसन्द नहीं किया। (जहाँ तक मैं यह बात मान सकता हूँ) मेरे उन्हें नापसन्द करने का सवाल नहीं था। देखकर मैं उनके रूप-गुण की समीक्षा में जा ही नहीं सका, किन्नर-लोक की परी क्या होती हैं! उन राजनन्दिनी (यही नाम था) को पहली निगाह देखकर मेरा निश्चय बन चुका था। मैं झेंपकर रह गया था, बोल कुछ भी नहीं सका था; लेकिन दुर्भाग्यवश उस समय मेरा वाक्चातुर्य मेरा साथ छोड़ जाने कहीं चला गया था। इस अकृतार्थता पर अपने से उस समय मैं रुष्ट भी हो आया हूँगा, ऐसा प्रतीत होता है। वह रोष हठात प्रकट भी कुछ हो गया था, क्योंकि मुझे ज्ञात हुआ कि समझा गया है कि लड़की मुझे पूरी तरह पसन्द नहीं है। निश्चय है कि इस भ्रम को यथाशीघ्र पूर्ण सफलता के साथ मैंने छिन्न-भिन्न ही कर दिया था।

पर उस घर में मेरी अभ्यर्थना का आग्रह कुछ और बढ़ गया। सबको पहले ही मेरी खातिर मंजूर थी, लेकिन अब बात कुछ और थी। भावी सासजी की अभ्यर्थना तो बस पूछिए नहीं। वह हर वक्त मुझे घेरे रहती थीं। बात-बात में मैंने उनसे पूछा, ''बच्चे स्कूल में तो पढ़ने जाते हैं न, या घर पर ही पढ़ते हैं?''

उन्होंने कहा, ''स्कूल में तो जाते ही हैं, पर वहाँ कुछ पढ़ाई होती है! और यहाँ ऊधम इतना मचाते हैं कि राम-राम! इससे एक तो मास्टरनी लगा ली है, एक मास्टर आता है। तीस रुपया माहवार मैं अलग से पढ़ाई पर खर्च करती हूँ। तभी तो...''

''मास्टरनी अच्छा पढ़ाती हैं?''

''हाँ, भली औरत है। गरीबनी है। अच्छा बोलती-बतलाती है और सन्तोष भी है।''

''बच्चे उनसे खुश हैं?''

''हाँ बच्चे खुश हैं। बच्चे तो बहुत ही खुश हैं। दो महीने से लगी है लेकिन हमें तो उसका बहुत सहारा हो गया है।''

''यहाँ कहीं स्कूल में पढ़ाती होंगी।''

''हाँ, पढ़ाती है। हम क्या देते हैं—ये ही आठ-दस दे देते हैं। कोई ठीक तय भी नहीं, आठ-दस में भला क्या होता है? पर चलो गरीब है। सहारा ही सही, उसे बुलवाऊँ?''

मैंने कहा, ''नहीं, नहीं। बुलवाओगी क्यों?''

''ऐसी कोई बात नहीं, जब काम होता है, बुलवा लेती हूँ और वह आ जाती है। अकेली है। हमारा हाथ का काम बँटा लेती है, तो उसका मन भी बहल जाता है और हमें भी सहारा होता है। अच्छी लड़की है। बात का बुरा नहीं मानती।''

''मालूम होता है आपके घर से बहुत हिली है।'

''हाँ, जब-तब आ जाती है। इस ब्याह में उसे बड़ा चाव है। गिरिस्ती का सुख बेचारी के कपार में था नहीं। तुम्हें देखने की उसे बड़ी लालसा थी। जाने आज चली क्यों गयी, ठहरी क्यों नहीं। काम होगा, नहीं तो तुमको तो बहुत देखना चाहती थी।''

''मुझको?''

''हाँ बड़ी (राजनन्दिनी) से उसका बड़ा प्रेम हो गया है। हम सभी उसे चाहते हैं। लो, बुलाती हूँ। मिलना, बोलना—।''

मैंने शीघ्रता से कहा, ''नहीं-नहीं, क्या जरूरत है।''

मैं सचमुच इन भावी सास से बातें बढ़ाना नहीं चाहता था, पर वह तो एक बार शुरू करके बात का अन्त न पाती थीं। फिर भी बोलीं, ''मैं अभी विट्ठल के हाथ उसे बुलाती हूँ।''

मैंने जरा जोर से कहा, ''नाहक किसी को क्यों तकलीफ दोगी! रहने दो।''

बोलीं, ''तकलीफ! उसे कब कोई बुलाता होगा?''

मैंने अनायास कहा, ''क्यों?''

बोलीं, ''अकेली बेवा है। कहीं दूर की अपने को बतलाती है। उसका कौन घर-कुटुम्बी यहाँ बैठा है?''

उसी भाव से मैंने पूछा, ''यहाँ कहीं पास ही रहती होंगी।''

''कुल तीन मिनट का रास्ता है।''

मैंने जल्दी से कहा, ''खैर, कोई बुलाने की जरूरत नहीं है।''

''तो जाने दो, ठीक है, हैरान होगी बेचारी। अब तुम आराम कर लो।''

मैं आराम तो नहीं चाहता था, लेकिन उस समय मुझे छोड़कर चले जाने के लिए मैं उनका कृतज्ञ हुआ।

उसी दिन शाम को मैं बुआ के यहाँ गया। स्कूल के पास ही वह एक छोटे क्वार्टर में रहती थीं। मैं पहुँचा तब एक फ्रेम पर रूमाल काढ़ रही थीं। मुझे देखते ही कहा, ''आओ'' और पीढ़ा छोड़कर बैठने को सामने सरकाकर रख दिया।

थोड़ी देर बैठा मैं उन्हें देखता रहा। कोई कुछ नहीं बोला। सफेद बिना किनारे की धोती थी। बाल ढीले जूड़े में बँधे थे। आँखों की स्निग्धता विशेषता से निगाह को आकृष्ट करती थी। देह इकहरी और वशीभूत। मानों अपने भाग्य से गहरा सौहार्द है, अनबन किसी प्रकार की भी नहीं है। जो झेला है, सब पी गयी हैं। सबका रस बन गया है। खार कोई नहीं है।

मैंने कहा, ''मैं वहाँ गया था।''

धीमे से बोलीं, ''मैं जानती थी, तुम जाओगे।''

''अस्पताल में भी गया था। तुमने मुझे नहीं लिखा?''

''क्या लिखती?''

''अच्छा मुन्नी कहाँ है?''

''मर गयी।''

''मर गयी! कब मर गयी?''

''दस महीने की होकर मर गयी। रोग से मरी, कुछ भूख से मरी।''

मैं चुप पड़ गया। थोड़ी देर बाद कहा—''मिशनवाले उसे माँगते थे। दे क्यों नहीं दिया?''

''गलती हुई। पर माँ बनना ही गलती थी।''

मैं चुप भी तो नहीं रहा, पूछा—''यहाँ कैसे आयीं।''

भटकते-भटकते ही आयी।

सुनकर और न पूछा गया, बैठा रह गया। पर तब भी तो मुझे ऐसा नहीं मालूम हुआ कि बुआ उस भटकने का अब भी अन्त चाहती हैं, आगे भी तो भटकना ही है। सदा के लिए भाग्य में भटकना बदा है। मानों यह खूब जानती हैं और जानकर अशेष भाव से तृप्त-काम होकर उसे ही अपना लें, यह चाहती हैं। जैसे किसी ओर और कृतार्थता नहीं है। किसी ओर और निगाह उठाकर देखना नहीं है।

मैंने कहा, ''बुआ अब?''

बोलीं, ''अब तो तेरी शादी है न?''

''हाँ, मेरी शादी है। क्या तुम जानती थीं कि शादी मेरी ही है।''

''नहीं, यह नहीं जानती थी। राजनन्दिनी की शादी जानती थी; पर वही तेरी भी है, यह जानती तो क्या यहाँ मैं ठहरती?''

''क्यों, ठहरतीं क्यों नहीं?''

''मैं अपशकुन जो हूँ, भाई। असगुन से बनता काम बिगड़ जाता है। अब भी मैं सोच रही हूँ कि क्यों चली न जाऊँ? पर सुन, एक बात तुझसे कहती हूँ। यहाँ कोई

बेवकूफी मत करना। अब आ गया, तो आ गया, फिर मेरे यहाँ मत आना। मेरे कुल-शील का कुछ पता है! इससे मेरे यहाँ आना-जाना ठीक नहीं है। और सुन, जैसे हो यह विवाह ठीक करना ही होगा। लड़की मेरी देखी भाली है। खूब सुन्दर है और शीलवती भी है।''

मैंने अचानक कहा, ''तो तुम्हारी राय है, यह रिश्ता कबूल कर लूँ।''

''जरूर कर लो।''

''अच्छी बात है, कर लूँगा, लेकिन अब तक कुछ और सोचता था। अब विचार कर लिया है कि इस बार साफ कह देना होगा कि तुम मेरी बुआ हो!''

उन्होंने एकाएक दोनों कानों को हाथों से ढाँपकर कहा, ''न, न, भाई! कभी नहीं।''

मैंने कहा, ''मैं छल नहीं कर सकता। विवाह के मामले में तो छल कर ही नहीं सकता। यह जीवन-भर का सम्बन्ध है। क्या उसे झूठ पर खड़ा करूँ?''

बुआ ने कहा, ''झूठ तो भाई, आज यह है कि मैं तेरी कोई भी हूँ? बता मैं आज तेरी क्या हूँ? कभी यह सच था कि मैं तेरी बुआ थी, पर उस बात को मैंने अपने हाथों से तोड़-ताड़कर धूल में पटक दिया है। धूल में से उठाकर उसी के निर्जीव छूँछे पिंजर को तू हठपूर्वक सामने लाकर सत्य कहना चाहता है, यही झूठ है। मैं कहती हूँ, प्रमोद, मुझे मेरे भाग्य पर छोड़। जा, जा, अब भी यहाँ मत ठहर। देर तक यहाँ रहेगा, तो ठीक न होगा।''

उस समय भीतर-ही-भीतर सचमुच मुझे यह मालूम हो रहा था कि यहाँ देर तक मेरा रहना ठीक न होगा। लोग न जाने क्या समझें। मैं आज इसी पर आश्चर्य किया करता हूँ कि 'लोग क्या समझेंगे', इसका बोझ अपने ऊपर लेकर हम क्यों अपनी चाल को सीधा नहीं रखते हैं, क्यों उसे तिरछा-आड़ा बनाने की कोशिश करते हैं! लोगों के अपने मुँह हैं, अपनी समझ के अनुसार वे कुछ-कुछ क्यों न कहेंगे? इसमें उनको क्या बाधा है? उन पर फिर किसी को क्या आरोप हो सकता है? फिर उन सबका बोझ आदमी अपने ऊपर स्वीकार कर अपने भीतर के सत्य को अस्वीकार करता है, यह उसकी कैसी भारी मूर्खता है!

मुझे वहाँ दो रोज हो गये। सबने देखा कि मास्टरनी से मेरा परिचय है और बढ़ रहा है। मामूली तौर पर इस पर किसी का विशेष ध्यान नहीं गया। बल्कि लोग मास्टरनी से इतने सन्तुष्ट थे कि मेरा उधर झुकना उन्हें अच्छा भी मालूम हुआ। वे दिन हँसी-खुशी में बीते। बुआ के बारे में भी चिन्ता एक तरह से कम हुई। दो-चार उनका हाल-चाल पूछने वाले हैं, रोटी की गुजर हो जाती—चलो, इतनी भी खैर है। मुझसे लोग सब प्रसन्न थे। वहाँ बच्चों से मेरी खूब पट गयी थी। साले-सालियाँ नये नाते से मुझे पुकराने लगे थे। राजनन्दिनी दो-एक बार सामने पड़ी, तो सिन्दूरिया हो-हो

गयी और पल के आगे दूसरा पल वहाँ नहीं ठहरी, भाग आयी। टीका हुआ और रुपये-नारियल मैंने भेंट में पाये। तब भी मेरा चित्त भीतर कहीं सन्दिग्ध था, पूरी तरह वह खिलकर नहीं आ रहा था। कभी भीतर इस बात पर मैं दब आता था कि सच्चाई मैं खोल नहीं रहा हूँ। वह दबाव इतना हो गया कि जब चलने का समय आया, तब मैंने डॉक्टर साहब से मानों चुनौती के साथ कहा कि मास्टरनी मेरी बुआ हैं।

उन्होंने इस बात को स्वाभाविक भाव से सुन लिया और कुतूहल से अधिक कोई और भाव प्रकट नहीं किया। मैंने उनको सारी बात कह सुनायी और कह दिया कि वह अच्छी तरह सोच-समझ लें। बुआ को मैं बुआ मानता हूँ और मानूँगा।

डॉक्टर साहब मेरी ओर कुतूहल से देखते रहे। बोले, ''ठीक तो है। इसमें बुराई क्या है? आई हैव यू। ह्वाट मोर डु आई वाण्ट?''

मुझे सचमुच अपने मन के व्यर्थ द्वन्द्व पर लज्जा आयी। मैं खुशी-खुशी वहाँ से विदा हुआ। राजनन्दिनी ने एक गुप्त भेंट और अनन्य विश्वास से मुझे अनुग्रहीत किया था।

पर विधि-लीला! स्थिति में तनाव आया और मेरे झुकने पर भी वह न सँभली। रिश्ता टूट गया। सास, राजनन्दिनी की माता, दृढ़ता से उसके प्रतिकूल थीं और बिरादरी को भी उसमें आपत्ति थी। डॉक्टर साहब को उसके टूटने की बहुत ग्लानि थी। उनसे मेरे अन्त तक सम्बन्ध बने रहे। और वे मुझे पत्रों में सदा अपना पुत्र ही लिखते रहे। नन्दिनी के दूसरे विवाह पर उन्होंने बहुत असन्तोष भी प्रकट किया और कदाचित् उसका कुछ दुष्परिणाम भी सुनने में आया था। खैर, वह जो हो, न बिरादरी से और न अपनी भार्या से कुछ उनकी पार बस आयी। सो तो हुआ, लेकिन फिर बुआ को भी उस नौकरी पर नहीं रहने दिया गया, ट्यूशन तो छूट ही गयी। इस खबर को सुनकर मैं एकाएक चिन्ता में पड़ गया। चिट्ठी दी, तार दिया, पर जाने का सुभीता न पा सका, लेकिन जाने वह चिट्ठी-तार किस कुएँ में गये। यह पता अवश्य लगा कि बुआ वह जगह छोड़ गयी हैं। छोड़कर कहाँ गयी हैं? राम जाने। इस दुनिया में क्या जगह उनकी है कि जहाँ जाएँ? कोई ऐसी जगह नहीं है। इसलिए आज तो सब जगह उनकी अपनी है। सब एक समान है।

8

बहुत हो गया। अब समाप्त करूँ। जिन्दगी कहानी है और बुआ की कहानी में भी अब सार नहीं बचा है।

घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं। हम जीते हैं, और जीते-जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस उछाह से आरम्भ करते हैं, पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसे ऊब, कैसी उकताहट जी में भर जाती है। मैं इस लीला पर, इस प्रहेलिका पर सोचता रह जाता हूँ। कुछ पार नहीं मिलता, कुछ भेद नहीं पाता।

समुद्र है। अपनी नन्ही कागज की डोंगी लिये हम भी उसके किनारे-किनारे खेने के लिए आ उतरे हैं; पर किनारे ही कुशल हैं, आगे थाह नहीं है। हिम्मतवाले आगे भी बढ़ते हैं। बहुत डूबते हैं, कुछ तैरते भी दीखे हैं, पर अधिकतर तो किनारे पर साँस लेने भर जगह के लिए छीन-झपट और हाय-हाय मचाने में लगे हैं। नहीं तो वे और करें भी क्या! लड़ते-झगड़ते अपने छोटे-से वृत्त की परिधि में चल-भटक लेते हैं और इस भाँति जी लेते हैं। सागर तीनों ओर कैसे उल्लास से लहरा रहा है। पर वह लहराता रहे—हमें अपने धन्धे हैं, उधर करने को हमारी आँख खाली नहीं है।

और कैसे करें उधर आँख! उस सागर की लहरों का अन्त कहाँ है। कूल कहाँ है? पार कहाँ है? कहीं पार नहीं है, कहीं किनारा नहीं है। आँखों को ठहराने के लिए कोई सहारा नहीं है। क्षितिज का छोर है, जहाँ आसमान समुद्र से आ मिला है। वहाँ नीला अँधियारा दीखता है, पर छोर वहाँ भी नहीं है। छोर वहाँ हमारी अपनी ही दृष्टि का है, अन्यथा वहाँ भी वैसी ही अकूत विस्तीर्णता है।

ओ! उधर हम न बढ़ें। थाह नहीं है। जल अगम है। सुनने-बोलने को वहाँ कौन है? जो हैं, अपने-पराये सब, आसपास तक हैं। वहाँ तो सन्नाटा ही सनसनाता है। ना, उधर न बढ़ेंगे।

किनारे पर ही रहें, जहाँ पैर धरती से छू जाते हैं। वहीं तक रहें, जहाँ हमारा लंगर धरती को पकड़ ले और हम ठहर सकें। बस, बस उसके आगे जब-तब समुद्र के अगाध फैलाव की ओर हम देख लिया करें, यही क्या कम है। इतना भी बहुत है, बहुत है। इससे भी भीतर कम्प भरा आता है। चित्त सहम रहता है, सिर चकरा आता है, झेला नहीं जाता। जितनी झेल सकें उतनी ही विराट की झाँकी ले लें और अपनी धरती के पास-पास किनारे-किनारे सबसे उलझते-सुलझते जिए चलें, यही उपाय है। यही मानव-जीवन है।

बुआ दो हाथ बढ़ाकर क्यों अगम जल में जा उतरीं! वहाँ पैर टेकने को धरती पास न थी। किस साहस पर वह ऐसा कर सकीं! मैंने किनारे खड़े-खड़े पुकारकर कहा—"यहाँ आ जाओ, यहाँ आ जाओ। मैं यहाँ हूँ। तुम्हारा भतीजा हूँ। मैं प्रमोद हूँ। वही जिसे तुम प्यार करती थीं। यहाँ आ जाओ, यहाँ आ जाओ। यहाँ तुम्हें हम सब मिलेंगे। यहाँ मजबूत धरती है। यहाँ कोई कठिनाई नहीं है। यहाँ कुशल-क्षेम निश्चित है। सुलभ है। लहरों का डर नहीं है। यहाँ सूखी धरती है।"

बुआ डूब-उतरा रही थीं। तैरने का कब अभ्यास किया था? और वहाँ किस तैराक की छाती है कि बढ़े। दम वहाँ फूल आता है, लेकिन बुआ ने कहा, ''नहीं प्रमोद, नहीं। तुम मेरे वही प्रमोद हो, क्या मैं भूल सकती हूँ? लेकिन किनारा छूटा, सो छूटा। मैं यहाँ थककर डूब भी गयी तो क्या बुराई है? आखिर क्या इस समन्दर के पेट में ही हम सबकी जगह नहीं है? प्रमोद, मेरा प्रेम लो। पर तुम जानते नहीं हो, जहाँ पैर नहीं टिकता, तैरा वहीं जाता है। चाहे फिर डूबा भी वहीं जाए। बिना उतराये और फिर बिना डूबे मैं नहीं रह सकती, जानती हूँ। पर क्या एक बार अथाह में आकर फिर लौटूँ। नहीं, ऐसी अभागिन मैं नहीं बनूँगी।''

मैंने रस्सी फेंकी। उन्होंने उसे नहीं पकड़ा और हँस दिया। कहा, ''प्रमोद, तुम्हारी मैं बड़ी कृतज्ञ हूँ।''

मैंने चिल्लाकर कहा, ''तुम मुझे प्रेम नहीं करती हो? करती हो तो आ जाओ।''

उन्होंने डूबते-उतराते कहा, ''मैं तुम्हें बहुत प्रेम करती हूँ। करती हूँ इसी से अपने पास नहीं बुला सकती। और आ तो सकती ही नहीं। देखो, कितना समन्दर आगे पड़ा है। सब पार करना है।''

मैंने रोष में कहा, ''जाओ, मैं अब तुम्हें न देखूँगा।''

उन्होंने कहा, ''नहीं ही देखना चाहिए। ज्यादा देखने से किनारे से पैर उखड़ आने का डर है।''

मैंने चीखकर कहा, ''जाओ, डूबो, मरो।''

उन्होंने हँसकर कहा, ''मेरा डूबना-मरना भी इतना आसान नहीं है, भाई! अभी जाने कितने थपेड़े और खाने हैं। लेकिन तुम उन थपेड़ों से दूर हो, यही सन्तोष है। मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ, इसी से कहती हूँ।''

...अन्तिम बार जब उन्हें मिला, तब मैं वकील था। उनकी हालत दर्दनाक थी। वह बीमार थीं और एक कोठरी में पड़ी थीं। औषध और रहने की कोई व्यवस्था न थी। आसपास के कुछ लोगों की सहानुभूति उन्हें प्राप्त थी, पर ये लोग उस वर्ग के थे जिनकी सहानुभूति की कीमत पैसे के तल पर नहीं के बराबर हो जाती है। इस बात का बड़ा आश्चर्य यह था कि उन्होंने मुझे स्वयं पत्र लिखा था। मेरी माँ का देहान्त हो चुका था। इसकी खबर उन्हें देर से लगी, पर लगते ही उन्होंने पत्र मुझे लिखा था। उस पत्र को कितनी बार मैंने नहीं पढ़ा है! पढ़ता हूँ और पढ़कर रह जाता हूँ। सोचता हूँ, पर नहीं, कुछ नहीं सोचता। वह सब जाने दो। लिखा था—

''प्रमोद, माता सौभाग्य होती है। मैं तो जन्म की वंचिता ठहरी। पर उन स्वर्गवासी आत्मा की सेवा मैं नहीं कर सकी, इसकी मुझे ग्लानि है। मेरे मन में साध थी कि एक बार उनके जीते-जी ही उनकी क्षमा पाऊँगी। वह होने को न था। खैर

अपने भाग्य का दोष अपने को ही दे सकती हूँ।

''प्रमोद, तुम नाराज होगे, इसलिए मैंने ऊपर अपना पता भी लिख दिया है। मैं जानती हूँ, तुम आओगे। जानती हूँ, मेरी पहली जगह भी तुमने खोज-खबर की होगी। चिट्ठी-तार तुमने क्यों दिये थे, वे सब वृथा थे, लेकिन उन बातों को छोड़ो। मुझे छोड़ो। जीवन एक परीक्षा है। कम-से-कम मैंने तो उसको यही बना लिया है। तुम आओगे, तो आ जाना, लेकिन मुझसे किसी बात की उम्मीद न करना। जिन लोगों के बीच बसी हूँ, वे समाज की जूठन हैं और कौन जानता है कि वे जूठन होने योग्य भी नहीं हैं। लेकिन आखिर तो इनसान हैं, और यह बात जब कि उनके बीच आ पड़ी हूँ, मैं साफ देखती हूँ। मैं किसी भी और बात पर अब जिन्दा नहीं रहना चाहती हूँ। उनकी बुझती और जगती इनसानियत के भरोसे ही रहना चाहती हूँ। दर-दर भटकी हूँ और मैंने सीखा है कि दुर्जन लोगों की सद्‌भावना के सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं हो सकती। किसी और बात के लिए जीने की अब साध भी कोई नहीं रह गयी है। मुझको ऐसा अनुभव हो रहा है। इन लोगों में, जिन्हें दुर्जन कहा जाता है, कई तह पार कर वह तह भी रहती है कि उसको छू सको तो दूध सी श्वेत सद्‌भावना का सोता फूट निकलता है। इससे यह प्रतीति मेरे लिए उतनी कठिन नहीं रह गयी है कि सबके अभ्यन्तर में परमात्मा है और वह सर्वान्तर्यामी है। इससे अभी यहाँ से टूटकर उखड़ना नहीं चाहती। क्यों चाहूँ? कहाँ सब कुछ नहीं है?

''यहाँ का लाभ? तुम पूछोगे। लाभ बहुत है। यहाँ किसी को यह कहने का लोभ नहीं है कि वह सच्चरित्र है। यहाँ सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं माना जाता है। दुर्जनता ही मानों कीमत है। यहाँ उसी हिसाब से मानव की घट-बढ़ कीमत है। मैं मानती हूँ कि यह रोग का मूल है। भयानक जड़ता है। किन्तु लाभदायक भी है। इस जगह आकर यह असम्भव है कि कोई अपने को सच्चरित्र दिखाए, दिखना चाहे, या दिखा सके। यहाँ सदाचार का कुछ मूल्य नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि ऋण मूल्य है। अगर कहीं भीतर, बहुत भीतर मज्जा तक में, छिपा विकास का कीटाणु है तो यहाँ वह ऊपर रहेगा। यहाँ छल असम्भव है, जो छल कि शिष्ट समाज में जरूरी ही है। यहाँ तहजीब की माँग नहीं है, सभ्यता की आशा नहीं है। बेहयाई जितनी उधड़ी सामने आए, उतनी ही रसीली बनती है। बर्बरता को लाज का आवरण नहीं चाहिए। मनुष्य, हाँ, खुलकर सगर्व पशु हो सकता है जो नहीं हो सकता, उसकी मनुष्यता में बट्टा समझा जाता है। इसलिए सच्चरित्र दीखनेवाला यहाँ नहीं टिक सकता। उसे मज्जा तक सच्चा होना होगा, तभी खैरियत है। जो बाहर हो, वही भीतर। भीतर पशु हो, तो इस जलवायु में आकर बाहर की मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतर तक मनुष्य होगा। कलई वाला सदाचार यहाँ खुलकर उधड़ रहता

है। यहाँ खरा कंचन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत नहीं है कि वह कहे मैं पीतल नहीं हूँ। यहाँ कंचन की माँग नहीं है, पीतल से परहेज नहीं है। इससे पीतल रखकर ऊपर कंचन दीखनेवाला लोभ यहाँ छन-भर नहीं टिकता है, बल्कि यहाँ पीतल का मूल्य है। इससे सोने के धैर्य की यहाँ परीक्षा है। सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं है। यह यहाँ की कसौटी है। मैं मानती हूँ कि जो इस कसौटी पर खरा हो सकता है, वह खरा है। और वही प्रभु का प्यारा हो सकता है।

''प्रमोद, तुम नहीं समझोगे। पर तुम न आओ तो ही अच्छा हो। तुम्हारा स्वभाव कोमल है। तुम ऊँचे विचारों में रहते हो। यहाँ कोमलता और उच्चता नहीं है। यहाँ गन्दगी और जड़ता है। मैं उनमें साँस लेकर रह लेती हूँ, क्योंकि आदी हो गयी हूँ। हो सकता है कि मन की उच्च और कोमल वृत्तियाँ ही मेरी मन्द पड़ गयी हों। पर तुम न आओ तो ही भला है। तुम्हारा प्रेम खोना मुझे असह्य होगा। अगर अब भद्र वर्ग के लोगों में से किसी को जानती हूँ तो तुम्हें जानती हूँ। न अब मुझे ही कोई जानता है, पर तुम्हारे अकेले के कारण मैं उस तमाम भद्र वर्ग को अप्रेम करने से बची हूँ। प्रमोद, तुम नहीं जानते, अनजाने में तुम मेरी आत्मा का यह कितना बड़ा उपकार कर रहे हो। जिस समाज में तुम हो, क्या तुम्हारे रहते मैं उसके लिए तिरस्कार ला भी सकती हूँ। कभी-कभी वह तिरस्कार मेरे मन में जोरों से उठता है, लेकिन तुम्हारे प्रेम का स्मरण करके मैं भीगी हो आती हूँ। और मन का कड़वा स्वाद मेरे स्वास्थ्य को नष्ट नहीं कर पाता। कटुता आती है और तुम्हारी स्मृति के स्पर्श से मैं उसी को अपना पोषक बल बना रहती हूँ। तुम्हारा प्रेम मुझे स्वस्थ रखता है, पर डर है कि तुम यहाँ आओ और कहीं बचा-खुचा तुम्हारा प्रेम भी मेरे हाथों से जाता रहे! तब मेरा क्या होगा? जीना दूभर हो जाएगा, मेरा बल गिर जाएगा। श्रद्धा थमेगी कैसे? कल्मष ही तब सब ओर से घेरकर मुझे छा लेगा। तब इस जिन्दगी के बीच किस एक अवलम्ब के सहारे मैं टिकूँगी। अब तो मन को ऊँचा उठाकर साफ हवा फेफड़ों में भर लेती हूँ और इस विषाक्त वातावरण में सहज-भाव से जिए चलती हूँ। वह न रहा तब मैं कैसे टिकूँगी। मर जाऊँगी, इसका सोच नहीं है। पर जीवन की टेक हाथ से छूट जाएगी यह तो बहुत बड़ा भय है। श्रद्धा के साथ मरना भी सार्थक है, पर श्रद्धा गयी तो पास क्या रह जाएगा? इसी से कहती हूँ कि तुम दूर-दूर रहो। अब जहाँ हूँ, वहाँ न आओ। जिस जगह हूँ वह तुम्हारे इससे देखने योग्य नहीं है! और तुम्हारे भरोसे यहाँ की होकर भी यहाँ की नहीं हूँ। तुम न आना, न आना। आओगे तो तुम जानो।

''कैसे इतना बड़ा पत्र लिख गयी और क्यों, नहीं जानती। यह जानती हूँ कि तुम्हारे सिवा किसी और को ये बातें नहीं लिख सकती थी। उन बातों को सोचकर समझ भी नहीं सकती थी।

''प्रमोद यह असम्भव न जानना कि मैं तुम्हें पुकारूँ और कहूँ, मुझे उबार लो। जब मेरे भीतर की श्रद्धा टूटेगी, मैं तुम्हें आवाज दे लूँगी। इस मेरे वचन पर तुम मेरे पास अभी न आना। मैं तुमसे कहती हूँ।''

पर, मैं समाप्त करना चाहता हूँ। व्यर्थ क्यों बढ़ाऊँ। और जहाँ जिस अवस्था में मैंने बुआ को पाया, उसका वर्णन करते कष्ट होता है। वर्णन नहीं करूँगा। बुआ के इस पत्र से उसका अनुमान किंचित नहीं किया जा सकता। जहाँ नगर की सड़ाँध रहती है, वहाँ वह रहती थी। अधेड़ अवस्था की वेश्याएँ, बेकार मजदूर, पेशेवर भिखमंगे, कानून की आँख और चंगुल से बचकर छिपे-उधड़े काम करने वाले उचक्के लोगों के रहने की वह जगह थी। बुआ वहाँ कैसे आ पड़ीं? वह बीमार थीं, खटिया से लगी पड़ी थीं। चार-पाँच ऊपर वर्णन के स्त्री-पुरुष आसपास थे। उनके चेहरे पर बुआ की अवस्था के लिए आग्रह और चिन्ता लिखी थी। वे परेशान मालूम होते थे, पर बात वे बड़ी बेपरवाही के साथ करते थे और उन बातों के खुलेपन से जी में मानो मेरे मितली चढ़ती थी। बुआ के प्रति यद्यपि उनका आदर प्रकट था, पर उनके लिए सभी 'तू' और इसका व्यवहार करते थे। हया-शर्म वहाँ न थी और उस बुआ की खाट के पास भी उनमें आपस में भद्दे इशारे हुए बिना न रहते थे। उन्होंने मुझ अपरिचित को बीच में पाकर हर्ष प्रकट नहीं किया। मानों मैं कोई विदेशी जन्तु था, अविश्वसनीय, भयावह। यह उनमें से बहुतों को निश्चय था कि खाट पर पड़ी हुई उनकी परिचिता रोगिणी का मैं कोई पहला प्रेमी हूँ और मैं ही उनकी हालत का जिम्मेदार हूँ। उन्होंने ऐसे खुलकर ये सन्देह प्रकट किए कि मैं अन्दर-ही-अन्दर सिमटकर रह गया, कुछ भी न कह सका।

बुआ सब सुनती थीं और धीरज से सब सहती थीं। कभी किसी की अभद्रता पर डपट भी देती थीं और उनकी डपट कारगर भी होती थी, लेकिन अधिकतर वह उस ओर से उदासीन रह जाती थीं।

मैंने कहा, ''बुआ, अब लो। बस, मैं लिवाने आया हूँ।''

''कहाँ ले चलेगा?''

''अब तो घर मेरा अपना ही रह गया है, बुआ! ब्याह हो गया है। मेरी हुकूमत है। तीसरा कोई नहीं है। चलो, अब तुम्हारा ही राज होगा।''

''इस बुढ़ापे में चलूँ।''

''हाँ-हाँ, बुढ़ापे में ही तो चलो। बुढ़ापे में ही तुम्हें आराम नहीं दे सकूँगा तो फिर कब दूँगा। मैं कुछ नहीं जानता। मैं तुम्हें पक्की बात कहता हूँ कि मेरी वकालत अच्छी चल जाएगी। कोई फिक्र नहीं है बुआ, अफसर दोस्त होते जाते हैं। मैं किसी साले की परवाह नहीं करता।''

बुआ चुप सुनती रहीं। बोली, ''प्रमोद तुमने महाभारत तो पढ़ा है। युधिष्ठिर जी स्वर्ग गये तो कुत्ते को नहीं छोड़ गये थे। यह बता, तेरा घर कितना बड़ा है—इन सबको ले चलेगा? ये कुत्ते नहीं हैं, और इनका मुझ पर बड़ा उपकार है।''

मैंने अपने मन को हठात थामकर कहा, ''कैसी बहकी-बहकी बातें करती हो, बुआ! आखिर मैं कोई न ठहरा। देखता हूँ, मैं कैसे तुम्हें नहीं ले चलूँगा।''

बुआ ने अविचलित भाव से मुस्कराकर कहा, ''मैं कब मना करती हूँ। अच्छा, तू जरूर ले चलेगा।''

''जरूर ले चलूँगा।''

''सुन। जरूर ही ले चलेगा?''

''हाँ-हाँ, कह तो रहा हूँ, जरूर-जरूर ले चलूँगा।''

बुआ ने कहा, ''तो यह बता, तेरे पास बहुत रुपया है? कितना रुपया है?''

मैंने कहा, ''रुपया!''

बोलीं, ''जितना दे सके, मुझे दे जा। फिर तो मैं तेरे घर गयी बराबर हूँ। हूँ कि नहीं? अब बोल!''

मैं आश्चर्य से उनकी ओर देखता रहा। कहने के लिए कहा—''रुपये का क्या करोगी?''

बोलीं, ''क्या करूँगी, वह तो अभी नहीं जानती हूँ। पर पहले तो तेरे चित्त का भरम मिट जाएगा कि मैं तेरी सहायता नहीं चाहती हूँ। फिर रुपया छोड़ने में तेरा अपना भी भला है। खूब कमा और कमाकर सब इस गड्ढे में ला पटका कर। सुना कि नहीं? रुपये के जोर से यह नर्ककुण्ड स्वर्ग बन सकता है। ऐसा तो मैं नहीं जानती। फिर भी रुपया कुछ-न-कुछ काम आ सकता है।''

यह बात मेरी बिलकुल समझ में न आयी। मैंने उनको टालकर कहा—''चलो, तुम्हें यहाँ अस्पताल में करा दूँ।''

उन्होंने कहा, ''जो बात मैंने कही, वह तेरी समझ में नहीं आयी न! चलो, ठीक है। नहीं भाई, अस्पताल मैं क्यों जाऊँगी?''

''अस्पताल में इन्तजाम ठीक हो जाएगा। प्राइवेट वार्ड में कर दूँगा, खर्च की फिक्र मत करो, बुआ!''

बुआ ने बीच में टोककर कहा—''लेकिन वही तो फिक्र मुझे है, प्रमोद! तुम बहुत सा रुपया दे जाओ तो क्या अस्पताल के प्राइवेट वार्ड में दौड़कर मैं चली जाने वाली हूँ। प्रमोद, देह है तब तक दस बीमारियाँ लगी हैं। घबराहट किस बात की है।''

बात को क्यों बढ़ाऊँ। उसमें मेरी ही कापुरुषता बढ़ी हुई दीखेगी। सार यही कि मैं उनको नहीं ला सका। पथ्य आदि की भी कोई विशेष व्यवस्था कर सका, यह भी

नहीं कह सकता। एक स्थानीय परिचित वकील मित्र को सौ-दो सौ जाने कितने रुपये दे आया था और कह आया था कि ध्यान रखना। उन्होंने ध्यान तो रखा ही होगा, पैसा भी खर्चा होगा; पर यह ध्यान और वह खर्च वाजिब ही वाजिब किया गया होगा, यह भी निश्चय है।

परिणाम यह है कि मैं नाराज होकर बहुत चुनौती भरी बातें कहकर बहुत ताकीदें और नसीहतें देकर वहाँ से चला आया।

चला आया कि फिर नहीं गया। और आकर ऐसा वकालत में चिपट गया कि किसी बात के लिए आँखें खुली न रहें, कुछ भी और न देखें। अपने सामने का स्वार्थ देखें और—और बस।

पर क्यों? क्यों बुआ की माँग मुझसे पूरी न हुई? उन्होंने इतना प्रेम किया, इतना विश्वास किया, और एक सवाल मुझसे किया, तब उसके जवाब में अपना धन मुझसे क्यों नहीं बहा डाला गया? क्यों मेरी मुट्ठी भिंच गयी? यह भी हुआ, तो फिर क्यों उसके बाद मेरी आत्मा ताप से सन्तप्त नहीं रही? क्यों? प्रश्न है, क्यों?

इस क्यों का उत्तर अब मैं देता हूँ। उत्तर है कि मैं क्षुद्र था। क्यों वकालत में आँख गड़ाकर खुद भूलने में लगा रहा? क्यों मन में मानता रहा कि ठीक हूँ? क्यों कर्तव्य को दबाता रहा और क्यों अकर्तव्य करता रहा? उत्तर है कि मैं बुद्धिमान था, सरल नहीं था। तोल-तोल कर चला और तराजू अपने हाथ में रखी।

इसलिए आज जो असली तराजू है उसमें हलका तुल रहा हूँ। आज इस सारी वकालत के पैसे और बुद्धिमत्ता की प्रतिष्ठा के ऊपर बैठकर सोचता हूँ कि क्यों मुझसे तनिक सरल सामान्य नहीं बना गया? इस सबका अब मैं क्या करूँ जब कि समय रहते प्रेम के प्रतिदान से मैं चूक गया। यह सब मैल है जो मैंने बटोरा है। मैल कि मेरी आत्मा की ज्योति को ढँक रहा है। मैं सब यह नहीं चाहता हूँ...।

उस बात को सत्रह से कुछ ऊपर ही वर्ष हो गये हैं। आज महाश्चर्य और महासन्ताप का विषय मेरे लिए यह है कि किस अमानुषिकता के साथ सत्रह वर्ष मैं बुआ को बिना देखे काट गया? वह बुआ, जिन्होंने बिना लिये दिया। जिन्होंने कुछ किया, मुझे प्रेम ही किया। जिनकी याद मेरे भीतर अब अंगार-सी जलती है। जिनका जीवन कुछ हो, ऊपर उठती लौ कि भाँति जलता रहा। धुआँ उठा तो उठा, पर लौ प्रकाशित रही। उन्हीं बुआ को एक तरफ डालकर, किस भाँति अपनी प्रतारणा करता रह गया।

आज दिन है कि खबर आती है कि वह मर गयीं। कैसे मर गयीं—जानने की कोई जरूरत नहीं है। जो जाने बैठा हूँ, वही कम नहीं है। उसी को पचा सकूँ, तो कुछ-का-कुछ हो जाऊँ।

बुआ, तुम गयीं। तुम्हारे जीते जी मैं राह पर न आया। अब सुनो, मैं यह जजी छोड़ता हूँ। जगत् का आरम्भ-समारम्भ ही छोड़ दूँगा। औरों के लिए रहना तो शायद नये सिरे से मुझसे सीखा न जाए, आदतें पक गयी हैं; पर अपने लिए तो उतनी ही स्वल्पता से रहूँगा, जितना अनिवार्य होगा। यह वचन देता हूँ।

भगवान तुम मेरी बात सुनते हो। वैसे चाहे न भी दो, पर वचन तोड़ूँ तो मुझे नरक अवश्य ही देना।

(ह.) एम. दयाल

ता. 3-4

पुनश्च—इसी के साथ सही करता हूँ कि जजी से अपना त्याग-पत्र मैंने दाखिल कर दिया है।

एम. डी.

ता. 4-4

□

कल्याणी

1

जब कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो आता है। कोशिश तो करता हूँ कि फिर उधर जाऊँ ही क्यों? लेकिन बेकार। सच बात यह है कि अगर मैं इस तरह एक-एक राह मूँदता चलूँ तो फिर खुली रहने के लिए दिशा किधर और कौन शेष रह जाएगी? यों सब रुक जाएगा, पर रुकना नाम जिन्दगी नहीं है। जिन्दगी नाम चलने का है।

देखता हूँ कि दुनिया रहती है। कोई जाता है, तो उसके अभाव में ठहरने का अवकाश उसे नहीं। उसे खुद अपना चक्कर है। इससे दुनिया में उदास होना गलत है, पर चित्त पूरी तरह बस में जो नहीं होता। वह कभी एकदम बेबस हो जाता है, तब बीती बातें याद आती हैं। यह जानकर भी कि वे बातें बीती हैं, क्या उन्हें एकदम टालते बनता है?

यही मान था। ऐसे कोई बहुत ज्यादा दिनों की बात नहीं है। महीना हुआ होगा। कुछ कम या दो-एक दिन ऊपर, कि इस मकान की जो शोभा थीं, श्री थीं, वे एकाएक मर गयीं। जब यह समाचार सुना तो जी धक से रह गया। विचार आया कि अब? सोच लिया कि अब वहाँ सब उजाड़ हो जाएगा, और क्या? उस घर का आमन्त्रण मिट चुकेगा और ईंट-पत्थर की वह हवेली ही वहाँ भूत-सी खड़ी रह जाएगी। पर मेरी भूल। सृष्टि में कभी कोई अभाव नित्य रहा है! कौन गड्ढा बहते बहाव में भर नहीं जाता? सो उसकी मृत्यु के दो-एक दिन बाद तक जो जरूर वह मकान शोकमग्न दीखा। जैसे प्राण न रहे हों, शव रह गया हो; पर वे दो-चार रोज बीतते-न-बीतते वहाँ तो चहल-पहल दिखायी देने लगी। जगमग पहले से अधिक हो चली, दीवारों पर नया रंग-रोगन दीखा, बढ़िया फर्नीचर बढ़ा। जैसे किसी नये सौभाग्य के स्वागत की तैयारी हो।

मैंने चाहा कि उधर ध्यान न दूँ। सोच लूँ कि संसार है। शोक करते बैठना यहाँ शोभा नहीं देता। ऐसे संसार कटना दूभर होता है। यहाँ आँख मूँद जिये जाओ, और क्या। हलके रहो और खुशी से हटकर गिरो तो भी खुशी पर ही गिरो। रंज को पीठ दिये रहो। बुद्धिमानी इसी का नाम है!

पर एक दिन श्रीधर ने आकर कहा कि सुना आपने? इसी महीने उनकी शादी होने वाली है।

बात जिनकी चल रही थी, उनके बारे में मुझे यह सूचना प्रीतिकर नहीं मालूम हुई। मैंने कहा, ''क्या-आ?''

बोले, ''आपको सच-सच, बिलकुल खबर नहीं है! हम तो समझते थे—।''

मैंने कहा, ''साफ कहो। क्या डॉक्टर शादी कर रहे हैं?''

श्रीधर ने कहा, ''हाँ, पर हम समझते थे कि वह बिना आपकी सलाह कुछ न करते होंगे।''

मैं चुप रह गया। करता तो क्या? क्या श्रीधर को यह कहता कि दिन सदा बदलते रहते हैं और किसी की भी हमेशा नहीं चली। दो-एक सप्ताह पहले अवश्य दूसरी बात थी। पर बीता व्यतीत हुआ। अब बात और है। डॉक्टर साहब अब अकेले हैं और अपने मालिक हैं। जब घर में स्वामिनी थीं...लेकिन यह इतिहास जुदा है।

तो सार सूचना यह कि उस घर में अब नयी स्वामिनी आएँगी। मैंने हठात् मन को कहा कि चलो अच्छा समाचार तो है। बच्चों को माँ मिलेगी। घर बसा-का-बसा रह जाएगा।

लेकिन सच कहूँ कि फिर भी जब उधर को निकलता हूँ और मकान का नया रंग-रोगन देखता हूँ कि नया फर्नीचर वहाँ नये करीने से लगाया जा रहा है, बिजली की तेज और बड़ी बत्तियाँ लग रही हैं आदि, तो यह सब देखकर उनकी याद आ जाती है, जो अभी कल थीं और आज नहीं हैं। और जो—खैर, जाने दो उसको। उस याद पर जी बरबस उदास हो आता है।

2

हाल की ही तो बात है। ऐसा लगता है, जैसे कल की हो। न सही कल की, पर दो-ढाई बरस से अधिक नहीं हुए।

रात के नौ से ऊपर समय हो गया होगा। शुरू जाड़े के दिन थे। श्रीधर बैठे थे। 'प्रबाल' भी उस दिन थे। देखता क्या हूँ कि पति-पत्नी दोनों आ धमके हैं। धमकना कहना ठीक नहीं है। पर उनका आना वक्त के लिहाज से कुछ ऐसा अनमेल और अनहोना लगा कि...।

मैंने दोनों का अभिवादन किया। कहा, ''भाग्य कब समय देखता है! तो भी इस समय कोई असामान्य काम ही आपको लाया होगा। मैं ऋणी हूँ। कहिए?''

पत्नी के चेहरे पर बहुत उल्लास दिखाई देता था, जैसे भीतर भरी हों और कुछ उमगा आता हो। बोलीं, ''गनीमत है कि यह वक्त तो हमें निकल सकता। और बड़ी बात यह है कि चलिए आप मिल गये। नहीं तो—।''

वाक्य को उन्होंने पूरा नहीं किया और उनमें संकोच हो आया।

स्थिति को सहज रखने के लिए मैंने परिचय कराया, ''आप श्री श्रीधर, मेरे मित्र, यहाँ कॉलिज में लेक्चरर हैं, जी, गवर्नमेण्ट कॉलिज में। आप हिन्दी के साहित्यकार श्री 'प्रबाल', प्रयाग रहते हैं। और आप श्रीमती और डॉक्टर असरानी। आप (श्रीमती) को हिन्दी से प्रेम है।''

परिचय के अनन्तर भी एकाएक असमंजस छूटा नहीं। तब मैंने श्रीमती कल्याणी के प्रति देखकर कहा, '' 'प्रबाल' जी की रचना तो आपने शायद कोई देखी भी होगी।''

बोलीं, '' 'पद्मा' आपने ही मुझको दी थी। मैं कृतज्ञ हूँ। पर हमने आकर शायद आपका हर्ज किया है।''

मैंने अपना हर्ज होने से इनकार किया। कह ही रहा था कि डॉक्टर बोले, ''इन्होंने हिन्दी में कुछ कविताएँ लिखी हैं। दिखाओ-दिखाओ, दिखाती क्यों नहीं हो?''

कल्याणी इस पर कुछ बेमन और लज्जित भाव से मेरी ओर देखकर बोलीं, ''जी नहीं, कुछ नहीं...वह यों ही—।''

पति बोले, ''नहीं-नहीं, झिझको मत।''

यह कहकर अपनी पत्नी की गोद में रखी हुई कॉपी को उठाकर उन्होंने मेरे आगे कर दिया। पत्नी से लाज के मारे कुछ कहते न बना।

मैंने कॉपी लेकर कहा, ''अच्छा तो है! एक हम हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हुई तो और प्रान्तीय भाषाओं को सीखते ही नहीं। उसका लाभ तो आप इतर प्रान्तवालों को मिला है। देखिए न, सिन्धी होकर आप देखते-देखते हिन्दी जान गयीं!''

कल्याणी कुछ बोली नहीं।

पति ने कहा, ''ये कविताएँ इन्होंने कुछ पाँच रोज में लिखी हैं। पचास से ऊपर हैं। अपनी भाषा की यह मानी हुई कवि हैं। आप जानते ही हैं। हिन्दी में भी आप देखेंगे कि यह आगे ही दीखती हैं।''

मैंने कहा, ''सो तो आशा ही है।''

पर पत्नी ने कुछ रोष के भाव से पति की ओर देखा और जब उन्होंने देखा कि उस रुष्ट दृष्टि को हमने भी देखा है, तो वह लाज में कुछ सकुचा आयीं और उनके चेहरे पर लाली दौड़ गयी।

पर डॉक्टर हीन-प्रभ नहीं हुए। बोले, ''आप तो जानते ही हैं कि इनकी

पुस्तकें कॉलिज तक के कोर्स में हैं। उनका अँग्रेजी अनुवाद हुआ। हिन्दी में लिखेंगी, तो उसमें भी आप देखेंगे कि नया युग आया है। इनके काव्य में एक सन्देश होता है और।''

कल्याणी, पति की ओर देखती हुई सहसा कुछ जोर से कह उठीं, ''आपसे किसी ने कुछ पूछा है कि आप बोलते ही जाएँगे?''

पर डॉक्टर बोलते ही गये। कुछ हँसकर उन्होंने कहा, ''अत्युक्ति न मानिए आप। अपनी भाषा की यह सबसे श्रेष्ठ कवि हैं। और हिन्दी में आएँगी तो जरूर एक चमत्कार लाएँगी। मैं ठीक कहता हूँ। इनको अपनी तारीफ सुनने में लज्जा हो सकती है, लेकिन मुझे सच बात कहने में पीछे रहने की आदत नहीं है।''

''हाँ—।''

इतना कहकर मेरे सामने से उन्होंने निःसंकोच कॉपी को उठा लिया और अपनी पत्नी को देते हुए कहा, ''लो, सुनाओ तो वह 'भारत माता' वाली कविता, वही सुनाओ।''

कल्याणी ने उस समय मानों एक भर्त्सना की निगाह से पति को देखकर कहा, ''जो बात आपको आती नहीं है, उसके बीच में भी बोलना क्यों आपको जरूरी हो जाया करता है!''

पत्नी सिन्धी भाषा में ही बोली थीं। बोलते समय उनकी भाव-भंगिमा कुछ ऐसी स्पष्ट हो गयी थी कि सिन्धी बिना जाने भी उसका भाव हमने समझ लिया।

पति इस पर विशेष अधीर नहीं दिखाई दिये। वह हिन्दी में ही कहने लगे, ''कोई बात नहीं, कोई बात नहीं।''

दम्पती की इस स्थिति पर और लोगों को कुछ असमंजस हो आया। श्रीधर उठे और जाना चाहने लगे। खड़े होकर उन्होंने अनुमति माँगते हुए कहा, ''मुझे क्षमा कीजिएगा। खुशी होती, अगर मैं ठहर सकता। लेकिन मुझे काम है।''

'प्रबाल' भी अपनी कुर्सी पर अस्थिर-से दीखे। मानो और क्या, वह भी चलें।

पर उस बिगड़ती-सी स्थिति को एकदम अपने हाथों में लेकर कल्याणी ने श्रीधर की ओर देखते हुए कहा, ''क्या आप जाइएगा? लेकिन कुछ भी देर और ठहर सकें तो कृपा कर ठहरिए। मैं आभारी होऊँगी। मैं कविता सुनाना चाहती थी। पसन्द तो क्या आएगी, क्योंकि मैं हिन्दी जानती भी नहीं हूँ। पर सीखना चाहती हूँ और आप लोगों से सहानुभूति की आशा रखती हूँ। अनुमति है?''

इस पर श्रीधर अनायास अपनी जगह बैठ गये और 'प्रबाल' भी सुस्थित हो गये। कल्याणी ने उस समय बिना देर लगाये, कॉपी खोल कर कविता सुनानी शुरू की। वह 'भारत माता' के सम्बन्ध में नहीं थी, एक बटोही के सम्बन्ध में थी।

बटोही, वह जाने कब से चला आ रहा है! राह उसकी दीर्घ है। संकेत कोई

उसे प्राप्त नहीं है। बस एक पुकार उसने भीतर सुनी है। उसकी टोह में वह चलता चला आ रहा है, चलता चला आ रहा है और चलता चला आएगा। क्या चिह्न पीछे छोड़ता आ रहा है, पता नहीं। उसका गन्तव्य पथ भी है या नहीं। पता नहीं क्या अर्थ है, या परमार्थ है, या सब व्यर्थ है; कुछ उसको पता नहीं है। बटोही ज्ञानी नहीं है, ध्यानी नहीं है। वह किसी मार्ग को नहीं जानता। बाहर उसे कोई संकेत प्राप्त नहीं है। एक पुकार उसने भीतर सुनी है। वही है, वही है। अतिरिक्त वह कुछ नहीं जानता है, उसी में बँधा वह बटोही, अकिंचन, चला चल रहा है, चलता चला आ रहा है, चलता चला आएगा। कहाँ से आयी है वह टेर? कौन देता है उसे गुहार? कहाँ है उसके प्राणों का सूत्रधार? कहाँ, रे कहाँ? बटोही यहाँ किधर बिछुड़ आया है? क्या वह बिछोह अनन्त है? क्या उसका कहीं अन्त है? कहाँ वह अन्त है? ओह, बिछुड़ा बटोही नहीं जानता। वह चल रहा है, चल रहा है। आस नहीं, निराश नहीं। बिछोह की बिथा बस भीतर है। वही धुन और वही टेक। वही उसकी साँस। बटोही उसके सहारे चलता चला आ रहा है और चलता और चलता चला जा रहा है। संकेत कोई उसे प्राप्त नहीं है, पर टेर उसे बुला रही है, और बिछोह उसे खींच रहा है। बटोही राह बेराह चल रहा है, चल रहा है। क्योंकि वियोग में कहाँ चैन है? यहाँ सराय में कुछ उसका नहीं है। वह बटोही है, राह चलते की उसकी सबको राम-राम है। चलना उसका काम है। रह जाएगा, सब रह जाएगा। वह तो चलता ही चला आ रहा है, चलता ही चला आएगा, वह बटोही...!

कविता कुछ ऐसे तल्लीन भाव से सुनाई गयी कि जब वह पूरी हुई तब उसके बाद भी कुछ क्षणों तक मानों वह प्रवाहित ही रही। मानों हवा में अभी घुमड़ ही रही हो। समय बँध गया था और कविता की ही वहाँ एक गति थी। कुछ पल ऐसी ही अवस्था रही।

'प्रबाल' की दशा न पूछिए।

उस अवस्था से उबरने पर मैंने देखा, तो कवयित्री का चेहरा मानो, सुस्त और दया-प्रार्थी हो आया था। जैसे जाने वह क्या अपना खो बैठी हो।

मैंने कहा, ''इस कविता के लिए तो आपको बधाई दी जा सकती है, और आपके मधुर कण्ठ को भी।''

उन्होंने सकुचाते हुए पूछा कि, भाषा की भूलें तो बेहद होंगी?

मैं कुछ कहने जा रहा था कि पति बीच में बोले, ''हिन्दी में ऊँची कविता है कहाँ? तुम्हारी इस कविता का जैसा सुन्दर भाव हिन्दी में नहीं मिल सकता। मैं कहता हूँ कि हिन्दी में तुम्हारा अनुपम स्थान होगा, शीर्ष स्थान।''

यह सुनकर जैसा एक त्रास कल्याणी के चेहरे पर मुझे दिखाई दिया, उससे मुझे कष्ट हो आया। मैंने कहा, ''डॉक्टर साहब जो कहते हैं, वह एकदम मिथ्या हो, सो

नहीं। आप जरूर लिखती रहिए। लिखना छोड़िए नहीं।''

कल्याणी ने मन्द भाव में कहना चाहा—भाषा!

मैंने कहा, ''हाँ, भाषा अभी एकदम ठीक तो नहीं है। इसका कारण कुछ उच्चारण भी है, पर भाव उत्तम है। भाव चाहिए, भाषा तो मँजती रहेगी।''

पति ने प्रसन्न भाव से कहा, ''देखो मैं कहता न था? और यह तो खुद हिन्दी के हैं। कोई दूसरी भाषा का होकर हिन्दी साहित्य में ऊँची जगह बनाए, यह क्यों इन्हें अनुकूल होगा? लेकिन तुम परवाह न करो। अच्छा बताइएगा इनकी भाषा में क्या दोष है?''

मैं उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका, झेंप में हठात कुछ मुस्कराकर रह गया।

पति ने पत्नी को कहा, ''मैं कहता हूँ न, झिझक छोड़कर लिखती जाओ। परवाह न करो। भाव में खूबी है तो तुम्हारी यही भाषा चल जाएगी। आज की हिन्दी में है क्या?''

कल्याणी ने मानों कष्टपूर्वक मुझे कहा, ''आप इनकी बात पर न जाइएगा। यह तो मुझको देवी कहते हैं। (कहती हुई कुछ विद्रूप में हँसी। और सुनकर पति प्रसन्न हुए) और इनको अपनी कहने का मर्ज है। जाने, चाहे न जाने। तो आपकी राय है कि मैं लिखती रहूँ?''

मैंने कहा, ''अवश्य राय है और लिखती तो जरूर रहिए। लेकिन एक काम कीजिए, तो कैसा? पहले गद्य लिखिए।''

वह हँसकर बोलीं, ''छन्द में मात्राओं की बात शायद आप कहते हो। हिन्दी में उसका ध्यान बहुत रखा जाता है, सुनती हूँ। मैंने इसी से अपनी कविता में जगह-जगह मात्राएँ सँभाली हैं। देखिए।''

कहकर वह अपनी कविता से यहाँ-वहाँ के चरण ले, उसकी मात्राएँ गिनने और गिनाने लगीं।

मैंने कहा, ''सो मैं क्या जानता हूँ? कौन छन्द जानता हूँ? पर भाषाओं में उच्चारण की भी अपनी-अपनी विशेषता रहती है। हिन्दी के उच्चारण में लचक कम है। इससे हिन्दी-काव्य में उतनी तरलता नहीं। हिन्दी का एक्सेण्ट जुदा है। कान के आदी होने की बात है। इससे अभी गद्य लिखें, तो अच्छा। थोड़े अभ्यास से हिन्दी का एक्सेण्ट आप पकड़ लेंगी और तब पद्य शुरू कर दीजिएगा।''

मैंने अनुभव किया कि वह मेरी इस बात को कुछ ग्रहण न कर सकीं। पर उन्होंने रस के साथ उन विषयों पर चर्चा की, कृतज्ञता प्रकट की और कुछ देर बाद असरानी दम्पती चले गये।

जाने के बाद 'प्रबाल' कल्याणी असरानी के प्रति अपनी सराहना प्रकट करने लगे। उनकी सम्मति थी कि इन महिला की प्रकृति में काव्य है। उन्होंने तो इस विषय

में बड़े-चढ़े विशेषण भी प्रयोग किये। श्रीधर कविता के विषय में तो नहीं कह सकते, पर और तरह वह प्रसन्न थे। उनकी राय हुई कि महिला में परिष्कृत स्त्रीत्व है। पति के सम्बन्ध में दोनों की धारणा उतनी उत्साहवर्धक नहीं थी।

श्रीधर ने मुझसे पूछा, "इन लोगों को आप जानते हैं?"

मैंने कहा, "हाँ, जानता हूँ।"

पर श्रीधर अपने ढंग के पूरे जीव हैं। पूछा, "कब से जानते हैं?"

मैंने कहा, "दिनों के लिहाज से भी कम दिनों से नहीं जानता।"

श्रीधर की और भी जिज्ञासाएँ थीं।

मैंने कहा, "सब जिज्ञासाओं को शान्त कर सकने जितने ज्ञान का मैं पात्र नहीं हूँ।"

श्रीधर बोले, "पति अनुकूल आय से सम्पन्न दिखाई देते हैं, इसी से पत्नी को कविता से प्रेम है।"

मैंने कहा, "ऐसा नहीं, पत्नी स्वयं डॉक्टर हैं। बल्कि दोनों के सम्मिलित व्यवसाय में मुख्य डॉक्टरी पत्नी की ही है। वह विलायत की पास है। पति कहीं के पास शुदा डॉक्टर न हों, तो भी मुझे अचरज न होगा। पर व्यवसाय की देखरेख उन पर ही है।"

श्रीधर को इस पर कुछ अजब-सा मालूम हुआ। साश्चर्य कहा, "वह खुद डॉक्टर हैं? तो-ओ-कवि क्यों हैं?"

मैंने पूछा, "क्या आशय?"

बोले, "जो डॉक्टर है वह कवि नहीं हो सकता।"

मैंने कहा, "इसमें मैं क्या कह सकता हूँ। घटना सामने है।"

बोले, "यह गलती है।"

मैंने कहा, "धन्धे से डॉक्टर समझिए और प्रकृति से कवि।"

श्रीधर बोले, "यह तो दुःख की बात है।"

मैंने कहा, "हाँ, शायद सुख की तो बात नहीं है।"

'प्रबाल' को इधर-उधर से सरोकार न था। उनकी मति हो चुकी थी कि वह महिला कवि है। बाद में जो भी हो।

3

अगले दिन काफी सवेरे डॉक्टर असरानी घर आये। मुझे कुछ विस्मय हुआ। मैंने

साभिवादन कहा, "आइए, आइए।"

पर वह रुष्ट थे। बोले, "क्या आपको यह चाहिए था?"

जब उन्हें प्रकट हुआ कि उनके रोष के शब्दों से उनका मतलब मेरी समझ में नहीं आ रहा है, तो उन्होंने कहा, "क्या कल आपको उस तरह व्यवहार करना चाहिए था।"

मैंने कहा, "अनजाने कोई भूल हुई हो, तो मुझे क्षमा कीजिए; लेकिन बात क्या है?"

बोले, "उनको (श्रीमती असरानी को) जानते हुए आपने उनके साथ क्या व्यवहार किया? आप उनकी योग्यता जानते हैं। वह आपसे प्रोत्साहन की आशा रखती थीं। आपने उत्साह भंग किया। आखिर यही न कि आप नहीं चाहते कि कोई दूसरी भाषा से आकर हिन्दी में ऊँची जगह बनाए।"

मैंने कहा, "राम-राम, यह आप कहते क्या हैं?"

उन्होंने बताया, "यहाँ से लौटने पर उन्होंने अपनी कविता की कॉपी को फाड़ दिया। सुना आपने? फाड़कर फेंक दिया! और जिम्मेदार आप हैं।"

इस बात को सुनकर मैं स्तब्ध रह जाने के अलावा और कुछ नहीं कर सका। आगे वह बोले, "अब से वह कोई कविता हिन्दी में न लिखेंगी।"

मैंने कहा, "मुझे बहुत दुःख है, लेकिन निश्चय ही आप यह नहीं मानते कि मेरा आशय कभी ऐसा रहा होगा?"

डॉक्टर नाराज थे। उन्होंने कहा, "और नहीं तो क्या रहा होगा?" वह ऐसी ही नाराजगी की बातें कुछ देर कहते रहे। बताया कि कल्याणी भी आपसे प्रसन्न नहीं है। कल्याणी के सम्बन्ध में काफी प्रशंसात्मक बातें उन्होंने कहीं। वह श्रेष्ठ कवयित्री ही नहीं, योग्य गृहिणी हैं और आदर्श पत्नी भी हैं। डॉक्टरी में तो उनकी निपुणता का प्रश्न ही नहीं, वह तो प्रकट है। इत्यादि।

मैंने हार्दिक धन्यवाद के साथ सब स्वीकार किया। कहा, "आज मेरा उधर आना न हो सकेगा, इसके लिए खिन्न हूँ। पर कल माफी माँगने आऊँगा। आप उन्हें मेरी ओर से कहिएगा कि अगर मेरे किसी व्यवहार से उन्हें कष्ट हुआ है तो उसका कष्ट मुझे ही अधिक है।"

अगले रोज जब मैं मिला तो कल्याणी ने कहा, "सचमुच आपकी बातों से मेरा उत्साह जाता रहा था, इससे निराशा में मैंने कॉपी फाड़ दी।"

मैंने कहा, "यह तो सदा के लिए मुझे दोषी बना दिया गया!"

उन्होंने पूछा, "तो क्या सचमुच मैं लिख सकूँगी? लिख सकती हूँ?"

मैंने कहा, "हाँ, अवश्य।"

वह सुनकर कुछ देर चुप रहीं। बोलीं, "अच्छा, लिखकर फिर क्या होगा?"

डॉक्टर उस समय वहाँ नहीं थे। सन्ध्या का समय था। उन्हें कुछ फुर्सत मालूम होती थी।

मैंने कहा, ''लिखकर होता क्या है? पहले जो लिखा, उसका क्या हुआ है?''

बोलीं, ''यही तो मैं जानना चाहती हूँ कि उस सबसे क्या हुआ है? कविता से क्या होता है? सब मन का उच्छ्वास है। उच्छ्वास से क्या होता है?''

मैंने कहा, ''फिर भी उच्छ्वास के घुटने से उसका बाहरी रूप लेकर निकल आना क्या अच्छा नहीं है?''

बोलीं, ''क्यों अच्छा है? सब व्यर्थ है, सब व्यर्थ है।''

मैंने कहा, ''सुनिए। व्यर्थ कहने से तो जीवन का अर्थ भी व्यर्थ हो जाएगा। ऐसे कैसे चलेगा?''

बोलीं, ''न चले, तो क्या हानि है?''

स्पष्ट वह बहस चाहती थीं। सुनना चाहती थीं, कहना चाहती थीं। कुछ करने की गर्मी चाहती थीं।

मैंने कहा, ''हानि? हानि का सवाल कहाँ आता है? जीना मिल गया, सो जीना होगा कि नहीं? हानि-लाभ का लेखा क्या हमारे पास रहता है? नहीं, उसका बही-खाता तो कहीं और रहता है, हानि-लाभ दर्ज वहाँ है। हम व्यर्थ हैं, यह तो कोई तभी कह सकता है, जब उसे उस हिसाब का पता हो। उसका पता नहीं है तब अपनी बात को उतनी दूर हम ले किस बल पर जाएँ? और हिसाब में शून्य भी शून्य नहीं है।''

वह कुछ उद्विग्न हो आयीं। उन्होंने कहा, ''नहीं, नहीं। कीमत की बात फिजूल है। अनगिनती तारे हैं, अनगिनती दुनिया है, यहाँ कीमत क्या होती है? सब फिजूल है। डॉक्टरी फिजूल है और कविता फिजूल है। क्या उनमें अर्थ है? सार कुछ समझ में नहीं आता।''

मैंने कहा, ''छोड़िए। आप तो बहुत उपयोगी काम कर रही हैं, रोगी को आरोग्य और मरते को जीवन देने का पुण्य आप कर रही हैं, फिर और क्या चाहिए?''

बोलीं, ''मुझे सन्देह है कि मैं रोगियों का इलाज करती हूँ। मालूम होता है कि मैं पैसा कमाती हूँ।''

मैंने कहा, ''पैसा तो व्यवहार का माध्यम है, पर रोगियों को आश्वस्त तो आप करती ही हैं।''

उन्होंने जोर से कहा, ''नहीं करती।''

''रोगियों को दवा नहीं देतीं?''

''हाँ, नहीं देती। पैसा लेती हूँ, सो एवज में सौदा देती हूँ। उँह दवा! हाँ, वह आराम पाते हैं; लेकिन पैसा खर्च कर जो मिलता है, वह आराम ही समझा जाता है।''

मैंने कहा, ''यह तो आप अपने साथ व्यर्थ कठोर होती हैं।''

बोलीं, ''मैं बीमार पड़ती हूँ, तो खुद अपनी दवा लेती हूँ; और जो विश्वासपूर्वक मैं खुद नहीं लेती, वही दूसरों को देती हूँ, तो क्या वह उपकार है? वह सेवा है? या यह छल है?''

मैंने कहा, ''आपको इस तरह नहीं सोचना चाहिए।''

पर अपने सम्बन्ध में उन्हें समाधान नहीं था, जान पड़ा है कि उनका ख्याल है कि उमर व्यर्थ बीतती जा रही है। रह-रहकर उन्हें अपने उन सपनों की याद होती थी, जो कॉलिज में पढ़ने के वक्त उनके मन में झूमा करते थे। उनकी बातों से आभास मिलता था कि उनके गिरिस्ती न होती, तो वह डॉक्टरी से कमाई न करतीं। उन्होंने कहा कि अगर उन्हें नया जन्म मिले, तो वह अपने को इनकार करके न चलें। फिर चाहे उसका कुछ भी परिणाम आगे हो। वह जीवन का आरम्भ जैसे नये सिरे से करना चाहती थीं और प्रस्तुत जीवन को गलत शुरू हुआ समझकर मानों उसे यहीं खत्म हुआ देखना चाहती थीं।

मुझे यह सब देखकर तकलीफ हुई। मैंने कहा, ''ऐसी अनावश्यक बातों को आप ध्यान में लाती ही क्यों हैं?''

हँसकर बोलीं, ''आवश्यक क्या है? क्या है? क्या यह डॉक्टरी? मोटर? मकान? पति?''

मैं इस प्रकार के उत्तर के लिए अनुद्यत था। तो भी मैंने कहा, ''हाँ यह सब कुछ क्या अनिष्ट है? अनिष्ट कुछ नहीं है। आप अपने को वृथा कष्ट क्यों देती हैं?''

उन्होंने हँसकर कहा, ''आपको मेरे चारों ओर कहीं कुछ कष्ट का बहाना भी दीखता है? कौन-सा आराम है, जो मैंने अपने को नहीं दे रखा? जिन्हें कष्ट है, वे और हैं। मैं उसके लायक नहीं हूँ।''

मैंने कहा, ''आपकी बातें मुझे सुख नहीं पहुँचातीं।''

बोलीं, ''ओ, अच्छा! आपको जो कष्ट दिया उसके लिए क्षमा चाहती हूँ। अब कष्ट नहीं दूँगी। लेकिन स्त्री की कोई बात सच नहीं माननी चाहिए।''

कहकर खूब हँसने लगीं।

मैंने बात टालने के लिए कहा, ''कविता का खात्मा आप नहीं कर दे रही हैं, यह तो मैं समझ सकता हूँ न? क्योंकि अन्यथा मुझे अपने को अपराधी मानना होगा।''

बोलीं, ''कविता कोई सुख की तो बात है नहीं। शायद लाचारी की ही बात है, क्यों?''

मैंने कहा, ''जो हो, यह आश्वासन मुझे चाहिए कि अपने से और मुझसे आप रुष्ट नहीं रहेंगी।''

मैंने कहा—इतना सुनकर वह दोहराकर फिर हँसने लगीं।

इस भाँति जब तक मैं लौटकर चला, हमारी बातचीत कुछ ऐसे विनोदी तल पर

होती रही कि प्रतीत हुआ कि सदा तकलीफ की बातें ही उनके मन को नहीं घेरे रहती हैं। चुहल का भी वहाँ काफी अवकाश है, पर ऐसे समय वह और भी अनबूझ दीखती हैं।

4

कुछ दिन बाद की बात है कि श्रीधर ने मुझे चौंका दिया। आकर कहा, ''देख ली आपकी महिला-रत्न! उनके तो बड़े कारनामे सुनने में आते हैं!''

मैंने कहा, ''महिला-रत्न! कौन, क्या मतलब है तुम्हारा?''

उन्होंने कहा, ''अजी वही आपकी लेडी असरानी! आप जानते हैं कि डॉक्टरी क्या है? डॉक्टरी है पर्दा। और पर्दे के पीछे क्या है, सो भी आप जानते हैं? पीछे जाने क्या नहीं है।''

पर श्रीधर, जाने क्या कुछ कानों की राह अपने मन में भर लाये थे। उन्हें चुप रहना कठिन था। उन्होंने कुछ ऐसी अनर्थक कहानियाँ सुनायीं कि मैं विश्वास तो कर ही न सका, बल्कि श्रीधर को डपट बैठा। कहा, ''अनकहनी यों नहीं कहनी चाहिए, श्रीधर!''

श्रीधर बोले, ''तो आप इन्हें झूठ समझते हैं?''

मैंने कहा, ''कुछ और समझने की बात तो पीछे है, अव्वल तो मैं उन्हें सुनकर अनसुनी समझना चाहता हूँ।''

श्रीधर तब बोले, ''ये खास उनकी कही हुई हैं, जो उस घर के बहुत घनिष्ठ हैं। वह राय साहब!''

राय साहब का नाम सुनकर मैं चकित रह गया। सच ही उस परिवार में उनका काफी आना-जाना था। फिर भी मैंने श्रीधर से कहा कि जो हो, वह सब कुछ मैं नहीं चाहता हूँ। किसी के भेदों से मुझे कोई मतलब नहीं। भेदिये अपनी जाने। मेरे मन में तो श्रीमती असरानी के लिए आदर-भाव है।

श्रीधर ने उस समय नाम-धाम, पता-ठिकाना ब्यौरेवार बताकर कुछ और कहानियाँ कह सुनायीं। उन कथाओं में कल्याणी की इज्जत पर आ बनी थी। और नायक राय साहब थे।

सुनकर मेरे मन में पीड़ा हुई। मैंने श्रीधर को डपटकर कह दिया कि वाहियात नहीं बकना चाहिए।

श्रीधर सुनकर मुस्करा दिये। उनका विश्वास था कि मेरा मन ही उस विषय

में इस योग्य नहीं रहा है कि मैं तटस्थ वृत्ति से कुछ समझ-बूझ सकूँ। उन्होंने कहा कि कहीं मैं भी तो माया के वश नहीं हो रहा हूँ? यदि ऐसा ही तब हो, तो फिर मुझे कहीं कोई दोष क्यों दिखाई देने लगा!

मैंने कहा, ''जुबान हल्की न बनाओ। एक के दुःख को अपना मजाक गिनना अच्छा नहीं।''

श्रीधर ने हँसकर कहा, ''ओह, आप दुःखी हैं!''

मैंने कहा, ''श्रीधर, तुम तो जानते हो हमारे समाज में स्त्री की स्थिति नाजुक है। अपनी ओर से उस स्थिति को विषम बना देना क्या क्षम्य हो सकता है? पुरुष का दोष नहीं, वह पुरुषार्थ है। लेकिन स्त्री—।''

खैर, अगली बार जब कल्याणी से मिलना हुआ तो मैं नहीं कह सकता किस प्रकार, पर थोड़ी ही देर बाद मैं कह बैठा, ''देखता हूँ आपको लेकर तरह-तरह के प्रवाद सुन पड़ते हैं!''

सुनकर उन्होंने हँसकर दोहरा दिया, ''सुन पड़ते हैं न?''

इस उत्तर पर मैं सहसा निरुत्तर-सा हो आया।

वह बोलीं, ''मैं ही नहीं, तब कौन कह सकता है कि वे सब गलत हैं। फावड़ा बनने के लिए सूई तो चाहिए ही। बेबात भला कोई बात चलती है? आपकी क्या राय है?''

मैं कुछ समय अचकचा आया। पूछा, ''क्या आप जानना चाहती हैं कि ऐसी बातें कौन उड़ाता है?''

उन्होंने कहा, ''शायद मैं जानती ही होऊँ।''

''आपका क्या अनुमान है?''

''मेरे लिए अनुमान का सवाल ही नहीं है।''

''इसका मतलब तो यह हुआ कि आप निश्चय ही जानती हैं कि वह कौन है, फिर आप कुछ प्रतिकार क्यों नहीं करतीं?''

बोलीं, ''प्रति-कार!''

कह चुकने पर एक उदास मुस्कराहट उनके चहेरे पर आ गयी। आगे वह कुछ नहीं बोलीं।

मैंने उस समय कहा, ''सुनिए, खुद रायसाहब।''

वे उस विषण्ण मुस्कराहट के बीच में ही रुककर और मुझे रोककर बोलीं, ''उनका मुझ पर बहुत ऋण है।''

मैंने कहा, ''ऋण? क्या रुपया चुकाना है।''

मुस्करायीं और बोलीं, ''कृपा का ऋण!''

मैंने तब कहा, ''शायद उनकी कृपा के इस रूप का आपको पता न होगा।''

उत्तर में वह धीमी होकर बोलीं, ''वह सब कर सकते हैं। बड़े लोग हैं।''

मुझे उनकी बातों से तथ्य का कुछ अनुमान न मिला। मैंने कहा, ''उन रायसाहब से मेरी तो घनिष्ठता हो न सकती। मैं नहीं जानता कि फिर— ।''

हँसकर बोलीं, ''आप मुझसे नाराज होना चाहते हैं ? आपको नाराज होने का हक है।''

मैंने कहा, ''आदमी जो ठीक न हो, उससे फिर परिचय— ।''

बोलीं, ''आपको मेरी आत्मा का ख्याल है ? मैं कृतज्ञ हूँ।''

मैं इसका आशय कुछ न समझ सका। इस वाक्य में मुझे अपनी अवज्ञा ही मालूम हुई होगी, अन्यथा मैं नहीं कह सकता कि उस समय एक भद्र महिला के प्रति मुझे अपने अधिकार की मर्यादा का ज्ञान क्यों काफी नहीं रहा। मैं कह बैठा, ''आप अगर चाहें तो रायसाहब से मिलना बन्द कर सकती हैं।''

उन्होंने हँसकर कहा, ''अगर मैं चाहूँ ?''

इस प्रश्नवाचक उत्तर पर मुझे जाने क्या सूझा कि मैंने पूछा, ''अच्छा डॉक्टर भार्गव कौन हैं ?''

उनका चेहरा जाने कैसा हो आया। बोलीं, ''डॉक्टर भार्गव! भार्गव कौन ?''

मैंने कहा, ''आप कह सकती हैं कि आप उन्हें नहीं जानतीं ?''

ठोड़ी को हाथ में लेकर वह कुछ सोचती रह गयीं। जैसे कुछ भूल रही हों। बोलीं, ''डॉक्टर भार्गव, भार्गव कौन ? हाँ, सो ?''

मैंने निर्दयतापूर्वक कहा कि आप ही सोचकर देखिए।

थोड़ी देर बाद एकाएक जैसे उन्हें कुछ सुधि हुई। बोलीं, ''भार्गव आपने कहा ? कहीं भटनागर तो नहीं ?''

अनायास मैं कह उठा, ''हाँ-हाँ, भटनागर।''

और मैं अपने में ही बहुत लज्जित और संकुचित हो आया।

मेरी इस भूल और झेंप पर वह बहुत ही हँसीं।

मैं एकदम हतप्रभ हो गया।

तब वह मानो दयापूर्वक बोलीं, ''आपकी तरफ ही तो उनका घर है। आप नहीं जानते ? और कौन हैं वह, एक डॉक्टर हैं।''

कहकर मेरी झेंप पर वह फिर हँसने लगीं। बोलीं, ''क्या आप सब कुछ जानना चाहते हैं ? एक स्त्री का सब कुछ जानना चाहते हैं ? लेकिन सब तो ईश्वर ही जानता है।''

उनकी इस उक्ति पर तो माने मेरा खात्मा ही था, लेकिन देखता क्या हूँ कि ईश्वर शब्द निकलते-निकलते उनके चेहरे की हँसी गायब हो गयी है और वहाँ एक त्रास लिख आया है। उस वचन में मेरे लिए व्यंग्य नहीं था, व्यथा ही थी। उस चेहरे को

देखकर उस समय मैं अपने को अपराधी अनुभव करने लगा। मेरे मन में इस रमणी के प्रति जो कदाचित एक असम्मान का भाव उठा था, वह मुझे अपना ही अपमान मालूम होने लगा।

बोलीं, ''एक दिन मैं आप से खुद ही कहना चाहती थी, लेकिन आपको पूछने की जरूरत होगी, ऐसा ख्याल न था।''

मैंने कहा, ''वह सब जाने दीजिए। मुझे उस पर खेद है। हमारा समाज संशयशील है। मेरे संस्कार में भी वह दोष रह सकता है। कृपा कर मेरी बातों को मन में न लीजिएगा।''

उन्होंने हँसकर कहा, ''आप मुझसे डरिए नहीं, और मुझे निर्दोष भी न मानिएगा। स्त्री निर्दोष हो सकती है। पहला दोष तो यही है कि वह स्त्री है।''

मैंने उस प्रसंग को टालना चाहा। मुझे वह भारी हो रहा था। कहा कि यह आप क्या कहती हैं, छोड़िए भी।

बोलीं, ''लेकिन दोषों से छुटकारा भी तो है। मैं जानती हूँ कि मैं अधिक साल नहीं जीऊँगी। ऐसा जीना कठिन है और व्यर्थ है।''

मैं उन्हें रोक न सका। वह कहती रहीं, ''देखिए न, कितना बोझ है, कितना बोझ? सिर का बोझ सँभल भी जाए, पर मन का यह बोझ कब तक सहा जा सकता है? और मैं किसी से उस मन को खोल नहीं सकती। परदेश है, यहाँ अपना है? और अपने देश में भी तो अब मैं बिरानी हूँ। अँग्रेजी पढ़ी हूँ, विलायत गयी हूँ। यहाँ की नहीं, वहाँ की नहीं। इससे अपना बोझ बाँट भी तो नहीं सकती। समझती हूँ कि बाँटने से चित्त हल्का हो जाता होगा, पर और भी तो अपने को लेकर व्यस्त हैं। सबको सँभालने को अपनापन है। मुझे दुःख तो है कि मैं अपने डॉक्टर से भी तो कुछ नहीं कह सकती।''

कहते-कहते वह एकाएक रुक गयीं। जैसे अनकहनी कहने के किनारे आ लगी हों। अनन्तर एक भारी साँस खींचकर बोलीं, ''सब भाग्य है और क्या?''

सन्ध्या बीत चली थी। बिजली का प्रकाश स्पष्ट उन पर पड़ रहा था। कहकर वह चुप हो गयी थीं। मुझे कुछ सूझ न रहा था। ऊपर पंखा चल रहा था। उसकी धीमी-धीमी आवाज आती थी।

आखिर उस शान्ति के असमंजस को भंग करते हुए मैंने कहा, ''आप अपने भाग्य से नाराज नहीं हो सकतीं। जाने कितने हैं, जो आपके भाग्य पर ईर्ष्या न करते होंगे।''

बोलीं, ''यही तो, यही तो। और मैं भाग्य से नाराज नहीं हूँ। अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनानेवाली क्या मैं ही नहीं हूँ! मैं तो अपने से ही नाराज हूँ। सोचती हूँ कि मैंने अपना यह क्या कर डाला।''

कहकर वह ऐसे देखने लगीं, जैसे कही न देख रहीं हों। उन आँखों में जैसे दृष्टि न हो। दृष्टि की ओर से आँखों को यों अनदिखनी बनाकर क्या वह अदृष्ट को देखना चाहती थीं!

मैंने उस समय अवश भाव से कहा, ''क्यों-क्यों, क्या बात है?''

हठात सँभलती हुई वह बोलीं, ''कुछ नहीं, कुछ नहीं।''

मैंने कहना चाहा कि 'डॉक्टर साहब...' पर मैं बात पूरी नहीं कर सका।

उन्होंने अतिव्यस्त भाव से घड़ी की ओर देखकर कहा, ''ओह, आठ हो गया! मैं भूली। मुझे एक जगह जाना है। अच्छा तो आप— ।'' कहती हुई वह उठ खड़ी हुईं और वहाँ से चल दीं। मैं भी खड़ा हो गया।

बाहर ही द्वार पर डॉक्टर आते हुए दीख गये। उन्होंने पत्नी से कहा, ''मुझे देर हो गयी, तुम तैयार हो न?''

जैसे झुँझलाहट के साथ पत्नी ने कहा, ''कब से तो तैयार हूँ, लेकिन अब नहीं जाऊँगी, जाने का यह वक्त है!''

पति ने कहा, ''सो देर ऐसी कुछ नहीं हुई, चलो-चलो।''

फिर मुझे देखकर बोले, ''ओः, आप! आइए, बैठिए।''

मैंने कहा, ''नमस्कार। पर मैं देर से यहीं हूँ।''

इस पर कुछ निरर्थक भाव से बोले, ''जी हाँ, बैठिए।''

पत्नी बोलीं, ''यह काफी देर से तो यहीं बैठे हैं। और हमको भी जाना है। अच्छा, वकील साहब, आप जाइए।''

डॉक्टर ने कहा, ''अच्छा-अच्छा,'' और शेकहैण्ड के साथ मुझे विदा किया। कल्याणी ने भी हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

5

कुछ दिन बाद उधर से जाना हुआ, तो दवाखाने में डॉक्टर मिले। पूछने पर उन्होंने बताया, ''पत्नी अपने देश गयी हैं। हाँ, कराची। कोई दो सप्ताह लौटने में लगेंगे।''

मैंने डॉक्टर से कुछ देर इधर-उधर की बातचीत की। कुशल-क्षेम पूछा, मालूम हुआ कि सब आनन्द है। ''व्यवसाय?'' ''जी हाँ, सब आपकी कृपा है। सब ठीक है।'' उन्होंने हमारे परिवार का संवाद पूछा और सब कुशलता जानकर प्रसन्नता प्रकट की।

लेकिन मेरा मन लौटकर कुछ अनुभव नहीं कर रहा था जैसे डॉक्टर अनमने हों

और मैं उन्हें रुच न रहा होऊँ। जैसे कुछ उन्हें रुच न रहा हो। उनसे मिलने पर मैं यह भी न जान सका कि उनके आश्वासन के लिए मैं किस काम आ सकता हूँ। अपने और उनके बीच इस बार मैंने कुछ व्यवधान महसूस किया जो मुझे प्रीतिकर न हुआ। लेकिन मुझे कुछ सूझा नहीं कि क्या हो सकता है और मुझे क्या करना चाहिए।

खैर, इसके कोई चारेक रोज बाद श्रीधर खबर लेकर आये कि श्रीमती असरानी एक कोठरी के अन्दर बन्द पड़ी हैं। उन्हें खूब मारा गया है और दो रोज से कुछ खाया-पीया भी नहीं है।

मैं श्रीधर को जानता हूँ। मैंने कहा, ''श्रीधर क्या फिजूल बकते हो! वह तो कराची थीं। कब लौटीं?''

श्रीधर ने कहा, ''कराची! कराची क्या होती है?''

मैंने कहा, ''तुम्हें नहीं मालूम? वह कराची गयी हुई थीं न?''

श्रीधर बोले, ''खूब! अजी वह शहर से कहीं बाहर नहीं गयीं। कई रोज से गायब जरूर रहीं, लेकिन रहीं यहीं कहीं। मिलीं, तो पति ने उनकी खबर ली। कह तो रहा हूँ कि वह अब कोठरी में मुँदी पड़ी हैं और दो रोज से खाना तक नहीं खाया है।''

मैंने कहा, ''हिश, कहते क्या हो? अभी चौथे दिन की बात है, खुद डॉक्टर ने बताया कि देश गयी हैं, आने में दो हफ्ते लगेंगे।''

श्रीधर हँसने लगे।

मैंने व्यग्र होकर पूछा, ''तो क्या तुम्हारी बात सच है? ठीक बोलो जी।''

श्रीधर ने कहा, ''सच नहीं, तो क्या मैं झूठ भी कहता हूँ?''

इस पर मैं इरादे के साथ उनके दवाखाने गया। वहाँ पहले की भाँति डॉक्टर असरानी अकेले बैठे थे। मुझे देखकर कहने लगे, ''आइए, आइए।''

मैंने कहा, ''कहिए, अभी डॉक्टर साहिबा देश से नहीं लौटीं न?''

बोले, ''हाँ, अभी नहीं, पर पत्र आया है और अब जल्दी आएँगी।''

मैंने कहा, ''सब कुशल-मंगल तो है?''

बोले, ''जी हाँ, सब कृपा है। पत्र से मालूम होता है कि वह वहीं प्रसन्न हैं। समुन्दरी हवा उन्हें खूब माफक आयी है।''

मुझे यह सब सुनकर बहुत बुरा मालूम हो रहा था, लेकिन मैं पति-पत्नी के बीच होता भी कौन था! इसलिए मैं साधारण ऊपरी बातचीत करके लौट आया।

अगले दिन एक स्थानीय सार्वजनिक नेता मेरे पास आये। कहने लगे आपको डॉक्टर और मिसेज असरानी को समझाना चाहिए, क्योंकि आपका उनसे परिचय है।

मैंने कहा, ''मैं कुछ नहीं समझा। बात क्या है?''

सुनकर उन्हें अचरज हुआ। पूछने लगे, ''आपको नहीं मालूम?''

मैंने कहा, ''आप बताइए।''

बोले, ''मुझे घर में पत्नी से मालूम हुआ कि मिसेज असरानी को उनके पति

ने बुरी तरह मारा है और बन्द कर दिया है। मैं अभी डॉक्टर असरानी से मिलकर आ रहा हूँ। उनको इस घटना पर बहुत रंज है। वह पत्नी से हर तरह क्षमा माँगने को तैयार हैं, लेकिन मिसेज असरानी जिद नहीं छोड़ती हैं और खाना नहीं खाती हैं। आप दोनों को समझा-बुझा दीजिए न।''

मैंने पूछा, ''वह कहती क्या हैं?''

बोले, ''मेरी पत्नी मिसेज असरानी से मिली थीं। और यहाँ की प्रमुख महिलाएँ उनसे मिली हैं। डॉक्टर असरानी की ज्यादती साबित है। मैंने अपनी पत्नी की मार्फत कहलाया था कि मिसेज असरानी किसी बात की चिन्ता न करें। अगर वह चाहें, तो उनके लिए एक अलग डिस्पेंसरी हम खुलवा सकते हैं। पति के हाथों वह क्रूरता क्यों सहती हैं? अपना ही एक चैरिटी हॉस्पिटल है। महिलाओं का एक डेप्युटेशन भी मैंने भिजवाया था। उन सबने भी समझाया था कि यह स्त्री की इज्जत का प्रश्न है, उनका अकेले का ही सवाल यह नहीं है। घर-घर ऐसी बातें हो रही हैं। इसका इलाज है कि पत्नी अपनी प्रतिष्ठा हाथ में ले। पति के आश्रय की मुहताज वह क्यों रहे? उन महिलाओं ने मिसेज असरानी से बहुत कहा-सुना कि तुम तो सब तरह योग्य हो, तब पति की धौंस क्यों सहती हो? उठो, चाहो तो अलग होकर खुदमुख्तारी के साथ अपनी डॉक्टरी चलाओ। हमारी समिति दवाखाने की व्यवस्था कर सकती है। पत्नी पति की कोई सम्पत्ति नहीं है। इस तरह सभी ने उन्हें बहुत समझाया, लेकिन उन्होंने किसी की नहीं सुनी। कहा गया कि ऊपर ईश्वर है, धरती पर सरकार का कानून है। इनमें कोई अत्याचार का समर्थन नहीं करता। कानून का पूरा सहारा तुम्हें हो सकता है और उसकी मदद से तुम पति को सबक सिखा सकती हो। लेकिन यह सब मिसेज असरानी के समझ में नहीं आया। जाने वह कैसी विलायत गयी हैं और कैसी लिखी-पढ़ी हैं! न वह पति से अलग होने को तैयार हुईं, न कुछ उनके खिलाफ कानून की मदद लेने की उन्हें हिम्मत हुई? समाज में ऐसे अनीति फैलती है। अब भी जाने क्या-क्या नहीं कहा जा रहा है। हम मिसेज असरानी को समझदार समझते थे, लेकिन—।''

मैंने पूछा, ''आप चाहते क्या हैं?''

बोले, ''उनकी पति से नहीं बनती है, यह प्रमाणित है। सुना है, पहले भी मार-पीट होती रही है। ऐसी हालत में वह जरूर अदालत जा सकती हैं। तिस पर वह तो काबिल डॉक्टर हैं।''

मैंने पूछा, ''एकदम। वह इस बात को नहीं मानतीं? या कुछ—।''

बोले, ''क्या कहा जाए? मेरी पत्नी और डेप्युटेशन की स्त्रियों ने हर पहलू से समझाया। कहा कि स्त्री की भी इज्जत है, और एक की इज्जत का अब सवाल भी नहीं रहा है। अब तो स्त्री जाति के मान का प्रश्न है, लेकिन मिसेज असरानी ने कुछ जवाब नहीं दिया। सभा की महिलाओं ने बताया कि तुम्हें कुछ नहीं करना होगा, सब बन्दोबस्त हम कर देगीं। फिर देखें पति किस तरह चूँ भी करते हैं। पर उस समय भी

उनकी देह पर अगर्चे जगह-जगह गहरी चोट के निशान थे और रह-रहकर वह कराहती थीं, पर पति के प्रतिरोध में उठने की हिम्मत नहीं होती थी। कैसे गहरे संस्कार, जड़ता हमारी स्त्रियों में हो गये हैं और कितनी कायर वे हो गयी हैं कि...कारण है वही इकानॉमिक डिपेण्डेण्स, और क्या? आप समझते हैं कि उनकी साहसहीनता में पति के अवलम्ब की आदत और उसका आतंक ही कारण नहीं है?''

मैंने कहा, ''भगवान जाने।''

बोले, ''शि:! ये जड़ता के संस्कार!...'' (इत्यादि)

अन्त में कहा, ''आप दोनों से जाकर मिलिएगा तो! और पत्नी को समझाइएगा कि जो चाहें करें, बिना खाये जान क्यों खोती हैं?''

मैंने तब पूछा, ''यह तो हुआ, लेकिन पूरी बात क्या है?'' बताया गया कि कुछ रोज पहले पति ने हाथ पकड़कर उन्हें घर से बाहर का रास्ता दिखा दिया था। कहा था निकल जाओ, और अब शक्ल दिखाने की जरूरत नहीं है। उसके बाद नहीं मालूम कि वह पाँच-सात रोज कहाँ, कैसे रहीं। इस बारे में तरह-तरह की बातें हैं। कोई कहता है कि अपने एक नौकर के यहाँ रहीं, और कोई कुछ और कहता है। उसके बाद पता चलने पर पति उन्हें अनुनय-आग्रह के साथ घर ले आये।

मैंने कहा, ''अनुनय के साथ अगर पत्नी को लाया गया है तो फिर इस काण्ड की क्या आवश्यकता थी?''

वह बोले, ''पति के लिए ऐसा अस्वाभाविक नहीं है, यह तो आप मानेंगे ही।''

मैंने कहा, ''पत्नी के विषय में समाज के सामने अपने पतित्व की गुरुता और उत्तरदायिता प्रमाणित करना जरूरी जान पड़ता हो, तो ताड़ना भी चाहे वह अमानुषिक हो, जरूरी हो जाती है। है न?''

उन (पण्डितजी) ने कहा, ''मैं स्त्री स्वातन्त्र्य का हिमायती हूँ। लेकिन इसके अर्थ कुछ-के-कुछ ना समझ लिए जाएँ। पुरुष स्त्री के पक्ष में कापुरुष नहीं हो सकता। स्त्री को राह पर रखने के काम से पुरुष कैसे बच सकता है? पौरुष का अर्थ निरी शान्ति नहीं है।''

पर वह जो हो, मैंने विश्वास दिलाया कि मैं असरानी दम्पती से मिलूँगा, क्योंकि वैमनस्य शुभ नहीं है।

6

मैं उधर गया तो यथापूर्व डॉक्टर असरानी अपने दवाखाने में मिले। उन्होंने मेरा अभिवादन किया। कहा, ''आइए।'' अनन्तर सूचना दी कि इस बारे में जो कराची से

पत्र आया है, उसमें आपको याद किया है और नमस्कार लिखा है।

मैंने कहा, ''मुझे माफ कीजिएगा, लेकिन मालूम हुआ है वह कराची नहीं हैं, यहीं है।''

बोले, ''क्या-आ? नहीं, कौन कहता है? मैं क्या—देखिए, मैं खत दिखाता हूँ।''

मैंने कहा, ''यह सब कष्ट न कीजिए। यह बतलाइए कि क्या खाना उन्होंने अब तक नहीं खाया और अब भी हठ पर अड़ी हैं?''

डॉक्टर इस पर प्रकट में ही सकपका गये और तुरन्त कुछ कह न सके।

मैंने पूछा, ''क्या मैं उनसे मिल सकता हूँ?''

डॉक्टर ने शीघ्रता से आश्वासन दिया, ''वह अब बिलकुल ठीक हैं। कोई बात नहीं है। उन्हें बुखार आ गया था। इस समय उन्हें कष्ट न देना ही ठीक होगा। तो भी, मैं देखकर आऊँ।''

कहकर वह तभी मेरे सामने से चले गये। थोड़ी देर बाद आकर बोले, ''वह सो रही हैं।''

मैंने कहा, ''खैर, ना भी सो रही हों तो कोई बुराई नहीं, लेकिन डॉक्टर ऐसा चाहिए नहीं।''

उत्तर में डॉक्टर ने क्या, कुछ कहा, उन सब पर मैंने ध्यान नहीं दिया। वह क्षमा माँगने लगे। कहने लगे कि चलिए ऊपर चलिए, मैं उन्हें जगा देता हूँ। लेकिन फिर मैंने न जाना ही उचित समझा और लौट आया। मैंने अनुभव किया कि अपनी लज्जा दूसरों पर प्रकट करना सरल काम नहीं है और डॉक्टर की जगह होकर दूसरा भी कदाचित वैसा ही व्यवहार करता। इस प्रकार सोचकर डॉक्टर के प्रति अपने मन की कठोरता को मैंने दबाया।

इस बात को कुछ दिन बीत गये और कल्याणी फिर अपनी जगह दिखाई देने लगीं। लेकिन इस बार दवाखाने में कुछ परिवर्तन भी देखने में आया। दो कम्पाउण्डर बदले, एक नर्स भी बदली गयी, और डॉक्टर साहिबा अब बाहर की तरफ बैठने लगी हैं जहाँ डॉ. असरानी बैठा करते थे।

इसके अतिरिक्त सुनने में आया कि डॉक्टर असरानी किसी बड़े व्यवसाय के लिए दूर जाना चाह रहे हैं। सुनकर मैं नहीं समझ सका कि क्या समझूँ।

इसी काल की बात है कि एक दिन तीसरे पहर के समय कल्याणी असरानी हमारे यहाँ दिखाई दीं। देखकर मैं सम्भ्रम में रह गया। कपड़े ऐसे कि बहुत सादे। मुझे मालूम न था कि पहनावे से आदमी इतना बदल सकता है। दवाखाने में एकदम आधुनिक सज्जा में ही मैंने उन्हें देखा था। मैं उन्हें उसी बाने में पहचानने का आदी था। सो इस नयी चाल-ढाल पर मैं कुछ हिचक आया।

पर उन्होंने मेरा ध्यान उधर रहने ही नहीं दिया। आकर जाने कैसे खुले भाव

से उन्होंने कहा, ''अब से इतवार को छुट्टी मनाना तय कर लिया है। सो आज इतवार है और मेरी छुट्टी है।''

मैंने कहा, ''बड़ी खुशी की बात है।''

हँसकर बोलीं, ''डॉक्टर भी साथ आते थे। पर मैंने कहा, अकेली ही जाऊँगी। वह (पत्नी) भीतर हैं न?''

मैंने कहा, ''हाँ, बुलाऊँ?''

''नहीं, बुलाइए नहीं। मैं अन्दर नहीं जा सकती? शायद हम लोग ईसाई बराबर हैं।''

मैंने कहा कि हम लोग सनातन मर्यादा की कैसी शोभा हैं, आप देख ही लीजिएगा। कहकर मैंने भीतर आवाज दी, ''अजी, सुनना!''

पत्नी बाहर आने पर, पहले तो उन्हें इस साज में देखकर ठिठक-सी रहीं, फिर खुश हुईं।

कल्याणी ने उनसे कहा कि मैं यहाँ आज डॉक्टर नहीं हूँ, यह बताये देती हूँ। (पत्नी का इलाज अधिकतर वे ही करती थीं) लेकिन डॉक्टर नहीं हूँ, तो क्या यहीं खड़ी रहूँगी? अन्दर आज मुझे नहीं ले चलेंगी?

पत्नी ने कहा, ''अब आप डॉक्टर नहीं हैं तो मेरे लिए तो रहा-सहा डर भी जाता रहा। आइये, चलिए न!''

''सुनिए, पहले मेरा मतलब सुन लीजिए। मैं हिन्दू हूँ। मुझे आप क्रिस्तान तो नहीं मानती हैं?''

उनकी बाज़ी पर पत्नी का सम्भ्रम सब दूर हो गया। हाथ पकड़कर बोलीं, ''छोड़िए भी, अन्दर चलिए।''

''चलूँ तो, लेकिन पहले यह बताइए कि आपके यहाँ खाना कब बनता है। असल में मुझे कुछ आता नहीं है। खाना तक बनाना नहीं आता है। अपने घर कुछ मैं सीख नहीं सकी। बेअरा हमें मेम साहब मानता है। मेम लोग भला खाने में हाथ लगा सकती हैं?''

कहकर वह हँसने लगीं। इस समय वह खूब खुली और उल्लसित दिखाई देती थीं। उन्होंने पत्नी से पूछा, ''बच्चे कहाँ हैं?''

''मुन्नी है, बाहर कहीं खेल रही होगी।''

''बाहर क्यों खेल रही होगी? उसे बुलवाइए। बालक बिना घर कैसा?''

खैर, उस रोज रात होने तक वह घर ही रहीं। साग-भाजी हाथ से बनायी और आसन पर बैठकर रोटी खायी। शरीर कुछ उनका सूक्ष्म न था, तो भी बच्चों के साथ तरह-तरह के खेल खेले। कई पड़ोस के बालक भी खिंच आये थे। वापस जाने लगीं,

तो बोलीं, ''हर इतवार मैं छुट्टी रखना चाहती हूँ। क्या आगे भी आपके यहाँ आ सकती हूँ?''

मैंने कहा, ''यह सवाल करने लायक अब आप नहीं रही हैं।''

हँसकर बोलीं, ''हाँ, मैं किसी लायक नहीं हूँ।''

मैंने कहा, ''गनीमत है कि आप यहाँ से जाने लायक हैं।''

वह बहुत हँस आयीं । बोलीं, ''यही बात है। मैं हर घर से निकलने लायक अवश्य हूँ।''

मैंने कहा, ''मैं अपनी जुबान बन्द रखना चाहता हूँ। नहीं तो यह घर आप ही का घर है।''

कहने लगीं, ''मैं तो अपने यहाँ किसी को निमन्त्रण दे नहीं सकती। लेकिन कल आप आएँगे। इनको भी साथ लाइएगा। कल मेरा जन्म दिन है। बहन जी, कल जरूर आइए।''

वचन के अनुसार अगले दिन हम गये। उस समय उन्होंने सफेद खद्दर के कपड़े पहने थे और अभ्यागतों की सेवा में लगी हुई थीं। काफी लोग निमन्त्रित थे। बन्दोबस्त पश्चिमी ढंग का था। डॉक्टर असरानी व्यवस्था के कामों में व्यस्त थे। उनके दवाखाने के खुलने का भी वर्ष-दिन आज ही था। निमन्त्रण उसी के उपलक्ष में था। इस बार आज के दिन एक अतिरिक्त आरोग्य-भवन भी खोला जाने वाला था। उसमें फीस नहीं ली जाएगी और दवा भी मुफ्त दी जाएगी। आरम्भ में दस बेड की व्यवस्था थी। उद्घाटन के अनन्तर इस विषय में मिसेज असरानी ने सब उपस्थितों की अभ्यर्थना के साथ क्षमा प्रार्थनापूर्वक अँग्रेजी में कहा कि उनका विचार अब अपना अधिकांश समय इस निःशुल्क आरोग्य-सदन को देने का है। इस दवाखाने को अब वह कुल एक घण्टा दिया करेंगी, क्योंकि जिनके पास इलाज के लिए पैसा है, उनका सवाल नहीं है। पैसा जिनके पास नहीं है, सवाल उन्हीं का है। मेरे देखने में आया है, पैसे वालों में बहुतों का रोग ही पैसा है। बड़ी फीस के एवज में ही उन्हें आराम पहुँचाया जा सकता है। पैसा उनका अधिक खर्च हो, इसी में उन्हें इलाज की कीमत मालूम होती है। इस तरह के पैसे के रोगियों की सेवा से एकदम हाथ खींच लेने का मेरा साहस नहीं है। पैसा कम प्रलोभन नहीं है। (तालियाँ) आप लोग जानते हैं, बिना पैसे के हम सभ्यतापूर्वक उठ-बैठ भी नहीं सकते। (तालियाँ) इसलिए एक घण्टे के लिए इस जगह फीस वाले रोगियों के लिए भी मैं अवश्य सुलभ रहूँगी। सुलभ का मतलब आप जानते ही हैं, दुर्लभ। (तालियाँ) अधिक सुलभ पैसे के विरुद्ध है। (तालियाँ) पर इस आमदनी का सब रुपया इस आरोग्य-भवन के काम आएगा... ।

भवन का ट्रस्ट किया गया और मुझे बड़ा अचरज हुआ कि मेरा नाम भी ट्रस्टियों में है।

खैर, धीरे-धीरे सभी अभ्यागत चले गये। मैं भी अब चलूँ, लेकिन पत्नी को भीतर से छुट्टी नहीं मिल रही थी। मैंने डॉक्टर असरानी से कहा कि इस विषय में मेरी सहायता करें, उन्हें भेज दें, अब चलना चाहिए।

डॉक्टर गये, तो खुद खो रहे। काफी देर हो गयी। तब मैं हिम्मत बाँधकर स्वयं अन्दर गया। राह में देखता हूँ—डॉक्टर मुँह नीचा किये हुए कुछ बेखबर आ रहे हैं। मैंने उन्हें टोककर कहा, ''डॉक्टर साहब, कहिए?''

''वह आ रही हैं,'' अन्यनमस्क भाव से यह कहकर वह आगे बढ़ गये।

तभी कल्याणी आती हुई मिलीं। मैंने कहा, ''शायद उन्हें अपनी ओर से अभी छुट्टी नहीं मिली है। मेहरबानी कीजिए।''

वे प्रसन्नभाव से बोलीं, ''वह कहीं खो नहीं गयी हैं, बेताब न हूजिए। मैं भी चल रही हूँ।''

मैंने कहा, ''आप क्यों! हम चले जाएँगे।''

बोलीं, ''मैंने कह तो दिया कि साथ चल रही हूँ।''

मेरे इनकार करने पर भी खुद ड्राइव करती हुई वह अपनी गाड़ी में हमें घर ले आयीं। मैंने रास्ते में कहा, ''ट्रस्ट की चर्चा आपने मुझसे नहीं की?''

बोलीं, ''क्या इतना भी आपका विश्वास मैं नहीं कर सकती थी?''

घर आकर देखता हूँ कि वह आराम से बैठ गयी हैं और इधर-उधर की बात करने लगी हैं। कुछ देर में उन्होंने पूछा, ''क्या आप बाजार का भी कुछ हाल-चाल रखते हैं?''

मैंने पूछा, ''आपका मतलब क्या है?''

''सुनती हूँ कि एक चर्चा हर किसी की जुबान पर है। आपने कुछ नहीं सुना?''

मैंने कहा, ''क्या? मुझे क्या कुछ सुन लेना चाहिए था?''

उन्होंने हँसकर कहा, ''वह जरूरी खबर है और सुनने लायक है। वह यह है कि हर कोई जानता है कि मैं पाँच रोज पर-पुरुष के साथ रहकर आयी हूँ। आप इतना तक नहीं जानते? लोग तो इससे भी आगे बहुत कुछ जानते हैं।''

मुझे विस्मय का मौका कहाँ था! मैंने हठात बात टालने को हँसकर कहा, ''मुझे तो बतलाया गया था कि आप देश गयी हैं।''

सुनकर वह और भी हँस पड़ीं। फिर कहने लगीं, ''क्या आपको अब जिज्ञासा नहीं होती है कि डॉक्टर साहब मुझे घर में क्यों रखे हुए हैं?''

मैंने कहा, ''यह आप कह क्या रही हैं?''

''असल में वह मुझे बहुत—वह बहुत उदार हैं।''

मैंने कहा, ''मैंने सुना है।''

बोलीं, ''अच्छा आप भी आखिर सुन सकते हैं! मेरे बारे में जो भी खोटा सुना

है, सब सही है। मैं निष्पाप नहीं हूँ।''

''सुना है, आपको मारा-पीटा भी गया!''

सुनकर उनका चेहरा पीला और फक् हो आया। घबराकर उन्होंने कहा, ''यह आपसे किसने कहा?''

मैंने पूछा, ''क्यों, यह झूठ है?''

''डॉक्टर ने कहा?''

मैंने कहा, ''नहीं तो।''

तो फिर किसने कहा, ''हाँ, वह झूठ है नहीं, वह कुछ नहीं। मैं उसको सही नहीं कह सकती, तो वह गलत नहीं तो क्या है? और अगर मेरी गलती पर उन्होंने कुछ कह-सुन लिया हो, तो क्या यह याद रखने की बात है? आप क्यों यह नहीं सोचते कि मैं एक पराये घर में इतने दिन रही! और कोई होता, तो स्त्री को जीता भी छोड़ता? उन्होंने बस थोड़ा कह-सुनकर जाने दिया। आप उस बात को मन में से निकाल दीजिए। मैं कहती हूँ, जो भी हो, पति मुझे बहुत चाहते हैं।''

मैंने कहा, ''अच्छा जाने दीजिए उस बात को।''

बोलीं, ''नहीं, सबूत देती हूँ।''

मैंने कहा, ''जाने भी दीजिए।''

बोलीं, ''सुनिए तो। सुनने लायक है। ऐसी कथा आपने सुनी न होगी।''

इतना कहकर वह आगे बिना कहे हँसने लगीं। इतना हँसीं, इतना हँसीं कि...।

मैंने कहा, ''बात क्या है?''

हँसते हुए बोलीं, ''पूरी कहानी फिर के लिए छोड़नी होगी, लेकिन मैं निकली उस शाम को, मालूम है डॉक्टर साहब ने क्या किया?''

मैंने कहा, ''क्या किया?''

उत्तर में बोलना चाहती थीं कि फिर हँसी आ जाती थी। आखिर ज्यों-त्यों कृत्रिम गम्भीरता से बोलीं, ''डॉक्टर मेरे बिना बहुत उद्विग्न हो गये, बहुत व्यग्र, बहुत परेशान। उन्हें शायद पछतावा हुआ। उसी सोच में सीधे वह कहाँ पहुँचे, बताऊँ? पहुँचे डॉक्टर भटनागर के मकान की देहली पर। दो और आदमियों को साथ लेते गये। सोचा होगा कि जाने क्या मौका बने। अन्दर जाकर नीचे चौक में से ही खड़े-खड़े जोर से ऊपर की ओर पुकारकर कहा, ''डॉ. भटनागर हैं?'' उस आवाज पर ऊपर बाल-बच्चे और घर की स्त्रियाँ और शायद पास-पड़ोसिनें आकर कुतूहल से झाँकने लगी होंगी। बार-बार डपट के पूछा, ''डॉक्टर भटनागर कहाँ हैं!'' वह घर पर नहीं थे, पर कहीं पास ही थे। नौकर भागा-भागा उन्हें बुलाकर लाया। हमारे डॉक्टर ने आते ही जोर से उनके मुँह पर कहा, ''मेरी स्त्री को तुम उड़ाकर ले आये हो। लाओ निकाल कर दो।''

यहाँ फिर यह बेतहाशा हँस उठीं। हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ गये। बोलीं, ''मैं सच कहती हूँ आप से। उन्होंने कहा, 'मेरी बीवी को तुम उड़ा लाये हो। बताओ कहाँ है?' इतना कहकर भटनागर को उन्होंने दोनों हाथों से पकड़ लिया। भटनागर बेचारे बड़े चक्कर में पड़े। वह खुद पूछने लगे कि क्या मैं खो गयी हूँ? क्या बात है, कहाँ गयी हूँ। हमारे डॉक्टर ने उस पर और भी जोर-शोर से कहा, मैं सब चालाकी समझता हूँ। अभी घर की तलाशी लूँगा। भटनागर बेचारे बाल-बच्चेदार आदमी। अजीब मुसीबत उन्हें मालूम हुई होगी। सोचा होगा कि बखेड़ा कौन बढ़ाए। सो उन्होंने अधिकार से और अभिमान से काम नहीं लिया। नहीं तो कह सकते थे कि आप दीवाने तो नहीं हो गये हैं? लेकिन भटनागर साधारण भाव से हमारे डॉक्टर को ऊपर ले गये। उनके दोनों साथी भी साथ-साथ गये। (अकेले जाने को डॉक्टर राजी न थे!) समूचा घर देखा। एक-एक कमरा देखा और ट्रंक देखे और बक्स देखे और बँधे बिस्तर खुलवाये...आप कहेंगे कि मैं इतनी सूक्ष्म तो नहीं हूँ। यह तो ठीक है, लेकिन क्या जाने कि जादू से हो गयी हूँ।''

कहकर वह फिर खिलखिलाकर हँसने लगीं। पर वह हँसी मुझे हास्यजनक किसी तरह नहीं हो सकी। मेरे मन में उससे व्यथा ही पैदा हुई। जैसे उसके भीतर हँसी से दारुण कुछ और हो।

बोलीं, ''आप यह पूछते हैं कि बात क्या थी? बात यह थी कि मेरी पिछली बीमारी में डॉक्टर भटनागर मुझे दो-चार बार देखने आये थे। एक रोज डॉक्टर ने बात-बात में कहा कि भटनागर अच्छा आदमी नहीं है। मैंने कहा, 'मुझे तो अच्छे मालूम होते हैं।' उन्होंने कहा, 'तुम स्त्री हो, कुछ समझती नहीं हो, बाहर की आँखों से देखती हो। पर मैं जानता हूँ कि वह अच्छा आदमी नहीं है।' स्त्री होने की बात मुझे लगी। मैंने कहा, 'मुझे तो वह अच्छे ही मालूम हुए।' उन्होंने पूछा—हाँ-आँ? मैंने उत्तर दिया, 'हाँ मैं बिना प्रमाण यों ही किसी को बुरा कैसे कह सकती हूँ और भटनागर जरूर मुझे अच्छे मालूम होते हैं।' बात बढ़ी और वह कहने लगे, 'समझकर जवाब दो।' बोले, 'वह तुम्हें अच्छे लगते हैं?' मैंने कहा, 'हाँ-हाँ, अच्छे लगते हैं।' तब तो वह पी गये, लेकिन उसी बात पर उनके मन में शायद गाँठ बैठ गयी। तभी तो भटनागर के साथ यह विडम्बना बीती। बिचारे कुटुम्ब-कबीले वाले इज्जतदार आदमी! मैं सोचती हूँ तो अब भी हँसी आती है।''

कहकर वह फिर हँसीं पर इस बार को वह हँसी स्पष्ट ही करुणा की याचना-सी करती हुई प्रकट हुई।

मैंने पूछा, ''फिर?''

उसी हँसी में वह बोलीं, ''फिर क्या? कुछ नहीं। मैं खो गयी थी, सो मिल गयी। और कहाँ रही सो? उँह, उस वृत्तान्त में जाने की कोई विशेष बात नहीं है। तो

इससे आप देख लीजिए कि डॉक्टर किस तरह मेरे बिना बेसुध हो सकते हैं। यह किसका लक्षण है, बताइए तो? क्या प्रेम का ही लक्षण नहीं है?''

मैंने बात बदलने को कहा, ''आपके ट्रस्ट में उनकी अनुमति तो होगी ही?''

वह इस प्रश्न पर सहसा रुककर फिर बोलीं, ''हाँ, अनुमति क्यों नहीं है?''

मैंने कहा, ''सुना है कि कहीं दूर जाने वाले हैं?''

बोलीं, ''हाँ, उनका मन छोटे काम से नहीं भरता है। वह कोई बड़ा काम उठाना चाहते हैं। जिसमें रुपया हो तो बहुत हो, यश हो तो बहुत हो। खतरा भी फिर चाहे बहुत ही हो। लेकिन मुझे आप यहाँ रोक लेंगे क्या, जाने नहीं देंगे? देखिए कितना वक्त हो गया है! अच्छा मैं चली।''

मैंने कहा, ''मेरी कामना है कि डॉक्टर की साहसिकता सुफल हो।'' चलते-चलते उन्होंने उत्तर दिया कि हाँ, वह साहसी हैं। नहीं तो मैं, क्या विवाह के योग्य थी?

यह वाक्य सुनकर मैं सन्न-सा रह गया, कुछ समझ नहीं सका। लेकिन कहकर वह तो फिर थोड़ी देर भी नहीं ठहरीं, चली गयी।

7

कुछ दिनों में डॉक्टर सचमुच वहाँ से चले गये। वह मन में कोई बड़ा मनसूबा बाँधकर दूर देश गये थे।

यह जानकर और इधर उनका समाचार भी न मिलने के कारण मैं उस ओर गया, तो कल्याणी मिलीं, मिलीं तो, पर जैसे मन उनका उतरा हो।

मैंने कहा, ''डॉक्टर साहब गये? क्या एक मुद्दत के लिए गये हैं?''

उन्होंने कहा, ''हाँ, देखिए कब लौटते हैं!''

मैंने कहा, ''मुझे माफ कीजिएगा। आपकी तबीयत तो ठीक है?''

बोलीं, ''ठीक है!''

मैंने अपनी ओर से समाधान के ढंग पर कहा, ''आप किसी तरह की चिन्ता न कीजिएगा।''

बोलीं, ''चिन्ता किस बात की करूँगी?''

मुझे उनकी बातों से आश्वासन नहीं मिल रहा था। मैंने कहा, ''मुझे आशा है कि डॉक्टर किसी अनबन के कारण नहीं गये हैं।''

बोलीं, ''मैं भी यही विश्वास करना चाहती हूँ।''

मैंने कहा, ''मैं समझा नहीं।''

बोलीं, ''मैं सब बताती हूँ। अच्छा हुआ, आप आ गये। सुनिए। न अब कुछ मेरा है, न उनका है। सब जगन्नाथ जी का है। जगन्नाथ जी के दरबार में अनबन क्या?''

मैंने कहा, ''मैं और भी कुछ नहीं समझा।''

हठात वह हँसीं। बोलीं, ''आप ईश्वर को नहीं मानते हैं न। इसी से सहज ही कोई बात आपकी समझ में नहीं आती है। मैं क्या करूँ।''

मैंने कहा, ''हो सकता है वह मेरे समझने योग्य न हो। जाने दीजिए।''

हँसकर बोलीं, ''बात बेशक यही है। आप नहीं समझेंगे। फिर भी जो आप पूछने लगते हैं और समझना चाहते हैं उसके लिए बल्कि मैं कृतज्ञ ही हूँ। असल में मैं खुद बताना चाहती हूँ। कुछ-की-कुछ समझे जाने में मुझे सुख नहीं है। वह भी जाने मुझे क्या समझते हैं, लेकिन खैर सुनिए।''

मैं चुपचाप सुनने लगा।

''विवाह से पहले मैं खुद थी। विवाह बिना मैं रह सकती थी। मेरा बोझ मुझसे उठ सकता था। फिर भी मैं अविवाहित नहीं रही, चाहे तो कह दीजिए नहीं रह सकती थी। क्योंकि वही होता है जो होने वाला होता है। पर मैं अकेली अपने को भारी नहीं थी। मेरी सब किताबें उसी काल में लिखी गयीं। खैर, विवाह हुआ। वह एक कहानी है। पर छोड़िए। विवाह से स्त्री पत्नी बनती है। पत्नी याने गृहिणी। पत्नी से पहले स्त्री कुछ नहीं होती, बस वह कन्या होती है। पर मैं कुछ थी, निरी कन्या न थी, डॉक्टर थी। अब सवाल है मेरी शादी और मेरी डॉक्टरी, मेरा पत्नीत्व और मेरा निजत्व, ये परस्पर कैसे निभें?''

कहकर उन्होंने मुझे ऐसे देखा जैसे मैं ही नहीं, जैसे मेरे अभाव में दीवार के सामने भी यह सवाल इसी प्रकार रखा जा सकता है।

वह बोलती रहीं, ''हाँ, सवाल यह है। अब अगर किसी को यह पसन्द है कि मैं उनकी गृहिणी की तरह रहूँ, तो मुझको भी वह नापसन्द नहीं है। तब गिरिस्ती सँभालना मेरा काम होगा। सेवा के अतिरिक्त और मेरा वास्ता नहीं, तब मुझे बाहरी काम या बात आदमी से सरोकार नहीं, यह ठीक है न!''

प्रश्न में उत्तर की अपेक्षा नहीं थी। सो वे आप ही कहती गयीं—''सब सोचकर यही मैंने तय किया। तय करके डॉक्टर साहब को कह दिया। उनका मुझ पर बहुत आभार है। कृपापूर्वक उन्होंने मुझे स्वीकार किया है। मैंने कहा, 'मैं आपके मन की गृह-लक्ष्मी बनकर स्वयं भी रहना चाहती हूँ। पर वह तभी रह सकती हूँ जब डॉक्टरनी न रहूँ। डॉक्टर होकर अन्तःपुर की शोभा मुझसे बहुत न बढ़ेगी। उस हालत में हर किसी के सामने मुँह-उघाड़े मिलना और बोलना होता है। यह आर्य नारी के

योग्य नहीं है, यह मैं नहीं कहती हूँ। बल्कि उस आर्य-परम्परा पर चलने की मैं अब इच्छा रखती हूँ'। स्वामी से यह स्पष्टता से कहकर मैं घर के अन्दर ही रहने लगी। चौके में जाने लगी और दवाखाने का ध्यान छोड़ दिया। पर मालूम हुआ कि इससे कुछ ही दिनों में काम बहुत गिर गया और आमदनी एकदम टूटने लगी। तब डॉक्टर साहब को चिन्ता हुई और उन्होंने मुझे समझाया। मैंने कहा, 'दोनों में से कोई एक मुझे चुनकर दे दो। पतिव्रत या डॉक्टरी। मैं पति में परायण हो जाऊँ, या डॉक्टरी की कमाई करके दूँ। दोनों साथ होना कठिन है। पैर दो नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी। और जो मेरे ही चुनने की बात हो, तो मैं कहूँगी, डॉक्टर मैं नहीं बनना चाहती। पर अगर तुमको डॉक्टरी की आमदनी भी चाहिए, उसके बिना अगर नहीं चलता हो, तो पतिव्रत की माँग उतनी कसी नहीं रखी जा सकेगी, थोड़ा उसे उदार करना होगा। लेकिन वह सब क्यों, मुझे डॉक्टरी नहीं करनी।''

कहते हुए थोड़ी हँस आयीं, लेकिन क्या अब भी उन्हें मेरा ध्यान था?

''इस तरह कोई हफ्ते भर मैं नीचे अपनी मेज पर नहीं गयी। डॉक्टर का मुँह इस बीच गिर आया। आय शून्य हो जाती थी। तब उन्होंने मेरी बहुत अनुनय की। मैंने कहा, 'अच्छी बात है, मैं डॉक्टरनी बनती हूँ, लेकिन तब समझ लीजिए कि मैं हर किसी से मिलूँगी। अच्छे से तो बुरे से तो। तब आप मुझ पर भरोसा न भी रखें तो भी मुझे रोका नहीं जा सकेगा। और तब वह दवाखाना मेरा होगा। हिसाब-किताब मेरे हाथों में रहेगा।' डॉक्टर इनमें राजी नहीं दीखे। तीन-चार दिन फिर ऐसे ही बीत गये। मैं इन दिनों दवाखाने नहीं गयी। वह बड़े चिन्तित दिखायी देने लगे। आखिर उन्होंने मुझसे हर प्रकार क्षमा माँगी और जैसे बने प्रेक्टिस करने पर राजी होने को कहा! मैंने हँसकर कहा, 'पैसा मेरे हाथ में रहे, इसमें तुम्हें डर लगता है। मैं खुद तुम्हारे हाथ में हूँ, तब भी डर लगता है। अच्छा चलो, मैं पैसा नहीं लेती, लेकिन तब वह तुम्हारा नहीं होगा। वह जगन्नाथजी का है, जो जगत-भर के हैं। उनका प्रतिनिधि बनकर ही कोई धन का स्वामी हो सकता है।' डॉक्टर साहब ईश्वर को बहक समझते हैं। वह इस बात पर राजी हो गये। मैंने कहा, 'ईश्वर दीनानाथ हैं। इससे जो दीनों के हित में किया जाए, ऐसे किसी खर्च में तुम मेरा हाथ नहीं रोक सकोगे। उसके सेवक की हैसियत से अपने लिए अधिक खर्च नहीं करोगे।' डॉक्टर इन्हें कोरी कल्पना की भली-भली बातें जानकर एक-एक स्वीकार करते चले गये। मैंने भी अगले रोज से डॉक्टरी के काम पर आने की स्वीकृति दे दी। तब तक मैंने ट्रस्ट के विचार को भी मन में साफ कर लिया था। सो, अगले दिन लिखी-लिखाई योजना मैंने डॉक्टर साहब के सामने रख दी। उनसे विरोध करते न बना। मैं नहीं कह सकती कि विरोध उनके मन में भी बिलकुल नहीं था, या था। प्रकट में उन्होंने कुछ नहीं कहा। तो अब रुपया पहले एक जगह जमा होता है। बैंक के हिसाब में अब मेरा नाम हो गया है। बीमा

पॉलिसी रोक दी गयी है...(इत्यादि)।''

अनन्तर क्षणेक चुप रहकर उन्होंने कहा, ''इसी से कहती हूँ कि मैं अब कुछ नहीं हूँ।''

मैं यह सब सुनकर कुछ सम्भ्रम में रह गया। कहा, ''तब तो डॉक्टर साहब के जाने में कुछ कारण भी हो सकता है?''

उन्होंने कहा, ''शायद हो भी सकता है। उन्हें अब यहाँ अपने पुरुषार्थ के योग्य काम का क्षेत्र नहीं मालूम हुआ। क्या जाने वह बताना चाहते हों कि देखो, स्त्री से पुरुष की क्षमता कितनी है। उन्होंने कहा था, 'तुम साल में जितना करोगी, देखना, मैं एक दाँव में उससे कई गुना कमा कर दिखा सकता हूँ। तुम किसी भूल में न रहना।' दवाखाने का हिसाब मेरे हाथ आ जाने से शायद उन्हें आहत-गर्व की प्रेरणा हुई हो। मैंने उन्हें रोका, पर मेरे रोके वह रुके नहीं। मैंने कहा कि देखते हो मेरी हालत। इस समय मुझे कोई तो संरक्षक चाहिए। हाथ जोड़ती हूँ, तुम जाओ नहीं। लेकिन वह मेरे रोके भी नहीं रुके। पुरुष का यही पौरुष तो हमें पराजित कर देता है। मेरी कमाई के आश्रित वह कहीं रह सकते थे?''

कहकर मानों वह कष्ट की हँसी, हँसीं।

अन्त में मैं चलने को हुआ तो उन्होंने कहा, ''क्या आप एक वचन देंगे?''

मैं अपनी जगह से उठकर खड़ा हो गया था। उनके प्रश्न पर खड़ा ही रह गया। कुछ उत्तर नहीं सोच सका।

''बैठिए। सुनते हैं, बैठिए न।''

लेकिन मुझे समझ न आया कि बैठकर क्या मैं किसी तरह की कोई सान्त्वना की बात इन्हें कहने को पा सकूँगा।

''नहीं बैठिएगा?''

मैंने कहा, ''मैं अब चलूँगा।''

निगाह बिना ऊपर उठाये ही वह बोलीं, ''अपनी इस हालत में उनके पीछे मैं किसका सहारा लूँगी, यह शायद सोचकर भी आप मुझे बता नहीं सकते, यही न?''

मैंने कहा, ''आप अनागत का सोच न करें।''

बोलीं, ''सोच न करूँ, यही कहते हैं न आप! अच्छा। धन्यवाद। नमस्कार।''

जिस स्वर में यह कहा गया उस पर चौंककर मैंने उन्हें देखा। यद्यपि प्रत्याभिवादन में नमस्कार करने की सुध उस समय भी मुझे न रह सकी, पर उनकी उस उठी हुई निगाह को देखकर मुझसे और कुछ नहीं बन सका, मैं चला ही आया। क्या करता? उस निगाह के अभियोग को कैसे बचाता? जैसे उस निगाह से उन्होंने समूची पुरुष-जाति को अभय दिया। मानो कहा, तुम अगर अपनी स्वतन्त्रता की और

अपने समाज की रक्षा में स्त्री को अरक्षा में छोड़कर असहयोगपूर्वक चले जाना चाहते हो, तो चले जाओ। तुम्हें शान्ति मिले। हमारी चिन्ता तुम्हारी बाधा न बने। हम स्त्रियाँ अपने को सह लेंगी। पर मानो यह अभय ही उनका अभियोग था।

8

एक रोज उनका जरूरी बुलावा आ पहुँचा। वहाँ गया, तो मालूम हुआ कि डॉक्टर देश जाकर मुसीबत में पड़ गये हैं। वकील की हैसियत से क्या मैं कुछ कर सकता हूँ?

डॉक्टर ने दो हजार रुपये मँगाये थे। नहीं तो, लिखा था, जाने क्या हो जाएगा।

मैंने कहा, ''रुपये भेज देने चाहिए?''

बोलीं, ''आप खुद उधर जा सकें तो पूरा हाल भी मालूम हो जाए।''

अनायास मेरे मुँह से निकला, ''मैं?''

उन्होंने किंचित् स्मित से कहा, ''हाँ''

उनके उस विश्वस्त अधिकार-भाव पर मुझे जाने कैसा मालूम हुआ। मैंने कहा, ''क्या आप यह सम्भव मानती हैं?''

बोलीं, ''मेरे लिए आपका कष्ट उठाना क्या मैं असम्भव भी मान सकती हूँ? आपको काम बहुत है, फीस बहुत है। यही न?''

मैंने कहा, ''हाँ, यह भी। पर सब कुछ यही नहीं। मेरे हाथ से कोई उपकार का काम न कराइए। वह उपकार उन्हें अपकार हो जाएगा। यह क्या मेरे दुर्भाग्य की बात आप नहीं जानतीं? ऐसा हुआ, तो मुझे असह्य होगा।''

बोलीं, ''यह आप कैसी बात कहते हैं! जानती हूँ, बचने के लिए तो आप कुछ कह नहीं सकते।''

मैंने कहा, ''आप ही सोचिए। मैं गलत कहता हूँ?''

वह बोलीं, ''खैर! तो फिर?''

मैंने कहा, ''मैं एक मित्र को बम्बई फोन किये देता हूँ। वह वहाँ देख-भाल लेंगे।''

उन्होंने मेरा अहसान माना।

मैंने कहा, ''वह छोड़िए। अहसान बीच में आकर फासला डालता है।''

वह बोलीं, ''आप सब हाल नहीं जानते।''

कहकर देखता हूँ कि दृष्टि में उनके एक विचित्र कातरता आ गयी है। उसका सामना मुझे बहुत कष्टकर होता है। मैंने अपने साथ जोर लगाकर कहा, ''आप चिन्ता क्यों करती हैं?''

उन्होंने कहा, ''आप मानिए या न मानिए, मैं आपसे कहती हूँ कि इस बार मैं नहीं बचूँगी।''

मैंने डपटकर कहा, ''अशुभ न बोलिए।''

कहने लगीं, ''मैं झूठ नहीं कहती।''

मैंने कहा, ''अपने वश से बाहर की बात कहना सदा झूठ कहना है। यहाँ बचना किसको है? लेकिन जीना-मरना जिसके हाथ है, उसी के हाथ है। हम कौन, जो उस पर मुँह खोलें?''

वह शून्य को कुछ देर देखती रहीं। अनन्तर बोलीं, ''लेकिन मैं अभी क्यों जी रही हूँ?''

मैंने कहा, ''देखिए, जीने-मरने की बातें मुझसे न कीजिए। वे वकालत से बाहर हैं। आपको तकलीफ क्या है?''

उन्होंने मुझे स्थिर दृष्टि से देखकर कहा, ''तकलीफ? कुछ नहीं।''

उस दिन के बाद से उनकी तरफ मैं यत्नपूर्वक नहीं गया। फोन मैंने बम्बई कर दिया था और इसकी सूचना और अन्य आश्वासन लिखकर आदमी के हाथों भेज दिया था। खुद जाकर कष्ट ही हाथ आता था।

कुछ दिन बाद खबर मिली कि डॉक्टर आ गये हैं। मैंने सोचा चलो, यह भला हुआ। बम्बई के मित्र से मालूम हुआ था कि वहाँ बेढब आदमियों के चंगुल में वह पड़ गये थे और उसमें काफी रुपया गँवा बैठे थे। रुपया सोच-फिकर की चीज नहीं है, लेकिन उसका देना जैसा सराहनीय होता है, उसका गँवा बैठना उतना ही शोचनीय मालूम होता है। पर हठात उधर से मैंने ध्यान अलग खींचा। जब जरा सोचता, तो कल्याणी की वह कातर दृष्टि सामने हो आती। और चूँकि मैं उस दृष्टि का मतलब नहीं समझ पाता था, इससे कष्ट मुझे केवल काटकर रह जाता था। सो मैं नहीं चाहता था कि मन उधर चोर-मार्ग से भी जाए। लेकिन मन भला राज-मार्ग पर ठहरता है!

जो हो, मैं उस ओर नहीं गया। न असरानियों में से कोई आया।

लगभग महीना भर हो गया। शायद और अधिक। कबूल करूँ कि इतनी मुद्दत उधर की कोई खबर न पाने से मैं नाराजी अनुभव कर रहा था। श्रीधर बीच-बीच में सुना जाते थे कि मिसेज असरानी की ख्याति आजकल खूब है और तरह-तरह के सार्वजनिक कार्यों में वह भाग लेती और पूछी जाती हैं।

मैंने कहा था, ''अच्छा तो है।''

उन्होंने कहा था, ''जैसा अच्छा है, सो कौन जानता है!''

अखबार में उनका नाम अब अकसर पढ़ने को मिल जाया करता था। उनके आरोग्य-भवन ने नगर के विशिष्ट लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। अन्य महिलोपयोगी कामों में और साहित्यिक समारोहों में वह प्रमुख भाग लेने लगी थीं।

श्रीधर ने कहा, "यह सब जाल है!"

श्रीधर तो शब्दों को यों ही मुँह से निकाल देता है। जाल है, तो क्या कुछ पकड़ने के लिए वह जाल है; यह समझ में न आता था। यों तो आदमी का सारा पसारा ही जंजाल है। पर यह कहने से हाथ क्या लगता है। अपने को चारों ओर फैलाकर शायद उस फैलाव के भीतर आदमी अपने मन को ही पकड़ना चाह रहा है। वह रचता है, कि इन रचनाओं के व्यूह में घेर कर अपने को पा लेगा। आदमी यही तो करता है। सदा से यही कर रहा है। सृष्टि इसी का नाम है। यही फिर माया है, माया फैलाकर फिर सत्व को उसी के केन्द्र रूप में खोज लेना होगा। माया की लीला में भी लीलाकार तो सत्य ही है न? इससे श्रीधर वाला मिसेज असरानी का जाल किसको पकड़ने के लिए है, यह भी मुख्य प्रश्न है। क्या अपने सिवा किसी और को? तो किसको? और अगर अपने को पकड़ने के लिए वह है, तो फिर उसमें विपरीत क्या है? उसके सिवा और कर्तव्य ही क्या है? मानव क्या कुछ और कर भी सकता है?

आखिर जब काफी समय हो गया तो मैं उधर गया। डॉक्टर असरानी मिले। वह खुश थे और तबीयत में उत्साह मालूम होता था।

मैंने कहा, "कहिए, देश हो आये?"

उन्होंने कहा, "जी हाँ।"

"अब फिर तो जाने की बात नहीं है न?"

बोले, "जी नहीं, देख लिया कि आदमी की हाय-हाय व्यर्थ है। सन्तोष ही ठीक है।"

मैंने कहा, "आप प्रसन्न तो रहे?"

बोले, "जी हाँ। सब आपकी कृपा रही।"

बात-बात में मैंने कहा, "इधर मुद्दत से मेरा इधर आना नहीं हुआ। सोचा, चलूँ मिल आऊँ। आप उधर आएँ तो घर दर्शन दीजिएगा।"

बोले, "जरूर-जरूर। लेकिन इधर काम बहुत बढ़ रहा है। उन्हें (डॉक्टरनी साहिबा को) तो दम मारने की फुर्सत नहीं होती। यह वह, दस काम सिर पर अड़े खड़े रहते हैं। किसे टालो, किसे छोड़ो। लेकिन मैं आऊँगा।"

कल्याणी से मैं मिल नहीं सका, क्योंकि वह किन्हीं मरीज की सेवा में व्यस्त थीं।

अगले दिन जल्दी-जल्दी में इस असमर्थता पर खेद प्रकाश करने वह घर आयीं कि मेरे आने पर भी मिल नहीं सकीं! उस समय वह उल्लसित मालूम होती थीं, जैसे कोई चिन्ता उन्हें छू नहीं गयी है।

मैंने कहा, "मुझे खेद जानना चाहिए कि आपको अवकाश की कमी है, रोगी कब आपको छुट्टी देते हैं!"

उन्होंने हँसकर कहा, "हाँ-हाँ, लेकिन आप तो जानते हैं।"

मैंने कहा, "हाँ, डॉक्टर की मुश्किल मैं खूब जानता हूँ।"

उन्होंने मेरी बात को अनायास अनसुनी करके कहा, "आप जानते हैं कि यह सब व्यस्तता प्रपंच है।"

जोर के साथ कहा, "मैं यह बिलकुल नहीं जानता। बल्कि जानता हूँ कि उपयोगी कर्म में अपने को भूलकर लगे रहना ही धर्म है।"

मोटर चलाते-चलाते उन्होंने हँसकर कहा, "यह आपकी जानकारी है। पर भूलना कब तक चलेगा? मानिए आप, सब प्रपंच है, सब छलना है।"

इसके अनन्तर उनकी निगाह में मुझे फिर वही कातरता की झलक दीख आयी। पर पल के बीतते ही हठात् दीखा—वह मुस्करा भी रही हैं।

"नमस्कार!" कहा, और मोटर लेकर वह ओझल हो गयीं।

सच पूछिए तो मुझे उनका उल्लास सुखद नहीं हुआ। जैसे वह भीतर कुछ और हैं। एक चेहरा है, जिसे ओढ़ लेने से काम बनने में मदद मिलती है। एक रंग, जो वास्तविकता को अन्यथा दिखा सके। चमक ऊपरी है, भीतरी जाने क्या है। लेकिन फिर भी वह उल्लास इतना स्वाभाविक और अनायास मालूम होता था कि मन यह भी न मानना चाहता था कि वह यथार्थ नहीं है। आखिर फिर यथार्थता क्या है? देखता हूँ कि खद्दर की धोती अब नहीं है, हाथों में सोने की चूड़ियाँ बढ़ गयी हैं और ईयरिंग बहुत कीमती मेल के कानों में दीखते हैं। क्या यह यथार्थता नहीं है?

मुझे वह सब जैसे प्रश्न करता हुआ मालूम होता था। क्या यह उस दिन वाला गरीबी का और गरीबी के हित का व्रत है? यह मैं क्या देखता हूँ! क्या यह खर्च को मर्यादित करने का प्रमाण है? निःसंशय वह कमाती हैं, तो खर्च कर सकती हैं। कौन रोकने वाला है? लेकिन यह जाहिर करके कि मैं कमाना नहीं चाहती, जो कमाई बढ़ाई जाती है, वह भी क्या कमाई है? क्या वह लूट नहीं है? सद्भाव दिखाकर पहले परिचय खींचा जाए, साख बनायी जाए, फिर उस परिचय और साख में से पैसे खींचे जाएँ—यह क्या है? यह अनीति नहीं है? दुष्कर्म नहीं है? है, और श्रीधर ठीक है।

लेकिन वह निगाह फिर क्या है जो अपने लिए मानों सबसे भीख-सी माँगती है? जो कहती मालूम होती है कि हाँ, सावधान, वह धोखा है। पर पहले धोखा मैं ही खा रही हूँ। सो बन्धु, मुझे क्षमा कर देना। मैं सबकी करुणा चाहती हूँ।

इस तरह मेरी कुछ समझ में नहीं आता। सच तो है, अपनी ही नीति समझ में नहीं आती, तो दूसरे की अनीति को समझ जाने वाला मैं कैसे हो सकता हूँ?

जिस पर एक रोज डॉक्टर असरानी घर आकर मुझसे कहने लगे, "आपने उनका मन्दिर भी देखा है?"

मैंने कहा, "मन्दिर! मन्दिर क्या ?"

इधर पत्नी के साथ डॉक्टर साहब की साख फिर जम चली है। सब कुछ अब डॉक्टर के हाथ में है, क्योंकि जाहिर में डॉक्टर अब बेलाग और तटस्थ रहते हैं। किसी बात में वह विरोध नहीं करते, इससे पत्नी तो और भी किसी बात का विरोध नहीं करतीं। बस इतनी-सी युक्ति से पत्नी अनुगता हो गयी हैं। उनका कहना था कि स्त्रियाँ अपनी नाक से आगे नहीं देख सकतीं। उन्हें बुद्धि होती है पास तक की। आसपास के बाहर क्या है, इसकी उन्हें सुध नहीं होती। इसलिए विरोध न करो, तो उनसे चाहे जो करा लो।

यह सब भूमिका-रूप में कहने के बाद डॉक्टर ने मन्दिर की चर्चा उठायी थी।

मैंने कहा, "मन्दिर कैसा?"

बोले, "स्त्री की बहक, और कैसा?"

मुझे मालूम हुआ, और डॉक्टर ने भी छिपाया नहीं कि असल कारण उनके आने का यह है कि वह मेरी सहायता चाहते हैं। पत्नी में इधर जाने कैसे चिह्न प्रकट होने लगे हैं। व्यवसाय का ध्यान उन्हें कम है और जाने क्या-क्या बातें उन्हें सूझने लगी हैं।

मैंने हँसकर पूछा, "कैसे लक्षण और क्या बातें?"

बोले, "यही धर्म और पूजा और आत्मा-परमात्मा का वहम।"

मैंने कहा, "धर्म तो अच्छी चीज है।"

बोले, "अच्छा सब है। सवाल सब मात्रा का है। नशा भी थोड़ा अच्छा होता है, उससे ताजगी आती है। लेकिन ज्यादा होकर तो वह नुकसान ही करता है। क्यों साहब?"

मैंने कहा, "हाँ, वह तो है।"

कहने लगे, "क्या आप कल हमारी तरफ आइएगा? अवश्य आइए। आपकी बात वह बहुत मानती हैं।"

मैं गया। कुछ देर साधारण बातचीत होने के बाद अनायास भाव से डॉक्टर ने कहा, "अपना मन्दिर तो इन्हें दिखाओ।"

सुनकर कल्याणी कुछ संकुचित दीख पड़ीं।

मैंने कहा, "कैसा मन्दिर है?"

संकोचपूर्वक बोलीं, "कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

मैंने कहा, "भगवान् के राज्य में तो किसी का भी निषेध नहीं हुआ करता। भगवान् की सृष्टि में सबको जगह है। आपका मन्दिर—"

बोलीं, "जब तक आपके निकट वह मेरा है, आपका अपना भी नहीं, तब तक आप उस मन्दिर में जाने की कैसे सोच सकते हैं! मन्दिर म्यूजियम नहीं होता।"

यह कुछ इस तरह कहा गया कि सुनकर मैं चुप रह गया। जवाब नहीं सूझा।

डॉक्टर ने कहा, ''देखने में क्या है? इन्हें भी नहीं दिखा सकोगी?''

''जब तक भगवान् के मन्दिर को यह अपने से पराया गिनेंगे, 'अपना है।' ही मानकर उस भाव से वहाँ नहीं जा सकेंगे तब तक मैं क्या कर सकती हूँ। मन्दिर तो मन का होता है न?''

डॉक्टर बोले, ''तुम्हारे देवता और भगवान् मेरा तो किसी से भी परिचय नहीं है। मुझे तो तुम रोज आरती में बिठाती हो!''

''तुम मुझसे अलग नहीं हो। पर इन तक कहीं मेरा अधिकार पहुँचता है?''

मैंने हँसकर कहा, ''न सही। जब पात्र हूँगा तभी मन्दिर के दर्शन करूँगा। अभी उत्कण्ठा भी छोड़ी।''

उन्होंने पूछा, ''आप ईश्वर को नहीं मानते न?''

मैंने कहा, ''मैं नहीं जानता कि नहीं मानूँ तो किस प्रकार और मानूँ तो कैसे?''

बोलीं, ''तो मन्दिर-मस्जिद, गिरजा-शिवालय, भजन-प्रार्थना सब ढोंग हैं?''

मैंने कहा, ''किसी में भी श्रद्धा पाये बिना मैं उसकी पूजा करूँ, तो यह ढोंग होगा?''

वह सहसा बोलीं, ''मैं आपको ऐसा न जानती थी!''

मैंने कहा, ''तो मुझे कहना चाहिए कि आप गलत जानती थीं। मुझे अपात्र ही जानिए। शायद हम पुरुषों को धार्मिक पात्रता मिलती ही कम है।''

वह कुछ नहीं बोलीं। पर डॉक्टर उत्साहित मालूम हुए। कहने लगे, ''इनकी दिनचर्या आप कुछ जानते हैं? एक बार खाती हैं, चार बार स्नान करती हैं और कम-से-कम चार घण्टे मन्दिर को देती हैं।''

कल्याणी ने जैसे इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया। वह एकटक नीचे को निगाह किये ही बैठी रहीं। बेशकीमती ईयरिंग और नयी-से-नयी चाल के अनुरूप परिधान पहने इस नारी को उस भाँति नीचे दृष्टि किये सामने बैठा देखकर मुझे जाने कैसा मालूम हुआ। उसने निगाह ऊँची नहीं की, जैसे बस सहना ही उसका काम है।

डॉक्टर बताने लगे, ''ये सवेरे चार बजे उठ जाती हैं। तभी ठण्डे पानी से नहाती हैं। मैं कहता हूँ कि इस तरह स्वास्थ्य को खतरा है, लेकिन चूँकि इनके पत्थर के जगन्नाथ जी कुछ नहीं कहते हैं, इसलिए कुछ नहीं सुनती हैं। यहाँ अस्पताल में रोगियों से निबटने में दो-तीन तो रोज बज ही जाते हैं। कभी और भी देर हो जाती है, लेकिन इनका हाल है कि यहाँ से जाकर नहाएँगी, पूजा करेंगी, तब अन्न मुँह में देंगी। चाहे इसमें सवेरा शाम से क्यों न मिल जाए। मैं कहता हूँ कि यह धर्म है कि आफत है?''

कल्याणी यह सब सुनती हुई निगाहों को मेज पर उसी तरह एकटक बाँधे अचल भाव से बैठी रहीं।

डॉक्टर कहते रहे, "और मेहनत का यह हाल है कि ठीक सात बजे अस्पताल में आ जाती हैं। आराम जरा नहीं लेतीं, न किसी को लेने देती हैं। कहती हैं कि सूरज आसमान में आराम लेता है? ईश्वर के राज्य में किसी को आराम है? सो दिन में विश्राम का नाम नहीं। हफ्ते में अगर दो नहीं तो एक उपवास तो होता ही है। आज एकादशी है, तो कल पंचमी है।"

"बस हुआ! अब आप चुप रहिए।"

कल्याणी ने यह कुछ इतने जोर से कहा कि मैं हैरत में रह गया। देखता हूँ कि यह कहकर वह काँप आयी हैं और अपना उद्वेग उनसे नहीं सँभल रहा है।

"आप जिस बात को नहीं जानते और इसलिए मानते भी नहीं हैं, उस पर फिर टीका क्यों करते हैं? चुप रहिए। आप चाहते हैं—आप क्या चाहते हैं?"

उनके होंठ काँपकर नीले पड़ आये—"क्या चाहते हैं आप? यह कि मैं मर जाऊँ?"

डॉक्टर गुमसुम स्तब्ध भाव से देखते और सुनते रह गये। मैं भी इस सहसा उद्वेग को समझ नहीं सका। पिछली बातचीत में पत्नी के प्रति डॉक्टर की चिन्ता और सहानुभूति ही प्रकट होती थी। इससे पत्नी के आक्रोश पर उस समय डॉक्टर हतबुद्धि बने निर्दोष अभियुक्त सरीखे दीख पड़ने लगे।

पर देखता क्या हूँ कि इस पर पत्नी की वाणी कुछ और भी तीखी हो गयी है। वह पति की ओर मानों चीखकर बोलीं, "साफ-साफ कह क्यों नहीं देते हो कि तुम क्या चाहते हो? मुझे तिल-तिलकर बेचना चाहते हो, सो वह हो तो रहा है। आखिरी साँस तक मेरा बिक जाएगा, तब भी मैं इनकार नहीं करूँगी; लेकिन इसके बाद तुम मुझे अपनी तरह रहने क्यों नहीं देते हो? अच्छा, तो मैं अभी अपनी सब मूर्तियाँ तोड़े देती हूँ, बस? इससे तो तुम्हें चैन पड़ेगा?"

इतना कहकर वह झपटकर वहाँ से चल पड़ने को हो गयी। यह ऐसे अप्रत्याशित भाव से घटित हुआ कि क्या कहूँ। डॉक्टर असरानी तो चित्र-लिखे-से हो आये। स्थिति को देखकर मैंने अपनी जगह खड़े होकर गुरुतापूर्वक कहा, "बैठिए। सुनती हैं? जाती कहाँ हैं? आप कहीं नहीं जाएँगी।"

वह क्षण-भर मुझे देखती-की-देखती रह गयीं, मानों बिंधी हिरणी हों। बिंधकर ही बाघिन बन उठी हों, लेकिन हों प्रकृत हिरणी ही। देखते-देखते सहसा वह फिर वहीं धप् से अपनी कुर्सी में बैठी से अधिक गिर आयीं और सामने शून्य में निगाह गाड़ देखने लगीं। देखती रहीं। फिर उच्छ्वास के साथ बोलीं, "मैं क्या करूँ? क्या करूँ?"

इतना कहकर, मुँह हाथों से ढँक, वह फफक-फफककर रोने लगीं।

मेरी समझ में कुछ न आया। डॉक्टर के लिए मेरे मन में बहुत कष्ट और बहुत

सहानुभूति हो आयी।

थोड़ी देर कोई कुछ न बोला। अनन्तर उन्होंने मुँह पर से हाथ उठाकर कहा, ''आप जाइए।''

उस चेहरे को देखकर मैं उस वाक्य की अभद्रता पर अपना अपमान भी तो अनुभव न कर सका। वह ऐसा करुण था। उस पर के आँसू अभी नहीं सूखे थे और उस चेहरे से निकली हुई प्रार्थना आज्ञा थी, और आदेश भी अनुनय था।

9

अगले इतवार को वह घर आयीं। अकेली थीं, लेकिन इस बार पहले की भाँति सीधी अन्दर जाने को उत्सुक नहीं थीं। मुझसे कहा, ''मैं अधिक न ठहर सकूँगी। यों ही एक बात के लिए आयी हूँ।''

मैंने कहा, 'कहिए।'

बोलीं, ''आप यह नहीं मानते हैं न कि भविष्य हमें पहले से दीख सकता है?''

मैंने कहा, ''नहीं मानता। लेकिन।''

''लेकिन मैं आपको कहती हूँ कि यह सच है। मुझे कई बार आगे की सूचना मिल गयी है। तब तो मैं उसे सपना कहकर टालती गयी। लेकिन हर बार आगे ठीक वही होने में आया। ऐसे कई अनुभवों के बाद अब मैं अपना अविश्वास नहीं करूँगी, नहीं कर सकती। सुनिए, इस वर्ष के आगे मैं न जिऊँगी।''

मैंने कहा, ''ऐसा न कहिए। मैं पहले भी आपसे कह चुका हूँ कि अनागत जानने का हक हमारा नहीं है।''

साग्रह बोलीं, ''नहीं, यह आप न समझें कि मरने की कोई दहशत मुझे है। मैं भला किस बिरते मरना न चाहूँ! लेकिन बालक अभी छोटे हैं। हाँ, मैं यह कहने आयी थी कि मेरे पीछे क्या आप छोटी को अपने पास ले सकेंगे? बड़ी तो सदा की रोगिणी है। मेरे बाद उसे भी अधिक जीना नहीं होगा। पर छोटी का मुझे ख्याल होता है। आपसे कहती हूँ, क्योंकि उनसे कहने को मेरा मुँह नहीं है।''

मैंने कहा, ''सो तो ठीक है, लेकिन वह सब मैं सुनना नहीं चाहता।''

''मैं आप पर इतना भरोसा नहीं रख सकती?''

''लेकिन अपना भरोसा खोने का तो आपको कोई अधिकार नहीं है।''

''चलिए, आप अन्दर चलिए।''

उनका चेहरा गिर गया। धीमे से बोलीं, ''आप मेरा विश्वास नहीं करते हैं!

अच्छा।''

यह 'अच्छा' उन्होंने इतने उच्छ्वसित भाव से कहा कि मैं उसके लिए तैयार न था। मैं अपनी जगह खड़ा हो गया। कहा, ''छोड़िए, छोड़िए। चलिए, अन्दर मिल तो लीजिए।''

उन्होंने अपने हाथ की घड़ी को देखा और कहा, ''मुझे आज चार बजे एक मानपत्र लेना है। वहाँ पहुँचने नहीं दीजिएगा?''

मैंने कहा, ''वह होगा। लेकिन आप अन्दर तो चलिए।''

बोलीं, ''होगा नहीं, है। आपको कुछ खबर नहीं रहती है। आजकल मुझे कितना मान-सम्मान मिल रहा है, खबर हो तो आप ईर्ष्या से घायल हो जाएँ।''

कहकर वह हँसने लगीं।

मैंने कहा, ''अखबार में नाम तो आपका देखा करता हूँ। मेरी ईर्ष्या को तो उतना ही बहुत है।''

हँसकर बोलीं, ''अखबारी रिपोर्ट तो अधूरी भी हुआ करती है। अपनी आँखों पूरी असलियत देखिए तो आपको पता लगे। मैं कितनी महा-माननीया हूँ, महान हूँ, कोकिला हूँ और धन्वन्तरि की अवतार हूँ—आपको यह मालूम नहीं है, तो भी कुछ मालूम नहीं है।''

मैंने अनायास कह दिया, ''ओ-हो!''

वह बहुत हँसीं और बोलीं, ''और नहीं तो क्या? कुछ यों ही न समझ लीजिएगा!''

मैंने कहा, ''निश्चय रखिए, मैं आप से डरना आरम्भ करना चाहता हूँ।''

बोलीं, ''क्यों नहीं, पाप से भय चाहिए ही।''

उनके इस उत्तर के आगे मैं विवश हो जाता हूँ। मैंने कहा, ''आप बात के मतलब को न जाने किधर ले जाती हैं।''

बोलीं, ''छोड़िए भी! लेकिन आप जानते हैं कि मैं कैसे महिमामयी बनी जा रही हूँ?''

मैंने कहा, ''जानने को उसमें क्या है? सुकर्म से और क्या! प्रतिभा कहिए, चाहे भाग्य।''

बोलीं, ''अजी, भाग्य-प्रतिभा नहीं। सब डॉक्टर साहब की बदौलत।''

मैं इस बात को कुछ नहीं समझा, लेकिन उन्होंने जल्दी मचाकर कहा, ''आप नहीं समझेंगे और मुझे अपना मानपत्र खोना नहीं है। चलूँ, चलने दीजिए।''

मैंने कहा, ''मैं जानता हूँ कि डॉक्टर साहब सब मान आपके लिए चाहते हैं। अपने लिए उन्हें रत्ती-भर स्पृहा नहीं है।''

बोलीं, ''यह सच है।''

मैंने कहा, ''तब तो मैं उनसे अवश्य ही ईर्ष्या करना चाहता हूँ।''

बोलीं, ''ईर्ष्या की बात ही है, लेकिन आप उनको न पा सकेंगे।''

''मैं आपको ही कब पा सका हूँ?''

कहते कह गया, पर स्वयं अपने कानों उस वाक्य को सुनकर मैं तभी ठहर गया। फिर शीघ्रता से बोला, ''देखिए, आप संकुचित न हूजिए। मेरा मतलब— ।''

किंचित हँसकर वह बोलीं, ''व्याख्या द्वारा मतलब न खोलिए। मुझे गलतफहमी न होगी। मैं गलत समझ सकने योग्य होती, तो बात ही क्या थी। मैं जानती हूँ, मैं कितनी दया के योग्य हूँ। यह भी जानती हूँ कि आप यह जानते हैं। मान-सम्मान सब झूठ हैं, सब छल है।''

मैंने कहा, ''आप अपने पर कठोर न हों।''

बोलीं, ''मैं बतलाती तो हूँ, सुनिए। डॉक्टर साहब दान देते हैं, सो संस्थाएँ मुझे मान देती हैं। इससे संस्थाओं को लाभ होता है, हमें भी लाभ होता है। परस्परोपकार! बताइए, इसमें गलत क्या है! तिस पर मुझे अपनी कीमत के बढ़ने में क्यों झिझक होनी चाहिए? पर आप कुछ और न मानिएगा, मैं हूँ एक इन्वेस्टमेण्ट!''

मैंने देखा कि वह आत्म-लांछना पर ही आ तुली हैं। मैंने कहा, ''अच्छा, बैठिए तो।''

वह विलक्षण भाव से मुस्कराकर बोलीं, ''आपकी नीयत नेक नहीं है। मैं मिलता हुआ सम्मान छोड़नेवाली नहीं हूँ। चार बजते हैं और मुझे अब चलना चाहिए।'' कहकर वह चलने को उद्यत हो गयीं।

मैंने विनोदपूर्वक कहा, ''मुझे साथ चलने का निमन्त्रण क्या आप भूलकर भी नहीं दे सकतीं? मैं भी यश-वैभव देखता।''

उन्होंने साश्चर्य कहा, ''सच, क्या आप चल सकेंगे? मैं सोचती थी कि बच्चों का तमाशा है, आपको क्या भला लगेगा!''

मैंने कहा, ''झूठे भी निमन्त्रण आप देतीं तब मुझे सोचने का मौका था। अब तो— ।''

उन्होंने किंचित् मन्दतापूर्वक कहा, ''मैं जानती हूँ। आप चलनेवाले नहीं हैं।''

मैंने हँसकर कहा, ''जानती तो आप उपयोगी बात हैं। यह साहित्य-सभा का मानपत्र है न?''

हँसकर बोलीं, ''हाँ-आँ।''

मैंने पूछा, ''तब तो इधर आप कुछ लिखती भी रहीं मालूम होती हैं।''

बोलीं, ''जीवन ही दुःख की कविता है। अतिरिक्त कविता के अब क्या लिखूँ? नहीं, आप मानिए—मैंने कुछ नहीं लिखा। धन्धे से छूटूँ, तब तो आत्मा की सोचूँ। पर देखिए, आप मेरा चार का समय चुकाना चाहते हैं। आपकी कविता के पीछे मानपत्र गँवाने वाली मैं नहीं हूँ।''

इस बार नमस्कार करके वह बिलकुल नहीं रुकीं, जैसे कि पल-भर देर हुई कि सब बना बिगड़ जाएगा।

वह दिन दो और बातों से स्मरणीय बन गया।

पत्नी के जाने के कुछ अनन्तर पति हमारे यहाँ आ पहुँचे। वह व्यग्र थे। सामान्य शिष्टता के निर्वाह की चेष्टा मानों उनके लिए बहुत हो रही थी। उन्होंने पूछा, "क्या वह यहाँ आयी थीं?"

मैंने कहा, "हाँ, अभी ही गयी हैं।"

"कितनी देर हुई?"

"हुए होंगे पन्द्रह-एक मिनट।"

"कहाँ गयीं?"

मैंने कहा, "चार बजे साहित्य-सभा के सभारम्भ में शायद उन्हें पहुँचना था। वहीं गयी होंगी।"

"नहीं, वहाँ नहीं पहुँचीं। वहाँ से तो आ रहा हूँ।"

मैंने कहा, "शायद आपके पीछे पहुँच गयी हों। या अब पहुँचती होंगी।"

उन्होंने हवा को थप्पड़-सा मारते हुए कहा, "यह ठीक नहीं है। समय का ध्यान रखना चाहिए। आप कह सकते हैं, वह वहीं गयी हैं?"

मैंने कहा, "मेरा ऐसा ही अनुमान है।"

मुझसे डॉक्टर की उद्विग्नता कुछ कम हुई नहीं जान पड़ी, कुछ बढ़ भले गयी। लेकिन मैं क्या करता! निरुपाय डॉक्टर वापिस चले गये।

उसी दिन सन्ध्या के अनन्तर श्रीधर ने आकर एक अघटनीय घटना ला सुनायी।

मैंने कहा, "यह क्या कह रहे हो जी, श्रीधर?"

उसने कहा, "जिसने आँखों देखा है, उसी की कही सुना रहा हूँ। डॉक्टर ने खुले रास्ते जूतों तक से उन्हें मारा। ताँगे में बैठी थीं, वहाँ से खींच लिया। चलती सड़क पर तमाशाई न जाने कितने जुड़ गये थे। देखने वाला कोई एक तो था नहीं, भीड़ की भीड़ थी।"

इस सूचना पर अपने क्षोभ को खाली करते हुए मैंने कहा, "झूठ कहते हो! भला इतनी भीड़ में से कोई आदमी मदद न करता?"

श्रीधर कहने लगा, "मदद की तो सुनते हैं, कोई बढ़ा था; पर भीड़ से ही एक ने कहा, औरत-मर्द के बीच क्यों पड़ते हो जी! सो वह आदमी ठिठका रह गया। उसके बाद मदद कोई किसकी क्या करता? वह मदद चाहती ही नहीं मालूम होती थीं, चुपचाप पिटती रहीं। जैसे अपने पीटे जाने से सहमत ही हों।"

"यह कब की बात बताते हो?"

"कोई छः बजा होगा।"

मैंने कहा, "श्रीधर तुम गप लगाते हो। उस समय तो साहित्य-सभा का सभारम्भ चल रहा होगा।"

श्रीधर ने कहा, "कैसा सभारम्भ! मैं खुद वहाँ निमन्त्रित था। साढ़े चार बल्कि पाँच तक वहाँ मौजूद था। श्रीमती असरानी जब वहाँ नहीं आती दीखीं तो मैं चला आया। कार्यक्रम भी मुल्तवी हो गया था।"

मैंने कहा, "श्रीधर, यह कैसी बात कर रहे हो? अच्छा, डॉक्टर वहाँ थे?"

श्रीधर ने कहा, "खूब! वह नहीं थे, तो था कौन? शुरू में कुछ देर को वह वहाँ से गैरहाजिर हुए थे, फिर आ पहुँचे थे। उन्हें बहुत बुरा लग रहा था और झल्लाये दीखते थे।"

मेरा मन इस घटना की यथार्थता को स्वीकार नहीं करना चाहता था। मैंने निरुद्देश्य भाव से कहा, "तो?"

"तो मैं क्या जानूँ?" श्रीधर ने कहा, "मैंने जो हुआ, सुना, सो सुना दिया।"

उस सारी दुःसूचना पर मुझसे और कुछ नहीं बना तो मैं श्रीधर को डपटने लगा। कहा, "क्या-क्या वाहियात बकते रहते हो जी? सब झूठ बात है। नहीं, बस हुआ। सुनो, कान दो हैं। मुँह एक है। सुना हुआ सब कहते नहीं फिरना चाहिए। बस, बस। तुम तो सदा गप की टोह में रहते हो।"

श्रीधर डपट सुनकर बेखटके मेरे मुँह पर हँसता रहा। बोला, "आप विश्वास नहीं करते, तो मेरे पास इलाज क्या है! मैं विलायत पास डॉक्टर तो हूँ नहीं।"

मैंने कहा, "श्रीधर चुप रहो।"

बोला, "अच्छा लीजिए, मेरा कहा सब झूठ है। सिर से पाँव तक झूठ। बस अब तो सच हुआ?"

जिरह करते हुए मैंने कहा, "वह होतीं तो मोटर में न होतीं, ताँगे में क्यों होतीं? और डॉक्टर उनका बहुत मान करते हैं। नहीं-नहीं, सब गप है।"

श्रीधर ने भलमनसाहत से कहा, "हाँ गप ही है। आप परेशान न हों।"

मैंने कहा, "सच कहो, जो कहता था, उसने अपनी आँखों भी देखा है? अपनी ही आँखों! तुम जानते नहीं भाई, ऐसी बातों में तिल का ताड़ बनते देर नहीं लगती।"

श्रीधर ने कुछ भलमनसाहत से कहा, "जी हाँ, वह बात झूठ है। मैं तो हँसी करता था।"

मैंने पूछा, "तो उनकी क्या हालत है? बहुत चोट आयी है?"

श्रीधर ने कहा, "यह हो क्या गया है आपको? अभी कहते हैं, झूठ है; अभी पूछते हैं, बहुत चोट है?"

मैंने कहा, "श्रीधर, दुष्टता छोड़ो। सच बताओ।"

मेरी ओर देखकर श्रीधर ने कहा, "तो क्या जाकर मैं अभी सही और पूरी खबर लाकर दूँ?"

मैंने कहा, ''हाँ-हाँ, जाओ भाई।''

श्रीधर गया। उसके लौटने पर मालूम हुआ, घटना सच्ची है। उन्हें चोट खासी आयी बताते हैं। किसी मरीज को देखकर लौट रही थीं कि यह अघट घटित हुआ।

सब सुनकर श्रीधर की ओर देखकर मैं निरुद्देश्य भाव से पूछ बैठा, ''क्यों?''

श्रीधर मेरी ओर अचरज से देख उठा। उसने कहा, ''क्या यह भी मुझे बताना होगा कि क्यों!''

कुछ सोच कर मैंने पूछा, ''अच्छा, किस मरीज के यहाँ से लौट रही थीं?''

कहते हैं कि किसी डॉक्टर की स्त्री को देखने गयी थीं। उनको सख्त दर्द था। उन्हीं के पीछे साहित्य-सभा को उन्होंने भुला दिया था।

मैंने उत्सुकतापूर्वक कहा, ''किसी डॉक्टर की स्त्री को तुमने बताया न?''

''हाँ। यही मालूम हुआ है।''

डॉक्टर की स्त्री! इस पर एकाएक जैसे अव्यक्त हो गया। मेरे मुँह से निकला, 'ओह, यह बात है!' इस उद्‌गार में मेरे मन का क्लेश भी प्रकट हुआ होगा, क्योंकि श्रीधर ने इस पर मुझे देखकर चिन्तापूर्वक कहा, ''क्यों-क्यों, क्या बात है?''

मैंने कहा, ''कुछ नहीं, कुछ नहीं।''

उसने साग्रह कहा, ''कुछ तो?''

बिना जवाब दिये ही मैंने कहा, ''श्रीधर, अब वह सब घटना सच हो सकती है।''

श्रीधर ने जानना चाहा, ''अब सब सच हो सकने का क्या मतलब है?''

लेकिन मेरा मन भारी था। कुछ कहने-सुनने को भी जी न होता था। डॉक्टर भटनागर वाली पिछली बात मुझे याद हो आयी थी, लेकिन उस पर मैं क्या मुँह खोलता?

10

उसके बाद का अनुभव नया हुआ। बीच में काफी दिन टालकर मैं इस बार उधर गया। हमारे क्षेत्र अलग थे। इससे होता तो इच्छापूर्वक ही मिलना होता था। यों एक शहर में होकर भी परस्पर दुर्लभता थी।

खैर, इस बार मैं उधर गया तो डॉक्टर असरानी वहाँ थे नहीं और श्रीमती असरानी मुझसे मिली नहीं। कहलाने पर मुझे भीतर से उत्तर भेज दिया कि इस समय उन्हें अवकाश नहीं है, मरीज से बात कर रही हैं। मैं लौट आया।

अगले रोज वह घर आयीं। पहले की भाँति सुसज्जित थीं और नाराज थीं।

आकर उन्होंने तीखेपन से कहा, ''आप अपमान नहीं चाहते हैं, तो आइन्दा उधर मत आया कीजिए।''

मैंने भी किंचित् रूखेपन से कहा, ''क्या यही काफी अपमान नहीं है!''

बोलीं, ''हो सकता है। लेकिन किसका अपमान होता है, किसका नहीं; इसका मुझे किसी को हिसाब नहीं देना आता है। बताइए, आपको मुझसे क्या काम है? आप मरीज हैं? कोई आपके यहाँ मरीज हैं? आप किसी मरीज को लेकर आये थे?''

मैंने कहना चाहा कि—।

लेकिन सब टालकर बीच में ही वह बोलीं, ''जी नहीं, इसमें कोई जवाब की बात नहीं है। मैं अभी यह कहने आयी थी कि जो हुआ सो हुआ। अब आप उधर न आएँ, न मैं इधर आऊँगी।''

वह उस समय उद्विग्न मालूम होती थीं और कटिबद्ध। प्रकट करना चाहती थीं कि उन्हें जल्दी है, लेकिन कहते-कहते वह सोफे पर बैठ गयीं।

मैंने कहा, ''अच्छी बात है। मैं अब गलती नहीं करूँगा।''

''हाँ, कोई जरूरत नहीं है। दो दिन बाद सब सबको भूल जाएँगे। इसलिए इसमें कोई बुरा मानने की बात नहीं है।''

मैंने कुछ नहीं कहा।

कुछ देर चुप रहकर वह बोलीं, ''आप चुप क्यों हैं?''

मैं सुनकर उनकी ओर देखता ही रह गया। क्या उत्तर देता!

''आप शायद मुझसे बात करना नहीं चाहते।''

कुछ कहने के लिए मैंने कहा, ''क्या बात ?''

''ओः, यह भी मैं बताऊँ कि क्या बात? अच्छा, बताती हूँ। बताइए, जिन्दगी क्या है? हम क्यों जीते हैं? मैं क्यों जीती हूँ? बताइए, मैं क्यों जीती हूँ?''

मैंने कहा, ''ऐसी बात बताना तो क्या, मैं सुनना भी गवारा नहीं करना चाहता।''

''आप नहीं बता सकते। लेकिन मैं बताती हूँ। मैं इस पेट के बच्चे के लिए जीती हूँ।''

कहकर कुछ ऐसी कातर क्लिष्ट निगाह से उन्होंने मुझे देखा कि मुझको नहीं सूझा कि मैं क्या करूँ, या क्या कहूँ।

''बस यही अभागा है, जो मुझे मरने नहीं देता। मैं मरी तो वह भी नहीं जन्मेगा। इससे मैं मर भी तो नहीं पाती!''

मैंने जोर से कहा, ''चुप हूजिए। क्या बहकी बातें कहती हैं!''

इस पर थोड़ा हँसकर वह बोलीं, ''बहकी नहीं, मैं सच बात कहती हूँ। इसी ने मुझे कैद में डाल रखा है, नहीं तो मैं आजाद हो सकती; लेकिन वह भी बेचारा मेरी कैद में है। उस अनजनमे पर मैं गुस्सा क्या करूँ? पर मैं पक्का जानती हूँ, उसको मेरी

कैद से छुटकारा मिला कि मैं भी अपनी कैद से छुटकारा पा जाऊँगी।''

मैंने कहा, ''फिर वही बात! छोड़िए उसे।''

''आपको इसमें शक है?''

मैंने कहा, ''अच्छा, उठिए। क्या इधर-उधर की सोचा करती हैं! या उन्हें ही यहाँ बुलाऊँ? अच्छा ठहरिए, मैं अभी आता हूँ।''

मुझे कमरे से निकलता देखकर बोली, ''जरा रुक जाइए। मुझे कहना यह है कि आप उस बच्चे का ख्याल रखिएगा। आप ख्याल रखिएगा न?''

उस समय मैंने पास जाकर बाँह पकड़कर उन्हें उनकी जगह से उठाया। उन्होंने कहा, ''यह आप क्या करते हैं!...हाथ पकड़ते हैं!''

फिर हँसकर बोलीं, ''डॉक्टर साहब नहीं हैं, इसलिए?''

मैंने कहा, ''चलिए, चलिए। अन्दर चलिए। अजी, सुनना। देखो, यह कौन आयी हैं।''

पत्नी से मिलकर, हमारे घर रहकर, कल्याणी धीमे-धीमे बाहर का बहुत कुछ भूल गयीं। वह सावधान और स्वस्थ हो आयीं और हिलमिल कर खुशी की बातें करने लगीं। उन्होंने ड्राइवर से कहकर कान्वेण्ट के स्कूल से अपनी दोनों लड़कियों को छुट्टी होने पर सीधे हमारे घर ही बुला लिया। फिर तो रात तक नहीं गयीं। ऐसी खुश दीखीं कि खूब। सब बच्चों को तरह-तरह के खेल खिलाए। अँग्रेजी का इम्तहान लिया। उनके अजायबघर टटोलकर देखे। पियानो बजाया और ग्रामोफोन पर कहकहेवाला रिकार्ड कई बार चढ़ाकर सुना और उसकी नकल पर उसी भाँति कहकहे-पर-कहकहे लगाये।

बीच में मैंने रोका भी कि आज मरीजों की सुध नहीं ली जाएगी क्या?

बोलीं, ''मरीज कभी अपनी सुध भी तो लें?''

उस रोज सबका खाना-पीना हमारे यहाँ साथ ही हुआ और बच्चे आपस में ऐसे हिल-मिल गये कि छोटी तो जाने के वक्त जाना ही नहीं चाहती थी।

चलने को तैयार होकर छोटी को उन्होंने कहा, ''क्यों री, चलेगी नहीं?''

वह हमारे घर की मुन्नी के गले में बाँह डाले खड़ी थी। उसने कहा, ''हम तो नहीं जाते।''

उसकी माँ ने पूछा, ''यहीं रहेगी?''

इस पर उसके एवज में उसके गले में बाँह डाले हुए, हमारी मुन्नी ने कहा, ''हाँ, यहीं रहेगी। छोटी नहीं जाएगी। सब जाओ।''

छोटी-भी बोली, ''मैं तो यहाँ मुन्नी के साथ रहूँगी।''

इस पर डॉक्टरनी-माँ ने एकदम बढ़कर छोटी को उठा लिया। उसे चूमकर कहा, ''तू तो पगली है। स्वर्ग में क्या सब रह सकते हैं?''

छोटी ने कहा, ''तो हम मुन्नी को भी घर ले चलेंगे।''

इस पर छोटी को उतारकर उन्होंने मुन्नी को गोद में उठा लिया। उसे भी चूमकर कहा, ''यह ठीक है। बोल, चलेगी मुन्नी ?''

मुन्नी चलने को एकदम राजी थी।

इस भाँति देखा गया कि बच्चों में खूब अपनापा हो गया है। इतना कि एक-दूसरे को बिदा देने में उन्हें कठिनाई हो रही है, बड़ी कठिनाई।

चलने को उद्यत कल्याणी ने कहा, ''अच्छा, आज के दिन के लिए मैं आप लोगों का बहुत धन्यवाद मानती हूँ।''

मेरी पत्नी ने कहा, ''अच्छा, आप कभी-कभी ऐसे ही आ जाया कीजिए न ?''

उन्होंने कहा, ''अच्छा, भाग्य होगा तो क्यों न आऊँगी ?''

चल पड़ीं तब उन्होंने मुझे स्पष्ट शब्दों में धीमे से कहा, ''आज के लिए मुझे क्षमा कीजिएगा।'' कहकर जैसे उनकी आँखों में नमी आ गयी, गले में आवाज रुँध आयी। भरे कण्ठ से बोलीं, ''आप अब उधर मत आइएगा। क्या फायदा ? वृथा आपके चित्त को कष्ट होगा।''

अगले दिन हमारे यहाँ काफी उपहार लेकर एक आदमी आया। पहचानते हुए भी मैंने लाने वाले को कहा, ''क्या है ? किसने भेजा है ? क्यों भेजा है ?''

उसने कहा, ''मेमसाहब ने भेजा है और सलाम बोला है।''

मैंने गुस्से में कहा, ''क्यों ?''

दरबान जवाब में चुप खड़ा रहा, जिस पर मुझे नरम हो आना पड़ा। कहा, ''अच्छा, जाओ।''

बच्चों के लिए उसमें तरह-तरह के खेल-खिलौने थे। पत्नी ने एक-एक को निकालते हुए और देखते हुए कहा, ''यह इतना सब सामान उन्होंने किसलिए भेजा है ?''

''तबीयत और क्या ?''

''तो क्या इन्हें रख लें ?''

''नहीं तो क्या ?''

वह बोलीं, ''पचास-साठ रुपये से कम का सामान नहीं मालूम होता।''

मैंने कहा, ''अब तो सब भुगतना ही होगा। न रखकर उन्हें नाहक तकलीफ तो नहीं दी जा सकती न!''

पत्नी हमारी समझदार गृहिणी हैं। बोलीं, ''यह उस भली मानस को सूझा क्या ?''

मैंने कहा, ''समझ लो, अमीरी की सनक है।''

अमीरी के नाम पर पत्नी में कुछ गर्मी हो आयी। उन्होंने कहना चाहा कि अमीर

कोई होगा, तो अपने घर का होगा, उसमें गुमान करने की क्या बात है! पर खुलकर कहा नहीं।

असल में किसी को अमीर सुनकर पत्नी में बिगाड़ हो आता है। वह अमीरी से उदास हो चुकी हैं। देख चुकी हैं कि मैं जो हूँ, उसके अतिरिक्त नहीं हो सकता। अमीर बनने के उनके उपदेश और मेरे स्वप्न ठण्डे पड़ गये हैं। अब न स्वप्न में और न उपदेश में गर्मी शेष है। इससे शब्द की अमीरी भी पत्नी को कानों नहीं सुहाती। अमीरी की बात उठने पर यह तो जैसे-तैसे मैंने सँभाल लिया, नहीं तो एक साँस में सारा सामान फेर देने पर ही वह उतारू हो गयी थीं।

बोलीं, ''क्यों जी, वह यहाँ क्यों आती-जाती हैं?''

मैंने कहा, ''मुझे अन्तर्यामी तुमने कब से समझा है?''

बोलीं, ''स्त्री तो भली मालूम होती है। मिजाज उसमें नहीं है। पर बात क्या है? परेशान क्यों मालूम होती है? क्या बहुत दुखियारी है?''

मैंने कहा, ''क्यों? नहीं तो तुम यह कैसे कहती हो?''

''कहती हूँ आँखों से देखकर और कैसे कहती हूँ?''

मैंने कहा, ''आँखों से तो मैं यह देखता हूँ कि मोटर में चलती हैं और फैंसी कपड़े पहिनती हैं और खूब सिंगार है और मनचाही आमदनी है और नाम है और— ।'' पत्नी ने भृकुटियों में वक्र डालकर कहा कि तुम कुछ नहीं जानते।

मैंने कहा, ''बताओ न कि इसमें क्या जानूँ? तुम कब से मोटर-गाड़ी को तरसती हो। मोटर हो जाए तो, कहो, तुम सुखी हो जाओ कि नहीं?''

पत्नी इस पर तुनक आयीं। कहने लगीं कि तुम रखो अपनी मोटर अपने पास। मुझे कुछ नहीं चाहिए। कहा होगा कभी मोटर को तो तुम्हारी ही खातिर, जिससे तुम्हारी इज्जत बढ़े। मुझे क्या उस सदासुहागन में आग लगानी है?

यह तो अच्छा हुआ कि बात उस समय कल्याणी असरानी से अलग हट आयी थी। नहीं तो उस विषय में मेरे मन को भी समाधान न था। मैं न जानता था कि उस बारे में सोचूँ तो क्या? पर पत्नी पूरी हैं, वह किसी अधूरेपन को मन में टिकाना पसन्द नहीं करतीं। सो समय पाकर उन्होंने पूछा, ''क्योंजी, उन्हें दुःख काहे का हो सकता है?''

मैंने कहा, ''फिर वही बात! कह तो दिया कि मैं अन्तर्यामी नहीं हूँ।''

''तुम उनसे एक दिन पूछते क्यों नहीं हो?''

मैंने कहा, ''जाने कैसी बात तुम कहती हो। अरे तो भाई, तुम्हीं ने क्यों नहीं पूछा?''

बोलीं, ''मेरा तो उनके सामने इतना मुँह नहीं खुलता।''

मैंने कहा, ''तो हुआ, बस।''

बोलीं, ''सुना है, उनके डॉक्टर साहब उनका बहुत मान करते हैं। अपने को

उनके आगे कुछ नहीं गिनते।''

''सो तो है ही।''

''सुना है, सब धन असल में उन्हीं का है। डॉक्टर का कुछ भी नहीं है। सब उन्हें विवाह में मिला है।''

''किससे सुना?''

''यही औरतों से सुना, और किससे? क्या गलत है?''

मैंने कहा, ''होगा। हमें क्या?''

पत्नी चुप हो गयीं, जैसे विकल्प में हों। अन्तर धीमे स्वर में बोलीं, ''एक बात है। उनका चरित्र अच्छा नहीं सुनती हूँ।''

मैंने चौंककर कहा, ''क्या! चरित्र?''

बोलीं, ''बहुत ऐसी-वैसी बातें सुनने में आती हैं।''

मैंने तब जोर से कहा, ''जिनके कान कच्चे हैं, उन्हें उनमें रुई लगा लेनी चाहिए। ध्यान रखने को सबके पास अपने चरित्र कम नहीं हैं। यह क्या आदत है लोगों की! दूसरे में खोट देखते हैं, अपनी चिन्ता नहीं करते। दूसरे का तिल ताड़, अपनी आँख का पहाड़, कुछ नहीं। सुना? तुम्हें भी यह करना चाहिए। मुझे यह करना चाहिए। हरेक को यह करना चाहिए। कान मूँद लेने चाहिए। चरित्र, चरित्र! क्या होता है चरित्र? सुनती हो? अब से किसी के चरित्र की बात न करना।''

कुछ ऐसे आवेश से मैंने यह सब कहा कि पत्नी को बिगड़ने का भी ध्यान न रहा।

मैंने कहा, ''सुनो। कल तुम खुद उनके यहाँ जाना। डरना नहीं। और जो पूछना हो, पूछना। मन में शक रहने से अच्छा है कि कोई अशिष्ट समझा जाए, पर शक निकालकर साफ कर दे। जाओगी?''

''मैं जाऊँगी?''

मैंने कहा, ''वह मेम साहब हैं, इसी का ख्याल है। नहीं-नहीं, सो कुछ नहीं।''

आशय यह है कि मैं चाहता था और अगले दिन पत्नी उनके यहाँ गयीं।

11

वह लौटीं तो बहुत बातों से भरी थीं। आकर बोलीं, ''तुमने क्यों नहीं बताया कि वह ऐसी हैं? कौन कहता है वह मेम साहब हैं?''

पत्नी उनके प्रति मन को सराहना और सहानुभूति से भिगोकर लायी मालूम

होती थीं। कहने लगीं, वह ऐसी मिलीं, जैसे कब की बिछुड़ी कोई स्नेहिल मिली हो। तनिक भी परायापन नहीं मालूम होने दिया। कहने लगीं कि धन्य भाग्य, नहीं तो कौन हमारे यहाँ पाँव रखने भी आता है! क्रिस्तान जो समझे जाते हैं!

पत्नी ने जो कहा, मैं सब सुनता रहा। संक्षेप में उसका यही भाव था कि उनमें गुमान ज्यादा नहीं है, और वह बड़ी भली हैं, और कि पति उन्हें बहुत प्रेम करते हैं, बहुत आदर करते हैं। पर कहती थीं कि मैं ही उनके लायक नहीं हूँ।

मैंने पूछा, "उस लायक नहीं होने का मतलब भी तुमने पूछा?"

उन्होंने कहा, "वह हँसकर कहने लगीं कि शास्त्रों में जैसी सती-शीलवन्ती भार्या लिखी है मैं वैसी कहाँ हूँ! अँग्रेजी पढ़ी हूँ। मोटर चला सकती हूँ। क्या ऐसी नारी शीलवन्ती हो सकती है?"

मैंने पत्नी से कहा, "तो उनकी बात ठीक है। क्यों... ?"

पत्नी बोलीं, "मुझे तो विश्वास हो नहीं सकता। कोई दुश्चरित्र भला अपने को वैसा बताता है?"

मैंने कहा, "तो?"

बोलीं, "आगे मैंने पूछा तो उन्होंने हँसकर इधर-उधर की बातों में टाल दिया। कहा कि मेरे मन के भीतर का अँधेरा बाहर आएगा, तो वह तुमको अच्छा नहीं लगेगा। उसे कुरेदने में क्या है! उसे मुँदा ही रहने दो। यह कुछ इस तरह कहा गया कि मुझसे फिर आग्रह करते नहीं बना। मैं समझती हूँ कि कुछ बात है जरूर।"

मैंने कहा, "छोड़ो-छोड़ो, होगा कुछ। अपने को क्या?"

उस विषय में पत्नी के वर्णन में मुझे दो सूचनाएँ दिलचस्पी की लगीं। एक तो उनका मन्दिर। दूसरे अँग्रेजियत के बारे में उनकी कड़ी आलोचना।

मन्दिर के बारे में बताया गया कि एक बड़ा-सा कमरा है। उसका नाम जगन्नाथधाम रखा है। घर की सब कीमती चीजें वहाँ हैं। कैश-बक्स और जेवर का बक्स वहीं रखा जाता है। उस कमरे का ताला नहीं लगाया जाता। पश्चिम की दीवार के सहारे पत्थर की वेदी पर सब धर्म-सम्प्रदायों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ रखी हैं। जिनकी मूर्ति नहीं, उनके चित्र। ईसा और बुद्ध की खड़ी प्रतिमाओं के बीच काबे शरीफ की तस्वीर है। घी का एक दीपक चौबीसों घण्टे वेदी के बराबर जला रहता है, सामने एक थाली है, जिसमें कुछ मिट्टी, दूध, फूल, वनस्पति के अंश, अन्न के दाने, जल, एक सोने की मोहर और आदमी के सिर का एक सूक्ष्म अस्थि-खण्ड रखा रहता है। एक तरफ सब धर्मों की किताबें चुनी हैं। ऊपर दीवार पर एक बहुत बड़ा मानव-कंकाल का चित्र है। कमरे में जगह-जगह हर अवस्था की उनकी अपनी तस्वीरें लगी हैं। बचपन की, कैशोर्य की, युवावस्था की, और हाल की। सबसे ऊपर उनकी माता की मृत अवस्था का चित्र है जब वह अर्थी पर ले जायी जाने को हैं। और हरेक के नीचे

एक अस्थिशेष नर कंकाल का चित्र टँगा है। कमरे के फर्श पर कीमती ईरानी कालीन बिछे हैं। मूर्तियों के समक्ष दो संगमरमर की चौकियाँ हैं। एक पर कुशासन बिछा है। दूसरी, जो जरा ऊँची है, बराबर में अनबिछी रहती है। नीची पर आरती के समय खुद बैठती हैं, ऊँची पति के लिए है।

सायं-प्राय: जगन्नाथजी की आरती होती है। आरती वह खुद करती हैं, जिसमें अपनी बनायी कविता पढ़ती हैं। घर के नौकर-चाकर, बाल-बच्चे और पति सब शामिल होते हैं। जिस दिन पति बेकाम अनुपस्थित होते हैं, उस दिन खाना छोड़कर पत्नी प्रायश्चित्त करती हैं। मन्दिर के कमरे में भेद-भाव नहीं रखा जाता। मेहतरानी को कई बार साग्रह शाम की आरती में शामिल किया गया और उसे थाली में से प्रसाद मिला है। नीचे रहनेवाली एक मुसलमान साईस की पत्नी तो अकसर शाम को आरती में साथ होती है। अमीर-गरीब का भेद तो है ही नहीं।

मैंने श्रीमती से पूछा, "यह सब तुम्हें कैसा लगा?"

बोलीं, "क्या बताऊँ, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आया।"

मैंने कहा, "जुनून है। है कि नहीं?"

बोलीं, "मुझे तो यह अच्छे लक्षण नहीं मालूम होते।"

"क्या मालूम होता है!"

पत्नी ने क्षुब्ध भाव से कहा, "क्या जानूँ, क्या होता है। लेकिन कहती हूँ कि ये लक्षण भले नहीं हैं।"

मैंने हँसकर कहा, "तुमने वहाँ उनको समझाया नहीं?"

बोलीं, "उस वक्त तो मुझे कुछ गलत नहीं लग रहा था, बल्कि मुझे ही उनकी श्रद्धा छूती थी। उन्हें अपने जगन्नाथ की बड़ी लगन है। अपने मकान के कमरों के नाम भी सब उन्होंने उसी ढंग के रख लिए हैं। बताया कि यह जगन्नाथजी का बैठकखाना है, वह अन्नपूर्णाजी का भण्डार है, इत्यादि। मैंने उनसे पूछा था फिर तुम्हारा क्या है, सब कुछ तो जगन्नाथजी और अन्नपूर्णाजी का हो गया! उस समय उन्होंने खूब गम्भीर होकर कूड़ाघर को दिखाते हुए कहा कि यह मेरी जगह है। जब मैं जगन्नाथजी को भूलूँ, तो बस यहीं पटकने लायक मुझे समझा जाए। मैं उस वक्त उनके मुँह से इस बात को सुनकर हँस बिलकुल नहीं सकी थी, कुछ ऐसी सौम्यता उनके चेहरे पर थी। इसी से कहे देती हूँ कि लक्षण भले नहीं हैं।"

मुझे विलक्षण मालूम हो रहा था। मैंने अनायास पूछा, "और क्या?"

पत्नी ने बताया, "जब से मन्दिर हुआ है, उनकी आमदनी तब से बराबर बढ़ती जा रही है। अब उन्हें अपने सुख-दु:ख की परवाह बिलकुल नहीं रहती। कहती हैं कि स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहने लगा है। सवेरे चार बजे उठ जाती हैं और आरती-पूजन का वक्त निकालकर बाकी दिन काम में लगी रहती हैं। किसी रोगी और किसी

भिखारी को वापस नहीं करतीं। खुद तो कभी फीस की बात करती ही नहीं; लेकिन अगर उन्हें मालूम हो जाता है कि डॉक्टर साहब ने या किसी असिस्टेण्ट ने फीस के बारे में आग्रह रखा और कोई रोगी निराश लौट गया है तो वह दो-दो रोज के लिए खाना छोड़ बैठती हैं। कहती हैं कि मेरा जगन्नाथ तो सब कहीं है। घट-घट में वही है। तब किसी को घर से निराश लौटाकर मैं दाना मुँह में डालूँ तो मेरा जगन्नाथ मुझे क्या कहेगा! क्या वह नारायण तब कहेगा नहीं कि क्यों री, ऐसी तेरे यहाँ मेरी पूजा होती है! नर के अनादर में कहीं नारायण की पूजा है!''

सब कहकर अन्त में पत्नी ने कहा, ''मैं तुमको सुनाये देती हूँ, इन लक्षणों से वह अधिक दिन नहीं चल सकतीं।''

मैंने टालने के लिए कहा, ''क्यों? इधर वह कोई दुबली हुई तो नहीं दीखतीं, और तुम जैसी भविष्य-ज्ञानी हो, सो मैं जानता ही हूँ।''

उन्होंने प्रकृत भाव से कहा कि ऐसी बातों में तुम क्या जानो। तुम कुछ नहीं जानते। इसमें अँग्रेजी जानने से कुछ नहीं होता है।

मन्दिर के अलावा दूसरी उल्लेखनीय बात अँग्रेजी और अँग्रेजियत के प्रति उनकी कटु-तीक्ष्ण भावना थी। वह अधिकतर आधुनिक और भद्र समाज में मिलती-जुलती थीं। बोलने के अतिरिक्त अँग्रेजी बहुत अच्छी लिखती भी थीं और विलायती रीति-नीति के निर्वाह को ऊपर से तनिक छोड़ती नहीं मालूम होती थीं। पहनावे आदि में लांछनातीत आधुनिक थीं। जिस पर उस सभ्यता की ऐसी भर्त्सना, कुछ समझ में आने की बात नहीं थी। अँग्रेजी को तो वह सराह भी सकती थीं, लेकिन हिन्दुस्तानी जो अँग्रेजी अपनाने में हिन्दुस्तानी ही नहीं रह जाते थे, उनके प्रति वह बिलकुल अनुदार थीं। खुद को वह उसी श्रेणी में गिनती थीं। इस कारण वह अपने से कुछ अधिक ही रुष्ट हों तो कौन जानता है। पर उन्हें इस विलायती संस्कृति का बिलकुल भरोसा नहीं था। कहती थीं कि यह संस्कृति या तो आदमी-आदमी के बीच में स्वार्थ का सम्बन्ध बनाकर हथियार की जरूरत पैदा कर देगी, नहीं तो उनके दर्मियान एक खाई बनी रहने देगी। इस संस्कृति में हृदय नहीं है, हिसाब है। यह संस्कृति ही नहीं है। यह तो बढ़ा-बढ़ी का जुआ है। एक घुड़दौड़ है। संस्कृति उसे कौन कहता है। जो चमक है, वह ज्वरावेश की है; स्वास्थ्य की नहीं है। सन्तोष वहाँ नहीं है। भागा-भागी है, भागा-भागी। इसमें भी शक है कि उस भाग में गति है। वह भागना चक्कर में भागना है। उसकी जड़ में अनीश्वरता है। आत्मा को नहीं जानकर, जाने वे क्या जानते हैं। ये लोग ईमान न होने में ईमान रख सकते हैं। इस सभ्यता में स्त्रियाँ अपने को चाहती हैं, मर्द अपने को चाहते हैं; और दोनों अपने लिए एक-दूसरे को इस्तेमाल करना चाहते हैं। दोनों इस तरह एक-दूसरे को छलने में अपनी कामयाबी गिनते हैं। इससे मनुष्यता को तरक्की मिलेगी! खाक मिलेगी। इससे ध्वंस पास आएगा। यह तो

छीन-झपट और नोच-खसोट है। इसमें उन्नति कहाँ रखी है! मौत, हाँ वहाँ जरूर बैठी है।

इस सम्बन्ध में उनकी आलोचक-भावना तत्त्व से आगे होकर व्यक्ति तक भी पहुँच जाती थी। और यद्यपि आभिजात्य के शील और संस्कार के कारण कोई अभद्रता ऊपर तल पर आकर प्रकट नहीं होती थी, पर उस झुकाव के नर-नारियों के लिए उनके मन में समुचित आदर-भाव नहीं रह पाता था।

उनकी इस वृत्ति के समर्थन के लिए, या उसे समझने के लिए, मुझे कोई कारण नहीं हाथ आता था। क्योंकि उनमें यह आक्रोश है! क्यों उत्कटता है? अभाव जब उनके पास नहीं है, तो फिर किस कारण यह तिक्तता उनके मन में जमकर रह रही है? पत्नी से पूछकर मैंने बहुतेरा पा लेना चाहा कि क्या बात हो सकती है, जो उनके इस दुचित्तेपन का कारण हो, लेकिन कुछ मेरी समझ में नहीं आया।

मैंने पत्नी से हँसकर कहा, ''तुमने फिर उनसे क्यों नहीं कह डाला कि देर किस बात की है? क्यों वह इस लीक को एकदम नहीं छोड़ देतीं? क्यों नहीं आगे आकर सादगी को अपना लेतीं? छोड़ें व्यर्थता और विशिष्टता। साधारण होकर रहें। बढ़-चढ़कर तो खुद रहती हैं!''

पत्नी ने मेरी ओर देखकर कहा, ''सब तुम्हारी मानकर कंगाल हो जाएँ तो बस, चल चुकी दुनिया। फिर भी मालूम होता है कि वह उतनी खुश उस जगह नहीं है, जहाँ कि है।''

मैंने बात को ज्यादा नहीं कुरेदा, क्योंकि आखिर उससे क्या हासिल था।

12

मैं जान-बूझकर ही फिर उधर नहीं गया। जाकर क्या बनाता ? इतने में एक रोज डाक से मुझे एक पत्र मिला, जिसके साथ दो लेख थे। लिखा था कि मैं उन लेखों को देख लूँ और उनसे मिलने को आ सकूँ, तो बड़ी कृपा हो।

लेखों को पढ़कर मुझे विस्मय हुआ। उनमें भाषा पर अच्छा अधिकार था, पर वह तो कोई विशेष अचरज की बात न थी। अजब मुझे यह लगा कि उनमें स्त्री-स्वातन्त्र्य के विचार की खूब खबर ली गयी थी। और विवाह संस्था का बेहद समर्थन था। कहा गया था कि स्त्री-स्वातन्त्र्य और कुछ नहीं, मातृत्व से बचने की चाह है; लेकिन स्त्री भूलती है, अगर वह अपने प्रेयसी-रूप पर मुग्ध है। वह रूप छलना है, वह अनित्य है, क्षणिक है और अगर उसमें मातृत्व है, मातृत्व का फल नहीं है तो वह

निष्फल है, अनर्थकर है। स्त्री की सार्थकता मातृत्व है। मातृत्व दायित्व है। वह स्वातन्त्र्य नहीं है। स्त्री निपट स्वच्छन्द रहना चाहती है, तो उसके मूल में यही अभिलाषा है कि माता बनने से वह बची रहे और पुरुष के प्रति उसका प्रेयसी का रूप ही प्रतिष्ठित बना रहे; लेकिन इससे बड़ी प्रवंचना कोई नहीं है। पीछे इसमें पछतावा ही हाथ रहने वाला है। इस तरह अन्त में केवल एक व्यर्थता के भाव को लेकर मरना नसीब रह जाएगा। पश्चिम उसी प्रवंचना के पीछे है।

पत्नीत्व को दासता कहते हो! हाँ है वह दासता, लेकिन साधना भी वह है। स्वेच्छापूर्वक अगर कष्ट न उठाया जाए, तो त्राण का कोई उपाय नहीं है। विश्व के मूल में यज्ञ है। त्याग पर भोग टिका है। सुख की चाहना यहाँ नहीं हो सकती। सबको सुख नहीं मिल सकता। विशिष्ट वे हैं जो अपने सुखों का विसर्जन करेंगे, कि औरों को सुख मिले। स्त्री को निसर्ग से विसर्जन की पात्रता मिली है। वह सीधा सुख चाहकर अपने विसर्जन के अधिकार से वंचित होती है। वैसे वह अपने अधिकृत सुख से भी वंचित होती है और सुख उसके लिए अनधिकृत है। उसकी पुकार मचाने से कुछ न होगा, कोलाहल बढ़ेगा, दुःख बढ़ेगा। स्त्री को सीखना होगा वही सनातन सतीत्व है। वही उसकी चरम और एकान्त साधना, वही उसका धर्म। उसका अलग स्वत्व कुछ न रहे, सब पति में खो जाए। स्मरण रहे कि पति व्यक्ति नहीं है, वह प्रतीक है। इससे सती को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष हो सकता है। अपंग हो, विकलांग हो, जैसा हो, पति पति ही है। पति देवता है। स्मरण रहे कि देवता अपने-आप में नहीं, सतीत्व की महिमा के प्रकाश में ही वह देवता है। इसलिए व्यक्ति रूप में सन्देह बनकर पति के स्थान में चाहे जो हो, कैसा ही वह अपूर्ण हो, सती उसको भी देवता बना सकती है। उसका क्षमता का द्वार जिसके लिए बन्द है, वह नारी बन्ध्या भली। हिन्दू शास्त्र सच कहते हैं : स्त्रियाँ यह कहकर कि वे शास्त्र पुरुषों के बनाये हुए हैं, अपने को स्वधर्म-पालन से नहीं बचा सकतीं। क्या वे स्त्रीत्व की विडम्बना चाहती हैं!

ऐसी भावनाएँ उन लेखों में भरी थीं। शब्दों से दृढ़ता और आस्था प्रकट होती थी। तरह-तरह के तर्कों द्वारा उन्हीं विश्वासों की वहाँ पुष्टि थी। कहा गया था कि तापसी लोग और समाजवादी लोग एक-से भ्रान्त हैं। एकाकी ब्रह्मचर्य वैसा ही मिथ्या है जैसे वनस्पतिहीन पृथ्वी। जो धरती पर हरियाली नहीं चाहता, वह क्या फिर उसे मटमैली ही चाहता है? अगर कोई धरती को मटमैली और वीरान और सपाट और बंजर देखकर खुश है, तो कहना होगा कि उसकी बनावट में खोट है। रुचि में प्रतिक्रिया है। कुछ उसकी प्रकृति में विकार है। उसके भीतर वह सूख गया समझो, जहाँ से रस का वास है। और वे समाजवादी जो विवाह नहीं, पर समाज चाहते हैं; माताओं के दूध को बाजार में बेचना चाहते हैं; गृहस्थी उजाड़कर जो समाज बनेगा, वह समाज नहीं लश्कर-कैंप होगा।

और प्रेम? प्रभु-प्रेम ही सत्य है। बाकी प्रेम माया है। उस पर घर नहीं बन सकता, जैसे रेत पर दीवार नहीं उठ सकती। प्रेम सदा बेघर है। घर उजाड़ते उसे देखा है। घर बसाये, वह भी क्या फिर प्रेम है! घर में घिरा कि वह उड़ा। प्रेम गगन-बिहारी है। मुक्त होकर ही वह है। बाँधने से वह ठहरता नहीं। इससे प्रेम की बाँध से बचो। प्रेम के गीत भले। उसका राग मन में बसाये रखो पर उसके करने में खैर नहीं। प्रीति पालकर किसने सुख पाया है! प्रीति की रीति है आरती। प्रसाद है उसका वियोग। भोग प्रेम नहीं। नहीं, वह प्रेम कभी नहीं। प्रीति का भोग है त्याग। विवाह और सतीत्व, ये समाज और स्त्री के आधार हैं; क्योंकि इनका आधार त्याग है। शेष वंचना है, छलना है। पश्चिम क्या और पूर्व क्या, सब ओर बात एक है। समाज का सत्य वह है जो दो को एक करता है, वह विवाह। जो दो की दुई को अलग-अलग पुष्ट करती है, ऐसी प्रेम की स्वतन्त्रता अनिष्ट है।

इतने उत्कट प्रतिपादन के लिए मैं तैयार नहीं था। उस भाषा के पीछे मालूम होता था कि जैसे कोई निजता हो, घाव हो। लेखों के साथ जो पत्र था, उससे घबराहट व्यक्त होती थी। उसमें आग्रहपूर्वक चाहा गया था कि निबन्ध मैं देख लूँ और उन्हें कृपापूर्वक अवश्य मिलूँ। अवश्य और अवश्य। किसी दिन चार के लगभग।

लेख तो देख ही लिए, और अगले ही दिन मैं मिला। लेकिन तब कोई काम की बात उन्होंने मुझसे नहीं की। प्रतीत हुआ जैसे उस समय वह कुछ अतिरिक्त सज्जा से सज्जित हो कहीं जा तो नहीं रही थीं। ड्राइंगरूम में बिठाकर मुझसे कहने लगीं—"देखिए, आज के लिए आप चाय अस्वीकार नहीं कर सकते।"

मैंने कहा, "क्यों, आज क्या बात है?"

"आज चाय का वक्त है और मैं कहती हूँ।"

मैंने कहा, "चाय किसी दिन भी ऐसी चीज नहीं है कि जिसे इनकार कर छोड़ना जरूरी हो।"

"तो क्या मँगवाऊँ? दूध? फल? कुछ तो।"

मैंने कहा, "मेरे ही लिए कष्ट है न? कष्ट न कीजिए। आप बैठिए। डॉक्टर साहब इस बार काफी दिन बाहर रहे।"

उन्होंने बेअरा को बुलाकर कहा कि चाय न लावे। सुनकर भी वह खड़ा रहा, तो झल्लाकर कहा, "हाँ-हाँ, सब रहने दो। क्या ताकते हो, कह तो रही हूँ।"

फिर मुझसे पूछा, "तो आप कुछ, कुछ भी नहीं लेंगे?"

"नहीं।"

झींक और झल्लाहट के स्वर में ताकीद के साथ तब उन्होंने बेअरा से कहा, "सुन नहीं लिया? नहीं लेंगे, कुछ नहीं लेंगे, कुछ भी नहीं लेंगे। बस, अब जाओ।"

बेअरा चला गया तो वह मुझे कहने लगीं, "यह आदमी बेवकूफ है। उसे

जानना चाहिए कि आप कुछ नहीं लिया करते। फिर वह क्यों आस रखता है?''

मैंने कहा, ''मेरे बदले आप उससे नाराज न हूजिए।''

सव्यंग्य वह बोलीं, ''नाराज होकर मैं किसी का कुछ बिगाड़ सकी हूँ, अभी तक ऐसा तो मुझे पता नहीं चला। फिर नाराज होकर क्या करूँगी?''

मैंने कहा, ''मैं डॉक्टर साहब की बात पूछ रहा था।''

बोलीं, ''डॉक्टर साहब मुझसे नाराज हैं।''

मैंने कहा, ''नाराज तो वह हो सकते हैं, पर नाराज होकर भी आपकी चिन्ता छोड़ नहीं सकेंगे।''

वह कुर्सी पर पीछे को सिर डालकर बैठ गयीं। बोलीं, ''अच्छा, एक बात बताइए। ठीक-ठीक बताइएगा।''

कहकर कुछ प्रश्न करने की जगह वह समाज के प्रति व्यक्ति की जिम्मेदारी की गुरुता बताने लगीं। सामाजिक नियमों का उल्लंघन उदासीन होकर नहीं देखा जा सकता। मर्यादाओं की रक्षा आवश्यक है, नहीं तो समाज बिखर जाएगा। मनुष्य और पशु में तब भेद नहीं रहेगा। आपसी सम्बन्ध में मर्यादा का निर्वाह हम जब तक करते हैं, तभी तक मनुष्य और पशु में भेद है। पशुओं में एक से दूसरे में विशेषता नहीं होती, सब समान है; सबके अधिकार समान हैं। हर दूसरे की मार खाने को स्वतन्त्र है। पर मनुष्य ने सभ्यता बनायी है, जिसके कारण आदमी और आदमी में विशिष्टता है। सबके पदस्थ भिन्न हैं और कर्तव्य और अधिकार भी भिन्न हैं। सबका धर्म अपनी मर्यादा की रक्षा है। मर्यादित कर्म पशुता है। सुनते हैं आप? समाज-विधान की मर्यादाओं का खण्डन अनिष्ट है। पशुओं का इकट्ठा गोल होता है, रेवड़ या झुण्ड होता है; लेकिन मनुष्य ने एकत्रित होकर अपना समाज बनाया है। नियम हैं, इसी से समाज समाज है। क्या नियम की अवज्ञा की जा सकती है?

इसी भाँति समाज की स्थिरता में व्यक्ति के विसर्जन की आवश्यकता पर कहते-कहते अन्त में उन्होंने पूछा, ''अब बताइए, जो उस समाज-नियम को भंग करता है, उसका क्या होना चाहिए?''

मैंने कहा, ''क्या मैं जज हूँ? मैं तो वकील हूँ, जिसका काम भरसक अभियुक्त के प्रति जज की सहानुभूति जगाना और प्राप्त करना है।''

बोलीं, ''नहीं-नहीं, आप बताइए। दुश्चरित्र का क्या होना चाहिए?''

मैंने कहा, ''होना तो सबको मुक्त चाहिए। उससे इधर-उधर जो समाज के लिए असह्य हो जाता है, उसकी कुछ तो व्यवस्था समाज करता ही है। उसी व्यवस्था में जेलखाने खड़े हैं। और दण्ड-विधान भी है।''

बोलीं, ''नहीं, मैं पूछती हूँ कि दुराचारिणी स्त्री को क्यों नहीं मर जाना चाहिए?''

मैंने कहा, ''राम-दुहाई, जीने से आगे मरने आदि के मामले में हमारी वकालत नहीं चल सकती।''

बोलीं, ''हँसी न कीजिए। मैं सच कहती हूँ। क्या दुश्चरित्र स्त्री को मर जाना चाहिए? वह जीती नहीं रह सकती?''

मैंने कहा, ''क्या ऐसी बातें सुनने के लिए ही मुझे बुलावा भेजा गया था? तब तो मैं क्षमा माँगूँ।''

उन्होंने कहा, ''नहीं, आप जाइए नहीं। बैठिए। मुझसे डरिएगा? पर मैं ऐसी नहीं हूँ। सुनिए, एक बात है। उसी के लिए मैंने आपको बुलाया था, पर वह पीछे। लेख भेजे थे, आपने देखे?''

''हाँ, देखे तो।''

''उनमें मैंने कुछ गलत तो नहीं कहा? आपका मत क्या है?''

''मेरा मत! पर आप अपने से रुष्ट क्यों हैं?''

मानो चौंककर वह बोलीं, ''इससे आपका क्या आशय? मैं वही नहीं मानती जो लिखती हूँ, क्या यह आपका ख्याल है?''

''वह तो नहीं।''

उन्होंने बीच में टोककर जानना चाहा—''तो फिर?''

मैंने कहा, ''अत्याचार कभी अच्छा नहीं होता। अपने ऊपर किया जाए, तब क्या वह अच्छा हो जाता होगा? यह अत्याचार नहीं तो क्या है कि आप अपने को दुश्चरित्र कहती हैं? दुनिया में सत्-स्वरूप कौन है? अगर कोई है तो वह वृथा जीवित है, चाहिए कि वह खत्म हो। जो अपनी सच्चरित्रता पर अभिमान करने योग्य है, सवाल उठता है कि ऐसा आदमी इस धरती पर जिन्दा रहने के लिए बचा ही हुआ क्यों है! जो उसे होना था, हो चुका। अब उसके धरती का बोझ नाहक बढ़ाने से लाभ! ऐसे आदमी को अविलम्ब समाप्त हो जाना चाहिए। दुनिया के हम लोग उसकी समता नहीं कर सकते। सच पूछो तो मौत का अधिकार बस उसी का है। हम अपूर्ण प्राणी उसके अनधिकारी हैं, सुना आपने? यह धरती मुक्त पुरुषों के लिए नहीं बनी है। हम सदोष हैं, यही कारण है कि हम हैं। जीवन की आवश्यकता का समर्थन भी यही है। आप क्या सोचती हैं, कि यह कहकर कि मैं निकम्मा हूँ, मुझे न होने की छुट्टी हो जाती है? जी नहीं। इसी से मैं कहता हूँ कि कोई अपने साथ भी अत्याचारी नहीं हो सकता।''

बोलीं, ''मैं आपकी एक बात नहीं समझी हूँ। देख तो रहे हैं आप मुझे। यह ड्राइंग रूम है, ये कपड़े हैं—कम ठाट-बाट तो नहीं है न? सो क्या यही मेरा अपने साथ अत्याचार है? मेरे पास क्या कमी है? क्या यही मेरा अपने साथ अत्याचार है? तब किस अत्याचार की बात आप करते हैं?''

मैंने स्थिरता से उनकी ओर देखते हुए कहा, ''यह तो मैं आपसे ही पूछता हूँ। आप कहिए कि जो मैंने कहा, गलत है? आप कहती हैं?''

उन्होंने मेरी निगाह को टाला नहीं, मेरी ही ओर देखती रहीं। बोलीं, ''हाँ, कहती हूँ, मेरे बारे में आप गलत हैं। मैं दु:खी नहीं हूँ।''

मैंने हँसकर कहा, ''तब तो सब खत्म है और बहुत अच्छी बात है।''

''हाँ-हाँ, बताइए क्या दु:ख है? डॉक्टर साहब की नाराजी!'' कहकर वह मुस्करायीं, ''पर वह तो आपसी बात है। कुछ रोज में वह मिट जाएगी। फिर क्या दु:ख है?''

मैंने कहा, ''दु:ख नहीं है, इतना ही न ? चलिए, मैंने मान लिया।''

वह गम्भीर होते-होते हँस पड़ीं। बोलीं, ''आप बहस क्यों नहीं करते हैं? क्या वकालत भी ऐसी ही करते हैं? इतनी जल्दी जाने कैसे कोई बात आप मान जाते हैं!''

मैंने कहा, ''नहीं तो, क्या बेबात आपको कष्ट पहुँचाऊँ? पहले तो—।''

''हाँ-हाँ, रुकिए नहीं। कह डालिए कि पहले तो मैं हूँ ही दु:खी। यही न आप कहना चाहते थे? पर छोड़िए उस बात को। यह बताइए कि डॉक्टर साहब का अगर लौटने का इरादा नहीं हुआ तो मैं क्या करूँगी?''

मैंने कहा, ''क्यों, क्या इस शंका का कोई कारण है?''

बोलीं, ''कौन जानता है!''

मैंने कहा, ''यहाँ से दूर रहकर कुछ विशेष काम है, जो वह कर सकते हैं? अगर कोई ऐसा काम न हो, तो नाराजगी अपने ही अवलम्ब पर बहुत देर न टिक सकेगी।''

उन्होंने नीची आँखें करके कहा, ''मुझे यह पाँचवाँ महीना लग गया है। यही जरा ख्याल है।''

सुनकर एकाएक मैं असमंजस में पड़ गया। कुछ कहने के लिए कहा, ''घबराने की बात नहीं है।''

धीमे से बोलीं, ''हमारा यहाँ अपना कोई नहीं है। मैं कहाँ जाऊँगी?''

मैंने कहा, ''घबराइए नहीं, घबराइए नहीं।''

''पिछले साल बड़े अस्पताल गयी थी। ओ:, अब वहाँ नहीं जाऊँगी।''

मैं चुप रहा।

मेरे चुप रहने पर आँख उठाकर वह ज़ोर से बोलीं, ''आप बताते क्यों नहीं हैं कि मैं क्या करूँगी?''

मैंने अत्यन्त आश्वासन के स्वर में कहा कि सोच आप नाहक करती हैं। अव्वल तो डॉक्टर साहब जल्दी आ जाएँगे।

बीच में ही बोलीं, ''सोच मुझे अपना नहीं है। पर बच्चा! वह कहाँ जाएगा?''

मैंने कहा, ''जाने आप कहाँ की बात करती हैं। हम सभी तो हैं, फिर आप।''

उन्होंने मेरी आँखों में देखकर कहा, ''आप मेरा नहीं, बच्चे का जिम्मा तो लेते हैं?''

मैंने कहा, ''ईश्वर सबका मालिक है। आप सब भार उस पर छोड़ सकती हैं।''

उनके चेहरे पर मैंने उस समय जैसे कुछ समाधान की झलक देखी। बहुत धीमे प्रश्वास के साथ सान्त्वना के स्वर में उन्होंने तब कहा, ''ओः, तो आप ईश्वर को मान सकते हैं?''

मैंने कहा, ''मैं तो सबका मालिक नहीं हूँ। फिर कोई मालिक होगा, तो ईश्वर के सिवा वह क्या होगा! मैं जानता हूँ कि चिन्ता को अगर छोड़ा जा सकता है तो मँझधार में होकर बस उसी अतल-अनन्त में छोड़ा जा सकता है, जिसे ईश्वर कहते हैं। जो स्वयं निराधार होकर सब आधारों का आधार है। शेष सब अवलम्ब वृथा है।''

बोलीं, ''अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मैं अपना हाल जानती हूँ। मुझे नहीं, बस बच्चा—।''

मैंने कहा, ''फिर वही। ईश्वर रहते हम-आप कौन हैं? छोड़िए-छोड़िए। अपने को कष्ट आप मत दिया कीजिए। हाँ, यह बताइए कि डॉक्टर साहब का कोई पत्र आया है?''

उन्होंने धीमे-से कहा, ''आया है।''

''आने की बावत कुछ लिखा है?''

उन्होंने टालते हुए कहा, ''सो वैसा कुछ नहीं है।''

मैंने कहा, ''क्या उससे सन्देह होता है कि वह नहीं आवेंगे?''

उन्होंने इस बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वह अपनी जगह से चुपचाप उठकर गयीं और अन्दर से पत्र लाकर मेरे सामने बढ़ा दिया।

मैंने उसे लेने से इनकार करते हुए कहा, ''उसकी कुछ आवश्यकता नहीं है।''

पर उन्होंने अपना हाथ मेरी ओर बढ़ाये रखकर जाने किस स्वर में कहा— ''देखिए!''

मैंने फिर अनिच्छा प्रकट की, लेकिन उन्होंने अपना हाथ वापस नहीं खींचा और कुछ उत्तर भी नहीं दिया।

मैंने पत्र लिया। पढ़ा—

13

बीच-बीच में पत्र पढ़ना मुझे कठिन हो गया। तबीयत हुई, छोड़ दूँ; लेकिन कल्याणी

ने ऐसा न करने दिया। लाचार एक-एक शब्द पढ़ा। पत्नी के लिए उसमें अनकहने आक्षेप और दुर्वचन थे। कुछ ऐसी बातें थीं कि क्या बताऊँ। मैं तो हैरत में रह गया। लिखा था—तुम जानती हो कि तुम्हारी क्या हालत थी, जब मैंने तुमसे विवाह कर तुम्हें बचाया। तुम्हारा कुलीन-विवाह असम्भव था। माँ-बाप को तुम गलग्रह थीं। मैंने ही तुम्हारा उद्धार किया। यह योरुप नहीं कि बड़ी उम्र तक तुम कुँवारी रहो और समाज में स्थिति पा सको। आज दर-दर की तुम होतीं। यह सब अब तुम भूले जाती हो! अपनी हैसियत का ख्याल रखना। तुम्हारे कुल तक पर तो धब्बा है। तब तुम्हारा शील क्या! मैं वकीलों से सलाह ले रहा हूँ। कानून हिन्दू स्त्री को हक नहीं देता। पैसे पर अधिकार मेरा है। तुम समझती हो, तुम कमाती हो? लेकिन तुम आज मुँह भी उठा सकती हो, तो मेरी बदौलत। अपनी डिग्री और काबिलियत का गर्व न करना। मैं न होता, तो तुम्हें जीने को ठौर न था। खैर, अदालत की सहायता से ही हो, मैं अपना अधिकार प्राप्त करूँगा। पुंश्चली स्त्री दया के योग्य नहीं है। समाज उसकी चिन्ता का दायी नहीं। न तो कानून उसे आश्रय देगा। तुम्हारा किया ट्रस्ट भी नाजायज है, क्योंकि मैं कहूँगा कि मेरे दस्तखत फर्जी हैं। यह सब बन्दोबस्त करके ही मैं लौटना चाहता हूँ। तुम रह सकती हो, पर मातहत बनकर। नहीं, तो नहीं। मैं जानता हूँ, तुम्हें सहायकों का सहारा है। पर मुझे देखना है वे कौन हैं और क्या करते हैं। इत्यादि-इत्यादि।

पत्र पढ़कर मैंने सामने गुलदस्ते के नीचे सरकाकर दबा दिया। फिर उनकी ओर देखा।

पर उनके चेहरे पर कुछ नहीं मालूम हुआ। जैसे वह कहीं और हों। मुझे उस तरह देखते देखकर उल्टे वही पूछ उठीं—"आप खत पढ़कर सोच में पड़ गये हैं क्या?"

मैंने कहा, "हाँ। मुझे निश्चय नहीं है कि कानून उनका साथ नहीं देगा, या उनके विरोध में आपका पक्ष लेगा।"

वह सुनती रहीं। अनन्तर मुस्करायीं। बोलीं, "आप उन्हें नहीं जानते हैं। शारीरिक कष्ट के अलावा वह मुझे और कष्ट नहीं दे सकते। मैं अपने ऊपर उनके प्रेम के दावे को जानती हूँ। प्रेम करते हैं, इसी से मार तक सकते हैं, लेकिन वह छोड़िए। मेरे शरीर को उन्होंने इतनी साज-सज्जा में रखा है, अगर उसको वह कड़ी चोट भी दें, तो उनको अधिकार है। उनके दण्ड से मैं बचूँ क्यों! क्योंकि जो पुरस्कार-सिंगार वह मुझे देते रहे हैं वह मेरी पात्रता से बहुत था। उनको मैंने अपना प्राप्य नहीं माना। इसी से जितना मुझसे छीना जाता है, उतनी मुझ पर कृपा की जाती है, उतना ऋण उतरता है पर आप सच माने, डॉक्टर साहब शरीर के अतिरिक्त मेरा कुछ न छुएँगे। और शरीर—रोज तो रोगियों को देखती हूँ। उसकी यथार्थता पर मुझे जुगुप्सा होती। उसकी ममता अब मुझ में बस नहीं सकती। शरीर की ममता! ओह, मैंने किस-किस

अवस्था में उसको देखा है। इससे देह को सजा से सजाया जाए, बेंत से उधेड़ा जाए, या औजारों से चीरा-फाड़ा जाए—सब एक बात है। फर्क ऊपर का है। ममता नहीं, तो फिर आशंका कैसी? इससे आप इस खत को मन में न लें। डॉक्टर मुझे प्रेम करते हैं, कुछ अन्यथा करेंगे तो प्रेम के ही कारण; और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि भौतिक सुख से वंचित वह मुझे अधिक काल देख नहीं सकते। सुनते हैं आप? पर आपको जल्दी तो नहीं है?''

मैंने कहा, ''जरूरत हो तो मैं बैठा ही हूँ।''

''कृपा है। लेकिन आप मेरा विश्वास करेंगे?''

मैंने साश्चर्य उनकी ओर देखा।

''मुझे डॉक्टर साहब की धमकी की चिन्ता नहीं है, लेकिन एक बात मैं आपसे कहती हूँ कि आप मेरा अविश्वास नहीं कर सकेंगे।''

मैं कहना चाहता था कि अकारण अविश्वास करने की आदत क्या मुझमें अब तक पायी गयी है? लेकिन किसी प्रकार का उत्तर उन्होंने मानों अपनी ही ओर से मेरे लिए अनावश्यक बना दिया। वह कहती रहीं—''मरता तो आदमी जरूर है। हर कोई मरता है, लेकिन मरने के बाद क्या होता है, बताइए तो। बताइए, बताइए न कि आप क्या मानते हैं।''

मैंने कहा, ''मैं इस विषय में कुछ भी मानने का कष्ट नहीं उठाना चाहता।''

''मर कर उसका जन्म तुरन्त हो जाता है या कुछ काल प्रेत-योनियों में रहना होता है? आत्मा तो नहीं मरती न? और मौत भी दो तरह की होती है। स्वाभाविक मौत और अकाल मौत। कोई अपघात कर ले, या कोई मार डाला जावे, तो आप क्या समझते हैं कि उसकी वैसी ही गति होगी जैसे प्राकृतिक मौतवाले की? बोलिए।''

मैंने उठना चाहते हुए कहा, ''मैं ऐसी बातों के अयोग्य हूँ।''

''नहीं-नहीं, जाइए नहीं। सच पूछती हूँ, मृत आत्माएँ क्या दीख नहीं सकतीं? या वे दीख सकती हैं?''

मैंने कहा, ''यह आपको क्या हुआ है! मुझे जाने दीजिए।''

बोलीं, ''सुनिए मैं कहती हूँ कि मैं अपना अविश्वास कब तक कर सकती हूँ? किताब की बात नहीं है, पढ़ी-सुनी बात नहीं है। देखी-भाली कहती हूँ। चार रोज से बराबर वही देख रही हूँ। ठहरिए, हुलिया बताती हूँ।''

मैंने फिर कहा, ''आप यह कह क्या रही हैं?''

बोलीं, ''सुनिए। रंग गेहुआँ, चश्मा लगाते हैं, कद बड़ा। सुन्दर दीखते हैं।''

मैंने झल्लाकर कहा, ''छोड़िए, छोड़िए। यह आपको हुआ क्या है?''

बोलीं, ''क्या आप मानते हैं कि मैं अपने होश-हवाश में नहीं हूँ? मैं उस आदमी को हजारों में पहचान सकती हूँ। मूँछें छोटी, बालों में लहर, विलायती लिबास

में रहते हैं, उम्र कोई चालीस।''

मेरी बेताबी भाँपकर उन्होंने कहा, ''मैं सब कहती हूँ सुनिए, लेकिन आप कहिएगा नहीं, किसी से न कहिएगा। मैं किसी का अनिष्ट नहीं चाहती। हमारे घर के गुसलखाने में एक युवती की हत्या की गयी है!''

मैं इसके लिए तैयार न था। कहा, ''क्या? कब? आप दीवानी तो नहीं हो गयी हैं।''

''ना, दिन ठीक नहीं बता सकती। नहीं, दीवानी अभी नहीं हूँ। वह युवती घर में मुझे कई बार मिल चुकी है। क्या वह जीती है? या मर गयी है! उसकी हत्या हुई थी। वह मुझे कुछ बताती नहीं है। उसके ओंठों से आवाज नहीं निकलती, लेकिन मैंने खुद देखा कि उसे गला घोंट कर मारा गया था। गला घोंटे जाते हुए तो खुद नहीं देखा, लेकिन मैं कह सकती हूँ कि उसकी हत्या हुई है।''

सुनते-सुनते मेरे चित्त को समाधान-सा अनुभव हुआ। भला ऐसी कहानियाँ हम में से किसने नहीं सुनी होंगी! मैंने हँसकर कहा, ''आप भी कैसी बातों पर विश्वास करने चली हैं!''

वह हठपूर्वक बोलीं, ''विश्वास नहीं तो क्या अविश्वास करूँ! अपनी आँखों का विश्वास न करूँ, तो विश्वास किस बात का करना होगा। बताइए तो? अगर यह विश्वास कर सकती हूँ कि अब दिन है और आप सामने बैठे हैं, तो पहली बात का भी अविश्वास नहीं कर सकती।''

मैंने उस विषय को टालना चाहा, लेकिन मेरा यत्न व्यर्थ हुआ।

बोलीं, ''देखिए, इस बारे में आप मुँह न खोलिएगा। जो अभी मालूम नहीं है, वह आगे भी मालूम न हो; लेकिन अगर मन की बात निकल सके तो पता भी हो सकता है कि मैं सच कहती हूँ, या क्या? इधर रोज जो आँखों से देखती हूँ, वह झूठ है तो फिर सच नाम का पदार्थ इस दुनिया में कहाँ मिलेगा? ओह, मुझे उस आदमी पर बड़ी दया आती है। और वह नयी उम्र की युवती—वह तो मेरी हर घड़ी की साथिन हो गयी है!''

कल्याणी की इस हालत पर मुझे विस्मय हुआ। विक्षेप कहकर मैं उनकी उस अवस्था को टाल नहीं सका। जैसे कोई तकलीफ भीतर से उन्हें मथ रही हो। फिर मैं टालता भी तो क्या वह उद्वेग टल सकता था! अनिवार्य था कि मैं सुनूँ और सुनता जाऊँ। मैंने सुना और सुनकर उस विशृंखल उद्‌गार का जो भाव मैं बना सका, वह यह है—

कोई एक महीने से गुसलखाने से सिसकी की आवाज उन्हें सुन पड़ती थी। जैसे कोई मुँह दबाकर रोता हो। साँझ का अँधेरा गाढ़ा होता कि आवाज शुरू हो जाती। पहले तो वह सुनती रहीं और टालती गयीं। सोचा कि होगा कुछ। कहीं मन का भ्रम

ही न हो, पर चीज वह टाले टल न सकी। जैसे वह आवाज उठती हो, तो अन्दर, कलेजे को पकड़ लेती हो। कई बार झपटकर वह वहाँ गयीं, पर देखें तो कहीं कुछ नहीं। पहुँचने पर सब सुनसान दीखता था। वह लौट आतीं और अपनी घबराहट पर हँसना चाहतीं। ऐसे कई दिन निकल गये। हठात् उधर से ध्यान मोड़ना चाहा, पर रह-रहकर सिसकी भरती किसी स्त्री की आवाज कानों पर आती ही थी। सुनकर जी में हौल चढ़ती थी, कुछ सूझता नहीं था। एक रोज आधी रात बीते वह सपने से चौंककर जगीं। सन्नाटा था। बत्ती मद्धम जल रही थी। सपने सिर में घूम रहे थे। तभी सुनती क्या हैं कि जैसे गुसलखाने में कुछ फुस-फुस आवाजें हो रही हैं। कमरे में वह अकेली थीं। मारे डर के वहीं-की-वहीं वह गड़-सी रहीं। पर कान चौकन्ने थे और चेतना उद्दीप्त थी। कुछ देर में वह आवाजें जरा प्रबल हुईं। जैसे किसी स्त्री और पुरुष में बहस छिड़ी हो। बहस जरा में बखेड़ा बन आयी। अब कुछ साफ सुनाई देने लगा।

एक पुरुष-कण्ठ ने कहा, ''चुप नहीं रहेगी, क्या?''

स्त्री-कण्ठ ने उत्तर दिया, ''मैं नहीं रहूँगी चुप। कभी नहीं रहूँगी। मुझे मार क्यों नहीं डालते! लेकिन चुप मैं नहीं रहूँगी। मैं—।''

''नहीं रहेगी? मुझे गुस्सा मत दिला।''

''जो मन में है पूरा क्यों नहीं कर डालते हो? लो मुझको मार डालो। पर समझ रखना, चुप मैं मरने के बाद भी नहीं रहूँगी।''

''नहीं रहेगी?''

''नहीं, नहीं, नहीं रहूँगी।''

''देख, मैं फिर कहता हूँ—''

''नहीं, नहीं, नहीं...हाँ, घोंटो गला।''

''नहीं? तो ले, मत रह चुप।''

उसके बाद आवाज कुछ भर्रायी-सी निकली। छटपटाहट सुनाई दी और धीमे-धीमे सब शान्त!

कल्याणी तो जैसे इस पर पत्थर बन आयी थीं। मति-गति उनकी खो गयी थी। इतने में पथरायी आँखों से देखती हैं कि एक आदमी उसी तरफ से आकर उनके कमरे से आर-पार चला जा रहा है। उनकी घिग्घी बँध गयी। डर के मारे चीख भी न सकीं। क्षण में वह आदमी जाने कहाँ बिला गया। उन्हें पसीना छूट चला था। कुछ पल बाद होश हुआ, तब जोर से वह चीखीं। लोग जग आये, पर तब सब लुप्त हो चुका था। कल्याणी आँखें फाड़े जमा हुए उन सब नौकर-चाकरों को देखती रह गयीं। कुछ भी मुँह से न बतला सकीं।

उसके बाद उनका कहना था कि कई बार वह स्त्री उन्हें दीखी है। इधर तीन रोज से वह पीछा ही नहीं छोड़ती। जब उसका गला घोंटा जा रहा था और आँखें निकल

पड़ रही थीं, उसकी वह मूर्ति बार-बार सामने आ खड़ी होती है। गुसलखाने में कल्याणी नहीं जातीं, पर वह कमरे में आ जाती है। मन से वह दूर नहीं होती। छरहरे बदन की अतिशय सुन्दरी, अभी जैसी सयानी उमर भी नहीं है, गर्भवती है। अब भी वह इस घर में रहती है और रोज मिलती है। कल्याणी बचती है, पर कहाँ बचें? उसकी फटी आँखें, कातर मुद्रा—

सुनकर कल्याणी के प्रति मैंने संवेदना प्रकट करनी चाही; पर उपाय न दीखा। मैंने कहा, ''आप मन से उस दुःस्वप्न को निकाल ही दीजिए।''

पर कल्याणी ने स्वप्न होने की बात को तनिक भी मन पर नहीं लिया और वह उसी युवती में तन्मय होकर कहने लगीं, ''मैं उससे बात करना चाहती हूँ। पर वह मुझे जैसे दीखती भी नहीं मालूम होती—आप एक काम करेंगे?''

इस प्रश्न पर मैं चुप प्रतीक्षा में रह गया।

''बता सकेंगे, क्या कुछ वर्ष पहले यहाँ कोई महाराष्ट्र परिवार रहता था? वह स्त्री महाराष्ट्रीय थी। पर वह कौन थी? क्या पुरुष की पत्नी थी? नहीं तो फिर कौन थी? देखती हूँ, आप इसे सच नहीं मानते।''

मैंने निश्चित ध्वनि में कहा, ''हाँ, सच नहीं मानता और आपको वहम छोड़ने की सलाह देता हूँ। यह सब दिमाग की खराबी है।''

उन्होंने जवाब में कुछ कहना चाहा, लेकिन मैंने टाल दिया। कह दिया, ''मैं यह कहने की तो जिम्मेदारी नहीं लेता कि जीवित मनुष्यों के अलावा कहीं और कुछ है ही नहीं, लेकिन जीवित मनुष्य के पास अपना जीवन ही बहुत कुछ है। उसकी ओर से जब वह खाली होता है, तभी और बातें घेरती हैं। जी नहीं, मैं किसी महाराष्ट्र परिवार के अनुसन्धान में नहीं लगना चाहता।''

उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा, ''आप जो समझें। आपको हक है कि मुझे आप झूठा मान लें।''

मैंने पूछा, ''विभा और प्रभा कहाँ हैं? कमरे में वे आप ही के पास सोती हैं न?''

बोलीं, ''नहीं। दोनों कॉन्वेण्ट में ही रहती हैं।''

''कमरे में आप अकेली सोती हैं?''

''हाँ! तो?''

मैंने स्त्री को हिदायत से भरकर कहा, ''जी नहीं। अब से ख्याल रखिए, कमरा अकेला नहीं रहना चाहिए।''

हँसकर बोलीं, ''आप मेरा दिमाग कमजोर मानते हैं! अच्छी बात है पर शायद है कि दिमाग की कमजोरी न हो, सच्चाई हो। अतीत हमारी चेतना पर क्यों झलक नहीं सकता? क्या वर्तमान और वास्तव ही सत्य की परिधि है? उनके पार सब मिथ्या है? नहीं, कोई यह नहीं कह सकता।''

मैंने सलाह दी, ''आप मकान बदल दीजिए।''

हँसकर कहने लगीं कि इस सलाह में कोई विशेष बल है, यह दावा तो शायद आप करना नहीं चाहेंगे?

मैंने कहा, ''अच्छा, तो फिर कुछ दिन बाहर घूम आइए। पत्नी तीर्थयात्रा को जाना चाहती हैं। साथ में विभूति (मेरा बड़ा लड़का) होगा। आप भी तीर्थ कर आइए, मन बहलेगा।''

बोलीं, ''मैं बहुत चाहती हूँ, लेकिन क्या करूँ!''

मैंने कहा, ''क्यों, बाधा क्या है?''

बोलीं, ''मेरा भाग्य जो बाधा है!''

मैंने कहा, ''तो सुनिए। पाँच-सात रोज हमारे यहाँ आकर रहिए। इस बीच मैं इस मकान की व्यवस्था को बदलकर नया करा डालता हूँ।''

लेकिन उन्हें कुछ स्वीकार न हुआ। मैंने माथा ठोंक लिया। सोचा—तिरिया-हठ। और नहीं तो क्या? सो, मैं बुरा मन लेकर लौटा।

14

लौटकर मैंने तय कर लिया था कि मैं उधर नहीं जाऊँगा। क्या फायदा? उस मनोदशा में मैं क्या कर सकता था। तब सरोकार बेकार। वृथा अपने को भी कष्ट क्यों दूँ! जानता था कि पति-पत्नी की अनबन है, सो कहाँ नहीं होती? पर अनबन नित्य तत्त्व नहीं है। आज नहीं तो कल, मेल हो ही जाएगा। जानता था कि डॉक्टर लौट आएँगे और कुछ कहा-सुनी के बाद यथापूर्व हो जाएगा। सो परेशानी बेकार।

पर गया नहीं, तो यह नहीं कि उधर की सोचने से ही छुट्टी पायी। ख्याल उस ओर जाता ही था। आगे का या पीछे का सब ख्याल खामख्याली है। 'गतासूनगतासूश्च नानुशोचंति पण्डिताः'। पर पण्डित कोई हो तब न! सोच होता था कि अगर उस नारी की नियति ने कुछ सरल और समतल परिस्थिति जीवन की दी होती, तो क्या बुराई थी? यह क्या बेहतर न होता? क्या उपयोगिता अधिक न होती? क्या यह अधिक सुन्दर और श्रेयस्कर न होता?

पर मनुष्य सोचता रहता है और होनहार होता रहता है। यह नहीं कि होनहार में मनुष्य के सोच-विचार की गिनती नहीं है। सच यह कि जो होता है हमारे द्वारा ही होता है। फिर भी वृथा विचार कष्ट ही उपजाता है। इससे आवश्यक है कि विचार

हो, तो अव्यर्थ हो । भवितव्य के साथ जो मन्तव्य एकरस है, वह ही है, शेष क्लेश है।

मैं प्रश्न नहीं उठाता। प्रश्न में आग्रह है। वह अस्वीकृति की पद्धति है। और मैं, जो है, सबको स्वीकार करना चाहता हूँ। सत्य किसी से बहिर्गत नहीं है। न सत्य से कुछ बहिर्गत है। भेद इतना ही है कि जितना और जो दीखने-जानने में आता है, सत्य उतने में समाप्त नहीं है, पर सत्य से वह अन्यथा भी नहीं है। इससे माया भी सत्य की ही माया है।

अस्वीकार द्वारा हम क्या पाएँगे! वह बुद्धिवाले ज्ञान की पद्धति है। इनकार करो और मिटाते चलो—न इति, न इति। यही है 'प्रोसेस ऑफ एलीमीनेशन'। निःसन्देह परम तत्त्व के लिए 'नेति' से सही परिभाषा दूसरी नहीं है, पर 'नेति' में तत्त्व स्वयं कुछ नहीं है। उसमें अर्थ है तो यह अर्थ है कि मानव-भाषा अपूर्ण है। और जो ज्ञात है, ज्ञातव्य सदा उससे आगे हैं। इससे निःसन्देह निषेध गति में तो काम आता है, पर लब्धि में काम नहीं आता। जो है वह न-कार नहीं है। परमात्मा इनकार तनिक भी नहीं है। वह सबका सदा सर्वथा स्वीकार है।

तर्क सच्चाई को नहीं लपेट पाता है। फिर भी तर्क होने के सबब लाचार हो वही करना चाहता है। वह वास्तविकता को आयत्त करना चाहता है। मन से उठ-उठकर कल्पनाएँ दौड़ती हैं और अपने तन्तुओं में लपेटकर मानों सत्य को बुन लेना चाहती हैं। पर मानव का यह भ्रान्त प्रयास है। समझना पूरा कभी हो नहीं सकता। समझ में कण भी पूरी तरह नहीं आ सकता। जो है वह समझ से ऊपर है। सत्य अहंरूप नहीं है और जानना हठात सब अहंरूप है। इससे सत्य जाना नहीं जाता। उस परमार्थ को जो जानकर चुका देना चाहता है, वह उँगलियों से आकाश को पकड़कर मानो पेट में समा लेना चाहता है। पर जो यथार्थ ही है, वह बुद्धि के लिए सदा प्रश्नरूप है। अतः वह सदा अजेय है। इसी से जीवन का लक्षण चुनौती नहीं है और जो बुद्धि के हाथों में पालतू-सा दीखता है, वह सत्य भी नहीं है। समझ को चेताता हुआ, चौंकाता हुआ, जो स्वयं काल-गति द्वारा सम्पन्न हो रहा है, वही तो है सत्य। समझ कुछ उसका समझना चाहती है, तो अपने को अपनी जगह रखे। चाहिए कि वह सत्य के प्रति सदा प्रश्न और नतमस्तक रहे। *सत्-ज्ञान सतत जिज्ञासामय है।*

सच कहूँ, तो सच यह है कि विस्मृति हमसे सही नहीं जाती। अछोर में होकर हमसे जिया नहीं जाता। परिमाण में बँध लेते हैं, तब कहीं साँस-में-साँस आता है। पर इस अनन्त के बीच सीमाएँ हैं सब झूठ हैं। यह तो हम ही हैं कि अपनी क्षुद्रता की रक्षा में सत्य पर दीवारें खड़ी करके चारों ओर की दिशाओं को अपने पर बन्द करते हैं, ऊपर छत छाकर आसमान को मूँदते हैं; और जब इस तरह घोंसले में घुस बैठ जाते

हैं, तब अपने को सुरक्षित मानते हैं। यह है हमारा हाल। इसके अभाव में हम बेहाल हैं। ऐसे हम एक साथ मकान के कैदी होकर मकान के मालिक बना करते हैं। और करें भी क्या! परिमिति के बाहर हमसे जिया कब जाए? तब अपनापन ही हमें दूभर हो आए। इसलिए अपनी मर्यादा को अपना स्वत्व मानकर हम मानव-प्राणी गर्व अनुभव करते और डींग मारते हैं। यही है हमारी मानवता।

हमारी धारणाएँ हमारी बन्द कुठरियाँ हैं। उनमें ही हमें ठिकाना है। वे हमें गर्म रखती और अँधेरे में रखती हैं। हमारा ज्ञान हमारा बन्धन भी है। हमारे सारे सगुण विशेषण मानों चौखटे हैं, जिनमें हम अपने को और औरों को जड़कर देखने के आदी हैं। यह है पापी, वह धर्मी। झट ऐसे विशेषणों को आगे लाकर मानों हम उससे अपना मुँह बचा लेते हैं जो निरन्तर हमारे सम्मुख है, जो इतना यथार्थ है कि शब्द उसके समक्ष निःशब्द हैं। शब्दों में वह समा नहीं सकता। शब्दों की मूँद उसके लिए नहीं। अरे, हम थोड़ी भी देर के लिए शब्दों के घेर से निकलकर, निर्वाक्, क्यों नहीं खुली धूप और खुली हवा जरा ले लिया करते। शायद अधिक तो हमसे सहा न जाए, बन्दी रहने के इतने हम आदी हैं। फिर भी धीमे-धीमे सहनशक्ति पैदा हो सकती है। अपने बन्दपन पर गर्व करना छोड़ना तो हम सीख ही सकते हैं। और इस विश्व में किसी को भी अपने से हीन मानना मानो अपने ही बन्धन पर डींग मारना है। इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है? जो अपने को और अपने मन्तव्य को दूसरे से और उसके मन्तव्य से अधिक मानता है, वह उतना ही अपने को और अपनी मान्यताओं को मन्द और सँकरी बनाता है।

पर यह मैं क्या कह रहा हूँ? अपने हक से शायद मैं आगे जा रहा हूँ। दुनिया में औरों की तरह घर-बार घेरकर मैं भी अपने तईं बस रहा हूँ। विस्तार से बचा हूँ और सुरक्षा की चिन्ता में अपने को बराबर जकड़कर घटाता रहा हूँ। वकालत की है, कमाई की है, कुनबा बनाया है, हवेली बनायी है। इस तरह अहंकार का पसारा पसारकर अहंघात किया है। शरीर को फुलाया और आत्मा को लुंज किया है। और मैंने जीवन में क्या किया है! कब मैं अहं की गँधीली गाँठ को लेकर चल पड़ा हूँ कि सूरज की धूप में उसे खोल दूँ, जिससे रोग मिटे, स्वास्थ्य मिले। पर कहाँ? मैं तो उसी गाँठ को चूसता हूँ, चूसता रहा हूँ। यहाँ तक कि उसकी बास मेरे सारे तन में और मन में बस गयी है। इससे मैं धूप और हवा की बात क्या करने लायक हूँ!

पर मैं क्या कहने चला था? हाँ, कहानी कहता था। कल्याणी नाम की महिला की बात थी। जी, वह शेष नहीं हैं, कालगत हैं। बस याद कुछ शेष है। सोचता हूँ कि अशेष की गोद में उस अवशेष को भी क्यों न खो दूँ? क्यों? क्यों कुछ संत सँभालकर पास रखे रहूँ? यहाँ बिना मरे किसको जीना है? और मौत की याद से जीवन की ज्योति को घटाने से क्या लाभ है? पर उस याद से छुट्टी सहज भी तो नहीं है।

और वह याद चाहने पर जीवन-संवर्धन के काम भी कभी-कभी आ जाया करती है।

पर उसका तरीका है। शब्दों द्वारा स्मृति की वेदना को टालते नहीं रहना चाहिए। यों उसे खर्चना भूल है। शब्द अधिकतर झूठ हैं। मन की तकलीफ को ही जब वे बढ़ावें और उस तकलीफ से जब वे बनें, तब तो है सच, अन्यथा मिथ्या है। भाषा बस पहरावन है और शब्द कोई भी सार-सत्य को नहीं पकड़ सकता।

शाब्दिक विशेषण मेरे काम नहीं आते। सब उथले, ओछे रह जाते हैं। आप ही बताइए, कल्याणी असरानी की याद को मैं क्या कह दूँ कि वह खोटी थी? या यह कहूँ कि वह अच्छी थी? पर बुद्धिनिर्मित ये सब शब्द सतत की लहरों को गिनते हैं, गहराई को वे कहाँ नापते हैं? क्या वे उसको तनिक भी पाते हैं जो अन्तर्गत है? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दों में आता है? रेखा में बँधता है? पर माँग है कि उसी को पाओ। किन्तु अन्तर में ही उसे पा सकते हो, ऊपर लाकर जो देखोगे और दिखाओगे वह, वह नहीं है। आँखों से ओझल है, वह शब्दों से भी पार है। उसे बस पार ही जानो।

सच यह है कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे सँजोते रहना चाहिए। वह व्यथा ही है शक्ति। उसमें किसी का साझा नहीं। उसका दान गलत है। संचय ही उसका इष्ट है। उच्छ्वास में भी उसे व्यय करना भूल है। जितना अंश उसका आनन्द बन जाए, उसी में से खर्च कर सकते हो। बाकी को तो आग के रूप में भीतर रखना ही श्रेयस्कर है। भीतर सुलग निरन्तर चाहिए, बाहर झुलस ठीक नहीं।

पर मेरी बिसात कितनी? मैं अदना आदमी। इसी से यह कहानी ले बैठा। कहानी का भला क्या कहना! यहाँ करने को कम नहीं है। करने से कतराकर कहने में मन गँवाना मालिक की चोरी करना है। पर मेरी समरथ थोड़ी है और मालिक का पूरा हक अदा कर सकने से मैं अपनी हार मान बैठा हूँ। इससे बेचारा बनकर कहानी ही कहता हूँ।

पर उस कहानी में अब विशेष शेष नहीं है। मैं नहीं जानता कि उससे तुम्हारा अनुरंजन हुआ है या होगा। फिर भी तुम चाहते हो कि मैं अन्त तक चलूँ। सो अच्छा, चलो।

उस दिन के बाद, जैसे मैंने कहा, मैंने तय किया था कि उधर न जाऊँगा न ध्यान दूँगा। विधाता का काम है, वह देखें-भालें। बीच में मैं आनेवाला कौन? मनुष्य के पास अपना आपा कम नहीं है।

पर तर्क व्यर्थ है। न कोई अपने को एकान्त बना सकता है, न कभी बना सकेगा। अपने में सिमिटकर बना सकते हो अपने को शून्य, लेकिन शून्य की भी सत्ता है। सत्ता का मतलब कि उसका भी अन्य से नाता है। इसी कारण शून्य में भी अगणित सम्भावनाएँ हैं।

इन्हीं दिनों की बात है कि कल्याणी के चरित्र की एक नयी सम्भावना मेरे सामने आयी।

15

एक परिचित युवक आये। मैं एकाएक पहचान नहीं सका। सम्भ्रम और सम्मानपूर्वक मैंने उन्हें कुर्सी देकर कहा कि कहिए।

कुछ मुस्कुराकर मेरी ओर देखकर वह बोले, ''आपने पहचाना नहीं ?''

गौर से देखा, फिर भी नहीं पहचाना। मैंने लज्जापूर्वक क्षमा माँगी।

''मैं पाल हूँ। सन 19...।''

''ओह पाल! राम-राम, क्या से क्या हो गये हो! बिलकुल ही अँग्रेज! कहो-कहो, कहो भाई!''

मैंने उसके हाथ को खूब झकझोर के हिलाया। पूछा कि कब आये ? कहाँ हो ? अभी रहोगे न ? खुश तो हो ? क्या हाल है ? इत्यादि।

उसने कहा, ''दो-एक रोज हूँ। आपकी दया है। हाल अनिश्चित। सोचा, मिलता चलूँ।''

मैंने कहा, ''यह तो बहुत ठीक किया। और सुनाओ। यह क्या ढंग देखता हूँ ? तुम तो घोर स्वदेशी थे। अब यह धज! तुम्हीं बताओ मैं तुम्हें पहचानता तो किस बेशर्मी से पहचानता ?''

पाल हँस दिया, ''हाँ-आँ आँ।''

मैंने कहा, ''बहुत सकुचो मत। तुमसे इतना बड़ा नहीं हूँ कि और 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे...' तुम तो जानते हो। और अब यह नियम भी पुराना हुआ कि बुजुर्ग को बुजुर्ग समझा जाए। हाँ-हाँ, याद आया। तुम तो शायद आजकल जरूरी आदमी हो।''

पाल ने धीमे-से कहा, ''आप तो जानते ही होंगे।''

मैंने कहा, ''क्या ? कहाँ, मैं क्या जानता हूँ ? लिहाज छोड़ो। कहते चलो। हाँ-हाँ, कह डालो।''

पाल ने कुछ हँसकर धीमे से कहा, ''आप जानते तो होंगे ही कि मैं इस वक्त फरार हूँ।''

मैंने अविश्वास के स्वर में कहा, ''क्या, फरार ? क्या मतलब ?''

उसने कहा, ''मेरे नाम वारण्ट है। मैं एब्सकौण्ड कर रहा हूँ। आप नहीं जानते ?''

मुझे ध्यान नहीं था। वैसी बातों की खोज-बीन रखने का मेरा संस्कार नहीं है। मैं कह उठा, ''क्यों?''

पाल ने हँसकर कहा, ''उस षड्यन्त्र केस की बाबत आपने पढ़ा ही होगा।''

अब मुझे सब याद आया। तो पाल महाशय इस काम में हैं और अगुवा हैं। यह लो, भला मैं यह सोच भी सकता था? उन दिनों का सीधा-सा व्रजपाल और क्रान्ति-लाल! Red revolutionary? वाह, यह भी अजब तुक हुई! लेकिन नियति की लीला को कोई नहीं जान सकता और आदमी की लीला को भी कोई नहीं जान सकता। कहते हैं, सबमें सब गुन हैं। बात ठीक मालूम होती है, पिण्ड में ब्रह्माण्ड है।

मैंने कहा, ''कोई बात नहीं। भला किया कि तुम मिलने आये। हो तो यहाँ ठीक? मेरे लायक कुछ हो, तो बताना।''

उसने कहा, ''हाँ ठीक हूँ। क्या वक्त पर आपके आश्रय का विश्वास कर सकता हूँ?''

मैंने कहा, ''सो तो जरूर कर सकते हो। कानून मेरा खुदा नहीं है। लेकिन तुम लोग सामने से बढ़कर उसका मुँह क्यों नहीं पकड़ लेते हो! पीछे से वार करते हो। भला इससे क्या होगा? तभी तो है कि जब कानून की तरफ से वार आता है, तो तुम्हें पीठ दिखानी होती है। हम तो यही समझते हैं भाई कि छाती पर वार देना और वार लेना चाहिए। क्यों?''

पाल खुशी से मुझसे बहस करने को तैयार हो गया, पर जवानों की बहस से मैं हारता हूँ। बात पीछे छूट जाती है, क्योंकि जवानी आगे आ जाती है। तब कीजिए, क्या कीजिएगा? जोर से बोलिए या तेजी से हवा में मुक्के चलाइए—यह काम आप बढ़-चढ़कर नहीं कर सकते, तो बहस मत करिए। मैंने पहले ही हार मानी। कहा, ''सुनो पाल, बहस मैं न कर सकूँगा, लेकिन मेरा ख्याल है कि कानून को सुधारना-तोड़ना है, या उसके तख्ते को उलटना-पलटना है तो यह सब सामने से होगा, पीछे से नहीं होगा। इससे बेहतर मैं यह समझता हूँ कि कानून से बचो नहीं, और न उसको अपने से बचने दो। चलने दो खुली लड़ाई, शहीद कहीं पराजित हैं? लड़ाई का खात्मा आज तो नहीं है न? इससे हार में भी हार नहीं है।''

पाल के ऊपर किन्तु बहुत उत्तरदायित्व था। उसकी जान की बात नहीं थी। क्रान्तिकारी जान की बात तो कभी सोचते नहीं। पर उसने कहा, ''बाहर आन्दोलन को देखना-भालना भी है।'' उसका ख्याल था कि क्रान्तिकारी आन्दोलन राष्ट्रीय जागरण में कभी अनावश्यक नहीं है। वह राष्ट्र जागरण की पहली स्टेज हो सो नहीं, उसकी सतत आवश्यकता है। असल में वह युद्ध का अग्रिम मोर्चा है। हम लोग फारवर्ड्स हैं। .

मैंने कहा, ''जो हो, तुमको यहाँ कुछ कष्ट तो नहीं है?''

उसने कहा, ''मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ, और एक बहुत विश्वसनीय जगह हूँ। वहाँ कोई कष्ट नहीं है।''

मैंने यह जानकर सन्तोष प्रकट किया। कहा, ''मैं तुम्हारे मार्ग के अनुकूल नहीं हूँ, इस पर तुम मत जाना। जानते हो कि मैं तुम्हारा बुरा नहीं चाहता।''

उसने कहा, ''आश्वासन अनावश्यक है। मैं आपका अविश्वास करता तो आता क्यों, पर क्या आप मिसेज असरानी को जानते हैं?''

''मिसेज असरानी! क्यों, जानता तो हूँ।''

''आप क्या ख्याल करते हैं?''

''क्या मतलब?''

पाल ने बात साफ नहीं कही। यही पूछा, ''उनके बारे में आप क्या जानते हैं?''

मैंने कहा, ''अभिप्राय जानूँ, तभी शायद कुछ काम का उत्तर देने लायक मैं हो सकता हूँ।''

पाल ने कहा, ''सो कोई खास बात नहीं है।''

मैंने पूछा, ''क्या वह तुम्हारे दल में है?''

वह हँस पड़ा। कहा, ''नहीं।''

मैंने कहा, ''सुनो, वह तुम्हारे काम की नहीं हैं।''

पाल ने संयत भाव से कहा, ''यह आप क्यों कहते हैं?''

मैंने कहा, ''स्त्री जो हैं!''

पाल बोला, ''आप स्त्री को इतना हीन समझते हैं?''

मैंने हँसकर कहा, ''मैं क्रान्ति को उतना उच्च नहीं समझता, और मिसेज असरानी कवयित्री हैं।''

पाल ने मुझे सूचना दी कि जहाँ तक उनके दल को पता मिला है, मिसेज असरानी स्वतन्त्र और उन्नत विचारों की महिला हैं।

मैंने कहा, ''सो तो हो सकता है, पर तुम्हारा आशय क्या है?''

पाल ने मुझे विशेष नहीं बताया।

मैंने पूछा, ''तुम्हारा उनसे परिचय है?''

पाल उस बात को टालता रहा। पर स्पष्ट था कि परिचय है। वह परिचय किस भाँति का है, उसके भीतर मैंने नहीं जाना चाहा। ऐसा औत्सुक्य अनुचित है। कल्याणी अपना भला-बुरा सोच सकती हैं। और पर-धर्म मुझे अपने ऊपर नहीं ओढ़ना चाहिए।

किन्तु मुझे आभास मिला है कि पाल के लिए वह विषय मुझसे भी निकट है। उसने आश्वस्त विश्वास से कहा, ''स्त्रियाँ क्रान्तिकारी काम में हैं और हो सकती हैं। उनमें पुरुषों से कम वीरता नहीं होती। श्रीमंती असरानी का चरित्र उदार है और भावनाएँ संकीर्ण नहीं हैं।''

मैंने उस विषय को समाप्त करना चाहा। कहा, ''मुझे वीरता से इनकार नहीं है, लेकिन धीरता को मैं उससे अधिक मानना चाहता हूँ। फिर मैं वृद्ध इन बातों को क्या जानूँ?''

पाल, मालूम हुआ कि, इस फरारी हाल में भी दल के लिए धन-संग्रह के काम में घूम रहा था। देश के अर्थ मरने या जेल की मुसीबतें उठाने वालों के परिवार के लोगों की देशवासियों को काफी चिन्ता नहीं है। उनकी क्या दुर्दशा है, किसी को पता भी है। उन्हीं के लिए धन चाहिए।

उसने पूछा, ''उस विषय में क्या आप कुछ सहायता कर सकेंगे?''

मैंने पूछा, ''तुम्हें इस काम में यहाँ कुछ सफलता मिल रही है?''

उसने बताया, ''विशेष नहीं।''

मैंने कहा, ''मुझे मालूम होता है कि दान के रूप में कुछ देना, लेने वाले को अपमानित करना है। तिस पर लक्ष्मी से मेरी मैत्री भी नहीं है।''

पाल कुछ निराश दिखा। श्रीमती असरानी के प्रति उसकी सप्रश्नता मुझे समझ न आयी। जैसे उस विषय में वह आश्वस्त होकर भी शंकित हो। मैंने बात-बात में पूछा, ''अभी तो कुछ रोज हो न। कहाँ टिके हो?''

बोला, ''कुछ निश्चय नहीं है। एक हितैषी के यहाँ टिक गया हूँ।''

मैंने कहा, ''सावधान तो तुम हो ही, पर तुम्हारे हितैषी को धन्यवाद देता हूँ। तुम पर तो कई हजार का इनाम है न?''

''हाँ। सोचा कि ये कई हजार सरकार से क्यों न पा लिए जाएँ। शहीदों के परिवारों के काम आएँगे।''

मैंने कहा, ''क्या तुमने आत्मसमर्पण की बात सोची है?''

''लेकिन अभी नहीं। एक दौरा तो देश का लगा ही लेना है। फिर देखूँगा।''

मैंने कहा, ''देखना भाई, अगर समर्पण करो, तो पैसे के लिए मत करना। बे-पैसा कर देना। जान की पैसे के मोल कोई कीमत नहीं हो सकती।''

पाल ने हँसकर कहा, ''आप लोग पैसे के अभाव को नहीं जानते। हम जानते हैं।''

कुछ अनन्तर पाल चला गया और मैं इन जवानों के लिए एक प्रशंसा और तकलीफ का भाव मन में लेकर रह गया।

इसके दूसरे या तीसरे रोज पढ़ा कि पाल गिरफ्तार होने से बाल-बाल बच निकला है और इस सिलसिले में कल्याणी के मकान की कई घण्टे तक तलाशी ली गयी है। सब हाल अखबार में देखा। इधर वह यूसुफ नाम से घूमता है। अनुमान था कि यूसुफ मिसेज असरानी के यहाँ ही एक हफ्ते तक टिका रहा था। वह एक भयंकर दल का नेता है और खूनी आदमी है। पुलिस ने छापा मारा, पर कहा जाता है कि ऐन

वक्त पर वह लापता हो गया। पता नहीं, कब कैसे वह गायब हुआ? तलाशी में कोई सन्देहजनक चीज नहीं मिली। मिसेज असरानी को कुछ देर हिरासत में रखकर छोड़ दिया गया।

इस सारी सूचना में मुझे कोई संगति नहीं मालूम हुई। समूची एक अनघट घटना जान पड़ी। मैंने जाकर मालूम करना चाहा कि बात क्या है। पहुँचा, तब कल्याणी आवेश में थीं। बोलीं, ''सचमुच अब देश के लिए चुप नहीं रहा जा सकता।''

मैंने कहा, ''बात क्या है? सीधे कहिए कि क्या आपका उस दल से सम्बन्ध है?''

बोलीं, ''अब मुझे मालूम होता है कि भूल थी जो मैंने इधर ध्यान नहीं दिया।''

''सम्बन्ध नहीं है?''

''अब सोचती हूँ कि क्यों सम्बन्ध मैंने नहीं बनाया। जिस राज में एक आदमी की जिन्दगी अपनी नहीं हो सकती, वह क्या राज है! मैंने पुलिस वालों से कहा, मेरा किसी क्रान्ति के काम से सम्बन्ध नहीं है। मैं सच कहती हूँ। तुमने तलाशी लेकर देख लिया है, लेकिन फिर भी मुझे हिरासत में लिया गया, सो क्यों? मैं जब कह रही हूँ कि मेरी उधर प्रवृत्ति नहीं रही तो उन्हें मुझे रोकने का क्या मजाल था, बताइए तो?''

वह विचलित मालूम होती थीं, जैसे प्रक्षुब्ध जल। मैंने कहा, ''आपका उस काम से सम्बन्ध नहीं है न, और आप पाल को नहीं जानतीं?''

''उस काम से बेशक मेरा वास्ता नहीं रहा, पर पाल को जानती हूँ। यह सच है कि इन दिनों वह मेरे यहाँ ही था। एक बड़ी विपदा में था तब मुझे उसका परिचय मिला। उसने आकर मेरे यहाँ ठहरना चाहा तो क्या मैं इनकार कर देती? उसके पुण्य का फल अगर मुझे नहीं मिलेगा; तो उसके पाप का फल भी मेरा नहीं है। इस तरह मैं क्यों सोचूँ कि ये लड़के क्या करते हैं! फिर भी ये लोग सीधे पापी नहीं हैं। उसने मुझे दीदी बनाकर माना है, तब मैं क्या करूँ? स्नेह के बन्धन को तोड़ दूँ! मैं उनकी क्रान्ति नहीं जानती पर वे लड़के तो मेरे ही हैं। उनकी दीदी बनकर मैं उनकी जज नहीं रह गयी। मैं उनके विश्वासों की गहराई में नहीं गयी। मुझे अपने काम से छुट्टी नहीं है। लेकिन मैं देखती हूँ कि अगर सरकार इस पर भी हमारी आजादी की रक्षा नहीं कर सकती, बल्कि उसमें दखल देने को आती है, तो कैसे कहा जा सकता है कि क्रान्तिकारी सब बहके हुए हैं! मैं सरकार से तनख्वाह नहीं पाती कि उसके सिवा और किसी का ख्याल न रखूँ। कानून की रक्षा के लिए सरकार के पास थोड़े लोग नहीं हैं, इससे सरकार की ताकत को कम समझकर मैं भेदिये के काम की जिम्मेदारी अपनी नहीं मान सकती।''

मैं उनकी इस अवस्था पर बड़े विस्मय में पड़ा। सामना करने की ऐसी दृढ़ता उनमें पाऊँगा, यह मेरी कल्पना में नहीं था। सोचा था कि भूत-प्रेत मानने वाली

कल्याणी इस समय कातर न बन आयी हों!

और भी पता चला कि इधर कई वर्षों से पाल उनसे बराबर आर्थिक सहायता पाता रहा है। अकसर उनके यहाँ ठहरा है। उसके आग्रह पर उन्होंने कह दिया है कि सिपाही से लाभ उठाने वाले उसको हथियार दे सकते हैं, पर सिपाही बनने वाले आदमी की माँ-बहन तो उसे अपने स्नेह की सेवा ही देगी। और जानता है कि सिपाही के जीवन को हथियारों से अधिक उस स्नेह से बल नहीं प्राप्त होता। इससे हृदय से अन्य प्रयोजन साधने की मत सोचो, स्नेह ही उसका समुचित दान है।

लेकिन मैंने फिर भी समझाया। क़हा, ''अपने सम्बन्धों में व्यक्ति को सावधान रहना चाहिए।''

कल्याणी ने कहा, ''मैं इस विषय में लोकमत को प्रधानता नहीं देती, न ही दूँगी। जो जितना अभागा है, सहानुभूति की उसे उतनी ही जरूरत है। साधु को अकेला भी छोड़ा जा सकता है, पर अभियुक्त को परित्यक्त रखना फोड़े से फाहे को उतारकर उसे उघाड़ा रखना है।''

तात्पर्य, मैं उस विषय में उन्हें मोड़ नहीं सका। मालूम हुआ कि डॉक्टर साहब ने ही पाल का परिचय उन्हें कराया था। उस परिचय को कायम रखने में अब खुद उनको आपत्ति होने लगी है, पर सुशील लड़का है, तिस पर कल्याणी का कहना था कि विपदा के समय किसी से विमुख हुआ ही कैसे जा सकता है!

इस बार कोई कातरता उनके मुख पर मैंने नहीं देखी, बल्कि साहस-संकल्प और कटिबद्धता ही वहाँ दिखाई दी। मुझे अनुभव हुआ कि नारी यदि कातर है, तो वही एक जगह सतेज भी है। स्नेह के पक्ष में ही वह कोमल है, पर उस स्नेह को लेकर ही वह अतिशय दृढ़ भी हो सकती है।

डॉक्टर के विषय में मालूम हुआ कि उनकी अब भी वही स्थिति है। वह रुष्ट हैं और हठ पर डटे हैं। जाने वे कब आवें। जो हो, उसकी चिन्ता नहीं...भाग्य अनिवार्य है...इत्यादि।

पर इन सब बातों से छूटकर उन्होंने मुझे उस हत्या वाली बात की याद दिलायी। पूछा, ''आपको विश्वास नहीं आया था न। और अब भी विश्वास नहीं है। पर आज देखिएगा—।''

मैं नहीं समझा। पूछा, ''क्या?''

बोलीं, ''अभी कुछ दिन और ठहरिए।''

मुझे अचरज था कि उस व्यर्थ-सी बात पर उनका मन किस तरह अटका हुआ है। पूछा, ''क्या आप उस बारे में और भी परेशान रही हैं?''

हँसकर बोलीं, ''मैं मालूम करना चाहती हूँ। मालूम करूँगी। वह सुन्दरी युवती मुझे बार-बार दीखती है, बार-बार खींचती है। सोचती हूँ, वह हम सबकी प्रतिनिधि

है। जीवन क्या है ? एक शहादत है। शास्त्र कहते हैं, यज्ञ है, पर स्त्री-जीवन यज्ञ नहीं, उसका कुण्ड है।''

कहते-कहते चेहरे पर उनके चारों ओर वही आतुर अँधियारा-सा दीख आया जो मुझे जाने कैसे लगता है।

मैंने कहा, ''छोड़िए, छोड़िए।''

वह बोलीं, ''मरकर आदमी की क्या गति होती है, क्या इस बारे में किसी को कुछ भी पता नहीं है ? पुनर्जन्म क्या वह होता है ?''

उनके मुँह से इस तरह की बातें सुनकर जी-बहलाव नहीं होता। वे तब तनिक भी शास्त्रीय नहीं जान पड़तीं, जैसे उनके पीछे घाव और दर्द भी हो। मानो पुनर्जन्म का प्रश्न तात्विक और वैज्ञानिक हो ही नहीं, बल्कि एकदम निजी और तात्कालिक हो। जैसे वह उन्हें मथ रहा हो। जिनके पास अतिरिक्त समय और बुद्धि है, वह पहेली की जगह इन बातों को ले सकते हैं। तब उनसे चित्त-विनोद होता है, पर कल्याणी के मुख से आकर उन बातों में संवेदन जान पड़ता था। वे दूर नहीं, एकदम हृदय की धड़कन की तरह निकट मालूम होती थीं। वे जी को बिना छुए नहीं रहती थीं।

फिर भी मैंने हठात कहा, ''उन बातों का किसी ने उत्तर नहीं पाया है। उत्तर है नहीं। इससे उन प्रश्नों को भी नहीं होना चाहिए।''

पर उनका मन अशान्त था। बोलीं, ''तो मरकर आदमी का प्रेत यहीं भटकता रहता है ? आत्मा दूसरा जन्म लेती है, या न्याय के दिन की प्रतीक्षा में मरने के बाद मानवात्मा सोयी रहती है ? मैं जानना चाहती हूँ। मरने के बाद मेरा क्या होगा ? दुनिया को अभी तो एकदम मैं छोड़ना नहीं चाहती। अभी मेरी उम्र—लेकिन—।''

मैंने कहा, ''छोड़िए भी, इन बातों के लिए आप मन खाली क्यों रखती हैं। इतना तो आपको काम-धाम रहता है। फिर—।''

लज्जित और मन्दभाव से बोलीं, ''हाँ, काम है, इसी से बची हूँ। नहीं तो अब तक क्या मैं जीती बचती! ऐसा लगता है जैसे हर घड़ी कोई मुझे यहाँ से ऊपर बुलाता रहता है। जैसे घर यह नहीं है, यह भ्रम है। आप बताइए, घर यह है! फिर पार क्या है ?''

मुझे उन बातों को सुनकर कष्ट होता था। जैसे भीतर से कोई प्राण उलीच कर बाहर कर रहा हो। भीतर सब रिक्त हो जाए तो क्या लेकर टिका जाएगा! यदि यहाँ का सब माया है और अज्ञेय विधान ही सत्य है, तो एक-एक दिन होकर कटने वाला जीवन किस सहारे कटे! आये दिन मन में उठनेवाले ऐहिक संकल्प-विकल्पों को लेकर हम जी लिया करते हैं। उन्हें ही यदि भ्रम कहकर हमसे छीन लिया जाए तो पास फिर क्या रह जाएगा। तब जीना होगा कैसे ? इसलिए ऐसी बातों का सामना मुझसे नहीं झिलता। इससे मैंने ज्यों-त्यों बात को तोड़ा। और जब मैं वहाँ से लौटा तो एक

बोझ मेरे मन में था। इस प्रकार की शंका कि यह स्त्री अपना क्या कर रही है? इसको शायद सान्त्वना कहीं नहीं है। सब कुछ है, पर कुछ नहीं है। उसे क्या सता रहा है? बाहर क्या खींच रहा है? भीतर क्या धधक रहा है?

16

भीतर-बाहर, ये शब्द दो हैं, पर यों दो नहीं हैं। प्रकृति में एक ही हैं। दो होकर भी एक, जैसे ओर और छोर। और जहाँ ऐसा नहीं है, जहाँ उनमें सचमुच विरोध हो पड़ा है, वही क्लेश है। इस तरह क्लेश मानवीय सृष्टि है। यथार्थ में वह नहीं है।

तभी तो जगत नाम द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के माने हैं दो के बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अथवा अनेक के, बीच एकता का अभाव ही हमारी समस्या है।

अर्थात् सत्य में इस जगत का कोई या कुछ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। जो अवकाश बीच में दीखता है, वह रिक्त नकार नहीं है। योग-वियोग के तरह-तरह के अलक्ष्य तन्तु उसमें भरे हैं।

परिणामत: व्यक्ति और परिस्थिति ये दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। एक को दूसरे की परिभाषा में समझा जा सकता है। व्यक्ति परिस्थिति का फल है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है।

भीतर का बाहर के साथ नाता अनिवार्य है। जन्म से हर कोई कुछ नहीं होता, कर्म से भी होता है। कर्म-सम्भावना अन्त:प्रेरणा के साथ बाह्य आवश्यकता के योग से सृष्ट होती है। अनुपयोगी भावना कर्महीन और फलहीन होगी और वही इच्छा कृतकार्य बनेगी, जो उपयोग-युक्त हो सकती है। परिस्थिति के साथ जिसका निर्वाह नहीं है, उसमें सम्भावना भी नहीं। भविष्य को वह उतारेगा जिसका वर्तमान पुष्ट होगा। जो स्थिति से तत्सम नहीं, उसमें नयी परिस्थिति के निर्माण की भी शक्ति नहीं।

इस भाँति कोई भी एकाकी नहीं है और किसी का कोई अलग स्वत्व नहीं है। सब अनुभव से बनते हैं और सब काल-गति में अपनी जगह रखते हैं। सबकी सम्भावना उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के मध्य ही है। कार्य अकारण नहीं होता और व्यक्ति के सामाजिक चरित्र के कारण तात्कालिक समाज-स्थिति में खोजे जा सकते हैं।

इससे मैं जानना चाहता हूँ कि कल्याणी असरानी के स्वभाव में जो मृत्यु-तत्त्व का एक स्पष्ट खिंचाव नजर आता है, वह यदि प्रतिक्रिया है तो किन घटनाओं की प्रतिक्रिया है। उनकी धर्म-भावना किस व्यवहारगत विवशता के कारण है। जानना

चाहता हूँ, लेकिन जान नहीं पाता हूँ। देखता हूँ कि अपने व्यवसाय में वह सावधान है, कर्तव्य में तत्पर। कर्म स्खलन कहीं नहीं है। फिर भी एक अशान्ति, एक दमन, एक विचिकित्सा जो उनमें दिखाई देती है, वह क्या है, और वह क्यों है?

लोग हैं, जो इन्द्रिय-रस में रत रहते हैं, पर मौत का डर उन्हें नहीं। जरा-सी बात पर चाकू निकालकर मार सकते हैं और मर सकते हैं। जान का मोह उन्हें छू तक नहीं जाता। क्या वह मोह अनिष्ट नहीं है? और क्या मौत का ध्यान मौत के मोह में से नहीं उठता? मौत की खींच का नाम है मौत का भय। वह भय कल्याणी असरानी पर फिर इतनी प्रबलता से अपना प्रभाव क्यों डाले हुए है? यह इष्ट हो कि अनिष्ट, प्रतिक्रियात्मक है या विकासात्मक, इससे उनको शक्ति प्राप्त हो रही है या शक्ति का ह्रास हो रहा है, यह मुझे कुछ स्पष्ट समझ में नहीं आता। फिर भी सब मिलाकर मन यह मानता है कि यह मानवात्मा विकास-पथ पर है।

पर समझ-समझ की बातें हैं। हरेक की समझ अपनी है। अपने से बढ़कर किसी के लिए दूसरे की समझ होना कठिन है। अर्थात् एक के लिए दूसरे की समझ झूठ है, इस तरह सारी ही समझें झूठ हैं। यथार्थ, यथार्थ है और तत्सम्बन्धी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही घरोंदे हैं। सच सबके पार है। इसलिए कल्याणी की कहानी कहते समय आलोचना-विवेचना की यथार्थता से बचूँ। सब अपना दिमागी समझाव है। मैं तो घटना ही कहता चलूँ। घटना में स्वयं सत्य की वाणी का प्रस्ताव है। उसके आलोड़न में भला क्या रखा है! तिस पर कल्याणी का यह जीवन-चरित्र नहीं है। उनके व्यक्तित्व को चारों ओर से लेकर विश्लेषण द्वारा पुनर्निर्माण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह तो बस कहानी है, जिसमें संवेदन हुआ तो मैंने भर पाया। सहानुभूति से आगे मुझे क्या चाहिए! पात्र अगर चाहिए तो उसी को टिकाने के लिए। चरित्र लिखने की मेरी स्पर्द्धा नहीं। जो मर्त्य है और अब स्वर्गस्थ है, उसकी मूर्ति गढ़ने का मैं कष्ट उठाऊँ तो क्यों? बस कुछ याद की बातें कहता हूँ कि कहीं हमारा चित्त छू जाए और उसमें रस का स्रोत खुल आए।

इस बार साग्रह निमन्त्रण पर जब मैं उधर गया, तो मुझे दंग रह जाना पड़ा। ड्राइंग-रूम में खाने का आयोजन था। आयोजन भी क्या—सब सेट एकदम नया चाँदी का! कल्याणी स्वस्थ थीं और खुद सर्व कर रही थीं। अभ्यागत थे कुल एक अकेले। मैं उनको पहचानता नहीं था।

जैसे मैं वहाँ अप्रत्याशित पहुँचा होऊँ। कल्याणी ने अकृत्रिम विस्मय से कहा, ''ओ, आप आ गये। मैं डरती थी कि कहीं आप न आवें।''

परिचय कराया गया कि मैं अमुक हूँ और आप मि. देवलालीकर हैं, सिनेमा-प्रोप्राइटर, मशहूर—।

देवलालीकर शिष्टता की मूर्ति मालूम हुए। उन्होंने मेरे परिचय पर अपने को

कृतार्थ प्रकट किया।

उस रोज पहली बार मैंने कल्याणी को उत्सुक रूप में देखा था। वह रूप मेरी याद पर अंकित है। यत्न-साध्य उनकी लज्जा थी। उल्लास का अतिरेक मालूम होता था। मानों साकार अभ्यर्थना हों।

उन्होंने साग्रह पूछा, "आप (खाने में) शरीक हूजिएगा न ? जी नहीं, यह नहीं।"

मैंने कहा, "मुझे क्षमा ही किया जाए। मेरा समय आप जानती हैं।"

बोलीं, "क्या मैं पूछ सकती हूँ कि आपने सत्-युग छोड़कर हमारे साथ कलियुग में पैदा होने का कष्ट क्यों किया है ? सुनिए, खाने का नहीं, साथ का सवाल है। खाइए चाहे नहीं, साथ तो दीजिएगा ?"

मैंने खड़े होकर कहा, "तो आप छोड़िए। आप बैठिए, मैं सर्व करता हूँ।"

बोलीं, "वाह, स्त्री और अपना अधिकार छोड़ दे! आप बैठिए, खाने की मेज क्या मेज ही है ? जी नहीं, वह संस्था है। वह मेल का माध्यम है। क्यों मि. देवलालीकर ?"

अतिथि ने समर्थन में कुछ कहना चाहा कि कल्याणी उधर बिना ध्यान दिये ही मुझसे बोलीं, "जी नहीं, आज यहाँ किसी को क्षमा नहीं मिल सकती। आगे कुर्सी खींचिए।"

मैंने कहा, "मुझे क्षमा करने की आप आदी हो गयी हैं।"

खैर, उस समय की कल्याणी का चित्र मुझे भूलता नहीं है। जैसे वह परीक्षा पर हों। उनका तब का वाक्-चातुर्य मुझे अचम्भे में डालता था। न जाने कहाँ-कहाँ की बातें उन्होंने कीं। राजनीति, सोसायटी, सिनेमा, स्कैण्डल, अध्यात्म। मानों उन्हें कुछ निषिद्ध और अप्राप्य नहीं रखना है। बीच में अँग्रेजी तो खुलकर आती ही थी, फ्रेंच भी आ जाती थी। कभी अपनी सिन्धी बोलकर कहती थीं कि मराठी उसकी तुलना में कर्ण-कटु है, क्यों मि. देवलालीकर ? मालूम होता है अपनी भाषा मराठी होने के कारण ही मि. देवलालीकर थोड़ा बोल रहे हैं।

इस-उस तरह की बातें करके उन्होंने अतिथि को संकोच बिलकुल न रहने दिया। देवलालीकर भी बातचीत में खुलकर भाग लेने लगे। उस अवसर पर हल्की शराब भी थी और कल्याणी ने उससे बहुत परहेज नहीं दिखाया।

मैं उस चित्र को लम्बा नहीं खींचना चाहता। न मैं अपने इस विस्मय पर रुकना चाहता हूँ कि देवलालीकर कौन थे, कैसे वहाँ पहुँचे और मैं क्यों वहाँ उस समय बुलाया गया ?

कल्याणी ने देवलालीकर से बहुत से प्रश्न किये और जिरह की। प्रकट हुआ कि देवलालीकर विधुर हैं। विवाह नहीं करेंगे। हाँ, कई वर्ष हुए इस तरफ रहते थे।

जी नहीं, यह नहीं, दूसरा मकान था। पत्नी पहले गत हो गयी। विदुषी थीं। योग्य थीं। सुन्दरी ? मुझे लज्जित न कीजिए। मुझे कष्ट होता है। हाँ, सुन्दरी थीं। उन्हें दिक हो गया था। छुटपन से दिक हो गया था, इत्यादि।

सच यह है कि मैं वहाँ धीमे-धीमे अपने को व्यर्थ अनुभव कर रहा था। मेरा वहाँ क्या मतलब था? कल्याणी को देवलालीकर में क्या दिलचस्पी है, मुझे इसका अनुमान न था। लगता था कि कहीं कल्याणी उन पर मुग्ध होने को ही तैयार न हो। मेरा मन इस सम्भावना पर जाकर विशेष सुख अनुभव नहीं कर रहा था, लेकिन असभ्यता न समझी जाए इस ख्याल से मैं वहाँ बैठा ही रहा, उठकर नहीं आ सका।

कल्याणी ने देवलालीकर से कहा, ''आप विधुर किस हक से रहना चाहते हैं?''

देवलालीकर ने क्षमा चाही और कहा, ''मेरा उस ओर झुकाव नहीं है।''

कल्याणी ने कहा, ''जी नहीं, आपकी अवस्था ही कितनी है। अकेली जिन्दगी गलत है। आपकी आमदनी अच्छी है। क्या मैं आपकी कुछ सहायता नहीं कर सकती?''

देवलालीकर का दावा शायद विरक्त पुरुष होने का न होगा। उन्होंने कहा, ''आप विनोद करती हैं?''

कल्याणी बोलीं, ''यह प्रसन्नता की बात नहीं है कि मैं विवाहित हूँ! विवाहित न होती तो मैं सहायता कर सकती। स्त्री पुरुष की सम्पत्ति नहीं है। क्यों वकील साहब?''

मैं कल्याणी के रंग-ढंग देखकर कुछ असमंजस में था और कुछ नहीं बोला। देवलालीकर जवाब में इधर-उधर करते रहे। यह स्पष्ट हो गया कि भीष्म-प्रतिज्ञा उनकी नहीं है। फिर भी—।

लेकिन कल्याणी ने बिना कुछ सुने गम्भीरतापूर्वक कहना जारी रखा, ''जिस किसी के पास काफी आमदनी हो, उसे अकेला रहने का हक समाज में रहकर नहीं है, क्योंकि योग्य कन्याएँ और स्त्रियाँ काफी संख्या में निराश्रित हैं। और कुछ नहीं तो उन्हें सहारा देना समर्थ पुरुषों का धर्म है। जो योग्य है, पर उपयुक्त साथी उन्हें नहीं मिलता...इत्यादि।''

देवलालीकर ने अन्त में स्वीकार किया कि वह बात अविचारणीय तो एकदम उनके लिए नहीं है और सचमुच ही अतीत पर रहना कठिन होता है।

मैं कल्याणी की इस रोज की अवस्था को नहीं समझ सका। अतिरिक्त भूषा से सज्जित, वह पर्याप्त से अधिक आकर्षक मालूम होती थीं। मर्यादा का ध्यान मानों उनके योग्य नहीं रह गया था। बोलीं, ''हिन्दुस्तान के प्रान्त-प्रान्त में अभी बहुत फासला है, तभी वह गुलाम है। देखिए, मैं सिन्धी हूँ, आप महाराष्ट्रीय हैं, ये यू. पी. के हैं; लेकिन हम सबको एक क्यों नहीं होना चाहिए, बताइए तो? पुराने विचार पुराने

हैं। यह गलत है कि विवाह छोटे दायरों में हों। इससे सन्तति क्षीण होती है। मैं डॉक्टर हूँ, इस बात को जानती हूँ। सम्बन्ध सुदूर होना चाहिए। जितना अन्तर होगा, मेल से उतना ही उत्तम फल प्राप्त होगा। यह तो प्रयोगसिद्ध है। आपने कृपा की कि आप आये। यहाँ हमारा अपना कोई नहीं है। (हँसकर मेरी ओर) एक यह हैं, पर ये मेरे लिए अभिभावक जितने बुजुर्ग हैं। आप—।''

देवलालीकर कृतज्ञ थे। उन्होंने प्रकट किया कि किसी सेवा के योग्य समझे जाकर वह कृतार्थ होंगे।

देवलालीकर के जाने के बाद उन्होंने मुझे कहा, ''ये देवलालीकर थे। आपने देखा?''

मैंने कहा, ''सो?''

''आपने उन्हें अच्छी तरह नहीं देखा?''

मैंने जानना चाहा कि इसका क्या अभिप्राय है।

बोलीं, ''जो हुलिया मैंने बताया था, क्या वह बहुत इनसे नहीं मिलता? मैं कहती हूँ, यही आदमी है!''

सुनकर एकाएक तो मैं उनके अभिप्राय को समझा नहीं। पर जब समझा, तब मैंने झिड़की के साथ कहा, ''यह उचित नहीं है। एक भले आदमी का यह अपमान है, यह अन्याय है।''

उन्होंने जोर से कहा, ''क्या आप नहीं जानते कि यह आदमी अपनी पत्नी की हत्या कर सकता है? मैं कहती हूँ, यह सच है!''

मैंने बात टालकर कहा, ''आखिर आप उससे चाहती क्या हैं?''

''क्या चाहती हूँ? आप क्या समझते हैं, मैं चाहती हूँ? आप बेशक यह नहीं समझते कि मैं उनकी पत्नी होना चाहती हूँ?''

मैंने कहा, ''आपको क्या हो रहा है? सँभलकर बात कीजिए।''

क्या उन्हें नशा हो रहा था? मुझे ऐसा ही मालूम हुआ। बोलीं, ''मैं अपने सर्वनाश से डरती नहीं हूँ। मुझ पर स्वामी नहीं हैं। मैं आप अपनी स्वामिनी हूँ। चाहूँ तो कौन मेरा नरक रोक सकता है?''

मैंने कहा, ''होश में आइए? देवलालीकर को आप पहले से नहीं जानतीं, यह मैं जानता हूँ। वह सीधा आदमी मालूम होता है। हममें किसके अन्दर असुर नहीं है। क्या आप उस असुर को भड़काना चाहती हैं? आपका वहम वहम है। उसके पीछे अपने को और दूसरे को आप बरबाद नहीं कर सकतीं।''

उन्होंने अपनी स्थिर दृष्टि मुझ पर डाली। कहा, ''स्त्री का बदला स्त्री नहीं लेगी तो कौन लेगा, बताइए तो?''

मैंने साश्चर्य कहा, ''कैसा बदला? यह आप क्या कहती हैं?''

बोलीं, ''उस कमसिन स्त्री की भोली आँखें मुझे रोज दीखती हैं। वह मानों किसी को दोष नहीं देती। जैसे स्त्री सब कुछ सहने के लिए है। लेकिन उन्हीं आँखों को देख-देखकर मुझे लगता है कि स्त्री गौ नहीं है। गौ बनकर ही उसने अपना स्वत्व गँवाया। वह अब कुछ और बनकर अपने को पा सकती है। मैं भी गौ थी, लेकिन इससे मैं क्या बन सकी? अब मैं गौ कब तक रहूँ? हाँ, स्त्री का बदला स्त्री लेगी।

मैंने कहा, ''ठहरिए, आपको मालूम भी है कि क्या कह रही हैं?''

''शायद नहीं मालूम। मुझे शायद इस वक्त नशा है। पर नशा मैंने किया है। और क्या करूँ? एक वह हैं, जो बड़ी हिम्मत दिखाकर मुझे छोड़कर चले गये हैं! एक ये हैं, जिन्हें मैं पक्का जानती हूँ कि इन्होंने स्त्री की हत्या की है! एक आप हैं, जो किसी को कुछ सहारा नहीं देंगे। फिर मैं क्या करूँ? नशा करती हूँ, तो कौन कहने वाला है कि क्यों करती हूँ? धर्म भी किया है। पर करके देख लिया है। उससे क्या हुआ? तबीयत होती है कि सब फाड़ दूँ, फेंक दूँ। मैंने ईश्वर में विश्वास किया। मैं उसकी राह चली, इस घड़ी तक चली। चलते-चलते मेरे सामने पड़ते हैं, यह देवलालीकर! बचकर मैं कहाँ जाऊँ! उनके सामने पर और राह मुझे बन्द है। ईश्वर की राह पर अनीश्वरता मिलती है, तब मैं क्या करूँ! इससे अब मैं कहती हूँ कि अच्छा यही हो। मैं भी अब और कुछ नहीं चाहती। मैं निराली नहीं हूँ। मेरा मन जानता है, मैं लाचार हूँ, तो नशा ही करूँगी। मैं सब भूल जाना चाहती हूँ। मैं नफरत करना चाहती हूँ। अपने से, सबसे। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवंचना है। इससे ईश्वर प्रवंचना है।''

लेकिन सचमुच उन्हें नशा चढ़ता आ रहा था। मैंने तब जाना कि नशा क्या होता है। उससे विवेक का ढकना ढीला हो जाता है और अन्तर्गत चेतना उफनने लगती हैं।

बढ़ते-बढ़ते वह जाने क्या-क्या कहने लगीं। कहा, ''मैं पापिष्ठा हूँ। मुझे मत छुओ। मुझे कोढ़ क्यों न हुआ? धर्म के लायक मैं नहीं हूँ। वह गये हैं, जाने दो। मैं और कुछ नहीं हो सकती। मैं क्या हो सकती हूँ? देख लिया, देख लिया। आप मुझे नफरत करते हैं, या आप मुझ पर मुग्ध हैं? ओहो, हो-हो! मैं आदमी की आँखों में दो ही बातें देखती हूँ। लेकिन मैं किसी के लायक नहीं हूँ। मैं नफरत नहीं चाहती, मैं प्रेम नहीं चाहती। अरे, मुझे अकेला छोड़ दो। अकेली मरने दो...।''

सचमुच स्थिति मेरे वश से बाहर होती जा रही थी। मैं अपनी जगह से उठा।

उन्होंने कहा, ''हाँ, आप जाइए। मुझे होश है। अभी जा सकते हैं।''

मैंने जोर से ताकीद के स्वर में कहा, ''आप अब बोलिए नहीं, एकदम चुप रहिए।''

वह एकदम चुप हो गयीं और डरी-सी मुझे देखने लगीं।

नौकर को बुलवाकर मैंने खाने का सब सामान बाहर भिजवाया।

वह चुपचाप देखती रहीं। मैंने पास जाकर कहा, ''अब आप उठिए।'' वह उठ

आयीं, जैसे उनमें अपनापन कुछ न हो। सहारे से लाकर मैंने उन्हें सोफा पर लिटा दिया। मँगाकर एक शाल उढ़ा दिया। कहा कि अब आप जरा सोने की कोशिश कीजिए।

वह चुपचाप लेटी रहीं। बोलीं कुछ नहीं। जाने कहाँ, एकटक देख रही थीं। देखते-देखते उनकी आँखों में आँसू झरने लगे। मैंने जोर से कहा, ''यह क्या करती हैं? सो जाइए।''

इस पर उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर मुझे नमस्कार किया, जिसका कि मैं कुछ भी आशय नहीं समझा। पास जाकर मैंने आश्वासन की थपकियाँ देनी चाहीं, लेकिन उन्होंने अपने दोनों हाथों से मेरे दाहिने हाथ को पकड़ा और उसे बार-बार अपने माथे से छुआते हुए वे उसी तरह तार-तार आँसू रोती रहीं।

कुछ देर तो मैं विमूढ़ रहा, फिर हठात झिड़की के साथ हाथ छुड़ाकर रूमाल से उनके आँसू पोंछे। कहा, ''दिल क्यों हलका करती हैं? क्या बात है?''

''कोई बात नहीं।''

बोलीं, ''मैं किसी लायक नहीं हूँ। मैं सबकी माफी चाहती हूँ।''

मैंने कहा, ''देखिए, आप थोड़ी देर आराम करेंगी, और कुछ न करेंगी। सुनती हैं? चित्त को स्थिर कीजिए। बात कोई भी तो नहीं है! मैं अब जाता हूँ।''

धीमे-धीमे उनके आँसू अब बन्द हो आये। पर वह उठीं नहीं। कहा, ''मैं सोऊँगी, आप जाइए।''

मैंने सोचा कि एक नींद चाहिए बस। खुमारी उतर जाएगी। विशेष कुछ नहीं। सो मैं चला आया।

17

वह तो कुछ बात न थी। सुबह तक तबीयत सँभल आयी ही होगी। इसलिए मैं उधर नहीं गया। जाते उत्साह नहीं होता था, झिझक होती थी। मिलकर मन के भीतर बिथा ही छिड़ती थी।

सो मैंने आदमी भेजकर सूचना पा ली कि दवाखाना खुला है और वह अपने काम पर हैं और सोच लिया चलो, ठीक है।

श्रीधर को आप भूले तो नहीं हैं? पर आप भूलें, वह नहीं भूलेंगे। पूरे अध्यवसायी जीव हैं। मैं तो मन में उनको शाबाशी दिया करता हूँ। प्रोफेसर हैं, पर प्रोफेसर से ज्यादे जिन्दादिल हैं। नये-से-नये काट के कपड़े तन पर रखते हैं तो उसी तरह नये-से-नये नमक की बातें जीभ पर रखते हैं। जीभ ही मैं कहूँगा, मन नहीं

कहूँगा। क्योंकि बातें ऐसी-वैसी वह कर जाएँ, मन उनका बे-मैल है और किसी का अशुभ उनसे नहीं हो सकता।

नहीं जानता कि श्रीधर को क्यों कल्याणी प्रसंग प्रिय है। तरह-तरह की बातें लाते हैं, सुना देते हैं। मैं कहता हूँ कि श्रीधर, छोड़ो भी। लोगों की आत्माओं की चिन्ता का बोझ लेकर चलने की जरूरत क्यों पैदा किया करते हो, अपनी तुम्हें क्या काफी नहीं है?

पर श्रीधर कहता कि अपनी आत्मा तो मैंने बेच खायी है। यानी अब वह पेट में अन्दर ऐसी सुरक्षित है कि कोई चिन्ता उसे छू नहीं सकती। इसलिए मुझे अब दूसरों की आत्माओं के विषय में सोचने के अतिरिक्त जिन्दगी में कोई और काम बाकी नहीं रह जाता है।

''बात ठीक है। श्रीधर, तू ऐसे कैसी दर्शन शास्त्र की प्रोफेसरी करता है?''

वह कहता है, ''अजी, मेरी प्रोफेसरी धड़ाके से चलती है। सो बताऊँ क्यों? इसलिए कि मैं एकदम नास्तिक हूँ। खुद कुछ नहीं मानता, इसलिए सबको सब कुछ मानने देता हूँ।''

बात ठीक है। श्रीधर कुछ नहीं मानता दीखता। इसलिए जुबान का ही असावधान वह है। पर उसी की वजह से वह बेहद खुला भी है। गाँठ उसमें नहीं है। मन के विज्ञानवालों ने जिसका नाम रखा है Complex वह चीज श्रीधर में कुछ काल बनती भी है, तो झट घुल रहती है। कड़ी गुठली मानिन्द अन्दर अलग बजती हुई वह नहीं रहती।

मैंने कहा, ''तब देवलालीकर को तुम जानते हो। यह भी जानते हो कि वह सही आदमी नहीं हैं। क्यों?''

बोला, ''हाँ! डॉक्टरनी साहिबा जो आजकल रोज मोती पैलेस में जाती हैं, वह देवलालीकर की सफलता हो सकती है, नेकी नहीं।''

मैंने कहा, ''छोड़ो-छोड़ो। मुझे खुशी है कि वह सिनेमा काफी देखने लगी हैं। जरूरत है कि उनका मन बहले।''

श्रीधर हँसा। बोला, ''जरूर जरूरत है।''

मैंने कहा, ''खैर, तुम देवलालीकर की कहो। कुछ उनका इतिहास भी जानते हो?''

श्रीधर, ''इतिहास? रंगीन आदमी हैं, उनका अतीत एकदम घटनाहीन तो क्या रहा होगा।''

पूछा, ''पर तुम कुछ जानते हो?''

श्रीधर हँसकर बोला, ''तो आप भी कुछ चाहने लगे हैं न, कि कोई किसी का कुछ जाने। कहते तो थे कि—।''

खैर, श्रीधर को मन का काम मिला। अगली बार उन्होंने बहुत-कुछ लाकर सुनाया। उनकी कहानी में दिलचस्प बहुत कुछ था, तो निश्चय अप्रामाणिक भी काफी कुछ था। यह मेरे लिए तसल्ली की बात थी कि कल्याणी अकसर, चाहे फिर देवलालीकर के अनुरोध पर ही हो, सिनेमा देखने चली जाया करती हैं। यह स्वास्थ्य और साधारणता के लक्षण हैं। मैं इधर कल्याणी में असाधारणता की बीमारी के चिह्न देखकर कुछ परेशान-सा रहता था।

श्रीधर बोले, ''अब ठाट देखिएगा!''

मैंने कहा, ''क्या मतलब?''

बोले, ''नयी दिल्ली में कोठी ली जा रही है।''

मैंने कहा, ''तो?''

श्रीधर ने कहा, ''तो क्या? सब अनुकूलता है। मुझे तो ख्याल होता है कि बीसवीं सदी में भी मुगल जमाने की मलका जैसी तबीयत रखनेवाली आखिर कोई हो सकती है! मैं समझता था कि जमाना जो जाता है, वह आने के लिए नहीं; लेकिन मालूम होता है कि जमाने की चाल से और आदमी की तबीयत से कोई वास्ता नहीं।''

लेकिन छोड़िए श्रीधर को। आदमी भला है तो क्या अपनी सारी बातें हमें सुनने को लाचार करेगा? काम की, बेकाम की? जी नहीं, बेकाम बातों को हटाइए।

इन्हीं दिनों की बात है कि पूरी ड्रेस पहने एक दरबान आया। सलाम दिया, और मेरे सामने एक बड़ा लिफाफा रख दिया।

मैंने कहा, ''क्या है?''

बोला, ''मेम साब ने दिया है।''

''कुछ कहा है!''

''जी, नहीं।''

''अच्छा।''

सलाम करके वह चला गया। लिफाफा खोला तो उसमें एक हिन्दी पत्रिका निकली। ऊपर चिट लगी थी—अमुक पृष्ठ को कृपया देखिए। उस पृष्ठ पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक लेख था : तपोवन। उस लेख के बराबर हाशिए पर लाल पेन्सिल से अँग्रेजी में लिखा था—'तपोवन या नयी दिल्ली?' प्रश्नवाचक चिह्न पर मालूम होता था कि पेन्सिल बार-बार फिरती रहने दी गयी है, वह अनुपात से काफी बड़ा हो गया था!

लेख पढ़कर मैंने एक ओर रख दिया!

शाम को उनके ड्राइवर ने आकर सलाम दिया। बोला, ''मेम साहब ने याद किया है।''

मैंने पूछा, ''क्या कहा है?''

''कहा कुछ नहीं, पूछा है क्या आप उधर आएँगे।''

मैंने कहा, ''अच्छा।''

''क्या हुक्म है? अभी चलें, तो गाड़ी भेजी है।''

मैं ड्राइवर के चेहरे में देख सका कि मुझे न चलने का अधिकार है, लेकिन वहाँ यह आशा नहीं है कि मैं तुरन्त नहीं आ जाऊँगा।

मैंने कहा, ''क्या बात है।''

''आज वह कहीं बाहर नहीं जा रही हैं। नीचे भी कहलवा दिया है कि मरीजों को एसिस्टेण्ट देख ले।''

मैं साथ गया।

वहाँ सचमुच मेरे सामने जो प्रश्न पेश हुआ वह यही था—तपोवन या नयी दिल्ली?

मैंने पूछा, ''मतलब क्या है?''

बोलीं, ''नयी दिल्ली में कोठी ले रही हूँ!''

मैंने कहा, ''खुशी की बात है।''

बोलीं, ''तो रवीन्द्रनाथ का तपोवन रंज की बात है, यह मैं मानूँ?''

मैंने हँसकर कहा, ''तपोवन' यह रवीन्द्रनाथ का है न?''

म्लान-भाव से वह भी हँसीं। बोलीं, ''हाँ। मेरा वह नहीं है, मेरे लायक कोठी है। यही न?''

मैंने कहा, ''हाँ, क्यों नहीं। इसमें क्या बुरा है?''

वह झपटकर बोलीं, ''छोड़िए। बुरा-भला देखा जाएगा। कोठी में सब नहीं रहते, भगवान रहते हैं। पर रवीन्द्रनाथ के लेख से पहले भी कभी 'तपोवन' उतरकर मन में मेरे झूम आया है। सोचती हूँ, पुराने ऋषि कैसे रहते होंगे। पर वह मन की कमजोरी है। है न? पुराने जमाने में डॉक्टरी कहाँ थी? उन्नति कहाँ थी? बोलिए—थी?''

मैंने कहा, ''अगर ये जाती हुई शताब्दियाँ व्यर्थ नहीं हैं, तो मानना होगा कि पहले से हम पीछे नहीं हैं। हो उन्नति रही है।''

बोलीं, ''ठीक तो है। आप भी मेरी तरह उन्नत क्यों नहीं होते हैं? कोठी में जा रही हूँ। अधिक नहीं तो आकर जरूर देखिएगा कि उन्नति कैसी दीखती है। देखकर सबक लीजिएगा।''

उस वक्त तो मैंने हँसकर कह दिया, 'जरूर', पर सच यह है कि हँसी मेरी झूठ थी। उस नारी के द्वन्द्व की तीक्ष्णता पर मुझे कभी हर्ष नहीं हुआ। आदमी हर घड़ी अपने पर दाँतेदार छुरी रेतता रहे, यह कोई हर्ष की बात है! और जब-जब मैं उस नारी के समक्ष हुआ हूँ, मुझे लगा किया है कि वह जीवन को किसी तरह मृत्यु से कम

विषम नहीं रहने देना चाहती हैं।

इसीलिए मैं उनका चित्र देते डरता हूँ। मुझे इस बात की भी खुशी है कि कहानी में रंग भरना मुझे नहीं आता। कोरी घटी बातें ही यहाँ मैं दे सकता हूँ।

सो बात-बात में वह बोलीं, ''उनका खत आया है।''

मैं प्रसन्न होने को तैयार हुआ।

''लिखा है कि कोठी में कोई कमी न रहे। पैसे की तरफ न देखा जाए और बीस दिन के अन्दर सब तैयार हो जाए।''

मैं सुनकर विस्मय से उनकी तरफ देखता रहा।

किंचित हँसकर बोलीं, ''क्या आपको मालूम नहीं? यह मार्च चल रहा है। अप्रैल में प्रदेश के प्रीमियर यहाँ आनेवाले हैं।''

प्रदेश के प्रीमियर इस दिल्ली में आने वाले होंगे कि उस खबर को अखबारवाले सुभीते के साथ हम सब तक यथावसर पहुँचा ही देंगे। कोई भला नागरिक उस खबर से बचेगा नहीं। पर इन कल्याणी की नयी कोठी और उन प्रीमियर के नयी दिल्ली में आने में क्या संगति है, सो मैंने जानना चाहा।

कल्याणी कुछ लजायीं, कुछ मुस्करायीं, पर उन्होंने कहा—''बात यह है कि जो अब प्रीमियर है, वह कभी प्रीमियर नहीं भी थे। तब विलायत में बैरिस्टर बन रहे थे। कल्याणी का वहीं का परिचय है। परिचय में गाढ़ता भी है, लेकिन यह तो निजी बात है। छोड़िए, प्रस्तुत बात यह है कि डॉक्टर ने लिखा है कि कोठी ले रखो। प्रीमियर को अपने यहाँ ठहराना होगा। उनके लिए सार्वजनिक सत्कार और सम्मान का प्रबन्ध भी करना होगा।''

—इसीलिए भी सब कुछ है।

मैंने कहा, ''अच्छा तो है।''

पर वह बोलीं, ''मैं प्रीमियर को कतई नहीं जानती। मैं मित्र को जानती हूँ, लेकिन डॉक्टर की निगाह में उनका प्रीमियरपन ही है। मित्रता उन्हें इर्षणीय हो लेकिन प्रीमियरपन अभ्यर्थनीय है। यह क्या है? मेरे स्नेह-सम्बन्ध को क्या यह जुए पर लगाना नहीं है? मेरा तो लाज के मारे मरने को जी चाहता है!''

उनका आन्तरिक क्लेश उनकी मुद्रा पर प्रत्यक्ष हुए बिना न रहा। मैंने सान्त्वना दी। कहा, ''क्यों, ऐसा अनुचित तो मुझे इसमें कुछ दिखाई नहीं देता।''

खिझलाहट में बोलीं, ''आप नहीं जानते, आप नहीं जानते। वह प्रीमियर से मतलब साधना चाहते हैं। कांग्रेस मन्त्रित्व क्या अवसर साधने के लिए है! इसमें ही मेरे स्नेह-परिचय का लाभ उठाया जाएगा। क्या ऐसे हिन्दुस्तान स्वतन्त्र होगा? क्या इसी का नाम व्यापार है? भलाई है? सुधार ?''

मैंने सरलता से कहा, ''तो छोड़िए, मत शामिल होइए।''

सुनकर मानों आश्चर्य से मेरी ओर देख उठीं। ''देखते-देखते उन आँखों में ओस आ गयी। बोलीं, ''क्या करूँ? मैं क्या करूँ?''

मैंने कहा, ''क्यों? इसमें कठिनाई क्या है?''

सुनकर वह कुछ देर फटी आँखों से मुझे देखती रह गयीं। उन आँखों में पानी झलक रहा था। पर वह ढरका नहीं। मानों वह जड़ हो आयीं। थोड़ी देर बाद वह बोलीं, ''आप पूछेंगे ही। अच्छी बात है। मैं कहूँगी। कहती हूँ कि मेरी अपनी कमजोरी कठिनाई है।''

कुछ देर रुकी रहकर फिर बोलीं, ''अपने प्रवासी मित्र का सार्वजनिक सम्मान मैं देखना चाहती हूँ। उसमें योग देना चाहती हूँ। आप से लजाऊँगी नहीं, मुझसे उन बन्धु को निराशा ही मिली। ऐसा पात्र दूसरा कौन होगा? क्या आप जानते हैं कि वह अविवाहित हैं? जिन्दगी-भर शायद अविवाहित रह जाएँ, लेकिन मैं—मैं नहीं। मैंने अपने को खींच रखा। अब उनके इस नगर में आने पर क्या वह मुझसे हो भी सकेगा कि मैं कुछ न करूँ! इससे मैं कोठी ले रही हूँ। इसमें रवीन्द्रनाथ का तपोवन उजड़ा जा रहा है, इसमें मैं ही शायद लुटी जा रही हूँ। पर क्या करूँ? स्त्री अबला है।''

मैं इस सबके लिए तैयार न था। मेरा जी भीतर से छू गया। मैं कब समझा था कि मैं अनायास पात्र बना दिया जाऊँगा कि किसी का मर्म मुझको लेकर व्यक्त हो। उन कल्याणी को सामने देखकर मैंने अनुभव किया कि व्यक्तित्व में तह-पर-तह होती हैं। आत्मा को कौन समझेगा! आत्मा तो कुएँ में जल जैसी निर्मल है। पर कुएँ में झाँकते डर हो सकता है, उसमें उतरे कौन ?

इस स्थल पर जो व्यथा घनीभूत हो आयी थी, उसे मैंने जैसी-तैसी बातें कहकर कुछ मद्धम किया। फिर पूछा, ''डॉक्टर आ रहे हैं?''

''हाँ। उनका विषाद दूर हो गया मालूम होता है। उन्होंने खुलकर माफी माँग ली है।''

कहते हुए वह हँसी।

''लिखा है—मैं घबराऊँ नहीं। प्रीमियर का हमने रुख रखा तो पहले साल ही पचास हजार बन जाएगा। आगे दूसरे ठेके के काम में और अधिक भी बच सकता है। (वह फिर हँसी इसीलिए) अब उनके मन में कोई विकार नहीं रह गया है। मुझे आशा है कि आप देखेंगे कि आने पर वह सबसे प्रसन्नता का व्यवहार करते हैं। इस बार आप उनमें मन का मैल बिलकुल नहीं पाएँगे। उन्होंने पत्र में मुझे बहुत प्रेम-सम्बोधन लिखे हैं। (फिर हँसी) आप सच माने कि मैं उन्हें सच मान सकती हूँ। मेरा ध्यान उनसे दूर नहीं है। वह मुझे प्रेम करते हैं।''

कहकर एक करुण मुस्कुराहट के भाव से उनका चेहरा पीला पड़ गया।

उनकी वैसी स्थिति मुझे असह्य ही हो आती है। उसका सामना मैं नहीं चाहता।

उससे जगत के सम्बन्ध में मन का त्रास बढ़ता है।

बात बदलने के लिए मैंने पूछा, ''वह कब आ रहे हैं?''

''लिखा है, काम निबटते ही पहुँचूँगा। यही कोई दस-बारह दिनों में।''

मैंने कहा, ''इस बार आकर उन्हें जाना नहीं चाहिए। काम की बात दूसरी है। और सुनिए, आपको इसके लिए मन में थोड़ी लचक भी लानी पड़े तो क्या हर्ज है?''

बोलीं, ''कुछ हर्ज नहीं है।''

मैंने कहा, ''सुनिए, विधाता के हाथ अब भी तो हम जड़ की भाँति हैं। जो होता है, वही होता है। यह जान-समझकर हम जड़ जैसे बन जा सकें, इसमें ही क्या सिद्धि ही माननी होगी? सुनिए, आप और कुछ न सोचिए, उनकी खुशी कीजिए।''

बोलीं, ''यह क्या आप सचमुच मानते हैं कि मैं इसके अतिरिक्त कुछ और करती रही हूँ? मैं यह चाहती हूँ कि कोई मुझे बताए कि मैं अपने को कहाँ बचाती हूँ।''

मैंने कठोर होकर कहा, ''बचाती तो नहीं हैं, पर आपके मन का कुछ भाग जरूर बच जाता है।''

उस समय वह ऐसी कातर हो आयीं कि याद करके मैं अब भी सिहर जाता हूँ। अत्यन्त द्रवित-भाव से बोलीं, ''मन पर चाहती हूँ, अंकुश रखूँ। पर पैनी चोट देती हूँ, मन उसके भी काबू नहीं आता। बताइए क्या कर लूँ? मुझ पर जहाँ मेरा वश नहीं है, वहाँ आपसे पूछती हूँ कि बताइए, क्या करूँ? कुछ बताइए, कैसे एकदम जड़ हो जाऊँ? एक दवा है मौत ? लेकिन उसके तो आप कायल नहीं मालूम होते हैं।''

उस समय मेरा हारना मानो आपकी घनता को और भी सघन बना देना होता। सो मैंने मानों अपने को ही टालते हुए कहा, ''आप फिर वही बात करने लगीं। कुछ हँसा-खेला कीजिए न।''

सच ही उस बात से उनकी मुद्रा में तनिक ढील आयी। बोलीं, ''उसके लिए गयी थी आपके घर दो-एक बार। परिवार-समाज में कहाँ जाऊँ? क्लब धोखा है। सुधार आन्दोलन खिलवाड़ है। वहाँ मुँह की बात में मन की घात रहती है। घर में डॉक्टर इतनी अधिक हूँ कि और कुछ भी नहीं। खाली होती हूँ, तो अपने से घिर रहती हूँ। हँसूँ-खेलूँ किसके साथ? जो चारों तरफ मेरे अविश्वास और सन्देह भरा रहता है, उसके साथ ?''

''हमारे घर आना आपका क्यों बन्द हो गया?''

''उसे मैं जारी नहीं रख सकती।''

''क्यों!''

''सब बातों में 'क्यों' पूछते क्या कभी आप हिचकेंगे नहीं?''

''मुझे कोई कारण नहीं मिलता।''

''कारण, मैं अपना क्लेश बढ़ाना नहीं चाहती हूँ।''

मेरे चहेरे पर अनाश्वस्त प्रश्न दीखता रहा होगा। बोलीं, ''आप क्या कहते हैं? क्या यह कहते हैं कि साँपिन अपने जहर को लेकर सब जगह जहर फैलाने के लिए छुटी रहे?''

मुझे यह सुनकर बेहद बुरा मालूम हुआ। मैंने उठते हुए कहा, ''तब तो मुझे चलना चाहिए, जहर से बचना चाहिए।''

मैं सचमुच कठिन हो आया था। उन्होंने भी अपनी मुद्रा में बिना तनिक शिथिल हुए कहा—''हाँ, जाइए।''

मैं जा न सका। सोफे को जरा और पास खींचा और बैठकर बोला, ''देखिए। यह सब आपका अस्पताल पीछे है, आप पहले हैं। सुनती हैं? बन्द कीजिए अस्पताल। चलिए घर, वहाँ कुछ दिन रहिएगा। क्या हक है कि ऐसे आप अपने को मारती रहें?''

देखता क्या हूँ कि उनका काठिन्य एक साथ भंग हो गया है और आँखों में आँसू आ चमके हैं। उन आँसुओं में भी मुस्कराती हुई वह बोलीं, ''मैं कैसे आ सकती हूँ? नयी दिल्ली की कोठी में रहने जो मैं जा रही हूँ।''

मैंने कहा, ''तो क्षमा कीजिए। अब कभी मुझे याद न कीजिएगा।''

''नहीं करूँगी। लेकिन आप हृदय में मेरे लिए क्षमा रखेंगे तो यही मेरे लिए बहुत होगा।''

बात के इस तह तक आने पर आगे क्या होता! और आगे कुछ नहीं हुआ। सामने मेज पर दोनों कुहनी टेक हथेलियों में ठोढ़ी रखकर मुझसे पार सामने जाने क्या देखती वह बैठी रह गयीं। मानो उनके विश्व में से मैं एकदम अनावश्यक पड़कर दूर हो गया हूँ। तब मैं उसी हालत में उन्हें छोड़ अपने को लेकर वहाँ से चला आया।

18

एक सवेरे मैं घूमने निकला कि एक रोल्स रॉयस गाड़ी मेरे दरवाजे पर आकर रुकी। मुझे विस्मय हुआ कि कौन ऐसे समय इस गाड़ी में मेरे लिए आया है। इतने में देखता हूँ कि डॉक्टर असरानी उसमें से उतरे हैं। मानो साकार उल्लास हों। कोट खुला, टाई बाहर लहराती हुई, और उनके पीछे-ही-पीछे जो उतरे, वह हैं रायसाहब—मैं देख पाया कि अन्दर कल्याणी भी बैठी हैं।

डॉक्टर ने आगे बढ़कर हाथ मिलाते हुए कहा, ''कहिए, किधर?''

मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। कहा, ''यों ही घूमने।''

डॉक्टर ने परिचय दिया, ''आप हमारे मित्र रायसाहब।''

मैंने कहा, ''कृतज्ञ हूँ। दर्शन तो पहले भी पा चुका हूँ।''

रायसाहब ने मुझे अधिक अवसर नहीं दिया। मेरा हाथ लेकर झकझोरते हुए कहा, ''जी हाँ, जी हाँ। आपके बारे में अकसर सुना-पढ़ा करता हूँ।''

डॉक्टर साहब ने दो बड़े-बड़े लिफाफे मुझे दिये और कहा, ''देखिए, आइएगा। जरूर तशरीफ लाइएगा।''

मैंने कहा, ''चलिए, अन्दर तो चलिए। जरा बैठिएगा।''

रायसाहब बोले, ''इस वक्त तो माफ करना होगा। अभी लम्बा चक्कर है।''

मैंने हँसकर पूछा, ''यह कैसा हुक्मनामा है?''

रायसाहब बोले, ''एक एट-होम है। प्रदेश के प्रीमियर के सम्मान में। आप जरूर आइएगा। बल्कि वक्त से कुछ पहले आइए। मेरी कोठी के बराबर ही कोठी है। जी हाँ, नयी दिल्ली।''

मैंने कहा, ''शुक्रिया। लेकिन थोड़ी देर तशरीफ रख सकते।''

पर ठहरने के विषय में रायसाहब ने सबकी ओर से क्षमा माँगी।

''बिलकुल न रुक सकिएगा?'' कहते हुए मैं मोटर के दरवाजे तक बढ़ गया। कल्याणी ने मुझे आते देखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

दरवाजे का हैण्डिल घुमाते हुए मैं बोला, ''आप तो आइए?''

दरवाजा खुलते ही मुझे दीखा कि वैसे ही बड़े-बड़े लिफाफों की एक खासी संख्या कल्याणी के बराबर रखी हुई है।

कल्याणी जवाब में कुछ नहीं बोलीं।

मैंने दुबारा कहा, ''आप भी नहीं आ सकिएगा?''

अब भी नहीं बोलीं।

तब मैंने कहा, ''अच्छा।'' और दरवाजा बन्द कर दिया।

कल्याणी फीकी मुस्कुराहट से मुस्कुराकर रह गयीं।

इतने में डॉक्टर और रायसाहब मोटर के पास आ गये थे। मैं दरवाजे से अलग हट गया।

रायसाहब ने डॉक्टर को कहा, ''बैठो, बैठो। चलो, बैठो भी।''

डॉक्टर अन्दर बैठ रहे थे कि सबकी ओर से रायसाहब ने मुझसे क्षमा माँगते हुए कहा, ''माफ कीजिएगा। हमने शायद आपकी सैर में हर्ज किया। खुशी होती कि हम ठहर सकते। पर सही मानिए, अभी काफी घूमना है। ख्याल न कीजिएगा।'' कहते हुए फिर हाथ बढ़ाकर मेरा हाथ हिलाया और सब लोग चले गये।

मैं अपने को समारोहों के अनुकूल नहीं पाता हूँ। रसीली बात ही करनी नहीं

आती। इससे ऐसे अवसरों पर स्वयं अपने को मैं अरुचिकर हो आता हूँ। तब स्वभावत: दूसरों को भी अरुचिकर ही हो जाता होऊँगा। तो भी असरानियों की ओर से दिये जानेवाले इस एट-होम में न जाने का अवकाश अपने लिए मुझे नहीं जान पड़ता था। इतने पर एक बजे के लगभग आ पहुँचे मेरे पास कौन, मि. देवलालीकर!

बोले, ''डॉक्टर साहिबा ने मुझे भेजा है कि आप पार्टी में जरूर शरीक हों।''

मैंने कहा, ''मैं अहसानमन्द हूँ, लेकिन मेरी शिरकत में शक होने की कोई उन्हें वजह मिली है?''

देवलालीकर की शिष्टता को मैं आदर्श कह सकता हूँ। बोले, ''जी नहीं, शक की बात नहीं। फिर भी एतिहातन मुझे कहा कि मैं आपको याद दिला दूँ। उनका ख्याल है कि आप भूल सकते हैं।''

मैंने हँसकर कहा कि भूलने में मेरा अपना ही नुकसान है। जी नहीं, भूलूँगा नहीं। आप विश्वास रखिए।

देवलालीकर से कुछ देर तक इधर-उधर की बातचीत होती रही। मालूम हुआ कि इन दिनों छोटे-मोटे कामों के लिए डॉक्टर साहिबा उन्हें याद फरमाती रही हैं। जी हाँ, सिनेमा हाउस भी पधारती रही हैं। जी, हाउस आपका ही है। सेवा में पास भेजूँ तो श्रीमान् आ सकेंगे? मुझे डराया गया है कि आपको इन चीजों में दिलचस्पी नहीं है, कोई रस नहीं है। ख्याल है, डॉक्टर साहिबा ही कहती थीं। जी नहीं, जी नहीं...कृपा आपकी है। मैं आभारी होऊँगा। दिनों से आप से परिचय चाहता था। यह अनायास अवसर मिला। मैं तो खिदमतगार हूँ। इत्यादि।

पार्टी में मैं कुछ देर से पहुँचा। निमन्त्रितों की संख्या दो सौ तो होगी। बगीचे में शामियाना था। पाँच-पाँच, सात-सात कुर्सियों के बीच मेज थी। बीच में एक बड़ी खास मेज थी जिस पर पन्द्रह-बीस चुने हुए अतिथि थे। मैं एक अलग-थलग मेज पर जा बैठा और चाहा कि पहचाना न जाऊँ। लेकिन लगभग अपने फलाहार से छुट्टी पाकर चुका ही था कि देखता हूँ कि फिर देवलालीकर! वह आये और बोले, ''डॉक्टर साहिबा आपको याद फरमाती हैं।''

मैं बहुत संकुचित हुआ। तो भी गया। वहाँ पहुँचता हूँ कि एक कुर्सी झटपट लाकर कल्याणी और प्रीमियर के बीच रख दी गयी। लाचार मुझे वहाँ बैठना पड़ा। प्रीमियर से मेरा परिचय कराया गया। उनसे मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। ऐसा लगा कि प्रीमियर अभी लड़के ही हैं, अगरचे उम्र पचास से कम नहीं होनी चाहिए। चेहरे पर रेखा नहीं है। एक सौम्य व्रीड़ा हल्के बादलों से छनकर आयी धूप की मानिन्द वहाँ खेलती दीखती है। बड़े सीधे-सादे। मानों अकारण भी क्षमाप्रार्थी होने को उद्यत हों। थोड़ी बात करते हैं और वह भी बहुत धीमे। मुझे प्रतीत हुआ कि प्रीमियरपन इस व्यक्ति के लिए भोग नहीं बोझ है। पुरस्कार नहीं, शायद दण्ड है। जैसे कि यह व्यक्ति

चाहता हो कि वह भार ऊपर से उतरे।

डॉक्टर असरानी जहाँ-तहाँ व्यवस्था में लगे थे। वह बहुत व्यस्त थे, उत्साह और तत्परता से भरपूर। अभ्यागतों की अभ्यर्थना उन्हीं पर तो थी, पर कल्याणी क्या उदास थीं? सभी ओर से तटस्थ दीखती थीं। प्रमुख स्थान पर बैठी थीं। पर जैसे आस-पास का ध्यान उन्हें नहीं था। अपनी ओर बढ़े हुए हाथों के लिए भी कुर्सी से उठकर मिलने के लिए अपना हाथ आगे नहीं करती थीं। अधिक-से-अधिक वहीं बैठे-बैठे दोनों हाथ जोड़-से देकर वह लोगों की अभिवन्दना स्वीकार कर लेतीं, अन्यथा तो मानो उनको बैठने तक की सुध न थी। जैसे वह वहाँ अपने को निबाह-भर रही थीं, और नहीं के बराबर बोलती थीं।

लेकिन मेरी समझ में नहीं आया कि मैं यह काम कैसे कर सकूँगा।

उन्होंने शान्ति से पूछा, ''आप नहीं पढ़ सकेंगे?''

उनकी आँखों में अभियोग देखकर भी मैं 'नहीं' कह सका कि यह काम मुझे प्रिय होगा।

तब उन्होंने आकस्मिक और आत्यान्तिक शिष्टाचार के साथ कहा, ''क्या आप जरा डॉक्टर साहब को यहाँ बुला दीजिएगा? बड़ी मेहरबानी होगी।''

मैं उस बेहद अदब के स्वर पर स्तब्ध रह गया। तो भी साहसपूर्वक कहा, ''देखता हूँ कि एड्रेस आपके सिवा दूसरे का लिखा हुआ नहीं है। इससे उत्तम हो कि आप ही पढ़ें।''

उन्होंने इस पर ध्यान नहीं दिया और उसी ठण्डे अनुल्लंघनीय लहजे में कहा, ''आप कृपा करेंगे और डॉक्टर को बुला देंगे?''

इसके आगे मुझसे कुछ नहीं बन सका। समय कम था। उठकर व्यवस्था में व्यस्त-भाव से घूमते हुए डॉक्टर को पकड़कर मैंने कहा, ''सुनिए, अभिनन्दन आप पढ़िएगा। मुश्किल से पाँच मिनट का समय समझिए। एक जगह बैठकर इसे एक बार पहले अच्छी तरह पढ़ डालिए, तो सुभीता होगा।''

डॉक्टर ने तत्काल बात मान ली और वह एकान्त में बैठकर अभिनन्दन पत्र पढ़ने लगे।

अन्त में यथावसर डॉक्टर ने सब अभ्यागतों को सम्बोधन करके प्रीमियर के प्रति अपना अभिनन्दन-पत्र पढ़कर भेंट किया।

इस काम को डॉक्टर ने बहुत खूबसूरती से पूरा किया। अभिनन्दन की भाषा जैसे आयी थी, वैसी तो उनकी वाणी नहीं थी; तो भी संकोच उस वाणी में नहीं था।

अभिनन्दन कृतज्ञता के भावों से मुझे भारी और भीगा मालूम हुआ, पर उसमें प्रीमियर की राष्ट्रीय सेवाओं का ही उल्लेख था। राष्ट्र के वह कर्मठ सपूत हैं। भारत का अतीत ही नहीं, उनके कारण भारत का वर्तमान भी महान है। देश का भावी

इतिहास उन्हें याद करेगा। उन पर काव्य बनेंगे, गीत गाए जाएँगे। हम लोग संकीर्ण स्वार्थ में रह रहे हैं। आपने सब तज राष्ट्र-हित का वरण किया है। आपका आदर्श हमें स्फूर्ति और प्रकाश दे। इत्यादि।

प्रीमियर ने आभार में छोटी-सी वक्तृता दी। कहा कि आपके नगर के सम्भ्रान्त नागरिक असरानी-दम्पती का मैं कृतज्ञ हूँ। श्रीमती असरानी को मैं बहुत काल से जानता हूँ। श्रीमान असरानी का परिचय पाकर कृतज्ञ हूँ। आप सब लोगों के प्रेम का ऋणी हूँ। कांग्रेसी सरकारों पर आप भरोसा न रखिए। स्वराज्य अभी दूर है। बीच में जाने अभी क्या-क्या हमें झेलना है। मन्त्रित्व को आप ओहदा न समझें। जाने कब सब उलट-पलट जाए। कल हम जेलों में थे और सब साथी थे। आज लोग वजीर हैं और अफसर हैं और कुछ अब भी जेल में हैं; लेकिन यह माया का खेल है। कल हम फिर जेलों में हो सकते हैं, इसलिए प्रीमियर की हैसियत से मैं कुछ कहने योग्य नहीं हूँ। वह हैसियत ऊपर की आँखों के लिए है, धूप-छाँव का खेल जैसा होता है। आप लोगों के प्रेम का ही मैं मुस्तहक हूँ। वही मैं ले सकता हूँ। जो आदर आपने दिया, वह प्रीमियर को दिया होगा। मेरा हक उसमें नहीं है। डॉक्टर और खासतौर पर श्रीमती असरानी का फिर मैं एक बार कृतज्ञ होता हूँ। इनके आतिथ्य से आप लोगों के दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिला। इत्यादि।

प्रीमियर ऐसे बोले जैसे शब्दों की उन्हें कमी हो। ऐसा लगता था कि बोलते-बोलते एकाएक चुप न हो जाएँ। मानो कहीं भी वह टूटकर रुक सकते हों। उनकी बातचीत में कोई गरमी नहीं थी। जो लोग उनसे हाथ मिलाने आये, उनके सामने वह मुझे लज्जित दिखाई देते थे। उस व्यक्ति को देखकर एक विलक्षण स्निग्ध करुणा और आदर का भाव मुझमें हुआ।

पार्टी खत्म हुई, पर कहा गया कि मैं अभी नहीं जा सकूँगा। पार्टी के अनन्तर उस कोठी के एक कमरे में हम लोग गये। कमरे की सजावट कम खर्चीली नहीं थी। वहाँ लगे चित्रों की रुचि यदि बहुत ऊँची नहीं थी तो यह दूसरी बात है, पर सब कुछ नया और कीमती और आधुनिक था। वहीं हम लोग कुछ देर बैठे। प्रीमियर तो पहले से भी अधिक थके हुए दीखते थे। बस डॉक्टर का उल्लास उस मण्डली में एक उल्लास था। कल्याणी भी अपनी कुर्सी में ऐसी बैठी थीं कि जैसे रख दी गयी हों। बस इतना-भर बोलती थीं कि उनके कारण हमारी बातचीत में सरदी आने की वजह न रहे। रायसाहब की खुशमिजाजी ने अवसर की रक्षा की। देवलालीकर मानो वहाँ हुक्म पाने और पूरा करने की प्रतीक्षा में थे।

प्रीमियर ने झुककर पास बैठी कल्याणी को अँग्रेजी में कहा, ''कल्याणी, तबीयत ठीक न हो, तो जाकर आराम कर सकती हो। मेहमान यहाँ कोई नहीं।''

कल्याणी ने उत्तर में कह दिया कि नहीं, मैं बिलकुल ठीक हूँ।

खैर, वह बैठक कुछ बहुत देर जमी नहीं और थोड़ी देर बाद मैं अपने घर आ गया। पार्टी में जाकर मुझे समाधान प्राप्त हुआ, यह नहीं कह सकूँगा। रह-रहकर मुझे प्रीमियर, कल्याणी और डॉक्टर असरानी के चेहरों का ध्यान होता था। डॉक्टर का चेहरा ईर्ष्या के योग्य जान पड़ रहा था। इतना उल्लास, इतना आनन्द। कल्याणी मिट्टी-सी पीली थी। शरीर की किंचित असमर्थता तो ठीक, पर इसके अतिरिक्त मन ही उनका खिला न लगता था। प्रीमियर वय:प्राप्त ऐसे बालक की भाँति दीखे, जिसके सपने और खिलौने सब खो गये हैं; लेकिन जो जानता है कि वह वय:प्राप्त है, इसमें दु:खी नहीं दीख सकता। शिष्टाचार के नाते लांछनातीत उनका व्यवहार था। सबकी बात आदर से सुनते और जवाब उनका जितना संक्षिप्त उतना ही मीठा होता था। जो था, कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त जैसे दूसरी बात के लिए उनके पास जगह नहीं थी। बीज पड़ता है, तो मिट्टी और पानी के संयोग से उसमें अंकुर भी फूटता है। अंकुर फिर बाहर की ओर वृद्धिगत होता और पत्तियाँ देकर लहरा उठता है। ऐसे वह बड़ा होकर फूल और फल देता है और अपने आस-पास साफल्य का विस्तार करता है। इस आदमी की स्निग्धता में बीज पड़ा, तो क्या हुआ? क्या वह अंकुर बन सका? अंकुरित होकर छाँहदार हरियाला वृक्ष हो सका? शायद नहीं। पर यह अच्छा हुआ। महाभाल हिमालय तो वृक्ष नहीं है। वृक्ष को जड़ चाहिए, लेकिन आकाश की जड़ कहाँ हैं! वायु बहती है, धूप फैलती है। ये सबको मिलती है। पर ये जड़ से कब बँधी हैं! इसी तरह नि:कांक्ष आतप का सन्नाटा और सौम्य प्रेम की परिपक्वता उस पुरुष के चेहरे पर दीखती है। पर उसका लक्ष्य कोई बिन्दु नहीं है, वह अलक्ष्य रूप से सबके लिए है।

मुझे विस्मय हुआ कि राजनीति में ऐसे 'अहं' से रिक्त आदमी को कैसे स्थान मिल सका। झुलसाती आग का तो वहाँ चिह्न भी नहीं है! जैसे आग आयी हो, तो आकर फूस-तिनकों को जलाती हुई ऊपर से निकल गयी हो। अब मानों भीतर जलने लायक कुछ रहा ही न हो। ऐसा आदमी जिस राजनीति को मिल सका और लौकिक स्पर्द्धा के कठिन धरातल को फोड़कर ऊपर भी आ सका, वह राजनीति, मालूम होता है, सत्ता से भिन्न नीति की राजनीति भी है। नहीं तो यह व्यक्ति मानो सत्ता का आकांक्षी नहीं; बल्कि उससे बचने का ही आकांक्षी है। यह दूसरों की आँखों में नहीं आना चाहता है। अखबार की मुखर ख्याति भी नहीं, वह तो एकान्त के सहजवास की मूकता ही चाहता है।

मुझे ध्यान आया कि विलायत में कल्याणी प्रवासिनी थीं। यह व्यक्ति भी वहाँ प्रवासी था। दोनों उस विदेश में क्यों मिले? मिले, तो विलगे क्यों? कुछ होता है जो किया नहीं जाता। वह व्यक्तियों के द्वारा नहीं होता है, पर उनके बावजूद होता है। मानवीय विवेक से बढ़कर किसी बड़े कारणों से वह होता है। तभी तो कल्याणी नहीं

अर्पित कर सकी अपने ही हृदय का अर्घ्य और यह व्यक्ति भी अपनी स्पर्द्धा नहीं जतला सका। दिया हुआ भी नहीं दिया जा सकता और लेने वाला अपना लेने का दावा भूल गया। दोनों की इकट्ठी कृतार्थता दोनों के समक्ष थी, पर वह कृतार्थता दोनों में से किसी ओर से नहीं अपनायी गयी। दोनों ओर से स्वीकृतिपूर्वक अभाव को ही अपना लिया गया। उसके बाद क्या हुआ! परमात्मा ही जानता है, क्या हुआ। पर विलायत-प्रवास के उन दो प्रवासियों को आज जाने कितने वर्ष बाद फिर मिलना मिला। कैसे रास्ते इन दोनों ने इस बीच तय किये। अलग रास्ते, अलग सवाल, अलग कर्तव्य, अलग दायित्व। आज दोनों की राहें अलग-अलग भाव से चलती हुईं इस बिन्दु पर किसलिए अचानक आ मिलीं! लेकिन मिलकर फिर अलग हो जाएँगी। मानो मिली हैं, सिर्फ फिर न मिलने के लिए। समाप्ति के लिए नहीं, सिद्धि के लिए नहीं; पर इसलिए कि एक-दूसरे में से पूरी होती हुई आर-पार फिर आगे निकलती चली जाएँ। जीवन की यही अतर्क्य गति है। दो बिन्दु, जान पड़ता है, सदा के लिए दो बनते हैं। बिन्दू हैं तब तक दो हैं, पार्थक्य उनमें अमिट है। इसलिए बिन्दु रहकर जो उनके बीच अनिवार्यत: धर्मरूप हो रहता है ,वह है बिछोह। अत: धर्म संयोग नहीं है, वह वियोग है। दो सच्चे व्यक्तियों के बीच स्वेच्छापूर्वक अपनाया गया त्यागमय बिछोह ही सत्य है। उस बिछोह में ही स्नेह का अधिष्ठान है। भोग एकदम गलत है; क्योंकि भोग में स्नेह की सह्यता नहीं, स्नेह की समाप्ति है। स्नेह बिछोह में ही जीता है, जलता है, पलता है। इससे स्नेह का सार है विरह। भोग का सूत्र है त्याग। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'।

उस सायंकाल मैं अपने को सहसा उस दिन की घटना और उसके मुख्य पात्रों से अलग और अपने मन को रिक्त नहीं कर सका। जाने क्या-क्या सोचा किया, क्या-क्या सोचा किया। उस रात काफी देर में सोया और जल्दी उठ गया। उठकर अनुभव किया कि अब चित्त स्वस्थ है। कल की बात दूर हो गयी है। अब बुद्धि अपने में फँसी नहीं है। चलूँ, कुछ लिखूँ।

पर सामने अखबार पड़ गया। खोला, तो देखता हूँ कि एक सूचना है। लिखा है कि प्रीमियर यहाँ अभी कुछ रोज और रहनेवाले थे, लेकिन मालूम हुआ है कि वह आज शाम को ही चले जाएँगे। तीसरे पहर वायसराय से मुलाकात होने के बाद कुछ बाधा न हुई, तो शाम की अमुक गाड़ी से उनके रवाना हो जाने की खबर है। रात फिर खून का दबाव उन्हें बढ़ गया था और नींद नहीं आयी। आज का कार्यक्रम उनका स्थगित हो गया है। समझा जाता है, प्रान्त की राजनीतिक परिस्थिति भी उनके जल्दी लौटने में कारण है। डॉक्टरों ने हवाई जहाज में सफर न करने की सलाह दी है।

पढ़कर मैंने अखबार को अलग रख दिया और कमरे में टहलने लगा। प्रीमियर के प्रान्त की राजनीतिक परिस्थिति मैं नहीं जानता। मैंने कामना की कि यह सच हो

कि राजनीतिक परिस्थिति ही उन्हें ले जा रही हो। मानों मैं कमरे में टहलते हुए कदमों के जोर से अपने अन्दर यही धारणा कूट-कूटकर मजबूती से बैठा लेना चाहने लगा कि एकदम राजनीतिक परिस्थिति ही उस आदमी को रख रही और चला-फिरा रही है। इसके अतिरिक्त उस आदमी की जिन्दगी में कुछ नहीं है, जो उसे यहाँ-से-वहाँ या वहाँ-से-यहाँ हटा सके। मेरी बहुत इच्छा है कि यही सच हो, दूसरा कुछ भी और सच न हो। और अखबार को मेज पर आधा पड़ा छोड़कर मैं अब कमरे में टहल रहा हूँ और टहल रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि आदमी को, सच, क्या वस्तु फिराती है, भटकाती और चलाती है! वह क्या है जो आदमी को जिलाती है और जिसके बिना आदमी निस्पन्द होकर मर भी जाता है! दिल के अन्दर की धक्-धक् क्या है जो कभी नहीं थमती? वह स्पन्दन क्या है जो कभी नहीं रुकता, हर साँस के साथ उठता है, गिरता है और फिर उठता है। खिंचाव क्या है? यह सब क्या है? सचमुच मेरी लालसा है कि सब सरल हो जाए, रहस्य कुछ न रहे, और मैं कह सकूँ : राजनीतिक परिस्थिति। लेकिन हाय, यही अगर कहकर छुट्टी पा सकता तो—।

19

और कुछ दिन निकल गये। एक रोज तीसरे पहर उनका ड्राइवर मेरे पास आया। बोला, "आपको मेमसाहब याद फरमाती हैं।"

मालूम हुआ कि दरवाजे पर मोटर खड़ी है, कल्याणी वहीं हैं। मैं गया तो पिछली सीट पर वह बैठी थीं। कहने लगीं कि मैं साथ चलूँ। चल सकता हूँ?

मैंने जानना चाहा, "क्यों, कहाँ?"

बोलीं, "खास हर्ज न हो और आध घण्टे का भी समय हो तो चलिए।"

स्पष्ट था कि वह 'नहीं' न सुनेंगी। इससे मैंने कहा, "अच्छा, आ रहा हूँ।"

वह हँसकर बोलीं, "कपड़े किसके लिए बदलिएगा! ऐसे ही न चलिए। अभी तो आते हैं।"

क्या यह उनकी मुझे प्रगल्भता लगी? लेकिन मैं उन्हीं कपड़ों में साथ हो लिया। रास्ते में बातों-बातों में उन्होंने मुझे पूछा कि मैं मूल रहने वाला कहाँ का हूँ, देहली का?

मैंने बताया, "नहीं, एक दूर देहात का जन्म है।"

बोलीं, "फिर आप दिल्ली क्यों रहते हैं?"

मुझे इस सवाल पर अचरज हुआ।

कहने लगीं, "अपनी वकालत पर आप जैसा ध्यान देते हैं, मैं जानती हूँ। फिर दिल्ली रहते हैं तो क्यों?"

मैंने हँसकर टालते हुए कहा, "दिल्ली बुरी जगह है?"

बोलीं, "आपको अच्छी लगती है?"

मैंने कहा, "अपनी जन्म-राशि से वह राजधानी है।"

बोलीं, "पत्थर राजधानी है? आज की राजधानी नयी दिल्ली क्या ऊपर और क्या भीतर पत्थर नहीं है? खूबसूरती उसकी पत्थर की और दर्प की है। पानी और घास की ठण्डक कहीं बिछी है भी तो उसके ऊपर तनकर मगरूर पत्थर गुर्राता दीखता है। नहीं?"

मैंने कहा, "यह तो कविता हुई, लेकिन आपको अवसर था कि आप इस पत्थर की दिल्ली में न आतीं।"

बोलीं, "जी नहीं, आप भूल न कीजिएगा। हम रुपये के जीव हैं। दिल्ली में हमें खान हैं, सब कहीं से रुपया वहाँ खिंचकर आता है। चतुर के लिए कौन जगह यहाँ से अच्छी होगी! पर आप कहिए कि आपको दिल्ली नरक नहीं मालूम होती है?"

मैं हँसकर बोला, "देखता हूँ कि आप मेरी दिल्ली छुड़ाने पर उतारू हैं। आखिर बात क्या है?"

वैसे ही हँसकर बोलीं, "चल तो रहे हैं। बात अभी आती है।"

दस-बारह मील आ गये होंगे। मोटर अब पक्की सड़क से नीचे उतरी और कुछ दूर राह-बे-राह चली। थोड़ी देर में फिर वह रुकी और कल्याणी ने कहा, "यह जगह देखिए। कैसी है?"

जगह तो दीखी ही, पर उसके कैसी होने में क्या अभिप्राय है, सो समझ में नहीं आया। असल में शुरू से ही मुझे कुछ समझ न आ रहा था। जगह यों अच्छी ही थी। एक तरफ पहाड़ी, नीचे तीन ओर खुला मैदान। हरी घास न थी, न खेती। जमीन खुश्क और कँकरीली। तराई का निशान नहीं। कण्टीर और झरबेरी की झाड़ियाँ जहाँ-तहाँ फैल रही थीं। पर मकानों में बन्द होकर रहनेवालों के लिए धरती का खुला फैलाव ही सुन्दर हो आता है। जो कहीं उस पर धानी हरियाली छायी हो और बीच-बीच में खिली सरसों की पाँतें हों और बयार से सब ओर बिछी यह हरी-पीली चादर लहर-लहर लहरियाँ लेती हो, तब तो पूछिए क्या?

बोलीं, "वन में पेड़ होने चाहिए। लेकिन क्या जरूर पेड़ होने ही चाहिए? यहाँ पेड़ नहीं हैं, पर निर्जनता पूरी है। तपोवन में निर्जनता चाहिए, पेड़ हों या न हों। क्यों, आप क्या कहते हैं? बड़े पेड़ों के बिना तपोवन नहीं हो सकता? फिर पेड़ उगाये भी जा सकते हैं।"

कल्याणी में यही अनबूझ है। चार में तीन हिस्से बात अनकही रखकर सिर्फ एक हिस्सा कहेंगी। उस पर समझेंगी कि समझने को काफी हो गया। मानो कि मेरे लिए अनकही तीन हिस्सा बात तो तय ही हो। बाकी एक हिस्सा कहने का जो कष्ट किया जा रहा हो, वह भी यों ही जाने क्यों। अन्यथा तो उतना भी अनावश्यक ही हो। मैं जानता हूँ कि एक सम्बन्ध ऐसा हुआ करता है, जहाँ बात मौखर्य से नहीं, मौन से ही एक से दूसरे को अधिक घनिष्ठता से प्राप्त होती है। शब्द वहाँ बाधा है। उससे बीच का अन्तर भरने की जगह और बढ़ ही जाता है। पर उन्हें मेरे प्रति कब वह सम्बन्ध समझने की इजाजत थी? तब बात खोलकर क्यों नहीं कही जाती है? मैं अन्तर्यामी हूँ? मन:पर्यय-ज्ञानी हूँ? मैं कौन हूँ?

मैंने जानना चाहा, ''मामला क्या है?''

बोलीं, ''जमीन यह चालीस एकड़ है। मैंने मालूम किया है, करीब आठ हजार में मिल सकती है। ऊपर दो और हजार में बसने लायक एकाधा झोंपड़ा पड़ जाएगा। अब कहिए, क्या कहते है? सब आप पर है।''

मैंने विस्मित भाव से कहा, ''मुझ पर क्या है?''

जवाब में वह नाराज हो गयीं। बोलीं, ''मैं कुछ नहीं जानती, मुझे छुट्टी नहीं है। मुझे तो यहाँ दिल्ली में ही गड़ना है। डॉक्टरी से छुटकारा मुझे नहीं मिलना। पर तपोवन मेरा सपना है—'भारतीय तपोवन'। सपना क्या मुझे सपना रहेगा? पर आप हैं, तब मैं निराश क्यों होऊँ? क्या देखते हैं? नहीं, आज मैं पागल नहीं हूँ। ठीक है कि मुझे दिल्ली में ही मरना और गड़ना है, पर आप क्यों यहाँ जमकर नहीं बैठ सकते? 'भारतीय तपोवन' आप हो सकते हैं। कोई विधान नहीं, पद-अधिकारी नहीं, विभाजन नहीं। सब आप। सुनते हैं? सब आप। मैं दस हजार तो कर लूँगी। जेवर हैं, बेच दूँगी। दो बीमे हैं, भुना लूँगी। दस पूरे करके चेक आपको दे दूँगी। सुनते हैं, या आप सुनते भी नहीं हैं? चेक से आगे सब आप जानें। क्या यह मंजूर है आपको? क्या आप मेरी तरह? आप स्त्री हैं? आप डॉक्टर हैं? आप पर किस्मत का शाप है? क्या रोक है आपको? मैं तो मशीन हूँ। कट-कट, कट-कट रुपया बनाती हूँ। हर काम रुपया माँगता है। है न? यह दुनिया का सच है। तब रुपया बनाऊँगी, लाऊँगी, माँगूँगी, बटोरूँगी। और लाकर आप पर पटक दूँगी। आप होंगे तो 'भारतीय तपोवन' हो जाएगा। मैं आपको पा गयी और 'भारतीय तपोवन' को जनमा गयी तो मरकर भी न मरूँगी। आप देखते क्या हैं? होश-हवास मेरे दुरुस्त हैं। बोलिए आप क्या कहते हैं?''

मैं क्या कहता? मैं नहीं जानता कि उनके मन में उस समय क्या था। उन्होंने मेरी ओर आँख उठाकर पूछा, ''आप इनकार करते हैं?''

मैंने कहा, ''क्या आप यह मानती हैं कि मैं और सब कुछ अयोग्य हो गया हूँ,

बस एक तपोवन के ही योग्य रह गया हूँ?''

कहकर मैं हँसा।

क्या मेरे हँसने से उन्हें आश्वासन प्राप्त हुआ? जो हो, उनका चेहरा इतना सन्नद्ध न रहा। बोलीं, ''सच कहिए। मैं भी सच कहती हूँ कि अगर मुझ पर शाप न होता तो मैं धन छोड़कर तन और मन से आपके तपोवन की ही हो जाती। पर धन कहाँ छूटता है? धन से फिर तन और मन भी अपना नहीं रह पाता है। फिर भी जब होगा दिल्ली से भागकर आपके इस वन में आ रहा करूँगी, यह मेरा वचन समझिए। नहीं-नहीं, डॉक्टर नहीं, आश्रमवासिनी। बिलकुल आश्रमवासिनी।''

उनकी बातों में हठात् दिलचस्पी लेते हुए मैंने कहा, ''जमीन यह बंजर है। इसको हरा-भरा बनाने में कम रुपया और कम शक्ति नहीं लगेगी।''

उत्साह से बोलीं, ''बेशक नहीं। पर कौन कहता है कि रुपया हिन्दुस्तान में कम है? कम नहीं है। जमीन तो आपने देख ली। अब चलिए, मैं बताती हूँ।''

कहकर उन्होंने मुझे मोटर में बैठने को कहा और वापस चलीं।

बोलीं, ''इस दिल्ली में क्या कम रुपया है? कम नहीं है। कम है कल्पना और कम है संकल्प। नयी दिल्ली में क्या करोड़-पर-करोड़ नहीं लग गया? मैं कुछ रुपयेवालों को जानती हूँ। जानती हूँ कि कैसे उनके हाथ आता है और कैसे चला भी जाता है। मेहनत से नहीं आता और मेहनत से नहीं जाता। क्या वह रुपया इस आने-जाने में भलाई को बढ़ाता है, जिन्दगी को बढ़ाता है? विलायती डिगरीवाली मेरी डॉक्टरी मुझे रुपये वाले घरों में ले आती है। सुनिए, एक करोड़पति की पुत्र-वधू मेरे इलाज में हैं। वधू की नहीं कहती, पुत्र की कहती हूँ। जवान उम्र है, पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं, सुन्दर हैं, स्वस्थ हैं, शौकीन भी हैं ही। शौक के सहारे उनके दिन कटते हैं, पर पके अभी नहीं हैं और दिल के हरे और उदार हैं। सुन्दर के रूप में सत्य के वह उपासक हैं, यद्यपि यह वह नहीं मानते। पढ़ते हैं, लिखते हैं और भोग में रहकर भोग की व्यर्थता जानने लगे हैं। सौन्दर्य पर जी उनका गया है, पर हाथ बढ़ाकर उस पर मुट्ठी बाँधी है कि वह अन्दर से रीती ही खुली है, भीतरी पकड़ में कुछ नहीं ठहरा है। पर फिर भी वह तो है ही, जो उनमें कामना जगाता है। वही सौन्दर्य। अतः सुन्दर ही उनका सत्य है। मैं सुन्दर हूँ? लेकिन वह मेरा आदर करते हैं। सदा अपनी गाड़ी में मुझे ले जाते हैं और ड्राइव करते हुए बराबर की सीट पर बिठाते हैं। नहीं, युवक की भावना को मैं गलत नहीं समझूँगी। वह सदा पवित्र है। उसमें स्वप्न मिला होता ही है। काव्य होकर वह निष्काम भी होती है। खैर, वह मुझे दीदी कहते हैं। बड़े सम्भ्रम और सम्मान से मुझसे व्यवहार करते हैं। पत्नी के कारण उनका अधिकांश मुझसे अप्रकट नहीं है। वह युवक मुझे प्रिय है। तरल है। तुच्छता और वक्रता उनमें नहीं है। उनके हाथ में पाँच-सात हजार की क्या कुछ गिनती है? वह मुझे बहुत कहते

और बहुत मानते हैं। फ्रायड को मैं नहीं जानती। हो सकता है गहराई में सब कहीं एक ही चीज हो। गहराई मैं नहीं जानती, पर सोचती हूँ कि क्या हर्ज है कि उनसे कहकर देखूँ कि लाइए, एक अच्छे काम के लिए मुझे पाँच हजार दे डालिए। शायद उनका सम्भ्रम यह सुनकर काफूर हो जाए। शायद सुनकर खुश हों कि उनको मेरी कीमत मालूम हो गयी। शायद किसी आशा में मेरी बात वह पूरी भी कर डालें। पर फिर भी मैं क्यों न कह देखूँ? जानती हूँ कि शुद्ध आदर्श नहीं है जो उन्हें मेरी ओर लाता है। समझ की बातें सतह की बातें हैं। पर मैं वह सब क्यों सोचूँ? रुपया मिल सकता है, तो क्यों न ले लूँ? इसी तरह मैं सोचती हूँ कि रुपया और भी जमा किया जा सकता है। बोलिए, आपको कितना चाहिए? क्या देखते हैं? मैं अपने को कोई बेचने नहीं चल पड़ी हूँ। बस, आप यह कहिए कि आप वहाँ बैठेंगे। तब मैं जाती हूँ और अभी अपने सब परिचितों को लिखूँगी। कुछ हैं जिन्हें मैं जानती हूँ, लिखकर उनसे धन माँगूँगी। शर्म क्या है? आखिर किस काम आ रहा है, धनवालों का धन? वह मोरियों में ही तो जाता है। यहाँ लगकर वह क्या असलियत में ही नहीं लगेगा? बोलिए, क्या कहते हैं? आप चुप हैं और मैं बड़ी आशा से आयी हूँ। बोलिए, बोलिए।''

उस नारी से मैं हारा। बोला, ''मैं गिरिस्ती आदमी। अपने मुझे अपने हैं, पराये पराये हैं। अपना-पराया जिसका नहीं छूटा, वह क्या तपोवन के योग्य है?''

कल्याणी झुंझला आयीं। बोलीं, ''फिर किस योग्य को आसमान में से उतारकर मैं ले आऊँ! सोचा था कि एक को पा गयी हूँ। वही कहने निकलता है कि अयोग्य हूँ। अरे, यों अपने को योग्य जाननेवाले किस शेखीबाज ने कभी कुछ किया है! लेकिन जाने दो। सपना टूटने को होता है।''

मैंने देखा कि उनकी आँखें कातर हो आयी हैं। मानों सब कुछ उनसे छिना जा रहा है। सब कुछ, सब कुछ।

यह देखकर मैंने कहा, ''योजना तो बनाइए। मैं सोचूँगा।''

सुनकर उनके चेहरे की घटा दूर हो गयी और धूप खिल आयी। (यह कहना मैं भूला कि उत्साह-भरी यह बातचीत मेरे मकान पर ही आकर हुई थी) वहाँ से चलीं तो ड्राइवर को पीछे बिठाया, खुद उसकी जगह बैठीं। बोलीं, ''आज इतवार है, अगले इतवार को मिलिए। जब तक बाहर के उत्तर भी आ लेंगे। सुनिए आप, कि 'भारतीय तपोवन' होगा और आप प्रस्तोता होंगे। सपना ही सच होता है, सपना नहीं तो क्या यह आँखों दीखती दुनिया सच है? यह मटमैली दुनिया? नहीं, जिन्होंने सपने को सच किया है, वे ही जीये हैं। शेष का जीना भी जीना है?''

मैं उनके उत्साह पर प्रसन्न हुआ और चलते समय सहर्ष मैंने प्रणाम किया। पर इस बार उन्होंने हाथ जोड़कर मुझे नमस्कार नहीं किया। बल्कि बायें हाथ

को स्टीयर-व्हील पर ही रहने देकर, दाहिने हाथ की उँगलियों को माथे पर लाकर उन्होंने इस तरह मुझे अभिवादन दिया कि जैसे यह देश विलायत हो और वह विलायत की ही कुमारी हों—तरुण, निर्द्वन्द्व, डैने खोलने को उद्यत पक्षी के समान।

20

इतवार से पहले रोज डॉक्टर असरानी आ गये। खिन्न थे और चिन्तित। उनके मन पर बहुत बोझ मालूम होता था। आकर वह मुझ पर अपने को खोल चले। बहुत जल्दी-जल्दी उन्हें बोलना पड़ रहा था। एक के खत्म होने से दूसरे वाक्य को रोके रखने में उन्हें कठिनाई होती थी। खुद सवाल करते और खुद उनका जवाब देते थे। स्पष्टत: उन्हें कष्ट था, इतना कि धैर्य से अधिक। उन्हें समझ न आता था कि कैसे क्या किया जाए।

''वह क्या चाहती हैं? मुझे बताती क्यों नहीं कि क्या चाहती हैं? मैं अयोग्य हूँ? अच्छी बात है, मैं अयोग्य हूँ। मैं मानता हूँ। अगर वह चाहती हैं कि मैं टल जाऊँ, तो मैं इसके लिए भी तैयार हूँ। मैंने अपने को योग्य नहीं माना। फिर रोज की झकझक क्यों? आत्म-सम्मान सब में होता है—कम या अधिक। चुनाँचे मुझे कभी गुस्सा आ गया है। गुस्सा मुझे अकसर आ जाता है, उसमें अनकहनी कह जाता हूँ, अनकरनी कर जाता हूँ। पर क्या उसका रंज मुझे नहीं होता? गलती पीछे से लगती है और अकेले में अपने दोषों पर विचार जाता है। दोष मुझमें हैं, बहुतेरे हैं। लेकिन अब क्या हो सकता है? मैं एक हद तक ही अपने को बदल सकता हूँ। मैं हूँ, तो साथ दोष भी हैं। मैं पूछता हूँ, विवाह को हम तोड़ सकते हैं? हाँ, तोड़ भी सकते हैं। पर फिर बालकों का क्या होगा? इससे नहीं तोड़ सकते। होनहार से लड़ा कब तक जाए? आखिर तो समझौता ही चलेगा। क्या रोज आपस में झींकते रह जाएँ? जिन्दगी ऐसे नरक बन गयी है। क्या तमाशा है, क्या मजाक है! मैं परेशान हूँ, हैरान हूँ। हैरान हूँ कि वह अपने मन की साफ कहती क्यों नहीं हैं? मैं गुस्से में भभक लेता हूँ, और चलो, मन का गुबार निकल जाता है; लेकिन वह तो गुस्सा भी नहीं करतीं। कुछ कहती नहीं, बोलती नहीं—गुमसुम, गुमसुम। बताइए, तब मैं क्या करूँ? यही न कि मैं काला मुँह कर जाऊँ? अब दो रोज से फिर वही हाल। सेहत का ख्याल नहीं। न दवा लेंगी, न कुछ। पड़ी हैं, अलग-थलग कि जोगिन हों। दिन ऐसे हैं कि तन्दुरुस्ती का ख्याल रखना चाहिए। नहीं तो आगे बिगाड़ हो सकता है। स्त्री का यह दूसरा जन्म समझिए। सृष्टि का भी क्रम है। आप क्या कहते हैं, उन्हें अपना ख्याल करना चाहिए? अब तो बल्कि दोहरी

जिम्मेदारी है। वह नहीं, एक जीव उसके साथ और है। लेकिन मैं हैरान हूँ, परेशान हूँ। आखिर चारा भी तो बताया जाए कि क्या हो, मैं क्या करूँ ? मैं बकता हूँ, झींकता हूँ। डर रहता है कि हाथ छोड़ बैठूँ। क्योंकि पीछे पछतावा हो आता है। आप तो जानते हैं। आप चलकर उनसे कहिए। कहिए, समझाइए। मैं...नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं। मैं सच, कुछ नहीं कहता। मुझे क्या मालूम था कि हम—आखिर दोनों समझदार हैं। बाल पकने को आये। झगड़ा कब तक चलेगा। कैसे ऐसे जिन्दगी निभेगी! बच्चे हैं, उनकी खातिर तो—लेकिन वह हैं कि चुप। सब बातों में चुप। जैसे मुझसे एक बात करने की रवादार न हों। आखिर यह तमाशा क्या है ? क्या जनाब, मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि इसका मतलब क्या है, मामला क्या है ?''

इस तरह डॉक्टर असरानी काफी देर कुछ-कुछ कहते रहे।

मेरे मन में सच्ची सहानुभूति हुई। मैंने कहा, ''बात क्या है ?''

बोले, ''बात! यही तो पता चले कि बात क्या है ? मुँह है कि हर वक्त सूजा हुआ। आखिर कुछ समझ में भी तो आए!''

मैंने कहा, ''यों ही कुछ तबीयत खराब होगी। मन है, कुछ देर बिगड़ा भी रहा, तो क्या। बदली आती है, और साफ हो जाती है।''

बोले, ''मैं भी जानता हूँ। तबीयत के फिट्स हैं, लेकिन मुसीबत भी तो यह है कि जानेवाला हूँ।''

अनायास-भाव से मैंने पूछा, ''जा रहे हैं, कहाँ ?''

''जा नहीं रहा, जाना पड़ रहा है। क्या मुझे फिक्र नहीं है कि दिन ऐसे हैं और वह अकेली रहेंगी! पर मैं जल्दी आने की कोशिश करूँगा। कोशिश ही कर सकता हूँ। बाकी काम का रुख है। पर यहाँ तो सब इन्तजाम है ही। आप हैं, और लोग हैं। उन्हें कहिए—।''

''कब जा रहे हैं ?''

''जब भी चल दूँ।''

''तो क्या दो ही चार रोज में ?''

''सोचता तो हूँ।''

कुछ रुककर मैंने आशा प्रकट की कि किसी जरूरी काम यानी बिजनेस से ही जा रहे होंगे।

असमंजस में मुस्कराते-से बोले, ''जी हाँ!''

अनन्तर उन्होंने बताया कि दुनिया में पैसा कितनी जरूरी चीज है। पैसे के मित्र, पैसे का ईश्वर। जी हाँ, ईश्वर भी पैसे का ही है। आप सच मानिए। जिन्दगी इतनी गुजर गयी है। ऊँच-नीच कितने देखे हैं। सब तजुरबे का एक सबक है। वह यह कि पैसा नहीं है, तो तुम्हारा कुछ नहीं है। आप तो खुद जानते हैं। इस बार मैंने सोचा है

कि पाँच-सात साल लगकर कमाई कर ली जाए। बाकी जिन्दगी फिर शान्ति और धर्म में व्यतीत की जाए। इसलिए मैं जा रहा हूँ। अभी तो बदन में दम है। मेहनत हो सकती है। बुढ़ापा आने पर फिर क्या होगा। इस काल में जो जमा-पूँजी हो जाएगी, वही आगे काम आएगी। मेरा अकेले का क्या है। मर्द आदमी हूँ, अकेले तन को दो मुट्ठी अनाज की क्या कमी है। लेकिन स्त्री है, बच्चे हैं, इज्जत है। उन्हीं के लिए तो मैं हूँ। अपनी मुझे जरा फिक्र नहीं। लेकिन बाल-बच्चों की खातिर घर बसाना पड़ता है, हैसियत-आबरू बनानी पड़ती है। पर मैं परेशान हूँ। शादी से पहले मैं था एक परिन्दे के मानिन्द। तब कब सूझी थी कि कमाना होगा, या ये दिन देखने होंगे। लेकिन खैर, जिन्दगी है। मैं बचता नहीं हूँ, डरता नहीं हूँ। इन्सान क्या नहीं कर सकता? मुझे अपने से उम्मीद है। पर इन्सान से किसी को हैवान समझ लिया जाए, तो क्या हो सकता है? आज हमारी जिन्दगी कोई जिन्दगी है! इस चाल से क्या हम दस साल में भी आराम और इज्जत के दिन पा सकेंगे? सोचता हूँ कि दो लाख काफी होगा। दो नहीं तो ढाई। उतना होने पर दुनिया का खटराग मैं छोड़ दूँगा। आप ही देखिए। बच्चों की परवरिश है, शिक्षा है। उन्हें इन्सान बनाना है। है कि नहीं? इसमें रुपया चाहिए। क्या ख्याल है?

मैं उनके प्रवाह में बाधा नहीं हो सकता था। अनुमति दी—अवश्य रुपया चाहिए।

बोले, ''लेकिन किसके लिए? अपने लिए नहीं, बाल-बच्चों के लिए। मेरी जिन्दगी उनकी जिन्दगी है। मेरी कमाई उनकी प्रतिष्ठा है, पर मैं दिन-रात पिस रहा हूँ और मुझे क्या मिलता है? कुछ नहीं, रहम तक नहीं। मुझसे बात तक नहीं की जाती। क्या मैं इस लायक भी नहीं हूँ? आखिर क्या बात है?''

मैंने डॉक्टर को सहलाया। जलपान का आग्रह किया। इधर-उधर की बातें चलायीं। धीरे-धीरे उनके मन में शंकाएँ हैं। अनुमान हैं। उससे उनका मन काफी उद्विग्न और दुःखित रहता है, लेकिन यह नहीं कि उनमें आत्मालोचन की वृत्ति ही नहीं है। मेरे प्रति उस दिन वह कुछ इतने खुल आये कि अपने जीवन की दबी-ढँकी बातें उघाड़ने लगे। मैंने उन्हें रोकना भी चाहा, पर क्या आत्म-सन्ताप के रस की उन्हें जरूरत थी?

मैंने उन्हें कहा कि अपने को हीन मानने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन मैंने जो क्रमशः सुना, मैं मानूँ कि उससे मैं दंग रह गया। वह प्रसंग दोहराने के लिए नहीं है, पर उससे मालूम हुआ कि इस विवाह के लिए कितनी होशियारी उन्हें खेलनी पड़ी थी। जो आज पत्नी हैं, विवाह से पूर्व वह क्या प्रान्त भर की रत्न न थीं? अच्छे-से-अच्छा सम्बन्ध क्या उन्हें दुर्लभ था? फिर भी मैं सफल हुआ तो—पर वह इस कथा से प्रसंगान्तर है, जाने दीजिए। किन्तु मुझे वह सब सुनकर अत्यन्त कष्ट हुआ। लेकिन देखता हूँ कि डॉक्टर जिसको अपनी कारगुजारी मानते आये थे, उस पर उन्हें अनुताप

भी है। अब वह उन्हें अपनी महिमा नहीं, लज्जा मालूम होती है।

मैंने कहा, ''डॉक्टर, यह सब आप कैसे कर सके?''

वह लज्जित थे। बोले, ''उस समय जाने मुझ पर क्या सवार था। इस विवाह में अकृतकार्य रहने की कल्पना भी मुझे असह्य थी। आप कहेंगे कि अपनी भावी पत्नी के विषय में झूठे लांछन का प्रचार मैं ही किस प्रकार कर सका, लेकिन किसी और तरह मेरी कामना पूरी हो न सकती थी—पर विवाह से भी क्या मनोरथ मेरा पूरा हुआ? ओः, नहीं। पाना चाहा उसको पा नहीं सका, शायद उलटे बिगाड़ ही सका।''

उस समय डॉक्टर के प्रति मेरे मन में बहुत ही हार्दिक भाव हो आया था। मैंने कहा, ''डॉक्टर, अब आप बाहर कहीं जाते क्यों हैं? दवाखाने की आमदनी काफी है। उसमें सन्तोष रखकर गृहस्थी का पालन कीजिए। देखिए, मेरी आय तो आपका पाँचवाँ हिस्सा भी नहीं होगी।''

पर संकल्प और सदिच्छा से प्रकृति कदाचित प्रबल ही होती है। बोले, ''गृहस्थ के लिए अर्थोपार्जन ही मुख्य है। घर तो सब कुछ चलता ही है। पर एक बार कमाई अच्छी कर ली गयी, तो सदा को निश्चिन्तता हो जाएगी। मैं सब गृहस्थी के लिए ही सोचता हूँ।''

बात उनकी झूठ न थी। नक्शे के ब्यौरे पूरे थे। पाँच साल में ढाई लाख रुपया अलग बचा लेने की उनकी स्कीम थी। उसके गणित में त्रुटि न थी। एक लाख में यहाँ दिल्ली में खासी एक कोठी हो सकती है। बाकी में आगे गाड़ी चलती रहेगी। बात अच्छे इन्वेस्टमेण्ट की है। वह सब उन्हें मालूम है। इतना होने पर ऊँचे समाज से प्रतिष्ठा बन जाएगी। सोचिए, पत्नी की योग्यता के योग्य तो प्रतिष्ठा मुझे बनानी ही चाहिए। स्पृहणीय गृहिणी, द्रव्य की सुविधा और ऊँचे लोगों का संग। उस अवस्था में कल्याणी के मन का अवसाद भी दूर हो जाएगा। अभी तो मेहनत उन्हें बहुत पड़ती है और जी बहलाने का अवकाश काफी नहीं मिलता। इसी से चित्त भटक आता है। आर्थिक सम्पन्नता पर लोक-सेवा की विविध प्रवृत्तियों में वह भाग ले सकेंगी। उधर उनकी बहुत भावना है। ऐसे तबीयत बहली रहा करेगी। क्यों, वकील साहब?

नक्शा सब ओर से सही है, इस बारे में डॉक्टर को किंचित सन्देह न था। कलख एक यही थी कि कल्याणी का मन नहीं मिलता है—जाने वह क्यों अनमनी रहती हैं। तो डॉक्टर को विश्वास था कि भविष्य उनका उज्ज्वल है? बादल कहीं है तो खिर रहेगा और जीवन में फिर सुनहरी धूप ही रह जाएगी। एक बार पैसा—।

मैंने हृदय से जतलाया कि उनकी आशा में मैं साथ होना चाहता हूँ, आगे जो भवितव्य हो। कहा कि इस ओर मैं आऊँगा। मुझ पर भरोसा, मुझ पर कृपा है।

मैं आशा करना चाहता हूँ कि डॉक्टर मेरे पास से गये तब अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ-चित्त थे। लेकिन मेरे चित्त का स्वास्थ्य?

21

इतवार को मैं कोठी गया। डॉक्टर नहीं थे और नौकर मुझे साथ ले चला। अन्दर, अन्दर, उसके भी अन्दर, कोठी के पार, एकदम पीछे एक नीची छत की कोठरी की चिक तनिक हटाते हुए आदमी ने कहा, ''मेम साहब!''

''कौन है?''

''बाबूजी?''

इतने में मैं अन्दर आ गया। कल्याणी लेटी हुई थीं। तकिये से सिर उठाकर उन्होंने मुझे देखा। माथे पर धोती को ठीक किया। कहा, ''आइए।''

कोठरी दस बाई पन्द्रह फुट की होगी। दायें की दीवार से लगा एक तख्त बिछा था। उस पर चटाई, चटाई पर कम्बल और कम्बल पर मृगछाला। सिरहाने तकिये पर रखे एक अण्डी चादर लिये वह लेटी थीं। बराबर एक छोटी मेज थी। पास एक अकेली कुर्सी। कुर्सी की सीट तख्ते की थी और उस पर गद्दी नहीं थी। पीछे दीवार से लगी एक बेंच पड़ी थी जिस पर पाँच-छः आदमी बैठ सकते थे। तख्ते के बराबर दीवार के पत्थर की बिन-किवाड़ अलमारी लगी थी। उसमें नीचे के खाने में कुछ किताबें, एक-आध कॉपी और कागज फैले थे।

मैंने बढ़ आकर प्रणाम किया। कल्याणी उठ बैठने लगी थीं। मैंने कहा, ''कष्ट न कीजिए। लेटी रहिए, लेटी रहिए।''

उठते-उठते वह लेट रहीं। बोलीं, ''क्षमा कीजिएगा।''

लेकिन मैं यह क्या देख रहा था! सब छोड़कर इस उजाड़ कमरे में आ रहने की क्या बात है? मैंने कहा, ''कहिए, कैसी तबीयत है?''

बोलीं, ''ठीक है।''

जब देखा कि इतने से जवाब पर मैं आश्वस्त नहीं हूँ तो कहा, ''यह कमरा सबसे शान्त है। और तो कोई बात नहीं है।''

''इधर शायद आप दवाखाने नहीं गयी हैं?''

धीमे-से बोलीं, ''नहीं।''

''तब तो शायद तबीयत खराब है। दवा ली?''

''नहीं।''

''यह तो वाजिब नहीं है। डॉक्टर साहब को चिन्ता है कि उन्हें जाना पड़ रहा है और आप अपनी तबीयत के बारे में उदासीन हैं।''

वह चुप ही रहीं।

''कल घर आये थे। शायद जल्दी जा रहे हैं। आप दवा क्यों नहीं लेती हैं?''

चुप।

"डॉक्टर साहब की राय है कि आपको दवा लेते रहना चाहिए।"
तब बोलीं, "डॉक्टर साहब जल्दी जा रहे हैं?"
"मालूम होता है, वह तैयार हैं। आपका ख्याल ही उन्हें रोक रहा है।"
सुनकर वह चुप रहीं।

वह इस करवट लेटी थीं। बाँह दोनों चादर से बाहर थीं। बदन पर बस एक धोती थी। थोड़ी देर चुप नीची आँखें किये वह लेटी रहीं। फिर आधी उठ, तकिये पर कोहनी टेक, पीछे की ओर घूमकर अलमारी में रखी कॉपी उठायी और मेरे सामने करती हुई बोलीं, "इसमें चार जवाब हैं। देखिए।"

मैंने कॉपी को हाथ में लेकर रख लिया, उसे खोला नहीं। वह बोलीं, "दस खत लिखे थे। चार का जवाब आया है। दो ने अपनी स्थिति लिखकर आर्थिक सहायता में असमर्थता जतलायी है। दो ने पूछा है कि अपनी योजना मैं लिखकर बतलाऊँ। बाहर की यह खबर है। यहाँ की यह कि करोड़पति के पुत्र मुझे नयी मोटर खरीद देने को तैयार हैं। जो भी फोर सीटर मॉडल मैं चाहूँ। पर रुपया लेकर क्या करूँगी, यह उनकी समझ में नहीं आता। कुछ कीमती जेवर उपहार में देने की तो वह पहले से ही सोच रहे थे, पर 'भारतीय तपोवन' वगैरह की वह कोई बात सुनना नहीं चाहते।"

कहकर कल्याणी मेरी ओर देखने लगीं।

मैं चुप रहा।

रुककर फिर बोलीं, "बाहर जिन्हें लिखा, उनमें चार राजा हैं, दो रायबहादुर, दो बड़े नेता। सभी सम्पन्न। मैं कॉलेज में थी तब मेरी पहली कविता पुस्तक निकली थी। फिर प्रान्त में एक कम्पीटिशन में अव्वल आयी। राजाओं की मुझ पर तभी से कृपा है। वह कहते रहे हैं कि उन्हें मैं किसी प्रकार की सहायता का गौरव दूँ। उनमें दो का जवाब नहीं आया, दो का जो आया, वह मैंने बता ही दिया है।" (यहाँ थोड़ी देर रुककर वह शान्त रहीं) फिर बोलीं, "मैं पूछती हूँ, यह क्या है? अपमान नहीं है?"

फिर वह रुक रहीं। अनन्तर बोलीं, "मेरा अपमान करने का किसी को क्या हक है? मैं कब किससे कुछ माँगने गयी? हरेक ने पचासों बार मुझसे कहा कि लो, लो। मैं लेने बढ़ी तो वे यह बताना चाहते हैं कि मैं याचक हूँ, हीन हूँ! वह क्या है?"

क्रोध क्रमशः बढ़ता जा रहा था। बोलीं, "धन किसी का गौरव नहीं है। हो तो भले लांछन हो सकता है। गौरव है तो उसके देने में। मैं लज्जित नहीं हूँ कि मैंने उन्हें मौका दिया कि वे चाहें तो अपना धन दे डालें। अगर कोई इतना कमीना है कि वह दूसरे को कमीना समझे तो मैं क्या कर सकती हूँ?"

मुझे विचित्र मालूम हो रहा था, तपोवन उनका सपना ही तो है। उस पर कोई दूसरा निछावर होने को उत्साहित न हो, तो इसमें अपना अपमान मानने की क्या बात है! लेकिन कल्याणी सचमुच अपमान की चोट से घायल मालूम होती थीं।

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, तो अन्त में बोलीं, ''आपके तपोवन के लिए मैं जो कर सकती थी, किया। नतीजा आपको बता दिया। बोलिए, क्या कुछ और भी कर सकती हूँ? कहिए।''

मैंने कहा, ''जाने दीजिए उस बात को।''

वह फिर चुप हो आयीं और कुछ रुककर सहसा बोलीं, ''मैं एक बात जानना चाहती हूँ। आप मेरा विश्वास करते हैं?''

मैंने कहा, ''आप कह क्या रही हैं?''

लेकिन जैसे उन्होंने सुना ही नहीं। कहती रहीं, ''प्रशंसा नहीं, सराहना नहीं, विश्वास। कोई है जो विश्वास रखता है कि मुझमें आत्मा है? विश्वास, जो अडिग हो। जो मान सके कि सब बुराई हो? मैं स्त्री हूँ, पढ़ी-लिखी हूँ, सबसे बोलती हूँ, अच्छे कपड़े पहनती हूँ, कोठी में रहती हूँ, मोटर चलाती हूँ, और जाने क्या-क्या करती हूँ। लेकिन मैं कहती हूँ कि मुझमें आत्मा है। नहीं दीखती, पर वह है। पूछती हूँ कि कोई है जो उस नहीं दीखने वाली मेरी आत्मा को ही देखे और कहे कि मैं वही हूँ। अगर नहीं, तो मैं जानना चाहती हूँ, क्या चीज मुझे गिरने से रोक सकती है? फिर मुझे पाप से बचाने को क्या रह जाता है? कौन रह जाता है?''

मैंने कुर्सी आगे को खींची। मैं नहीं समझ सका कि मुझे क्या कहना और करना चाहिए। मैंने चाहा कि मैं सान्त्वना दूँ, और थपकी देकर कहूँ कि आराम कीजिए।

लेकिन मुझे मौन देखकर वह बोलीं, ''नहीं, तबीयत मेरी खराब नहीं है। मैं बिलकुल ठीक हूँ। (कहते-कहते वह सीधी बैठ गयीं) मैं एक बात पूछती हूँ कि प्रेम क्या है?''

प्रश्न था, पर क्या उसमें उत्तर की अपेक्षा थी! रुककर फिर खुद ही बोलीं, ''प्रेम और नहीं, वह विश्वास है। प्रेम में कामना नहीं हो सकती, उसमें इतनी अपूर्णता ही नहीं हो सकती! सच्चे प्रेम का दूसरा नाम है विश्वास। कोई है, जिसका अब भी मुझ पर विश्वास है? विश्वास। मेरे देवत्व में विश्वास। जो मुझसे स्फूर्ति ले, जिसकी मैं स्वप्न हूँ। क्या कोई ऐसा है? नहीं तो जीवन मेरा क्यों वृथा नहीं है?''

फिर मेरे देखते-देखते मानों वह अपने ही उत्कर्ष से गिर आयीं। बोलीं, ''एक और पत्र है। दिखाती हूँ।''

पीछे मुड़कर उन्होंने किताब उठायी और उसमें से लिफाफा निकाला। उस पर सरकारी मोहर थी। उसके अन्दर का कागज खोलते वक्त कड़-कड़ करके बजा। सीधा करके कल्याणी ने उसे मेरी ओर बढ़ाया। मैं लेते झिझका।

बोलीं, ''पढ़िए।''

मैंने पढ़ा। पत्र प्रीमियर का था। गिनती के शब्दों से अँग्रेजी में लिखा था कि प्रिय, पत्र पाकर मैं आभारी हूँ। जिन्दगी बहती है, समय चल रहा है। उसका कोई

क्षण नहीं टिकता। हम कुछ क्यों चाहें ? मैं गाँधी सेवा संघ का सदस्य हूँ। अपना कहने को मेरे पास एक पैसा नहीं होना चाहिए। मुझे लिखते दु:ख है कि मुझसे कुछ आशा नहीं रखी जा सकती। तुम्हारा सप्रेम—।

पत्र पढ़कर मैंने एतिहात से उसकी तह की और हिम्मत के साथ आँख उठाकर कल्याणी की ओर देखा।

अण्डी चादर एक ओर कन्धे से कुछ नीचे खिसक रही थी। एक खद्दर की धोती तन पर थी। वह किसी तरह नहीं देख रही थीं। मानों देख ही नहीं रही थीं, पर आँखें तो खुली थीं।

तह किया हुआ वह खत मेरे हाथ में रह गया। मैं उनकी ओर उसे बढ़ाना भी भूल गया—कुछ ऐसी विस्मृत-सी उनकी दृष्टि थी।

थोड़ी देर शान्ति रही। अनन्तर बोलीं, ''तो क्या वह अपने और मेरे अविश्वास पर जीना चाहते हैं ?''

आगे बोलीं, ''नहीं, मैं एक की भी विश्वास की पात्र नहीं हूँ। मैं—।''

उत्तर में बिना एक शब्द कहे मैं चुपचाप बैठा था। वह अपना वाक्य पूरा नहीं कर सकीं कि इतने में बाहर से खट्‌खट्‌ जूतों की आहट आयी। मानो उन पैरों के चलने में इरादा और उत्साह हो। पल पीछे 'कल्याणी, कल्याणी !' कहते हुए डॉक्टर साहब कमरे की देहली पर आ गये। आये, आते ठिठके, और चिक हटाकर बोले, ''क्यों, क्या बात है ? ओ:, वकील साहब, नमस्कार !''

माथे की साड़ी को कल्याणी ने दो अंगुल आगे ले लिया। मैं कुर्सी से उठा। डॉक्टर अन्दर आते हुए बोले, ''बैठिए, बैठिए, बैठिए'' और स्वयं कल्याणी के पास तख्त पर जा बैठे।

''क्यों, कैसी तबीयत है ? देखूँ।''

हाथ बढ़ाकर कल्याणी की कलाई ली, देखा और हाथ अलग करके बोले, ''कल से तो ठीक है, क्यों ? बस कल से बाहर हवादार कमरे में इन्तजाम होगा। देखा, वकील साहब, आपने यह कोठरी ? मरीज न हो तो कोई मरीज हो जाए। और आप बताइए, अपनी इस हालत में इन्हें तन को कष्ट देने का हक है ?''

कल्याणी ने अपने को पूरी तरह चादर में कर लिया था। धीमी बोलीं, ''सुनो, क्या फिर बाहर जा रहे हो ?''

डॉक्टर बोले, ''एँ—हाँ। सोचता था कि तुमसे आज कहूँ, कल कहूँ। जाना होता ही दीखता है। पर—हाँ, रायसाहब साथ आये थे। जरा—आ, बाहर कमरे तक चल सकोगी ?''

कल्याणी ने हठात मुस्कराकर कहा, ''रायसाहब को क्या वहाँ अकेले छोड़ आये हो ?''

बोले, ''कह तो आया हूँ कि मैं अभी आया। चलो, वकील साहब भी हैं। चलिए, आप भी चलिए।''

मैं साथ चलने को उद्यत हो गया, पर कल्याणी ने कहा, ''मुझे कहाँ ले चलोगे?''

''बाहर, गोल कमरे में। सबके पसन्द का काम अच्छा होता है, तुम जानो।''

कल्याणी ने कहा, ''मेरा माथा दु:खता है। मुझे रहने दो।''

डॉक्टर ने चिन्तापूर्वक कहा, ''तो लेट जाओ, लेट।''

कहते-कहते उठकर सिरहाने का तकिया ठीक करने को वह बढ़े। किन्तु तभी सहसा खड़े होकर पुकारा, ''किसना! डोरी! रामलाल! अरे कोई है! सुना, कोई है! ए—हाँ, डोरी, तुम देखो दूसरा तकिया लाओ। वह हमारे पलंग का बड़ा वाला!''

डोरी (नौकर) दरवाजे तक आया था कि तकिया लाने वापस चल दिया। डॉक्टर ने मुड़कर मानों उन्हें हाथों में ले लेते हुए कल्याणी को कहा, ''लो, अब लेट जाओ।''

कल्याणी ने कुछ प्रतिवाद नहीं किया और मुस्कराकर बोलीं, ''तो छोड़ो, लेट जाऊँगी।''

डॉक्टर ने कहा, ''नहीं-नहीं, लेट जाओ। यहीं रहना है तो पलंग क्यों नहीं मँगवा लेतीं? ये नौकर बदमाश। आराम बड़ी चीज है। आराम यानी आधा इलाज। तन का और मन का एकदम आराम, कम्प्लीट रेस्ट।''

डोरी तकिया ले आया।

पहले के तकिये को जोर से जमीन पर फेंककर डॉक्टर ने नये तकिये को सिरहाने लगा दिया और आग्रहपूर्वक कल्याणी को लेकर उसके सहारे लिटा दिया।

फिर बोले, ''अरे, वह मसनद तो ले आ। खड़ा क्या देख रहा है।''

कल्याणी ने मुस्कराकर कहा, ''रहने भी दो।''

डॉक्टर ने इस व्यर्थ बात को नहीं सुना और नौकर से कहा, ''सुनेगा नहीं! या खड़ा देखा करेगा, मसनद लेकर आ। फौरन।''

मसनद आ गयी और तकिये के पीछे कल्याणी के लिए, उसके ठीक-ठीक लगा दिया गया। कल्याणी कृतज्ञ थीं।

डॉक्टर बोले, ''अच्छी बात है। तो मैं फिर कुछ चीजें यहीं लिये आता हूँ। सबकी पसन्द की चीज तुम जानो शुभ होती है।''

डॉक्टर गये और एक नौकर के साथ कई बण्डल सामान के लेकर आये। सामान फर्श पर रख दिया गया और खुद भी पंजों के बल वहीं फर्श पर बैठकर एक-एक चीज खोलने और दिखाने लगे।

पहले एक पीतल का बहुत बड़ा थाल उन्होंने सामने किया। उस पर बारीक

बेल-बूटों का काम हो रहा था। बीचों-बीच उसके एक नाचता हुआ मोर बना था। ''बोलिए, क्या ख्याल है कितने का होगा? मुझे तो यही पसन्द आया। यह दूसरा देखिए। चीज यह भी अच्छी है। (दूसरा थाल खोलकर दिखाया) दोनों में कौन-सा रखा जाए? कीमत नहीं आर्ट का सवाल है। कीमत न पूछिए। बस, यही तो बात है। चीज अकसर कीमत से पसन्द की जाती है; लेकिन टेस्ट और चीज है, कीमत और चीज है। क्यों कल्याणी, मोर वाला पसन्द है या यह दूसरा हंस वाला? मैं तो कहता हूँ कि मोर खूब है, पंखों पर जो लाल-नीले बैंजनी रंगों में चाँद के निशान हैं, क्या हू-ब-हू उतरे हैं कि वाह!''

इसी तरह हाथी दाँत की एक बड़ी-सी लाल किश्ती निकाली। बीच में पतवार लिये आठ मल्लाह उसे खे रहे थे। किनारों पर राजा-रानी बैठे थे। सामने उनके एक गायिका सितार सँवार रही थी। उस किश्ती का काम खूब था। किसी भी भव्य ड्राइंग-रूम की शोभा उससे बढ़ सकती थी। बोले, ''क्या राय है? मुझे तो चीज पसन्द है। जी हाँ, एक चीज है। आखिर दिल्ली की कारीगरी का आला नमूना है कि मजाक। इत्यादि।''

दो चाँदी के टी-सेट थे। एक पर सुनहरी काम था। और लाल-नीले रंग में अँग्रेजी में खूबसूरत मोनोग्राम बना हुआ था।

''बोलिए वकील साहब, कौन-सा रखा जाए? कल्याणी, तुम तो कुछ कहती ही नहीं। किस पर आँख ठहरती है, बताओ।''

इसी तरह और चीजें थीं। मुरादाबादी दो बड़े कीमती किस्म के थाल थे, कुछ गिलास, रकाबियाँ, कटोरियाँ। बाकी बण्डलों की तरफ इशारा करके बतलाया कि इनमें खुश्क मेवा हैं। दो सेर फी किस्म। पहले ख्याल हुआ पाँच-पाँच सेर ले चलें। लेकिन फिर सोचा कि फिजूलखर्ची क्यों? पिश्ता दो किस्म का अलग एक-एक सेर है। नमकीन और सादा छिला हुआ। वह उनमें मिठाई है। फल मैं नहीं लाया। फल तो सीधे पार्सल से रवाना कर दूँगा। जिस रोज चलूँगा उसी रोज ताजा फलों का पार्सल हो जाएगा। मेवा और बाकी चीजें साथ जा सकती हैं। हाँ, कुछ बढ़िया किस्म की खद्दर की खरीद बाकी है। अब तो सुनते हैं खादी में एक से एक खुशनुमा डिजाइन मिलती हैं। कल्याणी, तुम उठो तो साथ चलकर खरीद लिया जाए। मैं खादी जानता ही नहीं। ऐं, इस लायक तबीयत नहीं है। तो अच्छी बात है जाने दो। हाथी दाँत की किश्ती रायसाहब के दीवानखाने से आयी है। उन्होंने उसके बारे में खासतौर पर पूछा कि पसन्द है? और तबीयत ठीक नहीं है, तो जाने दो, सो जाओ। अरे, तो बाहर ड्राइंग रूम के बराबर वाले कमरे में तुम्हारा इन्तजाम कर दिया जाए तो कैसा हो! वहाँ पलंग डल जाएगा। और सब किस्म का आराम—।

डॉक्टर ने उत्तर की प्रतीक्षा की। कल्याणी की ओर से कुछ सम्मति नहीं मिली, तो बोले, ''तो अच्छा, जैसा तुम कहो। हाँ, तो क्या कहती हो? कौन-सा रखा जाए?

पहला या दूसरा?''

कुछ देर उत्तर की प्रतीक्षा में ठहरकर फिर स्वयं बोले, ''पहला? ऐं, पहला न? अच्छी बात है, तो पहला ही सही। और था, मोर वाला? क्यों?—यह लो, खास चीज तो मैं भूल ही गया!''

कहकर डॉक्टर ने कोट के अन्दर की जेब से एक रिस्ट-वाच और सोने की चेन निकाली। उसे लिये उठकर तख्त पर आ बैठे और कल्याणी के मुलहिज़े के लिए पेश की। बोले, ''पसन्द है? बात यह है कि लेडीज डिजाइन तो हो नहीं सकती। प्रीमियर के वाइफ तो हैं नहीं। इसलिए यह जेण्ट्स डिजाइन है। कैसी लगती है? बोलो, बताओ?''

कल्याणी ने धीमे से कहा, ''अच्छी है।''

डॉक्टर सुनकर बहुत खुश हुए। बोले, ''यह ठीक है। तुम्हें पसन्द है ना? अच्छा। तो रायसाहब वहाँ अकेले होंगे। सोचता था कि उन्हें यहीं बुला लूँ, लेकिन ख्याल हुआ कि इस कमरे में वह क्या आएँगे—ऐं, थकान मालूम होती है! अच्छी बात है। लो आराम के साथ सो जाओ।''

मैं शायद इस दृश्य को न्यायपूर्वक नहीं दोहरा रहा हूँ। डॉक्टर अपनी पत्नी के आराम के प्रति बहुत चिन्तातुर मालूम होते थे। वह पत्नी को अपनी प्रसन्नता से प्रसन्न और उत्साह से उत्साहित करना चाहते थे। उन्हें यह निर्दय लग रहा था कि इतनी सब नयी-नयी चीजें लायी जाएँ, इतनी बातें की जाएँ, तब भी मन अनमनाया रहे। उसकी मुद्रा कह रही थी कि बताइए, मन बहलाने के लिए और क्या किया जा सकता है? भाँति-भाँति की चीजों से फर्श गुलजार था और डॉक्टर इन वस्तुओं में सबकी दिलचस्पी को स्वाभाविक मानते थे। कल्याणी का अनुत्साह क्या अन्याय न था? मेरी बात—तो मैं तो उस समय वहाँ अनावश्यक प्राणी हो गया था। मानों मेरा समर्थन अधिक ध्यान की वस्तु न थी।

अन्त में बोले, ''लो, मैं जाता हूँ। तुम आराम करो।''

कहकर उन्होंने जितने बण्डल उठा सके उठा लिये और मुझसे कहा, ''आप भी चलिएगा।''

मैं कुछ उत्तर दूँ कि कल्याणी बोलीं, ''नहीं, यह अभी बैठे हैं।''

मैंने कहना चाहा कि मैं भी चलूँ ही, लेकिन डॉक्टर बीच में ही बोले, ''हाँ-हाँ, आप बैठिए। उन्हें अकेली छोड़ना नामुनासिब है। उनकी तबीयत ठीक नहीं है। और देखिए वकील साहब, इनसे कहिएगा कि बाहर के कमरे में उनके लिए मैं पलंग डलवाए देता हूँ। आखिर इसमें क्या हर्ज है? कमरा हवादार है और किसी दूसरे का दखल न होगा।''

मैं सुनता हुआ खड़ा रह गया।

डॉक्टर फिर मुड़कर एकाएक मुझसे बोले, ''आपकी राय उस मोरवाली चीज के लिए है ना? और वह किश्ती, और टी-सेट, और घड़ी? बोलिए, बोलिए।''

मैंने कहा, ''आपकी पसन्द पर क्यों मुझे नुक्ताचीनी की जुरअत हो?''

डॉक्टर ने कहा, ''शुक्रिया।''

उन्होंने खुशी प्रकट की कि सबकी राय उनकी राय के मुताबिक बैठी और वह कुछ बण्डल सँभालते हुए चले गये। दुबारा आये, तिबारा आये, और इस तरह सब सामान स्वयं ले गये।

कुछ देर कल्याणी ज्यों-की-त्यों लेटी रहीं। फिर बोलीं, ''देखिए, यह कपड़ा है, वह पानी है। एक भीगी पट्टी बनाकर मुझे दीजिएगा तो।''

मैंने कहे अनुसार किया।

पट्टी लेकर उन्होंने माथे पर रखी और बोलीं, ''अब आप जा सकते हैं।''

मुझे जाने को कहकर वह उठकर बैठ गयीं और बार-बार माथे पर पट्टी को दबाने लगीं।

मुझे सामने देखकर बोलीं, ''नहीं। अब आप जा सकते हैं अब कुछ नहीं।''

पर अब कुछ क्या नहीं, सो मैं कैसे जानता। मैं तो उस समय मानों वहाँ उपलक्ष्य रूप भी न था। उनके लक्ष्य की सीध में मानो मैं कुछ भी न रह गया था। थोड़ी देर में माथे की पट्टी उनके हाथ में आ गयी और उनकी उँगलियाँ उससे खेलने लगीं।

सहसा बोलीं, ''एक थे, वह अब गाँधी के हैं। वह और किसी के कुछ न होंगे। आशा से वह बाहर रहेंगे। इससे अब क्या शेष है? नहीं, नहीं, कुछ नहीं।''

सुनता हुआ मैं बैठा रह गया था। कोई न बोल रहा था। मैं जाने कल्पनाओं की किन सम्भावनाओं में खोया हुआ था कि—'लाइए, वह मुझे दीजिए।'

यह सुना तो मैं जागा। तह किया हुआ वह पत्र मेरे हाथ में था। देखा, बाँह बढ़ाकर वह उसी को माँग रही हैं। पत्र मैंने दिया और वह शिथिल-भाव से उनकी हथेली में रख गया। फिर उस हथेली से वह कहीं अलग नहीं गया। हथेली उस पर आधी मुड़कर उलटी तख्त पर टिक रही। वह हठात बोलीं, 'लेकिन गाँधी का वह रास्ता है?—नहीं, वह नहीं है।'

''कहती हूँ, वह नहीं है,'' मानों अपने ही शब्दों को सुनकर वह तत्परता से भर आयीं। ''जो सूखा है, हृदय के रस से हरा-भरा नहीं है, वह गाँधी का नहीं है। गाँधी की तपस्या मुस्कराती है। निज की ओर ही वह दुर्द्धर्ष है, शेष सब ओर वह स्निग्ध है। प्रीति की मुस्कराहट जहाँ नहीं, वैसी कर्म की तपस्या गाँधी की नहीं। गाँधी सेवा संघ में क्या स्नेह को सुखा दिया जाएगा? यह तो गाँधी को गाँधीवाद में भून देना होगा। इससे बड़ी अकृतज्ञता—गाँधी की हत्या—और क्या हो सकती है?''

रुककर फिर बोलीं, ''गाँधी सेवा संघ! संघ से पास कराऊँ तब 'भारतीय

तपोवन' को वह समझेंगे, नहीं तो अपनी कोमलता से वह डरेंगे। अरे, गाँधी के गुलाम बनकर उस मुक्त पुरुष की आत्मा पर अपना लांछन डालते संघ को शर्म नहीं आती! मैं जानती हूँ गाँधी का स्वप्न, जानती हूँ गाँधी की प्रेरणा। तपोमय था हमारा अतीत। तपोमय है हमारी संस्कृति। वही हमारा सन्देश। वैसा ही होगा भारत का भविष्य, यदि वह भारतीय होगा। गाँधी सेवा संघ में होकर प्रान्त के प्रधानमन्त्री अपने और मेरे अविश्वासी बनेंगे, अपने प्रेम और मेरे तपोवन के स्वप्न को छत समझकर बचना चाहेंगे, फिर भी मानेंगे कि वह गाँधी के रास्ते पर हैं!"

"अपने को कुचलकर उसके शव पर संघ की सदस्यता को वह उज्ज्वल बनाना विचारेंगे और वह सबके बाद मुझे कहेंगे कि मैं नहीं हूँ स्वतन्त्र।

"कहेंगे कि मैं निरीह रहूँगा क्योंकि मैं संघ का सदस्य हूँ! ओः, यह विडम्बना है! मैं जानती हूँ। मैं जानती हूँ। अपने इनकार पर गाँधी भारत का स्वराज्य भी नहीं लेंगे। गाँधी की तपस्या लीला है, लीला तपस्या है। सबके रास्ते पर वह सबके साथ हैं। वह पति हैं, पिता हैं, सब हैं; लेकिन उन मेरे गाँधी भक्त की मर्जी यही न है कि मैं अपनी राह पर अकेली रह जाऊँ! अकेली! अकेली! अकेली!"

कहते-कहते दोनों हाथों में उन्होंने अपना मुँह ढँक लिया और तकिये पर औंधा सिर डालकर पड़ी रहीं।

मुझे कुछ न सूझा। कैसे असहाय होऊँ। मुँह से एक शब्द भी निकालना मुझे उस समय पातक लगा। हलकी-हलकी सिसकी सुनाई पड़ रही थी। मैं अवश बना बैठा था। क्या करता? क्या न करता? शनैः-शनैः मुझे बोध हुआ कि जीवन के ऐसे पवित्र क्षणों का साक्षी तो बस एक अन्तर्यामी ही हो सकता है, बाहरी दृष्टि अशुचि है, अनधिकृत है। मालूम हुआ कि मुझे चले जाना चाहिए। मैं चला जाऊँगा। चला ही जाऊँगा। कुर्सी से उठा। असमंजस में कुछ काल खड़ा रहा। तकिये पर मुँह डाले वह झुकी थीं। झुकी सिसक-सी रही थीं। मैं चल पड़ा। बेआहट, बेमालूम। पर बाहर न जा पाया कि सुना, "ठहरिए!"

ठिठका, ठहरा। देखा, चेहरा आँसुओं से धुल रहा है। पोंछने की चेष्टा नहीं की गयी है। आँखें फूल आयी हैं। पर एक सौम्य गाम्भीर्य भी मैंने देखा। मानों व्यथा का विष बह गया है और विषाद का रस ही शेष रह गया है।

थोड़ी देर बाद वह बोलीं, "राजनीति में वह अपरिग्रही हैं। सभा में नम्र हैं। वह महात्मा के अनुयायी हैं। मैं उन्हें दोष न दे सकूँगी। पर वह प्रधानमन्त्री हैं। इसी पर मैं दुःखी हूँ। मन्त्रित्व की सत्ता—इसे वह क्यों अपने ऊपर आने दे सके? मेरे डॉक्टर जाएँगे। उनके मन्त्रित्व की बदौलत लाखों रुपया ये लोग अपनी जेबों में भर लाएँगे। मेरा मन कहता है कि वह भोले अपरिग्रही इनके हाथों खेल रहेंगे—खेल रहेंगे? पर हाय! यह—यह भी अगर मैं मान सकती—तभी कहती हूँ कि वह क्यों प्रीमियर बन

गये हैं ? बने हैं, तो कोमल क्यों हैं ? मेरा मन कहता है कि प्रीमियर मुझे लेकर इस विषय में कमजोर होने से नहीं बच सकेंगे। मैं क्या करूँ ?...नहीं, आप जाइए नहीं। मुझे कहने दीजिए कि मेरा त्रास— ।''

कहते-कहते रुक आयी थीं। फिर बोलीं, ''सोचती हूँ, मेरे पेट का बच्चा क्या मेरी सब विडम्बना झेल लेगा ? चलो, अच्छा है। आपको एक बार कहा था कि आप मेरे बच्चे का ख्याल रखिएगा। अब वह जरूरत न होगी। बच्चा न होगा।''

मैंने कहा, ''आपका चित्त ठीक नहीं है। और सुनिए, डॉक्टर नहीं जाएँगे।''

कल्याणी ने मेरी ओर देखकर भयंकर स्थिर वाणी में कहा, ''आप उन्हें रोकेंगे तो मेरी जान लेंगे!''

मैंने तब जोर से कहा, ''तो उन्हें जाने का हक क्या है ? क्या वह अपराध नहीं है ?''

उसी स्थिरता से बोलीं, ''अपराध में से आत्मा प्राप्त होती है।''

मैंने कहा, ''अन्याय न कीजिए। डॉक्टर को आपकी हालत मालूम नहीं है। नहीं तो वह न जाते।''

''क्या वह स्वार्थ न होगा कि अपने लिए मैं उन्हें उनके मन के मार्ग से रुकने दूँ?''

मैंने कहा, ''उनसे अपराध बनने देने की इच्छा में भी स्वार्थ हो सकता है। खैर, वह जो हो, मुझसे सुनिए कि डॉक्टर नहीं जाएँगे।''

कल्याणी एकटक मुझको देखती रहीं। फिर धीमे-धीमे एक-एक शब्द वह बोलीं, ''उनको जाने ही दीजिए। रुककर वह असन्तुष्ट रहेंगे। होना है, वह तो होगा; पर अगर मेरे पति अपना मतलब मेरे उपलक्ष्य से प्रीमियर द्वारा साध सके, तो उन दोनों ही के लिए मुझे क्या प्रायश्चित्त करना होगा, यही मुझे सोच है।''

मैं उनकी इस भावना को इस तरह समझ नहीं पाया। बोला, ''आप स्वास्थ्य-लाभ तो कीजिए।''

कहने लगीं, ''मैं ही तो दोष की जड़ हूँ। मेरे कारण डॉक्टर को धन की चाह है और मेरे ही कारण अगर होंगे, तो प्रीमियर कर्तव्य-च्युत होंगे। ओः, मुझे क्या प्रायश्चित्त काफी होगा ?''

इस धरातल पर वह बात कर रही थीं कि रायसाहब डॉक्टर के साथ उधर आते दिखाई दिये।

रायसाहब ने आकर अत्यन्त चिन्ता-भाव से तबीयत का हाल पूछा। दिलासा दिया, समझाया। मधुर और अनुभव से वह भीगे वचन कहे। कहा कि सोच करने की बात नहीं है। वह खुद डॉक्टर के साथ जाएँगे और वहाँ सब व्यवस्था देखकर पाँच-सात रोज में लौट आएँगे। यह तन हमारे पास ईश्वर की धरोहर है। इसकी अवज्ञा कैसे

की जा सकती है! इसको कष्ट नहीं दिया जा सकता। यह आपका मैं बचपना कहूँ, तो क्षमा कीजिएगा, श्रीमती। आप खुद समझदार हैं। आपके कारण डॉक्टर भी कष्ट पा रहे हैं। अभी मुझसे कह रहे थे कि मैं ऐसी हालत में कैसे जा सकता हूँ? आप जानती हैं कि मौका हमेशा नहीं आता। जब आता है तब चूका, वह गया। अभी मौका है। नया सूबा बना है, इससे वहाँ नया सेक्रेटरिएट खड़ा करने के सिलसिले में बहुत बिल्डिग का काम होना है। एक नया नगर ही बसाने की स्कीम समझिए। एक-डेढ़ से दो करोड़ का काम है। उसमें कई लाख बचने की गुंजाइश है। यह मौका जाने दिया तो फिर पछतावा ही हाथ रहेगा। शुरू में रुपया मैं लगा ही दूँगा। ठेकेदारी का मेरा पचीस साल का अनुभव है। काम नफे का है। यह मेरा वादा समझिए। नफे में मुझे साझा नहीं चाहिए। नफा सब आपका ही है, क्योंकि मैं आपका हूँ। रुपया लगाऊँगा, इसे भी मेरी रियायत न गिनिए। मूल ब्याज के साथ मुझे मिल जाए, तो इससे अधिक मुझे क्या चाहिए! मेरी सलाह है, आप फिक्र न करें। हफ्ते-भर में तो मैं लौट ही आता हूँ—फिर क्या बात है?

कल्याणी उत्तर में कुछ बोली नहीं, नीचे की ओर देखती रहीं। सारा बदन उनका चादर से ढँका हुआ था और माथे के ऊपर धोती इतनी आ गयी थी कि आँखें आधी ढँकी थीं।

''देखता हूँ कि आपको आराम की जरूरत है। डॉक्टर साहब! इनको आराम करने दीजिए, लेकिन यह कमरा एकदम ठीक नहीं है। इन्सैनिटरी, अनहाईजिनिक। डॉक्टर, बाहर के कमरे में इन्तजाम क्यों आप नहीं कराते हैं? वकील साहब, आइए। आप भी चलिए। अधिक बात से इनको कष्ट होता है।''

कहकर रायसाहब चल पड़े। डॉक्टर भी उनके साथ हुए और मैं भी अनिश्चित-भाव से उठा।

कल्याणी ने बिना ऊपर आँख उठाए धीमी वाणी से कहा, ''वकील साहब अभी जाएँगे।''

रायसाहब सुनकर बोले नहीं, बढ़ ही गये। उनके चले जाने पर कल्याणी ने घूँघट पीछे किया। सहज सौम्य-भाव से बोलीं, ''कष्ट के लिए मुझे क्षमा कीजिएगा और सब भूल जाइएगा। मैं अब आपको रोकूँगी नहीं। आप जाइए।''

यह कहते हुए वह गद्गद हो आयीं।

मैंने हठात् कहा, ''यह क्या, यह क्या?''

बोलीं, ''मेरे कसूर सब माफ कीजिएगा।''

मैंने कहना चाहा कि आप—।

बोलीं, ''आप तो जानते हैं, व्यक्ति कितना विवश है। उसके अपराध भी उसके नहीं हैं।''

मैंने देखा कि वह उत्तर में मुझे कुछ न सुनेंगी। उनका प्रणाम स्वीकार कर अन्त में मैं अन्यमनस्क-भाव से चला आया।

मैं याद करता हूँ कि वह विदा कितनी भीगी थी, पर वह अन्तिम भी होगी इसका अनुमान तो—।

उपसंहार

इतना सब मैंने क्यों लिखा? नाहक। नहीं, अब नहीं लिखूँगा। समय ही नहीं। कल्याणी अब नहीं रहीं। यह मैं ही क्यों जानूँ कि वह कैसे मरीं? मौत में जानने को है भी क्या? मुझे खबर दोपहर बाद मिली। मालूम हुआ कि सवेरे तीन बजे उन्होंने पुत्र को जन्म दिया। तब स्वस्थ थीं, लेकिन कुछ देर बाद अचानक हृदय की गति बन्द हो गयी। अचानक शायद—चलो, खेल समाप्त हुआ। श्रीधर ने बताया कि अभी दोपहर को लोग अन्त्येष्टि से लौटे हैं। मुझे सूचना मिली, तब सब निपट चुका था। एक तरह मुझे इसका सन्तोष है। और यद्यपि लिखने को बहुत सफे काले किये जा सकते हैं, पर आगे एक शब्द भी नहीं लिख सकूँगा। नहीं, मुझे रहने दो। मैं रहना चाहता हूँ।

□

सुखदा

उसको
जिससे अनजाने यह सूझ आयी

आरम्भिक

सुखदा की यह कहानी सामने लाते हुए मेरा मन निःशंक नहीं है।

ढाढ़स यही है कि खुद इन पृष्ठों से जान पड़ता है उन्हें आशा थी कि ये कभी प्रकाश में आएँगे। आशा ही थी, निश्चय नहीं था। इसी से वर्णन कहीं अत्यन्त घनिष्ठ हो उठा है। मैंने इन स्थलों को तनिक छू या छोड़ देने की स्वतन्त्रता ली है। पर ऐसे कि पाठक की सहानुभूति रिक्त अनुभव न करे, न मर्म के स्पर्श से बचे।

सुखदा देवी हाल तक तो थीं ही। उनके परिचित और सम्बन्धीजन अनेक हैं। स्मृति उनकी ठण्डी नहीं हुई। ऐसे में उनकी कथा को जीवित करना जोखम का काम है। लेकिन कहानी अत्यन्त निष्कपटता से लिखी गयी है और अन्याय उसमें किसी के प्रति नहीं है।

उपसंहार में उन्होंने हमसे विदा ली है। किन्तु उसके नीचे एक तिथि भी लिखी पायी गयी। जग से ही उनके विदा लेने की तिथि में उससे काफी अन्तर है। इससे असम्भव नहीं कि इस कथा का उत्तरार्ध भी लिखा गया हो। वह प्राप्त हुआ तो यथावसर प्रस्तुत होगा। कहानी के ये पृष्ठ जैसे-तैसे हाथ आये थे, अतः उत्तरार्ध हुआ तो उसे पाने में उद्यम लगेगा। अपनी ओर से उस उपलब्धि में मैं प्रयत्न उठा नहीं रखूँगा, इतना ही कह सकता हूँ। आगे भगवान जाने।

1

क्यों अपनी कहानी कहने चली हूँ, नहीं जानती। पर यहाँ इतनी ऊँचाई पर चीड़ के वृक्षों से घिरे अस्पताल में पड़े-पड़े कभी बहुत सूना लग आता है। एक रीतापन चारों ओर से ऐसा मुझे घेर लेता है कि लील ही लेगा। समय खाली रहता है और उसके शून्य विस्तार पर मेरे ही जीवन की व्यर्थता यहाँ से वहाँ तक लिखी जान पड़ती है। विधि के उस दुर्लेख को अपनी आँखों में देखते देखकर जीना भारी हो आता है। ऐसी ही हालत में सोच बैठी हूँ कि चलो, अपनी कहानी लिखूँ।

लाभ! लाभ तो कहीं कुछ नजर नहीं आता है। जो लिखती हूँ क्या वह कभी छपेगा भी? शायद नहीं छपेगा। फिर क्यों यह लिख रही हूँ, ठीक-ठीक जानती नहीं। इतना जानती हूँ कि ऐसे कुछ घड़ियाँ तो कटेंगी, नहीं तो वह कटती नहीं हैं, उल्टे काटती हैं।

अस्पताल में हूँ, अकेली हूँ। बस नौकर एक साथ है। बच्चे हैं, स्वामी हैं, पर वे सब दूर हैं। उनकी याद करते डर होता है। किस मुँह से याद करूँ! उन्हें अपने ही हाथों मैंने हटाकर दूर कर दिया है, अपने ही हाथों मैंने अपना अभाग्य बनाया है। कभी मेरी सोने की गृहस्थी थी, अब ठौर का भी ठिकाना नहीं है। सब उजड़ चुका है और अपने ही कर्मों मैंने उजाड़ा है। आज यद्यपि मैं जानती हूँ कि मुझे छोड़ और कुछ भी नहीं बिगड़ा है, वह गृहस्थी लहलहाती हुई आज भी जुड़ सकती है, पर हाय मैं उसी के योग्य होती तो—।

डॉक्टर ने जान लिया है कि रोग काफी आगे बढ़ गया है। आखिरी स्टेज है। फिर भी यहाँ के भले डॉक्टर आस रखना चाहते हैं, और मुझे भी जीने की आस दिलाना चाहते हैं। बेचारे डॉक्टर, मेरे नाम के गौरव के प्रति उनमें सम्भ्रम है। मेरे प्रति उनमें बहुत उदार भाव है। पर वह क्यों नहीं जान लेते हैं कि मुझ-जैसी के जीने का अब अर्थ शेष नहीं रह गया है। मुझमें ही कुछ शेष नहीं रह गया है। आयु मेरी कुल अभी पैंतीस वर्ष भी नहीं है, यह ठीक है। लेकिन इतनी भी क्या बहुत नहीं है! आज तो यही मुझे पता नहीं चल पाता कि विधाता ने इतने वर्षों का जीवन देकर मुझे यहाँ क्यों भेजा है? मैंने क्या किया, किस बल पर मैं आगे जीने की इच्छा कर सकती हूँ?

बरामदे में खाट बिछ जाती है, उस पर से देखती हूँ कि सामने सिर्फ फैलावट

है, सिर्फ फैलावट। न घर है, न दुकान है, न मनुष्य है, न समाज है। बस केवल रिक्त सामने ऐसे जो दीखता है, इससे दृश्य बन उठा है। वहाँ आकर्षक चित्र-सा बना फैला है। बीच में बाधा नहीं, व्यवधान नहीं। कुछ ही दूर पर धरती ढल गयी है और ढलती हुई जाने कहाँ अथाह में पहुँच गयी। पार मैदान बिछा है, मानों प्रतीक्षा में हो। वहाँ कहीं भूरी-सी मकानों की बिन्दियाँ भी दीखती हैं, कहीं हरियाली इकट्ठी हो गयी है कहीं रंग मटमैला है। दूर दो-एक पतली चाँदी की लकीर भी दीखती है जो नदियों के निशान हैं। पर दूर होते-होते यह सब दृश्य मानों एक धुँधली रेखा-सी सिमटकर समाप्त हो जाता है। वही हमारा क्षितिज!

बरामदे में पड़ी-पड़ी इस अनन्त दूर तक बिछे चित्र को देखती रहती हूँ। कहाँ अनन्त, लेकिन क्या अनन्त को मैं जानती हूँ! क्षितिज हमारा अन्त है। जहाँ मेरी आँखों की सामर्थ्य समाप्त है, वहाँ सब कुछ मेरे लिए समाप्त है। पर समाप्ति क्या वहाँ है। अन्त वहाँ है? क्या वह अन्त कहीं भी है? नहीं है, और चित्र बनता जाता है, मिटता जाता है, और फिर बनता जाता है। चित्रपटी तो खुली ही रहती है और चित्रकार की लीला नित नये रूप में समक्ष होती है। उसके इस चलचित्र जगत में सभी कुछ के लिए स्थान है। सोचती हूँ कि मेरा भी कोई स्थान होगा। काली बूँद की भी कोई जगह होगी। वह बूँद अपने-आप में तो काली ही है, फिर भी विधाता ने जाने इस निरन्तर बनते-बिगड़ते, फिर भी सदा वर्तमान, चित्र पर बूँद के कालेपन से क्या मतलब साधा है! वह मतलब मेरी समझ में कुछ नहीं आता। होगा...वह कुछ तो होगा, पर आज तो मैं उसकी कालिमा से बेहद अधिक त्रस्त हूँ।

जान गयी हूँ कि मैं धीरे-धीरे किनारे लग रही हूँ। किनारे के आगे क्या है, पार क्या है? कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है। अनुमान इतने हैं जितनी बुद्धियाँ हैं। पर वे सब अनुमान भर हैं। झूठ किसको कहूँ, सच किसको कहूँ? पर इसमें झूठ नहीं हो सकता कि उस किनारे पर होने की समाप्ति नहीं है। समाप्त हम हों तो हों, दिशाएँ कहीं समाप्त नहीं हैं। मृत्यु के बाद भी अस्ति है, बाद भी गति है। जीवन निरन्तर संसरण है। कर्म-फलयोग की परम्परा में आदि नहीं, अन्त नहीं, मध्य ही है। पर नहीं, और बात नहीं सोचूँगी। मुझे ख्याल रखना चाहिए कि मेरा स्वास्थ्य खराब है। मैं खाँसी की ऋणी हूँ कि वह बार-बार उठकर ध्यान दिला देती है कि मैं तुच्छ रोगिणी स्त्री हूँ।

तुच्छ हूँ। रोगिणी हूँ। सचमुच और क्या हूँ। फिर भी वक्त काटने के लिए कहानी कहती हूँ। सच कहूँ तो मुझमें लोभ बना है कि कभी यह कहानी छपे और लोगों की नजरों में आए। ऐसा हुआ और लोगों की करुणा मुझे मिली तो आशा करती हूँ कि अपने परलोक में मुझे सान्त्वना पहुँचेगी। परलोक क्या और वह सान्त्वना वहाँ मुझे कैसे पहुँच जाएगी, यह जानती तो नहीं हूँ। शायद नरक वहाँ मेरे लिए तैयार हो।

फिर भी आज यह कहानी लिखते समय किनारे लगते-लगते भी मेरे मन में अपने अज्ञात और अनिश्चित पाठक की करुणा पाने की साध तो अवश्य ही है। सुनती हूँ परलोक की पूँजी धर्म है। वह धर्म मैंने कुछ नहीं जाना, कुछ नहीं किया। पर इस पार की करुणा वहाँ उस पार भी काम आती होगी इस आश्वासन को जी छोड़ना नहीं चाहता है।

कोई हैं जो अन्तर्यामी हैं। वह कहाँ हैं, क्या उनका स्वरूप है, यह मैं कुछ कह नहीं सकती। पर वह तो मेरे हृदय का सब कुछ जानते होंगे। उन्हें पाऊँ तो चरणों में बिछकर कहूँ कि तुम तो सब जानते हो। इससे जो कुछ मैंने किया उस पर कैसे तुम जा सकते हो, क्योंकि जो हूँ तुम्हारे आगे समूची तो प्रकट हूँ।

आज डाक से स्वामी की चिट्ठी पायी थी। जवाब उसका दे चुकी हूँ। स्वामी ने लिखा था कि तुम्हारी हालत का पता माँजी से जब-तब मिलता रहता है। एक बार तुम्हें देखने आना चाहता हूँ। अनुमति हो तो पत्र लिखना। अगर सोचो कि मुझे नहीं आना चाहिए तो पत्र न लिखना। पत्र में कुछ और भी बातें थीं, जिनको मैं लिखूँ तो मेरे साथ आपकी सहानुभूति नहीं रहेगी। मैंने जवाब उनको नहीं, माँ को दिया। लिखा कि अगर 'उन' का पत्र आए तो लिख देना कि मेरी हालत ठीक होती जा रही है। उनके आने की जरूरत नहीं है। यह भी कि अगर उनसे बने तो यहाँ मुझे कृपा कर पत्र न भेजा करें।

दोपहर डाक आयी, जवाब तभी लिखकर डलवा दिया। अब इस तीसरे पहर जब कि अकेले सुनसान में कागजों को सामने लेकर अपनी कहानी लिखने बैठी हूँ तो सोचती हूँ कि क्यों ऐसा जवाब देने योग्य हतभागिन मैं बन गयी? मुझसे क्यों न हो सका कि अपने पति से खुलकर लाख-लाख क्षमा माँग लूँ। लिख दूँ कि तुम तुरन्त आ जाओ जिससे कि तुम्हारे चरणों की धूल अपने माथे में लगाने को पा सकूँ, नहीं तो हर घड़ी मैं अन्त की ओर सरकती जा रही हूँ। मैं वह कुछ भी नहीं लिख सकी। इसी से तो अत्यन्त अवश होकर अपने अभाग्य की कहानी कहने बैठी हूँ। अन्यथा मन की पीड़ा सही नहीं जाती है।

कोई तीन वर्ष बाद उनकी यह चिट्ठी मुझे मिली। ये तीन वर्ष किस भाँति वह बिना चिट्ठी डाले रहे होंगे—क्या मैं यह नहीं जानती हूँ। आखिर इन बड़े-बड़े तीन वर्षों के बाद किस असह्य सहिष्णुता की सामर्थ्य के कारण वह यह पत्र लिख सके होंगे, क्या यह भी मैं नहीं जानती हूँ। लेकिन मैं अभागिन आज इसी योग्य हूँ कि माँ की मार्फत उन्हें लिख दूँ कि नहीं कृपा कर मेरे बारे में सोचने का कष्ट आप न कीजिए।

पर अब आगे नहीं लिखूँगी। थक गयी हूँ। इस तरह लिखती जाऊँगी तो कहानी आरम्भ न होगी, मन की व्यथा ही निकलेगी। अब छोड़ती हूँ। कल से कहानी शुरू करूँगी। बाहर डॉक्टर भी आते मालूम होते हैं।

2

कहानी के सूत को कहाँ से पकडूँ। कल का लिखा मैंने पढ़ लिया है। अब भावुकता में बात नहीं करूँगी। अपने सम्मुख दयार्द्र होने की भूल नहीं करना चाहती। अपने को समझना चाहती हूँ। इससे अपना ही व्यवच्छेद करती चलूँगी।

नाम, सुखदा। बहुत लोगों ने यह नाम शायद सुना होगा। जिस सुखदा को आप अखबारों से जानते होंगे, वही मैं हूँ। माता हैं, पिता हैं, पति हैं, पुत्र हैं—लेकिन उन सबको नीचे छोड़कर यशस्विनी मैं ही बनी हूँ। इस कुछ आयु में मैंने बहुत कुछ पाया है। अपनों का प्रेम पाया है, अनेक की प्रशंसा पायी है, बहुतेरी नामवरी पायी है। आज वही सब-कुछ मन में सालता है। लोगों की निगाहों में ऊँची उठती गयी हूँ और सचमुच मानती गयी हूँ कि मैं ऊँची उठ रही हूँ। हाय, यह कैसा जीवन का व्यंग्य है। चारों ओर से काट-काटकर अपने को अलग करती गयी और एकाकी बनकर जिधर भागती हुई चली आयी हूँ, वहाँ देखती हूँ—रेत, रेत, रेत। केवल मृगतृष्णिका। जल वहाँ नहीं है, रेत ही लहलहाती मालूम होती रही है। अब थक रही हूँ। दम बाकी नहीं रह गया है। भीतर का नेह इस भाग-दौड़ में सुखाती रही हूँ। अब सब चुक गया मालूम होता है। ऐसे समय इस अपार रेगिस्तान के बीच आ पड़ी हूँ—ऊपर तपती घाम, नीचे जलती बालू, चारों ओर विजनता। लौटने तक का उपाय नहीं। दम कब टूटकर साथ छोड़ता है, यही एक बाट है।

व्यंग्य का भी व्यंग्य देखो। लोग हैं जो कहते हैं सुखदा कैसी सूरमा है। लोग हैं जो इस अभागे तन के दर्शन के लिए आते हैं। तब मैं सोच उठती हूँ कि मेरा इस वीराने से कैसे निस्तार होगा—निस्तार कैसे होगा।

इस समय आकर कब की पकी हुई मेरी धारणाएँ अस्त-ध्वस्त हो गयी हैं। जाने लोग इस कहानी को पढ़कर क्या कहेंगे। उन्हें अचरज होगा कि क्या यह उसी सुखदा की कथा है, जो...पर हाँ, उसी सुखदा की है। हो सकता है कि बीमारी ने उसे तोड़ दिया हो। हो सकता है कि वही सुखदा ज्यादा असली हो जो आए दिन अखबारों की सुर्खियों में दीखा करती थी। पर जो हो, आज तो मन में ऐसा ही मालूम होता है कि वह सब तमाशा था। सत्व या सत्य उनमें न था। उससे जीवन पनपा नहीं, उजड़ता ही गया। नेह सरसा नहीं, वह विकारों की आँच में सूखता ही गया। इस भाँति इतने काल चक्कर ही कटता रहा। इसके अतिरिक्त कुछ न हुआ।

अपने भीतर देखूँ—लेकिन भीतर क्या विशेष पा लूँगी। जैसी लड़कियाँ और होती हैं, वैसी मैं थी। कोई खास बात पता नहीं चलती। विशेषता मुझमें किस बात की हो सकती थी! फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि मैं अपने को विशिष्ट मानती थी। माँ-बाप मुझे बहुत चाहते थे। उनकी मैं पहली ही लड़की थी। भाई एक बड़े थे।

लेकिन वे पाँच बरस बड़े थे। इसलिए मुझसे झगड़ते नहीं थे, मुझे लाड़ में रखते थे। बड़े चाव में मैं पली। हर बात मेरी रखी जाती थी। मुझे पता था मैं सुन्दर हूँ, पता था मैं बड़े आदमी की बेटी हूँ। स्कूल में गयी और स्कूल से आ गयी। नवें दर्जे से आगे बढ़ी ही नहीं। पढ़ना बेरुच और तुच्छ लगता था। अँग्रेजी में तो इतने पर ही मैं बोल लेती थी, और भी जानने लायक जानती थी। फिर आगे क्या पढ़ती? साल भर और सखी-सहेलियों में रही। उसके बाद अठारहवें वर्ष में विवाह हो गया।

विवाह पर मुझे ठहरना चाहिए। वह क्या चीज है! मुझको मालूम होता है कि जीवन में उस जगह आकर एक मंजिल पूरी और दूसरी आरम्भ होती है। वहाँ से रास्ता कुछ और तरह का होता है। मानों राह तब तक समतल थी। अब वह ऊपर को चलती है। सरपट भागना वहाँ सम्भव नहीं। वहाँ व्यक्तित्व अकेला नहीं, दूसरा भी साथ में है। दूसरा ही साथ नहीं है, अन्य अनेक भी साथ हैं। विवाह के बाद व्यक्ति निरा व्यक्ति नहीं है, वह नागरिक भी है। वह बड़े सवाल का एक अंक है। वह गुणन की इकाई है; और सपने ही उसके साथ नहीं हैं, दायित्व भी उसके साथ लग पड़ता है। लेना ही नहीं, अब उसे देना भी है।

पर अपने विचारों को मैं रोकूँ। विवाह हुआ और मैंने समझा कि जो सपने विवाह से पहले मेरे अज्ञात में आ-आकर मुझसे झूमते रहे हैं, उन्हीं को अब सचमुच में पाने का समय आया है। मुझे पति भी वह मिले जिन्होंने मेरी नासमझी को बढ़ावा ही दिया। मैंने जाना था कि मैं सुन्दरी हूँ। इसका गर्व मुझे था। लेकिन पति मुझे सामने बिठाकर बिना कुछ बोले लगातार कई मिनट तक मुग्ध दृष्टि से निहारते रह जाते थे। तब मैंने मन-ही-मन में मान लिया कि मैं असामान्य रूप से रूपसी हूँ। जिस-जिस भाँति वह मेरी अभ्यर्थना और मेरे रूप की याचना के लिए तैयार होते थे, उसको स्मरण कर आज भी गात में पुलक छा जाता है और लज्जा आकण्ठ भर आती है। लेकिन तब शनैः-शनैः मैं अपने पति के प्रेम और आदर को अनायास भाव से स्वीकार करने लगी, मानों वह मेरा भाग ही हो। मैं ऐसी मानिनी बनी, मानो यह सब समादर, और सम्भ्रम मेरा सदा का ही हक हो। उसमें से फिर मुझे कुछ भी रस नहीं मिलने लगा और अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नजर आने लगे।

सच कहूँ—लेकिन अब कहने बैठी हूँ तो लज्जा किस बात की करूँ! विवाह से पहले मैंने सोचा था कि विवाह जहाँ होगा उनकी आमदनी सात सौ, आठ सौ रुपये होनी चाहिए। मोटर तो पास होना अनिवार्य ही है। विवाह के पूर्व एक प्रकार से मैंने अपने मन में जान लिया था कि मुझे कहाँ विवाह करना है। मुँह से कहा कुछ न था, लेकिन मन में पक्का कर लिया था। पर जब वह विलायत जाने को उद्यत युवक मेरे माता-पिता के मन में नहीं चढ़े, तब मैंने जान लिया कि हिन्दुस्तान में कन्या के माँ-बाप बाधा ही होते हैं। यहाँ लड़की का जीवन कोई जीवन नहीं है। और थोड़े दिन

बाद विवाह हुआ तो इनसे। इनका वेतन था कुल डेढ़ सौ। यह भी कुछ गिनती के लायक वेतन है! विवाह होने तक मन-ही-मन इस बात पर संकुचित थी। पर विवाहोपरान्त जब पति ने निश्छल स्नेह और आदर से मुझे स्वीकार किया और अपना समस्त विश्वास एक ही दिन में मुझे सौंपकर स्वयं आज्ञानुवर्ती की स्थिति स्वीकार की, तब मैं कुल काल अपने मान को भूल गयी थी। लेकिन थोड़े दिन बाद ही गृहस्थी में बहुत-सी बातों का अभाव दिखाई देने लगा। वेतन का कुछ भाग गाँव में श्वसुर को भेजा जाता था, सो क्यों? जेठ क्यों कुछ कमाने का काम जल्दी नहीं करते हैं? ननद की तबीयत क्यों इधर लगी रहती है? हम लोग कितनी तंगी में रहते हैं, फिर भी उन सबको रुपया पहुँचवाया जाता है, यह बिलकुल ठीक नहीं है। इन बातों को लेकर अनबन होने लगी।

3

स्वामी ने कहा, ''जो है, तुम्हारे पास है। किसी को दो, किसी को मत दो।''

मैंने कहा, ''मेरा कुछ भी नहीं।''

वह बोले, ''मैं तुम्हारा हूँ। इस हक से जो है, तुम्हारा है। मैं बस यही कहता हूँ कि रिश्ते-नाते चाहे बनाओ, चाहे तोड़ो। देख लो, जो ठीक समझो करो।''

मैंने कहा, ''मैं कुछ भी नहीं चाहती। तुम रखो अपने रुपये, अपना इन्तजाम करो। दो रोटी मेरे लिए बहुत हैं।''

मैं अपने इस पिछले इतिहास को याद करती हूँ केवल अपने को समझने के लिए। रूप का गर्व शुरू ही से मुझमें था, ऐसा स्मरण होता है। उसके बाद उस गर्व ने और भी पहलू लिये। योग्यता का गर्व भी मुझमें उठा। कुल और सभ्यता के अभिमान को तो मौका ही था। इसके अतिरिक्त कोई विशेष बात मैं अपने में नहीं पकड़ पाती। कपड़े सदा अच्छे पहनती थी और अब भी पहनती हूँ। कीमत जो हो, वे लगने अच्छे चाहिए। घर को बहुत साफ-स्वच्छ और सजाया हुआ चाहती थी और रखती थी। स्वामी में पहनावे आदि की कोई त्रुटि नहीं देखना चाहती थी। धनिक-से-धनिक और ऊँचे-से-ऊँचे लोगों के समक्ष मैं अपने को, अपने स्वामी को, अपनी गृहस्थी को रखना और दिखलाना चाहती थी। स्वामी के मुँह से जब हलकी मितव्ययिता की बातें सुनती तो मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं उनको कहती थी कि सदा ऊँचाई की तरफ देखना चाहिए, तभी उन्नति होगी। और वह भी कभी-कभी मेरी बातों से सहमत मालूम होते थे।

जान पड़ता है मेरे स्वभाव की यही वृत्ति मुझे वहाँ ले गयी जहाँ कि पहुँची। और अब यहाँ गिरा गयी है, जहाँ कि हूँ।

जीवन की धारा जिस आदि-स्रोत से चली है, उसको तो किसी भी भाँति पकड़ा नहीं जा सकता है। मेरे जीवन की आदि मेरे अपने ही जीवन से है, यह भी नहीं कहा जा सकता। इतिहास के प्रवाह में, जग के विस्तार में, व्यक्ति क्या एक अंक ही नहीं है? इसी से मेरे मन में प्रश्न उठा कि उस जीवन के धागे को कहाँ से पकड़ूँ।

वह धागा किस प्रकार, किन रेशों को गूँथकर बना है और कहाँ कौन बैठा हुआ उस अनन्त सूत्र को इस विश्व-चक्र पर ऐंठकर कातता चला जा रहा है! सच तो यह है कि इस जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त मन्तव्य समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालकों के निर्णय की भाँति होगा। फिर भी हम बालकों को मस्तक मिल गया और हृदय भी मिल गया है। वे दोनों निष्क्रिय होकर तो रहते नहीं। इसी से जो जानने के लिए नहीं है, उसे जानने की चेष्टा चली है। इस अपनी कहानी में भी जाने-अनजाने मेरा वही प्रयास हो तो क्या विस्मय।

विवाह के कोई डेढ़ वर्ष बाद पहला बालक हुआ। अब मैं गृहस्थिन ही थी, फिर भी मन अतृप्त था। स्वप्न लेना मेरा बन्द नहीं हुआ था। गृहस्थी चलती थी, बच्चे को प्रेम से पालती थी, पर मन को सन्तोष न था। उस असन्तोष को लेकर कभी-कभी झींक लेती थी, कभी अच्छे कपड़े पहनकर बाजार हो आती थी। कभी उस असन्तोष को अनुचरों के प्रति कुछ सहानुभूति दिखाकर सन्तुष्ट किया करती थी, दो-चार रोज बाद इष्टजनों को घर पर बुला-खिलाकर उसे बहलाया करती थी।

एक बात याद कर सकती हूँ कि जो मुझसे प्रभावित नहीं होते थे, उनको घर पर नहीं बुलाती थी। वैसे ही लोगों को चारों ओर पाना अच्छा लगता था, जो प्रशंसक थे। चाहे वे पीठ पीछे प्रशंसा करते थे या नहीं करते थे।

हिसाब की बात पर अकसर खटपट हो जाया करती थी। ऐसे समय मैं बटुआ झन्न से सामने फेंक देती, कह देती, ''लो, यह अपने रुपये रखो। मुझसे कोई मतलब नहीं है।''

स्वामी चुपचाप उसको उठा लेते और अधिक जवाब नहीं देते थे। पर जाने किसी प्रकार वह बटुआ अगले दिन मेरे ही हाथ में होता और खर्च यथापूर्व मेरे ही द्वारा चल पड़ता था।

स्नेह के अन्य व्यापारों की मैं यहाँ क्या चर्चा चला सकती हूँ। किसी के प्रति सम्बन्धों, रस की घनता उत्कट हुई जा रही है, ऐसा बोध भी मुझे कभी-कभी हुआ है। पर इस प्रकार के सम्बन्धों को लेकर विषमता गृहस्थी में नहीं पैदा हुई। पति का मुझ पर अडिग विश्वास कवच की भाँति मुझे सुरक्षित रखे रहा है। किनारों के बीच से बँधी जिन्दगी का प्रवाह किनारों के साथ थोड़ा-थोड़ा रगड़ लेता हुआ, और कभी

मानो क्रीड़ावश उन किनारों के बाहर भी झाँक लेता हुआ चला जा रहा था कि इतने में बाहर का एक झोंका मुझे छू गया और वह ऐसा आया कि मुझे अवकाश भी नहीं मिला, और मैं उसकी हो गयी। पर वही तो कहानी है जो मुझे कहनी है। लेकिन, अब नहीं कल।

4

एक दिन तीसरे पहर स्वामी ने घर में आकर कहा, ''सुनो, एक लड़का आया है। काम के लिए तुम्हें कोई चाहिए था न? उसे रख सकती हो!''

मैंने पूछा, ''कौन है?''

''पूरी बात मैं भी नहीं जानता। देखने में भला लगता है। नौकरी चाहता था, चाहे जैसी हो। बरतन माँजने की नौकरी कर लेगा। मालूम होता है नौकरी नहीं, कुछ रोज के लिए वह आसरा चाहता है। बोलो, रख लोगी?''

मैंने झींककर कहा, ''कोई है भी।''

''लो बुलाता हूँ। सुनना भाई, अन्दर आ जाओ!''

इस पर एक लड़का विनीत भाव से मेरे सामने आ खड़ा हो गया। उमर अभी बीस बरस पूरी न होगी। उजला रंग था और अनुभवशून्य मालूम होता था। ऐसे खड़ा हो गया जैसे माँ की गोद में से अभी हाल पलता हुआ उठकर खड़ा हो गया हो। जो कपड़े पहने था, चेहरा उसके अनुकूल न था।

मैंने पूछा, ''बरतन माँजना जानते हो?''

''हाँ।''

''कहार हो?''

''नहीं।''

''फिर?''

''कहार नहीं हूँ।''

''क्या लोगे?''

''जो आप दे देंगे।''

''पढ़े-लिखे मालूम होते हो।''

''नहीं जी।''

''कुछ नहीं पढ़े?''

''चार जमात पढ़ा हूँ।''

मुझे फिर हँसी आ गयी। मैंने कहा, ''सच कहना, माँ-बाप से रूठकर तो नहीं आये ?''

लड़के ने गम्भीर भाव से कहा, ''माँ-बाप कोई नहीं।''

मुझे जरा-सा भी उसकी किसी बात पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने हँसकर कहा, ''कोई चीज लेकर तो न भाग जाओगे ?''

लड़का कुछ देर निरुत्तर खड़ा रहा। फिर बोला, ''ऐसा समझें तो मुझे न रखें। मैं चला जाता हूँ।''

वह सचमुच चलने को उद्यत दीखा। मैंने कहा, ''सुनो, सुनो। अच्छा, तुम्हारा नाम क्या है ?''

''गंगा सिंह।''

''बाप का नाम ?''

''हीरा सिंह।''

मुझको फिर हँसी आ गयी। मैंने कहा, ''भूखे हो ?''

''हाँ, भूखा हूँ।''

मैंने उठकर एक अलग छोटी दरी बिछा दी। कहा, ''यहाँ आकर बैठो।''

वह बिना हिचक वहाँ जाकर बैठ गया। स्वामी इस बीच बाहर चले गये थे। मैंने उस बालक को कुछ जलपान लाकर दे दिया। वह चुपचाप खाने लगा। मैं उसको देख रही थी। देखते-देखते मैंने उससे कहा, ''देखो गंगा सिंह, तुम गंगा सिंह नहीं हो। यहाँ तुम कितने दिन रहना चाहते हो ?''

खाते-खाते वह मेरी ओर देखकर बोला, ''मैं गंगा सिंह हूँ।'' कहकर मेरी ओर ही देखता रहा।

मैंने कहा, ''अच्छी बात है, तुम गंगा सिंह ही सही। मुझे दोनों वक्त बरतन साफ मँजे हुए मिल जाने चाहिए। महरी को चार रुपये देती हूँ तुमको छः दे सकती हूँ। रुपया कुछ पहले तो नहीं चाहिए ?''

इस पर वह मुझको देखता ही रह गया। कुछ उत्तर नहीं दिया।

मैंने कहा, ''सुनते हो, जरूरत हो तो इस महीने की तनख्वाह पहले भी ले सकते हो।''

बालक फिर देखता-का-देखता ही रह गया।

''जरूरत नहीं ?''

''नहीं।''

जलपान खत्म कर उसने अपनी तश्तरी उठायी और नल के नीचे धोकर पूछा, ''इसे कहाँ रख दूँ?''

''लाओ मुझे दो।''

"मुझे बता दीजिए, मैं रख दूँगा।"

इस भाँति वह बालयुवक मेरे घर में आकर रहने लगा। सवेरे अँधेरे ही उठ जाता और घर-भर को साफ कर देता। काम में बेहद चुस्त। उसे कुछ भी कहने की आवश्यकता न होती थी। वह जब काम करता था तो मुझे बहुत कष्ट होता था। पर शायद वह बालक हमारे साथ नौकर के अलावा कोई और रिश्ता नहीं समझना चाहता था। मैंने एक बार स्वामी से कहा, "तुम जानते हो, यह लड़का कौन है?"

"क्यों, कौन है?"

"जो दीखता है, वह नहीं है।"

"फिर कौन है?

मैंने कहा, "किसी क्रान्तिकारी दल का मालूम होता है।"

उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "क्रान्तिकारी दल को तुम क्या जानती हो?"

मैंने कहा, "मैं सब जानती हूँ।"

"सब जानती हो? लेकिन यह सब कब से जानती हो?"

मैंने कहा, "तुमको कहती हूँ, यह उसी दल का लड़का है।"

"तो होगा, लेकिन कहो, उसे निकालना तो नहीं चाहतीं? तब वह बेचारा कहाँ जाएगा? हमें क्रान्ति से क्या? नौकरी से अपना तो मतलब है, क्यों?"

"निकालूँगी क्यों? और विनोद उससे बहुत हिल गया है। पर मुझे डर लगता है।"

स्वामी ने कहा, "डर नहीं करना चाहिए, करना कर्तव्य चाहिए।"

उस युवक ने शिशु विनोद का मन मोह लिया। दो-चार दिन बाद उसने अपना वेतन पेशगी स्वयं माँगकर ले लिया था और उससे विनोद को तरह-तरह की चीज लाकर देता था।

एक दिन सवेरे से यह बालक नहीं दीखा। विनोद के सिरहाने एक चिट्ठी मिली, जिसमें हम लोगों की कृपा के लिए अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट की गयी थी। हम सबके लिए प्रणत प्रणाम था, शिशु विनोद के लिए प्यार और सबसे क्षमापूर्वक विदा माँगी गयी थी।

उसके तीसरे रोज मैं क्या देखती हूँ! देखती हूँ कि अँग्रेजी के अखबार में उसकी तस्वीर छपी हुई है। एक अनहोनी घटना घटी थी और उस सम्बन्ध में वह बालक भी गिरफ्तार किया गया था। उसका नाम गंगा सिंह नहीं था।

गंगा सिंह (मैं तो उसे यही कहूँगी) और उसके अन्य तीन साथियों के नाम को लेकर एक अजब बिजली देश में दौड़ गयी। उसने लोकमत को हिला दिया। एकाएक उस घटना को शान्ति के साथ समझना और स्वीकार करना सम्भव न था। जनमत में एक मन्थन मचा। कोई कुछ, और कोई कुछ कहने लगा। ऐसी भी आवाज

आयी कि वे लोग सरकारी भेदिये हैं। किसी ने मूर्ख कहा, किसी ने वीर कहा। मुकदमा शुरू हुआ। प्रतीक्षा की जाने लगी कि दण्ड क्या मिलता है। उन चार के बाद और अनेक की भी गिरफ्तारी हुई। इन्तजार था कि उनमें कितनों को फाँसी, कितनों को कालापानी, कितनों को क्या होता है। लेकिन मेरे मन के भीतर जो हुआ मैं ही जानती हूँ। पहले ही दिन स्वामी से मैं झगड़ पड़ी। मैंने मानो चिल्लाकर उनसे कहा, ''मेरी बात तुमने नहीं मानी, अब कहो क्या कहते हो?''

उन्होंने शान्त भाव से कहा, ''क्या बात नहीं मानी?''

''मैं कहती न थी कि वह असाधारण लड़का है।''

उन्होंने मेरी ओर देखते हुए पूछा, ''तो?''

''तो क्या होता है।'' मैंने जोर से कहा, ''वह सारे अखबार मुझे ला दो, जिसमें उसकी तस्वीर छपी है। मैं अपने तमाम घर में लगाऊँगी, किताबों में रखूँगी, सबको बाँटूँगी। लोगों को शर्म नहीं आती है कि कहते हैं वह जासूस है। सच बताओ, तुम भी उसे ऐसा समझते हो?''

''कौन?''

''तुम...तुम!''

''मैं? नहीं तो—''

''तब कैसा समझते हो?''

''मैं कैसा समझता हूँ?''

''हाँ, कहते क्यों नहीं कि तुम भी उसे सच्चा नहीं समझते?''

स्वामी ने कहा, ''सुखदा!'' और इतना कहकर वह अचरज में मुझे देखते रह गये।

मैंने कहा, ''क्यों? चुप क्यों रह गये? सुनते नहीं हो मैं क्या पूछ रही हूँ? मैंने जब कहा कि वह लड़का क्रान्तिकारी दल का है, तब तुमने बात भी न सुनी। अब उसे फाँसी लगवाकर ही माने ना?''

स्वामी ने कहा, ''यह क्या कह रही हो! मैं तो उसे पहले से ही जानता था।''

यह सुनकर पल-भर मैं अवाक रह गयी। फिर गुस्से में भरकर बोली, ''तुम पहले से उसे जानते थे, तुम?''

''हाँ, जानता था सुखदा! पर उसको उस रास्ते से लौटा न सका।''

लेकिन तब मुझे अपने आपकी सुध-बुध भी कहाँ थी? मैंने कहा, ''चुप रहो, बातें न बनाओ। तुम कुछ नहीं जानते। क्रान्तिकारी को मैं जानती हूँ। तुम तो अपनी नौकरी सँभालो। चले उसे समझाने। उसके पैर की धूल भी तुम हो?''

आज सोचती हूँ तो किसी प्रकार समझ में यह नहीं आता कि मेरी जली जीभ को तब क्या हो गया था। पर मेरा मन उस बालक की घटना को लेकर बेहद क्षुब्ध

था। मुझे ऐसा क्रोध आ रहा था कि मुझसे ही न सँभलता था। वह स्वामी को लेकर प्रकट हो पड़ा होगा। स्वामी मेरी बातों को सुनकर भौचक रह गये, कुछ उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर मेरी उपस्थिति में उसी भाँति रहकर जाने लगे तो मैंने कहा, ''सुनो, इनका मुकदमा कहाँ होगा? मैं जाऊँगी।''

उन्होंने चलते-चलते कहा, ''अच्छा।''

''कहाँ होगा, तुमने बताया नहीं।''

''मुझे मालूम नहीं।''

''तो जाओ, मैं मालूम कर लूँगी।''

स्वामी बिना कुछ बोले चले गये।

5

आज वह सब दृश्य मुझे याद आता है। मुझको तब ऐसा मालूम हुआ था जैसे कोई मेरा अपना ही निजी मुझसे छीन लिया गया हो। वह अब फाँसी पर लटका दिया जाएगा। और मुझको ऐसा भी मालूम होता था कि घर में मुझ ही को उसका ध्यान है, पति के चित्त पर कोई रेखा भी नहीं खिंची है। मैं समझने लग गयी थी कि पति को देश की दुर्दशा का कुछ भी ध्यान नहीं है। अपने काम को छोड़कर उन्हें और किसी बात का ध्यान नहीं है। मैंने इधर कुछ किताबें और उपन्यास पढ़े थे, और मुझे मालूम हो गया था कि राष्ट्र को स्वाधीन करना होगा। घर-गृहस्थी लेकर उसे पालने-पोसने में बिताते रहना ऐसे समय में निकृष्ट है, जब देश पर गुलामी का जुआ चढ़ा हो। मेरे मन में उन युवकों की कहानियाँ घूमा करती थीं जो अभी पनप भी न पाये थे कि चुन लिए गये। उनके वीरोचित कारनामे, उनकी रहस्यभरी प्रवृत्तियाँ, उनके षड्यन्त्र, उत्सर्ग के लिए उनकी हौंस और राष्ट्र के लिए कटिबद्धता जाने किन-किन रंगों में मेरी कल्पना के सामने उठती थी और उन सबके बराबर होकर मेरे यह पति कितने नीरस और सामान्य जान पड़ते थे। मुझे मालूम होता था कि यों न चलेगा। पति में यदि कुछ नहीं है तो मुझे ही उठना होगा। पर उठकर क्या करना होगा, सो कुछ समझ में न आता था।

इस भाँति मन कुछ खिंचा-खिंचा रहने लगा। उस दिन-भर मैं उनसे और नहीं बोली। अगले दिन सवेरे ही स्वामी ने आठ-दस अँग्रेजी के अखबार ला रखे। लाकर रख दिये, बोले कुछ नहीं। कुछ देर तक मैंने उन अखबारों को बिलकुल नहीं छूआ। फिर अकेले में उन सबमें से तस्वीरें मैंने काट लीं।

शाम को वे देर से घर आये। थोड़ी देर बाद अचानक मुझे याद आया और मैंने पूछा, ''वह चिट्ठी कहाँ है?''

''कौन-सी चिट्ठी?''

''वही गंगा सिंह की चिट्ठी। मैंने तुम्हीं को दी थी न?''

''वह तो मैंने उसी दिन फाड़ दी थी।''

मैं यह सुनने को तैयार न थी। मानों अचम्भे में पति की ओर देखती रह गयी। मुझे कुछ नहीं सूझा। एक घृणा-सी मेरे मन में फैलती जा रही थी। मैंने कहा, ''तुम इतने कायर होगे, यह मैं न जानती थी!''

इतने ठण्डे और कटे लहजे में मैंने यह बात कही कि पति सुनकर सन्न रह गये। कुछ भी मुँह से न निकला।

मैं धम्म से पास पड़े तख्त पर बैठ गयी और हाथ की सोने की चूड़ियाँ, अँगूठी, गले का लॉकेट उतारकर जोर से फर्श पर फेंक दिये। कहा, ''लो, यह अपनी चीजें रखो। इन्हीं का तुम्हें डर है न?''

पति कुछ देर चौंके हुए खड़े रह गये और फिर उन फैली हुई चीजों को उठाकर ताक में रख दिया। फिर धरती पर बैठ गये। वे बोले, ''हाँ, मैं डरपोक हूँ। शायद तुम्हारे लायक नहीं हूँ।''

मुझे वे शब्द काट गये। तख्त पर से ही बोली, ''जो लायक हो, उसे घर में ले क्यों नहीं आते! मैं जानती हूँ वह कौन है?''

पति का चेहरा राख जैसा सफेद हो आया। लेकिन मैंने कहा, ''तुम्हारा जो कुछ है, मुझसे ले लो। मुझे न जेवर चाहिए, न दुलार चाहिए और न कुछ चाहिए।'' उस वक्त न जाने मेरे मन में क्या हो रहा था। जी होता था कि जो ये कपड़े पहन रखी हूँ, चीर-चीरकर फेंक दूँ। लेकिन बैठी रह गयी। पति नीचा सिर किये बैठे थे।

समझ में नहीं आता कि मनुष्य में क्या-क्या कुछ दबा रहता है। मुझे नहीं पता था कि जिसके लिए मेरे मन में से अगाध प्रेम का भाव समय-समय पर फूटा है, उसके लिए अपार घृणा भी मेरे मन के भीतर हो सकेगी। पर उस समय वहाँ तख्त पर बैठे-बैठे जैसी हिंस्र भावनाएँ लपट दे-देकर भीतर सुलग आयीं, आज उनका विचार कर भी काँप जाती हूँ।

कुछ देर बाद पति ने कहा, ''सुखदा, तुम क्या चाहती हो? यह चाहती हो कि नौकरी छोड़ दूँ और क्रान्तिकारी दल में शामिल हो जाऊँ?''

मैंने कहा, ''मैं कुछ नहीं चाहती, कुछ भी नहीं चाहती।''

उन्होंने कहा, ''मैं यह भी कर सकता हूँ, लेकिन इसमें सन्देह है कि मुझे वह करना चाहिए। नहीं, मैं वह नहीं कर सकता। मुझे वह नहीं करना चाहिए। वह गलत है, और सुखदा तुम नहीं जानतीं कि तुम क्या कह रही हो।''

उस समय मुझे अपने से ही डर लग आया। मुझे अपना विश्वास नहीं हुआ। मेरे मन में उनके प्रति उस समय ऐसा विद्वेष हो रहा था कि मैं स्वयं उससे सहम गयी और गुस्से से फफकती हुई कमरे से बाहर निकल गयी।

6

उसके बाद से हमारा गृहस्थी का संयुक्त जीवन अनायास दुर्बल होने लगा। वह अपने काम में और अपने निज के मित्रों में अधिक रहने लगे। मेरा भी अपना दायरा बना और फैला। मेरा यह नवीन उत्साह उसमें बहुत सहायक हुआ।

उस काल का राजनीतिक वातावरण अस्थिर था। सन् '20 का आन्दोलन ठण्डा पड़ चुका था। कोई एक विचारधारा उस समय ऐसी नहीं थी जिसमें देश का प्राण केन्द्रित भाव से बहता कहा जा सके। कई विचार थे, कई दल। और परस्पर की स्पर्धा उन दलों के पास जीवित रहने के लिए एक काम था।

यह घटना जिसमें आरम्भ में वे चार युवक पकड़े गये और जिसके सिलसिले में पीछे और बहुत पकड़े गये, गरम चर्चा का विषय थी। उस सम्बन्ध में मेरी अपनी भावनाएँ उग्र और स्पष्ट थीं। जिम्मेदार लोग उस बारे में एकाएक अपनी कोई निश्चित धारणा नहीं बना पाते थे। मेरे मन में असन्दिग्ध रूप से बैठ गया था कि भारत की युवा शक्ति को अपनाना होगा। उन्हें अकेले नहीं छोड़ा जा सकता। क्या भारत में हृदय नहीं है! भारत के ये लाल हैं, ये नर-केसरी हैं। वे क्यों न भारत के भाल पर हों। हिंसा और अहिंसा! मैं नहीं जानती आपकी हिंसा और अहिंसा। भारत का इतिहास एक दिन इन नन्हे बच्चों को याद करेगा, जिन्होंने क्या नहीं तजा, और सब तजकर मौत अपनायी। कौन उनके बारे में ऐसी-वैसी बात कहता है—उसे शरम आनी चाहिए। हम स्त्रियों से पूछो, हम अपने बच्चों को जानती हैं। मुझसे पूछो, मैं पहचानती हूँ। वे खरे हीरे हैं।

इस तरह की भावनाएँ लेकर मैं लोगों में मिलने-जुलने लगी। मैंने उन बालकों की तस्वीरें जमा कीं और अपने सब परिचितों में बाँटीं। मैं स्त्रियों से कहने लगी, ''जेवर पहनने के ये दिन नहीं हैं।'' मैंने उन्हें कहा, ''परदा छोड़ो, पतियों की गुलामी मत करो, देश की स्वतन्त्रता में हाथ बँटाओ।''

मैं नहीं जानती कि क्या चीज तब मुझे कायम रखती थी। शुरू में तो एक भावावेग था, मन के भीतर पति के प्रति एक तनाव था। जी में था कि देखूँ और दिखाऊँ कि मैं क्या हो सकती हूँ, कि मैं क्या हूँ। मन के भीतर की जो अतृप्ति थी, शायद वही इसी भाँति फूटकर अपने को बुझाती और हठात तृप्ति का स्वाद पाना चाहती थी। फिर

धीरे-धीरे उसमें अर्थ भी जान पड़ने लगा। मन कुछ व्यस्तता चाहता था, अपने-आपसे दूर कहीं फँसना चाहता था। ऐसे उसको मानो अनायास ही काम मिल गया।

एक और बात भी है। लोगों में, विशेषकर स्त्रियों में, अपने प्रति मैंने एक ईर्ष्या का और विस्मय का भाव देखा। कुछ ने विरोध किया, कुछ अनुसरण करने लगीं। लगभग सभी जगह मैंने पाया कि मेरा मान बढ़ गया है। मुझे यह सब अच्छा लगा। सभा-सोसाइटियों में पूछी जाने लगी। अपरिचित लोग मुझसे परिचय बढ़ाना चाहने लगे। और मैंने जाना कि जगह-जगह मुझे लेकर चर्चा भी होने लगी है। इस सबमें मैंने रस पाया। मेरे विचार मानों उस प्रसिद्धि की लाचारी के कारण अब और भी उग्रता से व्यक्त होने लगे। मैं उन्हें प्रकट करते समय गर्व का अनुभव करती थी।

यह जमाना राष्ट्र के लिए प्राणोद्‌बोधन का था। पिछले वर्षों का विश्राम भारत के लिए मानों काफी हो चुका था। वह फिर से जाग उठना चाहता था। वह उभार का समय था। राष्ट्र-जागरण का नेता अपने में से मार्ग खोज रहा था, दाण्डी कूच होने में अभी समय था। ऐसे समय जो जिसे सूझे, करना चाहता था। युवक लोग अधीर थे और दस यहाँ, बीस वहाँ, मिलकर कुछ-न-कुछ करने का प्रयत्न कर रहे थे।

किस प्रकार क्या होता है, कहना कठिन है। कतिपय युवकों ने मिल-जुलकर कुछ प्रवृत्ति करने की योजना की। काँग्रेस राष्ट्र की संस्था थी, लेकिन युवक उसको बिना बीच में लिये कुछ सीधा अपना उत्तरदायित्व भी समझने लगे थे। सभा की, और उसमें मुझे भी बुलाया।

अब तक मैं सार्वजनिक जीवन को बिलकुल न जानती थी। उसकी कल्पना ही मन में न होती थी। स्त्री किस प्रकार गृहस्थ जीवन की ही नहीं है, यह मैं नहीं समझती थी।

पति द्वार है, उसी के द्वारा लोक-जीवन से हमारा सम्बन्ध हो सकता है। बिना जाने कुछ इस प्रकार का ज्ञान मेरा आधार था। इस बीच जाने किस एक अनिर्दिष्ट शक्ति से मैं पति से स्वाधीन होती चली गयी। जीवन के रोज के कामों के लिए ही हमारी गृहस्थी संयुक्त थी। एक घर में खाते थे, एक घर में सोते और रहते थे। एक बच्चे के माता और पिता थे। एक जगह से आनेवाली आमदनी में से दोनों खर्च करते थे। यह था, लेकिन फिर भीतर-ही-भीतर वह संयुक्तता बँटकर स्पष्टतया दो धाराओं में बहने लगी थी। उस जगह उनमें लेन-देन नहीं था। मेरा विचार और जीवन अलग था। सामाजिक जीवन अलग था। मुझे पता भी नहीं रहने लगा था, पता रखने की उस समय चिन्ता भी नहीं रही थी, कि पति क्या चाहते हैं, क्या सोचते-विचारते हैं। मैं क्या चाहती हूँ, क्या सोचती-विचारती हूँ, यही बात मेरे लिए अत्यन्त प्रमुख थी।

7

तो भी मैं इसे संस्कार ही कहूँ कि मैं पति से पूछ बैठी, ''एक सभा में बुलाया है। चली जाऊँ?''

स्वामी को यह बात शायद बहुत ही अच्छी मालूम हुई। उन्होंने प्रसन्न भाव से पूछा, ''कैसी सभा है?''

मैंने कहा, ''मालूम नहीं, यह नोटिस आया है।''

पति ने पढ़कर पूछा, ''तुम इन लोगों को जानती हो?''

''विशेष तो नहीं जानती।''

स्वामी ने कहा, ''देखो सुखदा, मैं तुम्हारी किसी प्रवृत्ति में बाधक होऊँगा, ऐसी शंका मत करो। लेकिन मैं यह जरूर सोचता हूँ कि सबके लिए सब काम नहीं होते। अपने कर्तव्य को चुनकर व्यक्ति को परधर्म की स्पृहा नहीं करनी चाहिए।''

मैंने कुछ खीझकर कहा, ''तुम चाहते हो मैं न जाऊँ? आज तुम सच-सच बताओ, तुम यह क्यों चाहते हो?''

मुझको स्वामी की बातचीत में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता था कि वह मुझे अधीन रखना चाहते हैं। मैं समझने लगी थी कि सब पति यही चाहते हैं, मेरे पति भी यही चाहते हैं। मैं यह भी समझने लगी थी कि पत्नी पति की इच्छा के नीचे झुकती आयी है और वह भूल है। पत्नी पति के अधीन चले तो पति क्यों न इस प्रकार का दावा रखने का आदी हो जाए।

मेरे पति जब कभी मुझसे बात कहते, बहुत धीमे कहते और इस प्रकार कहते मानो अपनी इच्छा का आरोप मुझ पर बिलकुल न करना चाहते हों। पर यही बात मुझको और भी बुरी लगती थी। क्योंकि उनके कथन में पकड़ सकने योग्य और आपत्ति करने योग्य कोई बात नहीं पाती थी। मैं सोचती थी कि इसी मिठास में तो उनका अधिकार-गर्व छिपा है। यह मिठास लेप है, भीतर कठिन पौरुषता है। पर वह पौरुषता क्यों सामने नहीं पड़ती है—इस पर मुझे खीझ चढ़ आती थी। इसी कारण मैंने अवश भाव से कहा, ''आज सच कहो, तुम क्यों चाहते हो कि मैं न जाऊँ?''

स्वामी ने आश्चर्य से कहा, ''नहीं-नहीं, मैं यह कब कहता हूँ। सच तो कहता हूँ।''

''तुम चाहते हो मैं जाऊँ?''

स्वामी ने कहा, ''मैं चाहता हूँ निर्णय मुझसे न माँगो। निर्णायक तुम भी हो सकती हो।''

मैंने कहा, ''देखो, मैं तुमसे कहती हूँ कि अपने मन की सच-सच बात कहा करो। मुझसे झूठ बोलने की जरूरत नहीं। मैं तुमसे आज साफ-साफ पूछती हूँ कि तुम

चाहते हो कि निर्णायक मैं बनूँ। मैं खुशामद की बात सुनना नहीं चाहती हूँ। मैं बच्ची नहीं हूँ। जो कहना हो, कह दो।''

स्वामी ने कुछ भी नहीं कहा। इतना ही कह पाये, ''सुखदा!''

मैंने कहा, ''सुनो, जब मैं तुमसे बातें करती हूँ तो तुम चुप रह जाते हो। ऐसे बन जाते हो जैसे कुछ भी नहीं जानते। लेकिन तुम नहीं तो मैं कहती हूँ—स्त्री के भी हृदय होता है, और वह भी कुछ दायित्व रखती है। उसके बुद्धि भी होती है, और वह निर्णय कर सकती है। मैं इस सभा में जाऊँगी, तुम रोक नहीं सकते।''

स्वामी ने कहा, ''मैंने कभी रोका है?''

मैंने आवेश में कहा, ''नहीं रोका! हाँ, कहकर तो नहीं रोका, पर क्या मैं जानती-समझती नहीं हूँ, और कहती हूँ—घर की दासी जो स्त्री बन सकती है, वह मैं नहीं हूँ।''

स्वामी ने कहा, ''दासी!''

''तुम अपने मुँह से कह दोगे, स्वामिनी। लेकिन ये केवल शब्द हैं। घर-घर में जाकर मैंने देखा है, पुरुष स्त्रियों पर जेवर चढ़ाते हैं, उन्हें मीठी-मीठी बातें सुनाते हैं, उनकी खुशामद करते हैं। क्या इसलिए कि मर्द सचमुच उनका सम्मान करते हैं? जो स्त्री ऐसा समझती है, वह मूर्ख है। लेकिन मैं जानती हूँ कि दासी रखने के ये तरीके हैं।''

इस पर स्वामी मुझे जिस भाव से देखते रह गये थे, वह अब भी मेरे सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। आज उस मूर्ति को याद कर बह पड़ना चाहती हूँ, लेकिन तब जाने मुझे क्या हो गया था।

उन्होंने पूछा ''सुखदा, तुम क्या चाहती हो?''

मैंने कहा, ''मैं कुछ नहीं चाहती। यह चाहती हूँ कि आप समझ जाएँ कि स्त्री का भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है।''

''सो कैसे समझाना चाहती हो?''

''स्वतन्त्र होकर, व्यक्तित्व बनकर।''

''स्वतन्त्र कैसे हुआ जाता है, कैसे होकर?''

''जरा ठहरते क्यों नहीं हो, सब कुछ सामने ही जो आएगा।''

यहाँ तक आकर बात आगे नहीं बढ़ी। स्वामी वाक्शून्य रह गये थे और मैं उन्हें उस अवस्था में छोड़कर वहाँ से हट गयी थी। पुरुषों की सभा में जाने का संस्कारवश मेरा इरादा और अभिप्राय नहीं था, कुछ संकोच हो रहा था। लेकिन वे बातें हो जाने के बाद मानों अब जाना लाजिमी हो गया।

सभा में पूरे बीस आदमी न होंगे। स्त्री मैं अकेली थी।

उसमें तीस वर्ष से अधिक अवस्था का शायद ही कोई हो। वहाँ दो-ढाई घण्टे

तक बातें हुईं। बातें किसी ढंग से नहीं हुईं। यहाँ की-वहाँ की, काम की-बेकाम की। विनोद की और संकल्प की। सभी तरह की होती रहीं। ढाई घण्टे के बाद मैंने पाया कि हम लोग एक संघ हो गये हैं और मैं उसकी उपाध्यक्षा हूँ। मैंने सभा में विशेष भाग नहीं लिया। संकोच को जीत नहीं सकी। बस गंगा सिंह और उसके साथियों का उदाहरण देकर कहा था कि हमको त्याग और कुर्बानी के लिए तैयार होना होगा। जोश के साथ इस तरह की छोटी-सी बात कहकर मैं लज्जा से चारों ओर देखने लगी थी। मैं एक ओर लगभग अकेली बैठी थी। मेरे बोलने के अनन्तर ही हरीश मेरे पास आ बैठे। वे मुझसे पहले भी मिले थे और इधर-उधर की राजनीति-विषयक बातें मुझसे की थीं। पास बैठते-बैठते धीमे से नमस्कार किया और एक कागज मेरे सामने रखा जिस पर उपाध्यक्ष के लिए खाली पड़ी जगह पर मेरे सामने उन्होंने मेरा नाम लिख दिया। कहा, ''संघ के पदाधिकारियों की यह प्रस्तावक सूची है।''

उसके जवाब में स्पष्टता से मैं कुछ भी नहीं कह सकी।

''देखिए, आप निराश नहीं कर सकतीं'', हरीश ने कहा और फिर तनिक धीमे होकर बोले, ''क्या माना जाए कि भारत में पुरुष ही हैं, स्त्रियाँ नगण्य हैं?''

मुझे जाने उस समय कैसा मालूम हुआ जैसे बहुत भारी और पवित्र काम का श्रेय मुझे मिल रहा हो। कहा, ''मुझे आप क्षमा ही कीजिए।''

हरीश ने कहा, ''यह कैसे हो सकेगा। स्त्रियों के बिना भला पुरुष चल सकते हैं! अकेले वे एक डग नहीं चल सकते। यह अभाग्य है कि हिन्दुस्तान में स्त्री-पुरुष बँट गये हैं। लेकिन उस दुर्भाग्य को हम कायम तो नहीं कर सकते। आपके संकोच के उत्तरदाता भी हम पुरुष हैं। क्या इसी का दण्ड है कि हमें अकेला छोड़ा जाता है? जी नहीं, आप मानिए।''

हरीश की ध्वनि मेरे कानों में पड़कर भीतर से मुझे कँपाने लगी। प्रतीत होने लगा कि जो वे कहते हैं, सच ही है। नारी एक शक्ति है और वह शक्ति मानो मेरे भीतर खुलकर प्रकट होना चाहने लगी। कहा, ''मैं तो साथ हूँ, पर पदाधिकारी न बनाएँ। और अभी उनसे पूछना भी।'' कहते-कहते अनायास मुझे लज्जा ने घेर लिया।

हरीश ने जैसे आश्चर्य से कहा, ''उनसे किनसे?''

मैं अपने को अपराधिनी ही मान उठी, कुछ बोल न पायी।

हरीश ने कहा, ''ओ, वह! लेकिन इसमें पूछने की बात ही क्या है? आत्मा क्या सबकी अपनी नहीं है? और वह स्वतन्त्र है। जी नहीं, देखिए सभा का काम रुका है। बस, अब मैं सब नाम पेश किये देता हूँ।''

मैं कुछ कह पाऊँ कि हरीश ने अपने स्थान पर जाकर वह सूची पेश कर दी। यह हो गया, तब मुझसे कुछ बोला नहीं गया।

सभा की समाप्ति पर हरीश ने मेरे पास आकर कहा, ''मैं कल किस समय आपके पास आ सकता हूँ? कुछ बातें करनी हैं।''

"घर?"
"या नहीं तो बतलाइए कहाँ?"
"कल ही?"
"हाँ, अब देर तो नहीं की जा सकती।"
"तो—तो तीसरे पहर आइए।"
"घर आऊँ? ठीक।"
और हरीश ने एक कदम बढ़कर प्रभात को बुलाया, कहा, "देखो, आपको घर पहुँचा आओ।"
मैंने कहा, "नहीं-नहीं।"
"यह तो आप ही का लड़का है।"
मैं कुछ कह न सकी और प्रभात मुझे मकान के दरवाजे तक पहुँचाकर चला गया।

8

स्त्री को कुछ सुविधाएँ हैं, कुछ असुविधाएँ। जहाँ तक नामवरी की बात है, स्त्री का मार्ग खुला है, सीधा है। और बदनामी के लिए भी वह उतना ही सहज भाव से खुला हुआ है। सार्वजनिक जीवन में स्त्री जल्दी ही बह सकती है, क्योंकि वह अस्वीकृति कम पाती है। लोग उसे अधिक सम्भ्रम, अधिक आदर-भाव से देख सकते हैं। पर यही सुविधाएँ आगे जाकर बाधाएँ हैं। इनके कारण उसके जीवन में पूर्णता आने से पारस्परिक सम्बन्ध उतने हार्दिक और अभिन्न नहीं हो पाते। कुछ हो, दो-तीन महीनों के अन्दर मैंने देखा, प्रभात मानो मेरा ही बन गया है। नरेश सदा मेरा विरोध भी करते हैं और अदब भी सबसे अधिक करते हैं। शर्माजी, सबको छोड़कर संघ में मेरा अनुमोदन करते हैं। पर हरीश को मैंने वहीं पाया, जहाँ पहले दिन पाया था। निकट, फिर भी अपने-आप में स्वतन्त्र। उन्होंने मुझे कभी दूर न जाना और इससे कभी पास लाने की इच्छा नहीं की।

इन दिनों स्वामी से मैं सचमुच स्वाधीन होती जा रही थी। मैं घर पर रोटी नहीं बनाती थी। एक ब्राह्मण रख लिया था, बच्चे के लिए एक नौकर था। कम बातें रहती जा रही थीं, जिन पर हम में रगड़ तक भी होती।

एक दिन उन्होंने कहा, "इधर तुम्हारी कोई चीज तो नहीं गयी?"
मैंने कहा, "क्यों?"

बोले, "मेरी जेब में से कई दफा कुछ पैसे गायब हो गये हैं। एक पाँच रुपये का नोट दराज में रखा था, वह भी नहीं मिला। इसीलिए पूछ रहा था।"

मैंने कहा, "क्या मतलब है, मैं ले लेती हूँ?"

यह बात कहकर मैंने उनकी ओर देखा तो घबरा गयी। उनका चेहरा स्याह पड़ गया था, वह कुछ बोल नहीं सके।

मैंने स्थिति को सँभालने के लिए कहा, "मैं हँसी कर रही थी। क्या तुम समझते हो मैं तुम्हारा इतना अविश्वास करने लगूँगी।"

स्वामी ने जाने किस भाव से कहा, "सुखदा, ऐसी हँसी मत किया करो। हाँ, मेरा शक महराज पर है, सौदे में भी वह कुछ बचाता मालूम होता है। कहो तो उसे बदल दिया जाए।"

"मैं क्या कहूँ, बदल क्यों न दो?"

स्वामी ने कहा, "रखा तुमने था न! इसी से मैंने पूछा।"

"बदल क्यों नहीं देते?"

स्वामी बोले, "मैं सोचता था कि शायद तुम कहो कि जिसकी मार्फत वह आदमी आया है उससे पहले कहना ठीक होगा। अगर वह फिर कहे कि आदमी विश्वासपात्र है तो इसे नहीं बदलना चाहिए। क्या जाने हमारे शक करने में गलती हो।"

इस बात पर मैं उनको देख उठी। मिसर जी हरीश की मार्फत मेरे यहाँ आये थे, यह वह जानते थे। मुझको उस समय ऐसा लगा कि स्वामी के कथन में उसी बात पर कहीं व्यंग्य तो नहीं है।

मैंने कहा, "तुम्हारा ख्याल कि...।"

मुझसे तुरन्त वाक्य पूरा नहीं हुआ। उन्होंने बीच में ही कहा, "मेरा ख्याल है तुम महाराज को बुलाकर पूछो।"

"मैं पूछूँ?"

"हाँ, तुम्हारा पूछना ठीक होगा, क्योंकि मेरे मन में तो शक बैठ गया है और मैं शायद न्याय नहीं कर सकूँगा। तुम्हारे मन में किसी तरह का उसके खिलाफ भाव भी नहीं है और वह भी जानता है कि तुम्हारी दया पर वह यहाँ रखा गया है।"

स्वामी अपने सहज भाव से बात कर रहे थे कि मैं अपने को दोषी लगने लगी। मैंने कहा, "तुम ही उससे कह-सुन लो, मेरे पास भेजा तो मैं उसे निकाल ही दूँगी। मैं जानती हूँ तुम्हारा सन्देह उस पर व्यर्थ नहीं हो सकता।"

मुझसे यह बात सुनकर स्वामी में जाने कैसा भाव हो गया। वह मानों कृतज्ञ दृष्टि से मुझे देख उठे, बोले, "जाने दो, ऐसी कोई बड़ी बात तो है नहीं।"

मैं भी उस समय अतिशय कृतज्ञ हो आयी। बोली, "बात क्यों नहीं है? उसने

क्या समझ रखा है कि घर में कोई देखभाल करने वाला नहीं है! मैं अभी सब देखती-सँभालती हूँ। नौकरों के हाथ में सब काम छोड़कर बस कुछ पूछो मत...।''

''शाम को तुम कहाँ जाया करती हो? आज कहीं जाना न हो तो चलो कहीं घूमने चलें। कहो तो सिनेमा चलें।''

मैंने इसी समय मिसर जी को आवाज दी। उनके आने पर कहा, ''देखो मिसर जी, बताओ। अभी तुम्हें एकदम क्यों न निकाल दिया जाए?''

मिसर जी खड़े-खड़े देखते रह गये। मैंने स्वामी से पूछा, ''क्यों जी, तुम्हारे कितने रुपये गये हैं?''

''रुपये? नहीं-नहीं—सो क्या?''

''देखो मिसर जी, सात रुपये कुछ आने उनकी जेब से जाते रहे हैं। अभी चूल्हा तो तुमने नहीं चढ़ाया है? अभी जाओ, कल दोपहर तक या तो उसे ले आओ जिसने रुपया लिया है, नहीं तो उतने दाम तुम खुद ले आना। समझे! ले आये तो रहोगे, नहीं तो यहाँ ऐसे आदमी का कोई काम नहीं।''

उसने 'बहूजी-बहूजी' कहकर बहुत कुछ कहना चाहा, लेकिन मैंने डपट दिया कि अभी तुम इसी वक्त आँखों के सामने से चले जाओ। कल रुपये लाना, तब जो कहना हो—कहना। सुन लिया, बस जाओ।

वह चला गया, तब मैंने स्वामी से कहा, ''अब बताओ मैं क्या करूँ? घूमने कैसे चलूँ? रोटी कौन बनाएगा?''

स्वामी ने कहा, ''तुम बनाओगी? नहीं, चलो आज किसी रेस्तराँ में खाएँगे।''

लेकिन उनकी इस तरह की बात पर मेरे लिए असम्भव हो गया कि मैं रोटी बनाने के मौके को छोड़ूँ।

9

वह सन्ध्या मुझे याद आती है। लेकिन किस बिरते पर उसे याद करूँ। आज यहाँ इतनी दूर आकर खड़ी लगने वाली घटनाएँ तुच्छ मालूम होती हैं, और इस तरह की कुछ सन्ध्याएँ उस जीवन के विस्तार में आज भी हरियाले ओयसिस की भाँति दीख पड़ती हैं। हाय, आज कैसा अचरज है कि मैं उन हरियाली घड़ियों को टालती गयी और किस मरीचिका के पीछे भागती हुई आज इस किनारे पर आ लगी हूँ। मैं उन तिरस्कृत घड़ियों को आज याद करती हूँ तो इसलिए कि मेरा शोक और भी तीखा हो जाए और मेरी मूर्खता पूरी तरह प्रकट हो जाए।

किन्तु मैंने अधिक दिन रोटी नहीं बनायीं। अगले दिन पूरे दाम लेकर वह मिसर हाजिर हो गया। उसने सौगन्ध खाकर कहा, ''अपराधी वह नहीं है। और कुछ कहूँ, चोरी का पातक उसे न लगाऊँ।'' उसने कहा कि यों चाहे मारकर निकाल दें, लानत-मलामत दें, पर कलंक का टीका माथे पर लगा हुआ लेकर वह और कहीं जाने में असमर्थ है। उसने रुपये मेरे पैरों के पास ला रखे। मैंने उठाकर उसी तरफ फेंक दिये और कहा, ''जा, अपने बाबूजी से माफी माँगकर आ। वह कह देंगे तो तू रह जाएगा। खबरदार जो उनको तुझसे जरा भी शिकायत हुई।''

शाम को जरूरी मीटिंग थी। हरीश ने अनुरोधपूर्वक मुझे बुलाया था। पहले दिन सोचा था कि अगले दिन घूमने चलेंगे और सिनेमा भी जाएँगे। एक बार तो हुआ मीटिंग में न जाऊँ, लिख दूँ कि मैं इस समय खाली नहीं हूँ। लेकिन जाने किस प्रकार मैं अपनी क्या-क्या जिम्मेदारियाँ समझने लगी थी। तो भी जाने से पहले मैं स्वामी का इन्तजार करती रही। दोपहर या कभी तीसरे पहर वह रोज ही घर पर आ जाया करते थे। आज मैंने सामने बैठकर मिसर जी से दो-एक ऐसी चीजें बनवायी थीं जो उन्हें खास पसन्द थीं। पर आज शाम होने को आयी, वह नहीं आये। छः, साढ़े छः, आखिर कहीं सात पर वे आये। मीटिंग का वक्त टल गया था। मैंने कहा, ''आज बड़ी देर लगा दी।''

''हूँ, आज देर हो गयी। बस भाई, कुछ पूछो मत। तो कहो, आज चलने की पक्की है? देखो, तुमने कल आज के लिए कहा था।''

मैंने कहा, ''आज नहीं, अब फिर कल।''

''क्यों, फिर देश का मामला आ गया है क्या?''

मैंने कहा, ''तुमको क्या मालूम! साढ़े छः बजे मीटिंग थी, लेट हो गयी हूँ।''

''जाना जरूरी है?''

मुझे उनका यह पूछना अच्छा न लगा। मेरी समझ में न आया कि देश किस तरह किसी के लिए मजाक का विषय हो सकता है। मैंने कहा, ''जरूरी तो मालूम होता है।''

उन्होंने पूछा, ''कब तक लौटोगी?''

मैंने कहा, ''कह नहीं सकती, देखिए।''

वह बोले, ''चाहो तो सेकिण्ड शो में चल सकते हैं, क्या कहती हो?''

मैंने कहा, ''नहीं।''

कुछ समझ नहीं आता कि मन कैसे चलता है, कितनी आस से मैं उनकी बाट जोहती थी। कितनी आस से उन्होंने मुझसे पूछा और घूमने चलने को कहा। फिर भी मीटिंग के लिए चलते वक्त बे-बात की बात उठाकर मेरा मन कैसा फीका हो आया था। और सच कहती हूँ, जाते-जाते मेरे मन में भाव उठने लगे कि गृहस्थी बस निरी झंझट है और मानों मैंने अपने को कहा कि उन-उन वीरों को देखो जो देश पर कुर्बान

होते हैं और राष्ट्र की आजादी जीतते हैं।

10

हरीश के अतीत के बारे में बहुत-कुछ सुनने में आता। उसमें क्या प्रामाणिक और क्या कल्पित है, यह जानने का कोई साधन न था। हरीश अपने बारे में सदा मौन रहता था। बंगाली था, लेकिन हिन्दी बहुत अच्छी तरह बोलता था। असल में वह किसी एक विशिष्ट प्रान्त का है, और जहाँ रह रहा है वहीं का नहीं है...ऐसा अनुमान करने का कोई कारण उसमें न मिलता था। सुना गया था कि पैसे की उसे चिन्ता न थी। बहुत सम्पन्न घराने का लड़का है। पर छुटपन से ही राष्ट्र के काम में है और जाने क्या-क्या मुसीबतें उठा चुका है। वह पास लगता था, फिर भी मानों काफी दूर था। सामने था, पर जैसे बहुत-कुछ उसमें बन्द रहता था, खुलता नहीं था।

मीटिंग हरीश के मकान पर थी। पर देखती हूँ, कुछ कागजों को फैलाये हरीश अकेला बैठा है, कोई और नहीं है। मुझे आया देखकर हरीश ने अपने हाथ के कागज दूर कर दिये। चश्मा उतारा, बोला, ''आइए, लेकिन अब तो साढ़े सात होने वाले हैं।''

मैंने पूछा, ''क्या मीटिंग हो चुकी?''

''हो भी चुकी, लेकिन मुझे आपकी प्रतीक्षा थी। और लोग आकर गये। वे आपके आने के बारे में सन्देह में थे। पर मैं तो सन्देह कर नहीं सकता था।''

मैंने पास बैठते-बैठते देर हो जाने के बारे में क्षमा माँगी।

हरीश ने हँसकर कहा, ''क्षमा और सफाई की क्या जरूरत है? गृहस्थी में देर न हो तो अचरज किया भी जा सकता है। थोड़ी-बहुत देर होना तो मामूली बात है। आप यह क्यों समझी कि मैं गृहस्थ नहीं हूँ, तो गृहस्थी की बातों को जानता भी नहीं हूँ। लेकिन देखता हूँ आने में देर हुई तो जाने में जल्दी चाहती हैं शायद।''

मैंने हठात् जवाब में कहा, ''नहीं-नहीं...।''

हरीश ने उस समय जाने किस प्रकार मुझसे बातें कीं। कहा कि देरी कोई अचरज की बात नहीं है, लेकिन देश का काम गृहस्थी के ढंग से शायद नहीं चलेगा। इस काम में आपके एक घण्टे की देर, जानती हैं, कितनी गुनी हो जाती है! दस आदमी आने वाले हों तो वह देर दस घण्टा हो जाती है। उससे कल्पना कीजिए कितनी कुछ खराबी नहीं हो सकती है। जी नहीं, ऐसे देर न हो सकेगी।

मुझे यह सुनकर अच्छा मालूम नहीं हुआ। उस व्यक्ति की प्रभुता की मैंने कब अपेक्षा की है? मैंने कब उसको इजाजत दी है? फिर भी मैं उस प्रभुता के स्वर का

कुछ भी विरोध न कर सकी। अपराधिनी-सी बनी बैठी रही।

हरीश ने कहा, ''लेकिन अब तो आप देर नहीं लगाएँगी, यह मैं पहले से जानता हूँ। यह भी जानता हूँ कि मेरे कहने का आप बुरा नहीं मान सकतीं। कैसे मान सकती हैं? क्या यह सच नहीं कि संघ की सफलता अगर पहले किसी पर निर्भर है तो आप पर? आप जानती हैं, आप हमारे बीच क्या समझी जाती हैं। आप समझी जाती हैं अटूट, अप्रमत्त और अनिवार्य। और लोग कच्चे भी पड़ें, आपको खरा उतरना होगा, नहीं तो हमारा स्वप्न कैसे स्थिर रहेगा। आज आपको मैं यही कहना चाहता था कि आपको लेकर संघ के सदस्यों के मनों का स्वप्न सांगोपांग होता है। हम टूट सकते हैं, स्वप्न नहीं टूट सकते। या तो हम मान लें कि हमारे सपने झूठे हैं और तब चुप बैठें, काम-धाम का ढकोसला न करें। नहीं तो हमारे स्वप्न को ऊँचा रहना होगा, खरा रहना होगा। झुक वह न सकेगा। हम मरें भी, पर उसे झुकने न देंगे। वही तो हमारी आन है।''

हरीश की ऐसी बातें सुनकर मेरा हृदय धक्-से रह जाया करता था। उन बातों में मुझे कुछ भी पकड़ने योग्य नहीं मिलता था, फिर भी वे जाने मेरे भीतर के किस तार को छू देती थीं कि एक विचित्र स्वर की झंकार मेरी आत्मा के भीतर भरने लग जाती थी। जी होता था अपने ही को तोड़कर ऊपर आ जाऊँ। सबको इनकार कर दूँ और कह दूँ कि मैं नहीं हूँ मानवी, मैं स्वप्न होना चाहती हूँ। स्वप्न की भाँति उज्ज्वल, उसी की भाँति अदृश्य और उसी की ही भाँति सब कुछ और कुछ भी नहीं। केवल-मात्र एक चेतना, एक शक्ति, एक जागृति, एक ज्योति, एक संकल्प।

यह होता था, पर अस्थि-मांस के हरीश को स्थिर, तीव्र आँखों से अपनी ओर देखते हुए देखकर मेरा मन भीतर को सिमटता भी था। कहीं होता था कि मैं हीन हूँ। होता कि इस व्यक्ति के सामने से चली जाऊँ। चिल्लाकर कह दूँ कि तुम जो जानते हो, जो चाहते हो, वह कुछ भी मैं नहीं हूँ। मुझे अगर रोकना चाहते तो मैं जाना चाहती हूँ। लेकिन न मैं गयी, न मैं बोली, न चिहुँकी, शून्यभाव से बैठी रह गयी।

हरीश ने कहा, ''पहली आवश्यक बात है हमारा स्वप्न। अपनी अधिक-से-अधिक चिन्ता, अधिक-से-अधिक लगन उस पर खर्च करनी होगी। उसके बाद कर्म की योजना होगी। नारी कर्म में यदि अक्षम है, तो उसकी क्षमता उससे ऊँचे क्षेत्र में दुर्जेय है। आपसे कर्म की बातें इसी से सामने लाकर नहीं करता हूँ। हमारे सब कर्म-व्यापार निकम्मे हैं, अगर यह स्वप्न को लेकर आगे नहीं चलते। स्वप्न अर्थात् छल, स्वप्न अर्थात् सत्य। स्वप्न निरी छलना है, अगर हमारी श्रद्धा शिथिल है और वही सत्य है यदि श्रद्धा दृढ़ है। नारी माया है, अगर वह निरी मानवी है। दुर्गा होकर वह सत्येश्वर की वामांगिनी है। तभी कहता हूँ, नारी को निरी भावना नहीं रहना होगा। चौंको मत। इन पास फैले कागजों में बहुत-सी काम की बातें हैं। लेकिन देखो सुखदा, मैं सच

कहता हूँ—काम की बातें पीछे आती हैं, पहले आने का हक आदर्श की बातों का है। आदर्श सूक्ष्म है, वह भावनामय है। वह नहीं दिखता और अनसूझते को नहीं सूझता। पर स्वयंभू है वह, कर्म के पीछे नहीं चलता। कर्म को उसके पीछे चलना होगा। जो यह नहीं जानते वही काम की बातें किया करते हैं। जो जानते हैं, वह काम करते हैं, बात उसकी नहीं करते। बात वह करते हैं जो अत्यन्त निष्काम हो। निरी आदर्शप्राण, छायामय, पर सत्य। इसलिए यह कागज अलग किये देता हूँ, उनमें कोरा काम है...।''

एक समेट में फैले कागज हरीश ने अपने सामने से एक तरफ किये और मुस्कराकर मेरी ओर देखते हुए कहा, ''काम को मन से निकाल दो, कल्पना को मन में भरो। काम में तुच्छता दीख सकती है, पर देश महान है, कल्पना से उसे मन में जगाये रखना है। खतरा काम में यह ही है कि उसके ब्यौरे हमको ढक लेते हैं। सुखदा, तुमको जानना होगा कि कितना आवश्यक है कि युवक आदर्श भाव में ऊँचे उठें, सिर्फ कामधाम में खोये न रहें और इसके लिए तुम आवश्यक हो। तुम कहता हूँ, कह तो सकता हूँ न?''

क्षण के सूक्ष्म भाग तक हरीश की आँखें मेरी उठी निगाह पर टिकी रहीं। मैं चुप रही और हरीश ने कहना जारी रखा, ''नहीं, हम व्यर्थता को बीच में न आने देंगे। हम सिर्फ सभ्य नहीं हैं। गृहस्थ नहीं हैं। कुछ भी नहीं हैं, सिर्फ समर्पित हैं समर्पित बनेंगे। सब आपस में एक बनेंगे, अभिन्न बनेंगे। क्यों, क्या कहती हो?''

मैं सुनती जा रही थी और अपने को खोती जा रही थी। मालूम होता था कि सचमुच मैं नहीं हूँ और इस न होने में कृतार्थ हूँ। मुझमें बोलने की आवश्यकता न थी, क्योंकि कहीं भी तो प्रश्न को अवकाश न था।

ऐसी हालत में थी कि एकाएक हँसी की खिलखिलाहट कानों में पड़ी तो मानों चौंककर मैंने ऊपर देखा—

''क्यों, कहाँ चली गयी थीं!'

प्रश्न सुनकर मैं लजा गयी और निरुत्तर सामने देखती रही। हरीश ने हलके हँसकर कहा, ''निश्चय तुम यहाँ न थीं, कहीं और पहुँच गयी थीं। और यह अच्छा है। सुनो, मेरे पिछले दो-तीन वाक्य तुमने सुने ही नहीं, तुमसे ऊपर ही ऊपर वे घूमते रह गये हैं। चलो छोड़ो। कहना यह है कि मैं एक हफ्ते से ज्यादा यहाँ नहीं रह पाऊँगा। जाना ही होगा। बताओ, तुम पर अपना कितना बोझ डाल सकता हूँ?''

प्रश्न सुनकर मैं समझ नहीं पायी। मुझ पर उस समय सीमाएँ न थीं, मैं स्वयं थी और समर्पित थी। बस सामने उद्देश्य चाहती थी और उसकी प्राप्ति में किसी बाधा को देखना या मानना मेरा काम नहीं था। इसलिए प्रश्न के उत्तर में मैं स्वयं प्रश्न बनी-सी हरीश को देखती रह गयी।

''सुनो, यहाँ के जरूरी कागज तुम्हारे पास रहेंगे। रह तो सकते हैं न? और दूसरे

यह कि रुपया तुमसे मिल सकता है ? काफी चाहिए।''

मैंने पूछा, ''कितना ?''

''कितना पूछती हो ? देश के काम में और कितना ? जानती तो हो यह पैंतीस करोड़ का देश है। इससे जिससे जितना हो उसके लिए कितने का वही उत्तर है। यज्ञ में कम-ज्यादा नहीं होता, सब वहाँ होम होता है। यहाँ का सत्य त्याग है, हिसाब नहीं।''

मैं सोच में रही और अनुमान को किसी संख्या पर नहीं टिका सकी। पूछना चाहती रही कि आखिर कितने रुपयों का बन्दोबस्त मुझे करना होगा। लेकिन कोई शब्द मेरे मुँह से बाहर नहीं आया।

हरीश ने कहा, ''नहीं, सोच की बात अभी नहीं। जाते समय चाहिएगा। सुनो, प्रभात को कैसा समझती हो ?''

मैं प्रश्न के लिए तैयार न थी और चुप रही। प्रभात को विशेष जानती भी न थी।

''भरोसे का है ? क्या कहती हो ?''

''आप उसे जानते हैं, मैं तो—''

''हाँ जानता हूँ, लेकिन तुम लोग एक निगाह में जो पा जाती हो वह हमसे ज्यादा होता है, असली भी होता है। मुझे उस पर विश्वास है, लेकिन तुम कहोगी तभी जोखम का काम उसे सौंपा जाएगा। बात यह है कि उसे लड़के की तरह रखना होगा। उसकी कहानी कभी तुम जानोगी। लेकिन स्नेह दोगी तो जान देकर वह उसकी रक्षा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। उसका यहाँ ठिकाना नहीं है। जैसे-तैसे ट्यूशन के बल रहता और पढ़ता है। सोचता था, उसे तुम्हें सौंपकर एक दिन निश्चिन्त होऊँगा। बोलो, उसे सँभालोगी ?''

मौन से मैंने स्वीकृति दी। हरीश ने कहा, ''ठीक है, वह हमारे बीच कड़ी रहेगा। क्यों ? लेकिन...।''

यहाँ वह ठिठके, मैं प्रतीक्षा में रही।

''उन्हें बुरा न लगेगा ?''

मुझे बुरा मालूम हुआ। भभककर कहा, ''मैं स्वाधीन हूँ।''

''हाँ ?''

''जी...।''

इसके बाद दोनों ओर कुछ देर चुप्पी रही। मैं अपने से नाराज हो उठी। मुझे लग आया कि यहाँ, इस वक्त मेरा प्रयोजन नहीं है। मैंने अपने साथ जोर लगाकर कहा, ''मैं जा सकती हूँ ?''

''जाओगी ? अच्छी बात। शायद देर हो गयी। तो...।''

कहकर मेरी ओर बिना देखे हरीश ने कागज बराबर से खींचकर अपने सामने

ले लिए और एकदम उनमें डूब गये। जैसे मैं थी ही नहीं वहाँ।

कुछ क्षण इस प्रकार असंगत भाव से मैं बैठी रह गयी। फिर खड़ी हुई, कहा, ''नमस्कार!''

सामने के कागज पर पेंसिल चलाते हुए बिना सिर उठाये उन्होंने कहा, ''नमस्कार।''

सुनकर मैं तिलमिलाती हुई कमरे में से निकल, बाहर चली आयी।

11

मैं रुष्ट लौटी और देखा कि घर में भी मेरे लिए विशेष उत्सुकता नहीं है। खाना बन गया है और ठण्डा रखा है। आदमी बेकार हुक्म के इन्तजार में ऊँघ रहा है। स्वामी टेबुल लैम्प लगाकर अपने कमरे में फाइल लिये बैठे हैं। मुझे प्रतीक्षा थी, इच्छा थी कि मैं पूछी जाऊँ। कुछ कही ही जाऊँ, डपटी ही जाऊँ। सोचती आ रही थी कि अब आगे हरीश के पास आने-जाने की मुझे कोई जरूरत न होगी। लेकिन घर आकर भी मैं अपने को अनावश्यक लगूँ, यह मुझे असह्य ही हो आया। एक बार कमरे में आकर गयी। कपड़ा बदला, नौकर को डाँटा, हुक्म दिया कि जल्दी बाहर खाना लगाए और फिर कमरे में तेजी से लौटकर कहा, ''सुनते हो जी?''

स्वामी ने धीरे-धीरे सिर ऊपर उठाया। घूरकर मेरी ओर देखा, कहा, ''आ गयीं आप!''

''जी आ गयी।''

वह मेरे जवाब पर कुछ देर देखते रहे। फिर सहसा विलक्षण ढंग से मुस्कराकर बोले, ''जानती हो सुखदा, नाराजगी तुम्हारे चेहरे पर कैसी लगती है? सच, बड़ी प्यारी लगती है।''

मैं एकदम निरस्त्र हो आयी। जैसे हठात् शरीर में रोमांच अनुभव हुआ। कहा, ''क्या काम पर बैठे हो! खाना उधर ठण्डा हो रहा है। खबर है क्या वक्त है? उठो।''

उन्होंने क्षमा-याचना की सी वाणी में कहा, ''लेकिन तुम...!''

''मैं न आऊँ तो आप भूखे रहें, यह कायदा कब से शुरू हो गया है। मुझे तो बाहर कुछ लेना पड़ गया था।''

सुनकर उन्होंने मुँह मोड़ लिया। कहा, ''तो ठीक है। छोड़ो, मुझे जरा काम है।''

''जी नहीं, चलिए, उस आदमी पर रहम कीजिए कि बिचारा निपट तो जाए।''

उन्होंने बिना मेरी ओर देखे कहा, ''कह दो, वह जाए।''

मुझे यह सब अच्छा मालूम हो रहा था। जैसे मेरे होने को अर्थ मिल रहा हो, गौरव मिल रहा हो। लेकिन मेरे मुँह से निकला, ''तो आप जानें, मैं जाती हूँ।''

अपने स्थान से ही पति ने कहा, ''जाओ, तंग न करो।''

एकाएक ही यह क्या हो गया, मेरी पकड़ में न आया। जैसे मेरे लिए जाने के सिवा कुछ बाकी न रहा। मैं झुँझला आयी, बोली, ''क्या मैं बाहर कहीं कुछ खा ही नहीं सकती! सुनिए, आप खाना छोड़िएगा तो अपने लिए। मुझसे क्यों ऐंठते हैं?''

ठण्डे कटे लहजे में उधर से उत्तर आया, ''मुझे काम करने दो।''

उस समय मैंने बहुत चाहा कि जाकर एक झटके से फाइल दूर फेंक दूँ, दोनों हाथ पकड़कर उन्हें उठा लूँ, और कहूँ कि यह झूठ है कि मैंने कहीं कुछ खाया है। लेकिन वह मुझसे कुछ न हो सका। उल्टे बोली, ''सुनते हैं आप? मैं आपकी और इस घर की गुलाम नहीं हूँ। बाहर बहुत काम पड़ा है और आप मुझे बन्द कर रखना चाहते हैं। नहीं, यह न होगा।''

अब कुरसी घुमाकर वह मेरी ओर हुए, और बोले, ''बाहर क्रान्ति करोगी?''

अब तक मैं खड़ी थी। सोचती थी, अभी तो खाने की मेज पर जाना है। लेकिन उनकी बात पर जोर से एक हाथ से बेंत की कुर्सी पास खींच उस पर बैठते हुए कहा, ''जी!''

बेहद शान्त और संयत स्वर में पति बोले, ''क्रान्ति की जरूरत है, मैं जानता हूँ। उसे बाहर कीजिएगा, घर में भी क्यों न कीजिएगा!''

एक साथ मैं लहक उठी, ''आपको डर लगता है, इससे क्या उसे छोड़ देना होगा?''

तीखे पर थमे स्वर में पति ने कहा, ''तो आज दीक्षा मिली कि नहीं?''

मैं फुफकारकर बोली, ''क्या?''

बोले, ''क्रान्ति की दीक्षा!''

मुझे होश-हवास न रहा। अपनी जगह से खड़ी हो आयी। मेरे मुँह से निकला, ''ओह, कैसे पशु के पाले पड़ी हूँ।'' और कहती हुई वहाँ से एकदम चल दी। आकर नौकर से कह दिया कि खाना उठा दो और चादर लेकर अपने बिस्तर पर पड़ गयी।

उस दिन फिर किसी ने नहीं खाया। बिस्तर पर पड़े-पड़े मैं देखती रही, दस बज गये, ग्यारह बज गये, बारह बज गये, एक बज गया। उनका बिस्तर खाली पड़ा रहा, वह वहाँ नहीं आये। मैं नहीं चिन्ता करना चाहती थी, पर मुझे नींद नहीं आती थी। कितना मैंने अपने से चाहा कि उठूँ, जाऊँ और उन्हें ले आऊँ। कितना-कितना उन पर गुस्सा किया कि वह स्त्री की बात लेते हैं, मन नहीं लेते। किन्तु वह सब-कुछ घुमड़कर रह गया और आँखें फाड़े मैं रात को देखती और घड़ियों को गिनती रही।

हरीश के प्रति मेरे मन में रोष था और हठात मैं उनके लिए भीतर से तिरस्कार भर लाती थी। पर रह-रहकर मुझे जान पड़ता था कि 'क्रान्ति' के सिवाए अब मेरे लिए और राह नहीं। एक बजे के बाद शायद मुझे कुछ ऊँघ आ गयी। सोयी न थी, पर जगी हुई भी न थी। उस हालत में मैंने अनुभव किया कि कोई हाथ मेरा तकिया टटोल रहा है। मेरे मन में अनिश्चय न था। मैं और भी सोयी न बन गयी यानी मैंने अपने को भी न जानने दिया कि मैं सोयी नहीं हूँ। उस हाथ ने तकिये के नीचे कुछ रखा। सोयी हुई मुझको जाने किसने बता दिया कि वह पत्र है। फिर हाथ हट गया और कोई वहाँ से चला गया। वह कदम-कदम चला। दरवाजे पर पहुँचा, दरवाजे को आहिस्ता से छूकर उसने हटाया। मैं नींद में से एकाएक जोर से चीख उठी। चीख सपने में से आयी थी और मैं सुध में न थी। नींद की बेसुधी ने ही बताया कि आदमी ठहर गया है, ठिठका है, आ नहीं रहा है। और सपने में मैंने दो-तीन चीख खींचीं।

उन्होंने माथे पर हाथ रखकर कहा, ''सुखदा, सुखदा! क्या है?''

सुखदा शान्त थी, सोयी थी।

''सुखदा!''

मैं चौंकी, आँखें खोलीं। घबराहट में मैं बोली, ''क्या, कौन?''

''क्या हुआ सुखदा?''

मुझे पसीना आ रहा था। मैंने पूछा, ''क्या है?''

उन्होंने कहा, ''तुम चीख पड़ी थीं। शायद सपना देख रही थीं। क्यों, कैसी तबीयत है?'' कहते-कहते वह सिरहाने मेरे पास आ बैठे।

मैंने कहा, ''ठीक हूँ। क्या...हाँ, सपना देख रही थी।''

उन्होंने मेरे माथे को सहलाते हुए कहा, ''डर की कोई बात नहीं, मैं हूँ तो।''

मैं अब कुछ स्वस्थ थी। पूछा, ''क्या मैं चीखी थी?''

''हाँ, दो-तीन बार चीखी थीं।''

मैं बोली, ''बड़ा डरावना सपना था। कोई आया, उसने मेरा तकिया उठाया, वहाँ टटोला, फिर हटकर लौटा तो उसके हाथ में...उफ, वह मेरी तरफ बढ़ा—''

मेरे बालों में धीमे-धीमे उँगलियाँ फेरते हुए वह बोले, ''नहीं-नहीं, डरो नहीं। नाहक डरती हो। सपना तो सपना होता है। देखती नहीं, मैं हूँ तो।''

उसके बाद वह देर तक सिरहाने बैठे मुझे थपथपाते रहे। मैंने उनका हाथ लेकर उनकी हथेली को अपने सारे मुँह पर फेरा, फिर करवट लेकर अपने गाल के नीचे उसे टिका लिया और दोनों हाथों से उनकी कलाई को थामे रखा। उस हालत में मुझे कब नींद आ गयी, पता न चला। सवेरे उठी तब वह अपनी जगह सोये हुए थे और मेरे तकिये के नीचे कोई किसी तरह का कागज न था।

12

अगले दिन भर, मुझे याद है, हमारा बोलना नहीं हुआ। मेरे मन को पीड़ा रही, सोचती रही कि गलती मेरी है। दिन भर मैं निश्चय मजबूत बनाती गयी कि जो मेरे भाग आये, वही काम मेरा है। क्रान्ति-संघ में मुझे गहरे नहीं आना है। मैं वहाँ की नहीं हूँ। इसी सूत्र से हरीश का चित्र मेरे मन में उठता और साथ ही एक विद्वेष भी मैं भीतर से उठा लाती। जैसे वह व्यक्ति नहीं था, प्रतीक था। वहाँ रहस्य जान पड़ता था, इसीलिए आकर्षण। और उसी कारण एक गहरा द्वेष और द्रोह भी भीतर अनुभव होता था। वहाँ खतरा है और उधर मुझे जाना नहीं है। निश्चय ही जाना नहीं है। मैं वहाँ सही जाती हूँ, गिनी नहीं जाती। यह भाव एक उद्दण्ड विरोध मन में जगा देता। वही सब कैसे आज घर के तनाव में भर गया, मुझे पता न चला। आखिर शाम को जब सहना मुश्किल हो गया और माथे के पास कनपटी की नसें खून के जोर से धक-धक उभरकर दुःख देने लगीं, तो मैं उनके कमरे में गयी। वह आरामकुर्सी पर पीछे माथा टेके, आँख बन्द किये पड़े थे। (सिगरेट की अब उन्हें आदत हो गयी थी।) बराबर तिपाई पर सिगरेट का टुकड़ा धुआँ देते-देते एश ट्रे पर ही रखा बुझ गया था। मेरा आना उन्हें पता न लगा।

कहा, ''सुनते हो!''

''अँ...''

सहसा आँख खोली। उन्होंने मुझे देखा और पीछे सिर डाल लिया। फिर पहले की तरह आराम से हो गये, बोले नहीं।

मैंने कहा, ''मैं एक बात पूछने आयी हूँ।''

उत्तर नहीं आया तो मैं ही बोली, ''इतनी बुरी लगती हूँ तो चली जाऊँ?''

अब वह कुर्सी पर सीधे हुए, उठे, एक कुर्सी पास खींची, कहा, ''लो, बैठ जाओ।''

''नहीं, मैं खड़ी ही ठीक हूँ।''

''नहीं-नहीं बात होगी तो बैठना होगा। लो बैठो!''

मैं विवश बैठ गयी तो वह भी अपनी कुर्सी में आ गये और बोले, ''कहो।''

जो ठीक-ठीक शब्द मेरे मन में बँधे थे, इस समय खो गये। उन्हें पकड़कर फिर वापस लाने के प्रयत्न में क्षण भर के लिए मैं और खो गयी। वह क्षण भारी हो आया। आखिर मैंने कहा, ''एक बात साफ-साफ बता दो कि तुम क्या चाहते हो? मुझसे ऐसे, इस तरह यहाँ रहा नहीं जाता।''

सुनकर वह वैसे ही बैठे आँख फाड़ मुझे देखते रहे, एक शब्द भी मुझे न कहा।

मैंने कहा, ''शक है तो मुझे निकाल क्यों नहीं देते हो?''

बोले, ''सुखदा!'' और इतना कहकर वह चुप हो गये।

उनकी यही आदत मुझे त्रास देती थी। सम्बोधन में मेरा नाम लेकर, मुझे देखते हुए बस चुप हो जाते हैं। ऐसे उनकी बात का भी बोझ मुझ पर आ जाता है। यह युक्ति मुझे बहुत ही अन्यायपूर्ण लगती थी। जैसे दोष सब इकट्ठा होकर मेरे सिर आ रहता हो।

मैंने कहा, ''कहते क्यों नहीं? दिन-भर सबसे बात करते रह सकते हो। मैं ही हूँ कि सामने होती हूँ तो कहने को कुछ रह नहीं जाता।''

उन्होंने बड़े कष्ट से कहा, ''जो कहो, वही कहूँ सुखदा! जानता हूँ, मुझसे तुम्हें बहुत दुःख मिल रहा है। पर फैसला तो तुम्हारे हाथ है, मेरे लिए उसमें क्या है?''

''ठीक बताओ तुम क्या चाहते हो? कभी-कहीं जाती हूँ, तो तुम्हें बुरा क्यों लगता है?''

''ठहरो सुखदा!'' एकाएक अप्रत्याशित भाव से हवा में हाथ फैलाकर उन्होंने कहा, ''बुरा मुझे नहीं लगता, लेकिन तुम अपने से नाराज लौटती हो, यह बुरा लगता है। नाराज क्यों लौटती हो? अपने विश्वास पर विश्वास क्यों नहीं रखती! और मेरे विश्वास पर भी विश्वास रख सकती हो। यह आये दिन के दृश्य क्यों? मुझको हिसाब में तुम लो ही क्यों? जो तुम्हारी जिन्दगी है उसे पूरी तरह स्वीकार करो। मुझे इसमें खुशी होगी। मेरी अपेक्षा तुम्हें तनिक भी इधर-से-उधर करने की नहीं है। तुमको तुम न रहने देकर मैं क्या पाऊँगा! तुमको पाऊँगा तो तभी जब तुम हो। इसलिए सुखदा, सभी संशय अपने मन से निकाल दो।''

मैं बोली, ''हरीश को जानते हो?''

''क्यों?''

''जानते हो?''

''शायद जानता हूँ।''

मुझे क्रोध आया, कहा, ''घुमाकर बात मत करो, शायद क्या होता है? साफ कहो कि जानता हूँ।''

बोले, ''तुम्हें कहने के लायक नहीं जानता। यों एक अरसे से जानता हूँ। हरीश को जानता हूँ, क्रान्ति-दल के नेता को पूरी तौर पर नहीं। लेकिन क्यों?''

''कैसे आदमी हैं?''

''बहुत ही अच्छा आदमी है।''

''मुझे अच्छे नहीं लगते।''

''तो तुम उसे जानती नहीं। हो नहीं सकता कि जानने पर वह अच्छा न लगे। लेकिन क्यों, यह तो बताया नहीं।''

''यहाँ उन्होंने संघ बनाया है। जगह-जगह उसके केन्द्र सुनती हूँ। वह इसी काम में रहते हैं। इसके लिए धन की जरूरत रहती है। धन देने को मैं कहाँ से लाऊँ!

इसीलिए पूछती हूँ कि तुम उन्हें कैसा समझते हो? तुम कहो तो उन्हें कुछ दिया जा सकता है।''

वह हँसे, बोले, ''मैं कहूँ, क्योंकि मालिक हूँ। यही न, इसलिए तो मुझे कुछ नहीं कहना है।''

मैंने कहा, ''मैं तो बिना पूछे दे नहीं सकती।''

''इसका मतलब तो यह है कि तुम देना ही नहीं चाहती। बोलो, देना चाहती हो?''

''हाँ, वह बेचारे घर का सब कुछ छोड़कर देश के लिए मारे-मारे फिर रहे हैं, सो क्या हम कुछ नहीं कर सकते? लेकिन— !''

''लेकिन मैं हूँ, यही तुम्हारी दिक्कत है। है न सुखदा! आज तुमसे कहता हूँ कि मुझे अपने में मान लो। इस तरह की बातों में मेरा अलग से विचार मत किया करो। पैसा तुम्हारे पास रहता ही है। उसमें से जब, जिसे, जितना चाहो दो। अधिक या अलग देना हो तो मुझसे कह दो। स्थिति तुम जानती हो। इसमें जब तुम 'लेकिन' ले आती हो तब सब बिगड़ जाता है। मैं शासक हो जाता हूँ और तुम वह जिसकी स्वतन्त्रता का दलन हुआ हो। ऐसे नहीं चल सकता सुखदा! चला विश्वास से जाएगा।''

मैं भीगती जा रही थी। लेकिन मैंने कहा, ''विश्वास की बात न करो। यह विश्वास है जो मुझ पर सब छोड़ता है! क्या उससे भी बड़ा विश्वास यह न होगा कि तुम सब अपने हाथ में ले लो? मुझे लगता है कि तुम सब मुझ पर छोड़कर खुद शहीद का बाना धर लेते हो। ऐसे मैं अपराधिन बन जाती हूँ। सुनते हो, यों निराग्रह मत बने रहा करो। ऐसे में मैं अपने में उफनकर रह जाती हूँ। बोलो, हरीश को कितना देना चाहिए?''

''वह क्या चाहता है?''

''पता नहीं।''

''पता ले लो और उसकी माँग को कम करने का हमें हक नहीं। वह त्यागी है, सब लुटाये बैठा है। हम भोगी हैं, गृहस्थ हैं, कष्ट के हकदार हमी हैं। ऐसे बेकमाई के लोगों को कष्ट होता है, तो दोष हम सभी पर आता है जो अपने गुजर-बसर व यश-मान के लिए पैसा कमाने में लगे हुए हैं।''

मैंने कहा, ''पाँच सौ?''

मैंने हँसी में कहा था, लेकिन वे बोले, ''हरीश कहे तो क्यों नहीं पाँच सौ।''

''तुम्हारे पास होंगे पाँच सौ?''

''तुम हो तो सब है हमारे पास, रानी!''

बस उनकी इस तरह की बातों को मैं नहीं उठा पाती। उनके सामने मैं एकदम खत्म हो जाती हूँ। शायद इसी का प्रत्याकरण हो जो पीछे मेरे लिए जरूरी हो पड़ता

हो। जो हो, उस रात हमारे बीच काठिन्य का एक कण नहीं रह गया, सब बह गया। मैं रोयी, वह रोये। आँसू दुःख के थे, पर उनका बहना सुख-रूप अनुभव हुआ। पर विधाता, जो ऊपर से सब देखता है, जाने क्या रचता रहता है!

13

उस सवेरे मुझे आशा हुई थी, इस प्रकार नहाकर और धुलकर हमारा जीवन प्रसन्न और पूर्ण होगा, वह समगति से चल सकेगा। पर वह होना न था। सवेरे के घण्टों में ही प्रभात हमारे यहाँ आया और सूचना दी कि मुझे महिलाओं के एक अधिवेशन का सभापतित्व करना है, नाम छापे में चला गया है, मैं अस्वीकार नहीं कर सकती।

मैंने कहा, ''अपने दादा से जाकर कहो प्रभात कि आप लोग यह सब करें, मुझे न घसीटें।''

प्रभात ने सीधे से कह दिया कि अब इनकार नहीं हो सकेगा, हरिदा ने कहा है।

बहुत गहरे में क्या मुझे ही इनकार था? फिर भी मेरे सम्बन्ध में हरीश की यह विश्वस्तता, प्रभुता, मुझे समझ में नहीं आयी। मैंने तर्क किया, डपटा, झिड़का, किन्तु प्रभात इनकार नहीं ले जा सकता था। मैंने पाया कि मैं विवश हूँ और मान लिया कि जो घोषणा हो चुकी है उसके बदलने में लोगों को असुविधा होगी। अन्त में कहा, ''अच्छा, उनसे पूछ लो।''

यह समय था जब कि मुझे इधर गृहस्थी के काम रहते थे। स्वामी सवेरे की तैयारी के सिलसिले में एक बार कमरे में आकर चले गये थे और मैं जान गयी थी कि वहाँ भीतर प्रभात को बुलाकर बिठाना उन्हें रुचिकर नहीं हुआ है। दुबारा आये तो बोले, ''देखना वह मेरा...! अरे, तुम तो अभी यों ही बैठी हो, शायद स्नान-विस्नान नहीं हुआ?''

मैंने कहा, ''सुनो, ये प्रभात कुमार है। यहाँ कॉलेज में बी.ए. में पढ़ते हैं।''

प्रभात ने उठकर हाथ जोड़े। स्वामी भी प्रसन्नता से उस ओर बढ़े और प्रति नमस्कार किया। लेकिन मैं देख सकी कि प्रसन्नता नियम की है।

''अभी नहाये लेती हूँ, इतने तुम बैठो।''

''मैं, मैं तो...''

प्रभात ने उठते हुए कहा, ''प्रणाम, मुझे अब इजाजत हो।''

स्वामी ने कहा, ''नहीं, बैठो, बैठो।''

प्रभात ने खड़े-खड़े ही कहा, ''एक महिला अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार करने के लिए माताजी से निवेदन करने आया था।''

स्वामी ने कहा, ''अरे नहीं, बैठो। इन्हें कुछ जलपान! बैठो भई, तो सभापतित्व की स्वीकृति मिल गयी न?''

''अपने मन से तो इन्होंने दी नहीं है। आपकी अनुमति हो तो शायद हमारी मजबूरी देख, मान लें।''

उन्होंने प्रसन्नता से कहा, ''तुम लोग बैठो। घर में अनायास सभापतित्व लाये हो तो बिना कुछ उपहार पाये कैसे तुम्हें जाने दिया जाएगा। अच्छा मैं, अरे वह मेरा...!''

मैंने पूछा, ''मैं चली जाऊँ?''

''क्यों नहीं, क्यों नहीं। देखना भई मेरा...!'' कहते-कहते उन्होंने एक अलमारी खोली, दूसरी और यहाँ-वहाँ टटोलकर हाथ में बिना कुछ लिये वह चले गये।

मैं बैठी देखती रही। उनके जाने पर प्रभात से बोली, ''ठीक तो है, जलपान बिना कैसे जा सकोगे?''

कहने के साथ-साथ जलपान की व्यवस्था करके मैं चली आयी, और घर-गृहस्थी के काम में लग गयी। सोचती जाती थी कि घर में स्त्री कितनी पराधीन है। वहाँ उसकी उन्नति के मार्ग प्रायः बन्द ही हैं। नहायी-धोयी और सभी काम किये। लेकिन अनुभव होता गया कि वह एक चक्कर है, जिसमें जीवन की स्फूर्ति नहीं है। सिर्फ एक क्रम है, और हर व्यतिक्रम अपराध। आयी तो देखा, प्रभात अभी बैठा ही है। मुझे उसकी याद न रही थी। वह मुझे माताजी कहता है, देखो पगले को। मैंने कहा, ''कहो प्रभात! मुझे देर हो गयी, ख्याल ही न रहा तुम बैठे हो। माफ करना।''

प्रभात ने लज्जा में कुछ गुनगुनाया जिसके अन्त में वही था, माताजी। मैंने हँसकर कहा, ''अरे, मैं माता नहीं हूँ। वह तो बड़े-बड़े दानेवाली होती हैं। दीदी कहा करो।''

इतने में आवाज पड़ी कि मुझे खाने की मेज पर आना चाहिए। प्रभात ने उठकर मुझे हाथ जोड़ते हुए कहा, ''मैं जाऊँ, दीदी?''

मैंने कहा, ''जाओगे, अच्छा।''

स्वामी मेज पर थे और जल्दी में थे। लेकिन तब भी उन्होंने नाश्ते को हाथ नहीं लगाया था। मेरी प्रतीक्षा में थे। मैं पहुँची तो बोले, ''मुलाकात का वक्त सवेरे का ठीक नहीं रहता। देखो, मुझे देर हो गयी है।''

मैंने मेज पर बैठते हुए कहा, ''सवेरे ही सवेरे घर में सभापतित्व आया...।''

''वही तो, लेकिन दोपहर या तीसरे पहर आता तो भी हर्ज न था।''

मैंने कहा, ''क्या बताऊँ, झंझट अब सिर आते मालूम होते हैं। तुम कहो तो मना कर दूँ।''

बोले, ''नहीं-नहीं, वाह! इससे तो घर की इज्जत बढ़ती है। तुम्हारे पीछे मैं भी कुछ समझा जाने लगूँगा।''

कुछ इसी तरह बातें वहाँ हुईं और स्वामी दफ्तर चले गये। मैं उन बातों को कहीं रख न पायी। उन्हें व्यंग्य समझूँ, या क्या? लेकिन यह मुझे साफ हो गया कि इस घर की पूरी तरह होकर बाहर की बनने के लिए अवकाश नहीं है। इस अनुभव के साथ ही मेरे मन में उठा कि महिलाओं की जागृति में मुझे आगे बढ़कर भरपूर हाथ बँटाना होगा। देश पुरुषों का ही नहीं है, स्त्रियों का भी उतना ही है। बल्कि हम स्त्रियों पर अधिक बोझ है। देखते-देखते मन में आवेश और उत्साह से भरकर कल्पनाएँ लहक आयीं कि काम इस-इस तरह किया जा सकता है, जिससे सारे शहर की स्त्रियों में संगठन आ जाए। क्यों न जगह-जगह नियम से सभाएँ की जाएँ, ताकि महिलाएँ रूढ़ि के गर्त से बाहर आएँ और देश की आजादी पास लाएँ। होते-होते ये कल्पनाएँ जरा आरम्भ से उठकर मन के पूरे आकाश को घेरकर छा गयीं और मैंने जाना कि मैं क्षुद्र से विराट हुई जा रही हूँ, अनुगत की जगह स्वाधीन। मेरे पास न रहा घर, न रही घर की बातें। मैं स्फूर्ति से भर आने लगी। मन में कर्तृत्व की योजनाएँ उदय हो आयीं। मैं वह न रही जो खोयी और श्रान्त थी। जान पड़ा कि प्रबुद्ध हूँ और प्रचण्ड हो सकती हूँ। यह स्वप्नोदय की अवस्था सब ओर से अलग अपने ही एकान्त में मैंने पहली बार अनुभव की। उसी में सहसा कब मन में निश्चय बन गया, मैं जानती नहीं कि हरिदा के यहाँ चलकर अभी एक प्रोग्राम बना डालना होगा। स्त्रियों को झकझोरकर उठा डालना होगा। घरों में गिरी और बन्द शक्ति को चेताने में लग जाना होगा।

और उसी दिन तीसरे पहर मैं आप अकेली, बिना बुलाये, हरीश के स्थान की ओर चल दी जिसे मैंने सिर्फ एक बार देखा था। लेकिन वहाँ हरीश न थे, सिर्फ एक बुढ़िया नौकरानी थी।

14

वहाँ पहुँचकर मैं असमंजस में पड़ गयी। नौकरानी ने मुझसे बात करनी न चाही। उससे नहीं मालूम हो सका कि हरीश कब गये हैं, कहाँ गये हैं, कब आएँगे? उसकी दृष्टि में कुछ शंका मुझे दीखी, इससे आकर सीधे लौट जाने की मेरी प्रवृत्ति न हुई। मैं मानों

उसके संशय के उत्तर में बढ़ती अन्दर कमरे में चली गयी। कमरे सिर्फ दो थे। बड़ा, जिसमें एक बार सभा के समय आ चुकी थी। वहाँ एक ओर दरी बिछी थी; दूसरी तरफ बड़ी मेज पर टाइपराइटर, रजिस्टर, फाइल, कागज वगैरह सामान फैला था। साथवाला कमरा, जो काफी छोटा था, रहने-सहने के काम आता मालूम होता था। वहाँ सिर्फ एक चटाई बिछी थी, जिसके सिरहाने कुछ कपड़े तह किये रखे थे। यह कमरा अपने में संक्षिप्त था और व्यवस्थित। बैठने, आराम करने, सोने के लिए जान पड़ा बस चटाई ही है।

इस कमरे को मैं किसी तरह समझ न सकी। उसके अलावा और जगह न थी। तो क्या सब कुछ यही है! मैं उस व्यक्ति को पाना चाहने लगी जो इसमें रहता है। और ऐसे रहता है मानों कुछ चाहिए न हो, कुछ उसे छूता न हो। मैं चटाई पर बैठ कर इधर-उधर की दीवारों को देखने लगी जो कोरी थीं और संकेत से शून्य। सिरहाने के कपड़ों को मैंने सहेजा, एक हल्की ऊनी चादर और तौलियों में लिपटे तीन कपड़े थे। बस सिरहाना और यह बिस्तर। शेल्फ में रखी किताबें टटोलीं, पन्ने उलट-पलटकर अनदेखे उन्हें देखा और फिर शेल्फ में चुन दिया। हल्के सुन्दर पत्थर से दबे कागजों में से कुछ को यहाँ-वहाँ उड़ती निगाह से पढ़ा। यहाँ रखी एकाध फाइल में यों ही उठाकर झाँका। मैं इस तरह अपने को व्यस्त रख रही थी, जैसे स्वयं को अर्थ दे रही हूँ। मुझे सब नया लग रहा था, फिर भी जैसे मैं यहाँ परायी न थी। तनिक भी अनौचित्य मुझे अपने में अनुभव नहीं हो रहा था।

इतने में बाहर आवाज सुनाई दी। हुकूमत के लहजे में कोई नौकरानी को डपट रहा है। सुना, नौकरानी को कहा गया, फौरन जाए और मकान पर बाहर से ताला डाल दे, ताली अभी वापस दे जाए और पीछे के दरवाजे पर उसकी राह देखे। वहाँ जो कागज उसको दिये जाएँ फौरन एतिहात से उन्हें श्रीमती...के यहाँ पहुँचा दे। ऐसे ले जाए कि जैसे कि कपड़ों की गठरी, किसी को ख्याल न हो, इत्यादि।

मैं विस्मय में भर आयी। कारण, जिसके यहाँ कागज पहुँचने को थे, वह, मैंने साफ सुना, मैं ही थी। या शायद दूसरी कोई सुखदा भी हो सकती है। अन्त में उसी डपट के साथ पूछा, ''कोई पीछे आया तो नहीं?''

बताया गया कि एक आयी हुई तो हैं।

''कौन है? क्यों आने दिया? बेवकूफ!''

यह शब्द अनायास ही आनेवाले के मुँह से निकले होंगे, क्योंकि स्वर दबा था और उनमें कुछ मुझे दहशत मालूम हुई। अपना नाम सुनने के बाद मेरे कान उधर ही थे, इससे धीमे और दबे होने पर भी वे शब्द मुझसे खोये न गये। लगभग साथ ही बूटों की भारी धमक हुई और मेरे कमरे के दरवाजे पर पुरुष आकृति आकर उपस्थित हुई। सिर से पैर तक निर्दोष यूरोपियन लिबास। मेरे लिए वह अप्रत्याशित था। उस

वेश में भरे-पूरे शरीर के स्वरूपवान् यह युवक मेरे असमंजस का कारण बन जाए। अजब लहजे में उन्होंने कहा, ''क्या, कृपया, मैं पूछ सकता हूँ आप कौन हैं?''

अटकते हुए मैंने कहा, ''मैं...मैं हरिदा के लिए...!''

''हरिदा! कौन हरिदा?''

मैं हठात चुप रह गयी।

''क्षमा कीजिए, कोई इस तरह का आदमी यहाँ नहीं रहता। यह मेरा मकान है। आप किसकी इजाजत से और कैसे अन्दर आयीं?''

अब तक दरवाजा अपने पीछे उन्होंने सावधानी से बन्द कर लिया था। अब पतलून की जेब में दाहिना हाथ डाले वे एक डग आगे बढ़े। बोले, ''माफ कीजिए, लेकिन क्या मेहरबानी करके आप अपनी जगह पर फौरन खड़ी हो जाएँगी?''

ध्वनि में कुछ था। मुझसे न हो सका कि मैं बैठी रह जाऊँ। मैं खड़ी हो गयी।

मुझे खयाल न था कि मेरे हाथ में कोई कागज है। वह नीचे गिर रहा।

''दोनों हाथ ऊपर कीजिए।''

मैंने हाथ ऊपर किये।

''माफ कीजिएगा।'' कहते हुए उन्होंने एक हाथ बढ़ाकर मुझे सारे शरीर पर टटोला, फिर कहा, ''मैं आपका विश्वास करना चाहता हूँ। कोई कागज आपने यहाँ से लिया हो या कहीं रखा हो तो आप खुद सामने कर देंगी। सुनती हैं?''

''मेरे पास यहाँ का कोई कागज नहीं है।''

''देख लीजिए, ऐसा न हो कि मर्द के हाथों को आपकी तलाशी लेनी हो।''

''तलाशी! चाहें तो ले लीजिए, चाहे विश्वास कीजिए।''

''देखिए महोदय, मैं विश्वास करना पसन्द करता हूँ, अगरचे यह हमारे कोड के खिलाफ है। हाथ नीचे कर लीजिए। यहाँ आइए, बाहर कमरे में आ जाइए।''

बड़े कमरे में आकर मुझे दरी पर बैठने को कहा और खुद कुर्सी पर बैठकर बोले, ''क्या मैं पूछ सकता हूँ कि हरिदा कौन हैं जिनके नाम पर आप मेरे इस मकान में दाखिल हुईं?''

मेरी निगाह उनके पीछे मेज पर पहले से रखे सोला हैट पर कुछ इस तरह अटकी थी कि मुझे उत्तर देना नहीं सूझा और मैं चुप रह गयी। वह बोले, ''फिक्र न कीजिए, दरवाजा बन्द है। शायद आप जरूरी नहीं मानेंगी कि उसमें ताला डाला जाए। जी अब कहिए?''

मैंने कहा, ''क्या आप गवर्नमेण्ट आफिसर हैं?''

युवक मुस्कराये, ''यही समझिए, लेकिन असल बात यह है कि यह मकान मेरा है।''

मैंने कहा कि ''मैं इस कमरे में एक बार आ चुकी हूँ।''

"तो क्या आपको मालूम नहीं कि मकान मेरा है?"

"नहीं, यह मकान आपका नहीं है।"

युवक जोर से हँसे, बोले, "यह खूब! आप दिलचस्प स्त्री मालूम होती हैं। तो जनाब, क्या आपका है?"

"आपके लायक एक भी सामान मैं यहाँ नहीं देखती।"

"ओह! दिस इज इण्टरेस्टिंग! खैर, कहिए कि वह हरिदा कौन है जिनके लिए आप यहाँ आयी हैं और जिनको जानना मेरे लिए जरूरी है?"

"आप उन्हें नहीं जानते?"

"गुड हैबिन्स! आप बताएँ तभी तो जान सकता हूँ।"

"क्या वे सवेरे तक यहाँ न थे?"

आश्चर्य से "व्हाट!" कहकर वे अपनी जगह से उठ आये। लम्बे-लम्बे डग भरते हुए कमरे में टहलने लगे, बोले, "सवेरे तक! किसने तुमसे यह कहा?"

"किसी ने कहा, लेकिन सबेरे वे यहाँ थे।"

उनकी भवों पर सलवटें पड़ गयीं। कमरे में घूमते-घूमते रुककर उन्होंने कहा, "श्रीमती जी, माफ कीजिए। आप शायद सोचती हों कि जो कल था वह सवेरे भी था और अब भी होगा। और माफ कीजिएगा, आप समझदार मालूम होती हैं। शायद घर-गृहस्थी भी हो। फिर वह जासूसी—वह फिर तेजी से साँस लेते कमरे में घूमने लगे। होते-होते चाल उनकी मन्द हुई, एकाएक सामने होकर रुके; आवाज उनकी गिर आयी, जैसे निवेदन करते हों, अगर कोई हरिदा था तो आपका उसने कुछ बिगाड़ा है क्या? कि...!

मैं उस वाणी पर हिल आयी। कहा, "आप मुझ पर शक करते हैं?"

"कोई कारण है कि विश्वास करूँ?"

"क्या पतलून की जेब में आपका एक हाथ बराबर इसीलिए है?"

"जी, कमरा भी बन्द इसीलिए है। यह देखिए—" कहकर जेब से उन्होंने बाहर हाथ खींचा और मैंने देखा उसमें एक रिवॉल्वर है। वह बहुत ही छोटा, मुश्किल से हथेली के बराबर होगा।

मुझे उस समय डरने की बात नहीं सूझी। उस युवक के चेहरे पर गम्भीरता की कमी न थी, लेकिन मेरे मन में साफ था कि वे भूल में हैं और मैं किसी भी क्षण भूल को काट सकती हूँ।

मैंने कहा, "आप स्त्री को भी रिवॉल्वर दिखा सकते हैं?"

"जी, हम स्त्री का मान करते हैं, पुरुष से कम उसे नहीं समझ सकते।"

मैंने कहा, "आपने मेरे पास कुछ कागज होने के बारे में पूछा था। लीजिए, ये कागज मेरे पास हैं।" अपनी बाडी की तह से तीन सौ के तीन नोट निकालकर सामने

करते हुए कहा, "यह उनको देने आयी थी उनके काम के लिए। दो सौ शेष हैं। आप निश्चय ही उनके मित्र हैं। लीजिए, लीजिए न।"

युवक घूमते-घूमते एकदम पत्थर बने खड़े रह गये। उनकी निगाह में चमक आयी, बोले, "क्या आप सुखदा देवी हैं?"

"जी, मैं सुखदा हूँ।"

क्षण भर वह हिले न डुले, एकटक मुझे देखते रहे। सहसा बिजली की तेजी से वह बढ़े, दोनों हाथों से पकड़कर मानों मुझे उछालते हुए बोले, "दैट इज़ ग्रैण्ड!"

उन्होंने मुझसे क्षमा माँगी, मुझे बधाई दी। मुझ पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की, स्नेह प्रकट किया। उन्हें क्षण भर न मेरा खयाल रहा, न अपना। ऐसा व्यक्ति मेरे जीवन में पहली बार आया था जो इस आसानी से अपने को छोड़ रह सकता है। मैंने कहा, "आपको क्या हुआ है?"

बोले, "कुछ नहीं, मैं बहुत खुश हूँ। यू आर ए रीयल ग्रैण्ड! यह लो।" उन्होंने अन्दर की जेब से एक पत्र निकाला। पत्र हरिदा का था। उसमें मेरे लिए इन मि. लाल का परिचय था और इनका हर आदेश मानने और पूरा विश्वास करने के लिए लिखा था।

पत्र पढ़कर मैं सम्भ्रम से उन्हें देखती रह गयी। हरिदा तबीयत से और देखने में संन्यासी पुरुष थे। इन पर विराग का व्यंग्य भी नहीं था। मैंने कहना चाहा, "आप तो—।" मेरे वाक्य को बीच में ही झपटकर बोले, "मैं समझता हूँ। लेकिन हम तो दुनिया के हैं। हरिदा महान हैं। लेकिन अपना तो कौल दूसरा है। मरना यहाँ खुशी के साथ है। यह तभी होगा जब जिया खुशी से जाए। छोड़िए, देखिए यह खत चलते वक्त हरिदा ने मुझे दिया था। बात यह है कि कल आधी रात ही हमें उन्हें भेजना पड़ गया। यह जगह भी अब निरापद नहीं है। पुलिस को खबर लग गयी है। अभी यहाँ सब ठीक करना होगा। कागज जला डालने होंगे, रखना जिन्हें जरूरी हो वे आपके यहाँ जाएँगे। आप मुझे नहीं जानतीं, क्योंकि मुझे दौड़-धूप में रहना पड़ता है। अभी काबुल से आया था। नीत-रीत मैं नहीं जानता, न तत्त-सत्त जानता हूँ, मुझे काम से काम है। अब लीजिए, कमर कसिए। समय संकट का है, दल पर विपत्ति है। हरिदा को हम किसी हालत में खो नहीं सकते। सुनती हैं? वे गये तो सब गया। इसी से फूँक-फूँककर चलना पड़ता है। बड़ा अच्छा हुआ कि आप यहाँ हैं। इस कमरे को हमें फौरन बदल डालना होगा और मुश्किल से आध-पौन घण्टा हमारे पास है। यह ताकती क्या हैं! फाइल, रजिस्टर सब खोल डालिए। जला दीजिए जितना जलाया जा सके। छाँट लीजिए, आप जो उसमें से रखना जरूरी समझती हैं। मुझे वक्त नहीं है। वक्त पर जो आये उसे क्या कहूँ, फरिश्ते से कम नहीं कह सकता। तुम वही हो, सुखदा! हाँ, तो लो यह कर डालो। अभी सामान लिये आता हूँ—विलास का सामान। सोफा, पलंग, शिकार और शौक की तस्वीरें। दोनों मिलकर हम यह काम कर लेंगे। ऐसा

मालूम हो कि किसी रईस के ऐश की जगह है, समझीं, कि क्रान्ति जिसके पास नहीं फटक सकती।''

इस तेजी से वे कहते गये कि मुझे सुध-बुध न हुई। कहते-कहते कन्धों पर हाथ रखकर उन्होंने मुझे अपने बराबर लिया और जाकर अलमारियों के सामने कर दिया। वहाँ से हाथ बढ़ाकर कागजों के पुलिन्दे खींचकर मेरे पैरों के पास पटक दिये, कहा, ''लो, देर न करो, मैं चला।'' कहकर एक हाथ से ठोड़ी से मेरा चेहरा ऊपर उठाया, एक क्षण देखा, कहा, ''यू आर रीयली ग्रैण्ड, सुखदा!'' और कहकर जल्दी से कमरे से बाहर निकल गये।

उनके जाने के कुछ पल तक, मैं बेजान-सी बनी रही। फिर जो काम सामने था, जल्दी-जल्दी निबटाने में लग गयी।

कुछ देर में अपने सामान के साथ लाल बाबू आ गये। देखते-देखते दो मजदूरों की मदद से सामान करीने से वहाँ जँचा दिया गया। एक से एक उघड़ी तस्वीरें हम लोगों ने दीवार पर जड़ दीं। छोटे कमरे की चटाई चली गयी, कपड़े चले गये; कालीन, मेज और पलंग वहाँ लग गये। वहाँ कुछ और भी बढ़-चढ़कर तस्वीरें लगायी गयीं। सब काम इतनी फुर्ती से हुआ कि मैं आज भी अपने पर अचरज करती हूँ। मानों उनकी स्फूर्ति में छूत की ताकत थी। समय उन पर रुक न सकता था, न वह क्षण पर रुकते थे। मुझे अपने आने में होने का सुभीता ही उनके साथ न हुआ। उनको भी देखा कि न उन्हें अपने कपड़े की सुध है, न मान की, न किसी की। उस वेग में किसी तरह के 'हाँ', 'ना' को अवकाश ही न रह पाता था।

सब हो गया तो बोले, ''शाबाश! यू आर माइटी ग्रैण्ड! सुखदा! आओ, अब आओ, जल्दी करो, देर का काम नहीं।''

मजदूरों को बिदा किया, ट्रकवाले को बिदा किया। फिर मुझे दरवाजे से बाहर ठेलते हुए कहा, ''चलो बाहर। वहाँ ठहरना, मैं अभी आया।'' कहकर मेरे पीछे से दरवाजा बन्द कर दिया। कुण्डी-चटखनी लगने की आवाज मैंने सुनी। फिर दीवार को फाँदते हुए मेरे पास आये, बोले, ''देखना, कपड़े तो खराब नहीं हुए। जरा झाड़ देना अगर कहीं दाग-वाग हो तो।'' कहकर झट मुड़कर खड़े हो गये। मैंने कोट को पीठ पर से झाड़ा, उन्होंने पैण्ट वगैरह को झाड़-फूँककर साफ किया। यकायक बोले, ''गुड हैबिन्स! हैट तो अन्दर ही छूट गया। खैर, जाने दो बदमाश को। आओ चलो।''

कोई एक फर्लांग पर गाड़ी खड़ी थी। जरूरी कागज जो मेरे साथ थे उसमें रखे और खुद ड्राइव करते हुए मुझे घर तक ले आये। गाड़ी ठहरने पर उतरने से पहले मैंने कहा, ''आप भी घर आइए न!''

बोले, ''अभी नहीं सुखदा देवी, अभी माफ कीजिए।'' कहकर मेरा दाहिना हाथ अपने दोनों हाथों में लिया और अपने होंठों से लगा लिया।

मुझे कतई अवकाश न मिला, सामान को सँभालती हुई मैं उतरी।

बोले, ''माफ कीजिएगा, सुखदा देवी, कम-से-कम सामान तो मुझे पहुँचाना चाहिए था, लेकिन—।''

शर्माते हुए मैं बोली, ''जी, कुछ नहीं, कुछ नहीं।''

मैं बढ़ी।

उन्होंने कहा, ''चीअरियो।''

और गाड़ी चली गयी।

15

उस शाम को जाने मेरी कैसी हालत रही। कागजों को मैंने एक अलमारी के नीचे की बड़ी दराज में बन्द किया। यह करके ऊपर जो उठी तो अलमारी के आईने में मेरा अक्स मेरी आँखों के सामने आ रहा। देखकर कुछ देर ठिठकी रह गयी। उस समय मैं भूलना चाहती थी कि मैं सुन्दर हूँ, लेकिन सामने की छवि ने मुझे यह किसी तरह भूलने नहीं दिया। देखती हूँ कि आँखों में मेरी चमक है, चेहरे के दोनों तरफ कुछ सुर्खी-सी झलक आयी है। आकृति प्रसन्न है और हँसना चाह रही है। मैं उसको देखती रही, देखती ही रही। क्या मैं ही वह हूँ! मैंने नहीं चाहा कि मैं वह बनूँ। झपटकर जैसे अपने को उस छवि से तोड़ती हुई मैं दूर चली गयी। मेकअप धो डाला। (पाठक की सहानुभूति चाहती हूँ, क्योंकि यह सच है कि हरिदा की ओर जाते हुए मैंने हल्का-सा मेकअप किया था।) कपड़े बदलकर एक सादी धोती पहन ली और सोचा कि चलूँ, घर-गृहस्थी में लग जाऊँ। लेकिन घर के बैठकखाने में आकर मैं चारों तरफ दीवारों को देखने लगी, जैसे आज वह कमरा कुछ और ही हो। अपने घर के कमरों का मुझे विशेष पता नहीं रहता था, आज वह स्पष्टता से दीखा। कुछ मेरी समझ में ही न आ रहा था। आखिर अपने पति के साथ की अपनी एक तस्वीर के सामने मैं जा खड़ी हुई और उसे देखती रह गयी। फिर एक ओर पड़े पलंग पर सिर हाथों में लेकर मैं औंधी जा गिरी। मुझे अपने स्वामी पर उस समय बहुत स्नेह हुआ, बहुत करुणा भी आयी। कुछ देर वहाँ पड़े रहकर मुझे मालूम हुआ कि वह अभी आये नहीं हैं। ऊँह, सदा देर कर देते हैं! क्यों नहीं जल्दी आ जाते! कहूँगी, देखो ठीक पाँच बजे मेज से उठ जाया करो, आखिर तब तक काम से थक नहीं जाते? दफ्तर का वक्त पाँच बजे तक है, आगे किसी का कोई हक नहीं। देखते नहीं, मैं अकेली रहती हूँ और तुम्हारी राह देखती रहती हूँ। जरा तो सोचा करो कि घर में भी कोई है, जो, जो...सोचते-सोचते मैं उठ बैठी।

बाल ठीक किये, घड़ी देखी और चटपट पीछे की तरफ गयी कि देखूँ, नौकर काम की जगह बेगार तो नहीं टाल रहा!

अकसर मैंने देखा कि मन का इलाज हाथ में है। हाथों को काम में डाला नहीं कि दबा और भटका मन स्वस्थता पाने लगता है। मैंने पाया कि मैं मग्न होकर तैयारी में लगी हूँ। जैसे दूर से घर में मेहमान आने वाले हों और एक नहीं कई मेहमान!

और वह हुआ। देखती क्या हूँ कि माँ आयी हैं, साथ में विनोद भी आया है।

"सुखदा! कहाँ है?"

मैं काम से एकदम हाथ खींचकर चली। हाथ बेसन में सने होने से बाँहों और कोहनियों की मदद से मुँह के आगे दृढ़तापूर्वक आ जाने वाली बालों की लटों को पीछे करती हुई बाहर आयी, बोली "मैं इधर हूँ, माँ, यहाँ।"

आगे पहले विनोद आया। उसके हाथ में नयी बन्दूक थी और कमरे से बाहर के दालान में आते ही घोड़ा दबाकर उसने ठक से उसे छोड़ दिया।

"क्यों रे, माँ को मारने आया है?" कहती हुई उसके सामने जा बैठी और बेसन सने हाथों से उसके कपड़ों को बचाते हुए, बाँहों के बीच ले अपना मुँह उठाकर मैंने उसे देखा। वह अब सात वर्ष का हो गया था और बैठी हुई मुझसे काफी ऊँचा था।

बोला, "हटो तो, देखो, बताऊँ बन्दूक कैसे चलती है।"

मैं हटना नहीं चाहती थी, लेकिन माँ दरवाजे पर आ गयी थी इसलिए उठी, अभ्यर्थना में बोली, "बड़े दिनों में आयी, माँ!"

माँ ने कहा, "हाँ, और तुझे नहीं होता कि तू ही कभी आ जाए!"

मैंने कहना चाहा, "घर-गृहस्थी—।"

बीच में ही बोली, "हाँ-हाँ बड़ी घर-गृहस्थी है न तेरी! ले, अब विनोद को रख अपने पास।"

मैंने कहा, "तुम बैठो। यह देख रही हो हाथ, अभी आती हूँ!"

"कान्त अभी नहीं आये?"

"अभी तो नहीं आये।"

मैं गयी, आदमी को सब समझाया और हाथ धोकर फिर कमरे में आ गयी। वहाँ जो बातचीत हुई उससे मैं शंका में पड़ गयी। प्रस्ताव था कि विनोद अब नानी के यहाँ नहीं, हमारे यहाँ रहेगा। वह तो ठीक था, लेकिन बात कुछ गहरी मालूम होती थी। प्रतीत ऐसा हुआ कि स्वामी मेरी माँ से मिले थे और हो-न-हो उन्होंने यह बात सुझायी है। माँ ने स्वामी के उनसे मिलने की बात स्पष्टता से नहीं कही। इसलिए उस प्रस्ताव पर मैंने कहा, "अब विनोद को नैनीताल क्यों न भेज दिया जाए, सात का तो हो गया। मजे में बाहर रह सकता है।"

माँ को नैनीताल की बात नहीं जँची; बोली, ''लड़के को आँखों से दूर रखना ठीक न होगा और खर्च भी ज्यादा है।''

मैंने कहा, ''सोचती हूँ, मैं काम करने लगूँ।''

माँ ने संशय और विस्मय से कहा, ''तू काम करने लगे! क्या काम करने लगे तू?''

मैंने कहा, ''कुछ भी, जो मिल जाए। इतनी तो नौकरियाँ हैं। घर की आमदनी बढ़ जाएगी तो अच्छा ही है, और विनोद की शिक्षा का सवाल नहीं रहेगा।''

माँ बिलकुल सहमत नहीं थी और तय हुआ कि स्वामी को आ जाने दें, तब उस विषय में निर्णय होगा।

उस बात के बाद मेरा कमरे में रुकना कठिन हुआ और मैं रसोईघर में आकर काम में लग गयी। लेकिन मन अब कुछ बुझा था और इस घर की परिधि से बाहर फैलकर बड़े संसार की आवश्यकताओं और स्पृहाओं पर ध्यान जाता था। वहाँ देश है और क्रान्ति है, हरिदा है, लाल है, दूसरे सब हैं। यहाँ इस कोने से वह चीज दूर और कमनीय मालूम होती थी, कुछ अनबूझ और रंगीन, जो चुनौती देती थी और मानों पुकारती थी। वहाँ मेरे जैसे के लिए भी कर्तव्य हो सकता है। अनेकानेक अपने में से निकलकर उस क्षेत्र में विविध कर्तव्यों का दान कर रहे हैं। वहाँ मेरा-तेरा नहीं है, सार्वजनिक है। और वहाँ मेरे लिए भी अवकाश और निमन्त्रण है। मैं काम करती और हठात् यही कुछ सोचती जाती थी।

इतने में मालूम हुआ, वह आ गये हैं। विनोद ने आकर कहा, ''जल्दी करो, भाभी, बाबूजी को जल्दी है।''

मैंने सुनकर अपने को सँभाला, नहीं तो तीखा जवाब मुँह पर आ ही गया था।

विनोद बोला, ''कहा है—पाँच मिनट में चाय आ जाए, फिर हमें जाना है।''

मैंने अपनी समझ से जब्त से काम लिया, कहा, ''चल, जाकर कह दे—अच्छा।''

विनोद चला गया और मैंने सब तैयारियाँ कीं और ट्रे लेकर खुद ही कमरे में पहुँची।

स्वामी व्यस्त मालूम हुए। उन्होंने मेरी ओर विशेष ध्यान न दिया और फौरन प्यालों में चाय तैयार करने में लग गये। मैं वापस रसोई में चली आयी। विनोद ने थोड़ी देर में आकर कहा, ''बुलाते हैं।''

मैं कमरे में गयी, पूछा, ''कहिए?''

उन्होंने मेरी ओर देखा, कहा, ''तुम नहीं बैठीं! जाओ, एक कप और ले आओ।''

माँ के सामने मैं चाय पर साथ बैठने से बचती थी। इससे सुनकर चुप ही खड़ी रही।

"बैठो न? कप ले आओ।"

"आप कहिए?"

उन्होंने मुझे देखा, देखते रहे, फिर बोले, "कहिए, क्या कहिए! तुम्हें बैठना नहीं है।"

मैंने संयत भाव से कहा, "आप कुछ कहना चाहते थे?"

इस बार उन्होंने मुँह ऊपर नहीं उठाया, "हाँ, मुझे अभी फौरन जाना होगा। और...।" कहते-कहते वह रुके।

मैं प्रतीक्षा में चुप रही।

बोले, "बस।"

मैं, जिस भाव से 'बस' कहा गया उसको लेकर, चुपचाप वहाँ से चलने को तैयार। उसी समय उन्होंने फिर कहा, "मुझे अभी फौरन जाना है। सुनो, कुछ और है?"

मैंने रसोईघर में जाकर कुछ ताजी पकौड़ियाँ ला दीं। कहा, "कुछ बना दूँ?"

बोले, "नहीं, जरूरत नहीं है।"

माँ देख रही थी और भाँप रही थी। बोली, "विनोद को लायी थी कान्त। अब अपने पास ही रखो।"

उन्होंने माँ की तरफ देखते हुए कहा, "यह क्या कहती हैं?"

माँ बोली, "यह तो नैनीताल की कहती है, डेढ़ सौ से ऊपर माहवार का खर्चा है। फिर बच्चे को अपने से दूर करना—।"

स्वामी ने कहा, "नैनीताल! नहीं। यह कैसे हो सकता है?"

मैंने कहा, "मैं काम कर लूँगी।"

उन्होंने एकदम कहा, "काम करो चाहे कुछ करो, नैनीताल नहीं हो सकता।"

वह भाषा मुझे अच्छी नहीं लगी। मैंने कहा तो कुछ नहीं, लेकिन मन में हुआ कि अच्छा देखना है; हो सकता है कि नहीं। उन्होंने आगे कुछ नहीं कहा। उन्हें जल्दी मालूम होती थी, वह उठे। पहले ही वह कपड़े बदल चुके थे। अब लिबास बढ़िया था, जैसे कहीं किसी खास जगह उन्हें जाना है। मेरी तरफ बिना ध्यान दिये उन्होंने कहा, "अभी तो आप नहीं जा रही हैं, माँ जी? लौटूँ तब तक ठहरिएगा या रात को यहीं रह जाइए। विनोद को अगर पास नहीं चाहती तो...। विनोद! तुम नानी के पास रहोगे कि—।"

"नानी के।"

''देखो माँ जी, यह देखो। अच्छा, मैं चला।'' कहते-कहते वह घर से बाहर चले गये।

माँ चुप बैठी रह गयी थी। अब बोली, ''सुखदा, यह क्या बात है?''

मैंने कहा, ''मालूम नहीं माँ, क्या बात है।''

उस समय माँ ने बहुत प्यार से मुझे बहुत-सी बातें कहीं, समझाया, सान्त्वना दी। दुनिया की ऊँच-नीच को खोलकर बताया। लेकिन उनके सबको सुनती हुई भी माँ के सामने किये गये अपने अपमान को मैं भूल नहीं पाती थी।

मैंने कहा, ''माँ, कुछ दिन के लिए मुझे अपने पास बुला लो।''

माँ बोली, ''तेरा घर है, जब चाहे आ। पर ऐसे किस तरह आएगी?''

मैंने कहा, ''वह मुझसे ऐसे ही रहते हैं।''

माँ ने कहा, ''वह बेचारा रहने वाला कौन होता है। तू जैसे रखती है वैसे रहता है। सुखदा, तुझे कहती हूँ, देवता-सा पति तुझे मिला है। उसे तू खोएगी तो दोनों लोक में कहीं तेरे लिए जगह नहीं है। देख, मान में मत रहा कर। लड़की, तू खुद समझदार है, तुझे और क्या समझाऊँ! लेकिन पति तेरा गऊ है, एकदम गऊ। मन में रखना नहीं जानता, सब मुँह पर कह डालता है। ऐसे आदमी को तू नहीं साधकर रख सकती तो और तुझसे होगा क्या?''

मैंने देखा कि माँ का भरोसा भी मुझ पर से उठ रहा है। आग्रह के साथ बोली, ''दस-पन्द्रह रोज के लिए मैं, माँ, तुम्हारे पास आ जाती हूँ।''

''आ जा, लेकिन पूछकर।''

''वह तो न करेंगे नहीं, माँ।''

''इसी से तो मुझे डर लगता है। वह बिना कहे 'हाँ' कर दे तो तू उसे 'हाँ' मत मानना, कभी मत मानना।''

थोड़ी देर बाद माँ विनोद के साथ लौट गयी और मैं अपने को लेकर फिर अकेले में रह गयी। आज हर तरह से अपना पूरा समर्पण पति को दे देने के आग्रह से मैंने अपने को बाँधा। बाकी सब कुछ को अपनी जिन्दगी में से मिटा डालने को उद्यत हुई। लेकिन जितना ही भीतर से चाहती थी कि यह हो, तो उतना ही बाहर से वह दुष्कर होता जाता था।

अकसर सोचती हूँ कि यह क्या होता है। अब तो मैं कहानी के पार आ लगी हूँ। मृत्यु सामने है, जो शायद मेरे लिए मुक्ति नहीं है। अब तो किसी तरह का कुछ मुझमें नहीं रह गया है। अब भी मैं क्यों यह नहीं समझ पाती कि व्यक्ति जो चाहता है ठीक वही उसके करने में क्यों नहीं आ पाता? क्यों उससे दूर हटता है, जिसके पास होना चाहता है? क्यों उसे पास बुलाता है जिससे दूर ही रहना भला है? आदमी

की यह विवशता किसलिए? किस नियम के वह अधीन है? क्या उसमें भलाई है? स्वभाव के भीतर यह अन्तर्विरोध डालकर हमें क्यों यहाँ पैदा कर दिया गया है कि त्रास पाते रहें और कुछ भी न कर सकें? अपने को देखकर आज मुझे बिलकुल समझ में आ गया है कि जो जो है, वह वही नहीं है। पापी पापी नहीं है, पुण्यात्मा पुण्यात्मा नहीं है। चोर चोर नहीं है, डाकू डाकू नहीं है तथा वेश्या वेश्या नहीं है। सब वह हैं जो उन्हें होना बदा है। यह न मान लिया जाए कि यह कहकर मैं अपने को क्षमा करती हूँ। आशय यही है कि किसी के कुछ हो जाने के लिए सहसा दोष मैं उनको दे नहीं पाती।

उसको जिसने सारी सृष्टि में यह अन्तर्विरोध भर दिया है, मैं पाऊँ तो पाऊँ कहाँ? लेकिन पा सकूँ तो सारा दोष उसके माथे पटककर कहूँ कि अब तू बता—लेकिन हाय! मुझे लगता है कि अगर वह कहीं होगा और मिलेगा तो हँस देगा, कहेगा, ''दोष देती हो तो लाओ सब मुझी को दे दो। सच, सभी मेरा है, गुण क्या और अवगुण क्या। गुण-दोष मुझसे अलग नहीं है। तुम कब सदोष हो—जो हूँ, मैं हूँ।''

यह जानती हूँ, इसीलिए सीख गयी हूँ कि दोष कहीं डालूँगी नहीं, भीतर की स्वीकृति मैं अपनाये ही रखूँगी। उसमें से अणु मात्र इधर-उधर जाने नहीं दे सकती।

स्वामी देर से आये। आज पहली बार इस हाल में मैंने उन्हें देखा।

विलक्षण रूप से वह प्रसन्न और प्रफुल्ल थे। देखकर मैं सहम गयी।

सोफे पर पड़कर बोले, ''हरीश, भाग गया। सुनती हो, डियर, हरीश भाग गया!''

मैं उस बात का कोई सिलसिला नहीं समझ सकी। मैंने पास जाकर उनके गले से मफलर उतारा, कोट के बटन खोले।

खिलखिलाकर बोले, ''सुनती हो? हरीश भाग गया।''

वह निश्चय ही स्वस्थ-चित्त नहीं थे। मैंने उनको उठाया, सहलाया और पलंग पर लिटा दिया।

हरीश को वे जल्दी याद से नहीं उतार सके। उसके भागने की बात पर वे खिलखिला पड़ते थे। मैं उनके उद्‌गारों को इधर-उधर से जोड़कर कोई संगत अर्थ नहीं निकाल सकी। खैर, रात ज्यों-त्यों कर ढलने पर उन्हें नींद आ गयी और तीन दिन तक मुझे अनुमान न हो सका कि बात क्या हुई। आखिर चौथे दिन....

16

तीन रोज स्वामी अन्यमनस्क रहे, जैसे मुझसे बचते हों। मैंने एकाध बार उन्हें बात में लेना भी चाहा, लेकिन उन्हें अनुद्यत पाकर मैं भी अपने में हो रही। चौथे दिन महिला सभा के अधिवेशन के लिए ले जाने को प्रभात गाड़ी लेकर आया। मैंने उसे गाड़ी में पीछे की सीट पर अपने पास बिठाकर शहर में हुई तलाशियों के बारे में पूछा। उसने उड़ते ढंग से बताया कि तलाशियाँ तीन-चार जगह हुईं, पर आपत्तिजनक कहीं कुछ नहीं मिला। आगे बातचीत से मालूम हुआ कि कहीं दूर घटी एक राजनीतिक हत्या के सिलसिले में पुलिस सरगर्म है और हरिदा के पीछे है। उन पर इनाम का ऐलान हुआ है। मैं किसी हत्या के साथ हरिदा को नहीं जोड़ सकती थी, वह इतने गुरु-गम्भीर और शान्त थे। बातचीत में कहीं भी प्रभात की ओर से लाल का नाम नहीं निकला, जिसकी मुझे प्रतीक्षा थी। अन्त में मैंने ही पूछा, ''क्यों भई, लाल तुम्हारे यहाँ कौन है ?''

''क्या! लाल आपको मिले थे ?''

''कौन हैं, यह बताओ।''

प्रभात ने मुझे देखा, जैसे टालते हुए कहा, ''ज्यादा मैं भी नहीं जानता।''

मुझे आशा थी कि मुझसे वह संकोच नहीं मानेगा, लेकिन लाल के सम्बन्ध में कोई बात मैं उससे न पा सकी। फिर भी जान पड़ता था कि कुछ वह कहना चाहता है जिसे हठात रोक रहा है। शायद उसे दहशत है। मैंने नहीं जानने दिया कि लाल से मेरा परिचय है।

सभा में सहस्त्रों आँखों की केन्द्र बनकर मंच के बीच बैठने का मेरा पहला अवसर था और यह मुझे विलक्षण प्रतीत हुआ। घर-गृहस्थी की विविध स्तर की अनगिनत स्त्रियों को अपनी ओर चाव और चाहना से देखते हुए देखकर मुझमें अपने सम्बन्ध में गौरव का अनुभव हुआ। सभा में दो महिलाओं के भाषण हुए जिन्होंने प्राय: गाँधीजी की स्तुति की। मुझे उस समय गाँधीजी का काम हल्का मालूम होता था, जबकि आवश्यकता, मैं देखती थी, तीक्ष्ण और उत्कट की है। जैसे उनकी नीति उदारपन्थी हो, अँग्रेज के प्रति उनमें पर्याप्त कठोरता न हो। मुझे स्पष्ट था कि कोमलता और उदारता भारत के भाग्य में अभिशाप रहे हैं। दुश्मन को दुश्मन की तरह देखना भारत ने नहीं सीखा। जाने किस धर्म और अध्यात्म का पर्दा डालकर उसे मित्र भी समझ लिया गया है। यहीं हम धोखा खाते गये हैं। नहीं, हमें निर्मम और कठोर होना सीखना होगा कि शत्रु हमसे डरे। मेरे लिए प्रत्यक्ष था कि जो हमें चाहिए वह नहीं है सुधार—वह क्रान्ति है। सुधार में समझौता है, उसमें बाध्यता नहीं है। उससे जी बहलाव होता है, ज्यादा कुछ नहीं होता। पत्तों-पत्तों पर जाने से क्या होगा, खबर जड़

की लेनी है। अनिष्ट मिटाना है तो उसे जड़ से काटना और उखाड़ना होगा। कॉंग्रेस गाँधीजी के नेतृत्व में अँग्रेज से आस बाँधे ही गयी है। इससे तो उस बाघ से आस रखना भला जिसकी दाढ़ें हमारी गर्दन में गड़ी हैं। मैंने अपनी जगह से इन्हीं भावनाओं को व्यक्त किया। जब देखा कि स्त्रियाँ गद्‌गद हुई जा रही हैं तो मुझमें आवेश उभरा। मैंने उनको क्षत्राणियों की याद दिलायी जिन्होंने जौहर रचा और ऐसे अमर बन गयीं। मैंने उनको कहा कि वे अपने को अबला न गिनें, पुरुष की मुखापेक्षिणी न बनें। देखती कि सुनते हुए उनकी आँखों में चमक है, वे एकटक हैं, तो मुझसे अपना अलग भान न रहता। मैंने उन्हें ललकारा, जैसे किरण सामने हो और मैं सेनानी हूँ। यह कि बोलने का मेरा पहला अवसर था और मेरे पक्ष में ही हुआ। भाव के आवेग में मैं बोली और बोलती गयी। अलग से अपने को समझने का तब मुझे अवकाश ही नहीं था।

सभा की समाप्ति पर अनेक स्त्रियाँ अभ्यर्थना और उत्कण्ठा से मुझे गाड़ी तक पहुँचाने आयीं। उस समय मुझे प्रभात का ध्यान न रहा। लेकिन वह चुपचाप कहीं भीड़ में से आकर ड्राइवर की बराबर की सीट पर बैठ गया। मैं महिलाओं का अभिवादन लेती हुई खुले दरवाजे में से अपनी जगह जा बैठी। एक महिला ने आगे बढ़कर उन फूल-मालाओं को, जो मेरे गले से उतरी थीं, मेरे बराबर रख दिया।

गाड़ी रुकी और प्रभात ने मेरे लिए उतरकर दरवाजा खोला, तब मुझे पता चला कि घर आ गया है। उस समय नये सिरे से मालूम हुआ कि गली में इतने अन्दर आकर मेरा घर है और यह ज्ञान मुझे अप्रीतिकर हुआ। अब तक जाने मैं कहाँ थी। अन्दर आयी तो स्वामी बरामदे में अखबार सामने लिये बैठे थे। देखकर कुछ कहने के लिए कहा—
''हो गयी सभा?''

मुझे प्रसन्नता नहीं थी। हठात संक्षिप्त भाव से कहा, ''हो गयी।''

''अकेली आयी हो?''

उसी अप्रसन्नता से कहा, ''प्रभात लाया है।''

''प्रभात है? कहाँ है, बुलाओ तो।''

मैं बोली नहीं और बुलाने भी नहीं गयी। तब वह आकस्मिक भाव से लगभग दौड़ते हुए बाहर गये और प्रभात को साथ लेते आये।

''बैठो भई, यह क्या कि बाहर से ही चले जा रहे हो।''

प्रभात ने संकोच के साथ कहा कि गाड़ी वापिस भेजनी है।

''किसकी गाड़ी है।''

''मालूम नहीं, साहब ने भिजवायी थी।''

''साहब ने, लाल ने?''

प्रभात ने कुछ असमंजस से कहा, ''जी।''

मैं अब तक खड़ी थी। आगे उस नाम पर मैं रुकी नहीं और अन्दर चली गयी।

स्वामी प्रभात को बिठाकर उससे क्या बात करते रहे होंगे, मैं अनुमान नहीं कर सकती। अन्त में स्वामी पुकारते हुए अन्दर आये।

''सुखदा, सुखदा! सुनना।''

आकर देखा, प्रभात साथ है। मैं बैठी, तो बोले, ''एक बात तुमसे कहनी रह गयी सुखदा, जिसका मुझे अफसोस है। बैंक में जो तुम्हारे कुछ जेवर थे, उन पर मैंने दो हजार रुपये लिये थे। लेकर प्रभात को दिये थे कि हरिदा को दे दे। हरीश चला गया और यह ठीक ही हुआ। लेकिन प्रभात कहता है कि किसी का एक पैसा भी वह अपने काम में नहीं लेता, सब दल के पास जाता है और उसी के काम आता है। हरिदा के पास पैसा रहता तो मैं खुश था, लेकिन तुमसे बिना पूछे मैं यह कर गया, क्योंकि तुम्हें हरिदा में श्रद्धा थी और वह मेरा बचपन का साथी रहा है। लेकिन...!''

वह उस समय कुछ उलझन में मालूम होते थे, जैसे कहीं कुछ अटक हो। एकाएक बोले, ''प्रभात, रुपया तुमने हरीश को दिया न?''

मैंने बीच में ही कहा, ''प्रभात, मुझसे क्यों नहीं कहा?''

प्रभात मेरे प्रश्न पर संकुचित हो रहा। फिर स्वामी बोले, ''मैंने ही मना किया था। सुनो प्रभात, मुझे जानना यह है कि क्या तुम्हें निश्चय है कि रुपया हरीश साथ नहीं ले गये?''

प्रभात ने कहा, ''मेरा ऐसा अनुमान है।''

स्वामी नाराज हो आये। बोले, ''अनुमान नहीं चाहिए। मैं तुम्हारे दल-बल को नहीं जानता। रुपया हरिदा के पास गया तो ठीक है, नहीं तो मैं अपने को कभी क्षमा नहीं कर सकूँगा। सुनते हो, जाकर इसकी खबर लगाओ।''

प्रभात कुछ नहीं बोला और स्वामी ने मेरी ओर मुड़कर कहा, ''सुखदा, तुम मुझे माफ कर सकोगी, हरीश मेरा बालसखा है।''

मैंने कहा, ''तीन सौ तो मैंने भी अपने पास से दिये थे।''

स्वामी विस्मय से बोले, ''तुमने! कब, किसको, कहाँ?''

''हरिदा को देने उनके डेरे पर गयी थी। वहाँ लाल आये, जिनको मैं नहीं जानती थी। हरिदा का उनके पास पत्र था, इससे उन्हें ही दिये।''

स्वामी सोच में पड़ गये, बोले, ''तुम लाल से मिलीं।''

''हाँ, वह मिले थे और उनसे ही हरिदा के जाने की बात मुझे मालूम हुई।''

''हूँ, फिर तुम वहाँ गयीं?''

मानों सहसा स्वामी को चेत हुआ कि वहाँ प्रभात बैठा है।

उन्होंने कहा, ''प्रभात तुमको शायद देर हो गयी हो। गाड़ी भी लौटानी है...तो खबर लगाना। वह आदमी लाल मुझे पसन्द नहीं है।''

प्रभात ने सिर झुकाकर कहा, ''अच्छा।'' और वह चला गया।

हाथ मिलाकर प्रभात को विदा देने वह खड़े हुए तो खड़े ही रहे, बैठे नहीं, बल्कि घूमने लगे। घूमते-घूमते बीच में रुककर मेरी ओर देखते हुए बोले, ''शाम को दो घण्टे का मैंने एक काम देख लिया है। दो साल में तुम्हारा दो हजार पूरा हो जाएगा।''

उनकी क्षमार्त्त वाणी पर मुझे रोष हुआ। तो क्या उनकी निगाह में मैं इतनी ही हूँ कि दो हजार की बात पर इनसे सहानुभूति न रख सकूँगी। बोली, ''तुम दिन भर कम पिसते हो क्या कि और खटने की बात सोच रहे हो!''

उस वाणी में बोले, ''देखता हूँ, तुम्हारा हाथ तंग रहता है। सुखदा, तुम्हें हर समय झींकते रहना पड़ता है।''

''तो मेरे लिए सजा तुम क्यों भुगतोगे। कुछ काम मैं क्या नहीं कर सकती?''

उनका आहत गर्व इस पर उद्बद्ध हुआ, बोले, ''नहीं, तुम नहीं कर सकतीं।''

''स्त्री हूँ इसीलिए।''

''हाँ, इसीलिए।''

''और तुमको तिल-तिल खटते देखती रहूँ, तुम्हारी और अपनी कुछ सहायता न कर सकूँ, स्त्री होने से यही मेरा धर्म है?''

स्वामी सोच में इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घूमते रहे। ठहरकर बोले, ''तुम्हारे ख्याल बड़े हैं सुखदा। योग्यता बड़ी है, सिर्फ आमदनी छोटी है जिसका सम्बन्ध मुझसे है। उसे बड़ी करने की कोशिश के लिए जिम्मेदार भी फिर मैं ही रहा। मेरा पहला काम है कि तुम्हारे काबिल बनूँ, तुम्हारे काबिल, कमाई के काबिल बनूँ।''

उस हालत में उन्हें देखकर जितनी भी मुझमें करुणा हुई सब रोष में परिणत होती चली गयी। बोली, ''ऐसे कह रहे हो जैसे मैं तुम्हारी नहीं, गैर हूँ। सुनो, जितना लाते हो उतने में मैं चला लूँगी। कहाँ है कमी, वह तो तुम्हारी इज्जत के या विनोद के भविष्य के लिए। मेरे लिए रूखा-सूखा, फटा-टूटा बहुत है।''

स्वामी सहसा कुछ बोले नहीं, वह टहलते ही रहे। मैं उन्हें देखती रही। नहीं कह सकती कि मानव-स्वभाव क्या है। झुके सिर और चिन्तित मुद्रा में इस तरह पराजित भाव से घूमते हुए देखकर मेरे अन्दर सद्भाव जैसे मुड़ जाता और दुर्भाव बनकर उठता था। हम स्त्रियों की यह क्या गति है! चाहती हैं कि पुरुष को झुकाएँ, और झुक जाता है तो इसी दोष के लिए उससे नाराज होती हैं। मैंने कभी उनसे अपेक्षा नहीं की कि वह मुझ पर रुष्ट या धृष्ट न हों, लेकिन जब रोष और ताड़ना के अवसर पर वह विनम्र होकर रह गये हैं तो यह मेरे लिए असह्य ही हो गया है। विनम्रता दुर्बलता है। किन्तु विनम्रता एक बहुत बड़ा बल है, यह तो अब सब भुगतकर मैं जानी हूँ कि जब कि मेरे हाथ कुछ नहीं रह गया है, सब बीत गया है और जीवन की बाजी एकदम लुट गयी है। और फिर नये सिरे से तो उसे जुटाने का अब कोई उपाय नहीं है। सिर्फ

आशा यही है कि पुनर्जन्म है। लेकिन पुनर्जन्म...!

17

पति बोले, ''विनोद को तुम नैनीताल भेज सकती हो।''

मैंने कहा, ''तुम्हारी राय नहीं है तो रहने ही न दो।''

बोले, ''मेरा लड़का मामूली रह सकता है, पर वह तुम्हारा भी है। तब तो वह साधारण रह नहीं पाएगा, क्यों?''

उस व्यंग्य पर मुझे गुस्सा तो आया, पर मैं जब्त कर गयी और कुछ नहीं बोली।

खुद ही बोले, ''यह ठीक है कि जन्म एक ही है। जो किया जाए इसी में किया जा सकता है। इससे विनोद को...।''

मैं तैश में बोली, ''तुम क्या चाहते हो?''

उन्होंने क्षण-भर मेरी ओर देखा और कहा, ''गलती हुई है सुखदा, तुम्हारी शादी ऊँची जगह होनी चाहिए थी।''

मैं चीखकर बोली, ''कहो तो अब कर लूँ?''

ठण्डे लहजे में उन्होंने कहा, ''हाँ, कर लो।''

''तुम्हें शर्म नहीं आती है कहते हुए?''

और भी ठण्डे और धीमे लहजे में उन्होंने कहा, ''शर्म आती है, पर उससे क्या फायदा?''

मुझे अपने ऊपर भरोसा न रहा, मैं काँप आयी। पास मेरे मालाएँ पड़ी थीं जो धीरे-धीरे कुम्हला रही थीं। सम्भव था कि उन मालाओं को मैं उन पर फेंक मारूँ, हाथ की घड़ी उतारकर फर्श पर दे पटकूँ; लेकिन वह न हुआ। मैं बैठी-की-बैठी रह गयी। बल्कि और मुस्कुरा आयी। बोली। ''शर्म आती है?''

''हाँ'', भरी साँस निकालते हुए वह बोले, ''अपने होने पर ही शर्म आती है। लेकिन सच जानो, विनोद को तुम नैनीताल भेज सकती हो। जेवर भी तुम्हारे हो जाएँगे। न रहूँगा, तब न रहूँगा पर जब तक हूँ...।''

मैंने कहा, ''सुनिए, मुझ पर एहसान न कीजिए। जेवर आपके थे, विनोद आपका है। इस घर में मुझे जिस रोज न रखना चाहें, कह दीजिएगा, आपकी आँख से उसी समय दूर हो जाऊँगी। जानती हूँ आप कमाते हैं, मैं सिर्फ खाती हूँ और खर्चती हूँ। यह आपका एहसान थोड़ा नहीं। फिर मुझ पर क्यों और बोझ लादते हैं?''

स्वामी ने तत्काल उत्तर नहीं दिया। वह सुनकर घूमने लगे, लेकिन घूमते-घूमते

रुककर एकाएक वह हँस पड़े, ''तुम सभा से लौट रही हो, जहाँ तुम अध्यक्ष थीं। मालाएँ तुम्हारी ये यहाँ पड़ी हैं और बधाई देने की जगह मैं तुमसे झगड़ने बैठ गया। छोड़ो...मुझे उन दो हजार की फिक्र है। हरीश का कागज लेकर प्रभात आया था। मैं क्या कर सकता था? उसने दो हजार माँगा था और उस माँग को मैं लौटा नहीं सकता था। उसको तुम जानती नहीं सुखदा, वह मेरे लिए क्या कुछ रहा है। मैं पढ़ सका तो उसकी वजह से, अब हूँ तो उसकी वजह से। मैं क्या करता! तुम्हें मैंने अपना समझा, जेवर मैंने अपना समझा और एक क्षण मुझे सोचने में नहीं लगा। गया, दो हजार लिये और अगले ही दिन प्रभात के हाथ में दे दिये। फिर ठहरकर ख्याल आया कि तुम...तुम अब तक अलग से कहीं विचार से आयी न थीं। तुम्हारा ख्याल आते ही मैं घबरा गया। तिस पर दो रोज बाद ही हरीश गायब हो गया। आज इस भले आदमी की बात ने उसके ऊपर शक में डाल दिया है कि वह रुपया कहीं—!''

कहते-कहते यहाँ आकर रुक गये।

''कहिए।''

''कहीं किसी और के पास तो नहीं गया?''

कहकर फिर अपने में अटककर वह पहले की भाँति घूमने लगे। सहसा रुककर बोले, ''लाल को तुम कब से जानती हो?''

''मैं नहीं जानती।''

पर मानों यह उन्होंने सुना ही नहीं। उनके प्रश्न में जैसे उत्तर की अपेक्षा न थी। बोले, ''यह लाल राहु की तरह हरीश को ग्रसे हुए है। प्रभाव हरीश का है, काम इस लाल का। सब सूत्र इसके हाथ में है। रुपया वही तो नहीं ले गया, मुझे यही डर है। ऐसा हो तो मुझ-सा मूर्ख कौन होगा!''

मैंने पूछा, ''कौन है यह लाल?''

बोले, ''मुझे खुद नहीं मालूम। साहबी ढंग में रहता है और साहब कहलाता है। ज्यादा मैं नहीं जानता। लेकिन लोग उससे डरते हैं, उसका अदब मानते हैं, सब जगह उसकी पहुँच है, और सुनते हैं बड़ा निडर है।''

''तो फिर?''

''फिर कुछ नहीं सुखदा, मुझे यह काम अच्छा नहीं लगता, वह लोग अच्छे नहीं लगते। फिर पाई-पाई की हमारे लिए कीमत है, ऐसी हालत में रुपये जाने का मुझे बड़ा अफसोस है।''

धीरे-धीरे मैं उनको रुपये के सम्बन्ध में सान्त्वना दे सकी। कहा कि जो हुआ हो गया, उस पर सोच-विचार से क्या फायदा है। हम लोग आपस में विश्वास से रहेंगे, मितव्यय से काम लेंगे, तो सब ठीक हो जाएगा।

स्वामी अब बहुत-कुछ प्रकृतिस्थ हो आये थे कि उसी समय बाहर ठक-ठक

की आवाज हुई। स्वामी ने अनायास ही कहा, ''आइए'' और मैं चलने को हुई।

देखा कि आने वाले व्यक्ति लाल हैं। जाते-जाते अपनी जगह खड़ी, ठिठकी रह गयी। वह बिना दायें-बायें देखे मेरी तरफ सीधे बढ़ते हुए आये। पास आकर बोले, ''आपको बधाई देने आया हूँ, सुखदा देवीजी।''

मैंने उनके बढ़े हुए हाथ के लिए अपना हाथ नहीं बढ़ाया, बल्कि दोनों हाथों को उठाकर किंचित नमस्कार किया।

''बैठिए न। आप खड़ी रहीं तो मैं...छोड़िए, मैं तो यह बैठा। आप...ओह! माफ कीजिएगा हमारा शायद पहले परिचय नहीं है।''

''मेरे पति।''

''जी हाँ, जी-हाँ, माफी चाहता हूँ। प्रभात से मालूम हुआ कि सभा कामयाब हुई और आपका भाषण...! कांग्रेचुलेशंस, इट वाज ग्राण्ड इन्डीड! दूसरे, रुपये के लिए धन्यवाद देना है। तीन सौ ठीक जो आपने दिये थे। पर दो हजार कर्ज लेकर आपने क्यों भिजवाये? (पति की ओर) आपने इस बारे में इनकी बात रखना क्यों जरूरी समझा? जी नहीं, स्त्री भावुक हो, मगर घर के मालिक को तो ढीला नहीं होना चाहिए। मुझे मालूम है, जेवर उनका है। लेकिन वह इस घर का भी तो है। उनको भी हक नहीं कि उसको वह कहीं गढ़े में डाल दें। मैं कहने आया था कि यह तरीका गलत है। अगर रुपये की जरूरत हो तो हमारे लिए लखपति हैं, करोड़पति हैं, जो पैसे पर बैठे उसे सेते रहते हैं। वह हमारा ही काम करते हैं कि पैसे को गर्मी देकर बढ़ाते रहते हैं। हम कोई ईश्वर को मानने वाले तो हैं नहीं कि ईश्वर पर उन्हें छोड़े रहें। सहायता हमारा धर्म है और हम लोग थोड़ा-बहुत अस्त्र-वस्त्र रखते हैं, सो उसी सहायता के काम के लिए। वह रास्ता हमारे लिए खुला है तो चिन्ता क्या है। मैंने हरीश से पूछा कि वह रुपया कहाँ से आया, तो उन्होंने इस घर का नाम लिया। मैं समझ गया कि स्त्री की भावना है। मैंने हरीश को कहा कि यह रुपया गलत है और उन्हें लेना नहीं चाहिए। बाहुबल का जिसे सहारा हो, वह माँगने तक क्यों झुके। जानता हूँ हरीश का स्वभाव अलग है, पर बात मेरी ठीक है। डकैती उन्हें गलत मालूम होती है, प्रार्थना मेरे लिए गलत है। जिनके पास है, वह क्यों है? जड़ में उसके वह डकैती है जिस पर शिष्टता का बाना है। डकैती नहीं, वह चोरी है; चोरी नहीं, वह ठगी है, फरेब है। लहू चूसना है। सुना सुखदा देवी, सही से हमें गलत रास्ते न भेजिए। और यह लीजिए अपने दो हजार रुपये।'' यह कहकर उन्होंने रुपयों की गड्डी मेरी ओर बढ़ायी।

मैंने कहा, ''मैंने कोई रुपये के लिए नहीं कहा।''

लाल खिलखिलाकर हँस दिया।

''आई अण्डरस्टैण्ड, आई अण्डरस्टैण्ड! गृहस्थ-धर्म इसी को कहते हैं। तो

रुपया गृहपति को दिया जाए! (उनकी ओर) यह लीजिए, आप लीजिए।''

स्वामी होंठ भींचे बराबर बस चुप थे। अब बोले, ''शायद मुझसे आपको रुपया नहीं मिला।''

''ओह! दैट्स ग्रैण्ड! तो क्या मैं यह समझूँ कि रुपया फालतू है ? जानता हूँ, फालतू नहीं है। लीजिए, रखिए।''

अब भी स्वामी ने उन फैले हुए हाथों में से रुपयों की गड्डी सँभालने की कोई चेष्टा नहीं की।

लाल ने हँसते हुए मुझसे कहा, ''सुखदा जी, आप सहायता कीजिए, मेरा संकट टालिए! कहिए उनसे कि ले लें।''

मैंने हँसकर कहा, ''ले लो ना, ले क्यों नहीं लेते ?''

स्वामी अपनी स्थिति से विचलित न हुए, बोले, ''मुझसे कोई रुपया उन्हें नहीं मिला।''

लाल विनम्र बन गये, ''न्याय कीजिए सुखदा जी, मुझ गरीब पर तोहमत न आने दीजिए।''

मैंने हँसकर कहा, ''रुपये से तोहमत आती है।''

लाल बोले, ''आती होगी तभी तो आप में से कोई ले नहीं रहा है। आपको मालूम नहीं, रुपया मैं कैसे फूँकता हूँ। जो फूँकना जानता है वही उसे प्यार करना जानता है। मेरे प्यार को देखिए, लालच न दीजिए। रुपया मेरे पास रहा तो एक डकार में हजम हो जाएगा। इससे मैं कहता हूँ, आप लोग मेरी सहायता करें और अपनी अमानत अपने पास ले लें।''

तब हाथ बढ़ाकर मैंने कहा, ''लाओ, मुझे दो।''

नहीं जानती मैं कैसे 'आप' से 'तुम' पर आयी। कह जाने के बाद अनुभव हुआ कि यह सही नहीं हुआ। सुनकर लाल क्षण-भर मुझे देखते रहे, फिर बोले, ''आपको दूँ? (पति से) कहिए उनको दे सकता हूँ या आप—।''

पति ने उस समय हाथ आगे किया। कहा, ''अच्छा, लाइए।''

''दैट इज करैक्ट,'' रुपये उनके हाथ में थमाते हुए लाल ने कहा, ''गिन लीजिए, (मेरी ओर) माफ कीजिएगा, मैं समझ गया हूँ। एक ही बात है।''

मैंने मुस्कराकर कहा, ''एक बात नहीं, पुरुष पुरुष का पक्ष करता है।''

''वह तो जरूरी है'', लाल ने भी मुस्कराकर कहा, ''गिन लीजिए, पूरे हैं ?''

पति ने गिन लिए थे, पूरे थे और जेब में पहुँच गये थे। वह बोले नहीं।

''अच्छा, तो अब चलूँ। मैं आया था कि आपको बधाई देनी थी। और जगह से भी रिपोर्ट ले चुका हूँ। आपका व्याख्यान—इट वाज रियली ग्रैण्ड! मुझे वह नीति

अच्छी नहीं लगती जहाँ काम सदा दबकर उठकर हो। अलग-अलग रहना क्रान्तिवालों का गलत है। जनजीवन के बीच जाने के मौके हमें अपनाने होंगे। बचकर और उठकर हमारा रहना सही नहीं हो सकता। लोग हैं समिति में जो असहमत हैं। पर सिद्धान्त ऊँचा और अलग रह सकता है, आदमी नहीं। सुनती हैं सुखदा जी, जन-सम्पर्क, सब भाँति का, सब तरफ का जन-सम्पर्क—मेरा तो यही कौल है। काम तभी फैलेगा, आदमी तभी फैलेगा, नहीं तो काम ही घेरा बन जाएगा। सब जगह घेरे हैं, वर्ग के नीति के, मत के। पर आप किसी को मत मानिए। सब जगह जाइए, ऊँचों में, बड़ों में, छोटों में...(पति से) मैं देखता हूँ, आप नाखुश हैं। क्या मुझसे गलती हुई? सुखदा जी पत्नी आपकी हैं, लेकिन आपके सामने कह रहा हूँ कि घर के साथ इन्हें बाहर का भी विचार रखना है और गैर यह अब हमसे भी न रहेंगी। अच्छा देवी जी, अच्छा महाशय...।''

स्वामी एकाएक बोले, ''क्या मैं आपसे एक सवाल पूछ सकता हूँ? आपके गुजारे का जरिया क्या है?''

''आपका धन्यवाद है'', लाल ने मुस्कराकर कहा, ''सवाल आपका माकूल है, नहीं तो नामाकूल भी हो सकता था। लेकिन जवाब मेरे पास माकूल नहीं। मेरे गुजारे का जरिया है पैसा। वह हम सभी का है। हम शहरियों में से किसी का जरिया मेहनत नहीं है। मेहनत जो करता भी है, पैसे की खातिर, खुद मेहनत की खातिर नहीं। और सच यह है महाशय, कि पैसा कम्बख्त सब तरफ से मेरे पास आता है। मोरी में से आये तो मोरी गन्दी हो सकती है, पैसा गन्दा नहीं हो सकता। जिधर से आये मैं उधर से हो उसे लेने का कायल हूँ। इससे गुजारे का सवाल मेरे लिए नहीं उठता। मैं मौज और मजे में रहता हूँ, और पैसा पाने की न मुझे फिक्र रहती है, न कोशिश, न परेशानी। अपने कायदों से पैसा यहाँ से वहाँ बहता रहता है; और मैं हमेशा अपने को उसकी धार के बीच मैं पाता हूँ, किनारे नहीं हो पाता। क्या मैं कुछ साफ हो चुका हूँ?''

स्वामी ने गम्भीरता से पूछा, ''आप करते क्या हैं?''

''भई, यह खूब! करता क्या हूँ? कहा तो कि मौज करता हूँ। मेरा ख्याल है कि यह कोई कम काम करना नहीं है। अच्छा, अच्छा सुखदाजी, 'बाई-बाई'। अच्छा महाशय, नमस्कार।''

इस तरह झुकते और हँसते लाल हमारे देखते-देखते वहाँ से चले गये और बाहर गाड़ी के स्टार्ट किये जाने की आवाज हमें स्पष्ट सुनायी दी।

18

लाल के जाने पर वातावरण जैसे एक साथ सूना हो गया। वह चुप रह गये, मैं भी चुप थी। उनकी निगाह दरवाजे की ओर बँधी थी, मेरा भी ध्यान उधर ही था। ऐसे कुछ पल बीते होंगे कि मैं उठी। चाहती थी कि रुपया लूँ और जाकर ठीक तरह रख दूँ। तभी कानों में पड़ा—''धूर्त!''

मैंने सुना, अनसुना करके कहा, ''लाओ, रुपया दो तो ठीक से रख आऊँ।''

बिना मेरी ओर दृष्टि किये बोले, ''सुखदा!''

''लाओ, रुपया रख आऊँ।''

उनकी निगाह उसी ओर रही, कहा, ''यह आदमी हरीश का दुश्मन है।''

मैंने कहा, ''क्या कह रहे हो! चलो उठो, अन्दर चलो।''

वह उठे नहीं, मगर मेरी ओर देखा, ''हरीश के विश्वास को हमें तोड़ना होगा। यह आदमी उस लायक नहीं है।''

मैं इस विषय की कोई संगति नहीं देख सकी। हँसकर बोली, ''चलो, छोड़ो और उठो।''

स्वामी बोले, ''सुखदा, तुम हँसी समझती हो!''

मैंने उस समय कहा, ''उठो और मैं तुमसे कहती हूँ, ईर्ष्या का तुम्हें कोई कारण नहीं है।''

स्वामी स्तब्ध भाव से मुझे देख उठे। वह दृष्टि सहसा उनकी मुझ पर से अलग नहीं हो पायी। मैं उस समय कुछ कह नहीं सकी। फिर प्रयत्नपूर्वक बोली, ''लो, अब उठो न यहाँ से, अन्दर चलो।''

स्वामी ने नोटों की गड्डी को चुपचाप मेरी ओर बढ़ा दिया, बोले, ''नहीं।''

मैंने कहा, ''तुम भी चलो न?''

जोर से बोले, ''लेती हो?''

मैं उस जोर की आवाज पर ठिठकी रह गयी।

''नहीं लेती, तो लो।''

कहकर नोटों की दोनों गड्डियाँ उन्होंने मेरी तरफ फेंक दीं। वह मेरे बिना छुए धरती पर अलग पड़ी रहीं, मैंने उठाया नहीं और सीधी अन्दर कमरे में चली गयी।

इसके थोड़ी ही देर बाद मालूम हुआ कि लाल लौटकर आये हैं। मैं कमरे में एक आराम कुर्सी पर सिर पीछे डाले पड़ी थी। बूटों की धमक मुझे सुनाई दी और दूर से शुरू हुई पुकार, 'सुखदा जी, सुखदा भाभी जी!' फिर, 'ऐं! यह क्या...वह कहाँ हैं?'

स्वामी ने उत्तर में धीमे और थके स्वर में कहा, ''यह नोट यहाँ फेंक कर अन्दर गयी हैं।''

''अन्दर!''

सुनने के साथ परदा हटाते हुए वह कमरे में बढ़ते चले आये, ''भाभी, भाभी...भाभी जी!''

मुझे सहसा उन्होंने देखा नहीं और राह में मुझे छोड़कर कमरे के उस छोर तक पहुँच गये। उस समय मैंने उठकर कहा, ''कहिए!''

''ओह! आप तो यहाँ हैं! सुनिए एक काम है (पास आकर) उधर आप कब आ रही हैं?''

''कहाँ?''

''वहीं, विलास-कक्ष में। है न नाम ठीक! हाँ, आपको मालूम नहीं, वह जगह अब विलास-कक्ष है। नाम सार्थक है, क्यों? परसों बैठक है, चार बजे। जरूरी बैठक है और आप आ रही हैं; बल्कि पहले आ जाइए या मैं ले जाऊँगा। तैयार रहिएगा परसों, तीन...यह हुआ। क्या देखती हैं! नहीं हो सकता कि आप...आप न आएँ। ले मैं जाऊँगा। अब यह बताइए कि रुपये वहाँ क्यों पड़े हैं? फालतू हैं! आइए, चलिए, उठाइए और लड़ा मत कीजिए।''

कहकर सचमुच उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और बाहर की ओर खींच ले चलना चाहने लगे।

यह स्वभाव जो अपने को या किसी को कोई अवकाश ही नहीं देता, झट मनचाहा कर उठता है, मुझे विलक्षण प्रतीत हो रहा था। मैंने फुसफुसाकर कहा, ''क्या करते हैं! अलग रहिए!''

लाल ने मुस्कराकर हाथ छोड़ा और अब ठोढ़ी से मेरा मुँह उठाकर कहा, ''क्यों, क्या बात है? रूठी हो?''

''आप जाइए।''

''क्या रुपया लेता हुआ जाऊँ?''

''आप चले जाइए।''

''मैं इस तरह आपको छोड़कर और रुपया लेकर नहीं जा सकता। आइए, मेल करा दूँ।''

इस बार हाथ पकड़कर दो-एक ही कदमों में वह मुझे दरवाजे के परदे तक ले आये, तो मुझे प्रतिरोध में कुछ न सूझ सका। वहाँ हाथ छोड़कर, आगे बढ़कर स्वामी से बोले, ''देखिए, इनको ले आया हूँ। अब आप नाराज न हों।''

अब मैं लौटकर किसी तरह नहीं जा सकती थी, स्वामी से पूछा, ''मुझे बुलाया था?''

''मैंने ?''

''कहिए ?''

''मैंने नहीं बुलाया। यही कुछ आपसे कहने आये थे। (लाल से) कहिए आपका काम हो गया ?''

''जी, मैं परसों तीन बजे इनको लेने आऊँगा। यही कहने आया था। एक बैठक में इन्हें शामिल होना है।''

स्वामी ने स्थिर वाणी में कहा, ''किसी बैठक में इन्हें शामिल नहीं होना।''

लाल जैसे असमंजस में सिर खुजलाते हुए मेरी ओर देखकर बोले, ''देखिए, आप कहिए।''

''बैठक आप कर लें, मुझे छोड़िए।''

''बैठक मेरी नहीं है और मैं छोड़नेवाला कौन होता हूँ, लेकिन देख लीजिए, तो— ।''

स्वामी ने गम्भीर भाव से कहा, ''लाल साहब! सुनिए, यह बैठक में नहीं जाएँगी और आप आने की तकलीफ न करें।''

उस पर लाल हँस पड़े। बोले, ''खैर इस वक्त तो मैं आ ही गया हूँ और लीजिए, बैठ जाता हूँ। बैठिए न आप भी, भाभीजी और वह नोट उठा लीजिए।''

यह ऐसा अप्रत्याशित था कि मैंने झुककर नोटों की अलग-अलग पड़ी दोनों गड्डियाँ उठा लीं और कुरसी में बैठकर स्वामी से बोली, ''मैं कहाँ जा रही हूँ बैठक में जो तुम नाराज हो ?''

लाल ने कहा, ''लेकिन आप जा रही हैं।''

स्वामी ने कहा, ''नहीं।''

मैंने भी कहा, ''नहीं।''

स्वामी ने कहा, ''शायद आप सुनते हैं, इन्हें नहीं जाना है।''

लाल ने मेरी ओर कहा, ''जैसा आप चाहें। इस बार कुछ जरूरी बातें थीं लेकिन आप जानें। हरीश स्त्रियों का उपयोग मानते हैं, परामर्श नहीं मानते। मैं स्त्री के इस उपयोग से अधिक सहयोग का कायल हूँ। हमारी गलती रही है कि पराक्रम पुरुषों का हक माना है तो शील स्त्रियों का भाग। ऐसे आन्दोलन एकांगी बनता है। वह रोमांस रचता है। हम कुछ उसी पद्धति पर चलते हैं। ऐसे व्यक्तिवादिता बढ़ती है, सामाजिकता नहीं बढ़ती। मेरा आग्रह है कि हम इस रास्ते को छोड़ें। खुले में आएँ और सामाजिक आधार पर चलें। हरिदा पर इनाम है, लेकिन आतंक की राह से शहादत मिलती है, सामाजिकता नहीं मिलती। हमको अपनी रीति-नीति के नीचे सामाजिक बुनियाद चाहिए। नहीं जानता मैं क्या कह रहा हूँ। यहाँ वे बात आवश्यक भी नहीं हैं। लेकिन आन्दोलन को हम सँकरी रोमांस की भूमिका पर ज्यादा नहीं रख सकते।

उसे सार्वजनिक आधार पर देना होगा। इसमें स्त्री अलग और पुरुष अलग होकर नहीं चल सकते। उसकी पारिवारिक भूमिका होगी। इसी से कहा था, इनको आना है। सुनती हो, भाभी! सिर्फ इसीलिए कि आपको भाभी कहना पूरा बाकायदा नहीं है, आप मेरी बात टाल नहीं सकतीं। घर बन्द चीज नहीं है, बाहर की ओर खुलने के लिए वह द्वार है...।''

ऐसे ही काफी देर तक वह कुछ-कुछ कहते रहे जो मेरी पूरी तरह समझ में नहीं आया। पति ने बीच में उन्हें टोककर कहा, ''हरीश का आदेश तुमने इसमें लिया है?''

''उसकी जरूरत नहीं है।''

''जरूरत है। शायद तुमको हरीश से मेरा सम्बन्ध नहीं मालूम।''

''शायद मालूम है।''

''और तुम विश्वासघात पर तुले हो!''

''माफ कीजिए, आप मुझे नहीं जानते और जमाना बदल रहा है। वैयक्तिक नहीं, आज सामाजिक चाहिए। गुण भी वैयक्तिक नहीं, सामाजिक चाहिए। इसी से धर्मनीति निर्जीव है, सशक्त समाजनीति है जो मिलकर राजनीति होती है।''

मैंने कहा, ''लाल साहब, आप जाइए और मैं नहीं आ सकूँगी।''

''जैसी आपकी इच्छा। देखता हूँ, नोट अब पड़े नहीं हैं, यह अच्छा है। नमस्कार!'' और वह चले गये।

तब रुपये देते हुए मैंने स्वामी से कहा, ''उन्हें तुम धूर्त कह रहे थे। धूर्तता की कोई बात देखी या मेरे कारण धूर्त बना रहे हो?''

स्वामी ने रुपये मुझसे अपने पास ले लिए। कहा, ''मेरे कारण तुम बैठक में नहीं जाओगी, क्यों?''

''तुम नहीं चाहते न?''

''चाहता तो नहीं हूँ, लेकिन तुम हर बार सुनाओगी कि मेरे न चाहने से तुम नहीं गयी, यह भी मैं नहीं चाहता!''

''तुम्हें क्या लगता है, मैं जाना चाहती हूँ? इसलिए चाहती हूँ कि लाल को चाहती हूँ? तुमने अच्छा किया, उन्हें मना कर दिया। मैं उनकी शक्ल देखना नहीं चाहती। क्या समझ रखा है उन्होंने मुझे?''

स्वामी ने चिन्ता-भाव से कहा, ''क्यों, क्या हुआ सुखदा! उसने बेअदबी तो नहीं की?''

''की, की, की! कौन है कि वह मुझे भाभी कहे? तुमसे क्यों उन्हें नहीं रोका गया? सीधे घुसते हुए अन्दर चले आये! यह ख्याल तुम्हें नहीं आया कि जाने कोई किस हालत में हो!''

''तो तुम्हें— ?''

''नहीं-नहीं, लेकिन यह क्या तरीका है कि तुम्हें यहाँ छोड़कर 'भाभी-भाभी' चिल्लाते हुए अन्दर चले आये और तुम बाहर बैठे देखते रहे।''

''मुझे नहीं मालूम था...।''

''क्या नहीं मालूम था?''

''कि-कि...।''

''कि मैंने उन्हें इस तरह का कोई अधिकार नहीं दिया। तुम समझते थे, उन्हें सब अधिकार है। क्यों, यही समझते थे न? बोलो, बोलते क्यों नहीं?''

चिन्तित भाव से मेरी ओर देखते हुए कहा, ''सुखदा!''

''तुम मेरे स्वामी हो, लेकिन तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, क्यों? नाराज होकर मुझे खुली छोड़ देना चाहते हो कि कोई धूर्त आये और...तुम क्या चाहते हो?''

स्वामी ने विस्मय से मुझे देखा, बोले, ''तुम्हें क्या हो गया है, सुखदा!''

जाने मुझे क्या हो गया था, कहा, ''ठीक कहते हो तुम कि यह रुपये उन्होंने किसी भली नीयत से नहीं लौटाये हैं। क्यों, यही कहते हो न?''

''वह हरीश को और हमको सीधा दिखाना चाहता है, और...''

''कहो, रुक क्यों गये? और क्या?''

''...''

''अब कहते क्यों नहीं जो कहना चाहते हो! और क्या?''

''नहीं, कुछ नहीं। वह अच्छा आदमी नहीं है।''

''यही मैं कहती हूँ कि अच्छे वह नहीं हैं और इस घर में कदम भी रखा तो तुम जानो। सुनते हो, अब कभी वह इस घर में आने न पाएँ। रईस होंगे तो अपने घर के।''

स्वामी ने विस्मय से कहा, ''रईस! तुमसे किसने कहा?''

''ठाट से रहते हैं, मोटर में आते हैं। तो हों बड़े आदमी, यहाँ क्या रौब जताने आते हैं!''

''वह कोई बड़ा आदमी नहीं है सुखदा, उसका किसी को भी पता नहीं है।''

''फिर क्यों तुम उसका जिक्र नहीं छोड़ते। अब से नाम न लेना उसका। रुपये, देखो, लौटाना नहीं। चाहो तो फिर हरिदा के हाथ में ही देना। लेकिन यह धन रखते जो नहीं हैं। फिर बखेर देंगे।''

''यह तो बैंक का कर्ज है। जेवर बन्धक रखे हैं, उन्हें भी छुड़ाना होगा।''

''नहीं चाहिए कोई मुझे जेवर। बेच-बाचकर खत्म करो। और क्या।...सुनो, इस रुपये से दो साल तो विनोद नैनीताल पढ़ ही सकता है।''

''नैनीताल!''

उस स्वर में प्रतीत होते संशय और विस्मय पर मैं और भी कट आयी। बोली, ''नैनीताल में बड़े आदमियों के बच्चे पढ़ते हैं। हम बड़े आदमी नहीं हैं यही न ? बच्चे तो लेकिन बच्चे हैं और उन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा पाने का हक है। अपनी स्थिति को तुम लिये बैठे रहो। मेरी तो स्थिति इस दुनिया में कुछ है, नहीं है। मैं मजदूरी कर लूँगी, कुछ कर लूँगी, लेकिन बच्चों को हल्का बनने नहीं दूँगी। तुम और काम कर रहे थे, उसका क्या हुआ ?''

''तुमने मंजूर जो नहीं किया था।''

मैं उस समय की अपनी भावनाओं को नहीं पकड़ सकती। मैं तब खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। कहा था, ''ठीक है, मैं मंजूर नहीं करती। लेकिन तुम तो मेरा मजदूरी करना मंजूर करते हो!''

मैंने तब कठिन दृष्टि से उनकी ओर देखकर कहा था सुनो, पैसे को कहीं से आना हो, लेकिन विनोद नैनीताल में ऐसे रहेगा जैसे बड़े कहे जाने वाले और आदमियों के बच्चे रहते हैं। और खबरदार जो जेवर को छुड़ाने की बात तुमने सोची। बल्कि उसे अलग कर दो कि दो साल की तो बेफिक्री हो।

स्वामी ने कहना चाहा, ''लेकिन...''

पर आवेश में उनकी बात को बीच से काटकर मैंने कह दिया, ''लेकिन कुछ नहीं। फिक्र तुम्हें नहीं करनी, जो होगा, मैं भुगतूँगी।''

मैं नहीं समझ सकती कि उस क्षण मैं क्या चाहती थी। शायद मैं जीतना चाहती थी, हर किसी से जीतना चाहती थी। क्या कहीं हार का भाव भीतर था कि जीत की चाह ऊपर इतनी आवश्यक हो आयी थी ? वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम। लेकिन दुर्दम कर्तव्य के संकल्प मेरे मन में सहसा चारों ओर से फूटकर लहक उठे। अपनी परिस्थिति और अपनी नियति की सब मर्यादाओं और बाधाओं को तोड़कर ऊपर उठ चलना होगा, ऊपर और ऊपर। कुछ जैसे मुझे रोक न सकेगा, कुछ लौटा न सकेगा। ऐसा मालूम होने लगा जैसे जो है सब कुछ तुच्छ है, सब शून्य है। मेरी उद्दामता के आगे सब विवश हो चला है। उस समय मेरे स्वामी, जड़ित और चकित, मुझे अपदार्थ लग आये। मैं बोली, ''लाओ, रुपये मुझे दो।''

उन्होंने रुपया मेरी ओर बढ़ा दिया।

मैंने कहा, ''जेवर बेच डालो।''

बोले, ''अच्छा।''

''नैनीताल से लिखा-पढ़ी करोगे कि जाओगे ? कब जाओगे ?''

''अब तो...।''

मैंने कहा, ''सेशन नहीं है ? लेकिन सेशन शुरू होगा तबके लिए तो दाखिला

पक्का कर आओ, नहीं तो...।''

''अच्छा।''

''क्या अच्छा! कहो कि जाओगे।''

''चला जाऊँगा।''

''ठीक! परसों मैं बैठक में नहीं जा रही हूँ। तो फिर माँ के पास जाऊँगी या तुम्हारा ही जाना ठीक होगा। समझा के कह देना कि बिन्नू का नैनीताल जाना तय रहा है। जेवर कब तक निकल जाएगा?''

नहीं जानती कि क्या कुछ मुझ पर तब आ छाया था। सामने बैठे स्वामी जैसे सहज-भाव से मुझसे सहे नहीं जा रहे थे। उनकी उपस्थिति पर मुझमें से रह-रहकर ऐसी लहरें उठती थीं कि अपनी बाढ़ में उस परिस्थिति को लील ही जाएँ, वह सामने शेष न रहे। कहा, ''क्या निकल जाएगा! अभी जाकर देखो, क्या दाम लगता है। सोना तो वह इसी के साथ का है। लो यह चूड़ी, जाकर भाव बिठा लाओ। बैंक में कुल यही चालीस तोला है न?''

स्वामी ने प्रतिरोध नहीं किया। प्रतिरोध उन्हें करना चाहिए था। स्त्री को राह देना, उसे न समझना है। गति वह उतनी नहीं चाहती जितनी स्वीकृति चाहती है। स्वीकृति में दूसरे का अपने पर स्वत्व, शायद स्वामित्व भी चाहती है। वह न आकर पुरुष की ओर से निपट अनुगति आती है तो इस पर स्त्री का क्षोभ सीमा लाँघ जाता है। स्वामी अनुगत और विमूढ़ बने से उस अवस्था में यदि मुझे देखते रह गये तो उत्तर में मुझसे सिवा इसके कुछ न बना कि चूड़ी उनकी ओर फेंक पटकूँ और कहूँ कि अभी-अभी सराफे में इसका मोल-भाव करके आओ।

वह अन्त में उठे और चूड़ी लेकर बाजार चले गये।

हाय, मेरे स्वामी!

इसके बाद याद है कि मुझे अपने पर इतना क्रोध आया था कि कह नहीं सकती। रुपया दराज में डालकर माथे को पीटती और कभी सिर के बालों को झिंझोड़ती हुई मैं औंधे मुँह पलँग पर आ पड़ी। वहाँ बार-बार तकिये पर सिर पटक-पटककर रह गयी। पर कहीं भी मेरे लिए चैन न था। सब जल रहा था। पर सब मुझसे दूर था। उसमें मिलकर मैं भक से जल न पाती थी कि एक ज्वाला हो उठूँ और प्रकाश देती हुई क्षण में भस्म हो जाऊँ—मृत्यु पाऊँ और मुक्ति पाऊँ। नहीं, सब ओर की झुलस और तपन के बीच प्राण सिर्फ भुन-भुनकर रह जाते थे और मैं बेकली में सिर ही पीटती और पटकती जा सकती थी।

थोड़ी देर में नौकर ने सिर पर आकर कहा, ''बीबी जी!''

मैंने सिर ऊपर उठाया। हाय, कैसी दुनिया है! दु:ख पाते रहो, फुर्सत निकाल उस दु:ख को भी यहाँ मना नहीं सकते!

19

चार रोज तक मुझे और तरफ का ध्यान न रहा। इस बीच जेवर बेच डाला गया और तीन हजार से कुछ ऊपर रुपया हाथ आया। वह रुपया माँ को सौंप दिया, क्योंकि उसका मन रखना था। स्वामी से कहा, ''लो, अब नैनीताल हो आओ।''

स्वामी ने यह सब किया तो था, पर अनमने मन से! अब बोले, ''ऊँची पढ़ाई का मोह झूठा है सुखदा, उससे आदमी धरती से उखड़ रहता है और तबीयत से विलायती बनने लगता है। लेकिन तुम तो देशभक्त हो।''

मैंने खीझ के कहा, ''बस रहने दो। तुम सन्तोष रख सकते हो क्योंकि और बस जो नहीं है। कमा ज्यादा नहीं सकते तो उपदेश देने तो न बैठो। बोलो, जाओगे ? नहीं तो मैं चली जाती हूँ।''

स्वामी अधिकार-भाव से बोले, ''तुम नहीं जाओगी, न कोई जाएगा।''

मैंने जिद से कहा, ''क्यों कोई नहीं जाएगा ?''

अब जैसे समझाते हुए बोले, ''देखो, यह दो-एक साल की बात नहीं, जिन्दगी का सवाल है। अँग्रेज सदा यहाँ नहीं रहेंगे, न अँग्रेजों का राज रहेगा। तीन हजार हाथ में हुए तो उसी पर यह कदम उठा लेना ठीक नहीं है। फिर वहाँ दसवीं क्लास से आगे तो है नहीं, लौटकर फिर कालिज में यहीं आना होगा। तब क्या फायदा ऐसे शौक से!''

मैंने कहा, ''शौक ही सही, मेरा शौक तुम रोक नहीं सकते।''

इस पर स्वामी ने मुझे स्थिरता से देखा। कहा, ''यह कौन तुम्हें बहका रहा है ?''

मैं जल आयी, ''बताऊँ ?''

मेरी वाणी पर स्वामी पीछे खिंच गये। बोले, ''थोड़ा और सोच लो सुखदा, अपनी बित से बाहर एक बार गये तो गाड़ी फिर रोके रुकेगी नहीं।''

''टूट जाएगी, गिर जाएगी। यही न ? अब बढ़ी वह गाड़ी चल रही है! लेकिन तुमसे कहती हूँ—मैं भेजती हूँ, मैं ही खर्च उठाऊँगी, तुम चैन से रहो।''

स्वामी ने कहा, ''तुम बेटी अमीर की हो, पर गृहिणी अमीर घर की नहीं। अतः घर के हिसाब से चलना चाहिए।''

''अब तक किस हिसाब से चली हूँ, कहना तो ?''

''तो अपनी जिद रखोगी ?''

उसी क्षण बाहर किसी के आने की आहट हुई। मैं रुकना चाहती थी, पर आवेश में मेरे मुँह से निकला, ''हाँ, रखूँगी जिद।''

''बाबू साहब!''

दीख पड़ा, चिक के बाहर वर्दी पहने चपरासी खड़ा है।

''कौन है?''

''खत है, हजूर।''

''अन्दर आओ।''

चिक हटाकर वह अन्दर आया और सलाम देकर उसने मेरे सामने एक लिफाफा पेश किया।

''किसने भेजा है?''

उसने कहा, ''साहब ने।''

लेकिन उत्तर मैं सुन नहीं पायी, लिफाफा लेते ही खोलकर मैं उसे पढ़ने लग गयी थी। एक निगाह में खत देखकर मैंने कहा, ''जाओ।''

''जवाब हुजूर।''

''जा...ओ।''

आदमी फिर ठहर नहीं सका और उसके मुड़ते ही मैं पत्र फाड़ फेंकने वाली थी कि स्वामी पूछ बैठे, ''किसका है?''

''देखना चाहते हो?''

''खत ने तुम्हें नाराज किया दीखता है!''

''लाल का है।''

कहकर मैंने पत्र के दो टुकड़े किये।

''अरे! क्यों, फाड़ती क्यों हो?''

अब तक टुकड़े दो के चार हो गये थे। उन्हें स्वामी के आगे करते हुए कहा, ''लीजिए, शायद जोड़कर अभी पढ़े जा सकते हैं।''

मेरे बढ़े हुए हाथ से उन्होंने सचमुच उन चार टुकड़ों को लिया और सैकड़ों नन्ही-नन्ही चिन्दियों में चोंथकर मेरी तरफ फेंक दिया। कागज की वे चिन्दियाँ हवा में जहाँ-तहाँ उड़कर फैल गयीं। मुझे स्वामी के इस कृत्य पर सन्तोष हुआ, मुस्कराकर कहा, ''इतनी नाराजगी!''

''क्या लिखा था उसमें?''

''मुझे बुलाया था?''

''कहाँ बुलाया था?''

उसी मुस्कराहट से मैंने कहा, ''क्यों?''

''कहाँ बुलाया था?''

''क्यों, तुम जाओगे?''

''कहाँ बुलाया था?''

मैंने हँसकर कहा, ''सुनो, जहाँ हरिदा थे वह जगह अब विलास-भवन

कहलाती है, वहाँ बुलाया था।''

''वक्त?''

''शाम छः बजे'', मैंने हँसकर कहा, ''लेकिन कुछ हाथ में लेकर जाना...उँह, छोड़ो भी। कह तो चुकी हूँ कि तुम्हें ईर्ष्या की जरूरत नहीं है।''

सुनकर उनका चेहरा पीला हो आया, बोले, ''सुखदा—!''

उस समय मैं अपनी कुर्सी से उठी और उनकी कुर्सी की बाँह पर बैठे उनके कन्धे पर हाथ रखकर बोली, ''क्या हुआ है तुम्हें! कुछ भी तो बात नहीं है!''

स्वामी कुछ देर मौन, विमनस्क बैठे रहे। निगाह नीचे फर्श की ओर रही और उन्होंने मुँह ऊपर नहीं उठाया।

मैंने कहा, ''सुनते हो! देखो, ऊपर देखो।''

बड़े आहिस्ता से, जैसे आदर से, मेरे हाथों को अपने कन्धे पर से अलग किया, बोले, ''तुम्हें बुलाया है तो जरूर कोई बात होगी। जाने में तुम्हारा डर मेरी समझ में नहीं आता। डरकर ही तुम नहीं जाती हो न? यह मुझे नापसन्द है। उसी को तुम ईर्ष्या समझो, तो समझो।''

मैंने कहा, ''नहीं, उन्हें कोई काम नहीं!''

''पर उसने लिखा है।''

''तुम इतने बुद्धू क्यों हो जी! कहती हूँ, कोई काम नहीं है।''

अब मैं नाराज होने लगी थी। वह मेरी ओर देखकर बोले, ''काम न हो तो भी बुलाने पर जाती तो उसे खुद ही बुद्धू बनना पड़ता कि नहीं?''

मैंने चमककर कहा, ''तुम क्या कह रहे हो, मालूम है?''

उन्होंने थिर वाणी में कहा, ''तुम डरोगी यह मैंने सम्भव नहीं माना था। इसका मतलब है संशय—मेरा, अपना, सब का संशय। सोचता हूँ, जाऊँ और उसे कहूँ कि वह डरता क्यों है! तुम्हारा मुझसे विवाह हुआ है, हरण तो नहीं। विवाह में जो दिया जाता है वही आता है, पराधीनता किसी ओर नहीं आती। सुनो सुखदा, स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे ख्याल से रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप डालना है। मुझसे पूछो तो तुम्हें अपने में प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।''

मैंने आश्चर्य में पड़कर कहा, ''क्या कहते हो! मुझे कहीं जाना नहीं है और जानती हूँ कि कोई काम उन्हें मुझसे नहीं है।''

स्वामी धीमे हो आये। बोले, ''एक बार मैंने कहा था कि लाल अच्छा आदमी नहीं है। वह मैंने गलती की थी। वह शब्द मैं वापस लेता हूँ। अच्छा-बुरा होने वाले में नहीं, देखने वाले की आँख में होता है। वह मेरी बुराई थी कि मैंने बुराई देखी लेकिन हरीश मेरा मित्र रहा है और हरीश से यह आदमी बेमेल है। हरीश की सहानुभूति में

ही मैं ऐसा कह गया हूँगा।'' कहते-कहते वह मानों भाव में भीग आये, ''विवाह क्या चीज है, मैं अकसर सोचता हूँ। क्या वह स्वत्व को बन्धक रख देना है, स्वत्व का अपहरण कर लेना है? समर्पण में तो सार्थकता है। लेकिन समर्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता। लेकिन छोड़ो, यह बताओ, नैनीताल का निश्चय तुम्हारा पक्का है? मुझसे पूछो तो मैं खिलाफ हूँ। लेकिन तुममें निश्चय है तो मैं हाजिर हूँ।''

''मैं तो नहीं कहती, लेकिन—।''

स्वामी ने हँसकर कहा, ''लेकिन विनोद को किसी के बच्चे से कम नहीं देखना चाहतीं। यही न? लेकिन जानती हो कि इसमें और बच्चों का अनादर आ जाता है। पैसे से ही समाज में श्रेणियाँ बनी हैं। हम ऊपर श्रेणी की तरफ देखते हैं। नीचे की तरफ देखना क्या हमारा कर्तव्य नहीं है? हमारा नहीं, तो फिर किसका है? क्या सिर्फ उनका जिनके बारे में किताबों में पढ़ते हैं! नहीं, वह हम सबका है। महात्माओं का नहीं है जो अकेले और ऊँचे हो सकते हैं। हम संसारियों का है जिनको संग-साथ में रहना और सहना है।''

मुझमें उस समय तक भीतर से तर्क उठने लगे थे, पर मैं उनमें भटकना नहीं चाहती थी। इस बात से पहले, उनकी वाणी से मुझे सुख मिल रहा था, जैसे वे मेरे भी मर्म की हों। अपने से अलग रखकर उन भावनाओं में मैं अपने को छोड़ सकती थी और तब वे बड़ा सुख देती थीं। लेकिन अपने और अपनों के साथ जुड़ते ही उनका रूप बदल जाता था। यह बात किसी तरह मन में नहीं बैठती थी कि विनोद को क्यों भरसक ऊँची-से-ऊँची जगह भेजकर नहीं पढ़ाना चाहिए। एक कारण अर्थ का अभाव था और इसी को हीं मैं मन पर किसी तरह न ले पाती थी। लेकिन उस समय स्वामी के सौजन्य पर मैं आरोप न ला सकी, सीधे तौर पर कहा, ''उन्नति चाहना तो सबका धर्म है।''

स्वामी ने सौम्य वाणी में कहा, ''यह अपने-अपने देखने की बात है, सुखदा! ऊँचे चढ़ने में स्वाद तभी तक है जब कुछ नीचे रहें। नीचे वालों की ओर से भला कहो तो क्या कहोगी! यही तो कहना होगा कि ये ऊँचे हृदयहीन हैं कि हमारे सिर पर चढ़े हैं। इसलिए उन्नति भी असली शायद दूसरी है। शायद वह ऊपरी नहीं, भीतरी उन्नति है।''

मैंने हँसकर कहा, ''भौतिक नहीं, नैतिक?''

क्षण भर हँसकर मुझे देखा, मुझमें व्यंग्य तो नहीं है? कुछ पल जैसे वह असमंजस में रहे। फिर गम्भीर भाव से बोले—''ये शब्द हैं, सुखदा, और किताबी हैं। मैं ठीक नहीं जानता, शब्द झमेला रचते हैं। आखिर वे सूचक हैं, उससे आगे खुद अपने में उनमें सार नहीं है। लेकिन छोड़ो, इन बातों में क्या है। तुम कहोगी भौतिक उन्नति की असमर्थता में से नैतिक बातें आती हैं। क्यों है न? मैं कमा कम सकता हूँ,

इससे उधर-उधर की बात अधिक करता हूँ। शायद तुम सच कहती हो। मुझे अधिक कमाना चाहिए, फिर और अधिक। नहीं तो ब्याह मैंने क्यों किया, कुनबा क्यों बनाया! वह किया तो पैसा जरूरी हो गया, और उसका कमाना पहला काम हुआ और शायद आखिरी भी वही। व्यंग्य न मानना, सुखदा! तुम्हारी बात नहीं, स्थिति के तर्क की बात है। मैं कहता हूँ लोग हैं जो अपने लिए आदर्श बनाकर उनमें रहते और खपते हैं। उन पर विस्मय होता है। कल्पना और कामना हमारी उनकी ओर उठती है। नाना रंगों में रँगकर हम उनको ऊँचा रखते हैं। शायद वे भाग्यवान हों। लेकिन मुझे शक है कि वे भाग्यवान हैं। पर वे उन्नति करते हैं, कहाँ से चलकर जाने कहाँ पहुँचे दीखते हैं। वे वीर, सेनानी और सम्राट बनते हैं। इतिहास क्षण के लिए उनसे काँप जाता है। फिर भी दुनिया उनसे नहीं है, वे अपवाद हैं, व्यतिक्रम हैं, 'फ्रिक्स' हैं। विकास के वृत्त पर वे टेंजैण्ट की मानिन्द हैं। असल हिसाब की गिनती में वे नहीं आते। प्रतिभा होती ही विरल, विलक्षण, इसीलिए चमत्कार-सी लगती हो, लेकिन उससे क्या! विलक्षणता मनोहर हो सकती है, पर वह सफल भी है। यह जो जनसाधारण है, जिनकी गिनती नहीं है, पर वह सफल भी है। जो एक-सा है और इकट्ठा है, रीढ़ वह है। मानव जाति को स्थिरता वहाँ से मिलती है। एक उन्नति वह है जो साधारणता से एक हो रहने का अभ्यास साधती है। शायद हो कि उन्नति असली वही हो। वहाँ गति का वेग नहीं दीखता, पर स्थिति की सनातनता तो है। हम सदा से चमक में भूलते आये हैं, पर शायद धीरे-धीरे पहचान लें कि नरपुंगव और नरकेसरी ऊपरी शोभा के लिए हो सकता है, जाति का स्वास्थ्य, शक्ति और सौष्ठव उनसे नहीं है।''

वह कहते चले जाते। मैंने ऐसे भावोत्कर्ष में उन्हें कम पाया था। मामूली तौर पर चुप रहते थे और अपेक्षाशील। ऐसे क्षणों में वे जैसे कुछ-के-कुछ हो आते थे। मैंने हँसकर कहा, ''यह क्या पूरा व्याख्यान ही दे डालोगे?''

''नहीं-नहीं, माफ करना सुखदा, मुझे खयाल ही नहीं रहा। तुम...। पर शायद कोई आया है।''

मैंने भी घर के बाहर कार रुकने की आवाज सुनी। साथ बूटों की धमक, जिनके पहचानने में भूल नहीं हो सकती थी।

''भाभी जी, मैं आ सकता हूँ?'' लगभग साथ ही लाल दरवाजे से अन्दर आये।

मैं जल्दी माथे पर पल्ला देती उठकर जाने को हुई।

उन्होंने स्वामी को जैसे देखा ही नहीं, कहा, ''देखिए भाभीजी, आप जाएँ नहीं। मुझे आपसे काम था, काम है। नाराज पीछे हो लीजिएगा। अभी हम लोगों को फुरसत कम है। नाराजी चीज फुरसत की है। (स्वामी की ओर) आपके ख्याल से शायद इन्होंने हम लोगों की तरफ जाना पसन्द नहीं किया।''

स्वामी बोले, ''बैठो भई, खड़े क्यों हो?''

''हाँ, बैठता हूँ, लेकिन मुझे जाना है। सुनिए...लीजिए...लीजिए।''

मैंने देखा कि एक हाथ में पकड़कर मुझे बाँह से थाम लिया गया है और बलात मुझे मोड़ते हुए मेरे हाथ में एक छोटा-सा अटैची सँभलवा दिया गया है।

''यह रखिए।''

मैंने आश्चर्य से उस उद्धत युवा-पुरुष की ओर देखा।

''रखिए, रखिए, यह आपका है और मुझे जरा जल्दी है। कुछ काम है। सवेरे तक मुझे निकल जाना है।''

स्वामी ने कहा, ''बैठो भी, ऐसे एकदम कैसे जाने पाओगे? (मेरी ओर) भई जरा...''

हाथ में अटैची लिये मैं खोयी-सी खड़ी ही थी कि—

''लीजिए, मैं बैठता हूँ। देखता हूँ आप आतिथ्य कीजिएगा। अच्छा कीजिए। लेकिन भाभी नाराज हैं!''

''लाओ, यह मुझे दो और तुम...।''

अटैची मैंने स्वामी के हाथों में दे दी और मैं अन्दर की ओर गयी। जैसे अब साँस मिली। मैं अलग चली जाना चाहती थी, अकेली और एकान्त। पर उसका अवकाश न था। इससे आवश्यक व्यवस्था करके बाहर आना हुआ तो देखा, अटैची खुली पड़ी है और उसके बाहर कई डिब्बे बिखरे पड़े हैं। कुछ खुले हैं, कुछ बन्द। देखती हूँ कि वे तो मेरे ही जेवरों के हैं। स्पष्ट दीख पड़ा कि उस पर दोनों में बहस चलती रही है। पहुँचते ही लाल ने कहा, ''आइए भाभीजी, न्याय कीजिए। वह जेवर मैंने खरीदा है। लेकिन इन्हें बेचने का कोई हक न था।''

मैंने संक्षिप्त भाव से कहा, ''इन्होंने नहीं बेचा है।''

''फिर?''

''मैंने बेचा है।''

''आपने! तो आपको भी हक नहीं है। पहली गलती की कि उसे बन्धक रखा, फिर कि बेचा। रुपये के लिए जेवर बेचा जाना समझा जा सकता था। रुपया आपके पास आ चुका था। फिर यह आपने क्यों किया?''

स्वामी ने गम्भीर भाव से कहा, ''आप इसमें कौन हैं?''

''मैं कौन हूँ!'' असमंजस में लाल बोले, ''ठीक तो है कि मैं कौन हूँ। बताइए न भाभी कि मैं कौन हूँ?''

''हँसी की बात नहीं'', मैंने उसी गम्भीरता से पूछा, ''ठीक पूछा जा रहा है आपसे कि आप इस मामले में कौन होते हैं?''

''पहले सँभाल तो लीजिए कि माल पूरा और सही है कि नहीं। माल मालिक के पास पहुँच जाएगा तो सचमुच बीच में मैं कुछ नहीं रहूँगा। जब तक मेरे पास था

में सब कुछ था। देखिए, आप मेरे साथ चलिए तब बताऊँगा। (स्वामी से) आपकी अनुमति है?''

स्वामी ने हँसकर कहा, ''नहीं, अभी नहीं। क्यों भई, आ रहा है कि नहीं?''

''अभी आता है।''

''लीजिए, मैं भूल ही गया था। तो मैं जम बैठा हूँ। (मेरी तरफ) सुनिए, आपको मेरे साथ चलना है, मगर पहले यह सँभाल तो लीजिए!''

मैं ठीक तरह याद नहीं कर सकती थी कि कैसे क्या हुआ। लेकिन मैंने पाया कि थोड़ी देर बाद, शायद स्वामी के विशेष अनुरोध की रक्षा में, मैं लाल के साथ गाड़ी में बैठी चली जा रही हूँ। कार ड्राइव करते हुए लाल ने पूछा, ''क्या बात थी, आप आयी क्यों नहीं?''

''बैठक में?''

''बैठक में नहीं, आज।''

''मुझे यह अच्छा नहीं लगा।''

''क्या अच्छा नहीं लगा?''

''क्या ऐसे खत से बुलाया जाता है?''

''ओह! तो तरीका बताइए, मैं सीखने की कोशिश करूँगा। लेकिन मैं खुश हूँ, आप तो देखती हैं। अच्छा-बुरा लगना, ये चीजें सोसायटी की हैं। वहाँ तरीके हैं, कायदे हैं। लेकिन सोसायटी गिरेगी और सब टूटेगा। वे तरीके चन्द दिन के हैं। वे बनते हैं, मिटते हैं। सुनो, यू लव हिम?''

मैंने अचरज से पास बैठे उस आदमी को देखा। उनकी स्वच्छन्दता पर मुझे प्रतिवाद करते भी न बना, वह इतनी अप्रत्याशित थी।

''मैं कहता हूँ, नहीं।''

मैं चुप रही। कहती तो जोर से कहती और वह गलत होता।

''विवाह और प्रेम दो अलग-अलग बातें हैं। क्या कहती हो?''

''आपको मालूम है, उनके कहने से मैं आपके साथ आयी हूँ। आपको ख्याल नहीं है?''

''ख्याल है और मैं उनका कृतज्ञ हूँ। पर सच, सच होता है। तुम झूठ पर कर्तव्य को नहीं बाँध सकतीं।''

मैंने कहा, ''सुनिए, मुझे वापस पहुँचा दीजिए।''

''जरूर-जरूर, घर की चाबी आपको सँभलवा दूँ और इन्तजाम बता दूँ। सवेरे तक मैंने कहा न, मुझे निकल जाना है।''

मैं चुप रहना चाहती थी, पर विवश पूछ बैठी, ''कहाँ?''

''कहाँ! यह भगवान के जानने की बात है साहब, हम खुद भी नहीं जानते।''

मैंने घबराकर कहा, ''क्या-आ?''

लाल मेरी घबराहट पर हँस दिये, बोले नहीं।

गाड़ी को उसी ऐहतियात से फर्लांग भर दूर छोड़ा। पीछे की तरफ से उसी ढंग से फुर्ती से दीवार लाँघकर वह मकान में दाखिल हुए और मेरे लिए दरवाजा खोला। मुझे अन्दर लेकर उसी तरह उसे बन्द कर दिया। मकान सुनसान था। उसकी सजावट वही थी जो हमने मिलकर की थी। बड़े कमरे में सोफा पर मुझे बैठाकर टहलते वह अपने को खाली करने लगे। वह भरे थे और मैं तब सिर्फ उपादान थी। बताया कि सुखदा, इस बीच बहुत कुछ हो गया है। मेरी जान जोखम में है। यह तो नयी बात नहीं है, लेकिन दिलचस्प चीज यह है कि यह काम प्रभात ने अपने हाथ में लिया है। मुझे अनिष्ट ठहराया गया है। अभियोग है कि आर्य ऋषियों की लीक पर मैं नहीं चलता हूँ। सुनती हो सुखदा, ऋषि अपने समय में हो गये और चले गये। उनकी लीक ठीक तरह कैसे, किधर जाती है, मैं नहीं जानता। लीक पीटना क्या आना ही चाहिए? सुनो, नया इंकलाब आ रहा है। वह उठा पश्चिम में है, लेकिन वह पूरब का है। पूरब-पश्चिम उसमें एक हैं, एक होंगे। वहाँ लीक नहीं है। वह चीज अतीत की नहीं है, क्योंकि भविष्य की है। हमारे अदब-कायदे, शिष्टता-सभ्यता साँचे हैं जो प्रभुओं ने हमारे लिए गढ़े हैं। वे हैं कि उन्हें ओढ़कर हम उनके नीचे पनपें नहीं, खुलें नहीं। लेकिन अतीत को जकड़ नहीं बनने दिया जा सकता। देश को हम आजाद चाहते हैं। अपने को जकड़ने से वह न होगा। सुनो, तुम नहीं आयी न, और अच्छा हुआ कि नहीं आयी।...मैंने कहा कि भावुकता पर बुनियाद बाँधकर हम जन-आन्दोलन नहीं खड़ा कर सकते। आत्म-त्याग आदि की बातें ठीक हैं, लेकिन उनसे शेर की दाढ़ में पहुँचकर आराम से मरा जा सकता है, उन दाढ़ों को उखाड़ा नहीं जा सकता। उस तरह शेर को हम पछाड़ नहीं सकते। वह शेर साम्राज्यवाद है। पेट की तरफ से वह पूँजीवाद है। हमको आर्थिक कार्यक्रम चाहिए। राजनीतिक पहला कदम है, असली काम आर्थिक है। और मैंने कहा कि हमारी कार्य-पद्धति अब तक भावात्मक रही है। हरिदा का मेरा मन में आदर है, लेकिन वह नेतृत्व आगे काम नहीं देगा...हुआ क्या फिर, जानती हो? मेरे थे उनमें बहुत, मेरे नहीं रह गये, और जो मुझे अपना नहीं मानते थे, वे दुश्मन बन गये। दुनिया अजीब है, सुखदा। कभी उन पर मेरी शह थी। लेकिन छोड़ो। जानती हो सुखदा, मैं कौन हूँ, कौन था? तुम सोचती होगी मैं स्वतन्त्रता लेता हूँ, लेकिन स्वतन्त्रता के सिवाय दूसरा कुछ मैं जानता नहीं। मैं कुछ और हो नहीं सकता। लेकिन मैं अपनी बात नहीं करूँगा, वह स्वार्थ होगा। आओ उठो, मकान देख लो, यह चाबी है। मैं अब...। छोड़ो, आगे का कुछ पता नहीं है। प्रभात तुम्हें मिलेगा या उसे खुद बुला भेजना। कहना, अपनी पढ़ाई करे, काबिल बने और इन झंझटों से बचे। मुझे मारना मुश्किल नहीं है। उसके लिए मैं उसे और आसान बना सकता हूँ। यह जिन्दगी मेरी

अपने तन की सेवा में बीती है। उसमें कीमत नहीं है कि उसे रखना मैं चाहूँ या कोई उसे लेना चाहे। लेकिन देखता हूँ कि उसके भी गाहक हैं। पीछे उन्हें मालूम होगा कि वे भूल में हैं। इसलिए नाहक पाप का पुण्य मैं उन्हें कैसे दूँ। आओ देख लो, सब वैसा ही है जैसा उस रोज छोड़कर हम गये थे। है न! बड़े वक्त से उस रोज हमने सब किया और अपनी तदबीर बड़ी काम आयी। नहीं तो जाने क्या होता! भेद खुल चुका होता और...दिखा सब मैं तुम्हें इसलिए रहा हूँ कि तुम इतने इन्तजाम सोच लो। प्रभात का ठौर-ठिकाना नहीं है, उसे इसमें बसा सकती हो। यहाँ मैंने एक लड़के का बन्दोबस्त किया था जो काम करता था। किराये पर बाजार से एक स्त्री बुला रखी थी जो मकान को ऐशगाह की सूरत दिये रखती थी। दोनों को छुट्टी दे दी है। मेरा सामने आना अब खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि मैं अमीर हूँ, देशद्रोही हूँ, चरित्रहीन हूँ और...लेकिन तुम ऐसा इन्तजाम कर देना कि प्रभात रह सके और उसके जैसे दो-चार पढ़ने वाले जरूरतमन्द भी रह जाएँ। खर्च दो का था, वह बराबर रहेगा। और भी...पर सब देख लो पहले।

इस तरह मुझे कन्धे से बगल में लेकर चारों तरफ से मकान दिखाया। उन तस्वीरों के आगे रुककर उन्हें देखते हुए कहा, ''नहीं, अब इनकी जरूरत नहीं है। जरूरत मुझ चरित्रहीन के लिए थी और मैं तो जा रहा हूँ। इन्हें उतार देना या लाओ अभी देखते-देखते वे तस्वीरें खींचकर उन्होंने पटक दीं। यह कहते हुए जाने वह क्या बड़बड़ा गये। मेरे लिए मौका नहीं था कि मैं बोल सकूँ। सब इतनी अनिवार्यता से हो रहा था कि मैं देखती थी और झेलती ही रह सकती थी। जैसे मैं उस समय थी ही नहीं। एक आवेग भीतर से उनको मथे जा रहा था और वह सम्पूर्णता से उसके थे। उन्होंने कहा, ''मैं अपने बारे में बात नहीं करूँगा, लेकिन रुपये के सम्बन्ध में मुझ पर दया करने की आवश्यकता नहीं है, सुखदा। घर जाकर उन्हें भी इस बारे में सोचने न देना। मैं अकेला हूँ और पैसे के गुर जानता हूँ। तुम लोगों की आय सीमित है और खर्चे को आय के अन्दर रखना तुम्हारे वर्ग में धर्म माना जाता है। यह एक ढकोसला है। बच्चे को दूध नहीं मिले, शिक्षा नहीं मिले, खुद पूरी खुराक न ली जाए, और कोशिश हो कि सन्तोष रखें। यह इतना बड़ा झूठा विचार समाज में चला दिया गया है जो हमारी मध्यम श्रेणी को भीतर से खाये जा रहा है। ऊपर से इज्जत रखनी पड़ती है, भीतर से सन्तोष रखना पड़ता है। इस द्वन्द्व से जिन्दगी फटी जा रही है। नहीं, तुम पैसे के बारे में नहीं सोचोगी, मैं हूँ तब तक किसी तरह नहीं। गरीबी में सन्तोष मानकर हम क्या अमीरों की अमीरी को बहाल किये रखें? जेवर अपना रखना, अड़े-आड़े वक्त पर वह काम आता है। नहीं तो और तरह गृहस्थी में पैसा बचता नहीं। देखना, कभी सवाल न लाना कि मैं तुम्हारा कौन हूँ। मैं अपनी मौज का आदमी हूँ और पैसे ने अपने दाँत से काट-काटकर जगह-जगह समाज के शरीर में जो घाव कर रखे हैं

उन्हें धोने और फाहा देने का काम मेरा शौक हो गया है। तुम्हारे वर्ग के स्वाभिमान ने इस काम को कितना कठिन बना दिया है। अर्थ की श्रेणियों ने और काम के अवरोधों ने हमारे समाज में हजारों कुत्साओं और कुण्ठाओं को सम्भव कर दिया है।''

मैं छोटे कमरे में कोच पर बैठी सुन रही थी और सुने जा रही थी। सारे वक्त, मकान में आने के क्षण से वह शायद ही खुद बैठे हों। टहलते, कभी रुकते और फिर टहलने लगते। कभी कुरसी का सहारा लेकर मुझे देखते हुए खड़े रह जाते। उनकी बातचीत मोड़-पर-मोड़ लेती। कभी वह स्तब्ध हो जाती, कभी मन्थर, कभी उछलते वेग से द्रुत और तीखी। मैं मानो उपलक्ष से अधिक न थी। वह टक भरकर मुझे देखते तो सहसा पल-भर मुझे अपनी स्त्री-देह का भान हो आता लेकिन देखती कि उस निगाह को टिकने की सुविधा देने के लिए मैं कुछ क्षण आधार का बिन्दु बन रही हूँ, और फिर वही सिर्फ 'नहीं' रह गयी हूँ। कई बार सोचा कि मैं निश्चेष्ट और नीरव, क्यों इस आदमी के बहके आपे को इस नितान्त एकान्त में झेले ही जा रही हूँ। क्यों अपने को अपने हाथ में लेकर नहीं चली जाती वहाँ कि जहाँ मैं स्वयं होऊँ और बहुत-कुछ मेरा स्वकीय हो। किन्तु उस पुरुष के नि:शंक, निर्व्याज आत्मक्षेप की साक्षी बनकर मैं वहाँ रहती ही चली गयी। कुछ भी अपनी ओर से कहने-सुनने, करने-धरने की सूझ-बूझ भीतर न पा सकी।

अपने सम्बन्ध की यह समीक्षा मुझमें जगी उस समय जब कि वह लगातार तीन-चार मिनट तक नि:शब्द उस छोटे-से कमरे में इस तरफ से उस तरफ और उस तरफ से इस तरफ घूमते ही रहे। जगी वह, फिर सो गयी। मैं उन्हें देख रही थी। वह घूम रहे थे और घूमते ही जा रहे थे, भ्रान्त पर शान्त। अब क्या होगा? मैं यहाँ क्यों हूँ? वह क्यों हैं? मुझमें क्या है? उनमें क्या है? हाय, अब क्या होगा?

कि सहसा वह रुके, बढ़े, बोले, ''सुखदा!''

कण्ठ भर्राया था—''सुखदा!''

अब तक वह मेरी कुरसी के बिलकुल पास आ गये थे, इतने कि उनकी साँस की गर्म वाष्प का मुझे स्पर्श अनुभव हुआ।

''सुखदा!''

ठोड़ी पकड़कर उन्होंने मेरा मुँह ऊपर किया। मेरी आँखों में क्या दहशत थी! फिर ठोड़ी उन्होंने छोड़ दी। मेरा मुँह उसी तरह ऊपर की ओर टिका रह गया। तब उन्होंने झुककर निश्चेष्ट पड़े मेरे बायें हाथ को ऊपर उठाया और दोनों हाथों में लेकर दबाते और कुचलते हुए कहा, ''मैं क्या करूँ सुखदा, बता तू, मैं क्या करूँ?''

उन शब्दों की व्यथा मुझे भीतर तक चीर गयी और मैं चुप बनी रही।

तभी एकाएक वे गिर आये और मेरे घुटनों में सिर डालकर सुबक उठे, ''मैं क्या करूँ, सुखी! क्या करूँ?''

मेरे भीतर एक भी शब्द किसी ओर से बनकर नहीं उठ सका। इस प्रकार गोद में पड़े उस पुरुष के बालों को सहलाती हुई मैं बैठी रह गयी। शायद व्यथा स्वयं ही सान्त्वना है। याद नहीं कि मेरी आँखों से आँसू बहे कि नहीं। बहे हों कि न बहे हों, दोनों ही बातें एक हैं। लेकिन मेरी गोद में काफी आँसू गिरे। और मैंने पाया कि अपने दोनों हाथों में, धीमे से उस मस्तक को दोनों कनपटियों पर से सँभाले हुए मैं बड़े प्यार से कह रही हूँ, ''उठो लाल, उठो।''

वह चेहरा उठा। आँखें मेरी ओर हुईं, आँसुओं से धुली वे आँखें। और मुँह पर लज्जा से लाल, एक फीकी, आकुल, तृप्त मुस्कराहट।

उस समय मालूम हुआ कि पुरुष, दुर्दम और दुर्द्धर्ष, कभी कितना निरुपाय है। और ठीक उस समय स्त्री, अबला और असहाय, कितनी सक्षम और समर्थ है।

मैंने हँसकर कहा, ''अब चलें न?''

''चलो।''

''सवेरे जा रहे हो?''

''हाँ।''

''कहाँ जा रहे हो?''

''मालूम नहीं।''

''क्यों जा रहे हो?''

''प्रभात अपना अनिष्ट न करे, उसे बचाना है।''

''उसके लिए जाना जरूरी नहीं है। वह मैं सँभाल लूँगी।''

''नहीं, तुम उसको नहीं जानती। अपने हरिदा के लिए वह खून कर सकता है।''

''जानती हूँ, पर मेरे लिए एक खून छोड़ भी सकता है।''

''नहीं, तुम ऐसे लोगों को नहीं जानतीं।''

कहकर उन्होंने अपनी घड़ी देखी। मुझे पुरुष के इसी पौरुष पर विस्मय है। बाहर की दुनिया को पल के लिए भूले, उससे आगे वह उसे नहीं भूल सकता है। हम स्त्रियाँ इसी जगह पराजित हैं। घेरा उस पर हम बन नहीं पातीं और इसी के लिए उसकी कृतज्ञ होती हैं।

''उफ!''

''क्यों?''

''पन्द्रह मिनट ऊपर हो गये। सुनो सुखदा, अब तुम्हें पैदल जाना होगा। चाबी तुम्हारे पास है ही। घर जो अटैची है उसके पीछे जिप की जेब है। उधर उनका ध्यान अभी नहीं गया, न तुम्हारा। उसमें जरूरी रुपया पाओगी। उनको कहने की जरूरत नहीं। और सुनो, क्षमा करना, मैं कुछ जानता हूँ। बच्चे को नैनीताल भेजने में सोच-विचार न करना। दुःख है कि मुझे गाड़ी लेकर अभी एक दूर जगह जाना होगा। तुम्हें

पहुँचा न सकूँगा। और जो हुआ भूल जाना। आई एम सॉरी।''

अब तक वह सावधान, कृत-संकल्प, खड़े हो आये थे।

उस समय मानों मैं निवेदिका बन आयी, कातर कण्ठ से पूछा, ''कहाँ जा रहे हो? मत जाओ।'' किन्तु कब पुरुष स्त्री के तर्क से झुका है!

हँसकर बोले, ''आओ, चलो।''

मेरे कन्धों पर अपना भारी हाथ रखे वह मुझे ले चले। सान्त्वना का एक भी शब्द नहीं। दरवाजा खोलकर मुझे बाहर किया और मेरे पीछे उसे बन्द कर लिया। बाहर आकर मैं भूली-सी खड़ी रही। अपेक्षा में रही कि दीवार फाँदकर वह आएँगे और शायद साथ चलेंगे। ठीक तरह अभी विदा भी तो मैंने नहीं ली है। किन्तु नहीं, दो-तीन-चार-पाँच मिनट तक कहीं कोई नहीं आया। अन्त में मैं अपने को उपहास्य लग आयी और चुपचाप बढ़कर घर की ओर चलती चली गयी।

सोचती हूँ कि हाय, तू स्त्री...!

20

स्त्री के हृदय को भगवान ने कैसा बनाया है। मैंने लाल के विश्वास को धरोहर की भाँति अपने पास रख लिया, पति के साथ भी बाँटा नहीं। अटैची की जेब में से मिला पाँच हजार रुपया सुरक्षित रख दिया, किसी को बताने की आवश्यकता नहीं समझी। यह एक थाती थी जो मानों अपरिचय में एक से दूसरे को मिली थी, दुनिया उसके बीच न थी। एक पुरुष जिसे मैं अब तक ठीक तरह नहीं जानती मुझको, जो एक-दो बार ही उसे मिल पायी है, एक-साथ जाने किस मूर्खता के वश होकर अपना सब सौंपकर चला जाता है! मैं सिवाय इसके क्या करूँ कि उस मूर्खता को अपने में छिपाये रखूँ। दुनिया का जितना जो कुछ मेरे साथ था—नाते-रिश्ते, चलन-व्यवहार मानों सब-कुछ—उस रहस्य से किनारे रह जाता था। उस सबको बिना छुए, बिना कहीं किसी को तोड़े, यह व्यापार मेरे मन की गहराई में छिप बैठा। यह मेरा इतना निजी था कि किसी परस्परता में उघाड़ने की उसे आवश्यकता ही न थी। मानों गृहस्थी के और समाज के कर्तव्य जिस भूमिका पर हैं, वहाँ से उसे कोई वास्ता न था।

स्वामी ने कहा, ''सुखदा, क्या बात है?''

मैंने कृतज्ञ भाव से मुस्कराकर कहा, ''उन्हें कहीं जाना पड़ रहा है, शायद परदेश। हरीश वाले कमरे की चाबी मुझे दे गये हैं।''

''तुम्हें क्यों?''

"मालूम नहीं, शायद देने को कोई दूसरा न होगा।"

"सुनता हूँ, दल के लोग उनके खिलाफ हैं।"

"मुझे मालूम है, पर...।"

स्वामी ने निश्छल प्रसन्नता से कहा, "तुम नहीं जानती सुखदा, तुम क्या दीखती हो कि पति भी एक बार मुग्ध होकर रह जाए।"

मेरे भीतर गम्भीर व्यथा उठी। लजाकर कहा, "चलो हटो।"

स्वामी और भी विनोद पर उतर गये। वह निर्दयता उनकी निर्दय न थी। व्यंग्य का उसमें रंच न था। बोले, "सच कहता हूँ सुखदा, तुम्हें कभी देखकर मुझे होता है कि तुम क्या मेरे ही जैसे के पास होने को थीं। अगर—।"

तिनककर मैं बोली, "और कुछ कहा तो मैं अभी यहाँ से चली जाऊँगी।"

स्वामी ने मुझे देखा। आँखें आधी झँपी थीं। बोले, "अच्छी बात है, नहीं कहता हूँ। लेकिन सच तो सच ही है, रानी। लाल क्या चाहता है?"

"वह तो कहीं चले गये हैं। तुम एक काम मेरा कर दोगे? कमरे के बारे में अखबार में विज्ञापन दे दो कि कालिज में पढ़ने वाले साधनहीन और योग्य चार विद्यार्थियों के रहन-सहन की लगभग निःशुल्क व्यवस्था है और सुपात्र आवेदन भेजें! हाँ, जानते हो प्रभात कहाँ रहता है?"

"नहीं तो?"

"उसे बुलाना होगा।"

"वह तो आता ही रहता है। चिन्ता क्या है?"

"चिन्ता है। ठौर-कुठौर जाने कहाँ रहता है। कह गये हैं कि कमरे में उसका इन्तजाम कर देना। चाबी उसे सौंप दूँगी तो हल्की हो जाऊँगी।"

स्वामी ने मेरी बातों में जाने क्या देखा, बोले, "इन्तजाम! क्या मतलब? वह कुछ रुपया दे गया है?"

"रुपया!"

"यह तो ऐसे कह रही हो जैसे निधि वह सौंप गया हो और—।"

"हाँ, दे गये हैं।"

"सुखदा!"

स्वामी ने स्तब्ध-चकित भाव से मुझे देखा। मेरे मन में पीड़ा भर आयी। उन स्वामी को कष्ट से मैं कैसे बचाऊँ। इतने उदार, इतने निश्छल, इतने प्रेमल। मैंने कहा, "अटैची की जेब में रुपये रखे थे। तुम्हें शायद दीखे नहीं।"

"और शायद तुमने दिखाये नहीं। सुरक्षा—सच बताओ, यह क्या है।"

"हाँ, नहीं बताये थे। जानकर अब भी तुम्हें कष्ट हुआ है न! वही कष्ट मैं तुम्हें कैसे देती?"

स्वामी सुनकर सोचते रहे। फिर अपनी जगह से उठ आये, टहलने लगे, बोले, ''जानती हो वह कौन है? रुपया कहाँ से लाता है?''

''नहीं।''

''फिर भी हाथ फैलाकर ले लेती हो? सुखदा, यह शर्म की बात है।''

''हाँ, है।''

''फिर?''

''फिर मैं नहीं जानती। जो हो गया वह हो गया। अब वह यहाँ हैं नहीं, चले गये हैं। अनहुआ उसे नहीं किया जा सकता।''

स्वामी कुछ देर चुप घूमते रहे, फिर एकाएक बोले, ''सुखदा, तुम मुझसे क्या चाहती हो?''

उनके कष्ट से मैं भर आयी। खड़ी होकर एक साथ चलते हुए उनके चरणों में घुटनों गिरकर बोली, ''मुझे सजा क्यों नहीं देते?''

स्वामी ठिठककर खड़े रह गये। घबराकर उन्होंने पैर पीछे किया, मेरा झुका हाथ पाँव की जगह धरती को ही छू पाया। पल-दो-पल ठिठके खड़े रहकर फिर बिना एक भी शब्द कहे दोनों कन्धों से थामकर उन्होंने मुझे ऊपर उठाया। फिर गालों पर से मेरे चेहरे को अपने दोनों हाथों में लेकर ऊपर मोड़ते हुए भरपूर मेरी आँखों में देखा। तब मालूम हुआ कि प्रकृति की ओर से स्त्री की अपेक्षा पुरुष को ऊँचाई क्यों मिली है। इसलिए कि ऐसे अवसर उनके बीच आएँ। उनका झुका चेहरा मेरे चेहरे के एक इंच के अन्तर पर से, स्तब्ध, स्थिर, मेरी आँखों में देखता रहा। मेरी आँखें तब पूरी खुली न रह सकी थीं और मेरे ऊपर आया वह चेहरा मीठे पानी से भरे भावाकुल बादल की छाया-सा दीखकर रह जाता था, अलग से चिह्न नहीं पड़ता था।

क्या वह क्षण था! किन्तु अनन्त होता हुआ वह मुझे लगा। अनन्त अपेक्षा, अनन्त धैर्य। क्षण के अनन्तर पाया कि मैं अलग छिटकी खड़ी हूँ और स्वामी कह रहे हैं, ''नहीं, सुखदा, मैं थाह नहीं ले सकता। लेने की कोशिश नहीं करूँगा। क्या कहती हो—नैनीताल जाना होगा?''

''हाँ।''

तब किस आसानी से मैं 'हाँ' कह गयी, आज सोच नहीं पाती। स्त्री का क्या यह स्त्रीत्व ही है कि समर्पण में भी अपनी आन को उसे भूलने नहीं देता? ओह, इस मरे मान के कारण स्त्री इस जगत में कितनी अभागिनी है!

बोले, ''अच्छी बात है, कल ही जा सकूँगा।''

मैंने कहा, ''रुपया पाँच हजार अटैची की जेब में से ले लेना।''

स्वामी ने कहा, ''उस रुपये का अंश भी नैनीताल के लिए मत समझना।''

मैं कुछ नहीं बोली। कारण, मेरे बहुत भीतर उस सम्बन्ध में कोई वर्जन नहीं

रह गया था। जो इस अशेष भाव से अपनी चाबी-पूँजी सौंपकर एकदम तिरोहित हो गया है, वह अपना-पराया होने से अब अलग है। मैं बिना कुछ कहे तभी स्वामी को ले गयी और पाँच हजार रुपया निकालकर उनके हाथों में दे दिया।

बोले, ''यह क्या, मुझे क्यों देती हो?''

''मैं कहाँ रखूँगी?''

''रखे तो थे सेफ में।''

''तुम क्या मेरी सेफ नहीं हो?''

स्वामी मुझे देख उठे। उस दृष्टि से मुझ पर भय-सा आ छाया। कहीं अभी आलिंगन में बाँध ली जाऊँ तो मैं क्या करूँगी। लगा, दोनों हाथ बढ़ाकर, कसकर मुझे अपने में समा लेनेवाले हैं। एक भीत अपेक्षा से मैं कण्टकित हो रही। उन आँखों की चाहना मुझमें लपटें दे उठीं। लेकिन स्वामी ने अकस्मात् गहरी साँस छोड़ी, गात्र उनका शिथिल हो आया। वह वहाँ से अलग हट गये और मैं क्षण के लिए ठगी नहीं, गड़ी-सी रह गयी। एक तीक्ष्ण धिक्कार में मैंने अपने को वहाँ पीट लेना चाहा, पर कुछ न हुआ। थोड़ी देर में वह लौट आये। निपट व्यवहारी के रूप में रुपये आगे बढ़ाते हुए बोले, ''लो, इन्हें रख दो।''

उस समय दोनों ओर कहीं कुछ नहीं रह गया था और निरा व्यवहार बीच में आ रहा था। बातें हुईं कि वे नैनीताल कब, किस गाड़ी से जाएँगे; विज्ञापन कब तक दिया जाएगा, कमरे की व्यवस्था कैसे करेंगे, नौकर कब तक रख लेंगे और प्रभात और दूसरे छात्र आने पर अनुमानतः कब और कितने में एक रसोइया रखा जा सकेगा। इत्यादि, इत्यादि।

तब अनुभव में आया कि व्यवहार नाम की चीज में कितनी धार है, कितनी क्षमता है। वह दो को मिलाती है, उन्हें अलग और बँटा भी रखती है। देखा कि जैसे दो तट हैं, वह उधर हैं तो मैं इधर। बीच में व्यवहार है जो तटों को जोड़े रख रहा है। क्या जोड़े ही रख रहा है, अलग नहीं रख रहा?

मैं अपने साथ कुछ नहीं कर सकी। देखती गयी और एक-पर-एक बात तय पाती गयी। देखा कि स्वामी कल के बजाय अब आज शाम, बल्कि अभी ही जाने को उद्यत हैं—उद्यत नहीं, आतुर हैं।

देखकर असहाय व्यथा से मेरा मन भर-भर आने लगा, लेकिन मैं कुछ न कर सकी।

स्वामी आज्ञा-पालन में सचमुच उसी शाम नैनीताल के लिए रवाना हो गये और मैं जाने किस गहरी चोट से सुन्न होकर बैठी रह गयी। नहीं हो सका कि मैं उनको रोक लूँ, चरण पकड़ लूँ। कहूँ कि तुम तो स्वामी हो, मुझको दासी की तरह रखो। झटपट मेरी बात मान न जाया करो। बल्कि आगे बढ़कर जोर के साथ एकदम कह

दो कि मुझे ही तुम्हारी बात माननी होगी, नहीं तो नहीं चलेगा।

आज लगता है कि अधिकार भाव से पुरुषोचित विश्वास के साथ वह कहते हैं कि 'यह होगा' और 'ऐसे ही होगा' तो मैं मचलती चाहे जितना भी, पर बात ऊपर उनकी ही रखती और ऐसे अपने में धन्यभाव प्राप्त करती। लेकिन जो नहीं होना था नहीं हुआ। होना था वही हुआ, और किनारे से शून्य तक फैले इस समुन्दर में बिछड़कर मैं हटती ही चली गयी। यहाँ तक कि अब कहने को यह कहानी ही बनकर रह गयी हूँ।

21

दो हफ्ते यों ही निकल गये। प्रभात नहीं आया, न पता उसका मिला। और भी कुछ नहीं हुआ। स्वामी नैनीताल हो आये और जब खबर दी कि विनोद के दाखिले के बारे में पक्का कर आये हैं तो मैंने पाया कि मुझमें अब वैसा आग्रह नहीं है। बल्कि इच्छा है कि विनोद को न जाना पड़े।

''सेशन कब से है?''

''मार्च से!''

''मार्च! मार्च में वहाँ कैसे जाया जा सकता है? फीस तो नहीं दे आये?''

''तुमने कहा था न, पक्का कर आओ। नाम लिखवा आया हूँ और सौ रुपये जमा कर आया हूँ।''

मैंने बात को टाल दिया क्योंकि मेरा मन थका था। पर मैं भीतर की अकुलाहट कैसे बता सकती थी। मकान में कोई नया बन्दोबस्त नहीं हुआ था और उस पर ताला पड़ा था। मैं तबसे एक बार भी उधर नहीं गयी थी। एक अवसाद मन पर था और जीवन में अलगता फैलती चली जाती थी। कभी मैं अपने आप पर हँसती थी कि कैसी विलक्षण मेरी स्थिति है। शायद जिम्मेदारी है, पर कर्तव्य कुछ नहीं है!

तभी एक पत्र स्वामी ने मुझको दिया।

मुझे अलग से अपने पत्र पाने की आदत न थी। पूछा, ''किसका है?''

''तुम्हारा है।''

गुस्से से कहा, ''पढ़ा तो होगा, किसका है यह?''

''नहीं पढ़ा।''

अब मेरा ध्यान गया कि लिफाफा बन्द था। यह नयी बात थी। लेकिन मैंने पत्र

ले लिया और देखा मेरे हाथ में पत्र के आते ही पति वहाँ से हट गये हैं। एक बार इच्छा हुई कि चिल्लाकर कहूँ कि आओ, खोलकर मुझे यह पत्र सुनाओ। लेकिन लिफाफे की शक्ल और उस पर के अक्षर इतने नये थे कि मैं सहम गयी। चुपचाप पत्र खोला और पढ़ा।

पढ़कर मैं संकोच में हो आयी। मुझे सन्तोष हुआ कि पास में कोई नहीं है। उस समय अपना देखा जाना मुझे पसन्द न आता। लज्जा से उस समय मैं लाल पड़ आयी होऊँ तो इसमें विस्मय नहीं है। पत्र लाल का था और मैं उसे दुहरा नहीं सकती। लेकिन जाने किस साहस से स्वामी को ढूँढ़ती हुई मैं अन्दर गयी और कहा, ''पत्र लाल का है, देखोगे ?''

''मेरे लिए उसमें कुछ है ?''

''सो तो विशेष नहीं है।''

''तो नहीं।''

''शायद जापान जाएँ! आपको याद किया है।''

''होगा।'' कहकर सचेष्ट भाव से वहाँ से हटकर जिस-तिस काम में व्यस्त हो गये।

पत्र मैं किसी तरह दे न सकती थी। वह काफी शिष्ट न था। लेकिन मैं उसके लिए कृतज्ञ हुई, इतने विश्वास से वह भरा था। उसमें था कि वह जापान जाने की चेष्टा में है। आन्दोलन पुरानी लीक पर ज्यादा नहीं चल सकता। उसको नयी शक्तियों से जोड़ना होगा। घर-गृहस्थी में यहाँ का व्यक्ति अब तक जुता है और भारतीय नैतिकता उस परिधि में घेरकर उसे बन्द और निस्पन्द किये जा रही है। अब पारिवारिक नहीं, सामाजिक संस्कृति चाहिए। परिवार स्थापित स्वार्थ बनता है और सार्वजनिकता में गाँठ पैदा करता है। हमारी संस्कृति ने हमें परिवार में जड़ दिया है, इससे हम पिछड़ रहे हैं। छोटे-छोटे स्वार्थों के भँवरों में चकराते रह जाते हैं, बढ़ नहीं पाते। बिखरे बने रहते हैं, राष्ट्र में होकर सहज इकट्ठे नहीं हो पाते। मूल में है इसके हमारा विवाह जो प्यार में बाँधता है, खोलता नहीं। प्यार ही एक ताकत है, वह बँध बैठी कि सब गया। लिखा कि कई घराने उन्हें अपने यहाँ आने नहीं देते। ऐसे व्यक्ति को तुम सुखदा दूर रखोगी तो ठीक ही होगा। वह तो पास आएगा, पर तुम पास न आने दो। लिखा था कि वह मौत से नहीं, तुच्छताओं और विक्षिप्तताओं से डरते हैं, इसी से जा रहे हैं। मुझे लिखा था कि लोग पूछें तो तुम सदस्य न बनना। सही आदमी वह नहीं हैं, न वैसा माने जाना चाहते हैं। दु:ख है कि उनके चले आने से प्रस्ताव को अकृतार्थ रहना पड़ा होगा। लेकिन कहना कि इस काम के आगे भी मौके आएँगे और तब लाल हर तरह की उसे सुविधा देगा।

नहीं जानती कि पत्र में क्या था। मीठी बातें नहीं थीं। कहीं तो बेहद उधड़ी

भाषा थी। पर मेरे वह बहुत भीतर तक पहुँच सका। जैसे पत्र नहीं, वह व्यक्तित्व ही हो।

उसी रोज लगभग शाम के समय आ पहुँचा प्रभात। मुझे उस लड़के की सम्भावनाओं का पता न था। देखा कि वह चतुर हो सकता है। मैंने कहा कि अब तक कहाँ रहे, पढ़ने में इतने लगे रहे? तो उसने उत्तर में ही कहा कि हाँ, फाइनल इयर है।

जानती थी कि वह आगे-पीछे लाल के बारे में बात करेगा। इसलिए मैंने ही आगे जाकर पूछा, "क्यों भाई हरिदा कहाँ हैं? और लाल साहब का क्या हालचाल है?"

हरिदा के बारे में तो बताया कि वह प्रकट नहीं हो सकते और लाल के बारे में मालूम नहीं।

"क्यों, आजकल वह तुम्हारे काम-धाम में नहीं है? या कहीं गये हुए हैं?"

प्रभात ने कहा कि वह व्यस्त रहा है और उसको पढ़ाई से विशेष समय नहीं मिला। लेकिन क्या मुझे भी उनका समाचार नहीं है।

मैंने कह दिया कि तुम ही जब इतने दिनों से नहीं आये तो मुझे कैसे पता चलता। आखिर इस तरह की बेमानी बातचीत के बाद उसने कहा कि उनको दल की ओर से विद्रोही घोषित किया गया है और मैं (सुखदा) उनसे कोई सम्पर्क न रखूँ।

मैंने आश्चर्य से कहा, "क्यों, क्या हुआ?"

"उन्होंने अनुशासन भंग किया है।"

"फिर?"

"मुझ पर उनका पता लगाने का काम है। सुना है, वह आपको मिले थे। क्या यह ठीक है?"

मैंने कहा, "प्रभात, तुम्हारा बी.ए. का आखरी साल है। एक काम करो। तुम्हारी व्यवस्था मैं किये देती हूँ और तुम मन लगाकर पढ़ाई करो। बी.ए. के बाद चाहे जो करना, मैं दीदी हूँ न तुम्हारी!"

प्रभात बुद्धिमान् की भाँति धीर-गम्भीर बैठा रहा, कहा, "आपको मिले थे?"

मैंने कहा, "प्रभात, तुम लड़के हो। मेरी नहीं मानोगे?"

मेरे स्पर्श से उसकी शालीनता धीरे-धीरे कुछ गली। मालूम हुआ उसे ऊपर का आदेश है कि लाल की टोह रखे। और यह कि दल में सबसे ऊपर आज्ञा हरिदा की है और इस विषय में उनकी भी अनुमति प्राप्त हुई है।

मैं उत्सुक हुई, पूछा, "क्या हरिदा ने स्वयं कुछ कहा है?"

प्रभात फिर दक्ष और सावधान हो आया, कहा, "यहाँ के प्रधान का आदेश लाया हूँ और लाल का पता लेना है। लेकिन कमरे की चाबी आपके पास सुनी गयी है। क्या

यह ठीक है ?''

''हाँ, मेरे पास है। तुम ताला तोड़ नहीं सकते थे ?''

''ताली मुझे दीजिए और कागजात भी निकाल दीजिए, जो आपके यहाँ हैं।''

''वह तो होगा,'' मैंने कहा, ''लेकिन तुमको कहती हूँ कि तुम उस कमरे में जाकर क्यों नहीं रहते ? दो-चार और पढ़ने वाले साथियों को रख लो। खर्च हम लोग देख-भाल लेंगे।''

प्रभात ठण्डा रहा, बोला, ''लाइए।''

''क्या ?''

''चाबी दीजिए और कागज।''

मुझे यह अच्छा नहीं लगा। कहा, ''तुम लोग वहाँ क्या करना चाहते हो ?''

''वह दल का कमरा है, सिर्फ किरायेनामे का कागज उनके नाम लिखा गया है।''

''किराया कौन देता है ?''

''मुझे नहीं मालूम। शायद साहब देते हों। पैसे का काम सब उन पर था। लाइए, मुझे जाना है।''

तबीयत हुई कि उस लड़के को अभी निकाल बाहर करूँ। लेकिन मैंने कहा, ''कुछ खाओ-पीओगे तो। ठहरो...''

कहकर मैंने आवाज दी।

लेकिन वह बुत की तरह बैठा रहा जैसे किसी आदेश में से ही बना हो। कहा— ''मैं यहाँ कुछ नहीं खा सकता।''

मुझे क्रोध हो आया। कहा, ''अच्छी बात है। लेकिन मकान के उपयोग के सम्बन्ध में मेरे अपने विचार हैं।''

''मकान आपका नहीं है।''

''चाबी मेरे पास है और मकान-मालिक की ओर से अधिकार मेरे पास है।''

प्रभात के भीतर जाने क्या भर दिया गया था, बोला, ''मैंने आपको दीदी कहा। नहीं तो—दल की अवज्ञा आप न कर सकतीं। यह जगह दल के काम आने के लिए है और रहेगी। चाबी आप देंगी और उस दलद्रोही का पता भी आप देंगी।''

मुझे लड़के की उस मुद्रा में और वृत्ति में कौतूहल हुआ। हँसकर बोली, ''नहीं दूँगी तो दलद्रोही बनूँगी, यही तो! शायद तुम यही चाहते हो। जाओ, जहाँ से आदेश लाये हो वहाँ जाकर कहना कि आवश्यक समझें तो मकान के उपयोग के सम्बन्ध में मुझसे परामर्श कर लें।''

''साहब के साथ किसी तरह के सम्पर्क को दल अनिष्ट समझता है। यह भी मुझे आपसे कहने को कहा गया था।''

"कृतज्ञ हूँ। मेरी ओर से कह दीजिएगा कि आपने कह दिया है, मैंने सुन लिया है।" कहकर इच्छा हुई कि मैं उठकर वहाँ से चली जाऊँ। पर सामने बैठे उस लड़के की उस सधी एक्टिंग पर रोष लाऊँ, यह बात मुझे अपने लिए हल्की मालूम हुई। वह कह रहा था जो उसे ताकीद थी, वह उसके अपने भीतर से निकला काम तो था नहीं। मैंने कहा, "प्रभात! सच कहना, खर्च की तुम्हें तंगी तो नहीं रहती? रहती हो तो सकुचाना नहीं।"

प्रभात गुम-सुम रहा।

"रहते कहाँ हो?"

अब भी वह चुप ही रहा।

मैंने कहा, "सुनो, तुम हरिदा के विश्वासी हो। उन तक मुझे एक बार पहुँचा सकते हो। मैं कुछ बातें करना चाहती हूँ। आसपास कहीं कभी वह हों और उन्हें आपत्ति न हो तो मुझे ले चल सकते हो। उनके सामने सब बातें हो जाएँगी। बोलो, करोगे?"

प्रभात अब भी मूरत की तरह चुप बना बैठा रहा।

"सुनते हो, कहूँगी कि तुम्हें छुट्टी दे दें। क्यों भई, तुम्हारे माँ हैं? बहिन हैं?"

प्रभात मुँह बाँधे बैठा रहा, बोला नहीं।

मैंने हँसकर कहा, "तुम दल के सच्चे सदस्य हो। आओ, तुम्हें शाबाशी दूँ।" मैं उठकर पास जाकर सचमुच उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ देने और कन्धे थपथपाने के लिए बढ़ी। पर इससे पहले ही तीर की तेजी से वह तना और अलग खड़ा होकर बोला, "लाइए, दीजिएगा या मैं जाऊँ?"

एकाएक उसकी माँग की संगति मैं न जोड़ सकी। कहा, "क्या माँग रहे हो?"

"चाबी चाहिए और साहब का पता।"

मैंने खड़े-ही-खड़े कहा, "सुनो प्रभात, दलद्रोही का तुम क्या करते हो? वह मेरे साथ भी कर सकते हो।"

बोला, "देखता हूँ, उस धूर्त ने आपको भी फाँस लिया है। आप उसकी नयी शिकार हैं। बदमाश!"

उस कच्ची उमर के बालक से ऐसी कड़वी और तीखी बात सुनकर मेरा मन क्षुब्ध हो उठा। मैंने कहा, "प्रभात!"

वह मेरी निगाह पर पानी होने को तैयार न था। बोला, "क्या आप इतनी भोली हैं कि आपको कुछ नहीं मालूम?"

मैंने हाथ से दिखाकर कहा, "प्रभात, अभी यहाँ से चले जाओ।"

प्रभात पर कुछ असर नहीं हो रहा था। कहा, "धूर्त! भोले-भाले शिकार फँसाता ही जाता है। लेकिन इस बार...।"

''निकल जाओ।''

''जाता हूँ, लेकिन वह बचेगा नहीं। पर स्त्रियों की जाति सब अन्धी होती है।''

अब मेरे क्रोध का ठिकाना न रहा। कान से पकड़कर मैं उसे बाहर कर देने को बढ़ी। वह अपनी जगह से बोला, ''अब दीदी नहीं कहूँगा। देखिए, मुझे हाथ न लगाइएगा, नहीं तो...।''

शायद हमारी आवाजों में तेजी आ गयी थी। देखा कि एक तरफ से तुलसी (नौकर) कमरे में आ गया है। मैं जब्त से बोली, ''क्यों रे! इतनी देर में आया है! क्यों, आवाज नहीं सुनी गयी! दो गिलास लस्सी बनाकर लाओ (प्रभात से) बैठो भई, मैं समझी, तुलसी है नहीं।''

तुलसी कुछ असमंजस में था।

प्रभात ने कहा, ''अब इजाजत दीजिए।''

''बैठोगे नहीं? (तुलसी से) तुम ज़ाओ, जल्दी करो।''

तुलसी चला गया। लेकिन प्रभात अपनी टेक भूला नहीं, बोला, ''चाबी दे सकती हैं तो अच्छा है। नहीं तो ताला ही तोड़ना होगा।''

''ताला तुम तोड़ोगे! हरिदा की बात तक नहीं ठहर सकोगे?''

''नहीं, दादा की दरकार नहीं है।''

मैंने कहा, ''तो तुम ताला नहीं तोड़ सकोगे।''

''हाँ—आँ? अच्छा देखिएगा।''

प्रभात उठकर सीधे मुड़ा और चला गया, प्रणाम तक नहीं किया।

उसके इस व्यवहार से एक-साथ मेरे भीतर कुछ टूट गया। मैं सोचने लगी कि क्या जहर है ऐसा जो कोमल को कलुषित कर देता है और मीठे को तीखा। तरुण वय का यह प्रभात कैसा नम्र और सौम्य प्रतीत हुआ था। कैसी उसके लिए मेरे मन में भावनाएँ थीं। लेकिन किस स्पर्श से वह अब यों कठिन बन आया है। मेरे मन में अश्रद्धा हो आयी। किसके प्रति, यह नहीं जान सकी थी, पर शायद उस पद्धति के प्रति जहाँ व्यक्ति का मानव कुचल दिया जाता है और वह किन्हीं बाहरी आदेशों के हाथों जड़-यन्त्र की भाँति व्यवहार कर आता है।

याद पड़ता है कि जीवन में पहली बार उस अवसर पर मुझमें एक कर्तव्य का उदय हुआ। तय किया कि उस मकान के दायित्व को इस आसानी से हाथ से नहीं जाने देना होगा। इसलिए नहीं कि एक व्यक्ति के विश्वास में से वह आया है, बल्कि इससे कहीं ज्यादा इसलिए कि आतंक के जोर से वह लिया जा रहा है। मेरी सारी मनुष्यता उस प्रतिकार के लिए चमकदार उठ आयी और स्वामी के घर आने पर मैंने उनसे कहा, ''सुनो जी, प्रभात आया था और मकान की कुंजी माँगता था। मैंने नहीं दी।''

''क्यों, दे क्यों नहीं दी?''

''सुनोगे भी कि बीच में बोलोगे? कुंजी नहीं दी, क्योंकि मकान अपना बनाकर रखना है और किसी अच्छे काम में लाना है!''

''पर वह अपना तो है नहीं।''

''क्यों नहीं है अपना? रुपया देकर कुंजी सौंप गये हैं, सो?''

''पर कमरा उसका भी तो अपना न होगा।''

झींककर मैंने कहा, ''मैं नहीं जानती। अभी जाकर तुम कुछ इन्तजाम नहीं कर सकते कि चौकसी रहे? नहीं कर सकते तो वैसा कहो।''

स्वामी को शायद न मैं समझ आयी, न बात समझ आयी। कहा, ''क्या हो रहा है तुम्हें? मकान कोई उठा तो ले नहीं जाएगा।''

मैंने कहा, ''अच्छी बात है। तुम बैठो, मैं देख लूँगी।''

स्वामी ने बात को महत्त्व नहीं दिया और मैंने भी फिर उनसे कुछ नहीं कहा। किन्तु तभी शाम को मैं गयी माँ के पास। जाने क्या कह-सुनकर वहाँ से एक गोरखे चौकीदार का इन्तजाम किया और साथ लेकर उसे मकान की ड्योढ़ी पर बिठा आयी।

इस काम में रात के साढ़े दस बज गये। घर जाकर स्वामी से सब बताया और कहा, ''बुरा न मानो तो रात मैं वहीं रुक जाऊँ?''

स्वामी पलंग पर, प्रतीक्षा में, पास टेबल लैम्प जलाये कुछ पढ़ रहे थे। बोले, ''तुम मना नहीं कर गयी थीं, इससे खाना रखा है। खाना खाया तो अभी नहीं न?''

''माँ के यहाँ खा लिया था।''

''याद है न कि खा लिया था? नहीं तो भूल भी जाती हो। बोलो मँगाऊँ?''

मैंने कहा ''नहीं।''

उनकी ध्वनि जाने कैसी थी, बोले, ''जिस काम में अब तुमने साढ़े दस बजा दिये हैं, वह मर्द के करने का था। लेकिन मैं यहाँ बैठा रह गया। इस पर तुम क्या सोचती हो, बताओ तो सुखदा?''

मैंने जो पहले अनुभव नहीं की थी, कुछ वह वस्तु मुझमें इस समय भर आयी थी, जैसे एक तरह की सन्नद्धता। सूझा ही न था कि मैं एक गृहलक्ष्मी, कुलवधू हूँ, जिसकी ओर से यह प्रस्ताव कि वह घर से उठकर निर्जन एकान्त में सोये, नितान्त अर्थहीन ही लग सकता है। मन में यही एक आन यहाँ-से-वहाँ तक भरकर तबीयत को तनाव दे आयी थी। किसी भी जोर और धमकी से पराजित नहीं होना है और हेकड़ी को देख लेना है। कहा, ''आप आराम से बैठे हैं, ठीक तो है।''

''सुखदा, आओ, यहाँ बैठो।''

''कहिए, मैं हूँ तो।''

''नहीं, इधर आओ।''

मैंने कहा, ''आप खाने को कहते हैं न? लाइए, मँगाइए, खा लेती हूँ।''

''तो इधर आकर बैठो।''

''देखती हूँ आप नहीं चाहते। अच्छी बात है, नहीं खाती।''

''इधर आओ।''

''क्या है, लीजिए।''

उनके मैं पास जाकर बैठ गयी। बोले, ''सच कहो, खाना खाया था?''

''कह तो दिया, खा लिया।''

''सुखदा!''

''कहिए?''

''मुझे तुमसे डर रहने लगा है, सुखदा। तुम मुझसे सरकती जा रही हो।''

हठात् हँसकर बोली, ''कहाँ जा रही हूँ सरककर?''

''जाने कहाँ जा रही हो!''

''तुम तो खाना मँगा रहे थे!''

''अच्छी बात, लाता हूँ।''

''तुम जाओगे?''

''तुलसी को मैंने कह दिया था, आराम करे।''

''तुमने खा लिया है?''

''हाँ, कभी का।''

''झूठ, नहीं खाया?''

''गलत बात, यह देखो।''

कहकर उन्होंने मेरा हाथ लेकर अपने पेट पर रखा।

पेट को दबाते और टटोलते हुए मैंने कहा, ''यह तो तुम दोनों का खाये बैठे हो। लो, चलो, अब मैं लिये आती हूँ।''

गयी और खाना ले आयी। हम लोगों ने मिलकर खाना खाया और बातचीत की। उस हल्की-फुल्की बातचीत में सब तरह का सब-कुछ हल्का हो गया। तनाव शेष न रहा। सब मुझे बिसर गया। अपनी मेरी निजता भी मेरे भीतर भीगी और ढीली हो आयी।

ऐसे ही समय बोले, ''रानी, एक कसूर माफ करोगी! तुम्हारे पीछे लाल का पत्र मैंने पढ़ लिया था।''

मैं कुछ उस बात का मतलब न समझ सकी। जैसे चेतना ने उसको किसी और से ग्रहण ही नहीं किया।

''लाल तुम्हें प्यार करता है।''

मैं वहाँ पड़ी उनकी दृष्टि को अपने ऊपर देखती रह गयी।

''और तुम सोचती होगी कि तुम प्यार नहीं कर सकतीं।''

मैं उस स्थिति में आँखें फाड़े निश्चेष्ट सब सुनती रही। न हिल सकी, न डुल सकी, न जोर से दोनों हाथों से अपने मुँह को ढँक ही सकी। बायाँ हाथ उनका मेरे बालों में था, दाहिने में मेरा दाहिना हाथ थमा था। पर इस समय उनके हाथों की उँगलियाँ जहाँ थीं वहाँ अब निष्क्रिय हो आयी थीं और वहाँ...।

''नहीं, वह सच नहीं है। प्यार उसे कष्ट देता होगा। तुम्हें भी वह कष्ट देगा। वह कष्ट ही देता है। शायद दे रहा है। बस यही बात है। ज्यादा और कुछ नहीं है। तुम मानो, सुखदा, और बात नहीं है।''

जिसके सहारे थी, उसी की ओर से आनेवाली नृशंस सहृदयता मैं झेलती चली गयी। उनकी दाहिने हाथ की उँगलियों में क्रिया आयी। मेरी उँगलियों को उन्होंने कसा। फिर बहुत हौले, बहुत धीरे, मानों कुछ छलक न जाए, मेरे हाथों को ऊपर उठाया। पाया कि मेरी हथेली को उन्होंने अपने होंठों से छुआ है और भर्राये कण्ठ से कह रहे हैं, ''प्यार कष्ट देता है, मेरी सुखी!''

सिर्फ छुआया, फिर उसी आदर के साथ मेरे हाथ को यथास्थान लिटाकर छोड़ दिया। तब उनका दाहिना हाथ मेरे माथे पर आया और बालों को उससे पीछे हटाते हुए मुझ पर झुककर बोले, ''कष्ट देना अच्छा नहीं है, मेरी रानी।''

मेरी आँखें झपी थीं। निश्चय मैं कष्ट पा रही थी। शायद खुद मैं कष्ट हो रही थी। पर नहीं, नहीं, मैं कष्ट देना नहीं चाह रही थी। पर उस समय कैसी मैं अवश थी! सुध मुझमें से खिंची चली जा रही थी। संज्ञा मुझमें रही कहाँ थी!

आगे की मुझे सुध नहीं है। सुध हुई तब पाया मैं वहीं हूँ और स्वामी बर्फ की सिल से ठण्डे अलग कुर्सी पर आँख फैलाये बैठे हैं।

22

कल का अपना लिखा अभी मैंने पढ़ा है। यह मैं क्या लिख गयी! उसका एक अंश न लिखा जाता तो अच्छा था। सिर्फ अनकहा रहने से तो कुछ असत्य हो नहीं जाता। पर एक बार कहकर फिर उसे फेरने से तो वह असत्य हो ही जाएगा। इससे अब लिख जाने पर काटूँ तो किस विरते पर! असत्य तो वह है नहीं, सत्य ही है। और इतना सत्य कि उस दिन के बाद मैंने अनुभव किया कि घर में मेरा सम्भ्रम और आदर बढ़ गया है, क्योंकि अपनापन घट गया है। स्वामी ने मेरे साथ स्वतन्त्रता लेना छोड़ दिया है।

व्यक्तित्व का आदर! इस मरे व्यक्तित्व के आदर ने मुझे जला कर खाक कर

छोड़ा है। कब मैंने आदर चाहा था! लेकिन घर पर भी अपने लिए जब आदर ही सुरक्षित देखती हूँ तो फुँककर रह जाती हूँ। किन्तु और कुछ भी नहीं हो सका। उस रात के बाद से पति के निकट मैं आदरणीय बनती गयी, आशय कि अलग बनती गयी। मैं अपने इस दुर्भाग्य को उस समय ठीक और पूरी तरह नहीं समझ सकी थी, आभास लेकर ही रह गयी थी। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, मैं पाती गयी कि हमारे संयुक्त जीवन के तल में नीचे एक तरेड़ बनती गयी है। ऊपर घर एक रहा है, भीतर मन दो धारों में बह चला है। आँख उठाकर मैं स्वामी को देखती—देखती कि वह सौम्य-मुख, बद्ध-कर्तव्य, नियत-नियुक्त भाव से चल रहे हैं, मुझ पर अपनी किसी माँग का आरोप नहीं लाते हैं। उस समय लाख-लाख धिक्कार मुझे दंश दे उठता। पर होनहार के नीचे मैं बेबस बनी जैसे कुछ भी प्रति-यत्न न कर पाती। स्वामी तो कभी अभियोग मुझ तक लाने वाले न थे, तब मैं ही मुड़कर उनके समक्ष एक साथ नत-नम्र कैसे जा बनूँ। यह किसी तरह मुझे सूझ न मिलता था।

मैंने कहा, ''कुछ दिन के लिए, तुम कहो तो, मैं उस कमरे में जाकर रह जाऊँ? बस जाने पर फिर किसी की आँख कमरे पर न होगी।''

बोले, ''हाँ-हाँ, जरूर। बल्कि तुलसी को ले जाओ, सुभीता रहेगा।''

उस उत्तर पर मैंने उनकी ओर देखा। हाय, मेरी चिन्ता के सिवाय उनकी दृष्टि में दूसरा कुछ मुझे नहीं दीख सका। तब मैं कैसे क्या करती?

मुझे यों देखते देखकर बोले, ''एक लड़का मैं यहाँ के लिए देख लूँगा। पाँच-सात रुपये में हो जाएगा। बहुत-से-बहुत हुए तो दस। कहूँ तुलसी को बुलाकर?''

मेरा मन बुझ आया। एक बार सोचा कि यह कौन होते हैं कि फिसलती हूँ तो उस फिसलन पर यह मुझे और वेग दे दें! लेकिन अपनी ही उठायी बात से पीछे फिरने का मौका न था, अतः कहा, ''तुलसी चल सकेगा?''

''क्यों नहीं चल सकेगा, नहीं तो नौकरी से हाथ धोएगा।''

''तुम्हारे खाने-पीने का इन्तजाम?''

''मेस खाना!'' वह हँसे, ''इसकी भी तुमने बड़ी फिक्र की।''

''तुलसी वहाँ रहेगा तो वहीं खा लिया करना।''

''हाँ, सो क्या हुआ। अच्छा वहीं खा लूँगा। वह छोड़ो...तुलसी! ओ तुलसी!''

मैंने कहा, ''अभी ठहरो, जल्दी क्या है।''

बोले, ''यह नौकर हरामखोर होते हैं। देखो, दो आवाजें दीं। किसी ने सुना?''

''अरे ओ तुलसी के बच्चे, कहाँ है?''

कहते-कहते व्यस्ततापूर्वक उठ खड़े हुए और वहाँ से चले गये। मैं बैठी सामने दीवार में देखती रही, निश्चेष्ट, निरुपाय। थोड़ी देर में उसी व्यस्त भाव से तुलसी को

लेकर वह आ उपस्थित हुए।

मैं चुप बनी रही। खुद ही बोले, ''तुलसी, तुम्हारी बीबीजी को एक जगह कुछ दिन के लिए जाकर रहना है। साथ तुमको जाना होगा। आज ही जा सकते हो?''

तुलसी को आपत्ति न थी। बीबीजी का हुक्म हो तो अवश्य आज ही जा सकेगा।

देखा कि जाने के सम्बन्ध की तैयारियाँ एक-एक कर तय होती जा रही हैं और मैं एकदम गूँगी बनी बैठी हूँ। आखिर यहाँ तक कि खुद स्वामी जरूरी सामान लेकर मेरे देखते-देखते तुलसी के साथ रवाना हो गये और मैं काठमारी बैठी-की-बैठी रह गयी, जैसे कुछ पता न हो कि क्या हो रहा है।

लौट कर स्वामी ने कहा, ''वहाँ सब ठीक हो गया है। लो, अब चल सकती हो।''

मैंने उन्हें देखते हुए कहा, ''कितने दिन मुझे वहाँ रहना होगा?''

असमंजस में बोले, ''क्यों, तुम वहाँ रहना चाहती थीं न?''

''तुम मुझे निकाल रहे हो, बताओ कब तक के लिए निकाल रहे हो?''

स्वामी ने कहा, ''सुखदा!''

''निकलने से मैं इनकार नहीं करूँगी।''

स्वामी बोले, ''सुखदा, मैं तुम्हें समझा नहीं। ठीक बोलो, नहीं जाना चाहतीं?''

मैंने धीमे से कहा, ''नहीं, चलो।''

स्वामी उस मेरे धीमे स्वर पर कुर्सी में बैठ गये, बोले, ''तुम यहाँ सुखी नहीं हो सुखदा, शायद वहाँ तबीयत लगे। लेकिन यह तुम्हें हो क्या गया है?''

मैंने जोर लगाकर कहा—''बैठ क्यों गये? चलना है तो चलो।''

''सामान तैयार है?''

''सामान क्या होगा, मैं तैयार हूँ।''

स्वामी व्यस्त हो आये, बोले, ''देखो, रूठो नहीं, चीज-बस्त जो लेनी हो, तैयार कर लो। बल्कि तभी कर लेनी थी जब मैं गया था। यह क्या हो रहा है तुम्हें?''

''तैयार कर लूँ?''

''अरे लो, इसमें मुझसे क्या पूछती हो?''

''कर लूँ तैयार?''

''हाँ-हाँ, क्यों नहीं।''

''अच्छी बात है, करती हूँ।''

कहकर मैं वहाँ से हटकर अन्दर गयी। भरते आते आँसू पोंछे, फिर सामान तैयार किया। यह मैं क्या कर रही थी? लेकिन फिर भी किये जा रही थी।

''हो गया भई? हो गया? टैक्सी आ गयी है।''

मैंने सुना और देखा कि हड़बड़ाते हुए वह अन्दर आ गये हैं। मैंने धीमे से कहा,

''हो गया!''

उन्होंने आसपास चारों तरफ देखा, बोले, ''बस?''

''बस।''

बोले, ''चलो सामान फिर पीछे भी पहुँचता रह सकता है। आओ!''

अटैची मेरे साथ लिये और मुझे मानों बाँहों में घेर कर चल दिये। टैक्सी पर और भी कुछ सामान था जो उन्होंने ही तैयार किया होगा।

मकान पर गोरखा चौकीदार मिला और मैं बिना उसे देखे अन्दर चली गयी। तुलसी ने सब ठीक कर रखा था। लेकिन मेरा ध्यान उधर नहीं था। मैं अब एकान्त चाहती थी, किसी को पास नहीं चाहती थी। स्वामी ने अभ्यर्थनापूर्वक मुझे छोटे कमरे में लाकर पलँग पर बिठाया, फिर थोड़ी देर में आकर बोले, ''खाना अभी तैयार हो जाएगा। अच्छा मैं चलूँ।''

मेरा मन बैठा जा रहा था, कहा। ''तुम खाकर जाते।''

''मैं? मुझे एक काम है।''

''यहाँ नहीं खाओगे?''

''वाह, और कहाँ खाऊँगा। लेकिन...।''

''तुम्हें मेरी कसम है जो बिना खाये गये।''

स्वामी व्यस्त दीख आये, बोले, ''तुम क्या समझती हो मैं भूखा जाने वाला हूँ? तो जाओ, जाकर देखो, कितनी देर-दार है, मैं बैठा हूँ।''

मैंने कहा, ''तुम वहाँ आदमी रखोगे?''

''कहाँ?''

''घर पर।''

''और नहीं तो क्या?''

''यह ट्रंक मेरे सामान के साथ क्यों आया है?''

आश्चर्य से बोले, ''ट्रंक! क्यों, इसमें जेवर है, रुपया है।''

''तो यहाँ क्यों आया है?''

''इसीलिए तो आया। मर्द हिफाजत नहीं जानते। वहाँ कौन इसकी देखभाल करता। मैं...?''

मैंने साँस लेकर कहा, ''अच्छी बात है। जैसी तुम्हारी इच्छा।''

लेकिन जल्दी मचाकर बीच में ही वह बोले, ''वह अखबार तुमने देखा है न, जो अमरीका से आता है, हेल्थ और जाने क्या। बहुत दिनों से सोचता था। अब ख्याल है कि कल कुकर ले आऊँगा। आग से विटामिन सब...। कुकर के बने में तत्त्व पूरा रहता है, नष्ट कुछ नहीं होता। उससे तन्दुरुस्ती...।''

मैंने जोर से कहा, ''तीनों वक्त तुम्हें यहीं खाना होगा। सुनते हो?''

स्वामी ने हँसकर कहा, ''यह तो जुल्म होगा, सुखदा। तुम देखना एक बार, कुकर का खाना वह लजीज होता है कि—तुम मानो—बड़ा अच्छा रहता है।''

मैंने कहा, ''चुप करो और जरा बैठो। हो गया होगा तो खाना मैं अभी ले आती हूँ।''

लेकिन इन तरीकों से जो साफ था और सामने था, ओझल नहीं किया जा सकता था। और मैंने पाया कि मेरा वहाँ रहना शुरू हो गया है। स्वामी फिर दो रोज तक नहीं आये। तुलसी को घर भेजा, लेकिन उसने आकर कह दिया कि घर बन्द है। इन दो रोज, किसी और तरह का विघ्न नहीं हुआ। प्रभात का कोई समाचार न मिला, न कोई और आया।

तीसरे रोज माँ आयी। आते ही पूछा कि यह तूने क्या किया है री ? मैंने माँ का सत्कार किया और बात टालकर विनोद के बारे में पूछा। माँ ने वही टेक रखी, ''क्यों लड़की, तूने यह क्या किया है?''

मैंने उत्तर में पूछा, ''वह तुम्हें मिले थे, माँ!''

''हाँ, एक बार मिला था। विनोद को साथ ले गया था कि घर लिये जाता हूँ। तेरे यहाँ रहने की खबर तो तब मुझे थी ही नहीं। यह तो शाम को खबर मिली।''

''विनोद को ले गये हैं? कहाँ ले गये हैं?''

''मालूम नहीं। लेकिन यह तेरी मत को क्या हुआ कि तू अलग आन पड़ी! वह नाराज हुआ था तो इसका मतलब था कि तू यह कर गुजरे?''

''वह तो नाराज नहीं हुए।''

''फिर तू यहाँ क्यों है और वह कहाँ है?''

मैंने आश्चर्य से कहा, ''विनोद और वह दो रोज से नहीं हैं! कहाँ गये हैं?''

''कैसी लड़की है कि मुझसे पूछती है, कहाँ हैं? मैं तो विनोद को देखने घर गयी, वहाँ से यहाँ आयी। सीधे आती, पर सोचा विनोद को देखती चलूँ कि कैसा है। तुझे भी नहीं पता कि कहाँ है?''

''नहीं माँ, दो रोज से वह यहाँ नहीं आये।''

माँ चिन्तित हुई और मुझे भी चिन्ता हुई। माँ तो खैर समझा-बुझाकर और यह कहकर कि पता लगते ही उन्हें खबर देना न भूलूँ, चली गयी। लेकिन मेरी चिन्ता का पार न था। उस दिन कई बार तुलसी को घर भेजकर दिखलाया, लेकिन वह हर बार बन्द मिला।

इस पर कुछ देर मैंने सिर हाथों पर रखा, फिर होनहार के आगे झुका दिया। अगले दिन सवेरे चार आदमियों का दल मुझसे मिलने आया। वह बाहर ही रोक दिया गया था और गोरखा पहरेदार मुझे उसकी सूचना देने की भी इच्छा नहीं रखता था। लेकिन आखिर खबर पाकर मैंने उन्हें भीतर बुलवाया।

नरेश को और शर्माजी को तो उनमें पहचाना। शेष दो का परिचय नरेश ने दिया। एक कोहली थे, अन्य का नाम ठीक याद नहीं, शायद केदारनाथ बताया गया था। यह अन्तिम सज्जन अन्त तक नहीं बोले, लेकिन दृष्टि उनकी सबसे तीव्र मालूम होती थी। वे मकान के सम्बन्ध में आये थे। कोहली उनके प्रमुख थे। उन्होंने पूछा कि यह मकान क्या मैं रखना चाहती हूँ?

उत्तर में मैंने पूछा कि कृपया बताएँगे, मकान की स्थिति क्या है?

इससे अधिक विशेष मालूम नहीं हुआ कि मकान लाल के प्रयत्न से तय हुआ है, शायद पहले से उसके पास था। लेकिन दल के प्रयोजन के लिए था और इसीलिए अब भी उसी काम के लिए रहना चाहिए।

मैंने कहा कि आप लोग जैसा आदेश उनसे ले आएँगे, उसी प्रकार मैं करने को बाध्य हूँ। स्वयं मेरा कोई अधिकार नहीं है।

कोहली ने कहा कि अब लाल के आने की सम्भावना अधिक नहीं है और उनके आदेश की भी आवश्यकता नहीं है। हम लोग आपको निश्चित कर सकते हैं कि लाल की तरफ से आपको कोई अड़चन न होगी। हमें यह भी आशा है कि आप इसको अपने निज के उपयोग के लिए नहीं चाहती।

मैंने कोहली को देखा। कोई तीस वर्ष का युवक होगा। मैं उसके सम्बन्ध में विशेष न जानती थी। लेकिन उसके चेहरे पर मुझे काठिन्य दीखा और व्यंग्य।

मैंने कहा, ''क्षमा कीजिएगा, मेरा स्वत: अधिकार कोई नहीं है। श्री लाल के आदेश से ही मैं इस सम्बन्ध में कुछ कर सकती हूँ। प्रयत्न आप उसी दिशा में कीजिए।''

इसी बीच तुलसी वहाँ आ गया था। उसके हाथ में थमी ट्रे से गिलास मैंने कोहली की ओर बढ़ाते हुए कहा, ''लीजिए, यह लीजिए।''

उसने कहा, ''क्षमा कीजिए, हम लोग...।'' कहकर वह आगे बढ़ने के बजाय कुर्सी में और पीछे हो बैठा।

मैंने कहा, ''लीजिए।''

कुछ देर मेरा हाथ गिलास आगे बढ़ाये यों ही थमा रहा।

शर्माजी ने कहा, ''लाइए, मुझे दीजिए।'' कहकर कुरसी से उठकर वह आगे बढ़े और गिलास मेरे हाथ से ले लिया। फिर नरेश ने, फिर उन चौथे सज्जन ने। अन्तिम गिलास कोहली की ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा, ''अब तो लीजिएगा।''

कोहली ने गिलास लिया और एक ओर से तिपाई खींचकर उस पर रख दिया, बोला, ''श्रीमतीजी, आप शायद सोच-विचार से काम नहीं ले रही हैं। देख लीजिए अगर आप...''

मैंने कहा, ''इस गिलास ने तो आपका कोई कसूर नहीं किया!''

"जी, धन्यवाद। तो क्या लाल को बुलाना जरूरी है?"

मैंने कहा, "जी नहीं, उनकी एक लाइन काफी है।"

कोहली ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "आप उनकी कुछ होती हैं क्या?"

सुनकर मुझमें खून दौड़ आया। शायद मैं सुर्ख पड़ आयी, जल्दी में जवाब नहीं दे सकी। बोल उठी, "क्या?"

"कुछ नहीं, माफ कीजिएगा। मैंने समझा शायद कोई रिश्ता हो!"

उसकी धृष्टता पर मैं चमक आयी। कहा, "जी रिश्ता है। वही जो आपके साथ है। हमदर्दी का रिश्ता। वह न होता तो आपको...।"

कोहली और उद्धत हो आया। कहा, "माफ कीजिएगा मिसेज कान्त, मिस्टर कान्त शायद यहाँ नहीं रहते?"

"जी नहीं, वह यहाँ नहीं रहते और शायद आप भी ज्यादा देर यहाँ ठहरना नहीं चाहते। तुलसी!"

"तुलसी को शायद आप हमारे लिए सवारी ले आने का कष्ट देना चाहती हैं। उसकी आवश्यकता नहीं है। सवारी हाथ है। सुनिए, मिस्टर कान्त को भी क्या यहाँ नहीं रखा जा सकता है?"

शर्मा जी डपटकर बोले, "कोहली, यह क्या बदतमीजी है?"

नरेश भी क्षुब्ध दिखाई दिया, लेकिन चौथे सज्जन पर किसी तरह का असर न था। कोहली की उद्दण्डता कम होने वाली न थी, लेकिन शर्माजी ने अपने मजबूत हाथों में उसे बाँह से पकड़कर उठा लिया, कहा, "चलो, बाहर चलो। तुम्हें अदब-कायदे का भी ख्याल नहीं है।"

कोहली, शर्मा के हाथों में उपहास की हँसी हँसता हुआ बाहर चला गया। नरेश चित्रलिखित-सा देखता रह गया। वह जैसे मेरे प्रति क्षमा प्रार्थी हो, पर बिना कुछ कहे वह भी उठा और चला गया। चौथे व्यक्ति ने उठने में जल्दी नहीं की। उसने एक भी शब्द नहीं कहा, न इस सारे काल में किसी तरह के प्रभाव का उस पर आभास दीख पड़ा। जैसे चारों ओर सब तुच्छताएँ हों और वह बहुत जानता हो। सब ओर उसे प्रीति हो और कहीं रस न हो। ध्यान पड़ता है सबके चले जाने पर कोई एक-डेढ़ मिनट तक बेकाम, बेपरवाह, बेशब्द वह वहीं अपनी कुर्सी में बैठा रह गया। फिर उठा, अँगड़ाई ली और मेरी ओर हाथ बढ़ाया। अब मेरा ध्यान गया कि वह यूरोपियन लिबास पहने है? मैंने उसका हाथ थामने के बजाय अपने दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। वह अजब तरह से मुस्कराया और बिना प्रति नमस्कार किये मुड़कर चलता चला गया। फिर लौटकर आया, कुरर्सी के नीचे रखे हैट को उठाया; फिर उसी तरह हाथ बढ़ाया और उत्तर में मुझे निश्चेष्ट देखकर हाथ वापस खींच उसी तरह मुस्कराहट से मुस्कराता हुआ बाहर की ओर ओझल हो गया।

इन चारों आदमियों की इस मुलाकात पर मैंने अनुभव किया कि अपनी प्राचीर की गृहस्थी की लकीर को लाँघकर मैं बाहर किस खुले में आ गयी हूँ! वहाँ जहाँ मर्यादाएँ निश्चित नहीं हैं और किसी प्रकार की रक्षा व्यक्ति को प्राप्त नहीं है; जहाँ सबको समान अवसर है और समान संघर्ष; हर व्यक्ति स्वयं में जहाँ निज है और दो के बीच लिहाज नहीं है, सिर्फ समानता है। मुझे इस बाहर की दुनिया का यह पहला स्वाद बिलकुल अच्छा नहीं लगा। लेकिन मालूम हुआ कि दायरा यद्यपि तोड़ा मैंने नहीं है, तो भी किसी बहाने बाहर हो रहने के बाद अब उसकी भीतर की सुरक्षा में फिर पहुँचना सहज सम्भव नहीं है।

23

तीसरे रोज भी स्वामी नहीं आये। मैं उस नये घर में, जो मेरा न था, पल-पल अजीब अनुभव करने लगी। क्या होगा? प्रभात क्या करेगा? कोहली क्या करेगा? वह तीखी आँखों वाला आदमी क्या न कर सकेगा? ऐसी तरह-तरह की दुश्चिन्ताएँ और सम्भावनाएँ मन में आतीं और कोई ठोर न मिलता जहाँ पहुँचकर मन उनसे मुक्ति पा सकता।

तीसरे के बाद चौथा दिन भी हो गया। सवेरे से दोपहर हुई, दोपहर से शाम हो गयी। कहाँ तो मुझे अन्देशा था कि घटनाएँ तेजी से होंगी, कहाँ समय सिर पर सिल-सा खड़ा लगता था। आज चौथा रोज है, निश्चय आज स्वामी आएँगे। कहाँ गये हैं, क्यों गये हैं, नहीं जानती थी। पर जानती थी कि उन्हें आज आ जाना ही होगा। नहीं तो सब-कुछ मेरे लिए निषिद्ध बन जाएगा। उन्हें आना है, आना है, आना है।

एक घड़ी, दो घड़ी। आस थी कि वह आएँगे। पर घड़ियाँ मानों सुन-सन्नाटा भरे सोयी थीं। वे सरकती न थीं, जमी थीं। उनके नीचे मेरा मन दब जाता था। सात बज गये, साढ़े सात बज गये, आठ भी बज गये। उसके पाँचेक मिनट बाद मालूम हुआ कि द्वार पर कोई आया है। निश्चय एक वही आ सकते हैं। मेरा मन उछला। इतने में कमरे के बाहर से खँखारते हुए किसी ने कहा, "आ सकता हूँ।"

और साथ ही कोई अन्दर आया।

"यह क्या! रोशनी?"

मैं कमरे में अँधेरे के साथ डूबती बैठी ही रह गयी थी। पता न हुआ था कि अँधेरे में रोशनी भी की जा सकती है। ऐसे में इस अनजान आदमी के प्रवेश पर मैं अपने में और भी सिमट आयी। डरती-सी हुई बोली, "कौन है?"

"दुश्मन नहीं है। स्विच कहाँ है?"

"तुम कौन हो?"

"दुश्मन नहीं हूँ, रोशनी करो।"

दहशत से मैं भर आयी। चीखना चाहा, पर चीख निकली नहीं। आदमी ने आगे बढ़कर मुझे मुट्ठी में पकड़ा और उठाते हुए कहा, "रोशनी करो।"

मैं इस तरह उठायी जाकर तेजी से उस कमरे से निकली और दूसरे कमरे में आ गयी, जहाँ मैंने बत्ती जलायी। वह आदमी भी उस कमरे में आया। देखा कि वही तीखी आँखों वाला है। उसने कहा, "इधर, इस कमरे में आओ, काम है।"

उसकी निगाहों में बँधी मैं कमरे में आ गयी।

"रोशनी करो।"

कमरा अब उतना अँधेरा न था और रोशनी की।

"बैठो!"

"आप कौन हैं?"

"दुश्मन नहीं हूँ?"

"आपको किसने अन्दर आने दिया?"

"खुद आया हूँ। हरीश ने आपको याद किया है।"

"कौन ?"

"वह यहाँ दिल्ली में है, जमना घाट पर। बड़े सवेरे सात और आठ के बीच में (अमुक जगह) मिलेंगे। आप जाएँगी और अकेली।"

"आप कौन हो?"

"मानिए, मैं दुश्मन नहीं हूँ।"

"मैं आपका विश्वास करूँ?"

"आपकी इच्छा है, पर करना ही अच्छा है। एक बात कहिए, साफ मन की बात। लाल को आप बचाना चाहती हैं?"

"आप कौन हैं?"

"कह दिया दुश्मन नहीं हूँ, उस दिन तो आया था। लाल को बचाना चाहती हैं तो?"

"वह कहाँ हैं?"

"सम्भव है सवेरे हो। आप उन्हें बचा सकती हैं।"

मुझे यह सब अनहोना-सा मालूम हो रहा था। इस आदमी को मैं गह न पाती थी। मैं उससे बात नहीं करना चाहती थी, लेकिन उसे मेरी रुचि-अरुचि की चिन्ता ही न थी। यह कि दुश्मन नहीं है, इससे आगे अपने बारे में कहने को वह तैयार न था और मैं अपना निर्णय न कर पाती थी। किन्तु घटनाओं का चक्र कुछ ऐसा था कि

मेरे लिए दुविधा का अवसर न छोड़ता था।

मैंने कहा, ''यदि मैं सवेरे न जा सकी...।''

आदमी बोला, ''देख लीजिए, लाल का बचना तब मुश्किल होगा।''

मैंने जानना चाहा कि मेरे जाने से बचना कैसे सम्भव है और न जाने से किस तरह असम्भव?

लेकिन उस आदमी ने ज्यादा नहीं बताया। यही कहा कि लाल का यहाँ सिर्फ वही एक दोस्त है। लेकिन वह कुछ कर नहीं सकता। मैं चाहूँ तो हरीश के क्रोध से उसे बचा सकती हूँ।

मैं यह किस झमेले में पड़ गयी थी। इस तरह के चक्कर में पड़ना होगा, यह कब सोचा था। उस सामने वाले पर रह-रहकर मेरी निगाह जाती है और मैं उसके सम्बन्ध में कुछ निश्चय न कर पाती थी। कहा, ''तुम अपने बारे में ज्यादा नहीं बता सकते?''

''नहीं, लेकिन मैं दुश्मन नहीं हूँ।''

मैंने झल्लाकर कहा, ''किसके दुश्मन नहीं हो। लाल पर खतरा बतलाते हो। खतरा जिनसे है उनके या जिन पर है उनके दुश्मन नहीं हो?''

सुनकर क्षण-भर व्यक्ति सोचता रहा, फिर उसने कहा, ''आपका दुश्मन नहीं हूँ।''

मैं झल्ला आयी , कहा, ''तुम जाओ। मैं कुछ नहीं करूँगी। मैं कुछ नहीं जानती और अब से न आना।''

आदमी अपनी जगह से हिला नहीं। बोला, ''बताऊँ, कौन हूँ?''

मैंने उसकी तरफ देखा—

''डाकू हूँ। विश्वास कीजिएगा?''

विश्वास होता था और नहीं होता था। मैं उस आदमी को देखती रह गयी।

''डाकू आदमी होते हैं। पढ़े-लिखे भी हो सकते हैं। तो आप...?''

उस आदमी की ओर देखते-देखते मुझमें से एक-साथ भय हट गया, संशय हट गया। बोली, ''मुझे सुबह ले चलोगे?''

''मैं!''

''अकेले जगह पाने में मुझे मुश्किल होगी।''

''अच्छा, जमना के चौराहे पर मिल जाऊँगा।''

मैं काफी जानना चाहती थी। यह कि डाकू पेशा कैसे उसके सिर आया, कैसे फिर इन लोगों का साथ हुआ और...लेकिन उसका अवकाश नहीं मिला। कारण, तभी स्वामी आ पहुँचे। वह प्रसन्न थे और भरे थे। उन्होंने आते ही उस व्यक्ति को देखा, ठिठके, लेकिन फिर जल्दी ही उसे भूल गये। बोले, ''सुखदा, कहो क्या हाल है?

मैं ये चार रोज कहाँ रहा, तुम सोचती होगी। नैनीताल गया, फिर अल्मोड़ा, फिर रानीखेत। विनोद को सब सैर करायी। क्या यहाँ एक चक्की-सी में जुते पड़े थे, विनोद ने वह सैर की कि क्या कहूँ तुम्हें। आप कौन हैं?''

''हरीश के साथी हैं।''

''हरीश कहाँ है?''

व्यक्ति चुप रहा।

मैंने बताया, ''यहीं है।''

''क्या! दिल्ली में ? कब से ? कहाँ? नहीं, यहाँ वह नहीं होना चाहिए। क्यों जी, (व्यक्ति की तरफ) तुम लोगों को क्या हो गया है? वह यहाँ क्यों है?''

व्यक्ति चुप रहा, बल्कि उठते हुए कहा, ''मैं चलूँ। तो ओ...?''

उसने स्वत: ही कोई उत्तर पा लिया हो बात दूसरी है, मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। उसके जाने के बाद बड़े उलाहने से कहा, ''तुम बिना कहे क्यों कहीं चले गये थे? देखते नहीं, मैं यहाँ अकेली थी!''

''अकेली क्यों, तुलसी था न?''

मैंने गुस्से में भरकर कहा, ''मेज-कुर्सियाँ भी तो थीं। क्यों तुम मुझे सताते हो?''

स्वामी ने अपने और मेरे बीच उसी असम्बन्ध के सम्बन्ध को कायम रखते हुए कहा, ''नहीं सुखदा, यह बात नहीं। तुम घेरे में घिरी न रहोगी। पहले जरा कुछ अजब लगेगा ही। फिर-फिर तुम देखोगी कि तुम प्रबल हो, मुझ पर निर्भर नहीं हो। निर्भरता अच्छी चीज थोड़ी ही है।''

सुनकर मुझे कष्ट हुआ। कहा, ''विनोद को साथ नहीं ले आये?''

बोले, ''विनोद को इधर तुमने देखा नहीं, सुखदा। उसे न माँ चाहिए, न बाप चाहिए, न दादी चाहिए। हम लोग शायद यहाँ व्यर्थ ही अपनी बहुत-सी जिम्मेदारी माना करते हैं।''

''साथ लेते आते तो...''

''मुझे क्या मालूम था कि...इतना चाहती हो तो बुला भेजना।''

''दस बजता है, अभी घर से आ रहे हो?''

हँसकर बोले, ''नहीं, ससुराल से।''

''वहाँ सब ठीक है?''

''एकदम। अच्छा, अब चलें।''

''चलें! कहाँ चलें? वहाँ तो चार रोज से ताला पड़ा होगा।''

''तो क्या हुआ, चाबी तो है।''

मेरा जी भर आया, बोली, ''नहीं, नहीं, यहीं पलँग बिछा जाता है।''

स्वामी बोले, ''वाह! घर कहीं बन्द रहना चाहिए। आओ, बाहर आओ तो, देखो...।''

देखा, बाहर काफी फल-वल हैं, और दूसरी चीजें हैं।

मैंने कहा, ''तुम्हारा सामान कहाँ है?''

''मेरा सामान? क्यों ताँगे में तो है।''

मैंने तो बढ़कर दोनों हाथों से सामने से उनके कोट के किनारों को थाम लिया, कहा, ''उतार लो सामान।''

बोले, ''पगली हुई हो, सुखदा।''

''हाँ, पगली हुई हूँ।''

''घर कहीं बन्द रखा जाता है?''

''तो मुझे भी ले चलो।''

स्वामी ने मुझे देख, कहा, ''तुम! फिर यहाँ कौन रहेगा?''

''तुलसी तो है। बोलो चलूँ?''

हाय री स्त्री! क्यों उस समय मुझसे नहीं हो सका कि आगे बढ़कर कहूँ कि मेरा घर है इसलिए, और तुम मेरे हो इसलिए। लेकिन उनकी उस 'क्यों' पर जाने जला आत्म-सम्मान कहाँ से मुझमें उठ आया कि बोली, ''अच्छी बात है, नहीं चलती। लेकिन यह सब टोकरी-वोकरी यहाँ से लेते जाओ।''

स्वामी हँसकर बोले, ''तुम्हारी माँ ने यह सब भिजवाया है। मैं क्या जानूँ!''

मैंने फिर कहा, ''तो तुम अभी जरूर जाओगे! रुकोगे नहीं?''

बोले, ''यह खूब! इतनी देर रुकने के लिए ही ताँगे वाला जाने क्या-क्या सुनाएगा।''

''अच्छा सुनो, सवेरे मुझे जमना ले चलोगे?''

आश्चर्य से बोले, ''जमना!''

मैंने स्थिरता से कहा, ''हाँ, ले चलोगे!''

बोले, ''ना बाबा, चार रोज की थकान है, डट के सोऊँगा। सवेरे उठने की कोई उम्मीद नहीं है।''

कुछ देर सोचती खड़ी रही कि मैं अब क्या करूँ? क्या इस आदमी के पैरों में हार खाकर सिर पटकूँ, तब यह मानेगा? जानती थी कि उस सबकी जरूरत नहीं है। जरा में ही सब ठीक हो सकता है। लेकिन वह जरा ही मेरे लिए इतना बड़ा हो गया कि मुझसे नहीं हो सका। मैं मान से नहीं उतर सकी।

आखिर मेरे देखते-देखते टोकरियों में से झुककर उन्होंने हाथ में दो-चार फल लिए, पूछा, ''इजाजत है?''

मैं चुप बनी रही।

हठात् बोले, जैसे क्षमाप्रार्थी हों, ''एकाध बार इन फलों से चल जाएगा। कौन हर वक्त चूल्हा फूँके!''

कहकर मुझे देखा। मैं गुमसुम रही।

''अच्छा भई...'' हठात कहा और खड़े ताँगे की ओर बढ़ते चले गये।

मैं खड़ी देखती रही फिर अपनी जगह आयी, बैठी। बैठी सोचती रही कि मकान का वह ताला खोलेंगे, बत्ती करेंगे, सुराही भरेंगे, सफाई करेंगे...सफाई, झाड़ू-बुहारी! झाड़ू-बुहारी लेकर रात साढ़े ग्यारह बजे मकान की सफाई...मैंने उधर से चित्त हटाया। जल्दी वह हटा नहीं। लेकिन आखिर रात को गहराना और नींद को आना था। अँधेरे में सब कुछ देखते-देखते अन्त में सो गयी। सवेरे उठी और सिर हाथों में थामे बैठी थी, ध्यान आया, अरे—जमना जाना है।

24

जमना आने पर मालूम हुआ कि आज कोई पर्व है। काफी भीड़ आ-जा रही थी। मुझे विस्मय हुआ कि अपनी परम्परा से मैं कितनी दूर हो आयी हूँ। शत-सहस्र वर्षों से जिस खास दिन सवेरा होते ही अनगिन नारियाँ अपने-अपने घरों से निकलकर उत्सव के उल्लास से गंगा (या जमना) स्नान के लिए बराबर निरपवाद चलती चली आयी हैं, वह दिन कब आकर चला जाता है मुझे पता ही नहीं हो पाता। चारों ओर नयेपन के चाव से मैं देखती और पाती कि मैं इस पर्वोल्लास के बीच में अनजान, अपरिचित हूँ। मन होता कि समझ डालूँ कि जड़-विश्वास पर पली-पुसी ये स्त्रियाँ इस तरह अन्धी गतानुगतिका में ही चलती रही हैं, उन्हें समझाना होगा, जगाना होगा। लेकिन अकेली-दुकेली, यूथ में अथवा कुटुम्बी जनों के साथ, पैदल अथवा विविध यानों में हर्ष और विस्मृत में विभोर उन असख्य नारियों को धारा-उपधाराओं में जाते देखती और आते देखती तो मन उन पर करुणा न ला पाता, बल्कि उस मन में कुछ अपने ही सम्बन्ध में संशय हो निकलता। जैसा कि मैं नहीं हूँ, ये सब हैं। ये हैं और इनके पास होने का आधार है और मैं ख्याल में चाहे जितनी होऊँ, पर नीचे नींव में जैसे मेरे कुछ नहीं है, और मैं नहीं होती जा रही हूँ।

''आइए!''

ताँगा आकर रुका ही कि देखा, वह व्यक्ति उपस्थित है। सादर साग्रह कह रहे हैं, ''आइए।''

मुझे ध्यान भूल गया था। किन्तु उस भीड़ में एक क्षण की देर लगाये बिना ताँगा

रुकने के साथ ही ये यहाँ कैसे उपस्थित हो गये! देखा, अब वह दूसरे दीखते हैं। ढीला बारीक कुर्ता, पिण्डलियों तक कसी बँधी धोती, माथे पर चन्दन की चौड़ी टिकली, जैसे पण्डा पहलवान हों।

''आइए माता जी!''

मैंने मुस्कराकर कहना चाहा कि आप...!

''पधारिए, स्नान-पूजा का सब सुभीता है।''

मैं पीछे-पीछे हो ली। घाट पर बनी धर्मशालाएँ घिरी थीं और स्थान-स्थान पर अनेकानेक साधु थे। कहीं कथा कही जा रही थी, कहीं उपदेश हो रहे थे। ऐसी ही एक धर्मशाला के एकान्त के कोने में तीन-चार व्यक्ति बैठे थे। वहाँ पहुँचकर साथी ने पूछा, ''स्वामी कहाँ हैं?''

बताया गया, ''बैठिए, अभी आते हैं।''

साथी को मैंने कुछ असमंजस में देखा। उसने पूछा, ''कहाँ गये हैं?''

''सवेरे से जंगल की ओर गये कि अभी नहीं लौटे। आते होंगे। बैठो माई, अभी स्वामी पधारेंगे।''

मैं बैठने को उद्यत ही थी कि साथी ने कहा, ''आप बैठेंगी माता जी? अच्छा तो मैं अभी देखकर आता हूँ।''

मैंने कहा, ''मैं स्नान-ध्यान से निवृत्त हो लेती हूँ इतने।''

''अच्छी बात है, माताजी। आइए।''

चलते हुए मैंने धीमे से पूछा, ''क्या है?''

''कुछ बात मालूम होती है। ऐसे तो जाने वाले वह न थे।''

''सात से तो काफी ऊपर हो गया?''

''हाँ, साढ़े सात होने को आये हैं।''

''अच्छा, मैं जरा घूम लूँ।'' कहकर मैं आगे बढ़ी। थोड़ा बढ़ने पर मालूम हुआ कि साथी पीछे-पीछे आ रहा है। मुझे यह रुचिकर न हुआ, लेकिन मैं बढ़ती गयी जैसे उसके साथ होने का मुझे भान न हो। लेकिन वह बराबर मुझे निगाह में लिए रहा। एक बार ठहरी और अनायास मुड़ी तो जैसे तभी दीख पड़ा हो, इस भाव से ही मैंने कहा, ''अरे तुम! क्या साथ ही हो?''

''हाँ साथ हूँ, जरा सुनिए।''

मैंने अपेक्षा में और कुछ उपेक्षा में उसकी ओर देखा।

''थोड़ा एक तरफ चलना होगा।''

मैं तीव्र इनकार करना चाहती थी, लेकिन उसने मुझे अवसर नहीं दिया और कहने के साथ ही क्षण के सूक्ष्म भाग तक जाने किस निगाह से देखकर वह चुपचाप एक ओर बढ़ गया। मैंने पाया मैं पीछे चल रही हूँ। घाट के पार एक छोटे पेड़ की छाँह

में मुझे बैठने को कहा गया।

मैं बैठ गयी।

व्यक्ति ने कहा, ''आप मेरा विश्वास करती हैं?''

मैं गर्विष्ठ भाव से बोली, ''तुम्हें क्या कहना है?''

''दादा बड़े सख्त हैं, आप जानती नहीं।''

मैं उस आदमी से बात करना नहीं चाहती थी, अवज्ञा-भरी चुप्पी से उसकी धृष्टता सहती रही।

उसने कहा, ''आपके हाथ में बहुत-कुछ है। दादा सब सह सकते हैं, चरित्र की चूक नहीं सह सकते। उन्हें यह खबर दी गयी है कि लाल का आचरण आपके साथ ठीक नहीं रहा है। लाल लापरवाह आदमी है, लेकिन हीरा आदमी! ऐसा कलेजे का आदमी दूसरा न होगा। मैं डाकू ठहरा, लेकिन मुझे धड़का हो आता है। आदमी वह है बेधड़क और इतना बेखबर कि क्या कहा जाए। देखिए, आपसे मेरी हाथ जोड़कर यह विनती है कि लाल को बचा लें। वह खुद कभी बचेगा नहीं। एक कही जाएगी तो सवा कबूल करेगा। मैं उसे जानता हूँ, दिलेर आदमी है। इसी से लोग उससे जलते हैं। बस एक हैं दादा जो उसे चाहते हैं, बल्कि प्यार करते हैं। पर दादा का प्यार—बाप रे! कटार की धार है। देवी, मेरी आप से प्रार्थना है!''

मैं सुन रही थी, विचार से सुन रही थी। लेकिन दूर से पैदल आते हुए दो जनों पर मेरा ध्यान बँट गया था। उस आदमी की उधर पीठ थी लेकिन जैसे-जैसे वे लोग पास आते गये मेरी निगाह बँधती गयी। अब संशय न रहा। एक उनमें मेरे स्वामी थे। दूसरे भगवे कपड़े वाले कौन हैं?

मैंने कहा, ''चलो।''

उस व्यक्ति ने कहा, ''आपने मेरी बात सुनी नहीं।''

''उठो, चलो।''

जल्दी में मैंने हाथ पकड़कर उस आदमी को उठाना चाहा। मेरी व्यग्रता देखकर वह भी जैसे दहशत से बोला, ''क्या है, क्या बात है?''

''वह देखो!''

व्यक्ति ने पीछे मुड़कर देखा और आश्चर्य से बोला, ''दादा!''

मैंने कहा, ''कौन हरिदा?''

बोला, ''हाँ लेकिन साथ कौन है?''

मैंने कहा, ''देखते नहीं, 'वह' हैं चलो।''

व्यक्ति उन दोनों आनेवालों को मूक बना पल-भर निर्जीव-सा देखता रहा, फिर बोला, ''नहीं देवी, मुझे साथ न लो, तुम जाओ।''

मुझे जाने क्या हुआ, हाथ खींचकर बोली, ''नहीं, चलो!''

व्यक्ति मानों निश्चिन्त था। वहीं रेत में लेटते हुए बोला, ''मुँह नीचे हाथों में रखकर मैं यहाँ सो जाता हूँ, तुम जाओ। मैं गलत आदमी हूँ।''

और कुछ नहीं हो सकता था। देखा—वे बढ़े चले आ रहे हैं और पास आ गये हैं। जिन्हें दादा कहा गया, वे होंगे हरिदा, लेकिन सम्पूर्ण संन्यासी दीखते थे। नीची निगाह किये मेरे स्वामी की बातों को सुनते हुए मौन स्थिर चले आ रहे थे। मैं चली तो सोच उठी कि क्या मैं अनपहचानी रहूँगी या पहचान ली जाऊँगी! उस दुविधा में मेरे चलने में कोई दिशा न आयी। एक-दो डग वापस बढ़ी कि जल्दी में फिर सीधे ढलान पर से जमना के पानी की ओर उतर चली। बड़ी मुश्किल से किनारे पर अपने को रोक पायी, नहीं तो पानी में गिरने ही वाली थी। सँभलकर फिर तत्काल पालथी मारकर मैं वहीं बैठ गयी, जैसे ध्यान में हूँ। दोनों जन ऊपर पगडण्डी पर से बात करते हुए आये और निकलते चले गये। झपकते हुए दो-एक वाक्य अपने पति के मेरे कानों में पड़े, जिस हर हरिदा ने सिर्फ एक बार 'हूँ' से स्वीकार किया, कुछ कहा नहीं। वाक्य पूरे और स्पष्ट नहीं थे, लेकिन उनमें मेरा नाम था। शायद स्वामी कह रहे थे कि सुखदा उनके अपने ही आग्रह पर कुछ दिन के लिए मकान की सुरक्षा की खातिर यहाँ रह रही है। लेकिन ध्वनि में से आशय जो निकालूँ—साफ कुछ सुन न पड़ा था। थोड़ी देर बाद मैं ऊपर आयी और देखा, वह साथी असमंजस में खड़े इधर-उधर देख रहे थे। मुझ पर निगाह पड़ते ही बोले, ''आ-आप! गयी नहीं?''

''नहीं, अब चलो।''

''कहाँ रहीं?''

''धरती में गड़ गयी थी, चलो।''

धर्मशाला के उसी पहले वाले कोने में पहुँचकर देखा कि हरिदा सही और सावधान साधु की तरह एक अर्द्धवृत्त के बीच में विराजे हैं, और भक्त मण्डली में एक ओर मेरे स्वामी भी बैठे हैं। मेरे पहुँचने पर स्मित प्रसन्नता से निगाह उठाकर मुझे देखा, असीस का हाथ उठाकर जैसे मुझे स्वीकार किया और निगाह नीची कर ली।

स्वामी ने भी आश्चर्य से मुझे देखा पर कुछ कहा नहीं।

मैं वहाँ बैठ गयी और कुछ देर में साथी ने कहा, ''महाराज यह आपसे एकान्त में कुछ निवेदन करना चाहती हैं।''

''एकान्त!'' उन्होंने सामने हाथ फैलाकर घुमाते हुए कहा, ''सब एकान्त ही तो है, क्यों देवी?''

साथी ने कहा, ''महाराज, कुछ निजी कष्ट की बात है।''

बोले, ''तुम कौन हो देवी?''

मैंने कहा, ''वह मेरे स्वामी उपस्थित हैं, महाराज।''

इस पर, हरिदा ने एक निगाह आगत समुदाय पर डाली और देखते-देखते लोग

पीछे और दूर हट गये—सिर्फ मैं और मेरे स्वामी वहाँ रह गये। हम भी निकट सरक आये।

हरिदा ने कहा, ''सुखदा अच्छी हो? तो अब तुम्हें मालूम हो गया कि मैं कान्त का साथी रहा हूँ। लेकिन साथी जाने कब रहा था; अब तो बरसों से एकदम दूर हो गया हूँ। पर तुम्हारे यह पति तो मानते नहीं हैं। तो बताओ मैं क्या करूँ! मैंने सुन लिया है। तो तुम लोगों ने घर दो बना लिए हैं?''

स्वामी ने कहा, ''नहीं तो...।''

हँसकर बोले, ''ठीक है, ठीक है। फिलहाल सही...नहीं, सफाई नहीं माँग रहा हूँ। होने की भाषा ही है। छोड़ो, तुम्हारे साथ जो पण्डा महाशय आये, कैसे लगते हैं?''

मैं चुप रही।

''बेअदब तो नहीं?''

''नहीं।''

बोले, ''आदमी कुन्दन है। मैं तो झमेले में पड़ गया हूँ। बुरे आदमी अच्छे निकलते हैं और अच्छे जिन्हें कहो वे...हाँ-आँ-आँ, मैंने एक बार रुपये का जिक्र किया था। उस पर तुम जाकर तीन सौ लाल को दे आयी। इनसे भी कहा था। माफ करना, मेरा पेट बड़ा है, भूख मिटती ही नहीं और यह हजरत तुमसे बिना पूछे दो हजार रुपये मुझे थमा गये। चलो अच्छा हुआ। लेकिन फिर रुपया वापस क्यों लिया?''

मैं चुप रही कि स्वामी बताएँगे, लेकिन वह भी नहीं बोले।

मैंने कहा, ''वापस लिया नहीं, किया गया।''

''दिये जाने से तुम्हारा सम्बन्ध नहीं, सम्बन्ध लेने से है। लिया क्यों?''

''तुमने कहा था न इन्हें लेने को?''

''हाँ।''

''क्यों?''

''इनका मन दुखी था कि रुपया आपसे दूसरे के हाथ क्यों चला गया है।''

''सुन चुका हूँ, लेकिन तुमने गलती की, इन्होंने गलती की। दी चीज ली नहीं जाती। कर्ज तो नहीं दिया था न?''

सुनकर मुझको अजीब अनुभव हो रहा था, जैसे रुपया हमारा पीछे हो, इनका पहले हो। किन्तु उनके आत्म-विश्वास ने जैसे-तैसे सचमुच स्थिति उलट दी थी। पैसा अपना स्वीकार कर लेने के लिए मानों हम अपने को दोषी लगने लगे थे।

बोले, ''पैसे चाहिए, क्योंकि बच्चे को पढ़ाना है। क्यों यही न?''

फिर हँसकर बोले, ''समझती होगी, तुम ठीक हो। मैं भी मानता हूँ, ठीक हो।

लेकिन तुम क्या एक विनोद की माँ हो! नहीं सुखदा, ऐसा नहीं है। बहुत-बहुत अनाथ बच्चे हैं। इस देश की बात पूछो नहीं। शिक्षा पीछे है, पहले पानी, दूध और दाना है। वह तक कितनों को नहीं मिलता, मालूम है! तुम उनकी भी माँ हो। नहीं तो उनके लिए माँ मैं कहाँ से लाऊँगा, बताओ तो? ईश्वर से छीनकर तो उन माँओं को वापस मैं ला नहीं सकता। इसलिए तुम जो जीती-जागती माँ हो, उसी पर यह भार आएगा।''

मुझे समझ न आया कि क्या सुन रही हूँ। विनोद को न पढ़ाना उस समय मुझे उचित लगने लगा।

बोले, ''पढ़ाई पैसे से होती है, मैं जानता हूँ। लेकिन जो पैसे से होती है वह पढ़ाई नहीं है। सोचकर देखो, वह पढ़ाई है! लाओ—मुझे दो विनोद को, मैं पढ़ाऊँगा। और पैसा नहीं लूँगा।'' फिर ठहाका मार हँसे और बोले, ''लूँगा कहाँ से? सब तो पहले ही ले चुका हूँ। लेकिन मानता हूँ कान्त, तुमने मुझ भिखारी से भी सब छीन लिया...कहो?''

उनकी एकदम हमसे पार ऊपर उठी निगाह को देखकर हमने पीछे देखा। देखा कि मेरा साथी वह पण्डा हौले-हौले डगों से पास आता हुआ कुछ निवेदन करने की अनुमति माँग रहा है।

''कहो!''

''जी, लाल।''

''आ गया, अच्छा जरा ठहरो...कान्त, तुम्हें जाना तो नहीं है? हरज होता हो तो ठहरना जरूरी न समझना।''

साथी चला गया और मेरे स्वामी भी उठकर वहाँ से अलग हो गये।

''सुखदा, सुनो, प्यार को तुम क्या समझी हो?—चुप रह गयी, पर चुप करने के लिए तो मैंने नहीं पूछा। बताओ-बताओ।''

बताइए, (आप सब पाठकों से पूछती हूँ कि) कोई बता सकता है, मैं क्या बताती?

बोले, ''मैं बताऊँ? सत्य मैं उसी को समझता हूँ। ईश्वर उसी को समझता हूँ। ईश्वर के ऊपर कहते हैं परमेश्वर भी है। परमेश्वर उसी को समझता हूँ।''

मैं उस आदमी को, जो साधु के वस्त्र पहने चश्मे के नीचे की आँखों से जाने कैसी बेधक दृष्टि से देखता हुआ एक स्त्री से यह पूछ रहा था, क्या समझाती, क्या कहती?

''कहो, बुलाऊँ लाल को या ठहरूँ?''

मैं चुप बनी रही।

''मैं लाल को प्यार करता हूँ यानी करना चाहता हूँ। ऐसे युवक विरले होते हैं।

लेकिन सुखदा, सच कहो, क्या उसे सजा देनी होगी?''

मैं बोली, ''नहीं।'' लेकिन अनायास मेरा सिरा डोल गया।

मुस्कराकर बोले, ''नहीं!'' और उसी क्षण भृकुटी में उनकी वक्र आया, ''बता सकती हो, क्यों नहीं?''

भवों की उस तान पर मैं डर आयी, लेकिन बोल नहीं सकी।

''रुपया उसने तुम्हें वापस ला दिया, जेवर लौटा दिया। सुखदा, सुनो, वह प्यार नहीं है। इसमें ईश्वर नहीं है। यह मोह है, इसमें शैतान है। क्या कहती हो?''

मैंने कुछ नहीं कहा।

''शैतान सर्वव्यापी है। नहीं तो भगवान् को सर्वव्यापी होने की जरूरत न होती। वह हम सब में है। इसलिए उसे सजा मुझे सजा है। उसमें शैतान को क्षमा करना अपने में शैतान को खुराक देना है। उसने मुझसे क्यों नहीं कहा? मैं...।''

''आप थे नहीं।'' हठात् मेरे मुँह से यह शब्द निकला और मैं सकुचा आयी।

वह हँसे, लेकिन वह हास्य भयानक था, ''सुखदा, अपने को क्षमा करना पाप है। सीधे देखो, उसने तुम्हें छुआ!''

मैंने देखा, वह फिर-फिर पूछ रहे हैं—''छुआ?''

मैंने कहा, ''छुआ।''

''फिर?''

मुझे जाने क्या हुआ, शायद मैं बौखला गयी। एकदम अपना हाथ बढ़ाकर उनके घुटने पर रखा, कहा, ''मैं आपको छू रही हूँ!''

बोले, ''गलती कर रही हो।'' और कड़ककर कहा, ''हटा लो हाथ।'' जैसे वाणी के साथ उस शरीर का तेज मुझे छू गया। हाथ अलग हट आया।

''तुम विवाहिता हो सुखदा, पत्नी हो, गृहिणी हो, माता हो। जानती हो, यह होना क्या है! पर पर-पुरुष का स्पर्श...।''

मैंने चिढ़कर कहा, ''आप पर-पुरुष हैं?''

कठोरता से बोले, ''तुम समझती हो मेरे लिए नरक नहीं है? इस समय भी मैं नरक में हूँ।''

''मेरे स्पर्श में आपको नरक लगा है?''

''हाँ! और यह तुम नहीं समझती, यह मैं नहीं समझता था।''

धीरे-धीरे मेरा मन्त्रमुग्ध-भाव मुझ पर से उतरने लगा। मैंने पूछा, ''आप स्त्री के स्पर्श से दूर रहे हैं?''

''नहीं, नरक से शायद मैं कभी दूर नहीं रहा।''

''आपने विवाह नहीं किया?''

''स्त्री माता है।''

''आप क्या कह रहे हैं? माता विवाहपूर्वक ही होती है। जिसके पूर्व विवाह ही नहीं है उसको आप माता चाहते हैं?''

वह सुनकर क्षण-भर रुके, फिर गर्दन जैसे सीधी हुई, माथे की विशालता उभरी। वह मानों अपने को एकाएक कसकर स्वस्थ और सौम्य हुए, बोले, ''सृष्टि मैथुनी है, जानता हूँ। लेकिन प्रेम और है...पर बहस छोड़ो। लाल ने द्रोह किया। मेरा द्रोह कोई चीज नहीं, पर एक जगह वह देश का द्रोह है। यह बात छोटी नहीं है, लेकिन उसको मैं छोटी कर सकता हूँ। पर कुछ है जिसको छोटा नहीं किया जा सकता। सुनता हूँ, मेरे पीछे उसने कमरे पर किराये से बाजार की एक स्त्री को रखा। तुम इस बारे में जानती हो?''

''सुना है।''

''वहाँ भ्रष्ट चित्र लगाये और तुमसे सहायता ली—यह सही है?''

मैं निरुत्तर रही।

''तुमने सहायता दी?''

''दी।''

''सुखदा, यह छोटी बात नहीं है। तुम्हारे लिए तो उसके पास मेरा पत्र था। तुम्हें उसकी बात मानते जाना था। और उसमें कौशल है कि भ्रम पैदा कर दे कि बुराई में भी अच्छाई दीखे। दोष तुम्हारा नहीं है, पर उसके लिए क्या कह सकती हो?''

मैं चुप रही।

''तुम अकेली थीं जब वह वहाँ आया। सच कहना, कुछ शिकायत तो नहीं है?''

''नहीं।''

''हो सकता है शिकायत न हो। पर रुपये की वापसी से उसकी नीयत खुल जाती है। जानती हो, कान्त का क्या ख्याल है?''

मैंने उत्सुक अपेक्षा में उनकी ओर देखा।

''वह विचित्र आदमी है। कहता है उसका कुछ ख्याल ही नहीं। कहता है कि मुझे भी कुछ ख्याल करने का हक नहीं है। कहता है कि सब अपने मालिक हैं और किसी को दूसरे का फैसला देने की जरूरत नहीं है। तुम—क्या तुम भी ऐसा कहती हो?''

मैंने कहा, ''नहीं।''

''नहीं। यानी?''

''पत्नी को कुछ न कहने का अधिकार पति का नहीं है। आप मुझे दण्ड दे सकते हैं, कोई मुझे दण्ड दे सकता है। दण्ड लेने का हक मेरे पास है, देने का हक मेरी तरफ

से सबके पास है,'' कहते-कहते मैं आवेश में हो आयी, ''तो अब मैं जा सकती हूँ!''

''कहाँ जाओगी! लाल भी आया हुआ है, बुलाऊँ?''

''मेरे सामने क्यों बुलाइएगा?''

''तुम्हारे सामने ही बुलाना होगा। सुनो, शायद मैं तुमको समझता हूँ। लेकिन तुमको भी मुझे समझना चाहिए, सुखदा! एक परम्परा का रक्षक मुझे बनना पड़ गया है। मैं निर्द्वन्द्व था और जंगलों में घूमता था। लेकिन विधाता का षड्यन्त्र हुआ और महात्मा समझकर जिसे मैंने गुरु बनाया था, उसने मेरे सिर यह काम डाल दिया। काम से मुझे क्या काम था। मैं बिरागी, अध्यात्म मेरा अभ्यास; लेकिन गुरु ने कहा कि यह व्यावहरिक अध्यात्म है, यह उच्चतर कक्षा का अभ्यास है। मैंने गुरु-वचनों को मान्य किया, पर फिर स्वत: ही मुझे उन वचनों का सत्य प्रकट हो आया। तब से मैं इसमें हूँ। यह तलवार की धार पर चलना है सुखदा, चूके कि गये। यहाँ कोई अपना, कोई पराया नहीं है। मृत्यु और जीवन के सम्बन्ध के कर्तव्यों से हमें लगाव नहीं हो सकता। जीता है सो मरता है। किसी के जीते बने रहने की इच्छा क्यों? न मरने की इच्छा क्यों? सब व्यापार यहाँ अपने नियम से होते हैं। हम तो निमित्त मात्र हैं। होनहार के हाथ में अपने को छोड़कर अच्युत और अकलंक भाव से जो बनता है किये जाते हैं। प्रेम जो इसमें आड़े आता है, प्रेम नहीं है। इससे उसे अवकाश नहीं है कि वह गति में व्यतिरेक डाले। प्रेम है तो वह जो ईश्वर को जाता है, ईश्वर से आता है, जिसमें मेरा-तेरा नहीं होता। फिर भी मैं आखिर हार मानता हूँ। इसलिए चाहता हूँ कि तुम रहो जब लाल आये जिससे देख सको कि मैं ममता से कोरा नहीं हूँ। बोलो ठहरोगी?''

''अच्छा!''

उन्होंने उस पर हाथ की ताली दी और थोड़ी देर में देखा, मेरे साथी के साथ लाल, उसी पोशाक में, अपनी लाल टाई खुली फहराये, प्रसन्न भाव से चले आ रहे हैं।

25

लाल ने पास आकर दोनों हाथ जोड़कर हरिदा को नमस्कार किया और मैं जैसे थी ही नहीं।

''लाल, आज सवेरे ही आये हो न?'' हरिदा ने नमस्कार स्वीकार करते हुए अधिकार-भाव से कहा, ''बैठो,'' और फिर इशारे से उन पण्डा महाशय को पास बुलाकर उन्हें कान में कुछ बताया।

लाल ने बैठते ही, अवकाश देख मेरे निकट आकर धीमे से मुझे कहा, ''बड़े

सवेरे निकल आयी! मैं घर पर गया था।''

''लाल!'' हरिदा ने कहा, जैसे आवाज में आज्ञा थी, ''आओ, इधर, यहाँ आ जाओ। इनको मैंने बैठे रहने को कहा है, हर्ज तो नहीं?''

''जी नहीं, हर्ज क्यों होगा। इन्हें कह रहा था कि अभी इन्हीं के यहाँ से मैं आ रहा हूँ। (हँसकर) देखिए, मेरे पीछे घर में यह आकर रहने लगीं। जुल्म हुआ न?''

''लाल,'' मानो हरिदा ने लगाम खींचते हुए कहा, ''तुम जापान जाने की तैयारी कर रहे थे, सुनता हूँ?''

''जी, और चीन भी।''

''जाना पक्का है?''

''आपका आशीर्वाद हो तो...।''

''अगर वापस फिर आने का ख्याल न हो, तो है।''

''वापस भारत फिर न आऊँ, इस शर्त पर?''

''अगर शर्त पूरी हो सके तो अच्छा है, मैं निश्चिन्त हो जाऊँ।''

''आप ऐसा वचन चाहते हैं?''

''चाहता तो हूँ।''

''क्या मैं पूछ सकता हूँ, क्यों?''

''अपने से पूछो, शायद जान न जाओ।''

''अपना दोष, खुद कौन पूरा जान पाता है, दादा! दोष सदा दूसरे में और दूसरे का दीखता है। मेरा क्या है, बस के रहना कहीं मेरे भाग्य में है नहीं। हाथ में वह रेखा नहीं है। फिर जैसा जापान वैसा चीन, वैसा ही टिंबकटू, सब चार दिन का डेरा है। लेकिन क्यों यह भारत ही मेरे लिए हमेशा को पराया बन जाना चाहिए, यह बताएँगे? इसलिए कि देश यह मेरा है और मुझे देश निकाला मिलता है। इसलिए कि तौर-तरीका मेरा देशी की जगह विलायती है, इससे देश भी मेरा क्यों न विलायत हो?''

हरिदा गम्भीर रहे, बोले, ''लाल, तुम मुझे मानते थे। अब मानते हो?''

''मानता हूँ।''

''दल को मानते हो?''

''मानता हूँ।''

''जानते हो, इसका मतलब क्या होता है?''

''मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, दादा! मेरी धृष्टताएँ आप सहते रहे हैं। आपने कभी कुछ नहीं कहा, सदा मुझे निबाहा। आपके प्यार ने और विश्वास ने जैसा हूँ वैसा मुझे रहने में बढ़ावा दिया। पूछता हूँ, इस मानने का मतलब क्या अपने को न मानना है?''

''हाँ, जरूरी होने पर वह भी है। मानने का पूरा यही मतलब है। लाल, तुमने

पढ़ा है, जाना है, मुझसे भी कई बार सुना है—स्त्री से भाग्य जल गये हैं, संस्थाएँ भ्रष्ट हुई हैं, परम्पराएँ भस्म हो गयी हैं। इस विषय की शिथिलता आन्दोलन को स्वाहा कर देगी। क्या तुम यह जानते नहीं थे? फिर?''

''दादा, मैंने आपको अपना क्या नहीं बताया! फिर भी आपने मुझे लिया, लेकर अपनी सब स्वतन्त्रता में मुझे निबाहा। मेरे लिए क्या कभी आपने सम्भव माना कि दुनिया को मैं आधो-आध बाँटकर देख सकता हूँ—पश्चिम में और पूरब में, स्त्री और पुरुष में! दादा, अगर हम इस दुनिया के बीच फाँक करके चलेंगे, चलने की जिद रखेंगे, तो हम नहीं चल पाएँगे, डग-भर नहीं चल पाएँगे। आपने क्या यह नहीं कहा कि सब मुझे कहना है और क्या आपसे कहता भी नहीं रहा? इसी से कि आपकी सुनने की क्षमता अगाध है।''

मैं इन दोनों व्यक्तियों को चुपचाप देखती रही। कैसी बातें यह उनमें हो रही थीं। लाल स्वछन्द थे, पर संयत और विनम्र। और हरिदा स्निग्ध थे, पर अचल और समाविष्ट, सरल पर अभेद्य।

हरिदा ने कहा, ''समझता हूँ तुम्हें लाल, पर हारना न होगा। बुद्धि में बहना नहीं, उस पर काबू पाना होगा। दुनिया एक है, जानता हूँ। फाँक उसमें नहीं है, जानता हूँ। लेकिन धूप होगी तो आधे में ही, आधे में अँधेरा रहेगा। रात इधर होगी तो दिन उधर। स्त्री, स्त्री रहेगी, पुरुष न होगी और पुरुष को पुरुष रहना होगा। दोनों से घर-गृहस्थी जमती है; लेकिन वह बसाने और बढ़ाने के लिए तो हम जमा नहीं हुए। घर-बार जिन्हें करना है वह करें। पर हम तुमको भी क्या वह करना है? छोड़ो, यह बैठी हैं। इनको तुमने रुपये जाकर दिये। मुझसे पूछा?''

''मैंने कहा न था दादा कि ये रुपये गलत हैं।''

''हों गलत, पूछा था?''

''मैं गलती निगल नहीं सकता था।''

''न पूछना गलती न थी?''

''थी तो छोटी थी। बड़ी गलती...।''

''मैं बताऊँ, गलती बड़ी वह क्यों थी? क्योंकि इनके लिए तुममें...।''

''नहीं दादा, नहीं...।''

''नहीं न कहो, मैं जानता हूँ।''

''दादा!''

''घबराओ नहीं। स्वाभाविक है, वह शायद सही है। लेकिन हमने जान-बूझकर वर्जनीय बनाया है। जानते हो, तुम क्या हो! दल के सबसे विश्वसनीय आदमी हो। उसको क्या अधिकार नहीं रहा। मैं सनातनी हूँ, शायद पुराणपन्थी हूँ। लेकिन काल अनन्त है, लाल! और भूत-भविष्य भी उसमें नहीं हैं। पाप-पुण्य हमसे कहीं

बाहर नहीं हैं। मुझमें हिम्मत थी कि अपने कान्त को देखकर भी हो तो इस सुखदा का हाथ तुम्हारे हाथ में दे दूँ और दोनों को सफल होने का आशीर्वाद दूँ। लेकिन तुम सामान्य तो नहीं हो, इससे वह नहीं हो सकता। बोलो, वहाँ जाकर सदा के लिए यहाँ से बाहर रह सकते हो? नहीं, टिंबकटू से भी मुझे डर नहीं है या...।''

''आप जो देना चाहते हैं दादा, उस प्रसाद से वंचित रहकर मैं कहीं कैसे जा सकता हूँ?''

''जानते हो, क्या देना चाहता हूँ?''

''मेरा जीवन कब आपके हाथ नहीं रहा!''

''और तुम चाहते हो?''

''आप देना चाहें और मैं लेना न चाहूँ, यह कभी आपने सम्भव समझा है?''

मेरी आँखें हरिदा पर थीं और हटती न थीं। लाल के शब्द कानों में पड़ते, पर आँखों में उधर होने का साहस न था। देखा—दादा जैसे कठिनाई में हो आये। पल-भर वह रुके, जैसे कण्ठ से शब्द न आते हों। फिर बोले, ''लाल, तुम आये क्यों, आना जरूरी तो नहीं था।''

''दादा, जहाज पर सवार हो चुका होता, तो भी शब्द मिलने पर आये बिना क्या मुझसे रहा जाता?''

''तुम्हें नहीं आना था लाल, चले जाना था। यह नहीं सूझा तुम्हें कि फिजूल-खर्ची मुझे पसन्द नहीं आती, और तुम हवाई जहाज से आ रहे हो! इस बात पर आना क्या तुम टाल नहीं सकते थे! यहाँ तो मैं सिर्फ तीन दिन के लिए था, कहते कि इतनी जल्दी हाजिर होना तुम्हारे लिए सम्भव न होगा।''

लाल की आवाज भी जैसे भीगी हो आयी, कहा, ''दादा! आपसे दीक्षा लेकर यह कमजोरी क्या मुझसे बन सकती थी? आपसे ही क्या मैंने मरने-जीने के बारे में निश्चिन्त रहना नहीं सीखा है?''

हरिदा फिर एक क्षण चुप रहे, तदनन्तर कहा, ''अच्छी बात है। फिर तुमने जेवर खरीदा, वह लौटाया, ऊपर से पाँच हजार रुपया दिया। नहीं जानना चाहता कि कहाँ से कैसे किया। सवाल है कि क्यों किया, बता सकते हो?''

''क्या बताऊँ दादा! किया, क्योंकि कर सकता था और किये बिना रह नहीं सकता था।''

''सुनो, किये बिना रह नहीं सकते थे, इसलिए कि जेवर इनका था, रुपया इनके हाथ पहुँचाना था।''

''नहीं, नहीं, दादा!''

''फिर वही नहीं? कह चुका हूँ कि इसमें सन्तोष की बात नहीं है। लेकिन तुम्हें याद क्यों नहीं रहा कि यह भी दल का है?''

लाल की ओर से कुछ उत्तर नहीं आया।

हरिदा ने कहा, ''यह अच्छा है लाल, कि तुम चुप हो। यह बहुत अच्छा है! तर्क को कभी चुप बैठना सीखना भी चाहिए। दलील से हम अपने को बचाते हैं। दलील देते हैं और अपने को मान लेते हैं। सुखदा, तुम्हें बधाई दूँ कि लाल जैसा आदमी तुम्हारे लिए एक क्षण तो चुप पड़ सका। तुममें यह नहीं हुआ, सुखदा, कि यह दादा जो तुम्हारे कान्त का छुटपन का साथी है, नहीं जब जरूरी समझता कि तुमसे रुपया न लें, बल्कि जानते हुए जेवर बिकवाकर भी तुमसे रुपया ले लेता है, तब...मैं लोभी तो था नहीं! फिर इस रुपये की और जेवर की वापसी में तुम नहीं देख सकीं कि सिर्फ तुम्हारी हितैषिता नहीं है, कुछ उससे ज्यादा है, कुछ निषिद्ध है। कुछ सन्दिग्ध है, अस्पृश्य है।''

लाल चिहुँके, ''दादा!''

''लेकिन तुम क्या करतीं। स्त्री हो और लाल जैसा पुरुष!''

मैं पत्थर बनी कुछ भी नहीं कर सकी।

लेकिन लाल ने फिर रुँधी वाणी में कहा, ''दादा!''

दादा ने उधर मुड़कर देखा, कहा, ''लाल, इन लोगों का ख्याल होने की जरूरत पहले थी तो मुझे थी। क्या तुम्हें बतलाऊँ कि उस ख्याल ने ही मुझसे ऐसा कराया। आभूषण दूषण है। उस देश में जहाँ की आधी आबादी हर दिन भूखी सोती है, कलंक है। वहीं तुम कहोगे क्या कि आभूषण मैं सह लूँ? जो अपने हैं उनके पास में जेवर का होना सहूँ, तो मैं कैसी क्रान्ति चाहता हूँ। कान्त मेरा अपना है, इससे सुखदा भी अपनी है। ये लोग नंगे हो जाएँगे, दीन ही जाएँगे, बेसहारा हो जाएँगे—तो क्या बुरा होगा? वही तो होंगे जो उन्हें होना चाहिए। अब तो भरपूर बना बैठा है सो क्या इसलिए ही नहीं कि भीतर से वह रीता है? जो किया मैंने जान-बूझकर किया था, देखकर किया था कि अपने के साथ कर रहा हूँ। उसी को तुमने अनकिया करना जरूरी समझा! इसलिए कि तुम्हारा मन नहीं माना, इसलिए कि वह तुममें नहीं समाया। इस स्त्री का शरीर सामने आया तो वह तुममें उधर पसीज बहा! सिहरो नहीं, सहमो नहीं। लेकिन लाल, सब प्रेम क्या हमने देश के लिए नहीं माना था, उस पर नहीं वारा था? फिर उसमें से चोरी कर के इस स्त्री के लिए उस चुराये झूठे माल को देने का छल तुमने क्यों किया? बाकी छोड़ो, क्या यह गहरा द्रोह नहीं है?''

कहकर दादा प्रतीक्षा में चुप रहे। लाल भी निःशब्द रहे। फिर निवेदन के स्वर में, मानों पूछते हों, कहा, ''दादा, मैं कहूँ?''

''कहो।''

''एक शब्द है, आदर्शवाद।''

दादा हँसे, ''शब्द कहकर अपने लिए राह चाहते हो!''

"नहीं। लेकिन आदर्श क्या सब गढ़े हुए नहीं हैं, अधूरे नहीं हैं?"

"हो सकते हैं। हम अधूरे हैं तो सब अधूरा हो तो अनहोना क्या है? बल्कि अधूरा होने से ही आदर्श का आग्रह हमारे लिए जरूरी है। उस आग्रह में से ही पूरे होने की राह है।"

"दादा, क्षमा करें, आदमी हमारा ख्याल नहीं है, वह खुद में कुछ है। वह सन्देह है। कल्पना ही विदेह हो सकती है, जो उड़ती जाए वह धरती को न छुए। ऐसे तो दादा, आदमी न उड़ेगा। आदमी तो चलेगा ही और आदमियों पर चलनेवाला आन्दोलन भी चलेगा ही, उड़ने वह न पाएगा। नहीं तो निराशा हाथ आएगी।"

"आन्दोलन उड़े कि गिरे, वह पीछे है। वह चिन्ता हमारी नहीं है, तुमको भी वह चिन्ता ओढ़नी नहीं है। लेकिन उसमें रियायत न होगी। तुमने बाजार से किराये की स्त्री को लाकर कमरे पर रखा, क्यों?"

"उसे पैसे की जरूरत थी।"

"पैसे की जरूरत! जरूरत पैसे की किसको नहीं होती?"

"वह मेरी दूर की रिश्तेदारिन थी।"

"रिश्तेदार? पैसा उसको सीधा नहीं दिया जा सकता था?"

"नहीं दादा, नहीं दिया जा सकता था। उस पर एहसान का बोझ, मुझ पर कृतज्ञता का बोझ! नहीं दादा, वह नहीं हो सकता था।"

"कमरे पर रखना ही हो सकता था?"

"पुलिस का ध्यान उधर से हटाना जरूरी था।"

"समझता हूँ और जरूरत के लिए नीचता करना भी नीच नहीं होता, क्यों? और स्त्री का अपमान किया जा सकता है, सिर्फ इस आधार पर कि वह रिश्तेदार है, क्यों?"

"दादा, मुझसे आप पूछिए नहीं। आप साफ देखते हैं, फिर सफाई मुझसे क्यों माँगते हैं? आप जिन आँखों से देखते हैं वह मेरे पास नहीं हैं। मैंने किया वह जो मुझे समय पर सूझा। आप मन में दुविधा न लाइए। गैर-जिम्मेदारी से मैंने काम किया, तो मिनट भर सोच में न पड़िए। वह कीजिए जो आपने ऐसे समय किया है, और आप समझते हैं करना चाहिए। मैं आतुर होकर इसलिए आ गया हूँ कि आपको दुविधा में न रहने दूँ और कहूँ कि मैं हाजिर हूँ, मेरी यह गर्दन हाजिर है। लेकिन दादा, आदमी को अगर देवता बनाने की कोशिश में से अकृतार्थता हाथ आए, तो मेरे बाद मुझे याद कर लीजिएगा। आदमी में जो है उस सबको आप स्वीकार नहीं करेंगे, तो उसे ह्रास ही करेंगे, महान न बनाएँगे। आदमी में से कुछ अलग-अलग काटकर उसको पूरा नहीं किया जा सकता। काटना न होगा, बल्कि कुछ जोड़ना होगा। उधर पश्चिम की तरफ से आ रहा है एक तूफान! आप श्रेष्ठ को लेंगे, निकृष्ट को फेंक देंगे। वह उस फेंके हुए उच्छृष्ट को ही ध्वजा बनाकर उठा-बढ़ा चला आ रहा है। वह स्वप्नवाद नहीं

है, वह ठेठ तनवाद और कर्मवाद है। आदर्श नहीं, एकदम वह व्यवहार है। उसमें आत्मा की बात नहीं, आदमी की बात है। वहाँ स्त्री देवी नहीं है, और अलग नहीं है; वह स्त्री है और साथिन है। लीजिए, मैं कहता हूँ यदि आपको सन्तोष हो कि हम—इनको मैंने चाहा है। इसीलिए मेरा अब कभी इधर आने का विचार न था। पलायन कहें तो आप कहें। लेकिन क्या आप उस चाह को समझते हैं ? आप अपवित्र समझते हैं, मैं उसे पवित्र समझता हूँ। पवित्र न सही—चाह में से हम चलते हैं। कहता हूँ कि मैंने अपने ढंग से काम किया क्योंकि आपकी आज्ञा थी और आशा थी कि मैं करूँगा। करने का बोझ आपने ही मुझ पर डाला था। उस करने का निर्णय भी मुझ पर रहने दिया था। मुझे सन्तोष है कि किसी समय आपसे आये काम को मैंने अपने ऊपर से टाला नहीं। अपने ढंग से किया क्योंकि और किसी ढंग से कर नहीं सकता था। जानता हूँ, काम ही मेरे हाथ में था, काम की नीति मेरे हाथ में नहीं थी, वह आपके हाथ में थी। आपकी नीति से संगत मैं नहीं रह सका, तो यह मैं सामने हूँ। जो उचित हो सो कीजिए। लेकिन मैं झूठा हूँगा यदि मैं कहूँ कि आज उस नीति से मैं सहमत हूँ। उस दर्शन से ही सहमत नहीं हूँ जिससे नीति निकली है। मैं इस काम से सम्बन्ध तोड़ने को तैयार हूँ, अगर आपका निर्णय यह चाहे। नहीं तो सजा पाने को तैयार हूँ। लेकिन कहता हूँ, समग्र मनुष्य को हमें लेना होगा। नैतिकता आधे को लेती है। दादा, मैंने आपके सामने मुँह नहीं खोला। लेकिन आँख खोलकर अपने दल के ही भीतर देखिए। आप विचारों की ऊँचाई पर रहते हैं। नीचे के काम के लिए मैं हूँ। इससे आपकी निगाह में वे सब चीजें न आती होंगी। पर भूल में न रहिएगा दादा! वह अधमताएँ, जिनको आप अपनी वैराग्य की आँखों से संसार के रंग-राग के पुरुषों में देखते होंगे, यहाँ भी हैं। ये यहाँ बैठी हैं, इनसे क्या कहूँ। लेकिन मनुष्य मनुष्य हैं। अधोवृत्ति कहकर उस शक्ति से लाभ उठाने से अपने को ही हम वंचित करते हैं। रचनात्मकता वह है जो उसे स्वीकार करती और सफल करती है। निष्फल होने के लिए उसे छोड़ देना चूक है। दादा, आपने जो-जो अभियोग दिया, सच है। मैंने सब किया। जेवर लौटाया, पाँच हजार रुपया दिया, किराये की स्त्री को रखा। उसमें से किसी की सफाई मैं न दूँगा। मैं साफ हूँ तो न सफाई दूँ तो भी सब साफ रहेगा। साफ नहीं हूँ तो नहीं हूँ और सफाई काम न देगी। कितना साफ हूँ, कितना मैला, इसका फैसला मुझ पर नहीं, मेरी तरफ से आपके हाथ है। कहना मुझे यह है कि घर-गृहस्थी में जैसे-तैसे अपनी जीविका जुटाते हुए, इस-उस काम के चक्कर में जुते, चक्की-चूल्हे से बँधे असंख्य लोग जो जी रहे हैं, मैं उन सबको किन्हीं विचारों की ऊँचाई पर बैठकर नहीं देख सकता। दादा, इन असंख्य लोगों की जान पैसा है। आप पैसे को धूल समझते हैं। मैं भी एक तरह उसे मैल ही समझता हूँ। पर उन अनगिनत लोगों के आपसी नाना

व्यापारों द्वारा बने हुए इस बड़े समाज के शरीर का वह लहू है, यह जीवन को जगाये रखता है। वह जहाँ सूखता है, वहाँ आदमी सूख जाता है। इसलिए आत्म-नीति और धर्म-नीति को बाद में देखा जाएगा, अर्थ-नीति को पहले देखना होगा। आप पैसे से ऊँचे हैं, उससे अछूते हैं। पैसा आता है और आपके पैरों के तल को छूकर शान्त बैठ जाता है।''

लाल रुके ! पर दादा मौन रहे। लाल कहते गये, ''पर लोग हैं जिनके सिर के इतने ऊपर से होकर पैसा चलता है कि उनके लिए वह आसमानी बना रहता है। अपनी दिन-भर की मेहनत के जोर से या छल-प्रपंच की रीति से वे उसे बूँद-बूँद, कण-कण जोड़ते और बचाते हैं। उस पर उनकी ममता का ठिकाना नहीं। मानव प्रेम उससे नीचे रह जाता है। वह उस पैसे के बल खरीदा जाता है और बेचा जाता है। दादा, वह सरकार जिसको विदेशी कहकर हम हटाना चाहते हैं, इस पैसे को ढालने-छापने व चलाने की ताकत का नाम है क्रान्ति। उसी सरकार को बदल डालना है। क्रान्ति जो व्यावहारिक है पहले अर्थनीतिक है। राजनीतिक ऊपर से है, अर्थनीतिक भीतर से है। दादा, आपकी कृपा से ही तो मैं देश-विदेश घूमा हूँ। सब देखकर इस नतीजे पर आ गया हूँ कि सिर्फ नैतिक से काम नहीं चलेगा। क्षमा करें दादा, आपका बल उस पर ही है। नैतिक व्यक्ति को देखता है, हमें समाज को देखना है। दादा, नैतिक तो सापेक्ष है, समाज सनातन है। लेकिन मेरी बकवास पर ध्यान न दें, मुझे गिनती में न लें। आप ही का मैं बनाया हूँ, उसे मिटाना-बिगाड़ना आवश्यक हो तो तनिक भी चिन्ता न करें।''

मैं दादा को देख रही थी। कुछ देर तो उनकी निगाह शुरू में लाल की ओर एकटक लगी रही, फिर वह नीचे की ओर देखने लगे थे। लाल के उद्‌गार पर उन्होंने कोई संकेत नहीं दिया। धीरे-धीरे करके जब लाल शान्त हो गया, तब भी थोड़ी देर वह उसी तरह नीचे निगाह किये बैठे रहे। न ऊपर देखा, न बोले। उस समय गम्भीर स्तब्धता हो आयी। मैं निश्चेष्ट बैठी रही। उन दोनों व्यक्तियों के उस द्वन्द्व की मैं साक्षी हो पायी, इसे आज भी मैं अपना सौभाग्य गिनती हूँ। वह एक घटना क्या थी, अचम्भा ही था। जैसे दो आदि तत्त्वों का संघर्ष हों। दोनों विवश हों और दोनों एक नियति के हाथ में हों।

अनन्तर हरीश ने ऊपर देखा, पूछा, ''तुम देश से बाहर क्या नहीं जा सकोगे, लाल ?''

''नहीं, दादा! आपका प्रसाद लेने का अवसर छोड़कर न जा सकूँगा।''

''अच्छा,'' दादा ने कहा और मुझे देखा, तनिक रुके और बोले, ''पाँच मिनट इनको दूँगा, देने दोगे ?''

''जो आज्ञा।'' कहकर लाल उठे।

''ठहरो, स्वयं नहीं।''

और हरीश ने ताली बजायी जिस पर वही महाशय उपस्थित हुए।

दादा ने उन्हें कहा, ''देखो, पाँच मिनट मैं इनसे बात करूँगा। साहब ने अभी कुछ खाया-पिया न होगा, इन्हें ले जाओ। कुछ व्यवस्था है न?''

आदमी ने स्वीकृति में सिर झुकाया और वे दोनों चले गये। तब दादा ने मुझसे कहा, ''सुखदा, संकट देखती हो। दो दिन लाल को अपने पास रख सकती हो? कान्त को मैं कह-सुन लूँगा, तुम अपनी कहो।''

यह विलक्षण प्रश्न था। मैंने क़हा, ''नहीं।''

स्मित से बोले, ''नाराज न हो, सुखदा। जो सुना, समझो नहीं सुना और स्त्रीपन से काम न लो। कभी सीधे भी चल लेते हैं।''

मैंने हठात कहा, ''वह मानेंगे नहीं।''

''इसीलिए तुमसे कहा, सुखदा। इतनी उमर हो गये, पर इस मामले में वह बालक है। लेकिन तुम चाहो तो कर सकती हो।''

''क्या करना होगा?''

''प्यार करना होगा, जो तुम करती हो, लेकिन...।''

''दादा!''

''मैं दो दिन की उसे मोहलत देना चाहता हूँ। किसी के मरने में क्या है, मारने में क्या? चुटकी-भर का काम है। इसलिए उसकी जल्दी नहीं है। बोलो, करोगी? पास रखोगी?''

मैं कष्ट से भर आयी, कहा, ''वह नहीं रहेंगे, दादा।''

''मैं जानता हूँ। पर इसी में तो तुम्हारी परीक्षा है, और उसकी भी। सुनो, मैंने तुमसे कहा नहीं। प्रभात के पागलपन का ख्याल न करना। वह आज्ञा जानता है और कुछ नहीं जानता। उसके लिए मुझे क्षमा करना। यद्यपि मैं कह नहीं सकता कि यह ठीक था कि तुम आ बसीं और दल को मकान नहीं दिया। पर स्त्री गलती कब करती है! देखो, लाल को चाहिए कोई लगाम दे। और लगाम शायद देने वाला नहीं होता है, देने वाली होती है। इसलिए तुमसे कह रहा हूँ, ताकि वह बँधे, नहीं तो चाहता है तो मरे।''

मैं चौंक पड़ी, बोली, ''दादा!''

बोले, ''यही दादा का निर्णय है। तुम नहीं चाहती कि वह मरे। नहीं चाहती होगी तो मेरा कहना मानोगी। अच्छा, अब जाओ। इधर पीछे की तरफ लाल होगा, ले आओ।''

''वह आ ही रहे होंगे।''

"नहीं, तुम साथ बुला लाओ। उधर की तरफ, पीछे बगीचे के कोने में, छप्पर-सा देखोगी। जाओ, ले आओ।"

"वह आते तो होंगे।"

हरीश ने हँसकर कहा, "अच्छी बात है। स्त्री हो न, चलो अच्छा है। बैठी रहो।"

थोड़ी देर में पण्डा महाशय लाल को लाये और पहुँचाकर स्वयं चले गये।

दादा ने कहा, "बैठो लाल, दो दिन की तुम्हें मोहलत है। यहाँ कहाँ रहोगे?"

लाल ने कहा, "फाँसी के कैदी को तो खुले रखने और पूछने का कायदा नहीं है, दादा?"

"कायदा बन जाएगा अगर वह भागना तक न चाहे। कहाँ रहोगे?"

"सजा सुनाई गयी कि नहीं?"

"सजा तो कभी की तुम्हारी सुनायी हुई है। अपील इस सुखदा की थी। उसका फैसला दो दिन बाद होगा। तुम दो दिन यहीं कहीं रहोगे, कहाँ रहोगे?"

"वहाँ रहूँगा और मैं! मेरा एक ठिकाना है, दादा। दिल्ली तो मेरा शहर है।"

"लेकिन आप दो रोज रहेंगे।"

"दादा, इसमें खतरा है।"

"है, और अच्छा है। क्यों, नहीं ? इसके यहाँ रहोगे?"

"इनके? यह तो मेरे मकान पर कब्जा किये बैठी हैं।"

"अरे वही तो...।"

"कब्जा छोड़ रही हैं?"

"छोड़ेंगी क्यों?"

"तो?"

"तो क्या, तुम पर दया करने को तैयार हैं।"

मैंने कहा, "नहीं, नहीं।"

"इनकी न सुनो जी, मुझसे 'हाँ' कह चुकी है।"

लाल ने जोर से मानों धमकाते हुए, कहा, "नहीं।"

दादा हँस आये, बोले, "अच्छी बात है। लेकिन यह बताओ कि मेरा क्या इन्तजाम होगा, जमनावास ही रहेगा?"

"मैं तो सवेरे ही यहाँ पहुँचा हूँ।"

"अरे, तो होशियारी कहीं रखकर तो नहीं आये। यहाँ के लोगों को जानते हो। आज रह लिया, पर दो रोज और रहा तो मेरी जगह तुम लोगों के हाथ मेरे सिर का इनाम ही रहेगा, जानते हो। सुखदा, कान्त कह गया है, वहाँ रह जाऊँ?"

मैंने आश्चर्य से कहा, ''कान्त!''

''क्यों लाल, तुम क्या कहते हो?''

''मैं कहता हूँ, साधु-सन्त बिना गृहिणी के घर में भला कैसे रहेंगे? यह चली क्यों न जाएँ?''

''सुखदा, सुना! क्या कहती हो?''

एक क्षण मैं खोयी-सी रही। फिर एकाएक बोली, ''आज तो आप यहाँ हैं। हम दोनों शाम तक बात करके कहला देंगे।''

हरीश ने प्रसन्न भाव से कहा, ''यह ठीक, यह बहुत ठीक। अच्छा तो इस नकली साधु का तुम दोनों को आशीर्वाद है, जाओ।''

हम दोनों वहाँ से साथ उठ आये।

26

धर्मशाला से बाहर आते ही लाल ने कहा, ''सुखदा, मुझसे तुम्हें क्या सलाह करनी है?''

अब तक हम चुप थे। मैंने कहा, ''घर तो चलो, वहाँ...।''

लाल ने कहा, ''मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ।''

''मैं अकेली जाऊँगी?''

लाल ने उत्तर नहीं दिया। हम साथ चल रहे थे। उनके माथे पर बल थे, जैसे गहरे सोच में हों। मैंने बाँह से हिलाकर कहा, ''कहाँ हो, मुझे पहुँचाओगे नहीं?''

बोले, ''पहुँचाऊँ! अच्छा...आयी तुम अकेली थीं न?''

''अकेली आयी, सो क्या अब...?''

''अच्छा चल तो रहा हूँ, लेकिन...!''

मैंने कहा, ''तो रहने दो।''

हम अब तक सड़क के पास आ गये थे। वहीं उन पण्डे साथी ने हमें पकड़ा, वह लपकता हुआ तेज चाल से आया था और बिना मुझे ध्यान में लिए लाल को बाँह से पकड़कर अलग ले जाकर उनसे बात करने लगा। मैं अकेली विभ्रम में वहीं खड़ी उन दोनों को देखती रही। देखा कि लाल अधिकतर चुप हैं। आग्रहपूर्वक वह आदमी ही उनसे कुछ कहे जा रहा है, पूछे जा रहा है। एकाध शब्द में कभी वह जवाब देते हैं और चुप हो जाते हैं। पाँचेक मिनट में वे लोग पास आये और लाल ने कहा, ''लो अब ये तुम्हें पहुँचा देंगे।''

उस आदमी ने इस पर जल्दी से मेरी ओर देखकर कहा, ''नहीं, नहीं दीदी! आप इन्हें ले जाएँ और निगाह से ओझल न करें। फिकर न कीजिए, मैं होशियार हूँ। बाहर सब सँभाल लूँगा। मैं हाथ जोड़ता हूँ, दीदी! इन्हें अपने से ओझल न करें।''

लाल ने जोर से कहा, ''केदार!''

केदार ने कहा, ''आप इनकी न सुनिएगा, दीदी।''

''तुम बेवकूफ हो केदार, खतरा मुझे नहीं खतरा दादा को है। तुम इतना नहीं समझते! दादा को बचाना होगा।''

मैंने कहा, ''यहाँ क्या बात करते हो। चलो ताँगे में...।''

''क्या मुझे भी चलना होगा?''

केदार ने कहा, ''इन्हें छोड़िएगा नहीं, दीदी।''

बिना केदार की ओर देखे मैंने कहा, ''हाँ, चलना होगा।''

''अच्छी बात है। केदार, ताँगा कर लो और देखो दादा की निगरानी रखना।''

मैंने कहा, ''वह रहेंगे कहाँ?''

लाल ने कहा, ''यहीं रहेंगे, यहाँ भीड़ का लाभ कम नहीं है।''

''लेकिन वह तो कहते थे कि...।''

''हाँ, तुम्हारा घर ही ठीक रहता, पर कान्त खुशामद न करेंगे और तुम यों वहाँ जाओगी नहीं। इससे दादा का उस घर में जाकर रहना असामान्य दीखेगा और ध्यान खींचेगा।''

''तब?''

''यहीं रहना ठीक है या देखूँगा...।''

केदार ताँगा पास ले आया था और हम लोग उस पर बैठकर चल दिये। केदार, ताँगा निगाह में ले रहा तब तक, वहीं खड़ा रहा। लाल चुप थे। एकाएक बोले, ''यह आदमी गधा है। मुझे बचाना चाहता है। पर सुखदा, मैं दादा को जानता हूँ। पीछे जो होता, अब वह हैं तो मेरा बाल बाँका नहीं हो सकता। उनके मन को ये बेवकूफ नहीं जानते। इतना कोमल मन कहीं न होगा। वाणी कठोर है, पर वह तो भुलाने के लिए है। सुखदा, मुझे डर लग रहा है।''

''क्या डर लग रहा है?''

''जानता तो डर लगता ही क्यों। देखो, मुझे घर रोकना मत।''

''क्यों?''

''दादा यदि किसी ऊँचे सरकारी अफसर के यहाँ ठहरें तो ठीक रहेगा, वही देखना होगा।''

''तुम कहो तो मैं अपने घर चली जाऊँ?''

''जा सकोगी, सुखदा!''

''सब कर सकूँगी। पर दादा का कहना था कि तुम्हें मुझे अपने साथ रखना है।''

लाल ने कहा, ''दादा अतर्क्य हैं। पर मुझसे क्या तुम्हें डर नहीं है?''

''डर?''

''आदमी अपने को नहीं जानता, सुखदा। इसी से मैं वहाँ किसी तरह भी आकर नहीं रहने वाला हूँ। हम लोग विधि-निषेध नहीं जानते हैं। जानते हैं कि स्त्री स्त्री है, पुरुष पुरुष है, बाकी ऊपरी है। इसलिए अपने काम से काम रखना चाहिए। नहीं, नहीं सुखदा! दादा की मर्जी पूरी न होगी। उनका होकर उनके विश्वास को मैं हारूँगा नहीं और उनकी शंका को सही नहीं करूँगा।''

मेरी समझ में ठीक-ठीक इन बातों का अर्थ नहीं आ रहा था, पूछा, ''लाल, क्या होगा?''

मेरी आवाज की दहशत पर हँसकर लाल बोले, ''शायद समझती हो, मुझे मरना होगा! पगली! ऐसी आसानी से मरना मुझे नहीं आ जाएगा। यही तो मुझे शाप है।''

मैं उस हँसी पर और भी घबरा आयी। बोली, ''लाल!''

लाल ने अपनी बाँह पर से मेरे कसे हाथ को धीरे से छुड़ाकर अलग करते हुए कहा, ''एक काम करो, सुखदा! चलो अभी तुम्हारे घर तुमको उतार आऊँ। चलकर कान्त से कहेंगे कि दादा को ले आने का इन्तजार करें। क्या कहती हो?''

''अभी?''

''क्यों नहीं, अभी?''

''तुम क्या करोगे?''

''करूँगा क्या, रहूँगा।''

''कमरे में रहोगे?''

''वहाँ भी रह सकता हूँ।''

''फिर?''

लाल ने कहा, ''सुखदा, 'फिर' मेरे पास नहीं रहता। मेरे पास तो 'अभी' ही रहता है। 'फिर' मेरा भगवान के पास रहता है। भगवान! देखो, कैसी बुरी लत है। विश्वास से उस बला को छोड़ चुका हूँ, फिर मुँह पर वह आ ही जाता है। लेकिन इस काम के लिए भगवान रहे तो कोई हर्ज नहीं, यानी 'फिर' का बोझ सँभाले रहे, जिससे 'अभी' के साथ निबटने की हमें छुट्टी हो। सुखदा, 'फिर' मेरा कुछ नहीं।''

मैं एकाएक बोली, ''मरने के बाद क्या होता है, लाल?''

''बाद की नहीं, मुझसे तो पहले की बात पूछो, भई। मरने से पहले मरने का डर होता है। मरने से पहले जो होता है उसे जीना कहते हैं। जैसे अपने बल से कोई जीता हो। जीते हैं, इससे मरने से डर क्यों? जैसे जीते हम हों। अरे, हम-तुम नहीं

जीते सुखदा, जीता खुद जीवन है। वह इतिहास में जीता है, विकास में जीता है। वह मेरा नहीं, मुझसे-तुमसे नहीं है, बल्कि हम उससे हैं। वह है, हम नहीं हैं। जब हम हैं ही नहीं तो मरने का डर, भला कैसे मजे की बात है! कहो सुखदा, चलें घर?''

''यह मजाक तो नहीं कर रहे हो?''

''छोड़ो। बोलो, चलें?''

देखा कि हम सचमुच अपने घर आ पहुँचे हैं। लेकिन वहाँ तो बाहर ताला पड़ा था। मैंने कहा, ''अब कहो?''

बोले, ''यह असगुन है, सुखदा।''

''फिर?''

''कान्त कहाँ गये होंगे?''

''माँ के गये होंगे।''

''चलो, वहीं चलें।''

मैं इसके लिए तैयार न थी। लेकिन लाल को इसमें कोई असंगति प्रतीत न होती थी।

मैंने कहा, ''नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। तुम्हारे साथ।''

''मैं साथ क्यों जाऊँगा?''

मैंने कहा, ''नहीं, मैं वहाँ हरगिज नहीं जाऊँगी।''

मुझे उस समय जाने क्या आन पड़ गयी थी। न जाने के पक्ष में तर्क कुछ दे नहीं सकती थी। लेकिन स्त्री अटकती है तो फिर डिगती नहीं है। बात कुछ नहीं होती, पर अड़ सब-कुछ होती है।

लाल ने कहा, ''एक काम करता हूँ; ताला तोड़े डालता हूँ।'' कहकर वे फौरन इस काम पर उतारू हो गये। मुझे बड़ा असमंजस था। ताँगे वाले के लिए हम दृश्य बन रहे होंगे। मैं संकुचित हुए जा रही थी। पर जैसे लाल को इन सब बातों का ध्यान ही न था। आखिर ज्यों-त्यों मैंने उन्हें रोका और हम लोग कमरे पर आये। लाल इस शर्त पर सहमत हुए कि वह, न होगा तो, दफ्तर जाकर कान्त से चाबी ले आएँगे और मैं शाम तक इस घर में जा पहुँचूँगी। उन्होंने कहा कि शाम को वह दादा को खबर देंगे कि कान्त का घर तैयार है और वह रात के लिए वहीं रह सकेंगे। कमरे पर आते ही लाल चलने को उतारू हुए।

मैंने कहा, ''सुनो न, कहाँ जाते हो। अभी नहाये-धोये न होंगे।''

''इसीलिए तो जाता हूँ, नहाऊँगा-धोऊँगा।''

''हाँ, कपड़े तो तुम्हारे। कहाँ हैं?''

''वहीं होंगे जहाँ हैं—मैं चला।''

''अच्छा, जरा देर को अन्दर तो आओ। एक बात कहनी है।''

आकर वह बैठे नहीं, पूछा, ''कहो क्या बात है?''

''बैठ तो जाओ,'' मैंने कहा, ''हाँ, तुम गये दादा के पास से पीछे की तरफ तो वहाँ कोई था?''

''क्यों! केदार तो था।''

''मजाक न करो, सच बताओ।''

लाल ने हँसकर पूछा, ''क्यों?''

''मैंने किसी को देखा था, शायद प्रभात को। पीठ की तरफ से देखा था, कोई और भी हो सकता है। कोई था?''

''सब थे।''

''सब कौन?''

''बस, सभी।''

''तुम उनके बीच में रहे?''

''हाँ, बीच में रहा और मजे में खाता और पीता रहा!

सुनकर मुझे डर हुआ, घबरा आयी और व्यग्र भाव से उन्हें देखती रह गयी।

लाल ने कहा, ''सुखदा, दादा की मुट्ठी सख्त है। इससे कोई डर की बात नहीं है।''

मैंने मानों निहोरे लेते हुए उस समय उनसे कहा, ''डर तो मुझे है लाल, वे तुम्हारे शत्रु हैं।''

''हों, लेकिन उससे कुछ होता नहीं है।''

''मैं क्या करूँ?''

''मेरे लिए क्या करो? नहीं, उसमें तुम्हें कुछ करने को नहीं है।''

उस समय नहीं जानती मुझे क्या हुआ। एकदम अकल्पनीय ही हुआ, क्योंकि क्षण भर पहले मालूम न था कि ऐसा हो सकेगा। लाल के कन्धों पर हाथ रखकर मैंने कातर-भाव से जैसे प्रार्थना की। कहा, ''लाल, कहो, तुम अपने को बचाओगे। नहीं तो मैं जाने नहीं दूँगी।''

लाल ने आहिस्ता से दोनों हाथों को गले पर से हटाते हुए कहा, ''पगली!''

इतना ही कहा, आगे और कुछ नहीं कहा।

मैं और भी अवश भाव से खड़े होकर उसकी गर्दन में बाँहें डाल, अपना सिर उसकी छाती पर टेककर मानों सुबक उठी, कहा, ''लाल!''

लाल ने गम्भीर वाणी में कहा, ''पगली न बनो सुखदा, मैं आदमी हूँ।''

कहकर मेरी जकड़ को खोल और कुछ बल से मुझे सोफा पर डाल, वह चले गये। मैं वहाँ जोर-जोर से साँस लेती पड़ी उनके कदमों की आवाज सुनती रही और अनुमान से देखती रही कि वह ताँगे में बैठे हैं, चेहरे पर विकार नहीं है और ताँगा

चला गया है।

स्त्री का यह क्या हाल है! क्या है जो उसको अवश कर जाता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती, गलकर पानी बन जाती है! पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है, तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रहता, कुछ चुनौती नहीं रहती। पर जब नहीं आता उसमें, बल्कि या तो उसे लाँघकर या उससे लौटकर जाता, वह कहीं किसी अनबूझ में है, वहाँ, जहाँ उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं, तब स्त्री को एक-साथ क्या हो आता है! जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने को उसका सारा मान एक ही साथ आकर पलड़े में झुक पड़ने को आतुर हो जाता हो! उस अनबूझ की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की आन पर जैसे वह प्राण-प्रण से तुल आती है। तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कहीं वर्जन रहता है, न पाप रहता है, न समाज रहता है। मानों वह होती है और सामने चुनौती। तब अपने में वह रह नहीं पाती, अपने को अतिक्रमण उसे करना ही पड़ता है। स्त्री इस चुनौती के जवाब पर देवी बन जाती है, डायन बन जाती है और स्वयं देखकर विस्मय में रह जाती है कि वह कब स्त्री नहीं रही।

लाल चले गये तो चले ही गये। मिनट-के-मिनट हो गये; दस, पन्द्रह, बीस, आधा घण्टा हो गया। आँखें फाड़े पड़ी-पड़ी कमरे को मैं देखती रही, तनिक कुछ और न किया। अन्त में उठी और काम में लगी।

दोपहर डेढ़ बजे के करीब स्वामी आये। मैंने आश्चर्य से कहा, ''इस समय तुम कैसे आये?''

सहज वाणी में बोले, ''यह लंच का वक्त मिलता है न। लाल ने दफ्तर में आकर कहा था। मैं यहाँ हूँ, कहो?''

''क्या कहा था कि मैंने बुलाया है?''

''हाँ, हरीश को घर लाने की बात थी न। क्या कहती हो?''

''तुम क्या सोचते हो?''

''मुझे तो अब तक यह सूझा ही न था। हरीश की अपनी सुविधा है। मैं इधर उससे दूर पड़ गया हूँ, इससे...लेकिन उसका तो घर ही है। उपचार की बात तो हमारे बीच है नहीं। उसे तो उसके लिए ठहरना नहीं है कि मैं बुलाऊँ।''

''बिना बुलाये कैसे आएँगे?''

''नहीं, तुम उसे जानती नहीं। लेकिन क्या कहती हो, बुलाने जाऊँ? लाल का ख्याल था कि...।''

''तुम क्या सोचते हो?''

''मैं कुछ नहीं सोचता। हरीश के बारे में मुझे सोचने की जरूरत नहीं, सोचना सब उसे है। लेकिन तुम कहो?''

''सुनती हूँ, जमना की जगह निरापद नहीं है।''

''तो घर ले आएँ। सोच लो।''

''मुझे भी चलना होगा?''

''लाल की यही राय थी कि गृहिणी के घर में साधु का आना सहज दीखेगा, नहीं तो...।''

मैंने कहा, ''देख लो, तुम सरकारी नौकर हो!''

स्वामी बोले, ''मेरे नहीं, यह तुम्हारे देखने की बात है। मेरा तो वह बाल-बन्धु है, और घर की जरूरत स्त्री से है। आदमी भला...।''

मैंने कहा, ''मैं साथ चलूँ?''

बोले, ''देख लो।''

मैंने झल्लाकर कहा, ''देख क्या लो! कहते हो कि चलना होगा तो चली चलूँगी।''

स्वामी ने हँसकर कहा, ''वह तुम्हारा ही तो घर है। मुझे उसमें क्या कहना है?''

झींककर बोली, ''नहीं कहना है तो यहाँ मैं मजे में हूँ तो। फिर तुम किसलिए आये हो?''

''कुछ कहने नहीं आया सुखदा, पूछने आया था।''

मैंने जोर से कहा, ''सवेरे कहाँ गये थे?''

''उधर ही चला गया था, जरा विनोद की तरफ। क्यों?''

''क्यों गये थे?''

मुँह से निकलने के बाद मैं स्वयं ही सोचने लगी कि भला यह क्या प्रश्न हुआ और क्या इसका मतलब है!

स्वामी ने कहा, ''कुछ नहीं, जरा...। हाँ, हरीश को चलकर बुलाना हो और घर ले चलना हो तो कहो। नहीं तो मैं जाके दफ्तर का काम निबटा आऊँ। लाल की ठीक राय है कि हो तो दोनों को साथ जाना चाहिए और हरीश आए तो दोनों को घर पर रहना चाहिए।''

मैं निर्णय अपने हाथ नहीं चाहती थी। झल्लाकर बोली, ''मैं कुछ नहीं जानती।''

स्वामी ने अप्रभावित भाव से कहा, ''अच्छी बात है। मैं चलता हूँ, दफ्तर का काम ही थोड़ा देख लूँगा।'' कहकर सचमुच वह जाने को उद्यत दीखे।

मैंने कहा, ''कहते हो—बाल-बन्धु, बाल-बन्धु। इतनी ही बस तुम्हें उनकी चिन्ता है?''

"तुम नाराज हो सकती हो, पर देख लो। अच्छा, मैं चलता हूँ।"

इस बार मैंने उन्हें रोका नहीं और बिना ठहरे वह फिर दफ्तर के लिए चले गये।

मेरा जी हुआ कि अपने को नोच डालूँ। यहाँ-वहाँ की चीजों को एक झपट्टे में तितर-बितर कर दूँ। यह क्या होता है समझ में नहीं आता। दो के बीच यह बेतुकापन क्या है कि संगत कुछ होने के लिए बचता ही नहीं।

उसके बाद वह दिन निकल गया और शाम होने के निकट आ गयी। मैं कुछ स्थिर न कर पाती थी। एक मन होता था कि जाकर दादा को घर ले आऊँ और शाम को स्वामी आएँ तो प्रसन्न-विस्मय से रह जाएँ। एक मन होता था कि कुछ न करूँ, हो-सो-हो। मैं अपने में रहूँ कि इस-उससे वास्ता ही न रहने दूँ।

शाम के करीब लाल आये। मुझे देखकर कहा, "यह क्या! तुम यहाँ?"

मैंने कहा, "और नहीं तो...।"

बोले, "कान्त नहीं आये! तुम गयी क्यों नहीं?"

माथे पर उनके बल दीखे। इससे मेरे मन में भी जैसे बल पड़े। मानों धमकाते हुए बोले, "दूसरों की जान पर बीतती है और तुम्हें तमाशा हो रहा है! क्यों नहीं तुम कान्त के पास जा सकीं, कहो तो?"

मैंने कहा, "लाल!"

"क्यों, मर जाऊँगा मैं तब तुम मानोगी! कहो, मरना हो उससे पहले मर जाऊँ! सुखदा, तुम क्या चाहती हो?"

मुझे उस समय उनके रोष पर स्वयं भी रोष आ रहा था। लेकिन जैसे मैं इतनी भी अपने वश में न थी कि आवश्यक क्रोध भी ला सकूँ, बोली, "लाल!"

लाल ने कहा, "तुम बलिदान देने पर क्यों तुली हो, सुखदा?"

सुनकर जी हुआ कि एक-साथ सामने वाले व्यक्ति को धक्का देकर दूर कर दूँ। लेकिन बोली, "ओह, लाल!"

लाल ने कहा, "तो लो, यह बैठता हूँ। हो, जो होनहार हो।" कहकर कोच में आ बैठे। बोले, "बता, अब तू क्या कहती है?"

मैं सामने उनकी तरफ देखती ही रह गयी, बोल नहीं सकी। मेरी आँखों में जाने क्या था। मन में तो कैसी-कैसी लपटें थीं—क्रूरता की और वेदना की। लेकिन उनकी आँखें सामने थीं। क्षण में उनमें एक लहर लहक आयी दीखी। वह आँखें अब जल रही थीं। दाँत मिसमिसाकर कहा, "बता, क्या कहती है?"

कहने के साथ वे खड़े हो आये। हाथों के पंजे फैले। उँगलियाँ उनकी तन के कस आयीं। उन दोनों पंजों से कन्धों पर मुझको झँझोड़ते हुए, मेरी आँखों में आँखें डालकर उन्होंने कहा, "कह, तू क्या कहती है?"

वह क्षण मुझे भूलता नहीं—जीवन और मृत्यु के बीच का वह क्षण! दोनों मानों

एक होकर उस क्षण में पिघल आये थे। इस तरह बाघ के से अपने सख्त पंजों में मेरे कन्धों को कसे, मेरी आँखों को वह ऐसे देख रहे थे जैसे नहीं बूझ पाते हों कि मैं हूँ, कि क्या हूँ, कि नहीं हूँ। वह क्षण अनन्त होता चला गया। समय तब न था और वह पल त्रिकाल से बाहर और अन्तिम था। देखते-देखते असह्य हिंसा से उन्होंने मुझे अपने में जकड़कर दबोच लिया।

उस समय मैंने शारीरिक और आत्मिक दोनों किनारों से अनुभव किया कि मैं नहीं हुई जा रही हूँ। मरी जा रही हूँ, निश्चय जीने से अधिक हुई जा रही हूँ। कब मुझे अलग किया और छिटकाकर दूर फेंक दिया, मैं नहीं जानती। मैं सोफे में आ गिरी। वह क्रोध में हो बैठे, कहा, "जाओ, बच गयी तुम।"

वह हँसे, कैसी वह हँसी थी!

बोले, "इस बार बच गयी, आगे मौत मत बुलाना।"

मैं आयी और उनके पैरों में बैठकर बोली, "मुझे मार दो, मार दो।"

लाल, मुझे याद है, मुस्कुराये थे। वह मुस्कुराहट कड़वी थी पर हिंसक न थी। कहा, "मौत के मुँह में न पड़ो, सुखदा! तुम गलत समझती हो कि मैं मरने वाला हूँ। इसी से तो मुझमें आने से अपने को रोकना मुश्किल पाती हो। मेरा नहीं है, जानता हूँ वह मौत का आमन्त्रण है, उसका आकर्षण है। छोड़ो, दादा का प्यार मुझसे टूटेगा नहीं, सुखदा—आओ, अब!"

मैंने कहा, "कहाँ?"

"दादा के यहाँ, उन्हें कान्त के पास ले चलना है।"

मैंने कहा, "लाल!"

बोले, "जाओ, तैयार हो जाओ।"

मैंने कहा, "नहीं मैं नहीं। किस मुँह से अब मैं जाऊँ, लाल?"

स्मित से बोले, "इसी मुँह से, जो हम लोगों को अन्धा कर देता है। क्यों बोझ हम ढोये फिरते हैं? जो है वह है। सत्य में कुछ नहीं है जो हव्य न हो, इसलिए दुविधा की जरूरत नहीं है। प्रेम पर ही विजय पा सकता है, सुखदा, कोई कर्तव्य पर नहीं। क्योंकि प्रेम से बड़ा कर्तव्य होता नहीं। आओ, चलो।"

"लाल!"

"चलो उठो, तैयार होकर आओ।"

ऐसा जान पड़ा जैसे मैं मुक्त हुई। उठी, प्रफुल्लता में भर आयी। मैंने मुस्कराकर लाल की तरफ देखा, कहा, "चलूँ?"

लाल ने उसी खुले भाव से मुस्कराकर कहा, "हाँ, और दो मिनट में।"

लगा जैसे जाने क्या ऊपर से छँट गया है। सामने से हट गया है, भीतर से खुल गया है। मानों मैं हल्की हो आयी। जैसे मीठी धूप में सजाती, खिलती, इठलाती,

हल्की-फुल्की बदली होऊँ!

और हम दोनों जमना घाट पर दादा के यहाँ आये।

27

शाम के सात का समय हो रहा होगा। जमना घाट सूना था, बस इक्के-दुक्के कुछ लोग जहाँ-तहाँ दीखते थे। दादा अपने स्थान पर हमें मिले नहीं। पीछे छप्परवाली जगह भी कोई न था। वहाँ की व्यवस्था भी उखड़ी-सी जान पड़ती थी। यह हमारे लिए अप्रत्याशित था। लाल भी कुछ समझ न सके। मुझसे पूछ उठे, ''तुम क्या समझती हो, सुखदा?''

मानों मैं उपलक्ष्य थी। पूछ वह अपने से रहे थे। किन्तु उत्तर नहीं पाया। हम लोग लौटकर जमना किनारे घूमते रहे। समय सूना और सुहावना था। दिन के उजाले पर हल्की-हल्की सन्ध्या की छाया उतरने लगी थी। मानों वातावरण में अलसता थी। करने-धरने का दिन वाला धूप का समय ढल गया था। अब मानों विश्राम प्रकृति पर और जगत पर धीरे-धीरे आकाश की ओर से उतर रहा था। मैं लाल के साथ चल रही थी, पर लाल को जैसे वातावरण की शान्ति का पता न था। उसका हँसता रहने वाला मुँह उस समय हँस नहीं रहा था। वह बन्द था और भँवों पर तनिक तनाव था।

मैंने कहा, ''लाल, आओ नाव में चलें।''

जैसे कहीं बीच में से टूटा हो, लाल ने कहा, ''क्यों?''

''नाव! देखो, वह दीखती है। पार से आ रही है। उसमें बैठकर चलो, पार चलेंगे।''

लाल ने जैसे सुना तो, पर समझा नहीं, कहा, ''इस वक्त?''

''कैसा तो अच्छा वक्त है!''

''और दादा?''

''वह तो हैं नहीं कहीं भी।''

''कहीं तो हैं, आओ...।''

कहकर मुझ थमी हुई की उन्होंने उँगली पकड़ी और हम आगे बढ़ते गये। एक फर्लांग, दो फर्लांग, हम चलते ही गये। लाल चुप थे। मैंने पूछा, ''कहाँ जा रहे हो?''

बोले, ''पूछो नहीं, चले चलो।''

चलते-चलते मील भर हम निकल आये होंगे। मैं कुछ समझ न पा रही थी। पर मुझमें कुछ बोलने की आवश्यकता भी न थी। सन्ध्या की छाया अब सिर्फ ठण्डी

न रही थी। वह धीमे-धीमे अँधियारी पड़ती जा रही थी। घाट पीछे छूट गया था। अब वह दीखता भी न था। बना और पक्का जो था सब पीछे रह गया था, आगे उजाड़ और बियावान आता जा रहा था।

मैंने कहा, "लाल...।"

लाल ने सिर्फ कहा, "रुको नहीं, चलो।"

अब हम एक टीले पर चढ़ रहे थे। उजाले का सिर्फ अब नाम ही था। हम चल भर ही सकते थे। आसपास की झाड़ियाँ जीती और दुबकती-सी लगती थीं। हम टीले पर आ गये। यहाँ कुछ दरख्त थे। मैं समझ रही थी, हम भटक रहे हैं। लेकिन लाल के कदमों में विकल्प न था। जैसे उनमें दिशा थी और जानकारी थी। और वही हुआ। पेड़ों के झुरमुट के बीच एक खुले में हम पहुँचे, जहाँ कुछ लोग जमा थे।

लाल ने कहा, "दादा!"

"तुम हो, लाल! आओ। सुखदा भी है?"

सब को अलग-अलग करके पहचाना नहीं जा सका। अँधियारा काफी उतर आया था। सात-आठ आदमी होंगे। अनुमान कर सकी कि कौन-कौन होंगे। पहुँचने पर ऐसा लगा जैसे हम वहाँ अयाचित हों। हरीश की ध्वनि में हमारे लिए स्वागत हो भी, और लोग स्पष्ट ही उल्लसित न थे। जैसे हमारे आने से विघ्न पड़ा हो। सभा रुककर स्तब्ध हो गयी थी। "बैठो!"

हम दोनों बैठ गये तो हरीश ने कहा, "तुम लोग आ गये! चलो एक तरह से अच्छा ही हुआ। लाल, तुम्हारी ही चर्चा चल रही थी। मैं इनसे अभी कह रहा था कि अब किसको अलग करने की बात करते हो। आओ, सभी हम सब अलग-अलग हो जाएँ। काम को भंग कर दें। क्यों लाल, तुम्हारा क्या विचार है?"

लाल ने कहा, "मुझको अलग करने का प्रश्न है न दादा? इसके लिए काम का भंग क्यों होगा? मुझको एक—एकदम भी अलग किया जा सकता है। मैंने कब मना किया है?"

दादा ने कहा, "सवाल तुम्हारा नहीं, तुमसे बड़ा है लाल! तुम्हारा जहाँ तक है, वहाँ तक तो कठिनाई नहीं है। फैसला एक हो चुका था और अब भी है। द्रोह का परिणाम एक ही होता है, दो नहीं होते। लेकिन तुम सवेरे, अपने पश्चिम से एक तूफान के बढ़ते चले आने की बात कहते थे। वह तो दूर है, मुझे यहाँ की बात कहनी है। गाँधी की आँधी उससे छोटी चीज नहीं है। मैं उन दोनों की ही बात सोच रहा हूँ अब। सोचता हूँ, क्या अब यह काम बन्द नहीं हो जाना चाहिए। यही साथियों से पूछ रहा था। मेरे बाईस बरस इसमें गये हैं। विश्वास मेरा डिगा नहीं है, लेकिन समय तो आगे बढ़ता है। शायद समय आगे बढ़ गया है। शायद अब जो आन्दोलन हो, व्यापक हो, खुला हो। हमने काम किया और काम वह मूल का था, ऐतिहासिक था।

हमने आग जगायी और चिनगारी फूँकी। लेकिन अब दावानल दहकेगा। चिनगारियाँ चटखाने की जरूरत नहीं। अपने वेग से ही अब वह फैलेगा और दल का वह नहीं राष्ट्र का अभियान होगा। कोटि-कोटि जनता हुंकार कर उठेगी। इससे मैंने कहा कि आओ, दल को हम विलीन कर दें और जनता में खो जाएँ। वही बात चल रही थी लाल।''

एक आदमी ने कहा, कहने के साथ मैंने पहचाना कि वह कोहली था, ''दादा, लाल को इस सभा में न बुलाने का निश्चय हुआ था।''

''लेकिन आ गया है,'' दादा ने कहा, ''और हमारे निश्चय से यह बढ़कर बात हुई है। हम आदमियों के निश्चय को भगवान ही अब काटें तो क्या किया जाए? वह तो सब जानते हैं।''

''इसका क्या निश्चय है कि यह अनायास आये हैं या खबर मिलने पर आये हैं?''

''खबर मिलने पर क्या समय पर नहीं आया जा सकता था?''

कोहली ने कहा, ''उसी तरह यह बतलाने के लिए कि आना अनायास हुआ है, जान-बूझकर देर से नहीं आया जा सकता था?''

दादा ने एक शब्द में कहा, ''कोहली!''

शब्द में कड़क थी। कुछ देर सब सुन्न रहे। फिर कोहली बोला, ''क्या यहाँ बैठे सब लोग शपथ लेंगे कि उनमें से किसी ने कहा?''

दादा ने शान्त और दृढ़ स्वर में कहा, ''मैं यहाँ हूँ कोहली और तुम्हें इसका ध्यान रखना चाहिए। तुम्हारा शक किस पर है, साफ कहो?''

''शक की बात नहीं है, लेकिन...।''

''बात शक की ही है, नाम बताओ?''

''नहीं दादा...।''

''नाम बताओ।''

''साहब से ही पूछ लीजिए।''

''नाम बताओ, कोहली! नहीं तो—।''

कोहली ने इधर-उधर किया। हरिदा ने भरी साँस छोड़ी, कहा, ''मैं क्या करूँ? मैं कुछ नहीं कर सकता। हममें क्षुद्रताएँ आ रही हैं। हम शक करते हैं, शक साफ नहीं करते। ऐसे कुछ नहीं चलेगा। कोहली! तुममें अपूर्व हिम्मत होनी चाहिए, जुबान की नहीं, दिल की हिम्मत। काम दिल करता है, जबान खराब ही करती है। बता सकते हो, किस पर शक है?''

''दादा अपने—!''

"मुझ पर शक है! कोहली तुम भूलते हो।"

कोहली ने कुछ बोलना चाहा। दादा ने कहा, "नहीं, अब चुप रह सकते हो। सुनो, तुम लोग जितने यहाँ बैठे हो, क्या लाल से माफी माँग सकते हो?"

सब निस्पन्द बैठे रह गये।

"माफी इसलिए कि तुम लोग...शायद एक को छोड़कर, सब उसकी जान चाहते हो। जिसकी जान लोगो उससे माफी माँगना अच्छा होता है।"

"किस बात की माफी?" एक कोने से दबी-सी आवाज आयी। फिर वही जरा उभरे स्वर से दो ओर से दुहरायी गयी।

हरिदा ने कहा, "इस सबूत के लिए माफी कि तुम शिष्ट और सज्जन हो। कोई तुममें चाहता है कि वह शिष्ट न हो?"

एक ने फुसफुसाकर कहा, "लाल निर्लज्ज है।"

दूसरे ने कहा, "नीच है!"

तीसरे ने कहा, "बिक गया है!"

चौथे ने कहा, "भेदिया है!"

हरिदा बीच में नहीं बोले। जब शोर शान्त हुआ तो उन्होंने कहा, "और कुछ किसी को कहना है?"

एक ने कहा, और मैंने पहचाना कि वह प्रभात है, "उनसे कहिए कि वह चले जाएँ।"

दादा ने शान्ति से सुना, फिर पूछा, "और कोई यह चाहता है?"

उत्तर में कोई नहीं बोला।

दादा ने कहा, "जो यह चाहता है, वह चाहे तो खुद चला जा सकता है। नहीं तो अपने शब्द वापस लेकर बैठा रह सकता है।"

प्रभात एकाएक कुछ बोला नहीं।

दादा ने कहा, "आप शब्द वापस न लेना चाहें तो जा सकते हैं।"

प्रभात ने हकलाते हुए कहा, "वापस लेता हूँ।"

दादा ने कहा, "और माफी माँगता हूँ।"

"माफी माँगता हूँ!"

दादा का चित्त दुःखी हो आया था। दुःख उनकी वाणी में बज उठा। कहा, "साथियो, हम सब यहाँ सिर्फ एक राह के राही हैं। साथी हैं, फिर भी मैं राह लम्बी चला हूँ। मैंने दूसरा कुछ जाना नहीं। सोलह-सत्रह वर्ष का था तब से इसमें हूँ। आप लोग शायद इस लम्बी अवधि की वजह से ही मुझे अपने बीच बड़ा मानते हैं। यों पुराने को बड़ा नहीं कहना चाहिए। लेकिन अपने आदमियों में यह प्रथा चलती है। आयु को हम विनय देते हैं। उससे काम में आसानी भी होती है। जान सबके हैं, और

बराबर हैं। लेकिन हम लोग आपसी विनय के नियम बनाकर व्यवहार की कुछ मर्यादाएँ खड़ी करते हैं। ऐसे मानव-संस्कृति बनती है। मेरा ख्याल है कि हम कुछ भी करें, उस मूलभूत विनय को छोड़ना नहीं चाहिए। आप लोगों से मैं कह रहा था और फिर कहता हूँ, कि शायद हमारा काम हो चुका। हरेक अपने समय के लिए होता है। अपनी उपयोगिता को लाँघकर किसी को जीना नहीं चाहिए। मैं बहुत सोच रहा हूँ। लोगों के मन बदल रहे हैं। पुरानी बुनियादें काम नहीं दे रही हैं। मैं हारा नहीं हूँ, लेकिन समय को पहचान रहा हूँ। अन्तिम बार के लिए मैंने आप लोगों को यहाँ बुलाया है। मेरा विचार है कि दल भंग कर देना चाहिए। मतलब यह नहीं कि सब आराम से बैठें। बल्कि यह कि अपनी-अपनी जगह अपनी बुद्धि से काम लेकर अपनी परिस्थितियों में से राह निकालें और जो एक राष्ट्रीय आन्दोलन हमारे बीच धीरे-धीरे प्रबल हो रहा है, उसमें अपनी जगह लें। बहस मुझे नहीं चाहिए। आपकी बातें तो सुन ही चुका हूँ। आपका जोश कीमती है। अपनी जिम्मेदारी पर जो आप करें, आपको आजादी है। पर सवेरे से मेरे मन में जो बात घूम रही है और अब पक्की हो गयी है, वह यह कि दल भंग हो जाना चाहिए। एक लक्ष्य और एक नीति अब हमें सहज भाव से जुटाये नहीं रखती। भीतरी भेद पड़ रहा है। इससे मैं कहता हूँ कि आप लोग जाएँ। हलके होकर नहीं, क्योंकि काम बहुत पड़ा है और देश पराधीन है। लेकिन दल का रूप अब नहीं रहेगा। केदार!''

''जी।''

''सुनो, सब लोग यहीं बैठेंगे। मैं चल रहा हूँ। लाल चलो, सुखदा चलो। केदार, तुम लोग बीस मिनट तो यहीं हो। साथ कोई नहीं आएगा, जमना का डेरा उखड़ चुका है। तुम्हें मालूम है, सवेरे कहाँ मिलना है। अच्छा साथियो, बन्दे!''

उपस्थितों में कोई नहीं हिला और केवल हम तीन वहाँ से अपना मार्ग बूझते हुए टीले से उतरते आये और जमना के किनारे-किनारे चलने लगे।

दादा ने कहा, ''लाल, तुम कैसे इधर आ गये थे?''

''आप स्थान पर मिले जो न थे।''

''तो भी नहीं आना था। (मुझसे) कान्त नहीं आया, क्या बात है?''

''मैं आयी हूँ। आप घर चल रहे हैं न?''

''घर! कौन से घर?''

मैं लजाकर बोली, ''घर तो एक ही होता है। नकली तो होता नहीं।''

''हाँ, असली घर, वही मैं पूछता हूँ। लाल आया है, कान्त तो नहीं आया। लेकिन मैं कहीं किसी घर में नहीं जा रहा हूँ। लाल, अब तो सब भंग हो गया, फिर सोच में हो?''

''क्या सब भंग हो गया, दादा?''

"सब सपना भंग हो गया। तुम दोनों साथ रह सकते हो!"

"आप मुझे जानते हैं दादा, फिर कैसी बात कहते हैं?"

"बात बुरी नहीं कहता। क्यों सुखदा! बुरी कहता हूँ?"

चलते-चलते सब सड़क पर आये। थोड़ी दूर चलने पर एक गाड़ी खड़ी मिली। ड्राइवर ने कुछ दूर से देखकर ही दरवाजा खोल रखा था।

दादा ने कहा, "बैठो।"

हम कुछ देर सकुचाते रहे तो उन्होंने आग्रह के स्वर में कहा और हम लोग अन्दर बैठ गये। बैठने पर दादा ने पूछा, "कहाँ छोड़कर आना होगा तुम लोगों को?"

लाल ने पूछा, "आप कहाँ जाइएगा?"

"इनके घर भी जाऊँगा, लेकिन तुम लोग...!"

"तो वहीं चलिए।"

मैं बीच में थी। बाएँ हाथ दादा थे। रास्ते भर लाल मौन रहे और दादा सिर्फ मुझसे हल्की-चलती बातें करते रहे। यही कि कान्त की कैसी, क्या आमदनी है, और क्या-क्या काम करता है, बच्चे का क्या रहा?—आदि-आदि।

घर पर स्वामी मिले। जैसे वह दादा की प्रतीक्षा में थे। लेकिन हम दोनों का भी साथ-साथ आना उनके लिए विस्मय का कारण बना।

दादा ने कहा, "कान्त अब देर न लगाओ, जल्दी करो और हम लोग (मुझसे) चलो, तुमको कमरे पर छोड़ते जाएँ। क्यों कान्त, इन लोगों को कमरे पर छोड़ते चलें न?"

स्वामी ने ठीक तरह से बात सुनी नहीं थी। जल्दी में पास आकर बोले, "क्या?"

दादा ने हँसकर कहा, "वक्त तो कम है और तुम मिनट-पर-मिनट लगाये जा रहे हो। कहता हूँ कि इन्हें कमरे पर छोड़ते चलेंगे, थोड़ा चक्कर ही सही।"

मैं बात को अनावश्यक समझकर अपने घर के इस कमरे को देख रही थी। घर जिस किसी एक के न होने से झटपट भूत का डेरा हो जाता है, वह समझ में आ गया था। कुछ ही रोज में यह घर का क्या हाल हो गया था! मुझे रह-रहकर तरस आता था और गुस्सा चढ़ता था।

स्वामी ने कहा, "हाँ, हाँ! क्या चक्कर है? कमरे से तो गाड़ी को ले चलना ही होगा।"

दादा ने कहा, "और यहाँ?"

बढ़कर दीवाल से ताला-कुंजी हाथ में लेकर सामने करते हुए बोले, "यह ताला तो है।"

मुझे जाने क्या हुआ। झपटकर उस हाथ से ताला-कुंजी को मैंने छीन लिया और

बिना एक शब्द कहे अन्दर के कमरे में निकलती चली गयी। देखा, इस कमरे का भी वह हाल था। फिर रसोई में गयी, वहाँ का तो पूछो नहीं। मैंने झींककर सिर पीट लेना चाहा। इन निकम्मे आदमियों का क्या किया जाए! देखने लगी कि झाड़ू कहीं दीखे तो हाथ लगाकर रहने लायक तो यहाँ की सूरत बनाऊँ। इतने में देखती हूँ कि रसोई में आकर स्वामी क्षमाप्रार्थी से कह रहे हैं, ''मैं जा रहा हूँ, सुखदा।''

''तो जाओ न मेरी बला से, मैं क्या रोकती हूँ?''

''तुम अकेली!''

''बड़े-सारे नौकर लगा रखे हैं न कि मैं अकेली नहीं रहूँगी!''

''तो जाऊँ?''

''जाओ, जाओ, मुझे तंग न करो।''

वह चल पड़े और थोड़ी ही दूर गये होंगे कि मैंने कहा, ''सुनना!''

उन्हीं पाँवों लौट आकर वह आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हो गये।

''कहाँ जा रहे हो?''

''मालूम नहीं।''

''क्यों मालूम नहीं, कितनी देर को जा रहे हो?''

''मालूम नहीं।''

''मालूम नहीं। मालूम नहीं। तो क्या मैं इस घर में आग लगाने बैठूँगी कि मालूम नहीं।''

मेरी झल्लाहट का उनके पास उत्तर न था और यह मैं भी देख रही थी। कहा, ''बताओगे भी नहीं कि कहाँ जा रहे हो? नहीं तो मैं यहाँ पत्थर पर अभी सिर मार रहूँगी।''

''हरीश के साथ जा रहा हूँ। आगे वह जाने।''

''अच्छी बात है, जाओ। घर में कुछ सामान है? आटा, दाल, घी नमक या सब...!''

''देख लेना।''

''देख लेना, क्या देख लेना?''

''गाड़ी आवाज दे रही है।''

''तो जल्दी आना।''

झुककर भागती-सी स्वामी की सूरत को मैं क्षण-भर देखती रही। फिर मुझे आगे का कुछ नहीं मालूम। गनीमत थी कि नल में पानी आ रहा था। झाड़ू लेकर जो मैं जुटी हूँ कि मुझे कुछ पता नहीं रहा कि क्या कब बजा। सारे घर को तभी-का-तभी सँभालकर किसी लायक बनाया। झींकती जाती थी, कोसती जाती थी और करती जाती थी। रसोई में बचा-खुचा कुछ सीधा मिल गया था और बीन-बानकर भगोने

में अँगीठी पर दाल-चावल एक साथ मैंने चढ़ा दिया था। फिर सुध बिसर रही। घर की सफाई से लौटकर देखा तो खिचड़ी नीचे लग गयी थी। और देखा तो हल्दी भी डालने से रह गयी थी! भगौना वहीं पटक मैं भीतर गयी, घड़ी में साढ़े ग्यारह बज गये थे। मैं झल्लाई कि देखो वह आ जाते तो दो दाने मैं भी पेट में डाल लेती। बदन चूर हो चला था। मैं बिस्तर पर जा पड़ी। फिर नहीं मालूम क्या हुआ।

उठी तो चित्त ठीक था। दिन चढ़ आया था। आसपास देखना चाहा कि स्वामी का कोई चिह्न दीखे। तो क्या वह रात नहीं आये? उठकर गयी, पाया कि दरवाजे की अन्दर से चटखनी बन्द है। देखकर मन-ही-मन माथा पीट लिया। बाहर बरामदे में आकर देखा कि एक मोढ़े पर उनका कोट टँगा है, पर स्वामी नहीं हैं। थोड़ी देर में वे पीछे की तरफ से आये। बालों से और माथे से पानी टपक रहा था और धोती से चेहरा पोंछते आ रहे थे।

मैंने पूछा, ''कहाँ रहे रात-भर?''

''कहीं नहीं, कहीं नहीं!''

''मैं जागती रात-भर राह देखूँ और तुम!''

बोले, ''कोई नहीं, कुछ नहीं।''

''कहाँ रहे?''

''कुछ नहीं, यह मोढ़ा काफी था।''

''इस मोढ़े पर रहे रात-भर?''

''नहीं, कुछ नहीं!''

''दरवाजा खुलवा नहीं लिया गया, क्यों?''

''नहीं, कुछ नहीं, तुम सो रही थीं।''

''बड़ी कुम्भकर्ण हूँ मैं कि जग नहीं सकती थी! खाया क्या?''

''कुछ नहीं'' मेरा मन रखने को बोले, ''घर यह तुमने क्या कर दिया है कि वाह! कब तक लगी रही काम से?''

''तुम्हें क्या, कभी तक लगी रहूँ! वह खिचड़ी अब किसके सिर देकर मारूँ? आओ चलो, अन्दर आओ।''

इस प्रकार मैं अपने को और अपने घर को लेकर व्यस्त हो गयी। जरूरत भी न हुई कि जानूँ कि रात उन्हें क्यों जाना था, ठीक कब वापस आये थे, हरिदा क्यों यहाँ नहीं ठहर सके और अब वह कहाँ हैं, इत्यादि।

मैं काम में से जैसे अपनी क्षतिपूर्ति चाहती थी। स्वामी ने सुझाया कि तुलसी को बुला लिया जाए। मैंने जोर से इनकार कर दिया। आज इतने दिनों बाद आकर इस घर के किसी काम में अपने अलावा किसी दूसरे को शरीक करूँ, यह मुझे सूझ ही न सका। चिल्लाकर और झींककर स्वामी को बाजार भेजकर थोड़ा-बहुत सामान

मँगवाया और हाथ से रसोई तैयार की। खिला-पिलाकर कुछ जल्दी ही उन्हें तैयार कर भेजा और सफाई में और व्यवस्था में कल जो कसर इधर-उधर रह गयी थी उसे पूरा करने में सारा दिन निकाल दिया। लेकिन उस दिन बाहर जाने क्या-क्या न घट रहा था!

28

शाम को समय पर स्वामी नहीं आये। मैं राह देखती बैठती थी। दिन भर काम में लगे रहने से चित्त स्वस्थ था, काया यद्यपि थकी थी। बैठी उनके पुराने मोजों को रफू कर रही थी। उन्हें समय पर आ जाना चाहिए था, नहीं आये तो इस पर शिकायत उतनी नहीं हुई जितनी चिन्ता हुई। मुझे हवा में इधर कुछ संकट अनुभव होता था। कारण मन में स्पष्ट नहीं था, लेकिन इन लोगों के काम कुछ वैसा ही आभास दिये रहते थे।

और वही हुआ। काफी शाम जाने पर प्रभात बदहवास हालत में मेरे यहाँ आया और हरिदा के बारे में पूछने लगा। मैंने कह दिया कि दादा यहाँ नहीं हैं, और मैं नहीं जानती।

वह आर्त्त हो आया, कहा, ''बड़ी भयंकर खबर है, पता पाना होगा।''

पूछा, ''क्या खबर है?''

खबर को वह टाल गया। बोला, ''मालूम हो तो, कसम है दीदी, जो न बताएँ। मुझे फौरन उनके पास जाना है।''

मैंने क्षुब्ध होकर कहा, ''मैं नहीं जानती।''

प्रभात ने कहा, ''साहब भी जगह पर नहीं हैं। सुना है, वह दादा को पकड़ा देनेवाले हैं!''

''कहाँ से सुना है?''

''आप सच नहीं मानतीं?''

''किससे सुना है?''

प्रभात ने कहा, ''आप उन्हें जानती नहीं, आस्तीन के साँप हैं।''

मैं उत्तेजित हो आयी, कहा, ''प्रभात, तुम यहाँ से जा सकते हो।''

प्रभात गया नहीं, ''बोला, मैं सच कहता हूँ, दीदी! केदार को जानती हैं? दस बरस से डाके के काम में था। साहब उसे दल में लाये। वह क्या कर रहा है, जानती हैं—रिवॉल्वर इकट्ठे कर रहा है।''

''क्यों?''

"क्योंकि साहब का आदमी है। और...।"

"खैर, मुझे इससे मतलब नहीं है। तुम जाओ।"

उसने पूछा, "साहब कहाँ हैं?"

दीखा, जैसे प्रश्न के साथ उसके होंठों में व्यंग्य की मुस्कुराहट, खेल आयी है। या मेरा भ्रम हो। मुझे अपने को रोकना मुश्किल हो गया। मेरा हाथ चला और कसके प्रभात को एक चपत जड़ दिया।

प्रभात की धृष्टता देखो कि अपने गाल को तनिक मला, पर अपने स्थान से जरा भी हिला नहीं, न आवेश लाया। बोला, "ख्याल न कीजिए, दीदी! कोई बात नहीं, मुझे उन्हें पाना जरूरी है। दो दिन होंगे कल, लेकिन कल तक मैं ठहर कैसे सकता हूँ! अपने नेता के प्रति विश्वासघात हम सह नहीं सकते। आपको जरूर उनकी जगह मालूम होगी।"

मैं उस लड़के की हठ पर विस्मित रह गयी, पूछा, "मुझे डराने तो नहीं आये?"

मानों प्रभात ने उधर ध्यान दिया, कहा, "नहीं, आपका दोष नहीं है, तभी तो आपको यहाँ छोड़ गये। और आधी रात बीते वे लोग क्या करते रहे, जानती हैं? उन घण्टों में जब सब सोते हैं, वे षड्यन्त्र रचते रहे।"

"तुम सब सो नहीं रहे थे?"

"नहीं, नहीं सो रहा था और काम कर रहा था। तब क्या करता, और बाहर से कुछ भी कर नहीं सकता था, क्योंकि केदार का एक साथी खुद वहाँ तैनात था। सवेरे कुछ समय के लिए मैं वहाँ से हटा कि साहब इसी बीच गायब हो गये। दिन भर तलाश में रहा, पता नहीं चला। अब आपको बताना होगा।"

इस लड़के पर जो अपने कर्तव्य को इतने जोर से कसकर पकड़ता है, मुझे उस समय करुणा हुई। और कर्तव्य जो भीतर से नहीं आया, बाहर से उसने ले लिया है—मैंने कहा, "प्रभात, तुम्हारी अशिष्टता के लिए दादा मुझसे क्षमा माँगते थे। कहते थे, जिम्मेदार तुम नहीं, वह हैं। तुम्हें उनका ख्याल नहीं प्रभात?"

प्रभात धीमा हो आया, कहा, "दादा की बात न कहिए, दीदी। उन्होंने कहा, 'यह तुम पर है प्रभात, कि दो दिन तक साहब का बालबाँका न हो। बाद, मुझसे पूछना, मैं न हूँ तो जो मन आये करना।' उधर दादा की यह महानता, इधर लाल का यह षड्यन्त्र!"

"चुप रहो प्रभात, तुम नहीं जानते।"

"मैं क्या नहीं जानता?"

"तुम कुछ नहीं जानते, प्रभात! तुम्हें चुप रहना और चुप बैठना चाहिए।"

"नहीं, मैं अपना काम जानता हूँ। और मुझे चाहिए नहीं, और से मुझे मतलब

नहीं। तो आप नहीं देंगी उसका पता?''

''क्यों, उन्हें मारोगे?''

''हाँ, मारूँगा।''

मैंने सदय होकर कहा, ''प्रभात, क्या बताऊँ, पता मैं जानती नहीं, जानती तो जरूर बता देती। तुम्हारे हाथ से मरने में अपने लिए उन्हें रंज न होगा। रंज है तुम्हारी खातिर। अपने को देखते इस काम में वह तुम्हारी मदद करना चाहते हैं, लेकिन तुम्हें हुआ क्या है! दादा का हुक्म तो मारने का नहीं है।''

''यह स्त्रियों की बातें नहीं हैं, दीदी। तो आप नहीं जानतीं? मैं चलूँ? प्रणाम।''

रुष्ट, उद्धत और प्रणबद्ध प्रभात वहाँ से चला गया। मैं बैठी रही और मोजा बुनती रही। स्वामी का चिह्न न था। सन्ध्या गहराती जाती थी। तारे झाँकने लगे थे। कुछ समझ न आता था। मानों समय सन्नाटा खींचे था और दुनिया स्तब्ध थी। पर सच, वहाँ के बाहर क्या दुनिया स्तब्ध ही थी! नहीं, वहाँ लहरों पर लहरें थीं। सब अपनी नीयत और नियति के सूत में बँधे इस-उस की धुन के पीछे लगे थे। कोई प्यार से, कोई द्वेष से, एक लालसा से, दूसरा ईर्ष्या से। ऐसे ताने-बाने के तारों से दुनिया की कहानी बुन रही थी। पर मैं यह बैठी-बैठी क्या सोचने लगी थी! शायद मैं नहीं सोच रही थी, हाथ में मेरे मोजे थे, सोचना ही अपने को सोच रहा था। मैं तो सोचते जाते को जैसे देख भर रही थी। ऐसे देर-पर-देर होती गयी और बाहर सब कहीं से अलग, टूटी, अकेली, नहीं जानती थी, मैं क्या करूँ, क्या न करूँ!

रात हो गयी। दस बजे, फिर ग्यारह, फिर बारह। नहीं, अब मैं नहीं बैठूँगी। दरवाजा लगाकर मैं बिस्तर पर जा लेटी। बराबर दूसरा बिस्तर था जिसका होना मुझे अजीब लग रहा था। जाकर लेटी तो लेटी ही रही। सिर देर तक जाने दुनिया भर में कहाँ-कहाँ घूमता रहा। नींद ने आने से इनकार किया। फिर घड़ी-पर-घड़ी बीती और आखिर नींद किनारे आयी।

दरवाजे पर बाहर निरन्तर बजती हुई थपथपाहट ने सहसा मेरी आँखें खोलीं! मैं उठी, बत्ती की, दरवाजा खोला और सामने स्वामी को पाया।

मैं बोली नहीं। स्वामी अन्दर आये। पीछे दरवाजे की चटखनी उन्होंने बन्द की।

वह गम्भीर थे, कहा, ''चाबी देना।''

''चाबी!''

''रुपया रखना है।''

मैंने कहा, ''क्या?''

बोले, ''रुपया।''

कहकर एक पैकिट आगे किया। मैं बँधी-सी रह गयी। पूछा, ''क्या है यह?''

मानो धमकी दे रहे हों, बोले, ''बोलो नहीं, चाबी लाओ!''

चाबी मैं नहीं जानती थी कहाँ है, इससे मैं चुप रह गयी।

उन्होंने गुस्से से कहा, ''चाबी!''

''तुम्हारे पास ही तो होगी!''

बोले, ''क्या?''

मैं चुप रही। उन्होंने जल्दी-जल्दी जेबें टटोलीं, फिर पैकिट एक कुर्सी पर फेंका। उतारकर कोट उस पर डाला। पूछा, ''क्या बजा ?''

घड़ी में देखकर मैंने बताया, ''दो से ऊपर हो गया है।''

''तो सोओ, मैं भी सोऊँगा।''

मैं विस्मय में गड़ी खड़ी रह गयी। यह उनका क्या हाल था!

''क्या देखती हो, जाओ!''

वहाँ से अपने को तोड़कर जाना मेरे लिए कठिन हो रहा था। उन्होंने इधर-उधर देखा। एक जगह आँख ठहरी, बोले, ''यह क्या है? दो क्यों?''

मैं समझी नहीं। कहा, ''क्या बात है? लेट जाओ, लाओ सिर दबा दूँ।''

नाराज होकर बोले, ''मुझे क्या हुआ है? बिस्तर तुमने किया है?''

''हाँ।''

''यहाँ क्यों किया है?''

''मैं दूसरे कमरे में सो जाऊँगी।''

''हाँ, जाओ।''

मैंने उन्हें देखा, जैसे वह समस्या थे। मैं चुपचाप हटकर दूसरे कमरे में आ गयी और खटोली डाल वहाँ बैठ गयी। कुछ देर यों ही बिताकर वापस खड़े कमरे में आयी। स्वामी सोये न थे। आँखें फाड़े छत देखते हुए पड़े थे। मुझे देखकर बोले, ''क्या है, बिस्तर नहीं ले गयीं? लेती जाओ।''

मैं चुपचाप आकर सिरहाने बैठ गयी और उनके माथे पर हाथ रखा।

वह बोले नहीं, मैं भी बोली नहीं। धीरे-धीरे उनके सिर और माथे को सहलाती रही। वह स्थिर पड़े रहे, न हिले न डुले। कुछ देर बाद मैंने आहिस्ता से कहा, ''सो जाओ।''

स्वामी ने सुन लिया, बोले, ''नहीं।''

उनकी आँखों को हौले से अपनी उँगलियों से बन्द करते हुए मैंने कहा, ''लो, आँखें बन्द कर लो, नींद आ जाएगी।''

उन्होंने मेरा हाथ हटा दिया, कहा, ''तुम जाओ।''

मैं गयी नहीं। धीरे-धीरे बालों में उँगलियाँ फेरकर उनका सिर सहलाती रही। उन्होंने भी फिर कुछ नहीं कहा, न प्रतिरोध किया, बल्कि अब आँखों को बन्द कर लिया। मैंने उनके बालों में से अपने हाथ को नहीं हटाया। ऐसे काफी देर हो गयी।

जानती थी, अभी वह सोये नहीं हैं, आँखें ही बन्द हैं।

मैंने कहा, "जी, सुनते हो?"

वह नहीं बोले।

आहिस्ता से उनका सिर उठाकर मैंने अपनी गोद में लिया, कहा, "क्या हुआ है, बोलते क्यों नहीं?"

मानों जान न हो, वह निश्चेष्ट पड़े रहे।

"नाराज हो?"

"..."

"कुछ कहते क्यों नहीं, मैं चली जाऊँ?"

"..."

"बुरी लगती हूँ तो चली जाती हूँ।"

अपने प्रयत्न से सिर उठाकर उन्होंने मेरी गोद से अलग कर लिया, कहा, "जाओ।"

मैं सचमुच उठी।

भयंकर रोष से उन्होंने कहा, "जाओ, बत्ती कर जाओ।"

बत्ती मैंने नहीं की और मैं उठकर चली आयी। आकर खटोली की पाटी पर बैठ गयी। बैठी ही रही, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। देखा कि साथ के कमरे की बत्ती बराबर जल ही रही है। जाकर उसे बुझाने की भी कोई चेष्टा नहीं की। जैसे मेरे लिए कहीं कुछ आवश्यक न रह गया हो। क्या हुआ था? सब तरह की निष्फलताओं और दुश्चिन्ताओं से घिरी, अवसन्न, मैं उस खटोली की पाटी पर बैठी रह गयी। ऐसे कितनी देर बीत गयी, कह नहीं सकती। बाद में मुझे गहरी सिसकी की आवाज सुनायी दी, जैसे कोई गले को दबाकर फफक-फफककर रो रहा हो। रह-रहकर फूटती सुबकी सुन पड़ती है, फिर बन्द हो जाती है, बेबस फिर भीतर घुटा रह गया, कुछ कण्ठ के अवरोध को तोड़कर बाहर हो उठता है। रात के ढलते तीसरे पहर में यह मैं क्या सुन रही हूँ! जैसे रुक-रुककर बेबसी में फट उठने वाली वह सिसकी भीतर से मुझे पकड़कर ऐंठ डाल रही हो। मैं उठी, कमरे में ज्यों-का-त्यों प्रकाश हो रहा था। देखती हूँ कि औंधे पड़े, तकिये में मुँह दाबकर स्वामी ही रो रहे हैं। कभी बिसूरते हैं, फिर चुप हो जाते हैं और फिर फफक उठते हैं। जैसे भीतर का वेग सहसा खाली नहीं होता। मैं बँधी निषिद्ध-सी तीन-चार मिनट तक वहाँ खड़ी-ख़ड़ी इस दृश्य को देखती रही। चाहा कि जाऊँ और उन्हें एक साथ गोद में समेटकर कहूँ, "मेरे स्वामी, मेरे स्वामी!" लेकिन, मन्त्रबद्ध मैंने अपना कमरा बन्द किया और खटोली पर बाँह का तकिया लगाकर पड़ रही। हठपूर्वक कुछ भी और नहीं किया।

29

सवेरा हुआ। कुछ देर से मेरी आँख खुली। देखा—कमरा यथावस्थित है। कहीं कुछ इधर-उधर नहीं पड़ा है, सब जैसे अपनी जगह है। अनुमान किया, स्वामी बरामदे में होंगे। दूर से देखा—हाँ, बरामदे में हैं और अखबार पढ़ रहे हैं। मैं फिर उधर नहीं गयी, सवेरे की तैयारियों में लग गयी। निबट-निबटाकर रसोई में पहुँचकर नाश्ता मैंने तैयार किया और कुण्डी खटखटायी।

यह कुण्डी का खटखटाना मेरे लिए अब इतना नया था कि मुझे लज्जा हो आयी। जैसे मैं नववधू हूँ। सामने जाकर कुछ कह नहीं सकती, इस कुण्डी के बजने की मार्फत ही बोल सकती हूँ। लेकिन कुण्डी बजती रही, न उत्तर आया, न उत्तरवाले आये। इस पर अन्त में झींककर नाश्ते की तश्तरी लेकर मैं बाहर आयी। स्वामी ने अखबार से मुँह ऊपर नहीं उठाया। मैं तश्तरी हाथ में लिये खड़ी रह गयी। क्या उन्होंने मेरा आना देखा नहीं!

मैंने कहा, ''लेते नहीं हो?''

जैसे उन्होंने सुना ही नहीं।

''मैं क्या कह रही हूँ, लोगे नहीं?''

उन्होंने अखबार नीचे किया और मुझे देखा। उन आँखों में जैसे दृष्टि ही न थी।

''लो'', मैंने तेजी से तश्तरी उधर बढ़ायी। उन्होंने धीमे से उसे थाम लिया और दायें हाथ से बेंत की मेज खींचकर उसके ऊपर रख दिया। बोले, ''सुखदा!''

''मुझे फुरसत नहीं है। जल्दी आ जाना खाने को। उठने में आज देर हो गयी है।'' कहती हुई मैं ठहरी नहीं, चली आयी।

समय पर वह आये, खाना खाया और कोट पहनकर चलते-चलते बोले, ''रुपये मैंने रख दिये हैं!''

मैं गुम-सुम बनी रही। मैंने निश्चय किया था कि मुझे कुछ जानना नहीं है। जो जबर्दस्ती वह बताएँ वही सुनना है, नहीं तो मुझे खुद से किसी से वास्ता नहीं रखना है। मैं इसलिए बिना मुँह फेरे अपने काम में लगी रही। किसी तरह का जवाब भी नहीं दिया।

बोले, ''अगर कोई आए...।''

''कौन आए?''

''कोई कुछ...।''

''कोई यहाँ नहीं आता।''

''मेरा मतलब...।''

''नहीं, मेरी फिकर करने की जरूरत नहीं है।''

"सुखदा!"

मैं अनसुना करके अपने काम में और व्यस्त हो गयी। स्वामी चले गये।

खाना हुआ, चौका किया, बर्तन माँजकर रख दिये। फिर निबटकर रसोई पर कुण्डी चढ़ा कमरे में आयी और अखबार देखने लगी।

यह क्या देखती हूँ!

सहसा कुछ समझ में न आया। दो बार पढ़ा, कई बार पढ़ा, पर खबर वही रही अर्थात् यह कि दादा गिरफ्तार हो गये हैं।

मैं सारा वृत्तान्त पढ़कर सुन्न हो गयी। काफी ब्यौरे से बातें दी गयी थीं, तो भी बहुत-कुछ साफ न था और रहस्य से भरा था। मालूम हुआ कि रात ग्यारह बजे के समय शहर के बाहर एक बगीची के शिवालय में से उनको पकड़ा गया। संयोग की बात है कि बागी अकेला था। अनुमान किया जाता है कि उनके साथी उस समय कहीं गये हुए थे। यद्यपि वहाँ कोई उनका चिह्न नहीं पाया गया। अनुमान यह भी किया जाता है कि वहाँ उन लोगों की उस रात गुप्त सभा होने वाली थी। साथी उसके अवश्य रहे होंगे और पुलिस उनकी तलाश में है, क्योंकि शहर की कोतवाली के पास कुछ लोगों ने पुलिस-दस्ते पर हमला किया। चार पुलिसवाले घायल हुए बताए जाते हैं। एक गिरोह का साथी पुलिस की गोली का शिकार हुआ है। कहा जाता है कि यह हमला अच्छी तैयारी के साथ किया गया था और हमलावरों की संख्या आठ-दस से कम न थी। हमलावरों का फिर पीछे पता नहीं चला। अनुमान यह है कि उनमें भी कई को चोटें आयी हैं। हमलावर दो जीप कारों में आये बताये जाते हैं।

गिरफ्तारी कैसे हुई, पुलिस को कैसे पता चला, इसके बारे में कोई निश्चित खबर पुलिस की ओर से अभी नहीं मिल पायी है। समझा जाता है कि किसी मुखबिर ने खबर दी। कहने की आवश्यकता नहीं, अभियुक्त पर पाँच हजार का इनाम था।

मैंने न जाने अखबार को कितनी बार पढ़ा, पर उसमें से कुछ भी और न निकल सका, न कुछ बदल ही सका। मैं उस खबर पर रात को दो बजे के बाद आए अपने स्वामी के हाल को याद कर रही थी। हठात् सोचने लगी कि यह सब क्या है! क्या मुखबिर कान्त ही है? यह बात आकर यद्यपि कहीं मेरे भीतर स्थान न पा सकी, पर फिर भी मुझे इस तरह छेद गयी कि कह नहीं सकती। और फिर उनके साथ आया वह रुपया! उसे मैं किसी तरह भूल न पाती थी। आखिर मैं उत्सुक हुई कि उस पैकिट को और खोलकर देखूँ। मैंने जहाँ-तहाँ चाबी देखी, मुझे कहीं मिली नहीं। क्या साथ ले गये? हो सकता है। अकृतकार्य होकर मैं बेचैन हो आयी। कुछ मेरी समझ में न आया। तभी मकान बन्द कर मैं अकेली कमरे की तरफ गयी। वहाँ देखा कि गोरखा दरबान मौजूद है। अन्दर गयी। तुलसी मिला। तुलसी से मैंने पूछा-ताछा। मालूम हुआ कि रात को यहाँ उसके सिवाय कोई था ही नहीं। सवेरे ही लाल साहब चले गये थे

और अब तक उनका पता नहीं। एक और उनके साथ थे। वह कुछ बाद में गये और लौटकर वह भी नहीं आये।

"उन्होंने यहाँ खाना खाया था?"

"जी, खाया था।"

"दोनों ने?"

"दोनों ने।"

"किस वक्त?"

"कोई रात को साढ़े दस बजे।"

मैंने कमरे अच्छी तरह देखे कि कहीं कोई आपत्तिजनक चीज तो नहीं है। मुझे अन्देशा था कि किसी वक्त पुलिस यहाँ आ सकती है। लेकिन मैं घबराहट नहीं दिखला सकती थी। मैंने सावधानी से और शीघ्रता से काम किया। जगह को निरापद बनाया। तुलसी को साथ लिया और गोरखे को वापस जाने को कहा। फिर मकान में ताला डालकर घर आ गयी।

शाम को स्वामी समय पर घर आ पहुँचे। वह मुझसे बचते थे। लेकिन मैंने उन्हें सामने बिठाकर कहा, "देखो, मैं तुलसी को ले आयी हूँ और तुम साफ-साफ कहो, क्या हुआ? छिपाओगे तो देखो अच्छा न होगा।"

स्वामी ने साफ-साफ बताया। मैं उनकी बात में शंका नहीं कर सकी। उन्होंने कहा, "हरीश का निश्चय बन चुका था। उन्हें अपने को सौंप देना ही था। हुकूमत का न्याय फिर जो चाहे उनके साथ क्यों न करे। इस काम में अब उन्हें रस न था। लाल से उन्हें सख्त चोट लगी थी, यद्यपि चोट उसे वह नहीं मानते थे। कहते थे कि लाल ने उनकी आँखें खोली हैं। सबसे अधिक लाल के विचार ने उन्हें ऐसा करने को मजबूर किया था। नहीं जानता क्यों, लाल के मामले में कभी हरीश को बहस में न ला सका। वह कुछ कहते न थे, चुप रह जाते थे। ऐसा लगता है कि लाल के खिलाफ दल का बहुमत था। वह लाल को मिटा देना चाहता था। लाल को वह द्रोही मानता था और इसकी सजा मृत्यु थी। शायद इस सजा को हरिदा ने अपनी अनुमति भी दी थी। लेकिन वह मैं ठीक जानता नहीं, अनुमान ही है। लेकिन हरीश इन दिनों बड़े गहरे मन्थन में रहते थे। पिछले दिन तो मैं काफी साथ रहा। अन्दर से उनको चैन न था। पल भर कल न पड़ती थी। मैं अनुभव कर सका कि इस व्यथा से फाँसी की व्यथा बढ़ नहीं सकती। उन्होंने कहा, 'कान्त, तुम मेरे बन्धु हो। एक काम तुम्हें मेरा करना है। सरकार के पास पाँच हजार रुपये मेरे नाम के रखे हैं। सरकार मुझे चाहती है। तुम मेरी यह सहायता करो कि मेरे चाहनेवालों की इतनी मदद कर दो कि जाओ, उन्हें मेरी खबर दे दो।' मैंने कहा, 'हरीश, तुम इससे पहले मुझे जहर खाने को भी तो कह सकते थे।' हरीश ने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया, 'कान्त, तुम समझते क्यों नहीं?

मैं जी अब सकता नहीं। शायद ऐसे मरूँ तो पीछे लोगों को सुध आए। वे शायद चेतें और सही बनें। इस सफल मृत्यु को मुझसे छीनो मत। नहीं तो जो मृत्यु आएगी, वह तुम्हें निराश करेगी। अब मैं समझता हूँ कि यज्ञ का क्या अर्थ होता है, कि बलिदान क्यों धर्म है, और वह क्या है? कान्त, मैं तो तुम्हारा दुश्मन नहीं हूँ, जिसकी खबर देने में दोष होता। मैं तो तुम्हारा परम मित्र हूँ। क्यों, नहीं? इससे तुम्हें ही यह काम करना होगा। जाओ, उठो। सोच-विचार में न रहो। काँत, मारने की राह छोड़ जब पहली बार मरने का मर्म समझकर इस राह पर कदम बढ़ा रहा हूँ तो तुम ही मित्र होकर मेरी बाधा न बनो। जाओ मेरी साधना बनो।'...सुखदा, मैं तुम्हें कह नहीं सकता। मेरी बुद्धि को जाने क्या हो गया था। उस समय हरीश की बात मुझे सही मालूम होने लगी। जैसे मैं अपने से ही उठ गया था। मालूम नहीं वह ऊँचाई क्या थी! एक पागलपन के सिवाय कुछ न था। तुम नहीं समझोगी सुखदा, कि वह क्या जादू था। मैं भी अब नहीं समझ पाता। पर हरीश की बात में प्रेम का और पीड़ा का वह बल था कि मुझसे कुछ होते न बना। जैसा बताया वैसा मैं करता चला गया। सब उन्होंने मुझे समझा दिया था। तुम समझती हो, मैं उस दिन दफ्तर गया। दफ्तर तो गया, पर हाजिरी लगाकर चला आया। शाम के सात बजे पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के यहाँ पहुँचा। खबर की बात कही और इनाम का रुपया पहले माँगा। वह रुपया कहाँ मिलने वाला था। उन्होंने पूरी-पूरी खबर पहले निकलवा लेनी चाही। मैं तो सब सीखकर गया था। आखिर रुपया दिया, लेकिन मुझे हिरासत में बिठा लिया। यानी मुलजिम की गिरफ्तारी हो जाएगी तब रुपये के साथ मुझे जाने दिया जाएगा। फिर इस अखबार से ही जानता हूँ, क्या हुआ। मैं बारह बजे के करीब हिरासत से निकाला गया और पुलिस की गाड़ी मुझे यहाँ बाहर तक छोड़ गयी। वहाँ से यहाँ तक मैं दो घण्टे में भी नहीं पहुँच सका। अब तक नशा जा चुका था और एक ग्लानि से मैं भर गया था। सोचा, इन रुपयों को कुएँ में फेंक दूँ और खुद भी उसमें डूब जाऊँ। मैं मर सकता तो ठीक रहता। लेकिन फेफड़ों को हवा चाहिए थी और खुली हवा की तरफ मैं बढ़ गया। पार्क एक के बाद एक बन्द मिले। उस सुनसान सन्नाटे में इधर-उधर भटका किया। आखिर कुछ समझ न आया और यहाँ तुम्हारे द्वार आ गया। सुखदा, क्या तुम समझोगी कि मेरे साथ यह क्या हुआ?''

मुझे समझने की फुरसत न थी। पूछा, ''यह हमला जो हुआ, उसकी बावत कुछ जानते हो?''

''नहीं, मैं कुछ नहीं जानता।''

''अनुमान कर सकते हो?''

''नहीं, अनुमान भी नहीं कर सकता।''

''रात की बात है एक आदमी मारा गया। अब तक पता नहीं लगा वह कौन है?''

''यह 'इवनिंग न्यूज' लाया हूँ। लिखा है, लाश को पहचान लिया गया है।''

मैंने बिना कुछ कहे अखबार लेकर देखा। इससे ज्यादा उसमें खबर न थी।

हठात बोली, ''वह कौन हो सकता है।''

स्वामी मुझे देखते रहे, जैसे मैंने उनसे पूछा हो और वह बता न सकते हों।

मैंने पूछा, ''सुनो, उस शाम को या दिन को लाल दादा से मिले थे?''

''मिले थे।''

''तुम लोग तीनों यहाँ से साथ गये थे, कहाँ गये थे?''

''हरीश के एक अफसर साथी के यहाँ।''

''लाल रास्ते में उतर नहीं गये थे?''

''नहीं, लेकिन कोठी में मैं ही अन्दर साथ गया था। लाल ड्राइवर के साथ गाड़ी लेकर जाते ही वापस आ गये थे।''

''फिर?''

''फिर तीसरे पहर तीन बजे के करीब मैंने कोठी में हरीश के पास लाल को आते देखा। मुझे नहीं मालूम क्या बातें हुईं। लेकिन घण्टे भर बाद वह चला गया। इसके बाद दादा ने मुझे समझाया और रवाना कर दिया। हिदायत थी कि मैं ढाई घण्टे से पहले पुलिस में नहीं पहुँचूँगा, न आठ के बाद। फिर मुझे नहीं मालूम क्या हुआ।''

मैं अपने इन स्वामी को देखती बैठी रही, जो खेल में मोहरे ही बन सकते हैं कि जिनसे दूसरे खेलें।

लेकिन यह मैं क्या कह रही हूँ। खेल यह सब किसका है? क्या हम जो अपने मन में नाना संकल्प-विकल्प रचा करते हैं, खेल का क्रम उनसे बनता है? अरे! यह तो मन समझाने की बातें हैं। खिलाड़ी तो जाने ऊपर-नीचे, यहाँ-वहाँ कहाँ छिपा बैठा है। और हम उसकी डोर में बँधे कठपुतली की मानिन्द इशारे में नाचते हैं। नाचते हैं, सो मन में बहल भी लेते हैं; लेकिन हमारी यह सब उछल-कूद, जोड़-जुगत मन तक की है। तार पीछे कहीं किसी और हाथ में है। हम सामने भर होने के लिए हैं। यह सब अब पहचानी हूँ, जब देखती हूँ कि पहचानने का लाभ उठा नहीं सकती। तब तो मैं अपने उन स्वामी को सामने करके बड़ी आसानी से मन में समझ गयी थी कि वह निरे जड़ मोहरे हैं, अपने में स्वयं कुछ कर-धर नहीं सकते हैं।

बोली, ''क्यों जी, कहा गया वैसे करते चले गये, ऐसे पालतू थे?''

उन्होंने कहा, ''सुखदा, पालतू नहीं उससे भी गया-बीता था। क्या बताऊँ, हरीश की वाणी और दृष्टि को याद करता हूँ तो लगता है कि फिर हो तो भी शायद मैं वैसा ही करूँ।''

मैंने कुछ सुना नहीं, कहा, ''छोड़ो, मैं कहती हूँ, पता लगा के लाओ कि लाश वह किसकी थी, लाओगे?''

सरल भाव से स्वामी ने पूछा, "कैसे लाना होगा?"

मैंने कहा, "नहीं लाना होगा, तुम घर बैठो।"

वह मेरी ओर देखते हुए चुप बैठे रहे, उत्तर नहीं दिया।

मैंने कहा, "इस रुपये का क्या होगा?"

"बताओ, क्या होगा?"

"आग नहीं लगा सकते इसमें?"

मेरी ओर देखते हुए बोले, "रखा है, लगा दो।"

"लगा दो! उससे क्या हो जाएगा, सुनूँ तो। दादा आ जाएँगे?" वह मुझे विस्मय में देखते रह गये।

मैंने कहा, "इस रुपये को बाहर रखना होगा। तुम्हें होगा बड़ा प्यारा, पर ऐसा खून का रुपया मुझे नहीं चाहिए।"

नहीं मालूम मुझे क्या हो आया था। पर त्रास इतना था कि त्रास देकर ही चैन पा सकती थी। जानती थी कि पति लज्जित हैं; जानती थी कि उन्होंने कुछ नहीं किया, सब भाग्य के अधीन हुआ है; जानती थी कि मेरे स्वामी रोष के पात्र नहीं हैं, करुणा के ही पात्र हैं; लेकिन फिर भी उस समय मैंने कितने तीरों से उन्हें घायल किया, याद करती हूँ तो आज भी मन परिताप से भर आता है। वह सब पीते हुए चुप रह गये।

शाम को दफ्तर से आये थे, हारे-थके होंगे। पर नाश्ता-पानी कुछ न देकर मैंने पहले अपनी जिरह में बिठा लिया और उन्हें बेधती चली गयी। ध्यान नहीं हुआ कि क्या कर रही हूँ। अन्त में पाया कि मैं बेबस हूँ, अब आगे बढ़कर उनसे खाने-पीने के बारे में कुछ पूछ भी तो नहीं सकती। मैं उनको वहीं छोड़ उठकर चली गयी थी और थोड़ी देर में तुलसी के हाथ जलपान के लिए कुछ भिजवा दिया था। मैं आप भीतर रसोई में ही बनी रह गयी थी। फिर कहने पर तुलसी जो वहाँ से बर्तन लाया तो देखा कि उन्हें छुआ भी नहीं गया है, सब सामान ज्यों-का-त्यों है।

"क्यों रे! बाबूजी क्या कह रहे थे?"

"वहाँ तो कोई था नहीं बीबीजी!"

"नाश्ता उन्हीं को देकर आये थे न?"

"हाँ, बीबीजी।"

"हूँ!"

अपनी बेबसी में से सहसा मुझे दीख पड़ा कि तुलसी सावधानी से काम नहीं करता है। मैंने उसे सख्त-सुस्त कहा, डाँटा-डपटा जिसको वह कुछ न समझ सका और मैं कमरे में आयी।

कोई नौ बजे के करीब स्वामी लौटे। अन्दर आकर कहा, "प्रभात को लाया हूँ, बाहर है।"

''कौन?''

''प्रभात।''

''चलो, आती हूँ।''

लेकिन मैं जल्दी गयी नहीं। मेरा मन कुण्ठित था।

वह फिर कहने आये, ''चलो, उसे फिर जाना है।''

''कह तो दिया, चलो, आती हूँ।''

देर एक हद तक ही हो सकती थी। आखिर तो जाना था। मेरे पहुँचने पर प्रभात ने नमस्कार किया। मैंने कहा, ''क्यों?''

''आपने बुलाया था?''

''मैंने! नहीं तो।''

''लेकिन मुझे आना था। दादा तो गये, दीदी, अब क्या होगा?''

''कैसे गये, जानते हो? हुआ क्या?''

''सब साहब की शरारत है। चलो, कुछ तो याद करेंगे।''

मैंने झल्लाकर कहा, ''साफ कहो, क्या हुआ?''

''आप से क्या छिपाना है। जान पड़ता है, पुलिस को उसने खबर दिलायी। किसी मार्फत, यह मालूम नहीं। पर कोई दोस्त होगा। लेकिन मैं पीछे था। मुझे इतना पता लगा कि केदार और उसके साथी नौ बजे से कोतवाली के पास रहेंगे। कोई खजाना जाने की खबर थी, उसे लूटेंगे। वक्त पर मैं पहुँच गया। आशा थी कि साहब मिलेगा। मैं दिन भर उसी की टोह में था। कोई ग्यारह के करीब वह मौके पर पहुँचा, लेकिन मुझे अवसर न मिला। मालूम नहीं था कि उस बदमाश ने हमारे दादा को पकड़वा दिया है। मालूम होता तो छोड़ता? उसे मैंने बराबर निगाह में ले रखा था, लेकिन उसे केदार और साथियों से अधिकतर घिरा पाता था।

''इससे कुछ अवसर न मिला। थोड़ी देर में पुलिस की गाड़ी आयी। साथी अपनी-अपनी जगह से उसकी तरफ दौड़े। लाल पास की एक दूकान में अकेला था। मैं सड़क पर एक ओर होकर इन्तजार में था कि कब बाहर निकले। हमला कारगर न होता देखकर वह बाहर आया और तेजी से लपका। पुलिस की तरफ से फायर हो रहे थे। निशाना साध मैंने अपना रिवॉल्वर छोड़ दिया। जरूर वह उसे लगा होगा। पर वह गिरा नहीं। मैं फिर वहाँ ठहरा नहीं। पीछे से मुझे मालूम हुआ कि खजाना नहीं, वह तो दादा को ही गिरफ्तार करके ला रहे थे। तब बदमाश का जाल समझ में आया। केदार को जरूर उसके भेद मालूम होंगे, इसलिए खजाने के नाम पर केदार को मौत के जाल में फँसाने की उसकी चाल थी। वह तो चलो पुलिस की गोली से मरा, नहीं तो जरूर लाल उसे अपनी गोली का निशाना बनाता। पर मंशा उसकी पूरी हुई कि दादा गिरफ्तार हुए और केदार, जो राह का काँटा हो सकता था, दूर हुआ। लेकिन

दीदी...।''

मैं सुन रही थी और उस नयी उम्र के प्रभात की इस हालत को देखकर जली जा रही थी। मैंने कहा, ''प्रभात, तुमने कहा, तुम्हें यहाँ आना था। क्यों आना था?''

''दादा का सन्देश था, मैं आपसे मिलूँ।''

''किसने दिया सन्देश?''

''मालूम नहीं मेरे डेरे पर मिला था।''

''लिखा सन्देश?''

''हाँ, कोड में लिखा।''

''तुम्हारे पास है?''

उसने निकालकर एक कागज बताया और कोड समझाया।

मैंने कहा, ''प्रभात, इसमें तो...!''

''हाँ, लेकिन यह सवेरे हमें मिला। मैं क्या करता? पर दादा अन्त तक दुश्मन को पहचाने नहीं और रियायत करते रहे...''

मैंने बीच में टोककर कहा, ''तुम यह काम छोड़ने को तैयार हो?''

''अब तो दादा दल भंग ही कर गये हैं।''

''हाँ, कर गये हैं। पढ़ने में ध्यान रखोगे और क्लास का इस छमाही का अपना अच्छा नतीजा लाकर दिखाओगे, तो—सुनो जी, इनका बन्दोबस्त कर देना। कितने से चल सकता है? या ठहरो, तुम रहते कहाँ हो?''

''यह जानते हैं।''

''अच्छी बात है, कुछ दिन ठहरो। हाँ, अभी जरूरत हो तो—सुनो जी बीस रुपये इन्हें दे दो। कह सकते हो, लाल को कहाँ गोली लगी?''

''नहीं कह सकता।''

''गोली चलाते वक्त तुम कितनी दूर थे?''

''यही कोई दस कदम।''

''दस कदम! और वह?''

''वह तेजी से लपके जा रहे थे। मैंने निशाना गर्दन का लिया था, लेकिन...।''

''गोली लगी जरूर?''

''जरूर, लेकिन उन्होंने मुड़कर भी नहीं देखा। वह सामने बढ़े, बढ़ते चले गये और मैं फिर भाग आया।''

''और लाश जो रही, केदार की थी? अखबार में तो खबर नहीं।''

''हाँ, केदार ही मरा है। मैंने लाश देखी थी। शिनाख्त को बहुत लोग गये थे।''

''लाल को घायल करके तुम भाग आये थे न प्रभात! मरने तक ठहर नहीं सकते थे?''

प्रभात ने कुछ कहा नहीं।

''तुम्हारा प्रण मारने का था न! और देश के लिए तुम काम कर रहे थे। फिर इतने कायर निकले! ऐसे दुष्ट को छोड़ना चाहिए था!''

अब तक स्वामी चुप सुन रहे थे। मेरे कहने पर बीस रुपये देने के सिवाय उन्होंने कुछ न किया था। अब उन्होंने कहा, ''प्रभात, तुम्हें जाना था? जाने दो बेचारे को।''

मैंने कहा, ''प्रभात, दल के लोग क्या सोचते हैं? मुकदमा लड़ेंगे या...।''

''मालूम नहीं।''

''कोहली से पूछना और मुझे बताना।''

''कोहली तो यहाँ हैं नहीं।''

''कहाँ गये हैं?''

''किसी को कहकर नहीं गये। मालूम नहीं कहाँ गये हैं।''

''और नरेश?''

''दोपहर उधर गया था, वह भी नहीं है।''

''अच्छा, शर्माजी मिलें तो उन्हें जरा इधर भेजना।''

स्वामी ने कहा, ''क्या जरूरत है?''

मैंने बिना उधर ध्यान दिये प्रभात से कहा, ''भेज देना।''

उसने कहा, ''वह चले गये होंगे। सवेरे मिल गये थे। मुझे भी कह रहे थे कि एकाध महीने को लापता हो जाऊँ। पर कहाँ जाऊँ, पास पैसा ही नहीं है।''

''तो साथियों में कोई नहीं है?''

''मालूम नहीं।''

''लाल कहाँ हो सकते हैं, बता सकते हो?''

''मालूम नहीं।''

''अच्छा, तुम जाओ। इनसे मिलते रहना। देखना जी, जब तक दूसरा इन्तजाम न हो इनका बन्दोबस्त कर देना। कष्ट इन्हें न हो।''

अनन्तर कुछ खिला-पिलाकर मैंने प्रभात को रवाना कर दिया। उसके जाने पर स्वामी मेरे सामने खड़े हो पूछने लगे, ''सुखदा, मुझे कुछ कह सकती हो!''

मैंने कहा, ''कह नहीं, पूछती हूँ। पूछती हूँ कि क्या मैं घर से निकल जाऊँ?''

''तुम क्यों?''

''उसी लायक तो मैं हूँ।''

''सुखदा, तुम्हें यहाँ दुःख है, मुझसे दुःख है।''

''माँ के चली जाऊँ?''

''सुखदा!''

''तुलसी यहाँ रहेगा। मन हो तो मुझे बुला लेना।''

''अभी जाओगी?''

''नहीं, सवेरे चली जाऊँगी।''

''सुखदा, कभी मुझे माफ कर सको तो आ जाना।''

पति की बात मैं आधी ही सुन पायी क्योंकि तभी मैं अलग हट आयी थी।

मेरा वही अलग कमरा रहा था और वही अलग खटोली। लेकिन स्वामी उस पर मेरे लिए बिस्तर बिछा गये थे जिसे मैं फेंककर अलग नहीं कर सकती थी, न अपने हाथों से उठाकर उसे दुबारा ही अपने लिए मैंने बिछाया था।

रात बीती, सवेरा हुआ। मैंने उनसे ताँगा लाने के लिए कहा। आ गया तो उस पर जाकर बैठी। देखा, वह भी बैठ रहे हैं। पूछा, ''तुम चल रहे हो?''

''हाँ, हाँ!''

''क्यों? अकेली चली जाऊँगी।''

''न चलूँ?'

''क्या करोगे, माँ के तो जा रही हूँ।''

''अच्छी बात है।''

मैंने ताँगेवाले को कहा, ''चलो।''

वह मुझे देखते रहे। दोनों में किसी के हाथ नमस्कार को नहीं उठे। वह मुड़कर लौट गये और मेरा ताँगा बढ़ता चला गया।

उपसंहार

लीजिए, क्या करूँ! मैं पकड़ गयी हूँ। बहुत बचाया, लेकिन लिखने का भेद खुल गया। आज शायद वह कागज जब्त कर लिये जाएँगे। ताकीद है कि मैं सिर्फ आराम करूँ और कुछ न करूँ। रोग के प्रति इतनी अवज्ञा दिखाने का मुझे हक नहीं है। रोग तो अब इस जन्म का साथी है और मरण तक साथ रहेगा। ऐसे अभिन्न साथी का क्या तो आदर और क्या उसकी अवज्ञा। हर पल जो साथ है, उसका लिहाज, आप ही बताइए, मैं कैसे करूँ, कब तक करूँ। जब खाँसी आती है तो मुझे समूची को अपने में समेट लेती है। खून आता है, निकल जाता है। दुःख होता है, हो लेता है। दवा आती है, पी लेती हूँ। थरमामीटर है और टेम्प्रेचर ले लिया जाता है। और जो कुछ अस्पताल के नियम से होता जाता है, होते रहने देती हूँ। इससे आगे क्या करूँ? किन्तु इस सबके बाद जरा मन रखने को मैं अपने बारे में लिख लिया करती थी, तो क्या बुराई थी! भला उसमें किसी का क्या जाता था! रोगिणी अब हूँ, तब तो युवती थी। पर वह देखो, डॉक्टर साहब आ रहे हैं—हाय रे! क्या हो? ओ मेरे कृपालु पाठक, माफ करना, कहानी बीच में ही छूट रही है। लेकिन देखते हो मैं कैसी अवश हूँ। अच्छा, हो तो याद रखना। विदा।

□□□
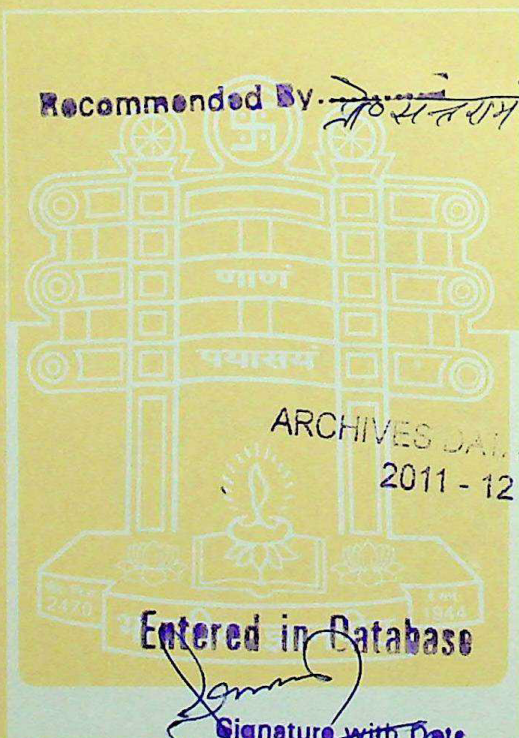
जैनेन्द्र कुमार

जन्म : 2 जनवरी 1905, कोड़ियागंज, अलीगढ़ (उ.प्र.)।

1919 में पंजाब से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1920 से स्वतन्त्रता संग्राम के आन्दोलनों में भाग लेना प्रारम्भ। 1923 में ऐतिहासिक झण्डा सत्याग्रह में प्रतिभागिता के कारण तीन माह का कारावास। इसी वर्ष से लेखनारम्भ। 'देश जाग उठा था' शीर्षक से लिखा लेख 'देवी अहिंसे' नाम से चर्चित हुआ। 1929 में प्रथम कहानी संग्रह 'फाँसी' और प्रथम उपन्यास 'परख' प्रकाशित। 'त्यागपत्र' उपन्यास (1937) के साथ कथा साहित्य में विधिवत प्रतिष्ठित। अनेक वर्षों तक लेखन व राजनीति में समानरूपेण सक्रिय। 1946 में राजनीतिक सक्रियता से विराग एवं सर्वतोभावेन लेखन व चिन्तन को समर्पित। साहित्य अकादमी की स्थापना (1954) पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनी प्रथम उच्चस्तरीय समिति में अबुल कलाम आज़ाद, डॉ. राधाकृष्णन एवं हुमायूँ कबीर के साथ शामिल। 'मुक्तिबोध' उपन्यास पर साहित्य अकादेमी सम्मान (1968)। 1971 में भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण। साहित्य अकादेमी की 'महत्तर सदस्यता' तथा 'अणुव्रत सम्मान' से विभूषित (1982)। 1984 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का सर्वोच्च सम्मान 'भारत भारती'। चौरासी वर्ष का तप:पूत यशस्वी जीवन जीकर 24 दिसम्बर 1988 को महाप्रयाण।

प्रमुख रचनाएँ : परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याण, सुखदा, विवर्त जयवर्धन, मुक्तिबोध, अनाम स्वामी, दशार्क (उपन्यास); फाँसी, अपना अपना भाग्य, नीलम देश की राजकन्या, जाह्नवी, साधु की हठ, अभागे लोग, दो सहेलियाँ, महामहिम (कहानी संग्रह); समय और हम, समय समस्या और सिद्धान्त, काम प्रेम और परिवार, पूर्वोदय, मंथन, साहित्य का श्रेय और प्रेय, वृत्त विहार (निबन्ध व विचार संग्रह); राष्ट्र और राज्य, कहानी-अनुभव और शिल्प, बंगला देश का यक्ष प्रश्न, इतस्तत: (ललित निबन्ध व संस्मरण); मेरे भटकाव, स्मृति पर्व, कश्मीर की वह यात्रा, विहंगावलोकन (अन्यान्य निबन्ध)।

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003
संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन